चुम्बकत्व और विद्युत्

लेखक

डॉ० निहालकरण सेठी, डी० एस-सी०

भूतपूर्व अध्यक्ष, भौतिक विज्ञान विभाग

तथा

प्रिंसिपल, आगरा कालेज, आगरा

हिन्दुस्तानी एकेडेमी

उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

प्रकाशक
हिंदुस्तानी एकेडमी,
उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण १०००, १९६०

मूल्य १६)

मुद्रक
एस० एल० गुप्त, बी० एस-सी०
टेकनिकल प्रेस प्राइवेट लिमिटेड
इलाहाबाद

प्रकाशकीय

भारतीय भाषाओं में आधुनिक विज्ञान विषयक साहित्य का भारी अभाव है। इस क्षेत्र में समुन्नत पश्चिमी देशों की बराबरी करने के लिए हमें बहुत-बहुत काम करना है। नितान्त तीव्र गति से महान प्रयास अपेक्षित है। इस अभाव को दूर करने का विशेष उत्तरदायित्व हिन्दी के सेवकों पर है। निकट भविष्य में हिन्दी क्षेत्र के माध्यमिक विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में ही नहीं बल्कि समस्त भारत में उच्च शिक्षा का माध्यम हिन्दी होगी। इस प्रकार हिन्दी पाठ्य-पुस्तकों की बड़ी मांग होगी। स्पष्ट है कि विज्ञान विषयक पुस्तकें प्रस्तुत करने की विशेष आवश्यकता है। आज हिन्दी के क्षेत्र में भी अंग्रेजी के माध्यम से विज्ञान की शिक्षा दी जा रही है जो भारी कृत्रिमता है। इसे दूर कर हिन्दी के माध्यम से विज्ञान की शिक्षा सुलभ करने की दिशा में हिंदुस्तानी एकेडेमी भी यथा सामर्थ्य योगदान करना चाहती है। कुछ वर्ष पूर्व एकेडेमी ने डाक्टर सत्य प्रकाश लिखित 'कुछ आधुनिक आविष्कार' नामक पुस्तक का प्रकाशन किया था। अब डाक्टर निहाल करण सेठी एम० एस-सी०, डी० एस-सी० के अनवरत परिश्रम से प्रस्तुत पुस्तक "चुम्बकत्व और विद्युत्" पाठकों के सामने प्रस्तुत है। हम आशा करते हैं कि बी० एस-सी० के छात्रों के लिए यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी।

हिंदुस्तानी एकेडेमी
उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

विद्या भास्कर
मन्त्री तथा कोषाध्यक्ष

भूमिका

अनेक वर्षो से हमारे देश के चिन्तकों के सामने यह प्रश्न विचारणीय रहा है कि विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम कौन सी भाषा हो। यह निर्विवाद है और देश की विभिन्न राजनैतिक पार्टियों के नेताओं का भी बहुमत इस पक्ष मे है कि अंग्रेजी भाषा इस कार्य के लिये उपयुक्त नहीं है और प्रत्येक विद्यार्थी को शिक्षा अपनी मातृभाषा ही में मिलना चाहिए। शिक्षा के विशेषज्ञ भी मूलतः इसी पक्ष में हैं। यद्यपि अनेक प्रान्तों में प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा का माध्यम मातृभाषा ही हो गया है तथापि अनेक कारणों से विश्वविद्यालयों में अभी तक माध्यम अंग्रेजी ही है—खासकर वैज्ञानिक विषयों के लिए। इन सब कारणों का विवेचन करने की यहां आवश्यकता नहीं है किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि पारिभाषिक शब्दों की समस्या तथा पाठ्य-पुस्तकों का अभाव भी इस आवश्यक सुधार के मार्ग में मुख्य बाधाएँ हैं।

इनमें से पहला कार्य तो केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय ने अपने हाथ में ले लिया है और पिछले कई वर्षो में प्रगति भी अच्छी हुई है। किन्तु वैज्ञानिक पाठ्य-पुस्तकों के लेखन और प्रकाशन का कार्य भारत की किसी भी प्रादेशिक भाषा में अभी तक नहीं हुआ है। माध्यमिक कक्षाओं के लिये उपयोगी प्रायः समस्त विषयों की पुस्तकें तो हिन्दी में उपलब्ध हो गई है क्योंकि उत्तर प्रदेश सरकार ने इन कक्षाओं के लिये हिन्दी माध्यम अनिवार्य कर दिया है। किन्तु विश्वविद्यालयोपयोगी पुस्तकों के लिये लेखकों तथा प्रकाशकों को कोई प्रोत्साहन नहीं मिला है। यद्यपि उत्तर प्रदेश सरकार की हिन्दी समिति प्रतिवर्ष लगभग पचास हजार रुपया पारितोषिक रूप में वितरण करती है तथापि पाठ्य-पुस्तकों के लेखकों को ये पुरस्कार नही दिये जाते। और ऐसी पुस्तकों की बिक्री की आशा न होने के कारण व्यवसायी-प्रकाशक उन्हें छापने के लिये राजी भी नही होते। हिन्दी समिति स्वयं भी अनेक पुस्तकें प्रकाशित करती है। किन्तु उनकी नीति अभी तक यही रही है कि पाठ्य-पुस्तकें छापना उनका काम नहीं है। अतः इस समय यह प्रश्न बड़ी उलझन में पड़ा हुआ है। विश्वविद्यालय हिन्दी को माध्यम यों नहीं बना सकते कि पाठ्य-पुस्तकें उपलब्ध नही हैं और पुस्तकें प्रकाशित इसलिये नहीं होतीं कि शिक्षा का माध्यम हिन्दी न होने के कारण उनके खरीदने वाले नहीं हैं। पांच वर्ष हुए मैंने बी० एस-सी० के विद्यार्थियों के लिये उपयोगी एक पुस्तक "प्रकाश विज्ञान" विषय पर लिखी थी और एक प्रकाशक ने साहस करके उसे छाप कर प्रकाशित भी कर दिया था। यद्यपि इस पर लेखक को

उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा तथा बिहार के राष्ट्रीय हिन्दी परिषद् द्वारा पारितोषिक भी मिले और इसका अंग्रेजी संस्करण कई बार छप चुका है तथापि हिन्दी संस्करण को व्यावसायिक दृष्टि से सफलता न मिलनी थी और न मिली।

ऐसी दशा में प्रयाग की हिंदुस्तानी एकेडेमी का मैं अत्यन्त आभारी हूँ कि इस संस्था ने मुझे प्रस्तुत पुस्तक लिखने के लिये उत्साहित किया और अनेक कठिनाइयों की अवहेलना करके उसे प्रकाशित करने को तैयार हो गई। वास्तव में हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य के विकास के इस प्रारम्भिक काल में यह कार्य सरकारी संस्थाएँ ही कर सकती है। मुझे आशा है कि निकट भविष्य में उत्तर प्रदेश सरकार की हिन्दी समिति तथा केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय भी ऊँचे दर्जे की वैज्ञानिक पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ कर देंगे। तब ही विश्वविद्यालयों की कठिनाई दूर हो सकेगी।

प्रस्तुत पुस्तक बी० एस-सी० के विद्यार्थियों के लिये लिखी गई है। इसकी भाषा को जहाँ तक संभव हो सका है सरल और सुबोध बनाने का प्रयास मैंने किया है। किन्तु मैं नहीं कह सकता कि मैं उसमें पूर्णतः सन्तुष्ट हूँ। पारिभाषिक शब्दों के लिये मैंने उसी शब्दावली का उपयोग किया है जो केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय द्वारा स्वीकृत होकर प्रकाशित हुई है। किन्तु अभी तक यह अधिकृत शब्दावली बहुत अपूर्ण है। अतः अनेक शब्द लेखक ने नये भी बनाये हैं। इस कार्य में जहां तक हो सका है केन्द्रीय शब्दावली में स्वीकृत नियमों का पालन किया गया है।

केन्द्रीय वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली बोर्ड के आदेशानुसार गणित के तथा अन्य कई प्रतीक, चिह्न और सूत्र (symbols, signs and formulae) रोमन लिपि में ही लिखे गये हैं और देश के विधान के अनुसार अंक (numerals) भी अन्तरराष्ट्रीय रूप में लिखे गये है। भविष्य में इनका जो भी रूप निश्चित किया जाय, किन्तु इस समय तो विद्यार्थियों और अध्यापकों की सुविधा के लिए ऐसा करना अत्यन्त आवश्यक है। आशा है कि यह नीति हिन्दी भाषा की प्रगति में सहायक होगी।

आगरा
२० अप्रैल, १९६०

लेखक

विषय-सूची

परिच्छेद 1

चुम्बकत्व की मूल घटनाएँ

(Magnetism—Fundamental Facts)

1·01—**चुम्बक पत्थर** (Lodestone)। अनेक देशों मे लोहे का एक प्रकार का खनिज पाया जाता है जिसमें सुई कील इत्यादि लोहे की छोटी-छोटी वस्तुओं को आकर्षित करने का विलक्षण गुण विद्यमान होता है। इसे प्राचीन काल में कान्ति-लोह कहते थे किन्तु आजकल यह चुम्बक पत्थर के नाम से प्रसिद्ध है। भारतवर्ष में तो शायद ही कही यह मिलता हो किन्तु तुर्क देश तथा यूराल पर्वत मे, स्कैण्डिनेविया, फिनलैंड, अमरीका तथा कैनाडा मे यह पर्याप्त मात्रा मे पाया जाता है। पाश्चात्य भाषाओं में इसका नाम मैगनेटाइट (magnetite) प्रसिद्ध है क्योंकि यूरोप निवासियों को पहिले पहल यह तुर्क देश के मगनीसिया प्रान्त मे ही प्राप्त हुआ था। रासायनिक दृष्टि से यह लोह का एक विशेष आक्साइड है जिसका सूत्र Fe_3O_4 कहा जाता है। यह कहना कठिन है कि इसका ज्ञान मनुष्य को पहिले पहल कब हुआ किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अत्यन्त प्राचीन काल में लोग इस के विलक्षण गुणों से परिचित थे। उस काल की अनेक पुस्तकों में इसका वर्णन मिलता है।

इस चुम्बक पत्थर में दो मुख्य गुण हैं:—

(i) **आकर्षण** (Attraction)। लोहे का बुरादा उस पर डालते ही आप देखेंगे कि बहुत सा इस पर चिपक जाता है और फिर आसानी से पृथक भी नही होता। पृथ्वी पर पड़ी हुई कील, सुई या चाभी को आप इससे छुआ दीजिए। वे चिपक कर इससे लटक जावेंगी और इसके साथ ही ऊपर उठ आवेंगी। पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण बल (gravitational force) उन्हें इससे खींच कर नीचे नहीं गिरा सकेगा (चित्र 1·01)
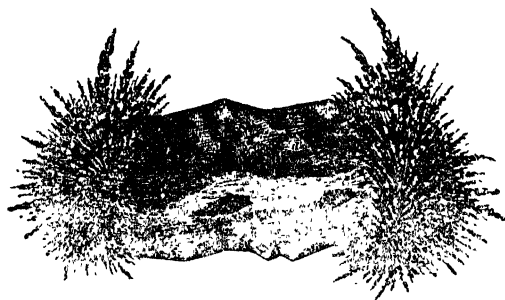
चित्र 1·01

(ii) **दिशा सूचन।** यदि इसके एक लम्बे टुकड़ को डोरे से बाँध कर लटका दें तो आप देखेंगे कि वह घूम कर एक दिशा विशेष ही में ठहरेगा। एक सिरा उत्तर की ओर रहेगा और एक दक्षिण की ओर । इस अवस्था मे ठहरे हुए इस चुम्बक पत्थर को आप चाहे जितना इधर उधर घुमाइये, छोड़ देने पर वह कुछ देर तक तो इधर से उधर दोलन करता रहेगा किन्तु जब उसका घूमना बन्द होगा तब आप उसे ठीक उत्तर दक्षिण दिशा ही मे पायेंगे । इम गुण के कारण यह पत्थर जहाज चलाने वालों के लिए अत्यत ही लाभदायक प्रमाणित हुआ था क्योंकि इसकी सहायता से वे तुरन्त ही बीच समुद्र मे जब चाहते तब ही दिशाओं का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकते थे । इस ही के कारण इस पत्थर का अंग्रेज़ी भाषा मे एक नाम लोडस्टोन (lodestone) है जिसका अर्थ है राह बताने वाला पत्थर । यूरोप मे इस दिक् सूची का प्रयोग प्राय. 12-वीं शताब्दी से प्रचलित है किन्तु एशिया निवासी इससे कई मौ वर्ष पूर्व से इसका उपयोग करते रहे हैं ।

इनके अतिरिक्त एक और भी गुण इसमे बड़ा विलक्षण है । लोहे और विशेपकर इस्पात की लम्बी कीलों या छोटी छड़ों को यदि इस पत्थर के एक सिरे से धीरे-धीरे कई बार एक ही दिशा मे रगड़ दे तो इसके सब ही गुण उस लोहे या इस्पात में भी उत्पन्न हो जाते है । रगड़ने की भी कोई विशेष आवश्यकता नही है । इसके समीप कुछ देर पड़ रहने ही से लोहे म भी चुम्बकत्व (magnetism) उत्पन्न हो जाता है । वह भी लोहे की चीजों को खीचने लगता है और लटकाने पर वह भी उत्तर-दक्षिण दिशाओं का परिचय कराने लगता है । किन्तु इससे उस चुम्बक पत्थर के गुणों में कोई कमी नहीं आती । उसके आकर्षण का बल ज्यों का त्यों ही बना रहता है ।

1·02–**कृत्रिम चुम्बक** (Artificial Magnets)**।** इस प्रकार जिस इस्पात के टुकड़े में चुम्बक-पत्थर के गुण उत्पन्न हो गये हों उसे भी चुम्बक ही कहते हैं । जहाँ इन दोनों का भेद बतलाने की विशेष आवश्यकता होती है वहां चुम्बक पत्थर को प्राकृतिक चुम्बक तथा इस्पात के चुम्बक को कृत्रिम चुम्बक कहते हैं ।

आज कल कृत्रिम चुम्बक ही अधिक काम में लाये जाते हैं । इसका कारण यह है कि प्राकृतिक चुम्बक का आकार कुछ नियमित नहीं होता और इसलिए बहुधा उनके गुणों में भी विलक्षणताएँ पायी जाती हैं । इसके अतिरिक्त अब कृत्रिम चुम्बक बनाने के उपाय भी इतने अच्छे ज्ञात हो गये हैं कि वे प्राकृतिक चुम्बकों से बहुत ही अधिक बलवान बनते हैं ।

ये प्रायः दो प्रकार के बनाये जाते हैं। एक तो लम्बे और दूसरे घोड़े की नाल के आकार के (चित्र 1·02)। प्रथम **दंड चुम्बक** (bar magnet) कहलाते हैं और द्वितीय **नाल चुम्बक** (horse-shoe magnet)। दिशा बतलाने के लिए नाल चुम्बक उपयोगी नहीं है। इस कार्य के लिए दंड चुम्बक ही अच्छे हैं। इन्हें भी पतला तथा नोकदार बना देते है और तब इन्हें **चुम्बकीय सूची** (magnetic needle) कहते हैं। इस सूची को जब एक छोटे से डिब्बे में खूब बारीक कील पर इस प्रकार बैठा देते हैं कि वह क्षैतिज तल में चारों ओर बिना रुकावट के घूम सके तब वह दिशा बतलाने का कार्य बड़ी सुगमता से करती है। उसे अब डोरे से लटकाने की आवश्यकता नहीं रहती और जेब में रखकर उसे जहां चाहें ले भी जा सकते हैं। इस प्रकार व्यवस्थित चुम्बकीय सूची को **दिक् सूची** (compass) या कुतुबनुमा कहते हैं (चित्र 1·03)।

चित्र 1·02

चित्र 1·03
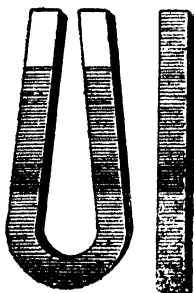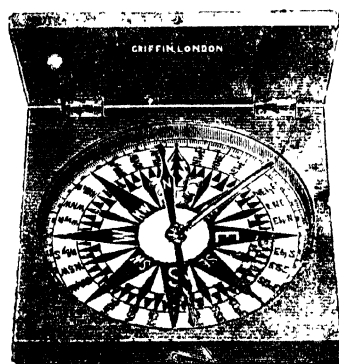
1·03—**ध्रुव** (Poles)। प्राकृतिक अथवा कृत्रिम किसी भी चुम्बक को लोहे के बुरादे में बोर कर उठाने पर आप देखेंगे कि बुरादा उस पर सर्वत्र नहीं चिपकता। केवल दो सिरों पर ही वह अधिक मात्रा में चिपकता है तथा ठीक बीच में बिलकुल भी नहीं चिपकता। ऐसा जान पड़ता है कि चुम्बक का आकर्षण बीच से धीरे धीरे बढ़ कर दोनों सिरों पर ही पूर्णता को प्राप्त करता है। ये सिरे **ध्रुव** (pole) कहलाते हैं (चित्र 1·04)।

ध्रुवों के इस अधिक आकर्षण बल के कारण ही कृत्रिम चुम्बक घोड़े की नाल के आकार के बनाये जाते हैं। इस आकार में दोनों ध्रुव पास-पास आ जाते हैं और दोनों का बल एक ही साथ लगने के कारण ऐसा चुम्बक अधिक भारी लोहा उठा सकता है।

किन्तु यह न समझना चाहिए कि ये ध्रुव एक ही से होते हैं। ऊपर लिखा जा चुका है कि यदि चुम्बक को घमान की पूरी स्वतंत्रता हो तो उसका एक ध्रुव उत्तर
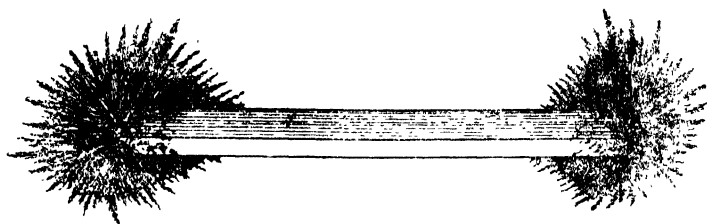
चित्र 1·04

की ओर रहता है और दूसरा दक्षिण की ओर। चुम्बक को पूरा घुमा कर हम यदि यह चाहें कि दक्षिण तरफ वाला ध्रुव उत्तर की ओर ठहर जावे तो हम कदापि सफल नही हो सकते। इस दृष्टि से उत्तर की ओर रहने वाले ध्रुव को **उत्तराभिगामी ध्रुव** तथा दक्षिण की ओर रहने वाले ध्रुव को **दक्षिणाभिगामी ध्रुव** कहते हैं। किन्तु बहुधा इतना बड़ा नाम लेने की दिक्कत के कारण इन्हें क्रम से **उत्तर ध्रुव** (north pole) तथा **दक्षिण ध्रुव** (south pole) भी कहते हैं। आगे चलकर हम देखेंगे कि इस संक्षेप से कभी कभी कुछ गड़बड़ हो जाती है। अतः ऊपर दिये हुए पूरे नाम ही वास्तव मे इन ध्रुवों के लिए उचित हैं किन्तु प्रचार संक्षिप्त नामों ही का अधिक है। हम भी विशेष स्थानों को छोड़ कर सर्वत्र इन्ही प्रचलित नामों का व्यवहार करेंगे।

1·04—**ध्रुवों का आकर्षण तथा प्रतिकर्षण** (Attraction and Repulsion of Poles)। एक दिक्-सूची ले लीजिए या किसी दंड-चुम्बक को डोरे से लटका दीजिए। इसका उत्तर ध्रुव उत्तर की ओर रहेगा और दक्षिण ध्रुव दक्षिण की ओर। अब किसी दूसरे दंड-चुम्बक के उत्तर ध्रुव को इसके ध्रुवों के समीप क्रम से ले जाइए। आप देखेंगे कि दक्षिण ध्रुव तो आकर्षित होकर दंड-चुम्बक के उत्तर ध्रुव की ओर मुड़ जायगा। किन्तु दिक्-सूची का उत्तर ध्रुव दूर हटने का प्रयत्न करेगा। ज्यों-ज्यों आप दंड-चुम्बक के उत्तर ध्रुव को दिक्-सूची के उत्तर ध्रुव के निकट लाते जायेंगे त्यों-त्यों वह दूर हटता जायगा। आप कितना ही प्रयत्न करिए किन्तु इन दोनों उत्तर ध्रुवों को आप कभी निकट नहीं रख सकते। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि उत्तर ध्रुव दक्षिण ध्रुव को तो आकर्षित कर लेता है। किन्तु अपने सजातीय उत्तर ध्रुव को दूर हटाता है अथवा प्रतिकर्षित कर देता है।

इस ही प्रकार यदि दंड चुम्बक के दक्षिण ध्रुव के द्वारा यही प्रयोग किया जाय तो ज्ञात होगा कि वह दिक्-सूची के उत्तर ध्रुव को तो आकर्षित करेगा किन्तु दक्षिण ध्रुव को प्रतिकर्षित करेगा । सक्षेप मे हम इस प्रयोग के परिणाम को निम्नलिखित नियम के द्वारा व्यक्त कर सकते है ।

"सजातीय ध्रुवों में प्रतिकर्षण होता है और विजातीय ध्रुवों में आकर्षण ।"

उत्तर और दक्षिण ध्रुवों की इस भिन्नता से यह न समझना चाहिए कि साधारण लोहे पर भी इनका प्रभाव एक दूसरे से भिन्न होता है । दोनों ही ध्रुव लोहे को अपनी ओर समान भाव से आकर्षित कर लेते है ।

इस बात से यह स्पष्ट हो गया होगा कि यदि हमारे पास दो लोहे की छड़ें एक ही प्रकार की हैं और उनमें से एक में चुम्बकत्व है और दूसरी में नही ; तो हम उनके सिरों को स्पर्श करा कर यह नहीं कह सकते कि उनमें से कौन सी छड़ तो चुम्बक है और कौन सी चुम्बकत्व विहीन, क्योंकि प्रत्येक सिरे पर हमें आकर्षण ही मिलेगा । अत: यदि हमें यह पता लगाना है कि उनमें से चुम्बक कौन सा है तो उसका एक मात्र उपाय यही है कि हम किसी चुम्बक के ध्रुवों पर दोनों छड़ों के सिरों के प्रभाव की परीक्षा करें । जिस छड़ का सिरा हमारे परीक्षक चुम्बक के किसी भी ध्रुव को प्रतिकर्षित कर दे वह छड़ अवश्य ही चुम्बक है । अत: हम कह सकते हैं कि चुम्बक की पहिचान के लिए प्रतिकर्षण ही मुख्य लक्षण है ।

साथ ही यह भी प्रकट है कि ध्रुवों के आकर्षण के द्वारा हम चुम्बक के ध्रुवों की पहिचान भी बड़ी आसानी से कर सकते हैं । दिक्-सूची के उत्तर ध्रुव को जो ध्रुव प्रतिकर्षित कर सकेगा वह स्वयं भी उत्तर ध्रुव ही होगा और जो ध्रुव दिक्-सूची के उत्तर ध्रुव को अपनी ओर आकर्षित कर लेगा वह निस्संदेह दक्षिण ध्रुव ही होगा ।

1·05—**पृथ्वी का चुम्बकत्व** (Magnetism of the Earth) । यद्यपि बहुत प्राचीन काल में यह समझा जाता था कि ध्रुव तारा ही चुम्बक को उत्तर-दक्षिण दिशा में स्थिर रखता है और इस ही कारण दिक्-सूची का नाम कुतुबनुमा या ध्रुव-मत्स्य भी पड़ गया था । किन्तु कम से कम 800 वर्ष पूर्व भी यह मालुम था कि चुम्बक ध्रुव ठीक ध्रुव तारे की ओर स्थित नहीं होता है और अमेरिका के आविष्कर्ता कोलम्बस ने अपने भ्रमण में यह भी देख लिया था कि दिक्-सूची के प्रदर्शित उत्तर

और भौगोलिक उत्तर की दिशाओं में जो अन्तर है वह भी सर्वत्र एक सा नहीं है। उसका परिमाण पृथ्वी के भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न है। अतः ध्रुव तारे को छोड़ कर दिक-सूची की समस्या का कारण पृथ्वी ही पर ढूढना आवश्यक हो गया।

अवश्य ही उत्तर दिशा में कोई कारण है जो चुम्बक के उत्तर ध्रुव को अपनी ओर आकर्षित करता है और दक्षिण ध्रुव को प्रतिकर्षित। अथवा दक्षिण दिशा में कोई ऐसी वस्तु है जो दक्षिण ध्रुव को आकर्षित और उत्तर ध्रुव को प्रतिकर्षित करती है यह तब ही सम्भव है जब हम यह मानें कि पृथ्वी में भी चुम्बकत्व है और उसका एक ध्रुव उत्तर में स्थित है और दूसरा दक्षिण में। इस विशाल चुम्बक के आकर्षण तथा प्रतिकर्षण ही के कारण प्रत्येक चुम्बक उत्तर-दक्षिण दिशा में ही आकर ठहर सकता है। चुम्बकों के दिक्-सूचन गुण का अवश्य यह भू-चुम्बक ही कारण है।

इस भू-चुम्बक का उत्तर ध्रुव दक्षिण मे अवस्थित है और दक्षिण ध्रुव उत्तर में। यही बात बहुधा गड़बड़ पैदा कर देती है। पृथ्वी का भौगोलिक उत्तर ध्रुव तो उत्तर की ओर है और चुम्बकीय उत्तर ध्रुव दक्षिण की ओर। यदि ध्रुवों का नाम उत्तराभिगामी तथा दक्षिणाभिगामी रक्खा जाता तो शायद इतनी गड़बड़ न होती।

पृथ्वी के इस चुम्बकत्व का कारण क्या है? क्या वास्तव में पृथ्वी के गर्भ में साधारण चुम्बकों जैसा ही किन्तु कई सहस्र मील लम्बा चौड़ा कोई चुम्बक विद्यमान है? ऐसे चुम्बक का अस्तित्व संभव भी है या नहीं? इसके अतिरिक्त भू-चुम्बकत्व का और भी कोई कारण हो सकता है या नहीं? इस ही प्रकार के अनेक प्रश्न उत्पन्न हो सकते हैं। इनका उत्तर इस स्थान पर नही दिया जा सकता। आगे चलकर यथास्थान इन पर विचार किया जायगा।

1·06—**ध्रुवों के पृथक्-करण की असंभवता।** अब तक जितने भी चुम्बकों का वर्णन किया गया है उन सब में उत्तर तथा दक्षिण दोनों ध्रुवों का अस्तित्व बतलाया गया है। किन्तु क्या यह सम्भव नहीं है कि किसी चुम्बक के एक ही ध्रुव हो? यदि हम किसी भी दो ध्रुवों वाले चुम्बक को बीच में से काट कर परीक्षा करें तो क्या एक भाग में केवल उत्तर ध्रुव और दूसरे में केवल दक्षिण ध्रुव न मिलेगा? यद्यपि ऐसा मालूम होता है कि अवश्य ऐसा ही हो जाना चाहिए तथापि वास्तव में ऐसा होता नहीं। दो टुकड़े होते ही प्रत्येक टुकड़ा अन्य चुम्बकों की भाँति ही पूर्ण चुम्बक बन जाता है, और प्रत्येक में उत्तर तथा दक्षिण दोनों ध्रुव पैदा हो जाते है। यही नहीं उस चुम्बक के जितने चाहे टुकड़े कर डालिए प्रत्येक टुकड़े का एक सिरा

उत्तर ध्रुव मिलेगा और एक दक्षिण ध्रुव । यदि उसे चूर चूर कर उसका बुरादा भी बना डालें तो उस बुरादे का प्रत्येक कण भी चुम्बक ही रहेगा । यह असम्भव है कि कोई भी टुकड़ा ऐसा प्राप्त हो सके जिसमें एक ही ध्रुव हो और दूसरी प्रकार का ध्रुव न हो (चित्र 1·05) । ऐसा जान पड़ता है कि चुम्बक का प्रत्येक अणु भी दो ध्रुव युक्त पूरा चुम्बक ही है ।

चित्र 1·05

चुम्बक को काटने पर जो नवीन ध्रुव उत्पन्न होते है उनका प्रकार चित्र से प्रगट है । कटने के स्थान पर ही एक भाग मे उत्तर ध्रुव उत्पन्न होता है और एक में दक्षिण । यदि अब इन भागों को पुनः ज्यों का त्यों मिला दे तो आप देखेंगे कि इन नवीन ध्रुवों का प्रायः लोप हो गया है । जो कुछ थोड़ा बहुत चुम्बकत्व उस स्थान पर बाकी है वह केवल इस कारण कि हम उन्हे अच्छी तरह जोड़ नही सके । इससे हम यह परिणाम निकाल सकते है कि तोड़ने या काटने से पहिले भी उस स्थान पर दोनों प्रकार के ध्रुव वास्तव मे विद्यमान थे । किन्तु दो विपरीत ध्रुवों की निकटता के कारण वहाँ हमे ध्रुवत्व का कोई चिह्न दिखलाई नहीं दे सकता क्योंकि यदि उनमे से एक ध्रुव किसी अन्य चुम्बक के ध्रुव को आकर्षित करता है तो दूसरा उसे प्रतिकर्षित करता है । परिणाम यह होता है कि न तो वह आकर्षित ही होता है और न प्रतिकर्षित ।

इस बात से यह भी प्रगट हो जाता है कि जो दो नवीन ध्रुव उत्पन्न होते है उनमें चुम्बकत्व की प्रबलता (strength) बराबर होती है । तब ही तो एक दूसरे के प्रभाव को वे सर्वथा नष्ट कर सकते है । इस दृष्टि से विचार करने पर यह भी परिणाम निकलेगा कि प्रत्येक चुम्बक के जो दो ध्रुव हमें दिखलायी देते है उनकी चुम्बकीय प्रबलता भी बिलकुल बराबर होती है ।

1·07—**चुम्बक के दोनों ध्रुवों की प्रबलता** (Strength) **बराबर होती है ।** इस बात का एक और भी प्रमाण दिया जा सकता है । जब हम किसी चुम्बक को डोरे से लटका देते हैं तो पृथ्वी का चुम्बकत्व उसे घुमा कर एक विशेष अवस्था में स्थिर कर देता है । इसका कारण हम यों समझ सकते है कि पृथ्वी का चुम्बकत्व हमारे चुम्बक के उत्तर ध्रुव को खींचकर उत्तर की ओर ले जाना चाहता है और दक्षिण ध्रुव को दक्षिण की ओर । यदि इन दोनों बलों में से कोई भी अधिक होता

तो सारा चुम्बक उस ही बल की दिशा में खिसकने लगता। किन्तु वास्तव में कोई भी चुम्बक अपने स्थान से हटता नहीं। केवल घूम कर उत्तर-दक्षिण दिशा में स्थित हो जाता है। इस बात का प्रमाण एक तो यही है कि जिस डोरे से चुम्बक लटकाया जाता है वह सीधा ऊर्ध्वाधर ही लटकता रहता है तनिक भी टेढ़ा नही होता। दूसरा प्रमाण यह है कि यदि एक काग पर चुम्बक को रख कर पानी में तैरा दें तो वह काग अपने स्थान से किंचित् मात्र भी नही हटता। इससे स्पष्ट है कि पृथ्वी जितने बल से चुम्बक के उत्तर ध्रुव को उत्तर की ओर खीचती है ठीक उतने ही बल से उसके दक्षिण ध्रुव को दक्षिण की ओर खीचती है। अतः यह भी प्रगट है कि दोनों ध्रुवों की प्रबलता में कुछ भी कमी बेशी नहीं है। वे बिलकुल बराबर ह।

1·08—**चुम्बकीय पदार्थ** (Magnetic Substances)। ऊपर कहा जा चुका है कि चुम्बक लोहे की चीज़ों को आकर्षित करता है किन्तु इसका यह अर्थ नही था कि अन्य किसी भी पदार्थ पर उसका आकर्षण कार्य नही करता। निकल, कोबल्ट और मेंगनीज़ पर भी चुम्बक का आकर्षण होता है। किन्तु लोहे के बराबर नही। इनके अतिरिक्त अन्य धातुओं पर अथवा लकड़ी पत्थर इत्यादि पर चुम्बक का कोई असर साधारणतया नही देखा जाता। अतः लोहा, निकल, कोबल्ट और मेंगनीज चुम्बकीय पदार्थ कहलाते है। इन सबके भी चुम्बक बन सकते है।

किन्तु अत्यन्त प्रबल बिजली के चुम्बकों के द्वारा सन् १८४५ मे फैरेडे ने यह प्रमाणित कर दिया था कि चुम्बक का प्रभाव वास्तव मे प्रत्येक पदार्थ पर कुछ न कुछ अवश्य होता है। साधारण चुम्बक इतने प्रबल नहीं होते कि उस थोड़े से प्रभाव को प्रत्यक्ष कर सकें। चुम्बकीय पदार्थों की विशेषता यही है कि उन पर यह प्रभाव बहुत अधिक होता है।

चुम्बकत्व की दृष्टि से समस्त पदार्थ दो प्रकार के होते है। एक वे जिन्हें चुम्बक अपनी ओर आकर्षित कर लेता है और दूसरे वे जिन्हें चुम्बक प्रतिकर्षित कर देता है। प्रथम प्रकार के पदार्थों को **अनुचुम्बकीय** (paramagnetic) तथा द्वितीय प्रकार के पदार्थो को **प्रतिचुम्बकिक** (diamagnetic) कहते हैं। इस दूसरी प्रकार के पदार्थों में बिस्मथ मुख्य है। लोह आदि पदार्थ भी अनुचुम्बकिक हैं किन्तु इनका अनुचुम्बकत्व इतना अधिक है कि इनका एक वर्ग अलग ही बना दिया गया है और उन्हें **लोह चुम्बकिक** (ferromagnetic) नाम दे दिया गया है। इस विषय का विशेष वर्णन अन्यत्र दिया गया है। (परि० 4)

1·09 —**चुम्बक और लोहे के बीच में दूसरे पदार्थ की उपस्थिति का प्रभाव।** यदि कोई चुम्बकीय सूची लटका दी जावे और उसके ध्रुव उत्तर-दक्षिण दिशा में ठहर जावें तब जैसा हम देख चुके हैं कि उसके निकट कोई चुम्बक लाने से वह कुछ घूम जाती है। अब यदि इन दोनों के बीच में लकड़ी, कागज, पीतल, काँच इत्यादि किसी भी पदार्थ का एक तख्ता रख दिया जाय तो हम देखेंगे कि उस चुम्बकीय सूची की स्थिति पर कोई असर नही होता। अर्थात् चुम्बक जो आकर्षण अथवा प्रतिकर्षण बल उनके ध्रुवों पर लगा रहा था, उसमे कुछ भी परिवर्तन नही होता। चुम्बकीय बल अपना कार्य इन तख्तों के बीच मे होकर भी वैसा ही करता है जैसा कि तख्तों की अनुपस्थिति मे। केवल लोहा ही ऐसा पदार्थ है कि जिसका तख्ता यदि वह काफी लम्बा-चौड़ा हो तो इस बल को बहुत घटा देता है। यहाँ तक कि यदि चुम्बकीय सूची को लोहे के मोटे आवरण से चारों ओर घेर ले तो उस पर चुम्बक का कुछ भी असर नही हो सकता। अन्य चुम्बकीय पदार्थों का भी असर ऐसा ही होता है किन्तु बहुत कम। वास्तव मे प्रत्येक पदार्थ—लकड़ी, कागज, पीतल आदि—में भी थोड़ी बहुत चुम्बकीयता होती ही है और वे भी चुम्बकीय बल पर अपना असर करते ही हैं। किन्तु यह इतना कम होता है कि उसे प्रत्यक्ष करने के लिए अत्यंत सुग्राही यंत्रों की आवश्यकता होती है।

1·10 —**प्रेरण** (Induction)। चुम्बक के एक ध्रुव से लोहे की कील लगा दीजिये। वह उसके आकर्षण के कारण वहाँ लटक जायगी। अब यदि एक दूसरी कील इस लटकी हुई कील के नीचे वाले सिरे से लगा दी जाय तो वह भी उससे चिपक कर लटक जायगी। इससे ज्ञात होता है कि चुम्बक के स्पर्श मात्र से ही पहिली कील भी चुम्बक बन गई। इस दूसरी कील से तीसरी, उससे चौथी और इस ही प्रकार कई कीलें एक के नीचे एक लटक सकती हैं। प्रत्येक कील पहिली ही की भाँति चुम्बक बनती जाती है। इस प्रकार चुम्बकत्व की उत्पत्ति को **प्रेरण** कहते हैं और यह चुम्बकत्व **प्रेरित चुम्बकत्व** (induced magnetism) कहलाता है।

किन्तु इस प्रेरण के लिए यह आवश्यक नहीं है कि लोहे का चुम्बक से स्पर्श हो। उसे चुम्बक के निकट रखने से ही प्रेरण हो जाता है। लोहे की एक पतली छड़ का छोटा सा टुकड़ा मेज पर रख दीजिये और उसके समीप लोहे का बुरादा डाल दीजिये। चुम्बकत्व विहीन होने के कारण बुरादा उस पर न चिपकेगा। किन्तु चुम्बक के एक ध्रुव को उसके एक सिरे के निकट लाते ही बुरादा उस छड़ के दोनों सिरों पर चिपक

जायगा (चित्र 1·06)। इससे स्पष्ट है कि चुम्बक की समीपता न केवल लोहे में आकर्षण शक्ति उत्पन्न करती है किन्तु उसमें दो ध्रुव भी पैदा कर देती है।
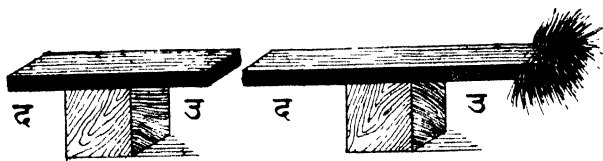
चित्र 1·06

इन ध्रुवों की परीक्षा भी हम आसानी से कर सकते हैं। उपर्युक्त लोहे को छड़ के एक सिरे के निकट एक दिक्-सूची का उत्तर ध्रुव रख दीजिये। और तब छड़ के दूसरे सिरे के समीप किसी चुम्बक का उत्तर ध्रुव लाइये। जहाँ पहिले लोहे की छड़ दिक्-सूची के उत्तर ध्रुव को कुछ थोड़ा सा अपनी ओर खींच रही थी वहाँ चुम्बक के समीप लाते ही वह उसे बड़े ज़ोर से प्रतिकर्षित कर देती है। इससे प्रमाणित हो जाता है कि चुम्बक का उत्तर ध्रुव लोहे की छड के दूर वाले सिरे पर अपना सजातीय ध्रुव प्रेरित करता है और निकट वाले सिरे पर दक्षिण ध्रुव। यदि छड़ के निकट चुम्बक का दक्षिण ध्रुव लाते तो परिणाम उलटा होता। निकट का सिरा उत्तर ध्रुव बनता दूर वाला दक्षिण ध्रुव।

इन प्रयोगों के द्वारा हम अब यह भी समझ सकते है कि साधारण लोहे की वस्तु को चुम्बक के दोनों ही ध्रव आकर्षित क्यों करते हैं। निःसंदेह चुम्बक के निकट आते ही लोहे की वस्तु मे प्रेरण होता है और उसके चुम्बक के निकट वाले भाग में चुम्बक के ध्रुव से असमान ध्रुव उत्पन्न हो जाता है। और जो आकर्षण हम देखते हैं वह इन्हीं असमान ध्रुवों का आकर्षण है। इससे हम कह सकते है कि चुम्बकीय आकर्षण सदा चुम्बकीय ध्रुवों में ही हो सकता है। जब तक प्रेरण के द्वारा लोहे में असमान ध्रुव उत्पन्न न हो जाय तब तक उसे कोई चुम्बक आकर्षित नही कर सकता।

1·11—**नरम लोहे** (Soft iron) **और इस्पात** (Steel) **का भेद।** प्रेरण के प्रकरण में जो कीलों वाला प्रयोग बतलाया गया है उसमें यदि कीलें ढलवां या नरम लोहे (soft iron) की हों तो आप देखेंगे कि प्रायः ७ या ८ कीलें बड़ी आसानी से चुम्बक के ध्रुव पर लटक जावेगी। और यदि सबसे ऊपर की कील को पकड़कर चुम्बक को उससे पृथक कर दें तो तुरन्त सब कीलें गिर पड़ेंगी। किन्तु यदि

यही कीलें कड़ी इस्पात की हों तो शायद दो तीन से अधिक कीलें लटकी न रह सकेंगी। परन्तु चुम्बक को ऊपर की कील से पृथक कर देने से अब बाकी कीलें गिर नहीं पड़ेंगी। वे ज्यों की त्यों लटकी रहेंगी। इन्हें पृथक कर देने के बाद भी इनमें चुम्बकत्व और दोनों प्रकार के ध्रुव विद्यमान रहेंगे किन्तु नरम लोहे की कीलों में चुम्बकत्व के कोई चिह्न बाकी नहीं बचेंगे।

इन बातों से प्रकट होता है कि चुम्बकीय दृष्टि से लोहे और इस्पात में बड़ा भेद है। लोहे में इस्पात की अपेक्षा चुम्बकत्व आसानी से प्रेरित होता है। और इस
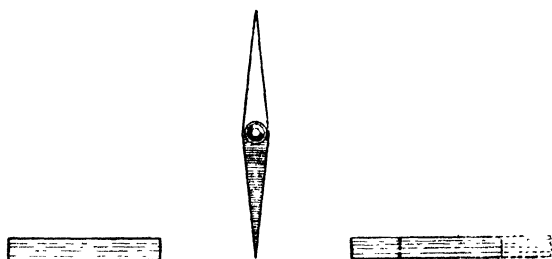
चित्र 1·07

प्रेरित चुम्बकत्व की प्रबलता भी अधिक होती है। यह भद एक और प्रयोग द्वारा और भी अधिक स्पष्ट हो सकता है। लोहे तथा इस्पात के दो बराबर लम्बाई-चौड़ाई के टुकड़े लीजिये और उन्हें दिक्-सूची के एक ध्रुव से बराबर दूरी पर रख दीजिये (चित्र 1·07)। ये दोनों ही टुकड़े चुम्बकत्व विहीन थे किन्तु दिक्-सूची इन में चुम्बकत्व प्रेरित कर देगी। इस प्रेरित चुम्कबत्व के द्वारा दिक्-सूची के ध्रुव को प्रत्येक टुकड़ा अपनी ओर आकर्षित करेगा। किन्तु आप देखेंगे कि इस्पात की अपेक्षा लोहा उसे अधिक खींच लेगा। और यदि आप चाहें कि दोनों ओर के आकर्षण बिल्कुल बराबर रहें अर्थात् दिक्-सूची किसी भी ओर न मुड़े तो लोहे के टुकड़े को हटाकर अधिक दूरी पर रखना होगा। इससे स्पष्ट है कि लोहे का प्रेरित ध्रुव इस्पात के ध्रुव से अधिक प्रबल है।

किन्तु इससे भी अधिक महत्व का एक भेद और है। प्रेरक चुम्बक को हटा लेने पर लोहे का प्रेरित चुम्बकत्व उसमें ठहरता नहीं। ज़रा भी हिलने डुलने से वह तुरन्त नष्ट हो जाता है। किन्तु इस्पात में प्रेरित चुम्बकत्व को नष्ट करना कठिन है। काफी ठोकने पीटने पर भी वह नष्ट नहीं होता। इस गुण को **निग्रहत्व** (coercivity) कहते हैं। लोहे की अपेक्षा इस्पात में निग्रहत्व बहुत अधिक होता है।

यही कारण है कि कृत्रिम चुम्बक जिनमें स्थायित्व के गुण की विशेष आवश्यकता है सदा इस्पात के बनाये जाते हैं।

1·12—**कृत्रिम चुम्बक बनाने की विधि**। यह पहले लिखा जा चुका है कि लोहे की छड़ को चुम्बक के एक ध्रुव से कई बार एक ही दिशा में रगड़ने से लोहे का चुम्बक बन जाता है और अब हम यह भी देख चुके है कि स्थायी चुम्बक बनाने के लिए इस्पात ही को काम मे लाना चाहिए। इस ही उपाय को अधिक उपयोगी बनाने की इच्छा मे उसमे कुछ थोड़े परिवर्तन कर दिये गये हैं और इन परिवर्तनों के कारण चुम्बक बनाने की अनेक विधियाँ प्रचलित हुई थीं। इनमें से तीन मुख्य हैं जिन्हें हम एक-स्पर्श विधि, विभक्त-स्पर्श विधि और द्वि-स्पर्श विधि कह सकते हैं।

(i) **एक-स्पर्श विधि** (Single Touch method)। जिस इस्पात की छड़ **क ख** का चुम्बक बनाना हो तो उसे मेज पर रख दो (चित्र 1·08)। तब दंड-चुम्बक **उ द** को चित्र में दिखलाई हुई रीति से कुछ टेढ़ा इस प्रकार पकड़ो कि उसका उत्तर ध्रुव छड़ के **क** को स्पर्श करे। अब इस चुम्बक को धीरे-धीरे **ख** की ओर खींच लो। **ख** पर पहुँचने पर इसे छड़ पर से उठा लो और पुनः **क** पर रख दो। फिर खींच कर **ख** तक ले आओ और इसी प्रकार उसे कई बार **क** से **ख** तक ले जाओ। ऐसा करने से **क** उत्तर ध्रुव बन जायगा और **ख** दक्षिण ध्रुव। यदि दक्षिण ध्रुव से छड़ को रगड़ते तो **ख** उत्तर ध्रुव बन जाता। छड़ का जो सिरा चुम्बक के ध्रुव से अंत में स्पर्श करता है वह चुम्बक के ध्रुव से असमान ध्रुव बनता है।
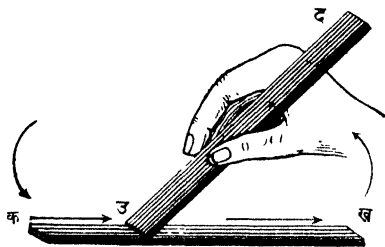
चित्र 1·08

(ii) **विभक्त-स्पर्श विधि** (Divided Touch method)। दो दंड-चुम्बक मेज़ पर एक ही सीध में (चित्र 1·09) के अनुसार रख दिये जाते हैं। जिस इस्पात की छड़ को चुम्बकित करना होता है वह इन चुम्बकों पर इस प्रकार रख दी जाती है कि उसका एक सिरा **क** एक चुम्बक के दक्षिण ध्रुव पर रहे और दूसरा **ख** दूसरे चुम्बक के उत्तर ध्रुव पर। इसके बाद दो और दंड-चुम्बकों के असमान ध्रुव छड़ के मध्य भाग पर रख दिये जाते हैं और चुम्बकों को कुछ टेढ़े पकड़ कर

ये ध्रुव छड़ के सिरों की ओर खींच लिये जाते हैं। सिरों पर से फिसल पड़ने के बाद उन्हें उठा कर बिन्दुमय मार्ग से पुनः मध्य में रख देते हैं और फिर पहिले ही की भाँति सिरों की ओर खींचते हैं। इसी प्रकार बार-बार रगड़ते हैं। फिर छड़ को उलटकर
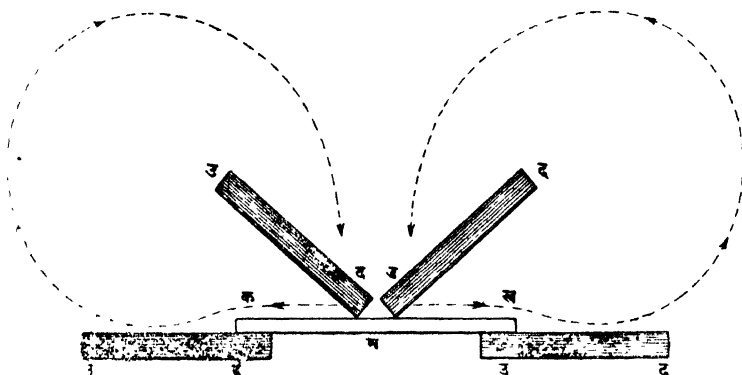
चित्र 1·09

नीचे वाला पृष्ठ ऊपर कर दिया जाता है। और पुनः उन ध्रुवों से उसी प्रकार रगड़ते हैं।

इस क्रिया में यह ध्यान रखना चाहिए कि छड़ का जो भाग उत्तर ध्रुव से रगड़ा जाय वह वही होना चाहिए जो नीचे के चुम्बक के उत्तर ध्रुव पर रखा हो। स्पष्ट है कि एक-स्पर्श विधि के अनुसार ही इसमें भी क उत्तर ध्रुव बनेगा और ख दक्षिण ध्रुव।

(iii) **द्वि-स्पर्श विधि** (Double Touch method)। विभक्त-स्पर्श विधि से बहुत कुछ मिलती हुई ही यह विधि है। इसमें भी इस्पात की छड़ के मध्य भाग पर दो दंड-चुम्बकों के असमान ध्रुव रखे जाते हैं। किन्तु इनके बीच में लकड़ी या काग का एक टुकड़ा रख दिया जाता है जिससे दोनों ध्रुवों के बीच में कुछ अन्तर सदैव बना रहे। तब बीच के काग सहित इन दोनों ध्रुवों को छड़ पर एक ही साथ और एक ही ओर खींचते हैं। एक सिरे पर पहुँचने के बाद दोनों को लौटा कर दूसरे सिरे तक घसीटते हैं और इसी प्रकार कई बार इधर से उधर घसीटते रहते हैं। यह घसीटना बीच में खतम किया जाता है और वहीं से ये चुम्बक उठा लिये जाते हैं।

आज कल इनमें से किसी भी विधि का उपयोग चुम्बक बनाने के लिए नहीं होता है क्योंकि इनके द्वारा बनाये हुए चुम्बक की प्रबलता बहुत अधिक नहीं होती। कभी

कभी प्रयोगशाला में किसी विशेष कार्य के लिए इन्हें काम में ले आते हैं। किन्तु जो चुम्बक बाजार में बिकते हैं वे सब विद्युत् धारा के द्वारा बनाये जाते हैं। उस विधि का वर्णन यथा स्थान किया जायगा।

(iv) **पृथ्वी के चुम्बकत्व से चुम्बक बनाना।** यही यह कह देना भी अनुचित न होगा कि पृथ्वी के चुम्बकत्व के द्वारा भी इस्पात की छड़ों के चुम्बक बन जाते हैं। पृथ्वी के उत्तर गोलार्ध में इस्पात की छड़ को ऊर्ध्वाधर पकड़ कर धीरे-धीरे उस पर चोट मारने से उसका नीचे का सिरा उत्तर ध्रुव बन जाता है क्योंकि पृथ्वी का चुम्बकीय ध्रुव इस छड़ में चुम्बकत्व प्रेरित कर देता है। इसी प्रकार लोहे की जितनी चीजें प्रायः नीची झुकी हुई पृथ्वी पर पड़ी रहती हैं उन सब में कुछ न कुछ चुम्बकत्व उत्पन्न हो ही जाता है। जहाज़ का लोहा भी इसी कारण चुम्बक बन जाता है और चुम्बक के कारण जहाज में दिक्-सूची ठीक-ठीक दिशा नही बतला सकती। नाविकों को पहिले से यह मालूम कर लेना पड़ता है कि पृथ्वी द्वारा प्रेरित चुम्बकत्व का प्रभाव दिक्-सूची पर कितना और कैसा होता है और तब उसके लिए सदा दिक्-सूची के पाठ में शोधन कर लेना पड़ता है।

दक्षिण गोलार्ध मे ऊर्ध्वाधर छड़ों के नीचे के सिरे पार्थिव प्रेरण के कारण दक्षिण ध्रुव बन जाते है।

1·13—**चुम्बकत्व की उत्पत्ति का कारण।** ऊपर लिखा जा चुका है कि चुम्बक को तोड़ कर देखने से ऐसा जान पड़ता है कि उसका प्रत्येक अणु स्वयं एक सर्वांग परिपूर्ण चुम्बक है। यदि इसी बात को हम मान लें तो चुम्बकत्व सम्बन्धी अनेक बातों का रहस्य हम बड़ी आसानी से समझ सकते हैं। इस कल्पना का श्रेय जर्मनी निवासी वेबर (Weber) महोदय को है। सन् 1852 में इन्होंने इसके द्वारा चुम्बक के रहस्य को सबसे प्रथम समझाने का प्रयत्न किया था। उनके बाद इस सिद्धान्त में बहुत कुछ उन्नति हुई है किन्तु इस स्थान पर उन्हीं की मौलिक परि कल्पना का वर्णन पर्याप्त है।

वे कहते हैं कि (1) लोहे या इस्पात का प्रत्येक अणु चुम्बक होता है। (2) चुम्बकत्वहीन लोहे या इस्पात में ये अणु अव्ययस्थित दशा में पड़े रहते हैं

चित्र 1·10

(चित्र 1·10)। किसी अणु का उत्तर ध्रुव एक ओर है तो किसी का ठीक विपरीत

दिशा में । इस कारण एक दूसरे का प्रभाव नष्ट हो जाता है और हमें उस लोहे में कुछ भी चुम्बकत्व के लक्षण नहीं मिलते ।

(3) यदि किसी कारण ये सब अणु-चुम्बक घूम कर इस प्रकार व्यवस्थित हो जावें कि समस्त अणुओं के उत्तर ध्रुव एक ही ओर हो जावें तो (चित्र 1·11) की सी अवस्था हो जायगी। इस दशा में छड़ के एक सिरे पर सब अणुओं के उत्तर ध्रुव हैं और दूसरे पर दक्षिण ध्रुव । अतः इन सिरों के अणु-चुम्बकों का प्रभाव पारस्परिक वैपरीत्य के कारण नष्ट नहीं होता किन्तु सब ही अणु एक ही प्रकार का प्रभाव उपत्न्न करते है । फल यह होता है कि एक सिरा, प्रबल उत्तर ध्रुव बन जाता है और दूसरा प्रबल दक्षिण ध्रुव । अर्थात् अणु-चुम्बकों के व्यवस्थित हो जाने ही से चुम्बकत्व विहीन लोहा चुम्बक बन जाता है ।

इस बात को प्रत्यक्ष देखने के लिए सरल उपाय यह है कि कड़े इस्पात का बुरादा या रेतन (filings) एक परीक्षा-नली (test-tube) में भर लीजिये । इस नली की दिक्-सूची के द्वारा परीक्षा करने पर उसमे कुछ भी चुम्बकत्व नहीं मिलेगा। अब इस नली पर दंड-चुम्बक का एक ध्रुव ठीक उसी प्रकार रगड़िये जिस प्रकार चुम्बक बनाने की विधि में रगड़ते हैं । अब आप देखेंग कि नली में चुम्बक के सभी गुण आ गये हैं । नली को ज़रा सा हिला दीजिये । कणों की व्यवस्था बिगड़ जायगी और चुम्बकत्व भी नष्ट हो जायगा ।

यही क्यों ? इस कल्पना से हम और भी अनेक बातें समझ सकते हैं । चुम्बक के सिरों को छोड़ कर बीच मे चुम्बकत्व क्यों नही होता ? चित्र 1·11 से प्रत्यक्ष

चित्र 1·11

है कि बीच के किसी भी स्थान पर एक ओर के अणुओं के दक्षिण ध्रुव और दूसरी ओर के उत्तर ध्रुव एकत्रित हैं । परस्पर विरोधी होने के कारण इनका बल प्रत्यक्ष नहीं हो पाता ।

प्रेरण का रहस्य भी अब स्पष्ट है । चुम्बकत्व विहीन लोहे के अव्यवस्थित अणु समीप लाये हुए चुम्बक के आकर्षण और प्रतिकर्षण के कारण घूमने का प्रयत्न अवश्य ही करेंगे । यदि चुम्बक का उत्तर ध्रुव लोहे के निकट लाया गया हो तो प्रत्येक अणु का दक्षिण ध्रुव उसकी ओर घूमेगा । यदि इस चुम्बक का बल काफी हुआ तो सब

अणु घूम चित्र 1·11 की सी व्यवस्थित अवस्था को प्राप्त कर लेंगे और लोहे में चुम्बकत्व प्रेरित हो जायगा।

चुम्बक बनाने की कितनी विधियाँ बतायी गयी हैं उन सब में भी इन अणु-चुम्बकों को एक ओर घुमाने ही का प्रयत्न किया जाता है। लोहे की छड़ पर चुम्बक के ध्रुव को रखकर घसीटने से यह ध्रुव क्रमशः सब अणुओं को घुमा देता है। एक ही बार घसीटने से सब अणु नहीं घूम जाते। अतः बार बार वही क्रिया करनी पड़ती है।

इस परिकल्पना के कारण इस प्रश्न का समाधान स्वयं ही हो जाता है कि जब चुम्बक किसी लोहे मे चुम्बकत्व उत्पन्न करता है तो उसका अपना चुम्बकत्व घटता क्यों नहीं। यह प्रश्न उस समय तो सर्वथा उचित था जब लोग चुम्बकत्व को एक प्रकार का तरल पदार्थ समझते थे और लोहे में चुम्बकत्व की उत्पत्ति का कारण यह बतलाया जाता था कि चुम्बक में से निकल कर यह तरल लोहे में प्रविष्ट हो जाता है। किन्तु जब चुम्बकत्व प्रत्येक अणु मे पहिले ही से विद्यमान है तो चुम्बक के चुम्बकत्व में कमी होने की क्या आवश्यकता है ? चुम्बक अपना चुम्बकत्व लोहे को नहीं देता। उसे लोहे के निकट लाकर हम लोहे के अणुओं को घुमाकर व्यवस्थित कर देते हैं। इस काम मे कुछ ऊर्जा का व्यय अवश्य हो जाता है किन्तु यह ऊर्जा चुम्बक में से नहीं आती। चुम्बक और लोहे के अणुओं के आकर्षण या प्रतिकर्षण के विरुद्ध हम जो उसे घसीटते हैं तो अवश्य ही हमे इन बलों के विरुद्ध कार्य करना पड़ता है और उसमें हमारे शरीर की ऊर्जा का व्यय भी अवश्य होता है। यही हमारी शारीरिक ऊर्जा लोहे के अणुओं को घुमाने में समर्थ होती है। इस क्रिया में चुम्बक की कुछ हानि नहीं हो सकती।

ढलवां लोहे और इस्पात का भेद भी इस दृष्टि से स्पष्ट है। लोहे के अणु इतने एक दूसरे से जकड़े हुए नहीं होते कि उनके घूम जाने में अधिक बल की आवश्यकता हो। अतः थोड़े ही चुम्बकीय बल से वे सब घूम कर लोहे की छड़ को प्रबल चुम्बक बना देते हैं। इस्पात बहुत बड़ा होता है और उसके अणुओं को घुमाने में बहुत अधिक बल की अवश्यकता है।

किन्तु यदि किसी प्रकार इस्पात के अणुओं को एक बार घुमा दिया गया और इस्पात का चुम्बक बन गया तो फिर उन अणुओं का घूम कर अव्यवस्थित अवस्था को प्राप्त करना भी उतना ही कठिन है। जिस कड़ेपन के कारण अणु घूम कर आसानी से व्यवस्थित नहीं हो सकते थे इसी कारण अब वे इधर-उधर नहीं हो सकते। लोहे के अणुओं को इस क्रिया में कुछ भी कठिनाई नहीं। अतः उसका चुम्बकत्व तुरन्त नष्ट हो सकता है। उसका निग्रहत्व इस्पात की अपेक्षा कम होता है।

1·14—**चुम्बकीय संतृप्ति** (Saturation) । जब कभी चुम्बक बनाने का प्रयत्न किया जाता है तो चाहे किसी भी विधि का उपयोग करें और चाहे कितने ही प्रबल चुम्बक की सहायता लें, सदा यह देखा जाता है कि जो चुम्बक तैयार होता है उसकी प्रबलता एक विशेष सीमा से अधिक नहीं हो सकती । वह चुम्बकत्व से संतृप्त हो जाता है । उसमें और अधिक चुम्बकत्व प्रेरित नहीं किया जा सकता । अणु सिद्धान्त के द्वारा इसका रहस्य भी प्रगट ही है क्योंकि अधिक से अधिक यही सम्भव है कि जितने अणु उस छड़ मे उपस्थित है वे सब ही घूम कर ठीक दिशा में स्थित हो जायँ । इससे अधिक चुम्बकत्व की उत्पत्ति कैसे सम्भव हो सकती है ?

1·15—**चुम्बकत्व और टेम्परेचर** । यह भी प्रयोगसिद्ध बात है कि चुम्बक को गरम करने से उसका चुम्बकत्व नष्ट हो जाता है । लोहे या इस्पात को प्रायः 750° सेंटिग्रेड से अधिक गरम कर देने पर उसमें कोई चुम्बकत्व के गुण नहीं रह जाते । इस टेम्परेचर को **क्रान्तिक टेम्परेचर** (critical temperature) कहते हैं । निकल और कोबल्ट के लिए क्रान्तिक टेम्परेचर क्रमशः 320° और 1120° है ।

टेम्परेचर के इस प्रभाव का कारण भी अणु सिद्धान्त तुरन्त समझा देता है । यह बात सिद्ध हो चुकी है कि प्रत्येक वस्तु के अणु सर्वदा इतस्ततः कम्पन करते रहते हैं और यह कम्पन ताप के कारण बढ़ता जाता है । ज्यों-ज्यों टेम्परेचर बढ़ता जाता है त्यों-त्यों इस कम्पन का आयाम (amplitude) भी अधिक होता जाता है । अतः अधिक टेम्परेचर पर उनका किसी भी व्यवस्थित दशा में जमे रहना कठिन ही नहीं असंभव हो जाता है ।

1·16—**उपध्रुव** (Consequent Pole) । चुम्बक बनाने में इस्पात की छड़ को चुम्बकीय ध्रुवों से रगड़ते समय की असावधानी से अथवा जान बूझकर
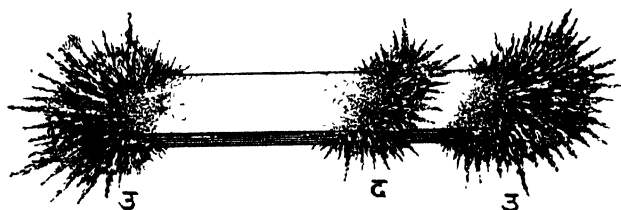
चित्र 1·12

कभी कभी ऐसे भी चुम्बक बन जाते हैं कि जिनके दोनों सिरे उत्तर ध्रुव अथवा दोनों दक्षिण ध्रुव हों । ऐसी दशा में छड़ के बीच में किसी स्थान पर इनसे विजातीय ध्रुव

पाया जाता है (चित्र 1·12)। ऐसे ध्रुव को **उपध्रुव** कहते हैं। अणु सिद्धान्त को ध्यान में रखकर इन उपध्रुवों की उत्पत्ति का कारण समझना कुछ कठिन नहीं है।

1·17—कृत्रिम चुम्बक बनाने की क्रिया में ध्यान देने योग्य बातें।

(1) इस्पात जितनी कड़ी हो उतना ही अच्छा। जो इस्पात कांच पर हीरे की कणी के समान रेखा खींच सके वही सबसे अच्छी। यह कड़ापन इस्पात मे कार्बन के साथ ही साथ 5 से 8 प्रतिशत टंगस्टन या लगभग 4% मोलिब्डिनम मिला देने से उत्पन्न हो जाता है।

(2) इस्पात की छड़ को जितने कम टेम्परेचर पर गढ़ सकें उतना ही अच्छा। और आबदेने के पहिले उसे प्रायः 900° तक गरम करके धीरे-धीरे 750° तक ठंडा करना चाहिए और इस टेम्परेचर पर उसे कुछ देर तक कायम रखना चाहिए। ऐसा करने से उसमे समांगिता (homogeniety) का गुण आ जाता है। अर्थात उसके पूरे आयतन मे सर्वत्र एकरूपता हो जाती है।

(3) यह देखा गया है कि चुम्बक बनाने मे कड़ी इस्पात के केवल वही अणु व्यवस्थित हो पाते हैं जो पृष्ठ ही की तह में स्थित हों। मोटी छड़ के बीच के भाग के अणुओं पर रगड़ने वाले चुम्बक का उतना असर नहीं हो पाता। यदि नाइट्रिक अम्ल में ऐसा चुम्बक रख छोड़ा जाय और उसका ऊपर का भाग उसमे घुल जाय, तो भीतर के भाग में प्रायः कुछ भी चुम्बकत्व नहीं मिलेगा। इसलिए कुछ समय पहिले पटलित चुम्बकों का प्रचार हुआ था (चित्र 1·13)। पतले-पतले इस्पात के पटलों के कई चुम्बक बना कर उन्हें एक दूसरे पर जमा कर बाँध दिया जाता था। इस रीति से अत्यंत ही प्रबल चुम्बक तैयार हो जाते थे। किन्तु जब से विद्युत् की सहायता से चुम्बक बनाये जाने लगे हैं तब से ऐसा करने की आवश्यकता नही रही क्योंकि अब बहुत गहरे में स्थित अणुओं को भी विद्युत् धारा घमा कर यथा स्थान जमा देती है।

चित्र 1·13

(4) चुम्बक के ध्रुव स्वयं ही उसका चुम्बकत्व घटाते रहते हैं। क्योंकि चुम्बक का उत्तर ध्रुव अवश्य ही प्रत्येक अणु के उत्तर ध्रुव को प्रतिकर्षित करके उसके दक्षिण ध्रुव को अपनी ओर घुमाने का प्रयत्न करेगा। इस कार्य में उसे जितनी ही सफलता मिलेगी उतने ही

परिमाण में अणुओं की व्यवस्था बिगड़ेगी और चुम्बकत्व कम हो जायगा। यह **बिचुम्बकन** (demagnetisation) लम्बे चुम्बकों में कम होगा क्योंकि बीच वाले अणुओं से इनके ध्रुव बहुत दूर होते हैं। और उनका असर भी अणुओं पर कम ही पड़ता है। अतः स्थायी चुम्बक बनाने में उसकी लम्बाई चौड़ाई भी ठीक नाप की होनी चाहिए। लम्बाई और व्यास का अनुपात जितना ही अधिक हो उतना ही अच्छा। अनुभव से ज्ञात हुआ है कि चुम्बक के सबसे अच्छे नाप ये हैं। लम्बाई : चौड़ाई : मोटाई = 20 से 30 : 2 : 1

नाल चुम्बक में यह ऐब नहीं होता क्योंकि उसके दोनों ध्रुव इतने निकट आ जाते हैं कि वे अणुओं पर विपरीत और बराबर बल लगाते हैं। अतः अणु ज्यों के त्यों बने रहते हैं। इससे प्रगट हुआ कि जितने ही दोनों ध्रुव निकट होंगे चुम्बक भी उतना ही स्थायी होगा।
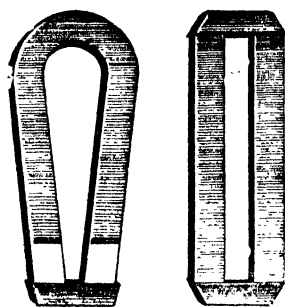
(क) (ख)

चित्र 1·14

1·18—**चुम्बकत्व रक्षक** (Magnetic Keeper)। ध्रुवों के विचुम्बकन से चुम्बक की रक्षा करने के लिये बहुधा ढलवां लोहे के बने रक्षक का प्रयोग किया जाता है। नाल चुम्बक में यह लोहा दोनों ध्रुवों से चिपका दिया जाता है (चित्र 1·14क)। इसमें प्रेरण के कारण विजातीय ध्रुव उत्पन्न हो जाते हैं। चुम्बक के उत्तर ध्रुव से सटा हुआ ही रक्षक का दक्षिण ध्रुव होता है और दक्षिण ध्रुव से सटा हुआ उत्तर ध्रुव। फल यह होता है कि कोई ध्रुव मुक्त नहीं रहता और बीच के अणुओं पर कोई भी बल उन्हें अपने स्थान से हटा देने वाला नहीं लगता।

दंड चुम्बकों में भी यह उपाय काम में आता है। किन्तु यहां दो चुम्बक और दो रक्षकों की आवश्यकता होती है। (चित्र 1·14ख) से इन रक्षकों का कार्य प्रगट है। स्मरण रहे कि दोनों चुम्बक इस प्रकार रखने चाहिए कि एक का उत्तर ध्रुव दूसरे के दक्षिण ध्रुव के निकट हो।

1·19—**उत्तोलन शक्ति** (Lifting Power)। चुम्बक कितना बोझ उठा सकता है यह बात उसके चुम्बकत्व की प्रबलता पर तो निर्भर है ही किन्तु उसकी आकृति

और उसकी लम्बाई चौड़ाई पर भी निर्भर है। नाल चुम्बक समान भार वाले दंड चुम्बक की अपेक्षा तीन-चार गुणा अधिक भार उठा सकता है। नाटे चुम्बक की अपेक्षा लम्बे चुम्बक में उत्तोलन शक्ति अधिक होती है। ध्रुव की आकृति से भी इस बल में फर्क पड़ता है। चपटे और चौड़े ध्रुव की अपेक्षा गोल या नोकदार ध्रुव वाला चुम्बक अधिक शक्तिशाली होता है। चुम्बक के भार पर भी यह बल निर्भर है। हलके चुम्बक अपेक्षाकृत अधिक बोझ उठा सकते है। प्राय: अपने वजन से 25 गुणा। किन्तु अत्यंत छोटे चुम्बक अपने वजन से 200-250 गुणा लोहा भी उठा सकते हैं।

परिच्छेद 2

पारिमाणिक नियम

(Quantitative Laws)

2·01—**ध्रुवों के आकर्षण तथा प्रतिकर्षण पर दूरी का प्रभाव।** अभी तक यह नहीं बतलाया गया है कि ये आकर्षण या प्रतिकर्षण बल कितने होते हैं। इन

चित्र 2·01

बलों को नापने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि हमें एक ध्रुव अलग नहीं मिल सकता। जब भी हम दो चुम्बकों को पास-पास रखते हैं तो प्रत्येक ध्रुव दूसरे चुम्बक के दोनों ध्रुवों पर अपना बल लगाता है। इस प्रकार उनका आपस का बल वस्तुतः चार पृथक् बलों का परिणाम होता है।

किन्तु यह साधारण अनुभव की बात है कि ध्रुव की दूरी जितनी अधिक होती है उतना ही कम उसका बल होता है। इसलिए यदि चुम्बक बहुत ही लम्बे हों और उन्हें (चित्र 2·01) के समान रखें तो प्रत्यक्ष ही है कि उ$_1$ और द$_2$ का आकर्षण ही अत्यन्त प्रबल होगा। द$_1$ और उ$_2$ के कारण आकर्षण अथवा प्रतिकर्षण बल बहुत ही कमजोर होंगे। अतः इस अवस्था में जो आकर्षण हम नापेंगे वह केवल उ$_1$ और द$_2$ का ही समझा जा सकता है।

इस बल को नापने के दो उपाय हैं। एक तो कमानीदार कांटे (spring balance) से एक चुम्बक को लटका कर दूसरा चुम्बक उसके नीचे रखें और तब कांटे द्वारा बतलाये हुए भार की वृद्धि को नाप लें (चित्र 2·02)। नीचे के चुम्बक के ध्रुव उ को ऊपर वाले के द से भिन्न भिन्न दूरियों पर रख कर हम ठीक-ठीक नाप सकते हैं कि दूरी के कारण आकर्षण में कितना अंतर पड़ता है।

उ
द
उ
द

चित्र 2·02

दूसरा उपाय यह है कि (चित्र 2·03) की नाईं $उ_1$ $द_1$ को एक क्षुरधार (knife-edge) पर झुलाकर एक प्रकार की तराज़ू बना ली जाय। तब दूसरे
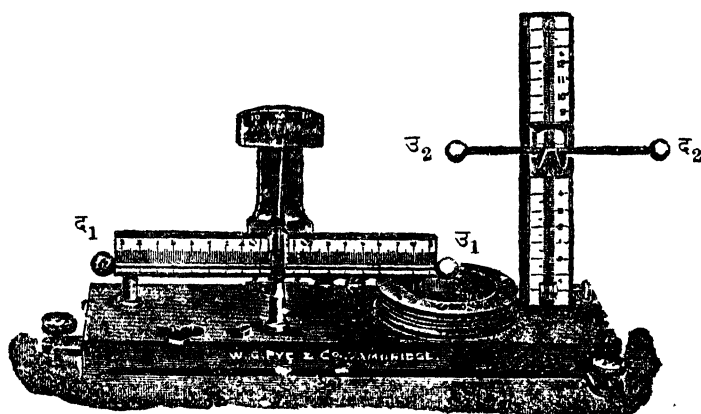
चत्र 2·03

चुम्बक के ध्रुव $उ_2$ को ठीक $उ_1$ के ऊपर लाया जाय। इससे प्रतिकर्षण होकर $उ_1$ नीचे झुक जायगा। क्षुरधार के दूसरी ओर कुछ बोझा लटकाकर $उ_1$ $द_1$ को पुनः सीधा (क्षैतिज) किया जा सकता है। इस अवस्था में ध्रुवों के प्रतिकर्षण बल का घूर्ण (moment) दूसरी ओर के बोझ के घूर्ण के बराबर होगा। अतः उस बल का परिमाण तुरन्त ज्ञात हो जायगा।

इन प्रयोगों में सिर्फ एक ही कठिनाई है। साधारण दंड-चुम्बकों में यह कहना कठिन है कि उनके ध्रुव वास्तव में किन विन्दुओं पर हैं। चुम्बक के सिरे के बहुत चौड़े भाग पर सर्वत्र ही आकर्षण की अधिकता होती है। अतः $उ_1$ और $उ_2$ की दूरी अनिश्चित होती है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये एक विशेष प्रकार के चुम्बक बनाये जाते हैं जिन्हें **गोलान्त चुम्बक** (ball-ended magnet) कहते हैं। (चित्र 2·03) में ऐसे ही चुम्बक हैं। इस्पात का बहुत लम्बा और प्रायः 3-4 मम० व्यास वाला तार लेकर उसके दोनों सिरों पर इस्पात ही की गोलियाँ जोड़ दी जाती हैं। इन गोलियों का व्यास प्रायः 1 सम० होता है। अतः इन गोलान्त चुम्बकों के ध्रुवों की दूरी नापना अत्यन्त सरल है। यह दूरी गोलियों के केन्द्रों की दूरी के बराबर होती है। इन चुम्बकों का आविष्कार पहिले राबिसन (Robison) ने किया था किन्तु फिर लोग इन्हें भूल गये थे। केम्ब्रिज के सर्ल (Searle) ने 1903 में इनका पुनः आविष्कार किया था।

दोनों में से किसी भी उपाय के द्वारा आकर्षण या प्रतिकर्षण बल नापने से यह प्रमाणित हो जायगा कि यह बल दूरी के कारण इस प्रकार घटता है कि दूरी दुगुनी करने से बल चौथाई रह जाता है। दूरी तिगुनी करने से बल घट कर $\frac{1}{9}$ मात्र रह जाता है। इसे संक्षेप में यों लिख सकते हैं :--

यदि ध्रुवों की दूरी r हो और कर्षण बल F हो तो

$$F \propto \frac{1}{r^2}$$

इस नियम को **उत्क्रम वर्ग नियम** (inverse square law) कहते हैं। शब्दों में यह कहा जायगा कि चुम्बकीय ध्रुवों का कर्षणबल उनके बीच की दूरी का उत्क्रमानुपाती (inversely proportional) होता है।

2·02—**ध्रुवों की प्रबलता या प्राबल्य** (Strength of Poles)। इस ही प्रयोग के द्वारा यह भी प्रमाणित किया जा सकता है कि यह कर्षणबल दूरी के अतिरिक्त ध्रुवों की प्रबलता पर भी निर्भर है। ऊपर के प्रयोगों में $उ_1$ के निकट भिन्न-भिन्न चुम्बकों के ध्रुवों को एक ही दूरी पर रखने से तुरन्त ज्ञात हो जायगा कि सबका आकर्षण बराबर नहीं होता। जिस ध्रुव का कर्षणबल अधिक परिमाण का हो वह अधिक प्रबल कहलाता है। और जिन दो ध्रुवों का कर्षण-बल बिलकुल बराबर हो उनकी प्रबलता भी बराबर समझी जाती है। कर्षण-बल का अनुपात ही उन ध्रुवों की प्रबलता का भी अनुपात समझा जाता है।

ध्रुव की प्रबलता नापने के लिए एक मात्रक (unit) की आवश्यकता है। यह इस प्रकार निश्चित किया गया है:—

मात्रक ध्रुव (Unit Pole) वह चुम्बकीय ध्रुव है जो ठीक अपने बराबर प्रबलता वाले ध्रुव पर वायु में एक सैन्टीमीटर दूरी से एक डाइन (dyne) का प्रतिकर्षण बल लगाता है। इसे एकांक-ध्रुव भी कहते हैं। इसका एक नाम वेबर (Weber) भी है।

ध्रुव की प्रबलता। यदि कोई ध्रुव किसी एकांक ध्रुव पर वायु में एक सैन्टीमीटर दूरी से m डाइन का बल लगावे तो उसकी प्रबलता m मात्रक समझी जाती है।

किन्तु आकर्षण या प्रतिकर्षण सदा पारस्परिक होता है। अतः एकांक ध्रुव भी m मात्रक प्रबलता वाले ध्रुव को उतने ही बल (m डाइन) से खींचेगा। अतः

यह भी स्पष्ट है कि यदि दो ध्रुवों की प्रबलता क्रमशः m और m' हो और उनके बीच की दूरी 1 सेन्टीमीटर हो तो उनका प्रतिकर्षण बल होगा $m \times m'$ डाइन।

2·03—**ध्रुवों के कर्षण का नियम**। प्रबलता और दूरी से ध्रुवों के आकर्षण या प्रतिकर्षण पर जो प्रभाव पड़ते है उनको हम एक नियम में यों लिख सकते हैं :—

यदि दो ध्रुवों की प्रबलता m और m' हों और उनके बीच की दूरी r हो तो उनके बीच में चुम्बकीय बल होगा—

$$F = \frac{m \times m'}{r^2} \text{ डाइन}$$

इसके अतिरिक्त ऊपर (अनु० 1·09 मे) बताया जा चुका है कि यह बल ध्रुवों के बीच के माध्यम पर भी निर्भर होता है। यदि वायु के स्थान मे और कोई पदार्थ वहाँ हो तो यह बल किसी नियत अनुपात मे घट जाता है।

भिन्न-भिन्न पदार्थों के लिए इस अनुपात का परिमाण भी भिन्न-भिन्न होता है। पदार्थो के इस गुण का नाम **चुम्बक-शीलता** (permeability) है। इसका अधिक विवरण और इसे नापने की विधि अन्यत्र लिखी जायगी। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि यदि किसी माध्यम की चुम्बकशीलता μ हो तो उसमे स्थित ध्रुवों के बीच का चुम्बकीय बल होगा—

$$F = \frac{m \times m'}{\mu r^2} \text{ डाइन}$$

यह न भूल जाना चाहिए कि यह नियम बिन्दु-ध्रुवों ही के लिए ठीक है साधारण चुम्बकों के ध्रुवों का विस्तार बड़ा होता है। अतः यह नियम उन पर यथार्थता पूर्वक लागू नही होता। गोलान्त-चुम्बकों के लिए यह बहुत कुछ ठीक पाया जाता है।

2·04—**चुम्बकीय क्षेत्र** (Magnetic Field)। चुम्बक के चारों ओर के आकाश को उसका चुम्बकीय क्षेत्र कहते हैं क्योंकि इस आकाश के किसी भी स्थान पर स्थित लोहे पर या चुम्बकीय ध्रुव पर उस चुम्बक का प्रभाव पड़ता है। यह क्षेत्र वास्तव में सीमा रहित और उसका विस्तार अनन्त होता है। उत्क्रम वर्ग नियम के अनुसार यद्यपि चुम्बकीय बल अधिक दूरी पर बहुत ही घट जाता है किन्तु ऐसा कोई भी स्थान नहीं हो सकता जहाँ उस बल का बिलकुल ही अभाव हो जाय।

2·05—**चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता** (Intensity of Magnetic Field)। ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि चुम्बकीय क्षेत्र में रखे हुए किसी भी

चुम्बकीय ध्रुव पर जो आकर्षण या प्रतिकर्षण बल लगता है वह सर्वत्र एक-सा नहीं होता। ध्रुवों के निकट इसका परिमाण अधिक होता है और अन्यत्र कम। जहाँ बल अधिक होता है वहाँ का क्षेत्र अधिक तीव्र कहलाता है। और जहाँ बल कम होता है वहाँ के क्षेत्र की तीव्रता कम कही जाती है। यह सच है कि यह चुम्बकीय बल केवल क्षेत्र की तीव्रता ही पर निर्भर नहीं है। जिस ध्रुव पर क्षेत्र बल लगाता है उसकी प्रबलता पर भी यह अवश्य ही निर्भर है। जितना ही अधिक प्रबल ध्रुव क्षेत्र में रखा जायगा उतना ही अधिक उस पर बल भी लगेगा। अतः क्षेत्र की तीव्रता उस बल के द्वारा नापी जाती है जो वह एकांक ध्रुव पर लगावे। यदि किसी क्षेत्र में एकांक ध्रुव पर एक डाइन का बल लगे तो उस क्षेत्र की तीव्रता को एकांक तीव्रता कहते हैं। यही तीव्रता का मात्रक है। इसका नाम **ओरस्टेड** (Oersted) रख दिया गया है। ओरस्टेड एक नामी विद्वान हो गए हैं जिन्होंने चुम्बकीय क्षेत्र सम्बन्धी महत्वपूर्ण खोज का कार्य किया था। पहिले इस मात्रक का नाम **गाउस** (Gauss) था। किन्तु अब गाउस प्रेरणा का मात्रक है। देखो अनु० 3·11.

आगरे में पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता 0·348 ओरस्टेड है। बिजली के शक्तिशाली चुम्बकों के ध्रुवों के बीच मे यह तीव्रता 40,000 ओरस्टेड तक पहुँच जाती है। और विशेष कार्य के लिए चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता का क्षणिक मान डेढ़-दो लाख ओरस्टेड तक पहुँचाया जा चुका है।
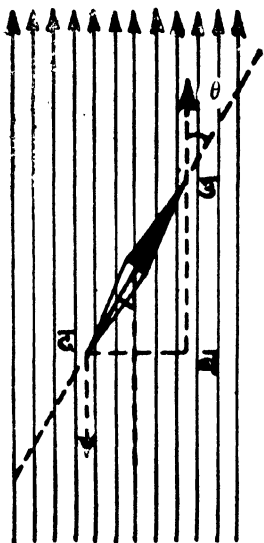
चित्र 2·04

2·06 —**दंड-चुम्बक पर समांगी क्षेत्र** (homogeneous field) **का प्रभाव**। समांगी-क्षेत्र उसे कहते हैं जिसकी तीव्रता सर्वत्र एक ही दिशा में तथा बराबर हो। चित्र 2·04 में ऐसे ही क्षेत्र में चुम्बक **उद** रखा हुआ है। क्षेत्र की तीव्रता H है। चुम्बक के ध्रुवों की प्रबलता m है। क्षेत्र की दिशा से चुम्बक की अक्ष **उद** कोण θ बनाती है। अतः दोनों ध्रुवों पर बाणांकित दिशाओं में mH डाइन का बल लगेगा। इन बलों से एक बल-युग्म (couple) बन जायगा जिसका घूर्ण (moment) होगा—

$$C = mH\,.\,\text{दब}$$

$= mH.2l\sin\theta$ [जहाँ $2l$=चुम्बक की लम्बाई उ द

इस बल-युग्म के कारण चुम्बक घूम कर क्षेत्र की दिशा में पहुँचने का प्रयत्न करता है। किन्तु वह अथवा उसका गुरुत्व केन्द्र (centre of gravity) अपने स्थान से हट नहीं सकता।

2·07—**चुम्बकीय घूर्ण** (Magnetic Moment)। किसी चुम्बक की लम्बाई अर्थात् उसके ध्रुवों की पारस्परिक दूरी ($2l$) को ध्रुवों की प्रबलता m से गुणा करने पर प्राप्त गुणनफल उस चुम्बक का चुम्बकीय घूर्ण M कहलाता है। अर्थात

$$M = 2ml$$

अतः समांगी क्षेत्र में स्थित दंड-चुम्बक पर लगने वाले बल-युग्म का मान हुआ

$$C = M.H\sin\theta$$

यदि $\theta = 90^\circ$ हो तथा $H = 1$ हो तो $C = M$

अतः चुम्बकीय घूर्ण की परिभाषा निम्न-लिखित रूप मे भी दी जाती है:—

किसी चुम्बक को एकांक तीव्रता वाले क्षेत्र में क्षेत्र की दिशा से लम्बरूप स्थिर रखने के लिए जिस बल-युग्म की आवश्यकता होती है उसके घूर्ण के परिमाण के बराबर ही उस चुम्बक का चुम्बकीय घूर्ण होता है।

यह स्पष्ट है कि चुम्बकीय घूर्ण दिष्ट-राशि (vector quantity) है। और इसकी दिशा वही होती है जो चुम्बक की लम्बाई की दिशा होती है।

2·08—**चुम्बकन की तीव्रता** (Intensity of Magnetisation)। यदि किसी चुम्बक को उसकी अक्ष मे समकोणिक तल में कहीं भी काटा जाय और यदि दोनों कटे हुए मुखों पर ध्रुव विपरीत चिन्हीय किन्तु बराबर परिमाण के हों और उन पर ध्रुवत्व का वितरण समरूप (uniform) हो तो वह चुम्बक सम-चुम्बकित (uniformly magnetised) कहलाता है। ऐसे चुम्बक में चुम्बकीय घूर्ण M को चुम्बक के आयतन (volume) V मे विभाजित करने पर जो संख्या प्राप्त होती है वह चुम्बकन की तीव्रता I कहलाती है

$$I = \frac{M}{V}$$

परन्तु $M = 2ml$ है और $V = 2sl$ है

जहाँ s=चुम्बक के अनुप्रस्थ काट (cross section) का क्षेत्रफल है।

अतः $$I = \frac{m}{s}$$

किन्तु $m/s = \sigma =$ ध्रुव-प्राबल्य प्रति वर्ग सम०

अतः चुम्बकन की तीव्रता $I =$ ध्रुव-प्राबल्य प्रति वर्ग सम० $= \sigma$

किन्तु कोई भी साधारण चुम्बक सम-चुम्बकित नहीं होता। इसलिए उसके भिन्न-भिन्न बिन्दुओं पर चुम्बकन की तीव्रता भी भिन्न भिन्न होती है। किसी बिन्दु के चारों ओर वाले चुम्बक के छोटे से टुकड़े में जितना चुम्बकीय घूर्ण प्रति घन सम० होता है वही उस स्थान पर चुम्बकन की तीव्रता का द्योतक होता है।

2·09—**दंड-चुम्बक पर असमांगी क्षेत्र** (non-homogeneous field) **का प्रभाव**। असमांगी क्षेत्र में न तो दोनों ध्रुवों पर बल समान परिमाण के होते हैं और न वे समान्तर ही होते हैं। ऐसी अवस्था मे चुम्बक पर एक बल-युग्म तो लगता ही है जो उसे दिशा विशेष में घुमा देता है किन्तु साथ ही उस पर एक विस्थापक बल (translatory force) भी लगता है जो चुम्बक के मध्य भाग को अपने स्थान से खिसका भी देता है।

2·10—**दंड-चुम्बक के कारण क्षेत्र की तीव्रता**। (i) अक्षीय रेखा के किसी बिन्दु क पर जिसकी दूरी चुम्बक के मध्य बिन्दु से r हो।
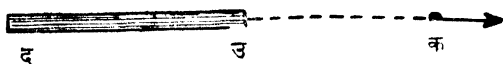
चित्र 2·05

चित्र 2·05 से स्पष्ट है कि क पर तीव्रता

$$\text{त} = \frac{m}{\text{उक}^2} - \frac{m}{\text{दक}^2}$$

$$= \frac{m}{(r-l)^2} - \frac{m}{(r+l)^2}$$

और यदि दउ $=2l$ हो तो, $\text{त} = \frac{4mlr}{(r^2-l^2)^2}$

$$= \frac{2Mr}{(r^2-l^2)^2}$$

यदि r की अपेक्षा l उपेक्षणीय हो तो सन्निकटतः

$$\text{त} = \frac{2M}{r^3}$$

(ii) निरक्ष रेखा के बिन्दु **ख** पर जिसकी दूरी चुम्बक-मध्य से r है (चित्र 2·06)।

उ के कारण **ख** पर **उ ख** दिशा में तीव्रता $= \dfrac{m}{\text{उ ख}^2}$

तथा **द** के कारण **ख** पर **ख द** दिशा में तीव्रता $= \dfrac{m}{\text{द ख}^2} = \dfrac{m}{\text{उ ख}^2}$ ।
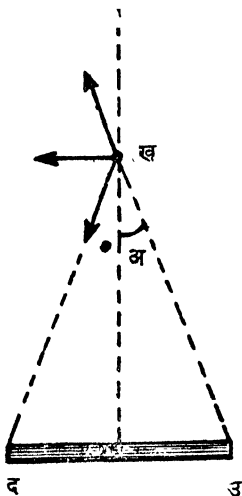
चित्र 2·06

अतः दोनों की संयुक्त तीव्रता **त** चुम्बक से समान्तर दिशा में होगी और

$$\text{त} = \frac{2m}{\text{उ ख}^2} \sin \text{अ}$$

$$= \frac{2m}{\text{उ ख}^2} \cdot \frac{l}{\text{उ ख}}$$

$$= \frac{2ml}{(r^2+l^2)^{3/2}} \qquad [\because \text{उ ख}^2 = r^2 + l^2$$

$$= \frac{M}{(r^2+l^2)^{3/2}}$$

और l के छोटा होने की अवस्था मे सन्निकटतः

$$\text{त} = \frac{M}{r^3}$$
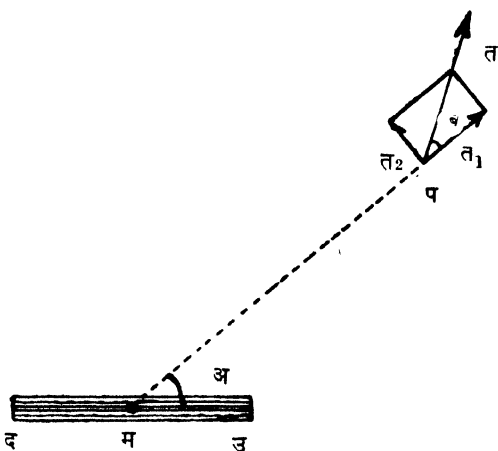
(iii) किसी अन्य बिन्दु **प** पर जहाँ **म प** $= r$ (चित्र 2·07)। इस चुम्बक का चुम्बकीय घूर्ण M दो घटकों में विघटित हो सकता है।

एक घटक $= M \cos$ अ (**म प** दिशा में)

दूसरा घटक $= M \sin$ अ ($\perp$ **म प**)

चित्र 2·07

पहले घटक के कारण **प** पर तीव्रता $त_1 = \frac{2M \cos अ}{r^3}$ (**म प** दिशा में)

तथा दूसरे घटक के कारण $त_2 = \frac{M \sin अ}{r^3}$ ($\perp$ **म प**)

$$\text{अतः संयुक्त तीव्रता } त = \sqrt{\left(\frac{2M \cos अ}{r^3}\right)^2 + \left(\frac{M \sin अ}{r^3}\right)^2}$$

$$= \frac{M}{r^3} \sqrt{1 + 3 \cos^2 अ}$$

यदि यह संयुक्त तीव्रता **म प** से कोण **ब** बनावे तो

$$\tan ब = \frac{त_2}{त_1} = \frac{M \sin अ}{r^3} \div \frac{2M \cos अ}{r^3} = \tfrac{1}{2} \tan अ ।$$

2·11—**दंड-चुम्बक पर दो सम-कोणिक क्षेत्रों का प्रभाव** । चित्र 2·08 में चुम्बक ऐसी जगह रखा है कि जहाँ दो चुम्बकीय क्षेत्र परस्पर समकोणिक हैं । इनकी
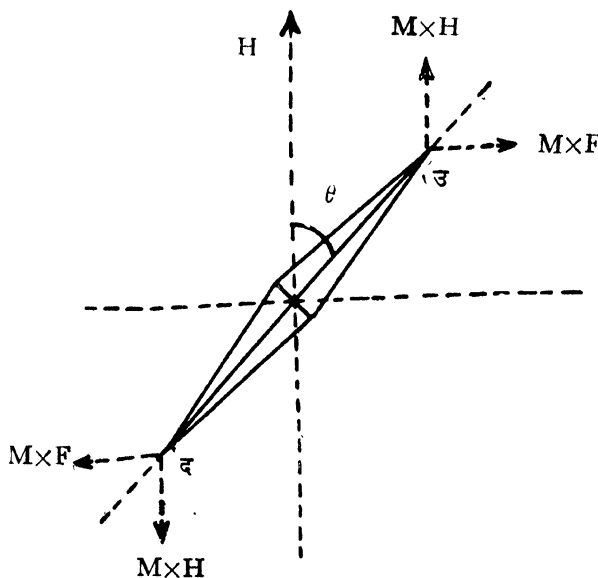
चित्र 2·08

तीव्रता क्रमशः H तथा F हैं और चुम्बक H की दिशा से कोण θ बनाता है । अनु० 2·07 से स्पष्ट है कि चुम्बक पर H के कारण बल-युग्म $C_1 = MH \sin \theta$.

इसी प्रकार F के कारण बल-युग्म $C_2 = MF \cos \theta$ । स्पष्ट है कि C_1 चुम्बक को घुमा कर H की दिशा में ले जाना चाहता है और C_2 विपरीत दिशा में घुमाता है । जो युग्म बड़ा होगा उसी की दिशा में चुम्बक घूम जायगा । किन्तु यदि θ इतने परिमाण का हो जाय कि $C_1 = C_2$ तो चुम्बक संतुलित होकर वहीं स्थिर रहेगा । इस अवस्था में $MH \sin \theta = MF \cos \theta$

अर्थात्
$$F = H \tan \theta$$

अर्थात् M का मान चाहे कितना भी हो, चुम्बक का H की दिशा से विक्षेप कोण (angle of deflection) इतना होगा कि

$$\tan \theta = \frac{F}{H}$$

यह समीकरण किसी चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता नापने के लिए बड़ा उपयोगी है । इस नाप में बहुधा H पृथ्वी का चुम्बकीय क्षेत्र होता है । अज्ञात क्षेत्र F चाहे चुम्बकों के कारण उत्पन्न हुआ हो चाहे विद्युत-धारा के कारण । उसकी दिशा H से समकोणिक कर देने पर, विक्षेप कोण θ नापने से F का परिमाण ज्ञात हो जाता है ।

इस विधि से क्षेत्र की तीव्रता नापने के यंत्र को विक्षेप-चुम्बकत्वमापी (deflection magnetometer) कहते हैं । (देखो अनु० 6·02) ।

2·12—**उत्क्रम वर्ग नियम के लिए गाउस का प्रमाण** । यह बतलाया जा चुका है कि किसी चुम्बक की अक्षीय रेखा के बिन्दुओं पर क्षेत्र की तीव्रता $(2M/r^3)$ के बराबर होती है । यह परिणाम उत्क्रम वर्ग नियम के द्वारा निकाला गया है । किन्तु यदि चुम्बकीय आकर्षण का नियम

$$F = \frac{m \times m'}{r^n}$$

हो तो ठीक उसी तरकीब से यह भी प्रमाणित हो सकता है कि तीव्रता$= nM/r^{n+1}$ होगी । ऐसे ही निरक्ष रेखा पर तीव्रता (M/r^{n+1}) होगी । अर्थात् यदि चुम्बक से किसी नियत दूरी पर दो बिन्दु **क**, **ख** ऐसे लिये जावें कि **क** अक्षीय रेखा पर स्थित हो तथा **ख** निरक्ष पर तब

$$\frac{\text{त}_\text{क}}{\text{त}_\text{ख}} = n$$

होगा । यदि उत्क्रम वर्ग नियम ठीक है तो n का मूल्य ठीक 2 के बराबर होना चाहिए । गाउस ने $\text{त}_\text{क}$ तथा $\text{त}_\text{ख}$ को पृथ्वी के क्षेत्र की तीव्रता H के साथ तुलना करके विक्षेप-चुम्बकत्वमापी के द्वारा नापा । यह प्रमाणित किया जा चुका है कि

यदि **क** या **ख** पर छोटा सा चुम्बक रखा हो तथा $त_क$ अथवा $त_ख$ की दिशा H से समकोण बनावे तो

$$त_क = H \tan\theta$$

जहाँ θ उस चुम्बक का विक्षेप कोण है। इसी प्रकार

$$त_ख = H \tan\theta'$$

अतः
$$\frac{\tan\theta}{\tan\theta'} = \frac{त_क}{त_ख} = n$$

इस प्रकार θ और θ' को नापने से सदैव ही गाउस को n का मूल्य बड़ी यथार्थता पूर्वक 2 ही मिला। इससे प्रमाणित हो गया कि चुम्बकीय बल के नियम में $n=2$ होता है अर्थात्

$$F = \frac{m \times m'}{r^2}$$

2·13—**दो छोटे चुम्बकों पर पारस्परिक बल-युग्म।** **कख** तथा **चछ** दो छोटे चुम्बक हैं जिनके घूर्ण क्रमशः M तथा M' हैं (चित्र 2·09)। ये इनके मध्य बिन्दुओं की रेखा **मम'** से क्रमशः **ब**, **ब'** के कोण बनाते हैं और **मम'**$=r$ है, जो चुम्बकों की लम्बाई की अपेक्षा बहुत बड़ी है। अतः यह समझा जा सकता है कि **चछ** के दोनों ध्रुवों पर **कख** के कारण बराबर परिमाण के किन्तु विपरीत दैशिक बल लगेंगे।
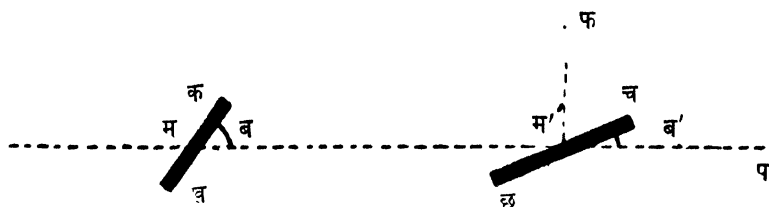
चित्र 2·09

कख के घूर्ण को **मम'** तथा उससे समकोणिक दिशा में विघटित करने से

मप दिशा में **कख** के कारण क्षेत्र की तीव्रता $=(2M\cos ब/r^3)$

तथा **म'फ** दिशा में तीव्रता $=(M\sin ब/r^3)$

अनु० 2·10 के अनुसार पहली तीव्रता के कारण **च छ** पर बल-युग्म $=(2M\cos$ **ब** $/r^3) \,.\, M'\sin$ **ब**$'$

तथा द्वितीय के कारण बल-युग्म $=(M\sin$ **ब** $/r^3)\ M'\cos$ **ब**$'$

अतः **च छ** पर सम्पूर्ण बल-युग्म $=\dfrac{MM'}{r^3}\ [2\cos$ **ब** $\sin$ **ब**$'$ $+\sin$ **ब** $\cos$ **ब**$']$

इसी प्रकार **च छ** के कारण **क ख** पर बल-युग्म $=(MM'/r^3)[2\sin$ **ब** $\cos$ **ब**$'$ $+\cos$ **ब** $\sin$ **ब**$']$

ध्यान देने की बात है कि ये दोनों बल-युग्म बराबर नहीं है ।

चित्र 2·10 मे प्रदर्शित तीन स्थितियाँ विशेष ध्यान देने योग्य है :—पहली स्थिति में **ब**$=$**ब**$'=0$ है । और दूसरी में **ब**$=$**ब**$'=90°$ है । अतः इन दोनों
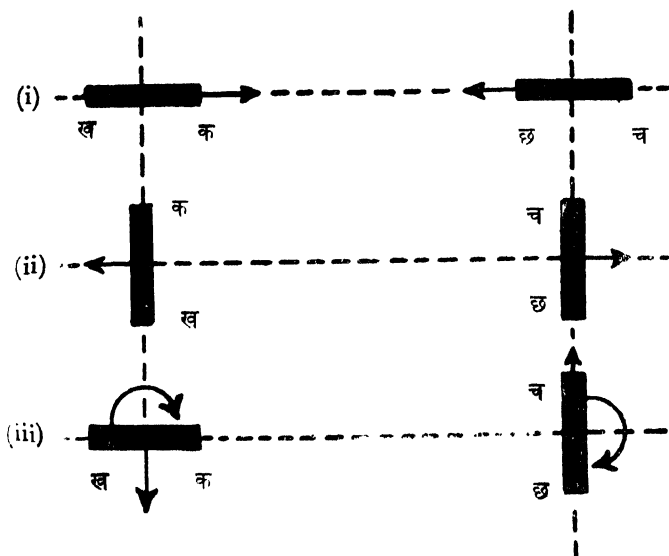
चित्र 2·10

स्थितियों में बल-युग्मों का मान शून्य है । किन्तु तीसरी स्थिति में **ब**$=0$ और **ब**$'=90°$ है । अतः **क ख** पर बल-युग्म का परिमाण है (MM'/r^3) किन्तु **च छ**

पर बल-युग्म का मान इससे द्विगुण अर्थात $(2MM'/r^3)$ है और वह विपरीत दिशा में भी है।

इन बल-युग्मों के बराबर न होने के कारण ऐसा जान पड़ता है कि यदि दोनों चुम्बक किसी लकड़ी के तख्ते पर रखे हों और उस तख्ते को पानी पर तैरा दिया जाय तो वह तख्ता बड़े बल-युग्म की दिशा में घूमनें लगेगा और उसका वेग बराबर बढ़ता ही जायगा। इस प्रकार हमें अनन्त ऊर्जा बिना खर्च ही प्राप्त हो सकेगी। इस असम्भव परिणाम का कारण यह है कि इन चुम्बकों पर केवल उपर्युक्त बल-युग्म ही कार्य नहीं करते किन्तु प्रत्येक चुम्बक दूसरे पर विस्थापित करने वाला बल भी लगाता है (अनु० 2·14)। इन बलों के कारण भी एक बल-युग्म बन जाता है जिसका परिमाण उपर्युक्त बल-युग्मों के संयुक्त परिमाण के बराबर होता है। विपरीत दिशा में होने के कारण यह उपर्युक्त तख्ते का संतुलन बनाये रखता है।

2·14—**दो छोटे चुम्बकों के बीच में विस्थापक बल** (Translatory Force)। चित्र 2·09 में मान लीजिय कि **क ख** तथा **च छ** के ध्रुवों की प्रबलता क्रमश: m और m' है और **म** पर **चछ** जो कोण अंतरित (subtend) करता है वह है 2ϕ। अर्थात् $\phi=(l\sin \text{ब}')/r$। यद्यपि r के मुकाबले में l छोटा है तब भी ϕ उपेक्षणीय नहीं है। अर्थात् **च** और **छ** पर जो बल लगते हैं उनकी दिशाओं में थोड़ा फर्क है। अतः $\angle$**कमच**$=$**ब**$-\phi$ और $\angle$**कमछ**$=$**ब**$+\phi$।

तब **कख** के कारण **च** पर बल होगा

$$\frac{2M\cos(\text{ब}-\phi)}{r^3}\cdot m' \qquad \text{(मच दिशा में)}$$

और $\{M\cos(\text{ब}-\phi)/r^3\}\cdot m'$ (**मच** से समकोणिक दिशा में)

इन बलों को **मम'** तथा उससे समकोणिक दिशा में विघटित करने पर तथा इस ही प्रकार **छ** पर लगने वाले बलों को भी इन्ही दिशाओं में विघटित करने पर यह प्रमाणित हो जायगा कि **क ख** का पूरा बल जो चुम्बक **चछ** पर **मम'** दिशा में लगता है

$$=-\frac{3MM'}{r^4}(2\cos\text{ब}\cos\text{ब}'-\sin\text{ब}\sin\text{ब}')$$

तथा जो पूरा बल **मम'** से समकोणिक दिशा मे लगता है

$$=\frac{2MM'}{r^4}(\sin\text{ब}\cos\text{ब}'+\cos\text{ब}\sin\text{ब}')$$

क ख पर **च छ** के कारण भी इतने ही परिमाण के किन्तु विपरीत-दैशिक बल लगेंगे। विशेष स्थितियों में इन बलों के परिमाण नीचे की सारिणी में दिये गये हैं।

ब,		बल (**म म**′ दिशा में)	बल (**म म**′ से समकोणिक दिशा में)
0	0	$\frac{6MM'}{r^4}$ (आकर्षण)	0
90°	90°	$\frac{3MM'}{r^4}$ (प्रतिकर्षण)	0
0	90°	0	$\frac{3MM'}{r^4}$
90°	0	0	$\frac{3MM'}{r^4}$

इस सारिणी से स्पष्ट है कि चित्र 2·10 की स्थिति (iii) में **क ख** के कारण **च छ** पर बल लगेगा $3MM'/r^4$ और उतना ही बल **च छ** के कारण **क ख** पर लगेगा। ये दोनों बल **म म**′ से समकोणिक होंगे। इनके बीच की दूरी होगी r। अतः उनका बल-युग्म होगा $(3MM'/r^4) . r = 3MM'/r^3$। यही बल-युग्म पिछले अनुच्छेद के संयुक्त बल-युग्म का विरोध करके लकड़ी के तख्ते का संतुलन कर लेगा।

2·15—**चुम्बकीय विभव** (Magnetic Potential)। चुम्बकीय क्षेत्र के सम्बन्ध में एक और परिमाण भी काम में आता है जिसे **विभव** कहते हैं। मान लीजिये कि चित्र 2·11 में **उ** कोई उत्तर ध्रुव है और कोई एकांक उत्तर-ध्रुव उससे अनन्त दूरी पर रखा है।

चित्र 2·11

यदि इस एकांक ध्रुव को **उ** की ओर लावें तो स्पष्ट है कि हमें प्रतिकर्षण के विरुद्ध कार्य (work) करना पड़ेगा और इसलिए कुछ ऊर्जा (energy) का व्यय भी होगा। यह ऊर्जा स्थितिज (potential) रूप में रहेगी। यदि हम एकांक ध्रुव को रोके न रहें तो वह प्रतिकर्षित होकर पुनः अनन्त दूरी तक चला जावेगा।

इस क्रिया में वह स्थितिज ऊर्जा गतिज (kinetic) रूप में प्रकट हो जायगी। इस स्थितिज ऊर्जा को (अर्थात् एकांक ध्रुव को अनन्त दूरी से क्षेत्र के किसी बिन्दु पर लाने में जो कार्य करना पड़ता है उसके परिमाण को) क्षेत्र के उस बिन्दु **क** का **चुम्बकीय विभव** कहते हैं।

यह स्पष्ट ही है कि उस एकांक ध्रुव को **ख** पर लाने में और भी अधिक कार्य करना पड़ेगा।

अतः **ख** का विभव **क** की अपेक्षा अधिक होता है। **क** से **ख** तक एकांक ध्रुव को ले जाने में जो कार्य करना होगा वह **क** तथा **ख** का **विभवान्तर** (potential difference) कहलाता है।

इस विभव के मात्रक का कोई खास नाम नहीं है। यदि **क** पर स्थितिज ऊर्जा V अर्ग हो तो **क** का विभव V स. ग. स. मात्रक कहलाता है। यदि **ख** पर स्थितिज ऊर्जा V' हो तो **क** और **ख** का विभवान्तर $V'-V$ स. ग. स. मात्रक हुआ।

यदि **क** और **ख** अत्यंत निकट हों तो उनके बीच में क्षेत्र की तीव्रता का परिमाण F स्थिर समझा जा सकता है। अत. एकांक ध्रुव को F डाइन के बल से **क** से **ख** तक ले जाने का कार्य हुआ $F\times$ **कख**। यदि **उक**$=x$ हो और **उख**$=x-dx$ हो तो **कख**$=-dx$

अतः $$Fx(-dx)=V'-V=dV$$

$$\therefore \quad F=-(dV/dx)$$

$-dV/dx$ को **विभव-प्रवणता** (potential gradient) कहते हैं। इसमें — चिह्न लगाने का यह कारण है कि दूरी x के बढ़ने से विभव V घटता है।

यदि चुम्बकीय क्षेत्र किसी बिन्दु-ध्रुव के कारण हो तो इस ध्रुव से r सम० की दूरी पर स्थित **क** पर विभव का परिमाण गणित के द्वारा निम्नलिखित रीति से जाना जा सकता है।

मान लीजिये कि बिन्दु-ध्रुव **उ** की प्रबलता m है। अतः x सम० की दूरी पर क्षेत्र की तीव्रता m/x^2 हुई। यदि कोई एकांक ध्रुव इस जगह रखा हो तो उसे क्षेत्र की दिशा में अत्यन्त अल्प दूर dx हटाने के लिए आवश्यक ऊर्जा होगी

$(m/x^2) . dx$ । अतः अनन्त दूरी से क तक एकांक ध्रुव को लाने के लिए आवश्यक ऊर्जा

$$V = \int_{\infty}^{x} \frac{m}{x^2} dx = -\frac{m}{x}\Big]_{\infty}^{x} = \frac{m}{x}$$

इसलिए क पर चुम्बकीय विभव $= m/x$

इस सम्बन्ध में दो बातें स्मरण रखने के योग्य हैं। प्रथम तो यह कि विभव दिशा-विहीन अथवा अदिष्ट राशि (scalar quantity) है। बल, वेग आदि के समान इसके कोई दिशा नहीं होती। यह तो इसी बात से प्रकट है कि उसका परिमाण कार्य अथवा ऊर्जा के बराबर होता है जो स्वयं भी दिशा-विहीन है। इसलिए यदि m_1, m_2, m_3 आदि कई ध्रुव एक ही साथ उपस्थित हों तो उन सबके कारण क पर विभव होगा—

$$\frac{m_1}{r_1} + \frac{m_2}{r_2} + \frac{m_3}{r_3}$$

जहाँ r_1, r_2, r_3 आदि क्रमशः उन ध्रुवों से क की दूरी है।

दूसरे, विभवान्तर का परिमाण इस बात पर निर्भर नहीं होता कि एकांक ध्रुव क से ख पर किस मार्ग से लाया गया। मान लीजिये कि प तथा फ दो मार्ग हैं (चित्र 2·12)। अब यदि एकांक ध्रुव क से प मार्ग द्वारा चलकर ख पर पहुँचे और तब फ मार्ग से लौट कर पुनः क पर जा पहुँचे तो प्रत्यक्ष ही इस क्रिया में कार्य का परिमाण 0 होगा क्योंकि ध्रुव पुनः अपने पूर्व स्थान पर जा पहुँचा है। अतः यदि प मार्ग का कार्य W_1 हो और फ मार्ग का कार्य W_2 हो तो स्पष्ट ही
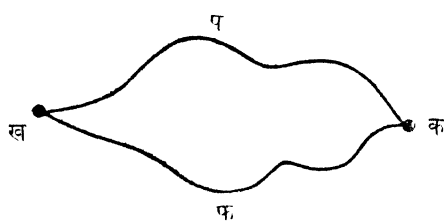
चित्र 2·12

$$W_1 - W_2 = 0$$

अर्थात्

$$W_1 = W_2$$

2·16—दंड-चुम्बक के कारण चुम्बकीय विभव।

(i) चुम्बक की अक्षीय रेखा के किसी बिन्दु क पर:—

चुम्बक के मध्यबिन्दु **म** से बिन्दु **क** की दूरी r सम० है और चुम्बक की लम्बाई $2l$ सम० (चित्र 2·13)।
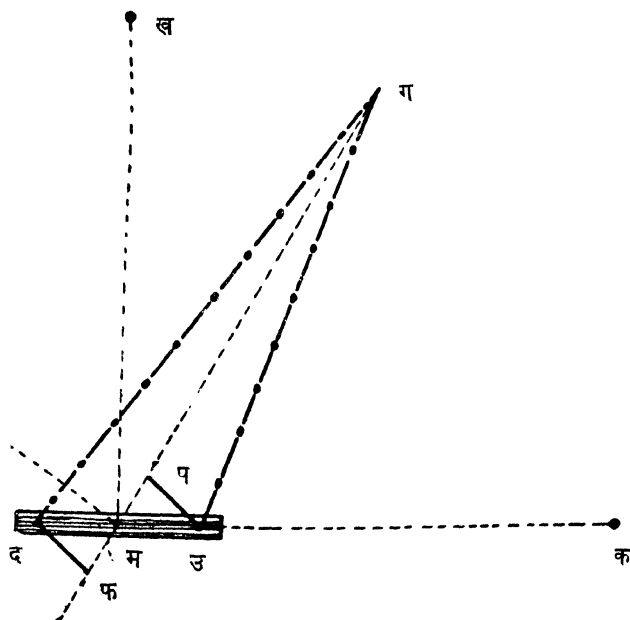
चित्र 2·13

अतः **क** पर चुम्बकीय विभव $= \dfrac{m}{\text{उक}} - \dfrac{m}{\text{दक}} = m\left\{\dfrac{1}{r-l} - \dfrac{1}{r+l}\right\}$

$$= \frac{2ml}{(r^2-l^2)} = \frac{M}{r^2-l^2}$$

$$= \frac{M}{r^2} \quad (\text{यदि } l << r) \ldots \quad \text{(i)}$$

(ii) चुम्बक की निरक्ष-रेखा के किसी बिन्दु **ख** पर :—

चुम्बकीय विभव $= \dfrac{m}{\text{उख}} - \dfrac{m}{\text{दख}} = 0 \quad . \quad . \quad . \quad \text{(ii)}$

(iii) किसी अन्य बिन्दु **ग** पर :—

उ तथा **द** से **म ग** पर लम्ब **उ प** तथा **द फ** डालो। तब यदि चुम्बक बहुत छोटा हो तो **उ ग**=**प ग** तथा **द ग**=**फ ग**

अतः $$\text{विभव} = m\left\{\frac{1}{\text{पग}} - \frac{1}{\text{फग}}\right\}$$

$$= m\left\{\frac{1}{\text{मग}-\text{मप}} - \frac{1}{\text{मग}+\text{फम}}\right\}$$

$$= \frac{m \times 2\,\text{मप}}{r^2 - \text{मप}^2} \qquad \because \text{फम} = \text{मप}$$

किन्तु यदि **मग** तथा **दउ** के बीच का कोण α हो तो **मप**$= l\cos\alpha$ और **मप**$<<$**मग**।

अतः $$\text{विभव} = \frac{2ml\cos\alpha}{r^2} = \frac{M\cos\alpha}{r^2} \quad . \quad . \quad . \quad . \quad \text{(iii)}$$

यह स्पष्ट है कि यदि **ग** अक्षीय रेखा पर हो तो $\alpha = 0$ होगा और यदि वह निरक्ष-रेखा पर हो तो $\alpha = 90°$ होगा। दोनों दशाओं में विभव का यह सूत्र ऊपर दिये हुये दोनों सूत्रों (i) और (ii) से मिल जाता है।

इस सूत्र से एक बड़ा उपयोगी परिणाम यह निकलता है कि चुम्बकीय घूर्ण का भी बल, वेग आदि दिष्ट-राशियों (vector quantities) के समान ही विघटन हो सकता है। यदि इस घूर्ण को भी एक दिष्टराशि माना जाय और उसकी दिशा चुम्बक की अक्ष **दउ** समझी जाय तो हम यह भी समझ सकते हैं कि चित्र 2·13 में मग दिशा में चुम्बकीय घूर्ण$= M\cos\alpha$ है तथा **मग** से समकोणिक दिशा **मघ** में चुम्बकीय घूर्ण$= M\sin\alpha$ है। अर्थात् जो काम चुम्बक **उद** करता है वही काम दो चुम्बक कर सकते हैं यदि इन दोनों के घूर्ण क्रमशः $M\cos\alpha$ तथा $M\sin\alpha$ हों और ये क्रमशः **मग** तथा **मघ** दिशाओं में मध्य बिन्दु **म** पर रखे हों।

2·17—**चुम्बकीय पट्टिका** (Magnetic Shell)। यदि लोहे की कोई पतली पट्टिका (समतल अथवा वक्रतलीय) इस प्रकार चुम्बकित कर दी जाय कि ध्रुवत्व उसके दोनों पृष्ठों पर रहे तो यह पट्टिका चुम्बकीय पट्टिका कहलाती है।

यदि पट्टिका की मोटाई t हो तथा उसके पृष्ठों पर ध्रुव-प्राबल्य σ मात्रक प्रति वर्ग सम० हो तो $\sigma . t$ को **पट्टिका का प्राबल्य** (strength of the shell) ϕ कहते हैं।

$$\phi = \sigma . t.$$

स्पष्ट ही है कि पट्टिका के एक वर्ग सम० क्षेत्र के टुकड़े का चुम्बकीय घूर्ण भी $\sigma . t$ होगा क्योंकि इस टुकड़े के ध्रुवों का प्राबल्य σ है और ध्रुवों के बीच की दूरी t है।

अतः ϕ की दूसरी परिभाषा हुई चुम्बकीय घूर्ण प्रति वर्ग सम० । अनु० 2·08 में यह बताया गया था कि $\sigma = I =$ चुम्बकन की तीव्रता ।

इसलिए
$$\phi = I \, . \, t$$

2·18—एक समान चुम्बकित पट्टिका के कारण विभव । चित्र 2·14 में **क** पर पट्टिका के एक छोटे से भाग की कल्पना करिये । यदि इसके पृष्ठ का
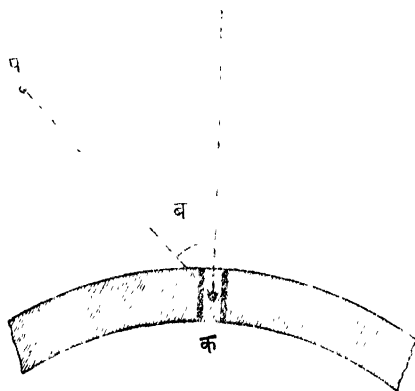
चित्र 2·14

क्षेत्रफल ds हो तो इस भाग का चुबकीय घूर्ण $= \phi \, . \, ds$ । अतः इस छोटे चुम्बक के कारण **प** पर

$$\text{विभव} = \frac{\phi \, ds \, . \cos \text{ब}}{r^2}$$

इसलिये **प** पर पूरी पट्टिका के कारण विभव होगा

$$V = \phi \int \frac{ds \cos \text{ब}}{r^2}$$

किन्तु $\int \frac{ds \cos \text{ब}}{r^2} =$ पट्टिका द्वारा **प** पर अंतरित घन-कोण ω

$$\therefore \qquad V = \phi \, . \, \omega$$

यदि पट्टिका चित्र 2·15 के आकार की छोटे मुँह के खोखले बर्तन के समान लगभग निमीलित (closed) हो तो स्पष्ट है कि उससे बहिर्वर्ती बिन्दु **क** पर घनकोण ω

बहुत ही छोटा होगा किन्तु अन्तः स्थित बिन्दु ख पर धन कोण ω' बहुत ही बड़ा होगा। यदि पट्टिका सर्वथा निमीलित हो तो $\omega=0$ और $\omega'=4\pi$ हो जावेंगे। अतः
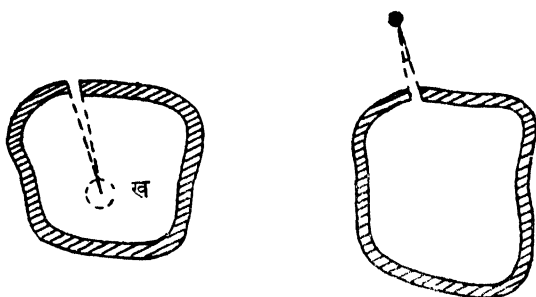
चित्र 2·15

$V_{क}=0$ और $V_{ख}=4\pi\phi$। यदि क और ख दो अत्यन्त निकट बिन्दु हों और ख पट्टिका के भीतर हो तथा क बाहर हो तो

$$V_{क}=\phi\ \omega_{क}$$

तथा
$$V_{ख}=\phi\ \omega_{ख}=\phi(4\pi-\omega_{क})$$

$$\therefore \quad V_{ख}-V_{क}=4\pi\ .\ \phi$$

अतः एकांक ध्रुव को क से ख तक किसी भी मार्ग से ले जाने मे $4\pi\phi$ अर्ग ऊर्जा का व्यय होगा। चाहे यह मार्ग सर्वथा वायु में हो या पट्टिका के लोहे के बीच में से हो।
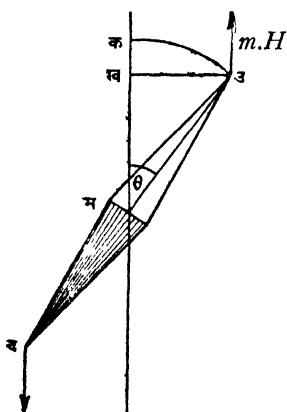
चित्र 2·16

2·19—चुम्बक को समांगी क्षेत्र में विक्षेपित करने के लिए आवश्यक ऊर्जा। मान लीजिये कि क्षेत्र H की दिशा कख में कोई चुम्बक रखा है और उसे घुमा कर उद स्थिति में पहुँचा दिया है। कख और उद के बीच में कोण θ है (चित्र 2·16)

स्पष्ट है कि उ पर क्षेत्र का बल $m.H$ है और यह ध्रुव क्षेत्र के बल के विरुद्ध कख सम० हट गया है। अतः उस पर किया गया कार्य

$$=m.H\times कख$$
$$=mH(l-l\cos\theta)$$
$$=mHl(1-\cos\theta)$$

इतना ही कार्य दक्षिण ध्रुव ब पर किया गया है। अतः सम्पूर्ण कार्य

$$=2ml \,.\, H \,.(1-\cos\theta)$$
$$=MH(1-\cos\theta)$$

अर्थात् चुम्बक को विक्षेपित करने में इतनी ऊर्जा का व्यय करना पड़ेगा।

2·20—छोटे चुम्बक को असमांगी क्षेत्र में थोड़ा सा हटाने के लिए आवश्यक ऊर्जा। मान लीजिए कि चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा चुम्बकीय अक्ष की ही दिशा है और उसके मध्य-बिन्दु पर क्षेत्र की तीव्रता H है। इस अक्षीय दिशा में यदि दूरी x के द्वारा नापी जाय और चुम्बक की लम्बाई $2l$ हो तो स्पष्ट है कि

चुम्बक के उत्तर ध्रुव पर बल $=m\left(H+l\dfrac{dH}{dx}\right)$

तथा चुम्बक के दक्षिण ध्रुव पर बल $=m\left(H-l\dfrac{dH}{dx}\right)$

अतः संयुक्त बल $=2ml\dfrac{dH}{dx}=M\dfrac{dH}{dx}$.

यदि चुम्बकन की तीव्रता I हो और चुम्बक का आयतन v हो तो

संयुक्त बल $=Iv\,.\dfrac{dH}{dx}$

अतः थोड़ी सी दूर δx हटाने में आवश्यक काम

$=Iv\delta H=I\delta H$ प्रति घन सम०
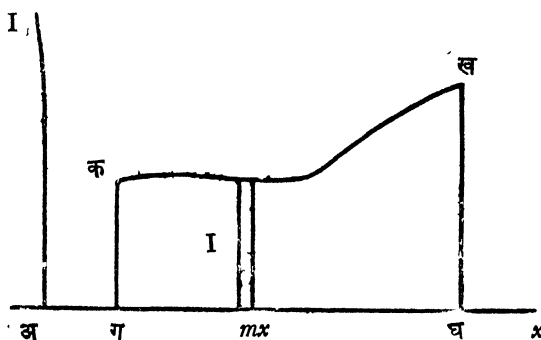
चित्र 2·17

यदि लोहा चुम्बकीय क्षेत्र में रखा हो तो उसके चुम्बकन की तीव्रता भी क्षेत्र की तीव्रता के साथ ही साथ बढ़ती है। लेखा-चित्र में यदि यह वृद्धि वक्र कख के द्वारा

व्यक्त की जाय (चित्र 2·17) तो लोहे को $H=$ **अ ग** से $H=$ **अ घ** तक ले जाने में जो कार्य करना पड़ेगा वह **क ख घ ग** के क्षेत्रफल से व्यक्त हो सकता है क्योंकि यह

$$\text{क्षेत्रफल} = \int^{\text{घ}} I dx$$

2·21—**चुम्बक का दोलन** (Oscillation)। चित्र 2·16 में जो चुम्बक दिखलाया गया है उसे बल-युग्म खींच कर क्षेत्र की दिशा में लाना चाहता है और धीरे-धीरे उसका वेग बढ़ता जाता है। जब वह ठीक क्षेत्र की दिशा मे आ जाता है तब बल-युग्म तो लुप्त हो जाता है किन्तु वेग अधिकतम रहता है। यह चुम्बक को दूसरी ओर ले जाता है। इधर बल-युग्म बिपरीत दिशा में लगकर चुम्बक का वेग घटाते-घटाते अत में उसे ठहरा देता है और फिर उसे वापिस खीचने लगता है। इस प्रकार घड़ी के लोलक (pendulum) के समान चुम्बक भी बराबर दोलन करता रहता है। यदि चुम्बक के घूमने का कोण बड़ा न हो तो यह दोलन सरल-आवर्त दोलन होते हैं।

यदि चुम्बक-दंड की अवस्थितित्व का घूर्ण (moment of inertia) I हो और कोणीय त्वरण (angular acceleration) $d^2\theta/dt^2$ हो तो गति-विज्ञान के नियमानुसार बलयुग्म का घूर्ण

$$C = I\frac{d^2\theta}{dt^2}$$

किन्तु अनु॰ 2·07 के अनुसार $C = -MH\sin\theta$

ऋण-चिह्न का कारण यह है कि बल-युग्म θ से विपरीत दिशा मे है।

अतः
$$I\frac{d^2\theta}{dt^2} = -MH\sin\theta$$

$$= -MH\theta \qquad (\text{क्योंकि } \theta \text{ छोटा है})$$

इस समीकरण का परिणाम है कि $\theta = A\sin(\sqrt{MH/I})t$

अतः चुम्बक की गति सरल-आवर्त गति है और उसका आवर्त काल (periodic time)

$$T = \frac{2\pi}{\sqrt{\left(\frac{MH}{I}\right)}} = 2\pi\sqrt{\left(\frac{I}{MH}\right)}$$

परिच्छेद 3

बल-रेखाएँ

(Lines of Force)

3·01—**चुम्बकीय बल-रेखाएँ** (Lines of Force)। यदि हम किसी चुम्बक के क्षेत्र में कोई भी बिन्दु **प** लें तो चित्र 3·01 के द्वारा यह स्पष्ट है कि इस बिन्दु पर स्थित किसी भी उत्तर ध्रुव पर चुम्बक के दोनों ध्रुव अपना अपना बल लगावेंगे। उत्तर ध्रुव **उ** का प्रतिकर्षण बल **उ प** दिशा में लगेगा और दक्षिण ध्रुव **द** का आकर्षण बल **प द** दिशा में लगेगा।
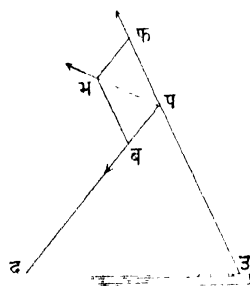
चित्र 3·01

ये बल परिमाण मे बराबर न होंगे। **प** से समीपस्थ ध्रुव का बल अधिक होगा और दूर वाले ध्रुव का कम। उत्क्रम वर्ग के नियमानुसार हम इन बलों के वास्तविक परिमाण की गणना भी कर सकते हैं। मान लीजिये कि चित्र मे इन बलों का परिमाण **प फ** और **प ब** रेखाओं के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। अतः दो बलों का संयुक्त परिणाम जानने के सुप्रसिद्ध समान्तर चतुर्भुज (parallelogram) नियम के अनुसार रेखा **प भ** संयुक्त बल (resultant force) को प्रदर्शित करती है। अर्थात् **प** पर स्थित कोई भी अकेला और मुक्त उत्तर ध्रुव **प भ** दिशा में गमन करेगा। इसी प्रकार इस क्षेत्र के प्रत्येक विन्दु पर स्थित उत्तर ध्रुव की गति हम जान सकते हैं।
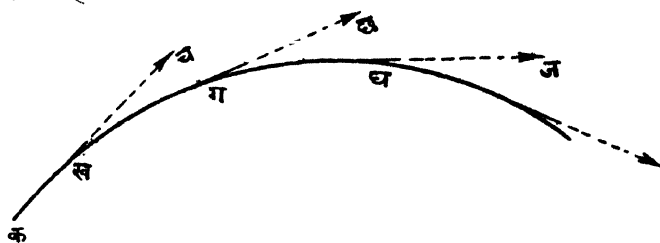
चित्र 3·02

अब मान लीजिये कि कोई उत्तर ध्रुव **क** पर स्थित है (चित्र 3·02) और उसे चुम्बक **क ख च** दिशा में चलाता है। **ख** पर पहुँचने पर चुम्बक का बल उसे

ख घ की ओर न ले जायगा क्योंकि **ख** चुम्बक के ध्रुवों से भिन्न दूरी पर और भिन्न दिशा में स्थित है। तब उसका गमन **ख ग छ** दिशा में होने लगेगा। इसी प्रकार **ग** पर पहुँच कर उसकी गति **ग घ ज** दिशा में होगी। अतः हम कह सकते हैं कि वह उत्तर-ध्रुव एक वक्र रेखा पर गमन करेगा और यह रेखा वास्तव में **उ** से आरम्भ होकर **द** तक पहुँचेगी। चित्र 3·03 में ऐसी ही अनेक रेखाएँ दिखलाई गई हैं। इन्हें हम मुक्त उत्तर ध्रुव (free north pole) के गमन की मार्ग-रेखाएँ कह सकते हैं।
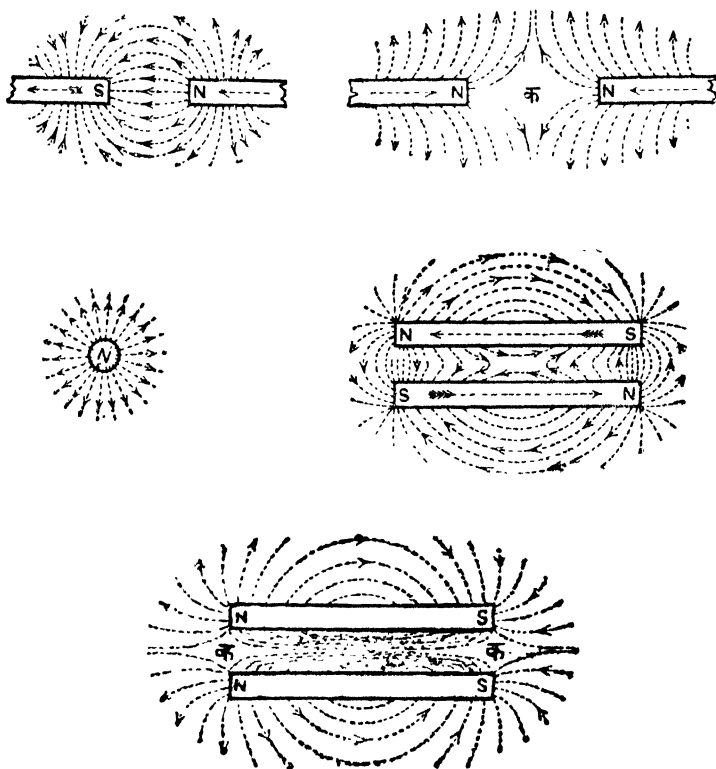
चित्र 3·03

यदि क्षेत्र में गमन करने वाला ध्रुव उत्तर-ध्रुव न होकर दक्षिण-ध्रुव होता तो भी वह इन्हीं रेखाओं पर गमन करता। केवल अन्तर यह होता कि वह **उ** से आरम्भ कर **द** की ओर न जाता। उसकी गति **द** से **उ** की ओर होती।

इन रेखाओं के द्वारा चुम्बकीय क्षेत्र के प्रत्येक बिन्दु पर चुम्बकीय बल की दिशा का ज्ञान होता है। चित्र 3·02 से स्पष्ट है कि इन वक्र रेखाओं के किसी भी बिन्दु पर जो स्पर्श-रेखा खींची जाय वही उस बिन्दु पर चुम्बकीय बल की दिशा है। इस कारण इन रेखाओं को बल-रेखाएँ कहते हैं। समस्त चुम्बकीय क्षेत्र ऐसी ही बल-रेखाओं से परिपूर्ण समझा जा सकता है।

इन बल-रेखाओं को प्रत्यक्ष देखने के कई उपाय हैं। इनमें सब से सरल यह है कि किसी पतली किन्तु लम्बी इस्पात की सलाई को चुम्बकित करके एक काग में घुसा दो और काग को पानी में तैरा दो। इस प्रकार यह सलाई ऊर्ध्वाधर (vertical) तैरेगी (चित्र 3·04)। मान लीजिये कि उसका उत्तर ध्रुव ऊपर की ओर है। अब यदि जल-पृष्ठ के समीप हम कोई नाल-चुम्बक लावें तो यह सलाई का चुम्बक धीरे-धीरे एक वक्र मार्ग से चलकर चुम्बक के दक्षिण ध्रुव की ओर अग्रसर होगा। यही वक्र मार्ग बल-रेखा है। इस प्रयोग में सलाई लम्बी लेने का कारण यह है कि उसका नीचे वाला ध्रुव नाल चुम्बक से इतनी अधिक दूरी पर रहे कि उस पर यह चुम्बक प्रायः कुछ भी असर न कर सके।
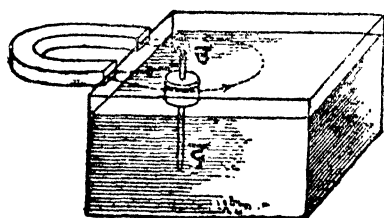
चित्र 3·04

3·02—**चुम्बकीय क्षेत्र में छोटे चुम्बक की स्थिति**। जब कोई छोटी सी चुम्बकीय सूची किसी चुम्बकीय क्षेत्र में रखी जाती है तब अवश्य ही उस का उत्तर ध्रुव क्षेत्र
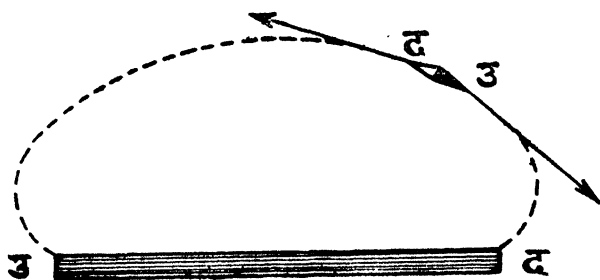
चित्र 3·05

की बल-रेखा पर भ्रमण करना चाहता है। किन्तु साथ ही उसका दक्षिण ध्रुव भी प्रायः उस ही बल-रेखा पर विपरीत दिशा में चलने का प्रयत्न करता है। इन दोनों

ध्रुवों की समान प्रबलता के कारण दोनों पर क्षेत्र का बल बराबर है। अतः परिणाम यह होता है कि दोनों में से कोई भी ध्रुव अपने स्थान से हट नहीं सकता। हाँ, चुम्बकीय सूची घूम कर इस प्रकार अवश्य स्थित हो जाती है कि दोनों ध्रुवों पर लगने वाले बल ठीक विमुख हो जावे (चित्र 3·05)। इससे यह भी स्पष्ट है कि ऐसी छोटी सी दिक्सूची क्षेत्र में चुम्बकीय बल की दिशा प्रदर्शित करने के काम में आ सकती है और उसकी सहायता से हमे बल-रेखा का भी ज्ञान हो सकता है।

3·03—**दिक्सूची के द्वारा बल-रेखाएँ खींचने की विधि।** आलेख-पट्ट (drawing board) पर कागज बिछाकर चुम्बक को उसपर रख दीजिये और उसके एक ध्रुव के निकट इस छोटी सी दिक्सूची को रखिये। वह कुछ देर इधर-उधर हिल कर अंत में एक दिशा विशेष में ठहर जावेगी। पेंसिल से कागज पर उसके दोनों सिरों के स्थान पर निशान **क ख** लगा दीजिये।
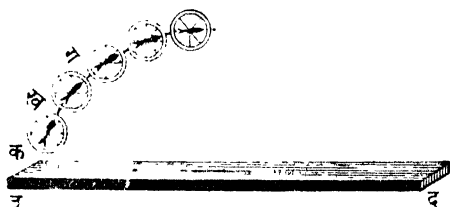
चित्र 3·06

अब दिक्सूची को हटाकर इस प्रकार रखिये कि उसका जो सिरा पहिले **क** पर था वह अब **ख** पर हो। इस अवस्था में दूसरे सिरे के स्थान पर निशान **ग** लगा दीजिये। इसी प्रकार क्रमशः दिक्सूची को हटा-हटा कर निशान लगाते चलिये। अंत में आप चुम्बक के दूसरे ध्रुव पर पहुँच जावेगे। इन **क ख ग** आदि बिन्दुओं को जोड़ने से एक वक्र बन जावेगा। यही बल-रेखा है। पुनः पहिले ध्रुव के समीप किसी दूसरे बिन्दु से प्रारम्भ करिए। अब दूसरी बल-रेखा प्राप्त हो जावेगी और ऐसे ही समस्त क्षेत्र की बल-रेखाएँ खींची जा सकती हैं (चित्र 3·06)।

3·04—**लोहे के बुरादे से बल-रेखाओं का निदर्शन।** इन बल-रेखाओं के प्रदर्शन के लिए वास्तव में छोटी दिक्सूची की कोई आवश्यकता नहीं है। साधारण लोहे का कोई भी छोटा टुकड़ा यह कार्य कर सकता है क्योंकि क्षेत्र में रखते ही उसमें भी चुम्बकत्व प्रेरित हो जाता है। लोहे के बुरादे का प्रत्येक कण बहुत अच्छा और छोटा सा चुम्बक बन जाता है। अतः यदि किसी काँच की पट्टिका पर चुम्बक के निकट ऐसा बुरादा बुरका दिया जाय और तब पट्टिका पर उंगली से हलकी हलकी चोट मार कर इन कणों को घूम सकने का अवसर दिया जाय तो ये तुरन्त अपने आप बल-रेखाओं पर जम जाते हैं। इस प्रकार हमें पूरे चुम्बकीय क्षेत्र

की बल-रेखाओं का एक ही साथ बिना अधिक परिश्रम किये ज्ञान हो सकता है। चित्र 3·07 में इसी प्रकार प्राप्त बल-रेखाओं के चित्र दिये गए हैं।
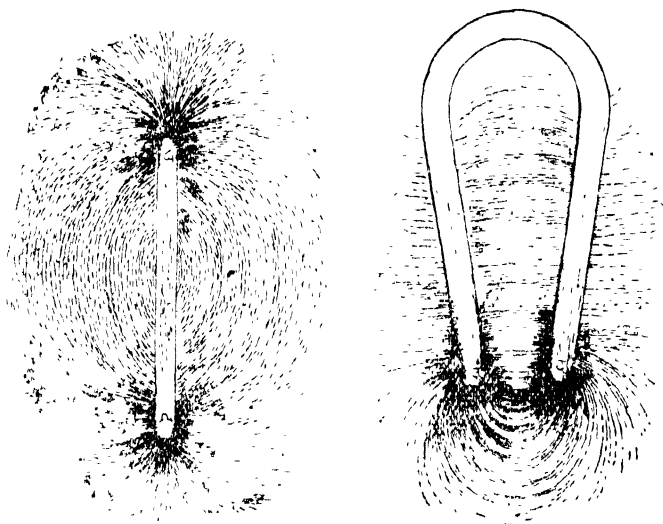
चित्र 3 07

3·05—**बल-रेखाओं के सम्बन्ध की कुछ आवश्यक बातें।** बल-रेखाओं के जो चित्र दिये गये है उनको ध्यान पूर्वक देखने से निम्नलिखित बातें ज्ञात होती हैं :—

(1) चुम्बक के ध्रुवों के निकट इन रेखाओं की बड़ी भीड़ होती है। क्योंकि प्रायः प्रत्येक रेखा उत्तर-ध्रुव से आरम्भ होकर दक्षिण-ध्रुव तक चली जाती है। ध्रुवों से कुछ दूर हट कर वे अधिक दूर-दूर हो जाती हैं। इस का अर्थ हम यों भी समझ सकते हैं कि जहाँ चुम्बकीय बल अधिक होता है वहीं इनकी भीड़ भी अधिक होती है और जहाँ यह बल कम होता है वहीं ये भी दूर-दूर हो जाती है। इस दृष्टि से चित्र पर नजर पड़ते ही चुम्बकीय बल कहाँ अधिक हैं और कहाँ कम यह बात तुरन्त ज्ञात हो जाती है।

(2) यद्यपि बल-रेखाओं की जो परिभाषा ऊपर दी गई है उसके अनुसार सब बल-रेखाओं का आरम्भ और अन्त ध्रुवों पर होना चाहिए और इस कारण उन सबको प्रत्येक ध्रुव के एक ही बिन्दु पर मिलजाना चाहिए तथापि इन चित्रों में ऐसा होता नहीं दिखलाई देता। ऐसा जान पड़ता है कि चुम्बक का ध्रुव कोई

ज्यामितीय बिन्दु नहीं हैं, किन्तु सिरे पर का कुछ विस्तृत भाग ध्रुव का कार्य करता है। यह सम्भव है कि इन ध्रुवों से बहुत दूर स्थित किसी बिन्दु पर इनका प्रभाव ऐसा ही पड़े मानो वे ज्यामीतीय बिन्दु हों किन्तु उनके अत्यन्त निकट स्थित लोहे के कणों पर ऐसा प्रभाव नहीं पड़ता। इससे यह परिणाम निकलता है कि बल-रेखाओं के द्वारा हमें ध्रुवों के स्थान का ठीक ठीक पता नहीं लग सकता।

(3) बल-रेखाएँ एक दूसरी को काट नहीं सकतीं। इसका कारण भी स्पष्ट ही है। यदि किसी बिन्दु पर दो बल-रेखाएँ आपस में काटें तो इसका अर्थ यह होगा कि उस स्थान पर परिणाम बल (resultant force) दो भिन्न-भिन्न दिशाओं में है। ऐसा होना सम्भव नहीं हो सकता।

(4) बल-रेखाएँ उत्तर-ध्रुव से चल कर दक्षिण-ध्रुव पर तो अवश्य समाप्त हो जाती है किन्तु एक उत्तर-ध्रुव से दूसरे उत्तर-ध्रुव पर नहीं जातीं। चित्र 3·03 के दो उत्तर ध्रुवों से चलने वाली बल-रेखाएँ घूम कर अन्यत्र चली जाती है किन्तु उनका अन्त उत्तर-ध्रुवों पर नही होता।

(5) उपर्युक्त बात से हम यह भी परिणाम निकाल सकते हैं कि इन रेखाओं की लम्बाई की दिशा में जो चुम्बकीय बल होता है वह आकर्षण बल है, प्रतिकर्षण बल नहीं। जहाँ प्रतिकर्षण होता है वहाँ ये रेखाएँ भी परस्पर प्रतिकर्षण करती हुई मालूम होती है।

(6) यह भी स्मरण रखना चाहिए कि चित्रों में जो बल-रेखाएँ दिखलाई गई हैं वे केवल कागज के धरातल में स्थित रेखाएँ हैं। इसी प्रकार की रेखाएँ चुम्बक के चारों ओर अन्य धरातलों में भी होगी। अतः इन चित्रों को पूरे चुम्बकीय क्षेत्र का एक-तलीय काट (plane section) मात्र समझना चाहिए।

(7) चित्र 3·03 में क अंकित जो स्थान हैं वहाँ चुम्बकीय बल का सर्वथा अभाव है, क्योंकि इन स्थानों पर दोनों ओर से दो बराबर बल विपरीत दिशाओं में लग रहे हैं। इन स्थानों को उदासीन बिन्दु (neutral points) कहते हैं। यहाँ दिक्-सूची किसी भी दिशा-विशेष में नहीं ठहरती। उसे जिधर ठहरा दीजिये उधर ही ठहर जावेगी।

(8) अन्त में यह भी स्मरण करा देना उचित है कि बल-रेखाएँ वास्तव में सर्वथा कल्पित हैं। प्रत्येक स्थान पर केवल चुम्बकीय बल की दिशा का दिग्दर्शन कराने के लिए उनकी कल्पना की गई है। लोहे के बुरादे इत्यादि से जो चित्र बनते हैं वे इन अदृश्य रेखाओं को प्रदर्शित करने की तरकीबें हैं। किन्तु आगे चल कर हम देखेंगे कि एक दूसरे दृष्टिकोण से हम इन्हें वास्तविक भी समझ सकते हैं।

3·06—पृथ्वी का चुम्बकीय क्षेत्र। अब तक हम यही विचारते रहे हैं कि किसी चुम्बक का चुम्बकीय क्षेत्र कैसा होता है। किन्तु हमें भूल न जाना चाहिए कि पृथ्वी भी एक बड़ा विशाल चुम्बक है और उसका क्षेत्र भी सर्वत्र विद्यमान है। इस
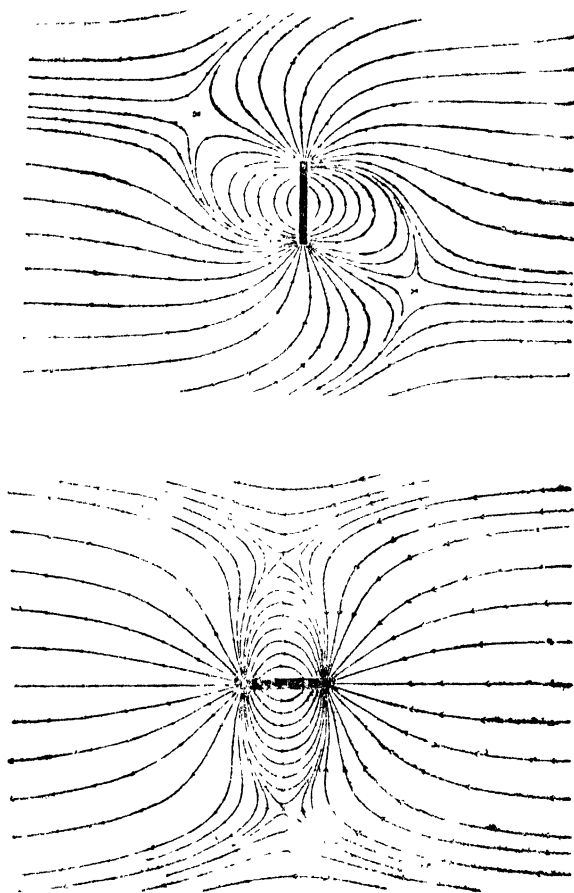
चित्र 3·08

पार्थिव क्षेत्र से हम छुटकारा नहीं पा सकते। यदि दिक्-सूची के द्वारा हम इस क्षेत्र की बल रेखाएँ खींचे तो हमें उत्तर-दक्षिण दिशा में स्थित समान्तर रेखाएँ प्राप्त होंगी।

किन्तु जब हम किसी चुम्बक की बल-रेखाएँ खीचना चाहें तब भी पृथ्वी का यह चुम्बकीय बल विद्यमान रहेगा और वास्तव में हमारी दिक्-सूची या लोहे के बुरादे के कणों पर केवल उस चुम्बक के दो ध्रुवों का प्रभाव ही न होगा। पृथ्वी भी एक तीसरा बल उस पर लगावेगी। परिणाम यह होगा कि बल-रेखाओं का जो चित्र हमें प्राप्त होगा वह ऊपर दिये हुए चित्रों के समान सरल न होगा। चित्र 3·08 में एक ही चुम्बक को भिन्न-भिन्न दिशाओ मे रखने से जो बल रेखाये प्राप्त होती है वे दिखलाई गई हैं। प्रत्येक चित्र मे उदासीन बिन्दु पर चिह्न × लगा दिया गया है। इन बिन्दुओं पर चुम्बक के ध्रुवों का परिणामी बल पृथ्वी के बल से ठीक विपरीत दिशा मे है और परिमाण मे दोनो बल बराबर हैं।

3·07—**क्षेत्र की तीव्रता का बल-रेखाओं के द्वारा निदर्शन।** बल रेखाओं के चित्रों से प्रगट है कि जहाँ क्षेत्र की तीव्रता अधिक होती है वही बल-रेखाओं की भीड़ भी अधिक हो जाती है। अर्थात यदि किसी स्थान पर कोई एक वर्ग-सेंटीमीटर क्षेत्र बल-रेखाओ से समकोण बनाता हुआ रखा जाय तो जो बल-रेखाएँ उस वर्ग-सेंटीमीटर में होकर निकलेंगी उनकी सख्या भी अधिक तीव्रता वाले स्थान पर अधिक होगी और कम तीव्रता वाले स्थान पर कम। इस बात को देखकर एक युक्ति ऐसी निकाल ली गई है कि जिस के द्वारा उपर्युक्त एक वर्ग-सेंटीमीटर में होकर निकलने वाली बल-रेखाओ की सख्या ही के द्वारा वहाँ के चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता को व्यक्त कर सकते है। इस युक्ति मे किसी ध्रुव से प्रारम्भ होने वाली बल-रेखाओं की संख्या अनिश्चित नही होती किन्तु ध्रुव की प्रबलता के अनुसार ही यह संख्या नियत होती है। यदि किसी एकांक ध्रुव से एक सेंटीमीटर दूरी पर कोई दूसरा एकांक ध्रुव रखा हो तो बतलाया जा चुका है कि उस पर एक डाइन का बल लगेगा। अत: एकांक ध्रुव से एक सेंटीमीटर की दूरी पर क्षेत्र की तीव्रता एक ओरस्टेड होती है। अब यदि हम इस एकांक ध्रुव के चारों ओर एक सम० त्रिज्या (radius) वाले गोल (sphere) की कल्पना करें तो इस गोल के प्रत्येक वर्ग सम० में होकर हमें एक बल रेखा निकलती हुई समझना चाहिए। तभी बल-रेखाओं की संख्या क्षेत्र की तीव्रता के बराबर होगी। किन्तु समस्त गोल का क्षेत्रफल है 4π वर्गसम०। अत: परिणाम यह निकला कि उस एक मात्रक ध्रुव में से प्रारम्भ होने वाली समस्त बल-रेखाओं की संख्या भी 4π समझना चाहिए। यदि ध्रुव की प्रबलता m होती तो एक सेंटीमीटर पर क्षेत्र की तीव्रता भी m होती। और उपर्युक्त कल्पना के अनुसार उस ध्रुव में से $4\pi m$ बल-रेखाएँ आरम्भ होती हुई समझना पड़ता। अतः इस युक्ति का नियम यह है कि प्रत्येक मात्रक ध्रुव 4π बल-रेखाओं का उत्पादक होता है और यदि इस नियम के अनुसार बल-रेखाएँ खीची हो और यदि क्षेत्र के किसी भी बिन्दु पर रखे हुए एकवर्गसम० में

होकर अभिलम्ब रूप निकल जाने वाली बल-रेखाओं की संख्या F हो तो वहाँ के क्षेत्र की तीव्रता F ओरस्टेड होती है।

3·08—**चुम्बकीय क्षेत्र में लोहे के द्वारा परिवर्तन**। यदि किसी चुम्बकीय क्षेत्र में कोई लोहे की वस्तु रख दी जाय तो वह क्षेत्र मे बड़ा परिवर्तन कर देती है।
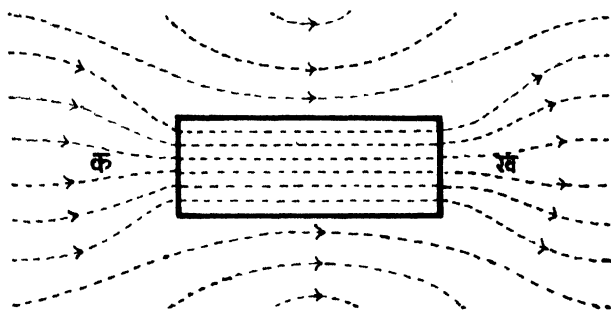
चित्र 3·11

इसका कारण पहले बतलाया जा चुका है। लोहे में प्रेरण के द्वारा चुम्बकत्व उत्पन्न होता है और इससे क्षेत्र में दो नवीन ध्रुव पैदा हो जाते हैं। अतः स्पष्ट ही है कि ये नवीन ध्रुव भी अपना चुम्बकीय बल प्रत्येक स्थान पर लगावेंगे और इस कारण क्षेत्र की तीव्रता सर्वत्र बदल जायगी। इस परिवर्तन को भी हम लोहे के बुरादे के द्वारा प्रत्यक्ष कर सकते हैं। चित्र 3·11 में दो ध्रुवों के बीच में लोहे का टुकड़ा रखने का प्रभाव दिखलाया गया है। जो बल-रेखाएँ पहले सीधी बाई ओर से दाहिनी ओर चली जाती थीं उनमें से बहुत सी अब लोहे के एक सिरे **क** में प्रविष्ट होती हुई मालूम होती हैं। रेखाओं के **क** में प्रविष्ट होने का स्पष्ट अर्थ यही है कि वहाँ दक्षिण ध्रुव उत्पन्न हो गया है और इसी प्रकार **ख** पर भी उत्तर ध्रुव का अस्तित्व स्पष्ट है।
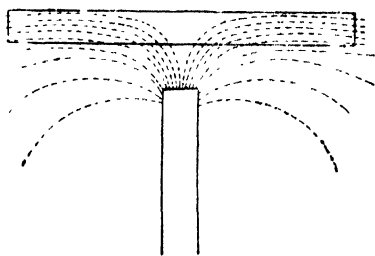
चित्र 3·12

चित्र 3·12 तथा 3·13 में बल-रेखाओं को देखते ही समझ में आ जायगा कि लोहे की आड़ से चुम्बक का बल कार्य क्यों नहीं कर सकता और

किसी वस्तु को चारों ओर लोहे से घेर लेने पर चुम्बकीय बल से उसकी कैसे रक्षा हो जाती है।
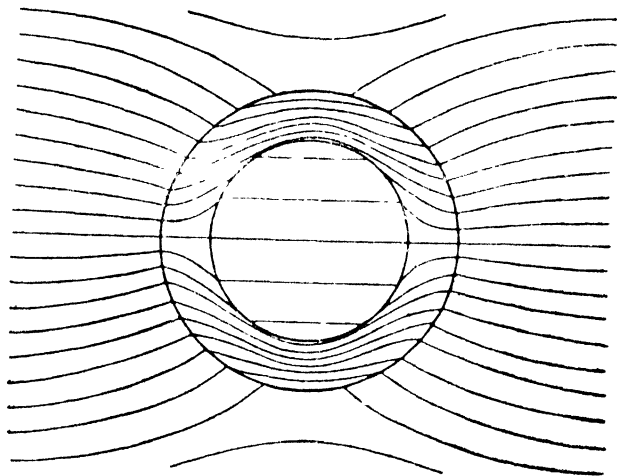
चित्र 3·13

3·09—**चुम्बकीय ईथर** (Magnetic Ether)। अब तक ध्रुवों के आकर्षण तथा प्रतिकर्षण बल ही का ज़िक्र किया गया है किन्तु इस बात पर विचार नहीं किया गया कि यह बल एक ध्रुव दूसरे पर किस प्रकार लगाता है। क्या उन दोनों ध्रुवों के बीच में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जिसकी सहायता से इस बल का संचार होता है अर्थात् क्या एक ध्रुव दूर ही से अपना प्रभाव दूसरे पर डाल लेता है ? साधारण दृष्टि से ऐसा मान लेनेमें कोई कठिनाई नहीं मालूम होती और विशेष कर जब हम देखते हैं कि चाहे चुम्बक बिल्कुल निर्वात स्थान में रखा हो अथवा वायु या जल में पड़ा हो अथवा उसके चारों ओर लकड़ी, पीतल, काँच या अन्य पदार्थ का आवरण हो फिर भी जो बल वह चुम्बक किसी अन्य चुम्बकीय ध्रुव पर लगाता है उसमें इन सबके कारण कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता। परन्तु इस बात पर ज़रा गहरा विचार करने से तुरन्त ही ज्ञात हो जायगा कि बिना किसी प्रकार के माध्यम की सहायता के बल का एक स्थान से दूसरे स्थान पर संचार होना हमारी समझ में आ ही नहीं सकता। यन्त्र-विज्ञान हमें सिखाता है कि कोई भी वस्तु किसी दूसरी वस्तु को बिना स्पर्श किये उस पर बल नहीं लगा सकती। यह हो सकता है कि यह स्पर्श परोक्ष रीति से किसी मध्यस्थ तीसरे पदार्थ के द्वारा हो। जल में तैरती हुई नौका को किनारे से हम

यदि कुछ भी हिलाना चाहे तो हमारे पास केवल दो ही उपाय हैं। या तो हम पत्थर इत्यादि फेंक कर उस पर चोट मारें या जल को हिला कर उसमें लहर इत्यादि उत्पन्न करके परोक्ष रीति से नौका में कुछ गति उत्पन्न कर दें। दोनों उपायों में ऊर्जा नौका के पास किसी जड़ पदार्थ (पत्थर या जल) की सहायता से पहुँचती है। वास्तव में हमे एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मालूम कि जिसमें ऊर्जा बिना जड़ पदार्थ को अपना वाहन बनाये इधर से उधर जा सके। केवल प्रकाश या ताप की ऊर्जा के गमन में अथवा चुम्बकीय या वैद्युत बल और गुरुत्वाकर्षण ही में हमें मध्यस्थ पदार्थ का पता नहीं चलता। अतः हमारे यन्त्र-विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान का इन सब घटनाओं से सामंजस्य करने के लिए हमें यह मान लेना पड़ा है कि इनमें भी ऊर्जा का विस्थापन (displacement) किसी माध्यम (medium) ही के द्वारा होता है। किन्तु वह माध्यम इतना सूक्ष्म है कि अब तक हमें उसका पता प्रत्यक्ष रूप से नहीं चला। हम नहीं कह सकते कि उपर्युक्त प्रकाश आदि सब ही घटनाओं का कार्य एक ही माध्यम करता है अथवा इस प्रकार के कई माध्यम हैं। वस्तुतः हम यह भी नहीं कह सकते कि वास्तव में ऐसा कोई माध्यम है भी या नहीं। जगत् विख्यात आइन्स्टाइन (Einstein) का आपेक्षिकता-सिद्धान्त (Theory of Relativity) तो इस माध्यम की आवश्यकता नहीं समझता। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे माध्यम की कल्पना से हमें चुम्बकीय अथवा वैद्युत बल का कार्य समझने में बड़ी सुविधा हो जाती है। इंगलैण्ड देश के फ़ैरेडे (Faraday) ने ही सबसे प्रथम संसार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था। और उनकी इस कल्पना ही के कारण चुम्बक तथा विद्युत् सम्बन्धी विज्ञान की इतनी शीघ्र उन्नति हो सकी थी।

फैरेडे के मतानुसार सारा संसार एक प्रकार के पदार्थ से भरा है जिसे हम चुम्बकीय ईथर (magnetic ether) कहते हैं। सर्वथा शून्य स्थान में भी वह विद्यमान है और घने से घना पदार्थ भी उससे खाली नहीं है।

3·10—**प्रेरण** (Induction)। चुम्बकीय क्षेत्र के किसी भी बिन्दु पर रख हुए किसी कल्पित ध्रुव पर लगने वाले चुम्बकीय बल की गणना हम उत्क्रम-वर्ग नियम के अनुसार कर सकते हैं। किन्तु इस बल के अस्तित्व को हम तब ही प्रमाणित कर सकते हैं जब उस स्थान पर कोई ध्रुव वास्तव में रख दिया जाय। यदि यह ध्रुव वहाँ उपस्थित न हो तो वहाँ चुम्बकीय बल भी न रहेगा और साधारण दृष्टि से उस स्थान में और चुम्बकीय क्षेत्र से बाहर के किसी स्थान में कोई भी भेद नहीं रह जायगा।

किन्तु फैरेडे के सिद्धान्त के अनुसार किसी भी चुम्बक के चारों ओर के चुम्बकीय माध्यम में सर्वत्र कुछ न कुछ विकृति (strain) उत्पन्न हो जाती है। जहाँ यह

विकृति उत्पन्न हुई है वह सब स्थान उस चुम्बक का चुम्बकीय क्षेत्र है। इस क्षेत्र के किसी बिन्दु पर यदि हम कोई ध्रुव रख दें तो उस पर जो बल लगता है वह किसी दूरस्थ ध्रुव का प्रभाव नही है। वह ठीक उस ही बिन्दु पर के माध्यम की विलक्षणता का असर है। यह विलक्षणता या विकृति इस ध्रुव को वहाँ रखने से उत्पन्न नहीं होती वह पहले ही से वहाँ विद्यमान थी। माध्यम की इस विलक्षणता का नाम **प्रेरण** रख दिया गया है।

फैरेडे के सिद्धान्त ने हमारे विचारों को एक नवीन दृष्टि-कोण दे दिया है। पहले हमारा ध्यान केवल ध्रुवों और उत्क्रम-वर्ग नियम के द्वारा सीमित था। अब हम देखने लगे हैं कि चुम्बकीय ऊर्जा वास्तव में माध्यम में रहती है। और यदि हम इस ऊर्जा का कार्य समझना चाहते है तो हमें इस माध्यम और उसकी विकृति (प्रेरण) पर ही अधिक ध्यान देना चाहिए। चुम्बकीय ध्रुव असल में गणित के लिए उपयोगी एक कृत्रिम और कल्पित उपाय मात्र है।

चुम्बकीय माध्यम की विकृति केवल फैरेडे की कल्पना मात्र नही है। निम्नलिखित घटना से उसकी वास्तविकता बहुत कुछ प्रमाणित हो जाती है।

प्रकाश को टुरमलीन (tourmaline) नामक क्रिस्टल में से अथवा निकल-प्रिज़्म (nicol prism) में से होकर निकालने पर उसमे कुछ नवीन गुण आ जाते हैं। जिसके कारण वह प्रकाश ध्रुवित (polarised) अथवा समध्रुवित (plane polarised) कहलाता है। इस गुण को संक्षेप में हम यों समझ सकते हैं कि साधारण प्रकाश-तरगों में जो कम्पन होते है उनकी कोई निश्चित दिशा नही होती। किन्तु समध्रुवित प्रकाश के कम्पन सदा एक ही निश्चित धरातल में होते हैं। जब यह समध्रुवित प्रकाश चुम्बकीय क्षेत्र में होकर जाता है तो उसका ध्रुवन-तल (plane of polarisation) कुछ घूम जाता है। अतः स्पष्ट है कि चुम्बकीय ध्रुव की अनुपस्थिति मे भी क्षेत्र में कुछ न कुछ विकार अवश्य उपस्थित रहता है जिसका प्रभाव प्रकाश-तरंगों पर भी पड़ता है।

3·11—**प्रेरण-रेखाएँ** (Lines of Induction) **और प्रेरण-नलिकाएँ** (Tubes of Induction)। इस परिच्छेद के प्रारम्भ में हम बल-रेखाओं का तथा क्षेत्र की तीव्रता का वर्णन कर चुके हैं। यह तीव्रता उस बल के द्वारा व्यक्त की जाती है जो बल क्षेत्र में स्थित एक मात्रक ध्रुव पर लगता है और इसी बल की दिशा को बल-रेखाएँ प्रदर्शित करती हैं। किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि यह बल प्रयोग का परिणाम है। माध्यम अपने से पृथक् किसी ध्रुव पर जो प्रभाव डालता है उसी को

हम तीव्रता कहते हैं। किन्तु यह तीव्रता स्वयं माध्यम की विकृति का नाम नहीं है। उस विकृति को हमने प्रेरण कहा है। यह सच है कि क्षेत्र की तीव्रता इस प्रेरण का ही परिणाम है किन्तु उन दोनो मे भेद अवश्य है। जिस प्रकार प्रत्यास्थी (elastic) वस्तु में विकार होता है और जिसे हम विकृति (strain) कहते हैं उसी के कारण वह वस्तु अन्य वस्तुओं पर बल लगाती है। जैसे किसी कमानी को दबाकर यदि हम उसकी लम्बाई कम कर दें तो वह कमानी दबाने वाली वस्तु पर बल लगाकर उसे हटा देना चाहती है। इस बल को हम कमानी का प्रतिबल (stress) कहते हैं और यह उसकी विकृति का परिणाम है। ठीक इसी प्रकार ध्रुव पर लगने वाला बल अथवा क्षेत्र की तीव्रता भी चुम्बकीय माध्यम के प्रेरण का परिणाम है।

इस भेद के होने पर भी कमानी के प्रतिबल को हम विकृति के द्वारा नाप सकते हैं और प्रतिबल के द्वारा विकृति को क्योंकि इन दोनो में निम्नलिखित सम्बन्ध अनिवार्य है :—

$$\text{प्रतिबल} \propto \text{विकृति}$$

$$\text{या} \quad \text{प्रतिबल} = E \times \text{विकृति}$$

$$\text{अथवा } E = \text{प्रत्यास्थता} = \frac{\text{प्रतिबल}}{\text{विकृति}}$$

इसी प्रकार क्षेत्र की तीव्रता के द्वारा हम क्षेत्र के प्रेरण को भी नाप सकते हैं और कह सकते हैं कि

$$\text{प्रेरण} = \mu \times \text{तीव्रता}$$

$$\text{अथवा } \frac{\text{प्रेरण}}{\text{तीव्रता}} = \mu = \text{माध्यम की चुम्बकशीलता}$$

इस चुम्बकशीलता (permeability) के विषय में आगे के परिच्छेद में विचार किया जायगा। किन्तु इस स्थान पर इतना ही कह देना पर्याप्त है कि इसका परिमाण निर्वात अथवा शून्याकाश (vacuum) मे 1 मान लिया गया है। अतः हम कह सकते हैं कि शून्याकाश अथवा वायु मे प्रेरण = तीव्रता। लोह-चुम्बकीय पदार्थों को छोड कर प्रायः अन्य सब ही पदार्थों में इस चुम्बकशीलता का मूल्य वायु अथवा शून्याकाश से कुछ अधिक भिन्न नहीं होता। किन्तु हम देखेंगे कि लोहे में इसका परिमाण बहुत ही अधिक होता है और वह नियत भी नहीं रहता। तीव्रता के घटने-बढ़ने से लोहे के μ का मूल्य भी बदल जाता है। प्रेरण नापने के मात्रक का नाम गाउस (gauss) है। इसका परिमाण ठीक उतना ही है जितना क्षेत्र की तीव्रता के मात्रक ओरस्टेड का है। कुछ वर्ष पहले तीव्रता के मात्रक को भी गाउस ही कहते थे। किन्तु अब तीव्रता और

माध्यम की विकृति के द्योतक प्रेरण की विभिन्नता को स्पष्ट करने के लिए मात्रक के नाम भी अलग-अलग रख दिये गये है।

अतः जो बल-रेखाएँ वायु में तीव्रता की द्योतक है वे ही प्रेरण की द्योतक भी होंगी। इस दृष्टि से उन्हीं रेखाओं को हम प्रेरण-रेखाएँ भी कह सकते हैं। इन नामों में अन्तर केवल इतना है कि जब हमें क्षेत्र की तीव्रता की ओर ध्यान देना हो तब तो हम बल-रेखा नाम का प्रयोग करेंगे और जब इस बाह्य बल की ओर से दृष्टि हटाकर माध्यम की अतरंग अवस्था पर ध्यान देना होगा तब प्रेरण-रेखा ही उपयुक्त नाम होगा।

ठीक पहले ही की भाँति जहाँ इन रेखाओं की भीड़ अधिक होगी वहीं माध्यम के विकार की भी अधिकता समझना चाहिए और उसके प्रेरण के परिमाण को भी इन रेखाओं की संख्या के द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता है। प्रत्येक मात्रक ध्रुव से हमें 4π प्रेरण-रेखाएँ निकलती हुई समझना चाहिए।

यदि उपर्युक्त हिसाब से खीची हुई प्रत्येक प्रेरण-रेखा के स्थान में हम एक नलिका की कल्पना कर ले जिसकी अक्ष उक्त रेखा हो और जिसकी मोटाई इतनी हो कि समस्त क्षेत्र ऐसी नलिकाओं से भर जाय तो माध्यम के प्रेरण को समझने में और भी आसानी होती है। इन नलिकाओ को प्रेरण-नलिकाएँ अथवा एकाकी नलिकाएँ (unit tubes) भी कहते हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि किसी भी एकाकी नलिका की मोटाई सर्वत्र एक-सी होना आवश्यक नही है। जहाँ प्रेरण-रेखाओं की भीड़ अधिक होगी वहाँ अवश्य ही इन नलिकाओं की मोटाई भी कम ही होगी किन्तु जहाँ रेखाएँ दूर-दूर होंगी वहाँ नलिकाएँ भी फूल कर खूब मोटी हो जायँगी। इनके सम्बन्ध में आवश्यक बात यही है कि पास की नलिकाओ के पृष्ठ आपस में सटे रहें और कोई भी स्थान दो नलिकाओं के बीच में खाली न बचे।

3·12—**प्रेरण-नलिकाएँ और चुम्बकीय बल**। अब हमें यह विचार करना है कि इन प्रेरण-नलिकाओं के द्वारा माध्यम की जिस विकृति की हमने कल्पना की है वह कैसी है और उस विकृति के द्वारा हम चुम्बकीय बलों का रहस्य भी कुछ समझ सकते है या नहीं। फैरेडे ने इस विकृति की जो कल्पना की है वह इन प्रेरण-नलिकाओं की प्रतिमूर्ति को हमारे सामने सजीव रूप से उपस्थित कर देती है। वे कहते हैं कि इन नलिकाओं में दो गुण मान लेने से चुम्बकीय बल की सारी समस्या हल हो जाती है। पहला गुण तो यह है कि प्रत्येक नलिका तनी हुई रबड़ की नलिका के समान है और वह सदैव ऐसा प्रयत्न करती है कि उसकी लम्बाई जितनी छोटी हो सके हो जाय। अर्थात् चुम्बकीय माध्यम मे इन नलिकाओं की लम्बाई की दिशा में तनाव (tension) है। दूसरा गुण उनमें यह है कि प्रत्येक नलिका फूल कर मोटी होना चाहती है।

उसका व्यास अधिक से अधिक मोटा होने का प्रयत्न करता है। और इस कारण स्वभावतः ही दो समीपवर्ती नलिकाएँ एक दूसरे से दूर हटने का प्रयत्न करती हैं। वे परस्पर पार्श्विक दबाव (lateral pressure) लगाती है। चित्र 3·03 और 3·07 में बल-नलिकाओं के जो चित्र दिये गये हैं उन्हें देखने से इस दूसरे गुण की बात तुरन्त समझ में आ जाती है और उन्हीं चित्रों से हम इन दोनों गुणों के प्रत्यक्ष परिणामों को भी समझ सकते हैं। उत्तर-ध्रुव तथा दक्षिण-ध्रुव के बीच की नलिकाओं की लम्बाई छोटी तब ही हो सकती है जब इन दोनों ध्रुवों के बीच की दूरी कम हो। अतः यह नलिकाएँ उन ध्रुवों को खींच कर पास लाने का प्रयत्न करती हैं इसी को हम ध्रुवों का आकर्षण कहते हैं। दो समान ध्रुवों के बीच में इन नलिकाओं की स्थिति दूसरे प्रकार की है। वहाँ ये नलिकाएँ एक ध्रुव से दूसरे ध्रुव तक तनी हुई नहीं हैं अतएव वहाँ उनका दूसरा गुण ही दोनों ध्रुवों को दूर हटाने का प्रयत्न कर सकता है। इसी को हम प्रतिकर्षण कहते हैं। इसी प्रकार किसी भी स्थान पर इन नलिकाओं का चित्र देख कर हम तुरन्त कह सकते हैं कि वहाँ आकर्षण का बल है या प्रतिकर्षण का।

अब समझ मे आ गया होगा कि इस कल्पना के द्वारा समस्त चुम्बकीय बल माध्यम की विकृति के कारण उत्पन्न हुए समझे जा सकते है। और ध्रुव वास्तव में कल्पित है। वे केवल नलिकाओं के उद्गम और अवसान के स्थान है। उद्गम-स्थान को हम उत्तर-ध्रुव कहते हैं और अवसान-स्थान को दक्षिण-ध्रुव। सारी चुम्बकीय ऊर्जा इन नलिकाओं में ही भरी रहती है और वह केवल माध्यम की विकृति का परिणाम है।
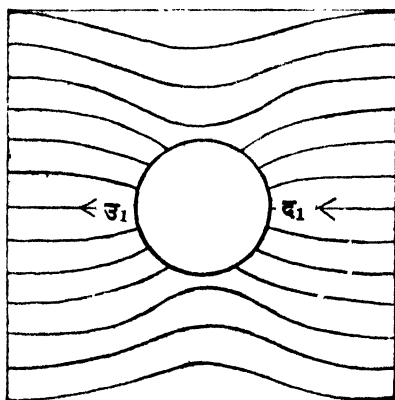
चित्र 3·14

3·13 चुम्बकित वस्तु के अन्दर की प्रेरण-नलिकाएँ। मान लीजिये कि किसी चुम्बकीय क्षेत्र में चुम्बकत्वहीन लोहे का एक गोला रख दिया गया। इसके कारण बल रेखाओं में परिवर्तन हो जाता है यह पहले बतलाया जा चुका है। वही परिवर्तन प्रेरण-नलिकाओं में होगा (चित्र 3·14)। इस चित्र से प्रगट है कि जितनी बल नलिकाएँ एकत्रित होकर गोले

पर एक ओर खतम होती है उतनी ही दूसरी ओर से भी प्रारम्भ होकर क्षेत्र में चली जाती हैं। इस संख्यात्मक समता का कारण भी प्रकट ही है गोले में एक ओर उत्तर-ध्रुव $उ_1$ उत्पन्न हो जाता है। और दूसरी ओर उतनी ही प्रबलता वाला दक्षिण-ध्रुव $द_1$।

अब मान लीजिये कि इस गोले को बीच में से काट दिया और दोनों टुकड़ों को बहुत थोड़ा हटा कर चित्र 3·15 की तरह रख दिया। ऐसा करने से गोले के इन नवीन समतल पृष्ठों पर भी ध्रुव $उ_2$ और $द_2$ उत्पन्न हो जायँगे क्योंकि तब प्रत्येक भाग पूर्ण चुम्बक बन जायगा। इन ध्रुवों की प्रबलता भी ठीक उन्हीं ध्रुवों के बराबर होगी जो काटने से पहले गोले के वक्र पृष्ठों पर विद्यमान थे। अर्थात् $उ_1 = द_2 = उ_2 = द_1$। $उ_2$ और $द_2$ के बीच में जो वायु है उसमें अब अवश्य ही प्रेरण-नलिकाएँ उत्पन्न हो जायँगी और इनकी संख्या भी गोले के वक्र पृष्ठों पर समाप्त या आरम्भ होने वाली नलिकाओं के बराबर ही होगी। इस बात को हम प्रयोगसिद्ध मान सकते है।
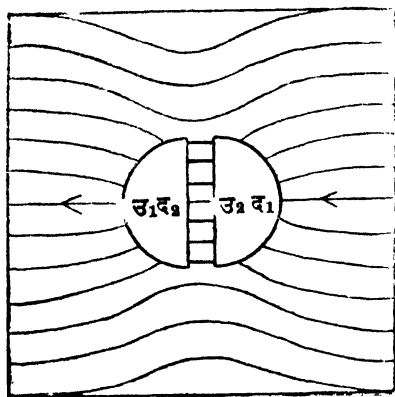
चित्र 3·15

अब प्रश्न यह है कि गोले के दोनो भागों के बीच की प्रेरण-नलिकाएँ गोले को काटने पर उत्पन्न हुई हैं या वे पहले ही से विद्यमान थीं। यह तो सिद्ध है कि गोले को चाहे कहीं से काटें हमें ये नलिकाएँ उतनी ही संख्या में अवश्य ही प्राप्त होवेंगी। अतः ऐसा जान पड़ता है कि वास्तव में ये नलिकाएँ लोहे में भी विद्यमान रहती हैं। वस्तुतः जिन नलिकाओं को हम गोले पर समाप्त होती हुई समझते थे उन्हीं को अब हम लोहे में प्रविष्ट होकर दूसरी ओर निकलती हुई समझ सकते हैं (चित्र 3·16)।
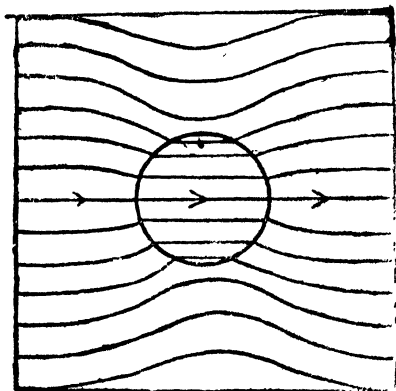
चित्र 3·16

इसी प्रकार चित्र 3·17 के दंड-चुम्बक की प्रेरण-नलिकाओं को भी उसके दक्षिण-ध्रुव में प्रविष्ट होकर उत्तर ध्रुव तक जाती हुई समझना चाहिए।
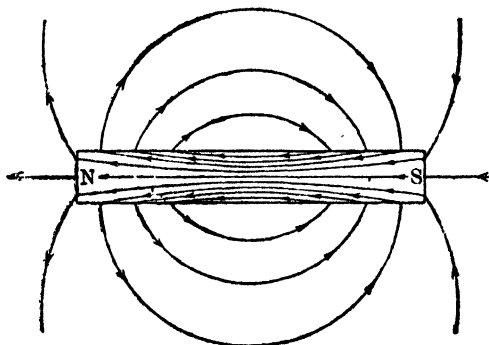
चित्र 3·17

इस दृष्टि से प्रेरण-नलिकाओं का कही आदि और अन्त नही होता। यदि हम उत्तर-ध्रुव से उनका प्रारम्भ समझें तो वे वायु, लोहा आदि जो कुछ बीच में आवे उसे पार करती हुई दक्षिण-ध्रुव में प्रवेश कर जाती है। किन्तु वहाँ उनका अन्त नहीं होता। वे अब चुम्बक के लोहे या इस्पात में चलकर पुन: उत्तर-ध्रव पर पहुँच जाती है। प्रत्येक नलिका एक निमीलित वक्र (closed curve) है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि लोहे के अन्दर की इन नलिकाओं का हमारे पास कोई प्रयोगात्मक प्रमाण नहीं है। लोहे के बुरादे से हम उनका अस्तित्व प्रमाणित नहीं कर सकते। इनके अस्तित्व की हमने केवल कल्पना कर ली है। इस कल्पना का सबसे बड़ा कारण यह है कि जब हम वायु अथवा शून्य स्थान में भी चुम्बकीय माध्यम के विकार की कल्पना कर चुके हैं तो कोई कारण नहीं कि लोहे अथवा अन्य पदार्थों के अन्तर्गत चुम्बकीय माध्यम में उसी प्रकार के विकार उत्पन्न न हों।

चित्र 3·16 तथा 3·17 से एक बात और भी प्रगट है। किसी चुम्बकीय क्षेत्र में लोहे का टुकड़ा रखने से प्रेरण-नलिकाएँ अपना पूर्व मार्ग छोड़कर लोहे की तरफ खिच आती हैं। जहाँ वे लोहे में प्रवेश करती है वहाँ उनकी अधिक भीड़ हो जाती है, और इस भीड़ की सब ही नलिकाएँ लोहे में से चलकर दूसरी ओर जा निकलती हैं। इससे ऐसा मालूम होता है मानो इन नलिकाओं के लिये लोहे में चलना अधिक आसान होता है। वायु का मार्ग उनके लिये कठिन और कष्ट-

दायक है किन्तु लोहे मे वे अधिक सुगमता से जा सकती हैं। इसी से अपना पहिले वाला मार्ग छोड़ कर वे अधिक संख्या में लोहे में प्रविष्ट हो जाती हैं। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि लोहे में इन नलिकाओं के लिये चालकता (conductivity) अधिक है। इस चालकता ही का नाम चुम्बकशीलता (permeability) रख दिया गया है।

3·14—**बल-रेखाओं और प्रेरण-रेखाओं का भेद।** हम देख चुके है कि वायु मे बल-रेखाओं मे और प्रेरण-रेखाओं मे कुछ भी भेद नहीं है। जो भेद है वह केवल विचार-दृष्टि का। माध्यम की विकृति की दृष्टि से उन्हीं रेखाओं को प्रेरण-रेखाएँ कहते हैं और किसी ध्रुव पर जो बल लगता है उसकी दृष्टि से उन्ही रेखाओ को बल-रेखाएँ कह देते है। किन्तु लोहे में यह बात नहीं है। वहाँ बल-रेखाएँ और प्रेरण-रेखाएँ सर्वथा भिन्न होती है। उनकी संख्या भी बराबर नही होती और दिशा भी एक नही होती।

इस बात को समझने के लिये आवश्यक यह है कि हम पहिले यह अच्छी तरह समझलें कि किसी चुम्बकीय क्षेत्र मे स्थित लोहे के अन्दर हम बल-रेखाओं का पता कैसे लगावेंगे। इस कार्य के लिये हमें लोहे के अन्दर कुछ खाली जगह बनानी पड़ेगी और इस जगह में हम मात्रक ध्रुव रखकर ही उस पर लगनेवाले बल का परिमाण और उसकी दिशा का पता लगा सकेंगे। किन्तु लोहे के बीच में ऐसा कोटर बनाते ही उसकी दीवारों पर प्रेरित ध्रुव उत्पन्न हो जायेंगे। अतः हमारे मात्रक ध्रुव पर जो बल लगता हुआ हम पावेंगे वह कोटर बनाने से पूर्व जो क्षेत्र की तीव्रता थी उससे अवश्य ही भिन्न होगा क्योंकि इन नवीन ध्रुवों का बल भी अब कार्य करने लगेगा। इतना ही नही, इन नवीन ध्रुवों की प्रबलता और उनका बल इस कोटर के आकार और विस्तार पर भी निर्भर होगा। यह बात मैक्सवैल के बताये हुए निम्न लिखित प्रकार के कोटरों पर विचार करने ही से समझ में आ जायगी:—

(क) पहिले मान लीजिये कि कोटर एक लम्बी और पतली नली के आकार का बनाया गया है [चित्र 3·18 (i)] और इस बेलनाकार कोटर की लम्बाई ऐसी दिशा में है कि प्रेरित ध्रुव इसके चपटे सिरों पर अवस्थित हैं। वक्रतल पर कुछ भी चुम्बकत्व नहीं है। ऐसी दशा में इस कोटर में रखे हुए ध्रुव पर इन प्रेरित ध्रुवों का असर बहुत ही थोड़ा होगा यदि कोटर की लम्बाई बहुत ही अधिक हो और उसकी चौड़ाई बहुत ही कम हो क्योंकि कि कम चौड़ाई के कारण तो

प्रेरित ध्रुव की प्रबलता कम होगी और अधिक लम्बाई के कारण उन ध्रुवों की दूरी इतनी हो जायगी कि उत्क्रमवर्ग नियम उनके बल को बहुत ही कम कर
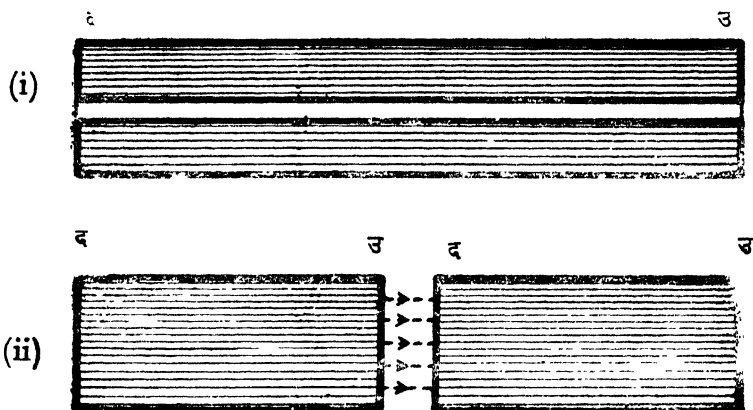
चित्र 3·18

देगा। यदि चौड़ाई की अपेक्षा लम्बाई अनन्त गुणी हो तो इस बल का अस्तित्व ही न रहेगा। अतः ऐसे कोटर में स्थित ध्रुव पर केवल वही बल लगेगा जो लोहे के अभाव में उस स्थान पर लगता।

(ख) अब मान लीजिये कि पहिले ही की भाँति अब भी एक बेलनाकार कोटर बनाया गया किन्तु इस बार उसकी लम्बाई बहुत ही छोटी और चौड़ाई अत्यन्त अधिक बना दी गई [चित्र 3·18(ii)]। इसका आकार ऊपर के चित्र 3·15 के गोलार्द्धों के बीच की दरार का सा हो जायगा। प्रेरित ध्रुव अब अपना पूरा असर इस कोटर में स्थित ध्रुव पर लगा सकेंगे। अतः अब यहाँ बल पहिली प्रकार के कोटर से बहुत ही अधिक होगा। क्योंकि अब यहाँ क्षेत्र की तीव्रता का बल और इन प्रेरित ध्रुवों का बल दोनों ही कार्य करेंगे।

(ग) यदि कोटर किसी अन्य आकार का हुआ तो अवश्य ही चुम्बकीय बल का परिमाण भी उपर्युक्त दोनों सीमाओं के अन्दर ही कुछ होगा।

अब प्रगट हो गया होगा कि प्रथम प्रकार के कोटर में जो चुम्बकीय बल पाया जायगा वही वास्तव में उस स्थान पर लोहरहित अवस्था में क्षेत्र की तीव्रता का द्योतक होगा। इसी बल की दिशा के सूचक वक्र को लोहे में की बल-रेखा कहेंगे। द्वितीय

प्रकार के कोटर वाले बल और उसमें की बल-रेखाओं को हम पहिले ही लोहे के अन्दर की प्रेरण-रेखाएँ सिद्ध कर चुके हैं। अतः प्रत्यक्ष ही इन दोनों में बड़ा भेद है और इन रेखाओं की संख्याएँ भी सर्वथा भिन्न हैं। प्रेरण-रेखाओं की संख्या बल-रेखाओं की संख्या से अधिक है। यदि द्वितीय प्रकार के कोटर में प्रेरित ध्रुवों की प्रबलता I मात्रक प्रति वर्गसम० मान ली जाय तो हमारे पूर्व निश्चित नियमानुसार इन ध्रुवों से $4\pi I$ बल-रेखाएँ प्रतिवर्ग सम० निकलेंगी। अतः यदि क्षेत्र की बल-रेखाओं की संख्या H प्रतिवर्ग सम० हो तो प्रेरण-रेखाओं की संख्या $B=H+4\pi I$ हो जावेगी। किन्तु चुम्बकशीलता की परिभाषा से $B=\mu H$। अतः

$$\mu=\frac{B}{H}=1+4\pi\, I/H=1+4\pi(K)$$

$(K)=I/H$ को चुम्बकीय प्रवृत्ति (magnetic susceptibility) कहते हैं।

3·15—**चुम्बकन-रेखाएँ** (Lines of Magnetisation)। रेखाओं के द्वारा चुम्बकीय क्षेत्र का वर्णन पूरा करने के लिये एक और प्रकार की रेखाओं की कल्पना भी कर ली गई है। इन्हे चुम्बकन-रेखाएँ कहते हैं। ये द्वितीय प्रकार के कोटर के प्रेरित ध्रुवों के कारण उत्पन्न बल-रेखाएँ है। अतः हम कह सकते हैं कि इस कोटर में कुछ बल-रेखाएँ तो ऐसी हैं जिनकी उत्पत्ति का कारण लोहे से बाहर है। इन्हें हम बल-रेखाएँ ही कहते है। कुछ और बल-रेखाएँ प्रेरित ध्रुवों के कारण हैं अर्थात् उसी लोहे में प्रेरित चुम्बकत्व के कारण हैं। इनका नाम चुम्बकन-रेखाएँ रख दिया गया है। इन दोनों प्रकार की रेखाओं के समुदाय को प्रेरण-रेखाएँ कहते हैं। वायु में चुम्बकन-रेखाओं का सर्वथा अभाव है। इसी से वहाँ बल-रेखाओं और प्रेरण-रेखाओं में कुछ भेद नहीं रह जाता।

जिस प्रकार एक वर्ग सम० क्षेत्र को अभिलम्बतः पार करने वाली बल-रेखाओं से क्षेत्र की तीव्रता का ज्ञान होता है और उतने ही क्षेत्र को पार करने वाली प्रेरण-रेखाओं से प्रेरण की तीव्रता का ज्ञान होता है ठीक वैसे ही एक वर्ग सम० क्षेत्र में से अभिलम्बतः निकलने वाली चुम्बकन-रेखाओं से प्रेरित चुम्बकत्व की प्रबलता का ज्ञान होता है। इन रेखाओं की संख्या ऊपर $4\pi I$ प्रति वर्ग-सम० बतलाई जा चुकी है। अतः I ही को चुम्बकन की प्रबलता कहते हैं और उसकी परिभाषा यह है:—यदि किसी लोहे के A वर्गसम० क्षेत्र पर m मात्रक चुम्बकीय ध्रुव प्रेरित हो तो प्रतिवर्ग सम० पर $I=m/A$ मात्रक ध्रुव होगा और यही संख्या उस के चुम्बकन की प्रबलता (intensity of magnetisation) कहलाती है।

3·16—अब तक तो हमने किसी चुम्बकीय क्षेत्र में चुम्बकत्वहीन लोहे के कारण उपस्थित होने वाली विकृति ही पर विचार किया है। यदि उपर्युक्त लोहे
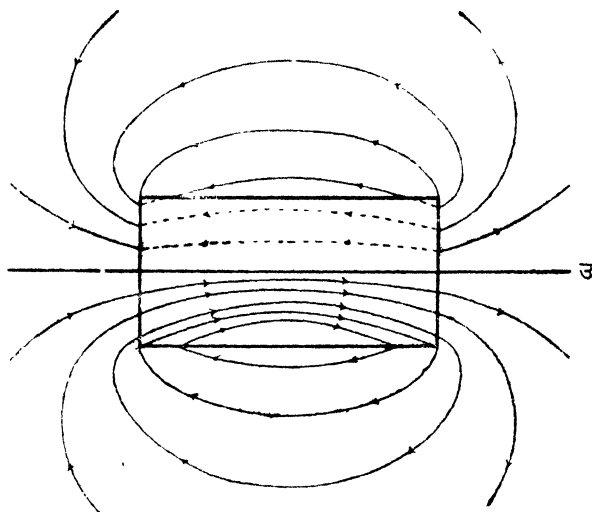
चित्र 3·19

का टुकडा स्वयं ही चुम्बक हो और जिस क्षेत्र के प्रभाव पर हम विचार कर रहे हैं वह इस चुम्बक के ध्रुवों ही के कारण हो तब तो बल-रेखाओं और चुम्बकन-रेखाओं की दिशा भी विपरीत हो जायगी। क्योंकि चुम्बकन-रेखाएँ चुम्बक के लोहे में दक्षिण-ध्रुव की ओर से उत्तर-ध्रुव की ओर जावेंगी, किन्तु बल-रेखायें (अविच्छिन्न) लोहे के अन्दर भी उत्तर-ध्रुव से दक्षिण-ध्रुव की ही ओर चलेंगी (चित्र 3·19)। अतः दंड-चुम्बक में

$$B=H-4\pi I$$

और यदि यह चुम्बक नाल-चुम्बक हुआ तब तो बल-रेखाओं और चुम्बकन-रेखाओं की दिशाओं में कुछ कोण भी बन जायगा। चित्र 3·20 में अ विन्दु पर ध्रुवों के चुम्बकीय बल की दिशा
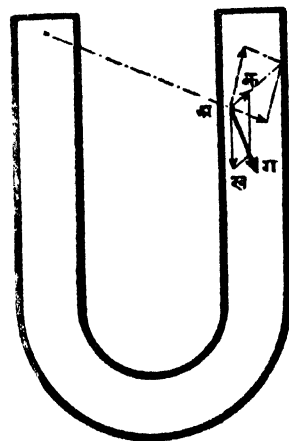
चित्र 3·20

तो उत्क्रम-वर्ग नियम के अनुसार **अ क** है। यही बल रेखाओं की दिशा है। किन्तु **अ** पर द्वितीय प्रकार के कोटर के प्रेरित ध्रुवों के बल की अर्थात् चुम्बकन की दिशा है **अ ख**। अतः दोनों का सम्मिलित बल लगेगा **अ ग** दिशा में। यही प्रेरण-रेखाओं की दिशा है।

चित्र 3·21

चित्र 3·21 में प्रेरण-रेखाएँ अविच्छिन्न रेखाओं के द्वारा दिखलाई गई हैं और बल-रेखाएँ विच्छिन्न रेखाओं के द्वारा। लोहे के बाहर बल-रेखाएँ और प्रेरण-रेखाएँ एक ही हो जाती हैं। प्रेरण-रेखाएँ लोहे से बाहर वहीं निकलती है जहाँ अन्दर की बल-रेखाएँ निकलती हैं।
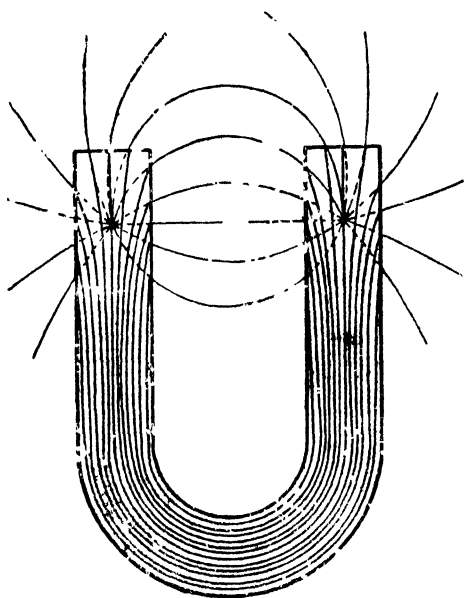
3·17—**चुम्बकीय क्षेत्र की ऊर्जा**। चुम्बकीय क्षेत्र के प्रतिघन सम० की ऊर्जा के मूल्य की गणना ठीक उसी रीति से की जाती है जिससे कि वैद्युत क्षेत्र की की जाती है (अनु० 9·09) क्योंकि वैद्युत तथा चुम्बकीय क्षेत्रों में बड़ी समानता है। यहाँ हम केवल क्षेत्र की ऊर्जा का मूल्य ही लिख देते हैं। क्षेत्र में जिस जगह तीव्रता H हो वहाँ प्रतिघन सम० में ऊर्जा का परिमाण $\mu H^2/8\pi$ होता है।

3·18—**चुम्बकीय बल-रेखाओं का वर्तन** (refraction)। जब बल-रेखाएँ किसी एक पदार्थ में से निकल कर दूसरे पदार्थ में प्रवेश करती हैं तब वे बहुधा मुड़ जाती हैं। प्रकाश किरणों की तरह उनका भी वर्तन हो जाता है। इस वर्तन का नियम यह है कि यदि μ_1 और μ_2 उन पदार्थों की चुम्बकशीलता हो और उनके पार्थक्य-तल के अभिलम्ब से बल-रेखायें क्रमशः θ_1 और θ_2 के कोण बनावें तो

$$\mu_1 \tan\theta_1 = \mu_2 \tan\theta_2$$

इससे प्रगट है कि यदि $\mu_2 > \mu_1$ हो तो $\theta_2 < \theta_1$। अर्थात् यदि वायु में से बल-रेखाएँ लोहे में प्रवेश करें तो अभिलम्ब से वे अधिक बड़ा कोण बनाने लगती हैं। इसका प्रमाण भी अनु० 9·11 में दिया जायगा।

परिच्छेद 4

पदार्थों के चुम्बकीय गुण

(Magnetic Properties)

4·01—**चुम्बकन** (Magnetisation)। पिछले परिच्छेद में हम देख चुके हैं कि जब कोई लोहे की छड़ किसी चुम्बकीय क्षेत्र में रख दी जाती है तो वह चुम्बकित हो जाती है और उसमें उत्तर तथा दक्षिण ध्रुव उत्पन्न हो जाते हैं। यदि क्षेत्र की तीव्रता H थी तो छड़ को रखने से पहिले प्रत्येक वर्गसम० अनुप्रस्थ काट में से H बल रेखाएँ जाती थीं। लोहे को वहाँ रखने से यह संख्या बढ़कर H के स्थान में $B=H+4\pi I$ हो जाती है क्योंकि अब प्रेरित चुम्बकत्व के कारण $4\pi I$ चुम्बकन रेखाएँ और उत्पन्न हो जाती हैं। इन $4\pi I$ रेखाओं का कारण यह है कि अब उस छड़ के अनुप्रस्थ काट के प्रत्येक वर्ग सम० पर I मात्रक प्रबलता वाले ध्रुव उत्पन्न हो जाते है। इस I ही का नाम चुम्बकन की प्रबलता है।

4·02—**चुम्बकीय क्षेत्र तथा चुम्बकन का सम्बंध**। यह तो प्रगट ही है कि लोहे के चुम्बकन की तीव्रता उसके जन्मदाता चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता पर निर्भर है। यदि यह क्षेत्र कमजोर हो तो उसके द्वारा प्रेरण भी कम ही होगा। किन्तु अब हम यह जानना चाहते हैं कि क्षेत्र की तीव्रता H और चुम्बकन की प्रबलता I में सम्बन्ध क्या है। यदि लोहे को अत्यन्त क्षीण क्षेत्र में रखकर धीरे-धीरे क्षेत्र की तीव्रता बढ़ाई जाय तो उसके चुम्बकत्व में किस प्रकार की वृद्धि होगी यही हमें देखना है। इस स्थान पर यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि क्षेत्र की तीव्रता कैसे घटाई या बढ़ाई जा सकती है और न यह कहने की आवश्यकता है कि चुम्बकन की प्रबलता का नाप कैसे होगा। ये बातें यथास्थान बतलाई जायेंगी। यहाँ हम केवल ऐसे नाप के परिणाम ही पर विचार करेंगे।

क्षेत्र की तीव्रता तथा चुम्बकन की प्रबलता का सम्बन्ध प्रदर्शित करने का सर्व श्रेष्ठ उपाय लेखा-चित्र या ग्राफ़ (graph) ही है। वर्गांकित पत्र या ग्राफ़-पेपर (graph paper) पर भुजाक्ष (axis of abscissa) मह पर क्षेत्र की तीव्रता H प्रदर्शित करिये और दूसरी कोट्यक्ष (axis of ordinates) मत पर चुम्बकन की प्रबलता I (चित्र 4·01)। जिस तीव्रता H पर लोहे में जो प्रबलता

I उत्पन्न हुई हो उसे एक बिन्दु (H, I) के द्वारा व्यक्त करिये और इसी प्रकार H को घटा-बढ़ा कर जो-जो चुम्बकन की प्रबलता उपर्युक्त नाप में प्राप्त हुई हों उन्हें भी क, ख, ग आदि बिन्दुओं के द्वारा व्यक्त कर दीजिये। इन सब बिन्दुओं को एक अविच्छिन्न रेखा के द्वारा जोड़ देने से एक वक्र प्राप्त हो जायेगा जिसे हम चुम्बकन वक्र (curve of magnetisation) कह सकते हैं। चित्र 4·01 में ऐसा ही एक चुम्बकन वक्र खिचा हुआ है। यद्यपि भिन्न-भिन्न प्रकार के लोहे और इस्पात के चुम्बकन वक्रों में बहुत अन्तर होता है किन्तु प्रत्येक लोह-चुम्बकीय पदार्थ के चुम्बकन वक्र में निम्नलिखित तीन भाग अवश्य पाये जाते हैं।
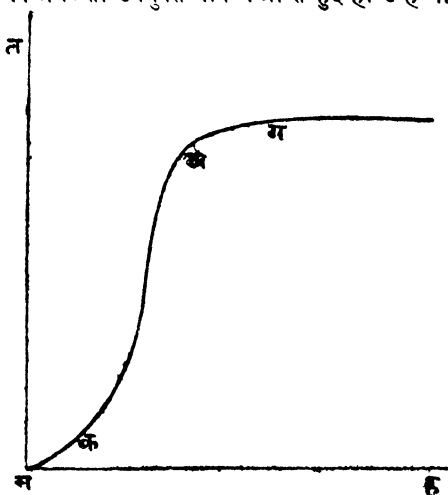
चित्र 4·01

(१) पहिला भाग मल बिन्दु म से क पर्यन्त है। यह प्रायः सरल-रेखात्मक होता है। इसमें चुम्बकन की प्रबलता क्षेत्र की तीव्रता ही के अनुपात में बढ़ती है। सका अर्थ यह है कि जब तक क्षेत्र की तीव्रता अधिक नहीं हो जाती तब तक जिस हिसाब से तीव्रता बढ़ती है उसी हिसाब से प्रेरित चुम्बकत्व भी बढ़ता है।

(२) दूसरा भाग क से ख पर्यन्त है। क के निकट इस वक्र की दिशा बड़ी शीघ्रता से बदलती है और यह बड़ी शीघ्रता से ऊपर उठ जाता है। अर्थात ख के उपरान्त क्षेत्र की तीव्रता बढ़ाने पर लोहे में कुछ आंतरिक परिवर्तन होने लगता है और उसका चुम्बकत्व बड़े वेग से बढ़ने लगता है।

(३) तीसरा भाग ख से आगे का है। ख पर चुम्बकन वक्र की दशा पुनः बदलती है और धीरे-धीरे यह वक्र क्षेत्र की तीव्रता-वाली अक्ष से समान्तर हो जाता है। अर्थात जो आन्तरिक परिवर्तन क और ख के बीच में हुआ था वह अब समाप्त हो जाता है और अब क्षेत्र की तीव्रता बढ़ान पर लोहे का चुम्बकत्व उतना नहीं बढ़ता। ग से आगे तो चुम्बकत्व की वृद्धि बिलकुल ही रुक जाती है। इसी को हम चुम्बकीय संतृप्ति (saturation) कहते हैं।

इस वक्र की उपर्युक्त आकृति से स्पष्ट हो जाता है कि प्रेरित चुम्बकत्व की प्रबलता क्षेत्र की तीव्रता के साथ एक ही हिसाब से नहीं बढ़ती। क्षीण क्षेत्र में धीरे-धीरे बढ़ती है, फिर सहसा बड़ी तेजी से बढ़ने लगती है और अन्त में उसका परिमाण स्थिर हो जाता है। फिर कितना ही तीव्र क्षेत्र क्यों न उत्पन्न कर दिया जाय उसमें कुछ भी वृद्धि नहीं होती।

उपर्युक्त वक्र से ठीक मिलता-जुलता ही चित्र 4·02 का चुम्बकन वक्र है। इसमें क्षेत्र की तीव्रता H और प्रेरण B का सम्बन्ध बतलाया गया है। इसमें भी पहिले
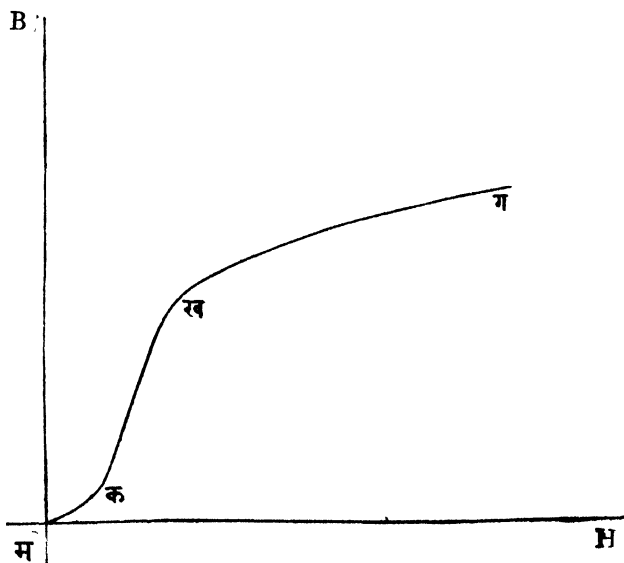
चित्र 4·02

वक्र ही की भाँति तीन भाग हैं। केवल अन्तर इतना है कि अंतिम भाग तीव्रता की अक्ष से ठीक समान्तर नहीं हो जाता। प्रेरण की वृद्धि अधिक तीव्रता वाले क्षेत्र में भी थोड़ी-थोड़ी होती ही रहती है। वह सर्वथा रुक नहीं जाती। इस अन्तर का कारण भी प्रत्यक्ष ही है क्योंकि संतृप्त हो जाने पर $4\pi I$ का परिमाण स्थिर हो जाता है किन्तु तब भी B का परिमाण H की वृद्धि के कारण बढ़ता ही जाता है क्योंकि

$$B = H + 4\pi I$$

द्रव्यों के चुम्बकीय गुणों के निदर्शन के लिये दोनों ही वक्र समान-रूप से उपयोगी हैं।

4·03—चुम्बकीय प्रवृत्ति (Magnetic Susceptibility)। चुम्बकन की प्रबलता और उसके जन्मदाता क्षेत्र की तीव्रता के अनुपात को उस लोहे की चुम्बकीय प्रवृत्ति कहते हैं।

$$k = I/H.$$
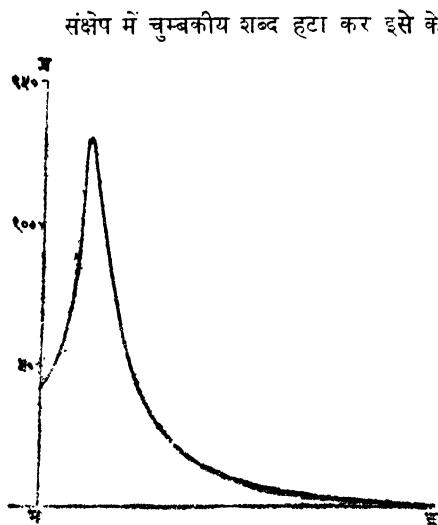
संक्षेप में चुम्बकीय शब्द हटा कर इसे केवल प्रवृत्ति भी कह देते हैं। उपर्युक्त चुम्बकन-तीव्रता वक्र के प्रत्येक विन्दु पर यदि एक स्पर्श-रेखा (tangent) खींची जाय तो प्रत्यक्ष है कि इस स्पर्श-रेखा और तीव्रता-अक्ष के बीच का कोण इस अनुपात का द्योतक होगा। अतः हम कह सकते हैं कि जहाँ वक्र की दिशा क्षैतिज की ओर अधिक झुकी हो वहाँ प्रवृत्ति का मूल्य भी कम होगा और जहाँ वक्र अधिक ऊर्ध्वाधर हो वहाँ प्रवृत्ति का परिमाण भी अधिक होगा। चित्र 4·03 के लेखाचित्र में भिन्न-भिन्न तीव्रता के क्षेत्रों में प्रवृत्ति का परिमाण दिखाया गया है। इससे स्पष्ट हो जाना है कि क्षीण क्षेत्र में तो यह प्रवृत्ति बहुत धीरे-धीरे बढ़ती है किन्तु क्षेत्र की तीव्रता बढ़ने पर प्रवृत्ति बहुत ही तेज़ी से बढ़ने लगती है किन्तु एक उच्चतम मूल्य प्राप्त कर लेने के बाद उसका परिमाण घटने लगता है और अन्त में तो उसका मूल्य बिलकुल शून्य ही हो जाता है।

चित्र 4·03

4·04—चुम्बकशीलता (Magnetic Permeability)। प्रेरण B और क्षेत्र की तीव्रता H के अनुपात μ को चुम्बकशीलता कहते हैं।

$$\mu = \frac{B}{H}.$$

जिस प्रकार प्रवृत्ति का ज्ञान चुम्बकन-तीव्रता वक्र के द्वारा हो जाता है उसी प्रकार चुम्बकशीलता का ज्ञान भी प्रेरण-तीव्रता वक्र के द्वारा होता है।

4·05—**चुम्बकशीलता और प्रवृत्ति का सम्बन्ध**। उपर्युक्त परिभाषा से—

$$\mu = \frac{B}{H}.$$

किन्तु $$B = H + 4\pi I$$

अतः स्पष्ट है कि $$B = \frac{H + 4\pi I}{H} = 1 + 4\pi k.$$

पिछले परिच्छेद में हम कह आये हैं कि लोहे के टुकड़े को चुम्बकीय क्षेत्र में रखने से ऐसा जान पड़ता है मानो प्रेरण-रेखाओं अथवा नलिकाओं के लिये लोहे की चालकता वायु की अपेक्षा अधिक होती है। क्योंकि जहाँ पहले प्रेरण-रेखाओं की संख्या H प्रति वर्ग सम० थी वहाँ लोहा रखने पर उनकी संख्या बढ कर $H+4\pi I$ प्रति वर्ग सम० हो जाती है। अतः B तथा H का अनुपात अवश्य ही लोहे की चालकता को नापने का एक अच्छा उपाय है। इसी लिए इस चालकता का समुचित मात्रक नियत करके हम कह सकते हैं कि

$$\text{चुम्बकीय चालकता} = \frac{B}{H} = \text{चुम्बकशीलता}।$$

यहाँ यह भी स्मरण दिला देना उचित जान पड़ता है कि चुम्बकशीलता तथा प्रवृत्ति में असली भेद यही है कि प्रवृत्ति तो चुम्बकन के कारण प्रेरण-रेखाओं की संख्या में जो वृद्धि हुई है उसे ही बतलाती है और चुम्बकशीलता के द्वारा हमारा लक्ष्य समस्त प्रेरण-रेखाओं पर रहता है। इसमें पहले-वाली रेखायें भी सम्मिलित हैं और उनमें जो वृद्धि हुई है वह भी सम्मिलित हैं।

एक हिसाब से समस्त प्रेरण-रेखाओं के दो भाग करना और यह कहना कि यह भाग तो पहले से विद्यमान था और यह लोहे के कारण नवीन उत्पन्न हुआ है बहुत कुछ कृत्रिम है। इस दृष्टि से चुम्बकशीलता में अधिक वास्तविकता है क्योंकि उसके द्वारा पूरा चुम्बकीय प्रभाव प्रगट होता है। किन्तु प्रवृत्ति का विचार कल्पित होने पर भी अनेक प्रयोगों में बड़ी सुविधा उपस्थित करता है। अतः उसका व्यवहार भी प्रचलित है।

4·06—**धारणशीलता** (Retentivity)। चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता बढाने से लोहे की छड़ के प्रेरित चुम्बकत्व पर क्या प्रभाव होता है यह हम ऊपर देख चुके हैं। अब हम यह देखना चाहते हैं कि उसमें कुछ चुम्बकत्व प्रेरित हो जाने पर यदि क्षेत्र की तीव्रता धीरे-धीरे घटाई जाय तो क्या असर होगा।

यदि प्रेरित चुम्बकत्व इतना थोड़ा हो कि वह चुम्बकन वक्र के प्रथम भाग **म क** (चित्र 4·02) की सीमा **क** को न लांघ गया हो तब तो क्षेत्र की तीव्रता घटाने से प्रेरण भी ठीक वैसे ही घटता है जैसे वह बढ़ा था। अर्थात यदि तीव्रता घटाते समय का भी हम लेखा-चित्र खीचें तो जो वक्र हमें प्राप्त होगा वह ठीक वही होगा जो तीव्रता को बढ़ाने पर प्राप्त हुआ था।

किन्तु यदि उक्त सीमा को पार कर चुकने पर अर्थात् जब लोहे का प्रेरण चुम्बकन वक्र के **क** से परवर्ती किसी बिन्दु के द्वारा व्यक्त हो तब क्षेत्र की तीव्रता घटाई जाय तो
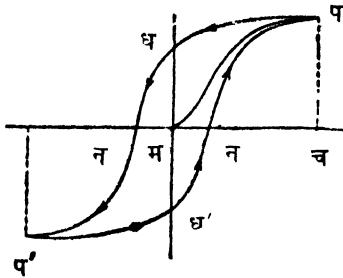
चित्र 4·04

हम देखेंगे कि प्रेरण में कमी बहुत थोड़ी होती है। यहाँ तक की क्षेत्र की तीव्रता को बिलकुल ही नष्ट कर देने पर भी बहुत सा चुम्बकत्व लोहे मे रह जाता है। चित्र 4·04 मे **प ध** वक्र इस घटना को बतलाता है। वह वक्र चुम्बकन-वक्र से सर्वथा भिन्न है और शून्य तीव्रता होने पर भी प्रेरण का मूल्य **म ध** बाकी बच जाता है। इस बचे हुए चुम्बकत्व को **अवशिष्ट चुम्बकत्व** (residual magnetism) कहते हैं। स्थायी चुम्बकों का चुम्बकत्व यही अवशिष्ट चुम्बकत्व है। हम देखेंगे कि इस अवशिष्ट चुम्बकत्व का परिमाण भिन्न-भिन्न प्रकार के लोहे तथा इस्पात में भिन्न-भिन्न मानों का होता है। अतः इस के द्वारा इन पदार्थों की चुम्बकत्व धारण कर सकने की क्षमता का पता चलता है। इस प्रेरण **म ध** को पदार्थ की धारण-शीलता (retentivity) कहते हैं।

4·07—**निग्रहत्व** (Coercivity)। यदि उपर्युक्त प्रयोग में तीव्रता का घटाना **ध** बिन्दु पर पहुँच कर ही बन्द न कर दिया जाय अर्थात यदि क्षेत्र की तीव्रता का मूल्य शून्य हो जाने पर यह तीव्रता विपरीत दिशा मे उत्पन्न की जावे और धीरे-धीरे उसका परिमाण बढ़ाया जाय तो हमे मालूम होगा कि अब उस लोह-खण्ड का चुम्बकत्व बड़े वेग से घट रहा है। जब तीव्रता का परिमाण **म न** हो जायगा तब यह चुम्बकत्व भी सर्वथा नष्ट हो चुकेगा। इस प्रयोग का परिणाम चित्र 4·04 मे वक्र **ध न** के द्वारा दिखलाया गया है।

यह स्पष्ट है कि **म न** वह तीव्रता है जिसने विपरीत दिशा में लग कर अवशिष्ट चुम्बकत्व को नष्ट कर डाला। इसे **निग्रह-बल** (coercive force) कहते हैं।

और पदार्थ के जिस गुण के कारण चुम्बकत्व को नष्ट करने में इस निग्रह-बल की आवश्यकता होती है उसे निग्रहत्व कहा जाता है। यह गुण भी भिन्न-भिन्न पदार्थों में भिन्न-भिन्न परिमाणों में पाया जाता है।

4·08—**चुम्बकीय चक्र** (Magnetic cycle)। यदि विपरीत तीव्रता को हम **न** से आगे भी बढ़ाते ही जावें तो उस लोह-खण्ड मे अब विपरीत-दैशिक चुम्बकत्व उत्पन्न होने लगेगा। जिधर पहले उत्तर-ध्रुव था उधर अब दक्षिण-ध्रुव उत्पन्न हो जायगा। इस दशा में प्रेरण की वृद्धि **न प′** वक्र के अनुसार होगी। **प′** पर क्षेत्र की तीव्रता का वही परिमाण है जो **प** पर था। केवल दिशा का भेद है। अब यदि इस तीव्रता को फिर घटाना आरम्भ करें तो प्रेरण **प′ ध′ न′** के मार्ग से घट कर नष्ट हो जायगा और यदि दिशा परिवर्तन करके तीव्रता पुनः बढ़ाई जाय तो प्रेरण पुनः प्रायः **प** पर पहुँच जायगा। तीव्रता का मान वही होने पर भी इस बार प्रेरण का परिमाण सर्वत्र पहले की अपेक्षा कुछ कम होगा। अन्तिम बिन्दु **प″** पहिले वाले **प** से कुछ नीचा होगा। इस प्रकार **प** से प्रारम्भ करके तीव्रता को धीरे-धीरे घटा कर शून्य परिमाण करके फिर विपरीत दिशा में उतनी ही बढ़ा कर पुनः घटाते-घटाते शून्य परिमाण करके फिर पहले के ही दिशा में पूर्व परिमाण को पहुँचा देने की क्रिया को चुम्बकीय-चक्र कहते हैं। ऊपर लिखे एक चक्र के पूर्ण हो जाने पर यदि लोहे को दूसरी बार वैसे ही चक्र पर चलाया जाय तो अन्तिम बिन्दु में और **प** में इस बार इतना अन्तर न होगा जितना **प″** और **प** में था। इसी प्रकार कई बार उसी चक्र पर लोहे को चलाने से अन्त में यह अन्तर बिलकुल भी न रहेगा अर्थात अब जितना प्रेरण उसमें चक्र के प्रारम्भ में होगा ठीक उतना ही चक्र के अन्त में भी होगा। जब लोहा कई बार चक्र पर चलने के बाद इस दशा को प्राप्त होता है तो कहा जाता है कि वह अब **चाक्रिक-अवस्था** (cyclic state) में है।
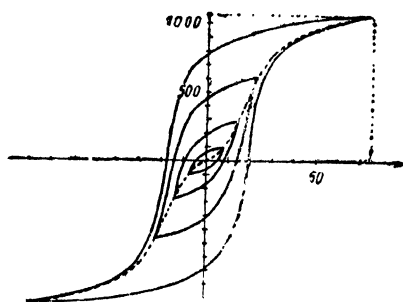
चित्र 4·05

चित्र 4·05 में कई चुम्बकीय चक्र दिखलाए गए हैं। इनमें क्षेत्र की तीव्रता के अधिकतम परिमाण भिन्न-भिन्न हैं।

यदि उपर्युक्त प्रयोग ही मे तीव्रता का घटाना या बढ़ाना ठीक ऊपर लिखे मुताबिक न किया जाय और बीच ही में किसी भी बिन्दु से तीव्रता को घटाने के स्थान में बढ़ाने लगे या बढ़ाने के स्थान में घटाने लगें और कुछ परिवर्त्तन करके पुनः पूर्व तीव्रता को प्राप्त कर ले तो प्रेरण में जो परिवर्तन होगा वह चित्र 4·06 में दिखलाया गया है। जहाँ भी तीव्रता में उक्त प्रकार का परिवर्तन किया गया वही वक्र में एक प्रकार का **पाश** (loop) बन जाता है।
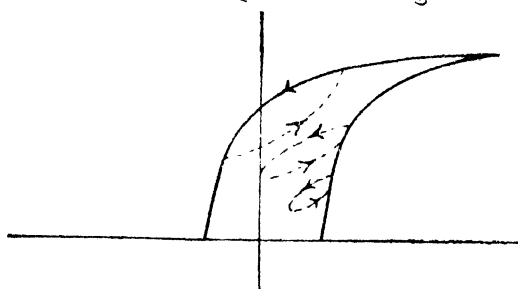
चित्र 4·06

4·09—**शैथिल्य** (Hysterisis)। तीव्रता को घटा-बढ़ा कर पूरा चाक्रिक परिवर्तन करने के कारण प्रेरण में भी चाक्रिक परिवर्तन होता है यह तो ऊपर के चित्रों से प्रगट है। किन्तु इसके अतिरिक्त यह भी प्रगट है कि इस परिवर्तन में प्रेरण तीव्रता का साथ नही दे सकता। वह इस दौड़ मे सदा तीव्रता से पीछे रह जाता है। उसका परिवर्तन होने मे तीव्रता की अपेक्षा अधिक देर लग जाती है। यथा **प** से प्रारम्भ करने पर यद्यपि तीव्रता मे बहुत कमी हो जाती है तब भी प्रेरण प्रायः ज्यो का त्यों ही बना रहता है। जब तीव्रता की दिशा बदल चुकती है तब भी प्रेरण अपनी पूर्व दिशा में ही रह जाता है। इसी प्रकार सारे चक्र में प्रेरण B तीव्रता H का साथ देने का प्रयत्न अवश्य करता है किन्तु अधिक काल तक वह पीछे ही रह जाता है। यह सत्य है कि **प** और **प'** पर पहुँचने से पहले वह अपनी इस शिथिलता को दूर करके पुनः तीव्रता के साथ हो जाता है किन्तु उसकी यह उत्तेजना चक्र के बहुत थोड़े ही भाग में रहती है। प्रेरण के इस प्रकार तीव्रता से पीछे रह जाने को **शैथिल्य** कहते हैं। यह देखना कठिन नही कि इस शैथिल्य का परिमाण उपर्युक्त प्रेरण-तीव्रता वक्र के चक्र के अन्तर्गत क्षेत्रफल के द्वारा व्यक्त होगा। यदि इस शैथिल्य का बिलकुल ही अभाव होता तो स्पष्ट ही है कि तीव्रता और प्रेरण साथ ही साथ घटते, साथ ही साथ नष्ट होते और एक ही साथ दिशा का परिवर्तन होता। जो वक्र तीव्रता की वृद्धि के समय हमें मिलता वही तीव्रता को कम करने पर मिलता। चक्र की इन दोनों शाखाओं में कुछ भी अंतर न होता और इस कारण चक्र का क्षेत्रफल भी शून्य होता। इसके अतिरिक्त जितना ही अधिक शैथिल्य होगा उतना ही अवशिष्ट चुम्बकत्व **म ध** भी अधिक होगा और उतना ही निग्रहत्व **म न** भी अधिक होगा। स्पष्ट है कि इन्हीं दोनों पर चक्र

का क्षेत्रफल निर्भर है । अतः शैथिल्य अधिक होने पर यह क्षेत्रफल भी अधिक होगा । इस क्षेत्रफल का नाम **शैथिल्य-पाश** (hysterisis loop) रख दिया गया है ।

4·10—लोहे को शैथिल्य-पाश में घुमाने का कार्य । अनु० 2·20 में बताया गया था कि चुम्बकन-तीव्रता वक्र के द्वारा चुम्बकन में खर्च होने वाली ऊर्जा का नाप हो सकता है । चित्र 4·04 का शैथिल्य-पाश भी इसी प्रकार के चुम्बकन-तीव्रता वक्र के द्वारा बना है । उसमें चुम्बक या लोहा असमांगी क्षेत्र में स्थान परिवर्तन नहीं करता किन्तु एक ही स्थान पर स्थिर रहता है और वहीं क्षेत्र की तीव्रता का परिवर्तन होता है । इस दशा में भी क्षेत्र में dH का परिवर्तन होने से कार्य $= I\,dH$ ही होगा । अतः पूरे शैथिल्य-पाश का कार्य उस वक्र के अन्तर्गत क्षेत्र के क्षेत्रफल के बराबर ही होगा क्योंकि यह

$$\text{क्षेत्रफल} = \int I\,dH = W$$

यदि लेखा-चित्र मे I के स्थान में प्रेरण $B = 4\pi I + H$ हो तो

$$I = \frac{B - H}{4\pi}$$

अतः आवश्यक कार्य

$$W = \int I\,dH$$

$$= \frac{1}{4\pi} \int (B - H)\,dH$$

$$= \frac{1}{4\pi} \int B\,dH$$

क्योंकि चक्र पूरा हो जाने के कारण $\int H\,dH = 0$

$$\therefore\ W = \frac{1}{4\pi} \times (\text{प्रेरण-तीव्रता पाश का क्षेत्रफल})$$

अतः लोहे को एक बार शैथिल्य-पाश में घुमाने में जितनी ऊर्जा व्यय होती है उसका परिमाण प्रेरण-तीव्रता पाश के क्षेत्रफल का भी अनुपाती होता है ।

4·11—शैथिल्य-पाश की उपयोगिता । अब समझ में आ गया होगा कि किसी भी पदार्थ के चुम्बकीय गुणों को जानने के लिये यह शैथिल्य-पाश कितनी उपयोगी वस्तु है । इस से निम्नलिखित बातें एक ही नज़र में मालूम हो जाती हैं (चित्र 4·04)

(1) संतृप्ति कितनी तीव्रता पर होती है ? (**म च**)

(2) अवशिष्ट चुम्बकत्व का परिमाण कितना है ? (**म ध**)

(3) निग्रह-बल का परिमाण क्या है ? (**म न**)

(4) चुम्बकशीलता कितनी है ? (μ)

(5) शैथिल्य की मात्रा कितनी है अथवा

एक चुम्बकीय-चक्र में कितनी ऊर्जा का व्यय होता है। (**प ध न प' ध' न' प** का क्षेत्रफल)

4·12—**अणु-सिद्धान्त और चुम्बकन-वक्र।** चुम्बकन-वक्र और शैथिल्य-पाश के भिन्न-भिन्न भागों की आकृति का वास्तविक रहस्य अणु-सिद्धान्त के द्वारा ही समझ में आ सकता है। यह पहिले बताया जा चुका है कि इस सिद्धान्त के अनुसार लोहे में चुम्बकत्व के प्रेरण का कारण यह है कि लोहे का प्रत्येक अणु स्वयं सर्वांगपूर्ण चुम्बक होता है। चुम्बकत्व-हीन अवस्था में ये अणु अव्यवस्थित होते हैं और उनके ध्रुव कोई इधर और कोई उधर रहते हैं। चुम्बकीय क्षेत्र में रखते ही प्रत्येक अणु पर चुम्बकीय बल लगता है और यह बल उसे घुमा कर क्षेत्र की दिशा में ले आने का प्रयत्न करता है। ज्यों-ज्यों अणु घूम कर उक्त दिशा में आते जाते हैं त्यों-त्यों प्रेरित चुम्बकत्व भी बढ़ता जाता है और जब सब अणु घूम चुकते हैं तब संतृप्ति हो जाती है और फिर चुम्बकत्व नही बढ़ता। किन्तु इतनी ही बात से यह नही समझ में आता कि क्षीण क्षेत्र मे प्रेरण कम क्यों होता है और शैथिल्य का अभाव क्यों होता है, क्षेत्र की तीव्रता एक निर्दिष्ट परिमाण से अधिक हो जाने पर प्रेरण सहसा अत्यन्त वेग से क्यों बढ़ने लगता है और फिर उसमें शैथिल्य कहाँ से आ जाता है। इस अणु-सिद्धान्त के जन्मदाता वेबर (Weber) ने पहले यह समझा था कि ये अणु-चुम्बक सर्वथा स्वतंत्र रूप से इधर-उधर घूम सकते हैं। किन्तु यदि ऐसा होता तो अत्यन्त क्षुद्र चुम्बकीय बल के लगते ही समस्त अणु घूम जाते और संतृप्ति की अवस्था प्राप्त हो जाती। यह बात अनुभव के विरुद्ध होने के कारण उन्होंने यह कल्पना की कि ये अणु-चुम्बक स्वतंत्र नहीं हैं। जिस दिशा मे वे स्थित होते है उस दिशा में उन्हें रोक रखने वाला कुछ बल इन पर लगता रहता है। यदि इन्हे उक्त स्थान से कुछ भी विचलित किया जाय तो यह बल इन्हे वापस लौटा ले जाने का प्रयत्न करता है। इस कारण जब कोई चुम्बकीय बल इन्हें घुमाना चाहता है तब ये सहसा उस बल की दिशा में नहीं घूम जाते। इन्हें ऐसी दिशा ग्रहण करना पड़ता है कि जिस में घुमाने वाले बल और पूर्व स्थान को लौटा ले जाने वाले बल का सन्तुलन हो जाय।

इन नवीन प्रत्यानयन-बल (restoring force) का न तो वेबर ने कोई कारण बतलाया और न इसके द्वारा अवशिष्ट चुम्बकत्व का रहस्य ही खुला। क्योंकि यदि यही कल्पना सच हो तो चुम्बकीय बल को हटाते ही समस्त अणु-चुम्बक अपनी अपनी

स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त कर लेंगे और जो चुम्बकत्व उनको घुमाने के कारण लोह-खण्ड में प्रेरित हुआ था वह सब नष्ट हो जायगा।

इस पर वीडमान (Wiedmann) की राय यह हुई कि इन अणु-चुम्बकों के घुमाने में बाधा देने वाला बल वास्तव में प्रत्यानयन बल नहीं है। वह रगड़ या घर्षण (friction) की प्रकार का बल है। अर्थात् यह बल अणुओं के अपनी पूर्व स्थिति से हटकर घूमने में बाधा डालता है। और एक बार यदि ज़ोर लगाकर यह घुमा दिए गए तो वही घर्षण अब वापस लौटने में भी बाधा डालता है। इस घर्षण की कल्पना से अवशिष्ट चुम्बकत्व की तो अवश्य कुछ-कुछ व्याख्या हो गई किन्तु फिर भी न तो इस बल का कारण ज्ञात हुआ और न यह समझ में आया कि चुम्बकन-वक्र (चित्र 4·02) के द्वितीय भाग **क ख** मे प्रेरण इतनी शीघ्रता से क्यों बढ़ता है अर्थात् क्षेत्र की तीव्रता बढ़ने पर जो अणु पहले धीरे-धीरे घूम रहे थे वही अब इतनी जल्दी क्यों घूम जाते हैं।

इसी बात को मैक्सवैल (Maxwell) ने एक दूसरी ही युक्ति के द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। यह सभी जानते हैं कि प्रत्यास्थता (elasticity) के कारण पीतल या अन्य धातु के लम्बे तार से कुछ बोझा लटकाने पर उसकी लम्बाई बढ़ जाती है और ज्यों-ज्यों यह बोझा बढ़ाया जाता है त्यों-त्यों लम्बाई में भी उसी अनुपात से वृद्धि होती जाती है और इस बोझे को घटाने से लम्बाई भी घटती जाती है। किन्तु यदि यह बोझा एक निर्दिष्ट सीमा से अधिक बढ़ जाय तो तार की लम्बाई स्थायी रूप से बढ़ जाती है। बोझा घटाने पर भी अब लम्बाई अपने पूर्व परिमाण को प्राप्त नही कर सकती। मैक्सवैल ने अणु-चुम्बकों के प्रत्यानयन बल को भी इस प्रत्यास्थता बल के समान बतलाया। जब तक क्षेत्र की तीव्रता सीमा-विशेष से अधिक न हो तब तक तो ये अणु उस तीव्रता के ही अनुपात में घूमते हैं और उस तीव्रता को कम करने पर पुनः अपनी पूर्व स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं। इसी से चुम्बकन-वक्र के प्रथम भाग **म क** की आकृति सरल-रेखात्मक होती है और इस सीमा में शैथिल्य अथवा अवशिष्ट चुम्बकत्व भी कुछ नही होता। किन्तु जब क्षेत्र की सीमा उक्त सीमा को लांघ जाती है तो ये अणु स्थायी रूप से घूम जाते हैं। और फिर तीव्रता कम करने पर भी वापिस नही लौटते।

मैक्सवैल की इस युक्ति से भी उतना ही काम चला जितना वीडमान की घर्षण की कल्पना से। जो बातें वीडमान न समझा सके वे बातें अब भी समझ में न आईं।

किन्तु यूइंग (Ewing) ने कई प्रयोगों के द्वारा यह प्रमाणित कर दिया कि न तो घर्षण की कल्पना की आवश्यकता है और न प्रत्यास्थता से तुलना करने ही से

काम चल सकता है। वास्तव मे बात यह है कि इन अणु-चुम्बको के ही कुछ समुदाय

चित्र 4·07

(group) ऐसे बन जाते है कि जिनमें प्रत्येक अणु को अन्य अणुओ का चुम्बकीय बल अपने स्थान से हटने नही देता। ऐसे समुदायों मे इन अणुओं के उत्तर तथा दक्षिण ध्रुव इस प्रकार मिले रहते है कि उक्त समुदायों के बाहर के किसी भी ध्रुव का उनपर कुछ भी प्रभाव नही पड़ता। चित्र 4·07 मे ऐसे कई समुदाय दिखाये गये है। इस चित्र से स्पष्ट है कि इन समुदायो का कोई भी चुम्बक अपने स्थान से नही हिल सकता और इनका कोई चुम्बकीय क्षेत्र भी नही है। यह बात छोटी-छोटी दिक्-सूचियोंको इसी प्रकार जमा कर प्रत्यक्ष देखी जा सकती है।
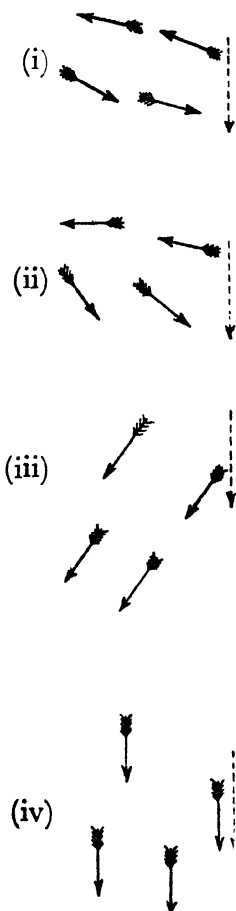
चुम्बकत्व-हीन लोहे मे इसी प्रकार के अनेक समुदाय अणु-चुम्बको के बन जाते है। परिणाम यह होता है कि उसमें चुम्बकत्व का कोई चिह्न नहीं पाया जाता।

जब ऐसा समुदाय किसी चुम्बकीय क्षेत्र मे रखा जाता है तो प्रत्येक अणु-चुम्बक को उस क्षेत्र का बल कुछ घुमा देता है। प्रत्येक उत्तर-ध्रुव इस क्षेत्र की दिशा मे कुछ हट जाता है [चित्र 4·08(ii)]। इससे इस समुदाय की आकृति कुछ बदल जाती है, और उसमें कुछ ध्रुवत्व भी आ जाता है। जब तक क्षेत्र की तीव्रता अधिक न हो तब तक तो यह विकृति अधिक नही होती और इस वाह्य बल के हटते ही समुदाय अपनी पूर्व आकृति प्राप्त कर लेता है। किन्तु जब यह विकार अधिक बढ़ जाता है तब अणुओं का सन्तुलन (equilibrium) स्थायी नहीं रहता क्योंकि उनके आपस का आकर्षण

चित्र 4·08

अब कम हो जाता है। अतः सब अणु घूम कर किसी अन्य ऐसी आकृति को ग्रहण कर लेते हैं जिसमें उनका सन्तुलन स्थायी रह सके। यह आकृति चित्र 4·08(iii) में दिखलाई गई है। इसमें प्रत्यक्ष ही ध्रुवत्व बहुत अधिक है। किन्तु अब भी सब अणु क्षेत्र की दिशा में नहीं पहुँचे हैं। यही कारण है कि चुम्बकन-वक्र में क बिन्दु के उपरान्त लोहे का चुम्बकत्व एक दम बहुत बढ़ जाता है।

इस स्थिति को प्राप्त कर लेने के बाद में यदि क्षेत्र की तीव्रता और अधिक बढ़ाई जाये तो ये अणु चुम्बक धीरे-धीरे घूम कर चित्र 4·08(iv) की आकृति धारण कर लेते हैं और तब इनमें और कोई परिवर्तन नहीं हो सकता।

अब यदि तीव्रता घटायी जाय तो समुदाय की आकृति चित्र 4·08(iv) के स्थान में चित्र 4·08(iii) के समान हो जायगी। इसमें भी स्थायी सन्तुलन है अतः क्षेत्र की तीव्रता के सर्वथा अभाव में भी समुदाय की दशा यही रहेगी। यही बहुत से अवशिष्ट चुम्बकत्व का कारण है।

यदि क्षेत्र की दिशा उलट दी जाय, तो चुम्बक-समुदाय की स्थिति में पुनः धीरे-धीरे परिवर्तन होगा और अन्त में इसका संतुलन अस्थायी होकर इसकी आकृति सहसा बदल जायगी और उसमें विपरीत ध्रुवत्व पैदा हो जायगा।

चार दिक्-सूचियों का ऐसा ही समुदाय बना कर उसके निकट दण्ड-चुम्बक का एक ध्रुव लाने पर उपर्युक्त सब घटनायें प्रत्यक्ष देखी जा सकती हैं।

अब केवल यह समझना बाकी है कि चुम्बकन वक्र के अनु० 4·02 में वर्णित तीनों भाग सरल रेखात्मक न होकर और तीक्ष्ण कोणों द्वारा परस्पर जुड़े न होकर, यह वक्र चित्र 4·02 के समान सुडौल क्यों होता है। किन्तु इसमें कुछ भी कठिनाई नहीं। यह स्पष्ट है कि यदि उपर्युक्त प्रकार के चार अणुओं के कई समुदाय क्षेत्र के चुम्बकीय बल की अपेक्षा भिन्न-भिन्न प्रकार से रखे हों तो उनके सन्तुलन का स्थायित्व एक ही साथ नष्ट नहीं हो सकता। प्रत्येक समुदाय में यह परिवर्तन भिन्न-भिन्न तीव्रताओं पर होगा। अतः यदि लोह-खण्ड में ऐसे बहुत से समुदाय हों और वे भी कोई दो अणुओं के, कोई तीन अणुओं के, कोई चार, पाँच, दस, बीस अणुओं के हों तो सहज ही समझ में आ सकता है कि सब समुदायों का जो सम्मिलित चुम्बकत्व हमें दिखलाई देगा उसमें आकस्मिक परिवर्तन नहीं हो सकते और चुम्बकन-वक्र की आकृति चित्र 4·02 के समान ही हो जायगी।

इसके अतिरिक्त प्रेरण के घटने या बढ़ने की जो क्रिया-विधि यह सिद्धान्त बतलाता है उससे यह भी स्पष्ट है कि अणु-चुम्बकों को अपनी सन्तुलन-स्थिति से हटाने में हमें अवश्य ही ऊर्जा का व्यय करना पड़ेगा। चुम्बकन के समय तो यह व्यय होगा ही। किन्तु चुम्बकत्व को नष्ट करने में भी हमें और ऊर्जा खर्च करनी पड़ेगी। यही ऊर्जा अन्त में ताप का रूप धारण करके लोह-खण्ड का टेम्परेचर बढ़ा देती है।

इस प्रकार यूइंग के सिद्धान्त के द्वारा समस्त चुम्बकीय घटनाओं का रहस्य समझ मे आ जाता है और हमें किसी अज्ञात बल या घर्षण की भी आवश्यकता नही रहती। केवल एक ही कसर रह जाती है। वह यह है कि अभी तक हम यह नहीं कह सकते कि लोहे के अणु स्वयं चुम्बक क्यों हैं। इस बात पर विद्युत् सम्बन्धी कुछ बातें जान लेने के बाद विचार किया जायगा।

4·13—**चुम्बकन और लोहे का संगठन** (composition)। चित्र 4·09 में कई चुम्बकीय पदार्थों के वक्र दिखाये गये हैं। प्रत्येक वक्र मे वे तीनों भाग प्रत्यक्ष
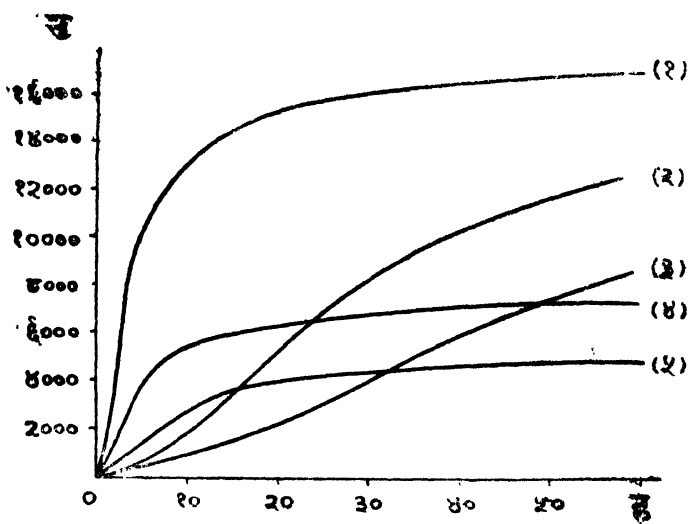
(१) मृदुकृत नरम लोहा (२) मृदुकृत इस्पात (३) काँच के समान कड़ी इस्पात (४) ढलवाँ लोहा (५) निकल

चित्र 4·09

दिखलाई देते हैं जिनका वर्णन ऊपर किया गया था। किन्तु तब भी इन वक्रों में बड़ा भेद है।

शुद्ध नरम लोहे (soft iron) का वक्र बड़ी जल्दी से ऊपर को उठ जाता है अर्थात् बहुत थोड़ी तीव्रता के क्षेत्र में भी प्रेरित चुम्बकत्व की प्रबलता बहुत अधिक हो जाती है। क्षेत्र की तीव्रता H=2·5 होने पर ही द्वितीय भाग का अन्त होकर प्रेरण की वृद्धि में कमी होना प्रारम्भ हो जाता है। यहीं इसकी चुम्बक-शीलता महत्तम मूल्य को प्राप्त कर लेती है। इसके बाद H=20 होने पर लोहा संतृप्त अवस्था को भी प्राप्त कर लेता है। इस समय उसके प्रेरण का परिमाण प्रायः 16000 हो जाता है। क्षेत्र की तीव्रता को इससे अधिक बढ़ाने पर प्रेरण में अधिक वृद्धि नहीं होती।
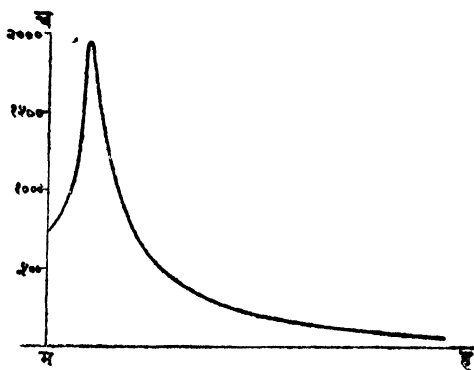
चित्र 4·10

शुद्ध लोहे की चुम्बकशीतलता बढ़ते-बढ़ते H=2·5 पर 2000 तक पहुँच जाती है और फिर घटने लगती है (चित्र 4·10)।

ढलवां लोहा (cast iron) शुद्ध नहीं होता और उसमें कुछ कार्बन मिला रहता है। उसमें चुम्बकत्व इतना जल्दी नहीं बढ़ता। संतृप्ति H=40 के लगभग हो जाने पर होती है और अधिकतम प्रेरण का मान भी प्रायः 7000 से अधिक नहीं होता। इस्पात में कार्बन और भी अधिक होता है और उसका वक्र ढलवां लोहे के वक्र की अपेक्षा धीरे-धीरे उठता है—विशेषकर आबदार इस्पात का जो इतनी कड़ी होती है कि कांच को काट सकती है। इसमें संतृप्ति होने के लिए बहुत ही अधिक तीव्रता की आवश्यकता है। किन्तु जब संतृप्ति हो जाती है तब प्रेरण का परिमाण (प्रायः 14000) यद्यपि शुद्ध लोहे के बराबर नहीं होता तथापि उससे बहुत कम भी नही होता।

निकल का वक्र भी चित्र 4·09 में दिया गया है और उससे इस धातु की चुम्बक-शीलता का भी अंदाज किया जा सकता है। निकल का महत्तम प्रेरण प्रायः 4000 होता है और कोबल्ट (cobalt) का प्रायः 6000।

चित्र 4·11 में शुद्ध लोहे तथा इस्पात के चुम्बकीय चक्र दिखलाये गये हैं। इनसे अवशिष्ट चुम्बकत्व, निग्रहत्व तथा चक्र के लिए आवश्यक ऊर्जा का ज्ञान होता है।

क निस्तापित शुद्ध लोहे (annealed soft-iron) के तार का चक्र है। **ख** उसी तार को खींच देने के बाद का चक्र है। **ग** निस्तापित पियानो के इस्पाती तार का तथा **घ** उसी तार को खींच देने के बाद का चक्र है।
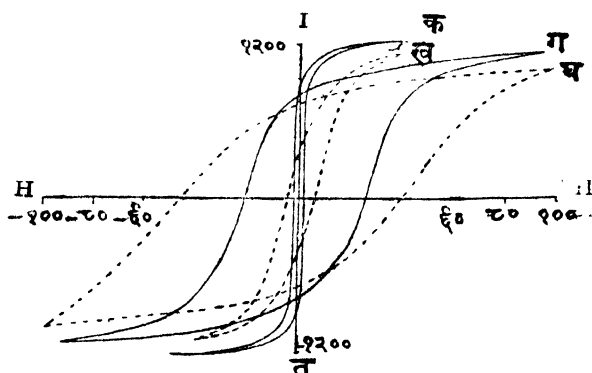
चित्र 4•11

इस्पात में थोड़े-थोड़े अन्य पदार्थ मिलाने से उसके चुम्बकीय गुण में बड़ा परिवर्तन हो जाता है। यथा कड़े इस्पात का निग्रहत्व 40 से अधिक नहीं होता किन्तु क्रोमियम या टंगस्टन 5 से 8 प्रतिशत मात्रा मे मिलाने से इस्पात का निग्रहत्व 80 तक बढ़ जाता है। इसी लिए स्थायी चुम्बक बनाने के लिए क्रोमियम या टंगस्टन मिला हुआ इस्पात काम में आता है। मौलिब्डिनम (molybdenum) का प्रभाव निग्रहत्व बढ़ाने के लिए और भी अच्छा होता है। इस कार्य के लिये प्राय: 4% मौलिब्डिनम ही काफी हो जाता है।

निकल भी इस्पात का निग्रहत्व बढ़ाता है किन्तु यदि उसका अनुपात 20% से अधिक हो जाय तो निग्रहत्व फिर घटने लगता है। एक प्रयोग में 20% निकल वाली इस्पात का निग्रहबल 20 था किन्तु 31% निकल मिलाने पर यह बल घट कर 0•5 ही रह गया।

सिलिकन (silicon) का भी प्रभाव निकल के समान ही होता है। 2•5% तक तो चुम्बकशीलता घटती है और निग्रहत्व बढ़ता है किन्तु इससे अधिक मात्रा होने से चुम्बकशीलता बढ़ने लगती है और निग्रहत्व घट जाता है।

कहा जाता है कि एक इस्पात में 97·3% लोहा था 0·2% कार्बन और 2·5% सिलिकन। इसकी चुम्बकशीलता अच्छे से अच्छे नरम शुद्ध लोहे से भी अधिक पाई गई थी।

ऐल्यूमीनियम भी बहुत थोड़ी मात्रा में चुम्बकशीलता को बढ़ा देता है। सबसे अच्छे चुम्बक आजकल ऐलनिको (Alnico) के बनते हैं। इसमें ऐल्यूमीनियम 10% निकल 18% कोबाल्ट 12% ताँबा 6% और लोहा 54% होता है। इसका निग्रहत्व 500 होता है और 600° तक टेम्परेचर बढ़ा देने पर भी प्रायः 70% चुम्बकत्व उसमें कायम रहता है।

मेंगनीज (manganese) मिलाने से इस्पात के चुम्बकीय गुण घट जाते है। प्रायः 15% मेंगनीज मे तो लोहा बिलकुल चुम्बकत्व-हीन ही हो जाता है। इसलिए यह बहुधा ऐसा इस्पात बनाने के काम में आता है जिसमें चुम्बकशीलता न हो। यदि 80·16% लोहा, 0·8% कार्बन, 5·01% मेंगनीज़ और 14·05% निकल का मिश्रधातु बनाया जाय तो कहा जाता है कि 300 की तीव्रता वाले चुम्बकीय क्षेत्र से भी उसमे कुछ भी चुम्बकत्व प्रेरित नहीं होता। इस मिश्र धातु (alloy) को अचुम्बकीय लोह (nonmagnetic iron) कहते हैं।

यहाँ यह कह देना भी अनुचित न होगाा कि कुछ ऐसे भी मिश्र-धातु बनाये गये है जिनके किसी भी अवयव में चुम्बकशीलता न होने पर भी मिश्रधातु में काफ़ी अच्छा चुम्बकत्व हो जाता है। इन्हे हेन्सलर-मिश्रधातु (Hensler alloy) कहते हैं। उदाहरणार्थ ऐसा एक मिश्रधातु यह हैः—26·5% मैंगनीज़, 14·6% ऐल्यु-मिनियम और 58·6% ताँबा।
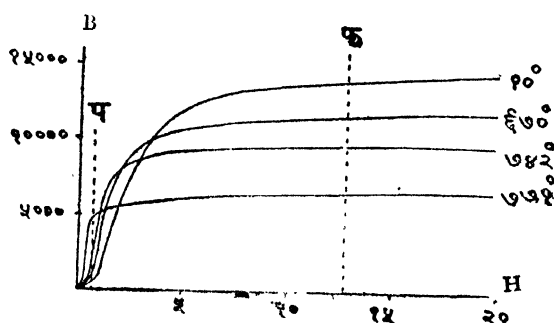
चित्र 4·12

4·14—चुम्बकन और टेम्परेचर। यह पहले बतला दिया गया था कि चुम्बक को गरम करने से उसका चुम्बकत्व नष्ट हो जाता है। जिस टेम्परेचर पर

चुम्बकत्व नष्ट होगा उसे **क्रान्तिक टेम्परेचर** (critical temperature) कहते है और वह लोहे या इस्पात के लिये 700° से 900°C के बीच में होता है।

इस क्रान्तिक टेम्परेचर से नीचे के भिन्न-भिन्न टेम्परेचरों पर लोहे का चुम्बकन-वक्र कैसा होता है यह चित्र 4·12 मे दिखाया गया है। इस चित्र से प्रकट है कि जब तक क्षेत्र की तीव्रता कम रहती है तब तक तो टेम्परेचर बढ़ाने से प्रेरण भी बढ़ जाता है किन्तु जब क्षेत्र की तीव्रता अधिक बढ़ जाती है तब टेम्परेचर का उल्टा प्रभाव होता है। अर्थात अब कम टेम्परेचर पर प्रेरण अधिक होता है।
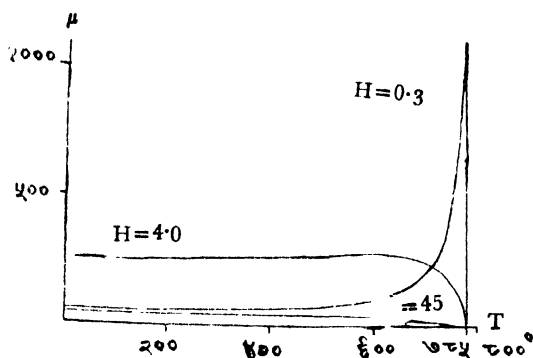
चित्र 4·13

चित्र 4·13 में चुम्बकशीलता पर टेम्परेचर का प्रभाव बतलाया गया है। इस चित्र मे तीन वक्र है। एक H=0·3 पर, दूसरा H=4·0 पर और तीसरा H=45 पर। प्रथम वक्र से ज्ञात होता है कि 0·3 की तीव्रता के क्षेत्र में टेम्परेचर बढ़ाने से चुम्बकशीलता पर पहले तो प्रायः कुछ भी असर नही होता किन्तु फिर वह धीरे-धीरे बढ़ने लगती है। क्रान्तिक टेम्परेचर के निकट पहुँचने पर यह बहुत शीघ्रता से बढ़ती है और 785°C पर पहुँचते ही यह सहसा नष्ट हो जाती है। दूसरे और तीसरे वक्रों से ज्ञात होता है कि चुम्बकशीलता बढ़ती नही है वह लगातार कम होकर 785° पर नष्ट हो जाती है।

निकल पर भी टेम्परेचर का प्रभाव लोहे के समान ही होता है उसका क्रान्तिक टेम्परेचर 310° है। कोबल्ट का क्रान्तिक टेम्परेचर लोहे की अपेक्षा भी अधिक है। क्रान्तिक टेम्परेचर के विषय में यह भी स्मरण रखने योग्य बात है कि इसी टेम्परेचर पर लोहे के संगठन में बड़ा परिवर्तन हो जाता है, जो चुम्बकत्व के विनाश के अतिरिक्त भी कई अन्य बातों में प्रकट होता है। इसके घनत्व (density) आपेक्षिक ताप

(specific heat) तथा वैद्युत-चालकता (electrical conductivity) सब ही में इस टेम्परेचर पर आकस्मिक परिवर्तन होते हैं। यदि कोई लोह-पिण्ड प्रायः 1000°C के टेम्परेचर से ठण्डा हो रहा हो तो उसका प्रकाश पहले श्वेत से पीला, पीले से लाल होकर प्रायः नष्ट हो जाता है। किन्तु जब उसका टेम्परेचर इस क्रान्तिक टेम्परेचर पर पहुँचता है तब वह पुनः उज्वल प्रकाश से चमकने लगता है। इस घटना का नाम **पुनरुज्वलन** (recalescence) है। इन सब बातों से ज्ञात होता है कि इस टम्परेचर पर लोहे के अणुओं मे कुछ विशेष प्रकार का परिवर्तन उपस्थित हो जाता है।

4·15—**चुम्बकत्व का लम्बाई पर प्रभाव**। सन् 1885 मे बिडवेल (Bidwell) ने अपने मनोरंजक प्रयोगों के द्वारा प्रमाणित कर दिया था कि किसी लोहे को चुम्बकित करने से उसकी लम्बाई बदल जाती है। उन्होंने लम्बाई के इस परिवर्तन को नापा भी था और उससे मालूम हुआ कि यदि चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता धीरे-धीरे बढ़ाई जावे तो (1) लगभग 100 ओरस्टेड तक तो लोहे की लम्बाई बढ़ती जाती है। (2) इसके बाद लम्बाई घटना प्रारंभ होता है और प्रायः 300-400 ओ० पर लोहा अपनी अचुम्बकित अवस्था की लम्बाई को पुनः प्राप्त कर लेता है। (3) और इसके उपरान्त प्रायः 1000 ओ० तक लम्बाई घटती ही जाती है। (4) किन्तु इससे अधिक तीव्रता पर यह कमी होना बन्द हो जाता है। लम्बाई की महत्तम वृद्धि का परिमाण छड़ की लम्बाई का $\frac{1}{500,000}$ वाँ भाग होता है और अधिकतम कमी का परिमाण $\frac{1}{150,000}$ वाँ भाग। चित्र 4·14 में लेखाचित्र द्वारा लम्बाई का यह परिवर्तन दिखाया गया है। उसी चित्र में कोबल्ट तथा निकल की लम्बाई के परिवर्तन भी दिखाये गये हैं। कोबल्ट का परिवर्तन लोहे से उल्टा होता है। निकल में उत्क्रमण नहीं होता।
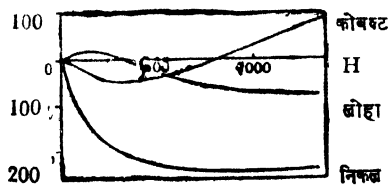
चित्र 4·14

4·16—**समचुम्बकत्व** (Paramagnetism) **तथा विषम-चुम्बकत्व** (Diamagnetism)। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में लीडन नगर के ब्रुगमान्स (Brugmans) ने देखा कि बिस्मथ (bismuth) धातु पर चुम्बक का असर लोहे से उलटा होता है। चुम्बक के दोनों ही ध्रुव बिस्मथ से प्रतिकर्षित हो जाते

हैं। इस बात की परीक्षा दिक्-सूची के ध्रुवों के निकट बिस्मथ के पिण्ड को ले जाने से सहज में हो सकती है। इसके बाद 1827 में बैकरल (Becquerel) ने बताया कि ऐन्टीमनी (antimony) में भी बिस्मथ ही का सा गुण है। वह भी चुम्बक के दोनों ध्रुवों को प्रतिकर्षित करता है।

इन अविष्कारों से पहले यह समझा जाता था कि चुम्बक का प्रभाव केवल लोहे, निकल और कोबल्ट पर ही पड़ता है। किन्तु बिस्मथ और ऐन्टीमनी के चुम्बकीय गुणों को देख कर वैज्ञानिकों के मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही था कि क्या अन्य पदार्थों में भी कोई चुम्बकीय गुण हैं? तुरन्त ही यह खोज प्रारम्भ हुई और अन्त में 1845 मे सुविख्यात फैरेडे (Faraday) ने यह प्रमाणित कर दिया कि चुम्बक का प्रभाव थोड़ा-बहुत प्रत्येक पदार्थ पर पड़ता है। लोहे आदि पर यह प्रभाव इतना प्रबल होता है कि उसका पता हज़ारों वर्ष पहले ही मनुष्य को लग गया था। ऐन्टीमनी तथा बिस्मथ पर भी जो लोहे से उल्टा प्रभाव पड़ता है वह यद्यपि अत्यन्त क्षीण होता है तथापि साधारण दिक्-सूची के द्वारा उसका पता लग जाता है। किन्तु अन्य पदार्थों के प्रभाव को देखने के लिए बड़े प्रबल विद्युच्चुम्बक (electro-magnet) की आवश्यकता होती है।

उन्होंने जिस विधि से यह अध्ययन किया था वह यह थी कि प्रबल चुम्बक के दोनों ध्रुवों के बीच में प्रत्येक पदार्थ की छोटी सी छड़ बना कर रेशम के तागे से लटका दी (चित्र 4·15)। ऐसा करने से ज्ञात हुआ कि लोहे, कोबल्ट तथा निकल के समान ही अनेक पदार्थों की छड़ ध्रुवों के बीच में इस प्रकार स्थित हो जाती है कि उसकी लम्बाई ध्रुवों के दिशा में रहे। किन्तु अनेक पदार्थ ऐसे भी निकले कि जिनकी छड़ें बिस्मथ तथा ऐन्टीमनी के समान उपर्युक्त दिशा से ठीक लम्ब-रूप स्थित हुई। इस दृष्टि से फैरेडे ने प्रथम प्रकार के पदार्थों का नाम **समचुम्बकिक** पदार्थ। और द्वितीय प्रकार के पदार्थों का नाम **विषमचुम्बकिक** पदार्थ रख दिया। चुम्बक से प्रतिकर्षित होने के गुण का नाम विषमचुम्बकत्व रखा गया।
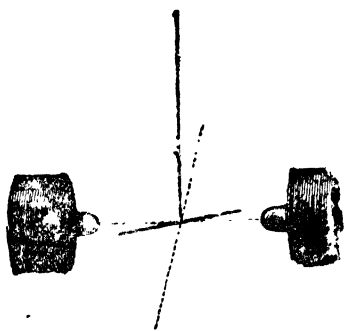
चित्र 4·15

ठोस पदार्थों के अतिरिक्त द्रवों में भी समचुम्बकत्व और विषमचुम्बकत्व के गुण पाये गये। इन की परीक्षा के लिए इन्हें कांच की पतली नली म बंद करके उन नलियों को चुम्बक ध्रुवों के बीच में लटकाया गया। जिन नलियों की लम्बाई चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा में रही उनमें के द्रव समचुम्बकिक ठहरे और जिनकी उस दिशा से लम्ब-रूप रही वे विषमचुम्बकिक।

द्रवों की परीक्षा एक और विधि से प्लुकर (Plücker) ने की थी। उन्होंने चित्र 4·16 की भाँति विद्युच्चुम्बक-ध्रुवों पर काँच का छिछला पात्र रख दिया और उसमें थोड़ा सा द्रव डाल दिया। जो द्रव सम-चुम्बकिक थे वे तो वहाँ एकत्रित हो गये जहाँ क्षेत्र की तीव्रता अधिक थी और जो द्रव विषम-चुम्बकिक थे वे वहाँ इकट्ठे हुए जहाँ क्षेत्र की तीव्रता सब से कम थी। यदि चुम्बक के ध्रुवों के बीच की दूरी $\frac{1}{10}$ इंच से कम हो तब तो क्षेत्र की तीव्रता ध्रुवों के मध्य में अधिक होती है। अतः समचुम्बकिक और विषमचुम्बकिक द्रवों की आकृति चित्र 4·16 (i) तथा (ii) के समान हो जाती है। किन्तु यदि ध्रुवों की दूरी कुछ अधिक हुई तो क्षेत्र की तीव्रता ध्रुवों के निकट ही अधिक होती है इस कारण समचुम्बकिक द्रवों की आकृति चित्र 4·16 (ii) के समान हो जाती और विषम-चुम्बकिक द्रवों की चित्र 4·16 (i) के समान।
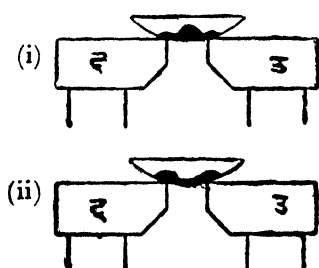
चित्र 4·16

गैसों की परीक्षा करने के लिए एक उपाय यह किया गया कि पानी या साबुन के पानी में उनके द्वारा बुलबुले बनाये गये और उन्हें ध्रुवों के मध्य में रख कर देखा गया कि वे ध्रुवों के मध्य की ओर खिचते हैं या वहाँ से दूर हटते हैं। प्रथम क्रिया समचुम्बकत्व की सूचक है और द्वितीय क्रिया विषमचुम्बकत्व की।

गैसों के लिए दूसरा उपाय यह किया गया कि एक काँच के गोले में गैस भर कर उसे तराजू के पलड़े से लटका दिया और दूसरी ओर बाट रख कर उसे तौल लिया। अब इस गोले के नीचे प्रबल ध्रुव को लाने पर या तो इसका कुछ वजन बढ़ गया (समचुम्बकिक) या कुछ घट गया (विषमचुम्बकिक)। नीचे दी हुई तालिका में मुख्य-मुख्य समचुम्बकिक तथा विषमचुम्बकिक पदार्थों की सूची दी गई है। यह सूची क्रमानुसार है अर्थात् चुम्बकीय गुण की मात्रा यथाक्रम घटती है।

समचुम्बकिक पदार्थ	विषमचुम्बकिक पदार्थ
ठोस—लोहा, निकल, कोबल्ट, मैंगनीज़ अर्बियम, क्राउन कांच, प्लाटिनम, यूरेनियम, टंगस्टन, क्रोमियम मोलिब्डनम, अल्यूमिनियम ।	ठोस—बिस्मथ, फासफोरस, ऐन्टीमनी, भारी कांच, फ़्लिट कांच, सोना, कार्बन, चाँदी, जस्ता, सीसा, टिन ताँबा ।
द्रव—लोहे के लवणों के विलयन ।	द्रव—पारा, जल, ऐलकोहल, ईथर, और प्राय: समस्त अन्य द्रव ।
गैस—ओज़ोन और ऑक्सीजन ।	गैस—नाइट्रस आक्साइड, कार्बन-डाइ-आक्साइड, इथीलीन, नाइट्रोजन, हाइड्रोजन ।

4·17—**समचुम्बकिक तथा विषमचुम्बकिक पदार्थों की प्रवृत्ति।** लोहा, निकल तथा कोबल्ट को छोड़ कर जितने भी पदार्थ है उनमें चुम्बकत्व का गुण बहुत थोड़ी मात्रा मे होता है यह पहले कहा जा चुका है। उनमे प्रेरित चुम्बकत्व की मात्रा बहुत ही कम होती है। इसी को हम यों कह सकते है कि इनके प्रेरण के परिमाण में क्षेत्र की तीव्रता से अधिक भिन्नता नही होती अथवा इनकी चुम्बकशीलता का मान प्राय: 1 ही होता है। समचुम्बकिक पदार्थो की चुम्बकशीलता 1 से कुछ अधिक होती है और विषमचुम्बकिक पदार्थो की चुम्बकशीलता 1 से कुछ कम। अधिक से अधिक चुम्बकशीलता (1·00289) अर्बियम की तथा कम से कम (0·999824) बिस्मथ की होती है। यह अन्तर इतना थोड़ा है कि इन पदार्थो के चुम्बकीय गुणो को चुम्बकशीलता μ के स्थान में प्रवृत्ति k के द्वारा व्यक्त करने में अधिक सुविधा है। हम देख चुके हैं कि $\mu=1+4\pi k$ (अनु॰ 3·14)।

अत: समचुम्बकिक पदार्थों की प्रवृत्ति धनात्मक होती है और विषमचुम्बकिक पदार्थों की प्रवृत्ति ऋणात्मक होती है।

निम्न तालिका में कुछ साधारण पदार्थों की प्रवृत्ति के मान दिये गये हैं :—

पदार्थ	प्रवृत्ति $\times 10^6$	पदार्थ	प्रवृत्ति $\times 10^6$
अर्बियम	+231	बिस्मथ	−14
प्लाटिनम	+29	ऐन्टीमनी	−3·8
युरेनियम	+16	पारा	−2·6
क्रोमियम	+4	जस्ता	−0·8
ऐल्यूमिनियम	+2	तांबा	−0·6
वायु	+0·27	जल	−0·75

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि लोहा, निकल, कोबल्ट को छोड़ कर जितने सम-चुम्बकिक तथा विषमचुम्बकिक पदार्थ होते हैं उनमे जो चुम्बकत्व प्रेरित होता है वह क्षेत्र की तीव्रता का अनुक्रमानुपाती होता है। इनमें शैथिल्य बिलकुल ही नहीं होता। यही कारण है कि इनकी प्रवृत्ति का मान क्षेत्र की तीव्रता के कारण घटता या बढ़ता नहीं। क्षेत्र प्रबल हो या क्षीण इनकी प्रवृत्ति स्थिर रहती है।

4·18—**लोह-चुम्बकिक पदार्थ**। उपर्युक्त तालिका में लोह, निकल तथा कोबल्ट की चुम्बकशीलता अथवा प्रवृत्ति का मान नही दिया गया है। इसका कारण यह है कि इन पदार्थो की प्रवृत्ति क्षेत्र की तीव्रता पर निर्भर रहती है और हम उनका कोई भी एक मान नही बता सकते। यह प्रवृत्ति होती भी बहुत अधिक है। इस दृष्टि से ये पदार्थ अन्य समचुम्बकिक पदार्थो से भिन्न है। अतः इनका एक विशेष वर्ग ही बना दिया गया है और इनका नाम **लोह-चुम्बकिक** (Ferro-magnetic) पदार्थ रख दिया गया है।

4·19—**प्रवृत्ति पर टेम्परेचर का प्रभाव**। टेम्परेचर बढ़ाने से उपर्युक्त तीनों वर्गो के पदार्थो पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है।

लोह-चुम्बकिक—टेम्परेचर का प्रभाव किसी विशेष नियम के अनुसार नही होता। क्षेत्र की तीव्रता के अनुसार इसके द्वारा प्रवृत्ति बढ़ भी जाती है और घट भी जाती है।

समचुम्बकिक—इनकी प्रवृत्ति मे टेम्परेचर के द्वारा जो परिवर्तन होता है वह क्यूरी (Curie) के नियमानुसार होता है। यह नियम निम्नलिखित है। प्रवृत्ति परम टेम्परेचर (absolute temperature) की उत्क्रमानुपाती होती है अर्थात् $k \propto (1/T)$ या अधिक यथार्थता पूर्वक $k \propto 1/(T-\theta)$ जहाँ θ प्रत्येक पदार्थ के लिए भिन्न किन्तु नियत संख्या है।

विषमचुम्बकिक—इनकी प्रवृत्ति पर टेम्परेचर का कुछ भी प्रभाव नही पड़ता। उसका मान स्थिर रहता है। बिस्मथ इस नियम का अपवाद है। इसका विषमचुम्बकत्व $-182° C$ से गलनांक तक $\frac{1}{1000}$ प्रति 1° के हिसाब से बढ़ता जाता है।

टेम्परेचर के प्रभाव की भिन्नता से ऐसा मालूम होता है कि हम विषमचुम्बकत्व को समचुम्बकत्व का विपर्यास मात्र नहीं समझ सकते। हमें ऊष्मा के अध्ययन से ज्ञात हो चुका है कि टेम्परेचर के कारण पदार्थ के अणुओं के वेग, आकर्षण तथा पारस्परिक

दूरी आदि सब बातों में परिवर्तन हो जाता है। अतः समचुम्बकत्व पर टेम्परेचर के प्रभाव को देख कर हम उसका सम्बन्ध भी पदार्थों के अणुओं की स्थिति के साथ समझ सकते हैं। किन्तु विषमचुम्बकत्व का अणु-स्थिति से सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि उस पर टेम्परेचर के परिवर्तन का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। सम्भवतः विषमचुम्बकत्व परमाणु की रचना (atomic structure) पर निर्भर है। इस दृष्टि से इन दोनों गुणों के कारण सर्वथा भिन्न हैं। एक ही पदार्थ में दोनों कारण भी विद्यमान रह सकते हैं। किन्तु जो बात हम प्रयोग के द्वारा देख सकते हैं वह इन दोनों का सम्मिलित परिणाम मात्र होगा। यदि किसी पदार्थ में आण्विक समचुम्बकत्व अधिक हो तो वह उसके परमाण्विक विषमचुम्बकत्व को दबा देगा और हम उसके समचुम्बकत्व मात्र को देख सकेंगे। विपरीत इसके यदि उसका बिषमचुम्बकत्व अधिक हुआ तो समचुम्बकत्व दब जायगा। बिस्मथ कदाचित इसी कारण से अपवाद रूप हो गया है। उसका समचुम्बकत्व विषमचुम्बकत्व से अधिक तो है किन्तु टेम्परेचर बढ़ने से समचुम्बकत्व घटता जाता है और विषमचुम्बकत्व मे कुछ परिवर्तन नहीं होता। फलतः हम उसके व्यक्त विषमचुम्बकत्व को बढ़ता हुआ देखते है।

4·20—**विषमचुम्बकिक ध्रुव** (Diagmagnetic Pole)। समचुम्बकिक पदार्थों का चुम्बक-ध्रुव से प्रतिकर्षण देख कर यह विचार होना स्वाभाविक ही है कि इनमें प्रेरण लोहे की अपेक्षा उलटा होता है। हम कह आये हैं कि चुम्बक के लोहे को आकर्षित करने का कारण वास्तव में यह है कि लोहे में असमान ध्रुव प्रेरित हो जाता है। चुम्बक के उत्तर-ध्रुव के समीप लोहे का जो भाग होता है उस पर दक्षिण-ध्रुव उत्पन्न हो जाता है। आकर्षण इन ही असमान ध्रुवों के कारण होता है। इस ही प्रकार हम समझ सकते है कि विषमचुम्बकिक पदार्थ में उत्तर-ध्रुव के सामने उत्तर-ध्रुव प्रेरित हो जाता है और इन्ही समान ध्रुवों के कारण प्रतिकर्षण होता है। फैरेडे ने भी पहिले यही समझा था। बेवर (Weber) और टिन्डल (Tyndall) का भी मत ऐसा ही था। किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। प्रेरण-रेखाओं पर विचार करने से यह बात सरलता पूर्वक स्पष्ट हो जायगी। चुम्बक-ध्रुव के निकट वायु में जहाँ प्रेरण-रेखाएँ विद्यमान हों वहाँ पर समचुम्बकिक पदार्थ का कोई टुकड़ा रख देने से क्या असर होगा? पहले बतलाया जा चुका है कि चुम्बकशीलता को हम इन रेखाओं के लिये उक्त पदार्थ की चालकता भी समझ सकते हैं और चित्र 3·11 में यह भी दिखाया गया है कि प्रेरण-रेखाएँ समचुम्बकिक पदार्थों में अधिक एकत्रित हो जायँगी क्योंकि वायु की अपेक्षा उक्त पदार्थ में से ये रेखाएँ अधिक आसानी से जा सकती हैं। यह भी बताया जा चुका है कि जहाँ ये रेखाएँ उस पदार्थ में प्रवेश करती हैं

वहाँ दक्षिण-ध्रुव हो जाता है और जहाँ ये उसमें से बाहर निकलती हैं वहाँ उत्तर-ध्रुव होता है।

विषमचुम्बकिक पदार्थ की चुम्बकशीलता वायु की अपेक्षा कम होती है। अतः प्रेरण-रेखाएँ ऐसे पदार्थ की अपेक्षा वायु में से जाना अधिक पसन्द करेंगी। इसे उन रेखाओं के मार्ग में रखने पर रेखाएँ इधर-उधर हट जायँगी और जिस जगह वह पदार्थ है उसमे पहले की अपेक्षा प्रेरण-रेखाओं की संख्या घट जायगी। चित्र 4·17 में यही बात दिखाई गई है। किन्तु अब भी प्रेरण-रेखाओं की सामान्य दिशा बदली नहीं है। अब भी वे ठीक उसी स्थान पर पदार्थ में प्रवेश करती हैं जहाँ चित्र 3·11 में। अतः वही अब भी इस पदार्थ का प्रेरित दक्षिण-ध्रुव है। इसमें संदेह नहीं कि अब इस दक्षिण ध्रुव की प्रबलता समचुम्बकिक पदार्थ के दक्षिण ध्रुव की प्रबलता की अपेक्षा कम है। किन्तु तो भी है वह दक्षिण-ध्रुव ही। इसलिए प्रतिकर्षण का कोई कारण प्रगट नही होता।
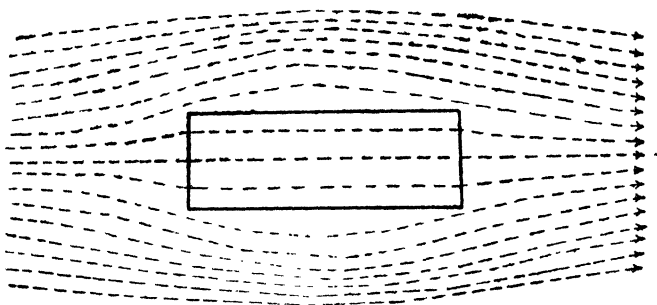
चित्र 4·17

यदि विषमचुम्बकिक वस्तु इस प्रकार रखी हो कि उस की लम्बाई क्षेत्र की दिशा से लम्ब-रूप रहे, तो स्पष्ट है कि प्रेरण-रेखाओं को उस पदार्थ में से कम दूर जाना पड़ेगा। अतः यही स्थिति रेखाओं के लिये अधिक वांछनीय है। इसी अवस्था में उसका संतुलन स्थायी हो सकता है। ठीक चित्र 4·17 की अवस्था में रख देने पर भी उसका संतुलन हो तो सकता है किन्तु तनिक सा हिल जाने से ही वह वस्तु घूम जायगी। जिस प्रकार शंकु (cone) को उसकी नोक पर ठहराने से भी संतुलन सम्भव तो है किन्तु यह संतुलन अस्थायी होता है। थोड़ी भी गड़बड़ होने से शंकु तुरन्त गिर पड़ता है। अतः यह भी स्पष्ट है कि यदि वस्तु क्षेत्र की बल-रेखाओं से टेढ़ी रखी हो तो वह घूम कर स्थायी संतुलन की अवस्था को प्राप्त करेगी। यही कारण है कि विषमचुम्बकिक

वस्तु क्षेत्र से लम्ब-रूप होने का प्रयत्न करती है और समचुम्बकिक वस्तु क्षेत्र की दिशा ही में अपनी लम्बाई को स्थित रखती है।

जब क्षेत्र की तीव्रता सर्वत्र बराबर हो तो लोहे अथवा अन्य किसी भी वस्तु को उस क्षेत्र में रख देने पर न वह एक ओर हटती है और न दूसरी ओर। उस पर कोई आकर्षण या प्रतिकर्षण बल का प्रभाव दिखाई नही देता। इसका स्पष्ट कारण यह है कि ऐसे समांगी क्षेत्र मे जो प्रेरण-रेखाएँ उस वस्तु में होकर जाती है उनकी संख्या मे अथवा उनकी लम्बाई मे वस्तु के स्थान बदलने से कोई परिवर्तन नही हो सकता। अतः रेखा-चालकता की दृष्टि से वस्तु के स्थान परिवर्तन से कोई लाभ नही। इसी बात को हम यों भी समझ सकते है कि दोनों प्रेरित-ध्रुवों पर क्षेत्र समान किन्तु विपरीत बल लगाता है। अतः इन बलों का संतुलन हो जाता है।

किन्तु यदि चुम्बकीय क्षेत्र असमांगी हो और उसकी प्रेरण-रेखाएँ समान्तर न हों तब बात दूसरी है। किसी वस्तु को अधिक तीव्रता वाले स्थान पर रखने से उसमें होकर कम तीव्रता वाले स्थान की अपेक्षा अधिक प्रेरण-रेखाओं को चलना पड़ेगा। अतः ऐसा क्षेत्र समचुम्बकिक वस्तु को अधिक तीव्र क्षेत्र में खीच लाने का प्रयत्न करेगा, क्योंकि इससे अधिक रेखाओ को सुगम मार्ग से जाने का अवसर मिलेगा। किन्तु विषम-चुम्बकिक वस्तु को वह हटा कर क्षीण क्षेत्र की ओर खिसका देगा ताकि थोड़ी रेखाओं को कुचालक मार्ग से चलना पड़े।

परिच्छेद 5

पार्थिव चुम्बकत्व

(Magnetism of the Earth)

5·01—**पृथ्वी का चुम्बकीय क्षेत्र**। लोहे को आकर्षित करने के अतिरिक्त चुम्बक का जो गुण सहस्रों वर्षों से मनुष्य को ज्ञात है वह है दिक्-सूचन अथवा दिशाओं का निदर्शन। किसी भी चुम्बक को पतले तागे से लटकाने पर, या लकड़ी पर रख कर पानी में तैरा देने पर वह घूम कर इस प्रकार ठहरता है कि उसका उत्तर-ध्रुव उत्तर की ओर रहता है और दक्षिण-ध्रुव दक्षिण की ओर। वास्तव में ध्रुवों के ये नाम इसी गुण के कारण रखे गए हैं। इस दिक्-सूचन का स्पष्ट कारण यह है कि पृथ्वी पर सर्वत्र ही चुम्बकीय क्षेत्र विद्यमान है। यह चुम्बकीय क्षेत्र क्यों है, पृथ्वी स्वयं चुम्बक है या नहीं, इसके गर्भ में कोइ चुम्बक रखा है या नहीं अथवा इस क्षेत्र का कारण विद्युत् है इत्यादि प्रश्नों पर यथास्थान विचार किया जायगा। यहाँ हमें इस पार्थिव चुम्बकीय क्षेत्र पर ही विचार करना है।

5·02—**दिक्-पात** (Declination)। ऊपर यह कहा गया है कि स्वतंत्र आलम्बित चुम्बक उत्तर-दक्षिण दिशा में ठहरता है। किन्तु यह बात सर्वथा यथार्थ नहीं है। प्रथम तो चुम्बक ठीक उत्तर-दक्षिण दिशा में नहीं ठहरता। वह इस दिशा से कुछ थोड़ा पूर्व या पश्चिम की ओर हट कर ठहरता है। यदि हम प्रयोगस्थान पर एक ऐसे ऊर्ध्वाधिर तल की कल्पना करें जिसमें चुम्बक की चुम्बकीय अक्ष (magnetic axis) अर्थात् दोनों ध्रुवों को जोड़ने वाली सरल रेखा ठहरती है तो उस तल को हम **चुम्बकीय याम्योत्तर** (magnetic meridian) कह सकते हैं। जिस उर्ध्वाधर तल पर पृथ्वी के भौगोलिक ध्रुव स्थित होते हैं वह **भौगोलिक याम्योत्तर** (geographical meridian) कहलाता है। चुम्बक ठीक भौगोलिक याम्योत्तर में आकर नहीं ठहरता या यों कहिये कि चुम्बकीय याम्योत्तर भौगोलिक याम्योत्तर से भिन्न है। इन दोनों के बीच में कुछ कोण α होता है जिसका नाम **दिक्पात** रख दिया गया है। यद्यपि इस दिक्-पात का मान साधारणतया $10°$ या $15°$ से अधिक नहीं होता तथापि जहाज चलाने वालों के लिए दिशा का यथार्थ ज्ञान बिना इस दिक्-पात को ठीक-ठीक जाने नहीं हो सकता। सन् 1492 में अमेरिका के आविष्कर्त्ता कोलम्बस ने इस दिक्-पात की ओर लोगों का ध्यान

आकर्षित किया था। सम्भव है कि यह बात पहिले भी ज्ञात रही हो किन्तु इस में सन्देह नहीं कि कोलम्बस ही ने सब से पहले अपनी समुद्र-यात्राओं में यह प्रमाणित किया कि इस दिक्-पात का मान पृथ्वी के भिन्न-भिन्न स्थानों पर एक सा नहीं है।
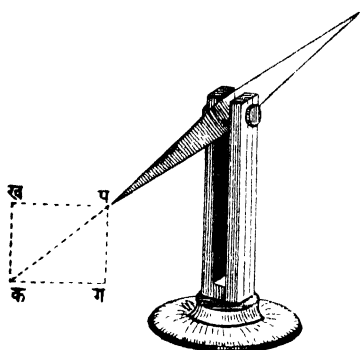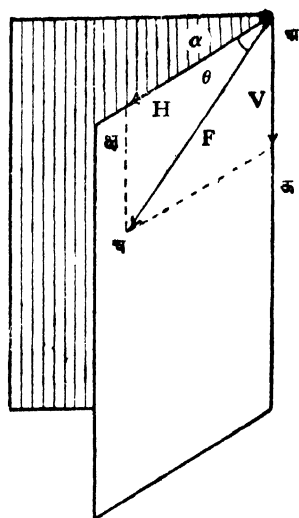
चित्र 5·01 चित्र 5·02

5·03—**चुम्बकीय नमन** (Dip)। इसके अतिरिक्त 1576 में नार्मन (Norman) नामक एक यंत्र बनाने वाले कारीगर ने यह देखा कि जिस इस्पात की सूई को उसने ठीक गुरुत्व केन्द्र पर अवलम्बित किया था और वह ठीक क्षैतिज तल में सन्तुलित थी वही चुम्बकित होने पर क्षैतिज तल में न रही। उसका उत्तर-ध्रुव कुछ नीचे की ओर झुक गया। यह देख कर उसने चुम्बक को इस प्रकार लटकाया कि वह ऊर्ध्वाधर तल में घूम सके (चित्र 5·01)। ऐसा करने पर मालूम हुआ कि प्रत्येक चुम्बक का उत्तर ध्रुव नीचे की ओर झुक जाता है। क्षैतिज तल से चुम्बक की अक्ष जो कोण $\theta=$**क्षअच** (चित्र 5·02) बनाती है उस का नाम **नमन** रख दिया गया है। यह कहना न होगा कि यह नमन-कोण चुम्बकीय याम्योत्तर के तल में ही नापा जायगा। दिक्-पात ही के समान नमन का परिमाण भी भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न होता है।

5·04—**पृथ्वी के चुम्बकीय बल की दिशा**। नमन के अस्तित्व से ही प्रगट है कि पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र के बल की दिशा क्षैतिज नहीं है। वह चुम्बकीय

याम्योत्तर में कुछ नीचे की ओर झुकी हुई है। स्वतन्त्र चुम्बक इस बल की ही दिशा में ठहरता है।

इस चुम्बकीय बल F को हम दो घटकों (components) में विभक्त कर सकते है। एक क्षैतिज घटक (horizontal component) H और दूसरा ऊर्ध्वाधर घटक (vertical component) V। चुम्बक H ही के कारण चुम्बकीय याम्योत्तर में पहुँचने की चेष्टा करता है और V के कारण उसका याम्योत्तर में नमन होता है। समान्तर चतुर्भुज नियम के अनुसार यह प्रत्यक्ष ही है कि

$$F^2 = H^2 + V^2$$

तथा

$$\tan\theta = (V/H).$$

5·05—**चुम्बकीय अवयव** (Magnetic Elements)। अब मालूम हो गया होगा कि किसी भी स्थान पर पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें निम्न अवयवों का ज्ञान होना चाहिए:—

(1) दिक्पात a,

(2) नमन θ ,

(3) क्षेत्र की तीव्रता F अथवा उसका क्षैतिज घटक H, और ऊर्ध्वाधर घटक V।

5·06—**चुम्बकीय नकशे** (Magnetic Maps)। नाविकों की सुविधा के लिए पृथ्वी के ऐसे नकशे तैयार कर लिए गये हैं जिनसे तुरन्त प्रत्येक स्थान के चुम्बकीय अवयव ज्ञात हो जाते हैं। इनमें बराबर अवयव वाले स्थानों को रेखाओं से जोड़ देते हैं। ये रेखाएँ कई प्रकार की होती है जिन में मुख्य नीचे लिखी जाती हैं:—

(1) **समदिक्पाती रेखाएँ** (Isogonic Lines or Isogonals)। ये उन स्थानों को जोड़ती हैं जहाँ चुम्बकीय दिक्पात a का परिमाण एक-सा होता है। इनकी दिशा प्रायः उत्तर-दक्षिण होती है किन्तु ये भौगोलिक रेखांश (longitude) की रेखाओं के समान सीधी नहीं होती। कहीं-कही तो ये बहुत ही चक्कर काट कर चलती हैं। इसका कारण यह है कि पृथ्वी पर अनेक स्थानों पर लोहे आदि की खानें हैं और उनके समीप चुम्बकीय अवयव बहुत बदल जाते हैं। जिस रेखा पर दिक्पात का मूल्य शून्य अंश होता है उसे शून्य-दिक्पाती (agonic) रेखा कहते हैं।

ये रेखाएँ पृथ्वी पर चार बिन्दुओं की ओर संसृत होती हैं। इनमें से दो बिन्दु तो भौगोलिक ध्रुव और दो बिन्दु वे हैं जिन्हें **चुम्बकीय-ध्रुव** (magnetic poles) कहते हैं। इनका विशेष वर्णन नीचे दिया गया है।

एक शून्य-दिक्पादी रेखा अण्डाकार है। यह साइबेरिया देश में होकर जाती है। अतः इस का नाम साइबेरियन ओवल (oval) पड़ गया है।
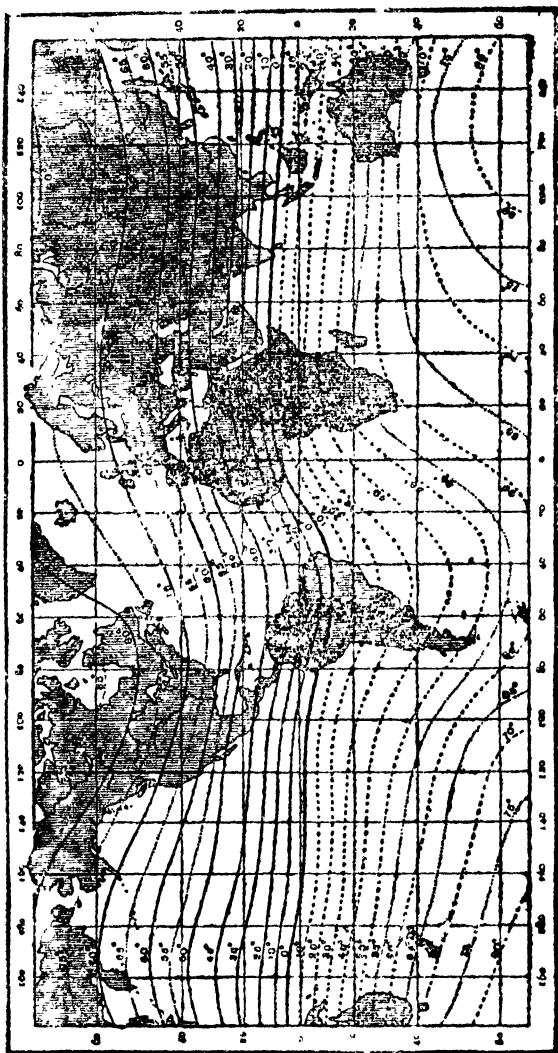
चित्र 5·03

(2) सम-नमन रेखाएँ (Iso-clinical Lines or Iso-clinals)। ये उन स्थानों को जोडती है जहाँ नमन कोण θ का परिमाण बराबर होता है। इनकी

दिशा प्रायः पूर्व-पश्चिम होती है किन्तु अक्षांश (latitude) की रेखाओं से ये सर्वथा भिन्न हैं और न उनके समान सीधी होती हैं। नमन का मान भूमध्य रेखा या निरक्ष (equator) के समीप 0° होता है। शून्य नमन वाली रेखा का नाम **चुम्बकीय निरक्ष** (magnetic equator) है। यह चित्र 5·03 में मोटी खींची गई है। इस निरक्ष से उत्तर और दक्षिण दोनो ओर नमन बढ़ता जाता है। उत्तरी गोलार्द्ध में उत्तर-ध्रुव नीचे की ओर झुकता है और दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिण-ध्रुव। भौगोलिक ध्रुवों के समीप ही कही भी नमन का मूल्य 90° हो जाता है। यहाँ चुम्बकीय सूची ऊर्ध्वाधर हो जाती है। इन स्थानों को चुम्बकीय ध्रुव कहते हैं। उत्तर चुम्बकीय ध्रुव का सर जेम्स रास (Sir J. Ross) ने 1831 मे पता लगाया था। वह अमेरिका के उत्तर में बूथिया फेलिक्स नामक स्थान में 70°5′ उत्तर अक्षांश और 96°46′ पश्चिम रेखांश पर स्थित है। भौगोलिक उत्तर-ध्रुव से इसकी दूरी प्रायः 1000 मील से अधिक है।

दक्षिण चुम्बकीय ध्रुव का स्थान शैकलटन (Shackelton) की 1909 की खोज के अनुसार दक्षिण विक्टोरिया-लैण्ड नामक प्रदेश में 72°25′ दक्षिण अक्षांश और 155°16′ पूर्व रेखांश पर है। इसके पहिले 1900 में तथा 1902-1904 में भी इस ध्रुव का पता लग चुका था किन्तु उस समय इसका स्थान कुछ भिन्न पाया गया था। स्पष्ट है कि पृथ्वी के चुम्बकीय ध्रुव किसी व्यास के दो छोर नहीं हैं और चुम्बकीय अक्ष तथा भौगोलिक अक्षों के बीच में प्रायः 17° का कोण है।

(3) **समबल रेखाएँ** (Iso-dynamic Lines)। इनके द्वारा वे स्थान जुड़े रहते है जहाँ चुम्बकीय क्षेत्र का क्षैतिज संघटक बराबर होता है। यह कहना न होगा कि क्षैतिज संघटक का महत्तम मूल्य प्रायः 0·4 ओ० चुम्बकीय निरक्ष के निकट होता है और चुम्बकीय ध्रुवों पर यह मूल्य शून्य के बराबर हो जाता है।

(4) **चुम्बकीय रेखांश** (Magnetic Longitude) **की रेखाएँ**। इन्हें ड्यूपरे (Duperrey) की रेखाएँ भी कहते हैं। इन के द्वारा प्रत्येक स्थान पर चुम्बकीय याम्योत्तर की दिशा प्रगट होती है। ये समदिक्पाती रेखाओं से सर्वथा भिन्न हैं। ये चार बिन्दुओं पर संसृत नहीं होतीं। केवल चुम्बकीय ध्रुवों ही पर संसृत होती हैं। जिस प्रकार चित्र 3·06 में बल-रेखाएँ खींची गई थी ठीक उसी प्रकार दिक्सूची को धीरे-धीरे उत्तर-ध्रुव से दक्षिण-ध्रुव तक ले जाने से ये रेखाएँ मिलेंगी। इन पर सर्वत्र दिक्पात का मूल्य बराबर नहीं होता।

5·07—चुम्बकीय अवयवों का परिवर्तन । पार्थिव चुम्बकत्व के अवयवों का परिमाण सर्वदा एक-सा नही रहता । क्षण-क्षण में उन में कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है । यह परिवर्तन कई तरह का होता है ।

(1) **दीर्घ-कालिक (Secular) परिवर्तन ।** दिक्पात के नाप का सबसे प्राचीन उल्लेख 1580 का है । उस समय लंडन का दिक्पात 11°20′ पूर्व था । उस समय से यह पूर्वीय दिक्पात बराबर घटता गया और 1659 में वह बिलकुल 0° हो गया । अर्थात् उस वर्ष दिक्सूची ठीक भौगोलिक याम्योत्तर में आ गई । इसके बाद दिक्पात पश्चिम की ओर बढ़ने लगा और 1823 में उसका महत्तम मान 24°30′ पश्चिम हो गया । तब से अब तक वह बराबर घट रहा है । इस समय उसका मान प्रायः 8° पश्चिम है और प्रतिवर्ष 12′ के हिसाब से घटता है । इस परिवर्तन का एक चक्कर 960 वर्षों में पूरा हो जाता है ।

नमन का दीर्घ-कालिक परिवर्तन अपेक्षा-कृत कम होता । लण्डन में इसका परिमाण निम्न प्रकार था ।

1575—71°50′, 1723—74°42′ (महत्तम), 1801—70°36′, 1900—67°12′, 1921—66°51′ (लघुतम)
1921 से यह प्रायः 1′ प्रति वर्ष के हिसाब से पुनः बढ़ रहा है ।

क्षैतिज घटक का परिमाण लण्डन में 1857 में 0·1747 था । तब से यह बढ़ते बढ़ते 1910 में 0·1852 हो गया । 1923 में इसका मूल्य 0·1845 हो गया था । यह अब प्रायः 0·00015 मात्रक प्रति वर्ष घट रहा है ।

चित्र 5·04

चित्र 5·04 के लेखाचित्र में दिक्पात और नमन दोनों ही का परिवर्तन दिखलाया गया है । इन्हें प्रदर्शित करने की यह अत्यन्त स्पष्ट विधि डा॰ बावर (Bauer) की बताई हुई है । इसमें क्षैतिज दिशा में तो दिक्पात दिखलाया गया है और ऊर्ध्वाधर दिशा में नमन ।
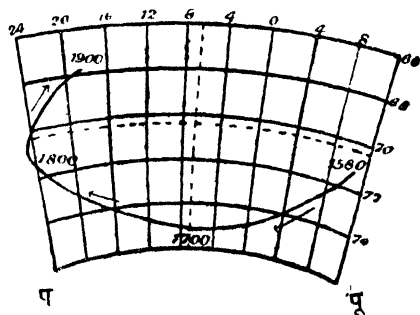
इन दीर्घकालिक परिवर्तनों का कारण यह मालूम होता है कि पृथ्वी के चुम्बकत्व की अक्ष भौगोलिक अक्ष की परिक्रमा कर रही है (चित्र 5·05) पृथ्वी अपनी अक्ष पर पश्चिम से पूर्व की ओर घूमती है और चुम्बकीय उत्तर-ध्रुव पूर्व से पश्चिम की ओर चलता है। यह परिक्रमा प्रायः 960 वर्षों में पूरी हो जाती है।
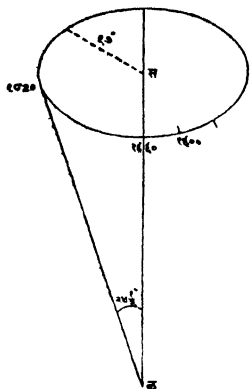
चित्र 5·05

5·08—**वार्षिक परिवर्तन।** इस दीर्घकालिक परिवर्तन के अतिरिक्त एक ही वर्ष के भिन्न-भिन्न महीनों मे भी चुम्बकीय अवयवों मे परिवर्तन देख पड़ता है। इसे वार्षिक परिवर्तन कहते है। ग्रीनिच (Greenwich) मे दिक्पात का परिमाण फरवरी मे महत्तम (पश्चिमी) होता है। फरवरी से अगस्त तक यह घटता जाता है और अगस्त में लघुतम मूल्य प्राप्त करके पुनः बढ़ने लगता है। मध्यमान मूल्य से यह घट-बढ़ प्रायः 2′25″ तक हो जाती है। इस ही प्रकार अन्य अवयवों में भी वार्षिक परिवर्तन होता रहता है। नमन का परिमाण गरमी के चार महीनो में कम रहता है। थोड़े परिमाण में चुम्बकीय अवयवों मे मासिक परिवर्तन भी देखा गया है।
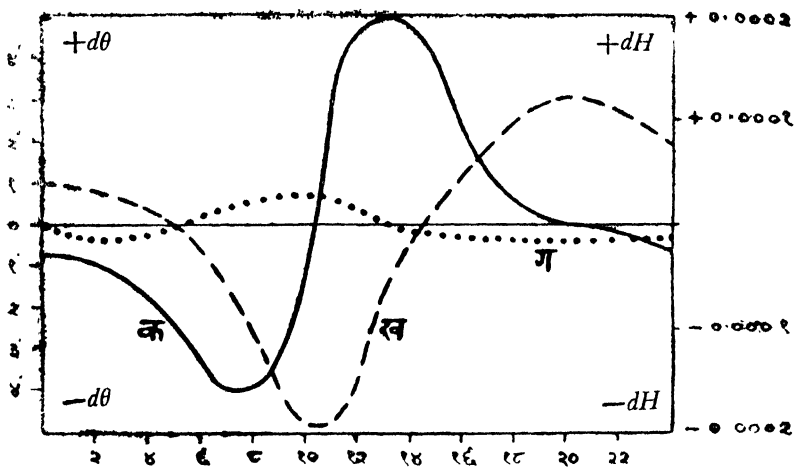
चित्र 5·06

5·09—**दैनिक परिवर्तन।** चित्र 5·06 के लेखाचित्र में वक्र क, ख, ग के द्वारा क्रमशः दिक्पात, क्षैतिज तीव्रता तथा नमन का परिवर्तन दिन के भिन्न-

भिन्न समयों पर दिखलाया गया है। समय क्षैतिज दिशामें घंटों में दिखाया गया है। दिक्पात व नमन के कोणों का परिवर्तन $\pm d\theta$ बाई ओर अंकित है। क्षैतिज तीव्रता का परिवर्तन $\pm dH$ दाहिनी ओर अंकित है। इस से प्रगट होता है कि दिक्पात का परिमाण लण्डन में प्राय: दिन के 1 बजे महत्तम होता है। इस समय यह मध्यमान मूल्य से प्राय: 5′ अधिक हो जाता है। दिक्सूची की सूई का उत्तर-ध्रुव इस समय अपने मध्यमान स्थान से 5′ पश्चिम को हट जाता है। 1 बजे से फिर यह ध्रुव पूर्व की ओर हटने लगता है और प्राय 7 बजे पुन: मध्यमान स्थान पर पहुँच जाता है। रात्रि के 3 बजे तक परिवर्तन कुछ अधिक नही होता किन्तु इसके बाद 7-8 बजे प्रात: काल तक बड़ी शीघ्रता से वह प्राय: 4′-5′ पूर्व की ओर चला जाता है। 10 बजे तक पुन: मध्यमान स्थान पर पहुँच कर फिर बड़े वेग से 1 बजे तक पश्चिम की ओर हटता रहता है।

इस ही प्रकार क्षैतिज तीव्रता और नमन का परिवर्तन भी **ख** तथा **ग** वक्रों से प्रगट है।

ये दैनिक परिवर्तन सरदी के मोसिम मे कम होते हैं और गरमी में अधिक।

5·10—**चुम्बकीय तूफ़ान** (Magnetic Storm)। कभी-कभी ऐसा होता है कि सारी पृथ्वी पर उपर्युक्त दैनिक परिवर्तन का परिमाण कुछ दिनों के लिए बहुत ही बढ़ जाता है। इस घटना का नाम चुम्बकीय तूफ़ान रख दिया गया है। जब यह तूफ़ान आता है तब बहुधा ज्वालामुखी पर्वतों का विस्फोटन और भूकम्प भी बहुत होते हैं और उत्तर तथा दक्षिण-ध्रुवों के निकट जो मेरु-ज्योति (aurora) दिखलाई देती है वह भी तब ही अधिक प्रबल हो जाती है। यह भी कहा जाता है कि चुम्बकीय तूफ़ान का सूर्य के धब्बों से भी कुछ संबंध है क्योंकि ये धब्बे प्राय: 11 वर्ष के बाद अधिक परिमाण में देखे जाते हैं और ठीक उस ही समय चुम्बकीय तूफ़ान भी अधिक ज़ोर का होता है।

5·11—**पृथ्वी के चुम्बकत्व का कारण**। उपर्युक्त सब बातों को देख कर यह सम्भव है कि हमें यह पता लग जाय कि पृथ्वी के निज चुम्बकत्व का वितरण किस प्रकार का होना चाहिए कि जिसके द्वारा उसके क्षेत्र के चुम्बकीय अवयवों का परिमाण सर्वत्र वही हो जो नापने से वास्तव में प्राप्त होता है। प्रारम्भ में जब ये नाप अच्छी तरह ज्ञात नहीं थे तब इस विषय में जो कल्पनाएँ की गई थीं वे निम्न प्रकार थीं :—

(1) 1600 में गिलबर्ट (Gilbert) ने अपनी पुस्तक में यह माना था कि पृथ्वी के ठोस भाग ही में चुम्बकत्व है।

(2) 1676 में बांड (Bond) की कल्पना यह थी कि पृथ्वी के चारों ओर एक चुम्बकीय आवरण (shell) है जिसकी अक्ष पृथ्वी की अक्ष से 8°30′ का कोण बनाती है। यह चुम्बकीय आवरण भी पृथ्वी ही के समान अक्षीय भ्रमण करता है किन्तु इसकी चाल में कुछ अन्तर है। इसी से चुम्बकीय अवयवों में परिवर्तन होते रहते हैं।

(3) 1692 में हैली (Halley) ने कहा कि पृथ्वी के चारों ओर स्वतन्त्र दो चुम्बकीय आवरण हैं। प्रत्येक के दो ध्रुव हैं और दोनों भिन्न-भिन्न चालों से घूम रहे हैं। इससे अन्य बातों के अतिरिक्त चार स्थानों पर दिक्पात रेखाओं की संसृति की व्याख्या हुई।

(4) 1819 में हैन्सटिन (Hanstin) ने इस चुम्बकत्व का कारण सूर्य और चन्द्रमा का प्रभाव बतलाया। इनकी राय में प्रत्येक ग्रह में इस प्रभाव के कारण चुम्बकीय अक्षें उत्पन्न हो जाती हैं जिनकी संख्या उप-ग्रहों की संख्या से एक अधिक होती है।

(5) किन्तु इस विषय की वास्तविक उन्नति गाउस (Gauss) ने 1839 में की। उन्होंने सब अवयवों के वितरण पर विचार करके यह नतीजा निकाला कि पृथ्वी का चुम्बकत्व आन्तरिक है। अर्थात् वह आवरण के समान नहीं है। यदि कोई चुम्बक है तो वह पृथ्वी के गर्भ में है।

(6) 1849 में ग्रोवर (Grover) ने कहा कि वायु-मण्डल में विद्युत् की बहुत सी धाराएँ बहती रहती हैं। समुद्र से जो बादल उठते हैं और ध्रुवों की ओर जाते हैं उनपर विद्युत् होता है। इसके अतिरिक्त सूर्य की किरणों के अदृष्ट अति-बैंजनी भाग में भी कुछ ऐसा प्रभाव होता है कि जिससे वायु के अणु टूट कर विद्युन्मय हो जाते हैं और उनके द्वारा विद्युत् की धाराएँ चल सकती हैं। ये धाराएँ ही चुम्बकत्व का कारण हैं। मेरु-ज्योति (aurora) का भी कारण कुछ ऐसा ही बताया जाता है। इसका पार्थिव चुम्बकत्व से सम्बन्ध ऊपर बतलाया जा चुका है।

(7) 1870 में शुस्टर (Schuster) ने गाउस की विधि से पुनः इस प्रश्न पर विचार किया और उनका परिमाण यह था कि दैनिक परिवर्तनों का कारण तो अवश्य ही पृथ्वी से बाहिर का चुम्बकत्व है। संभवतः यह वायुमण्डलीय विद्युत् धाराएँ हों।

(8) ब्लैकेट (Blackett) का मत है कि कोई भी भारी वस्तु यदि वेग से घूम रही हो तो उसमें चुम्बकत्व पैदा हो जाता है और इस चुम्बकत्व अथवा चुम्ब-कीय घूर्ण का परिमाण कोणीय संवेग (angular momentum) का अनु-

पाती होता है। 1910 में सूर्य के चुम्बकत्व का नाप किया गया था। और अभी कुछ ही वर्षों पहिले एक तारे का चुम्बकत्व भी अमरीका की माउंट विलसन वेधशाला (observatory) में बॅबकाक (Babcock) ने नापा है। अभी पृथ्वी, सूर्य, तथा एक तारे के इन नापों ही पर ब्लैकेट का नियम अवलम्बित है। यदि अन्य तारों के लिए भी यह नियम ठीक निकले और यदि प्रयोगशाला में भी किसी भारी अचुम्बकीय पदार्थ के गोले को घुमाकर उसमें चुम्बकत्व की उत्पति प्रमाणित हो जाय तो चुम्बकत्व सम्बन्धी ज्ञान की काया पलट हो जायगी।

इन सब बातो से स्पष्ट है कि अभी तक हम इस विषय में कुछ निश्चित रूप से नही कह सकते। सम्भव है कि उपर्युक्त सब ही कारण अंशरूप से ठीक हों और उनका सम्मिलित परिमाण ही हमारे अनुभव मे आता हो। किन्तु इसमें से विश्लेषण करके प्रत्येक कारण का प्रथक् प्रभाव जान लेना अभी तक सम्भव नही हुआ है।

5·12 **गाउस के सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी पर चुम्बकीय अवयवों का मान**। यदि यह मान लिया जाय कि पृथ्वी के गर्भ में एक दंड-चुम्बक है तो
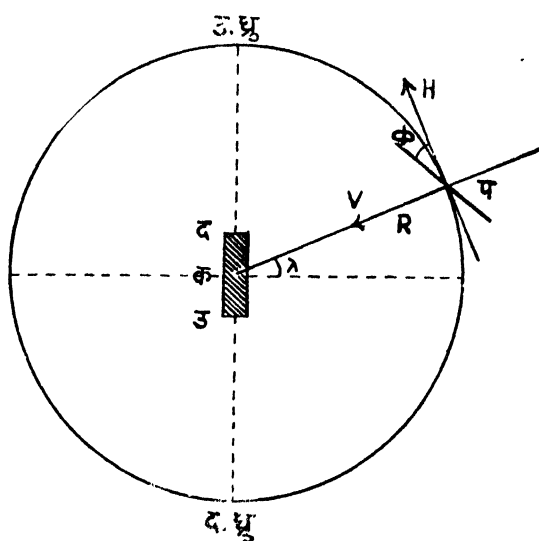
चित्र 5·07

पार्थिव चुम्बकत्व के अवयवों की गणना आसानी से हो सकती है। चित्र 5·07 में पृथ्वी का गोला दिखाया गया है। उनके दोनों ध्रुव तथा निरक्ष-वृत्त स्पष्ट हैं। गर्भ

में चुम्बक-दंड अक्ष पर रखा है। पृथ्वी तल के **प** बिन्दु पर नमन ϕ है और अक्षांश (latitude) λ है।

यदि यहाँ क्षैतिज तीव्रता H हो तथा अभिलम्ब तीव्रता V हो तो

$$\tan\phi=\frac{V}{H}$$

अब यदि दंड का चुम्बकीय घूर्ण M हो और पृथ्वी की त्रिज्या R हो तो अनु० 2·10(iii) के अनुसार

$$V=\frac{2M\sin\lambda}{R^3} \text{ तथा } H=\frac{M\cos\lambda}{R^3}$$

$$\therefore \qquad \tan\phi=\frac{V}{H}=2\tan\lambda.$$

यद्यपि मोटे रूप मे यह सूत्र काम का है किन्तु सम-नमन रेखाओं के नकशे को देखने से स्पष्ट है कि इतनी सरलता से पृथ्वी के चुम्बकत्व की व्याख्या नहीं हो सकती।

परिच्छेद 6

चुम्बकीय नाप

(Magnetic Measurements)

6·01—**चुम्बकत्व-मापी** (Magnetometer) जिस यंत्र से चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता या चुम्बकों का चुम्बकीय घूर्ण नापा जाता है उसे चुम्बकत्व-मापी कहते हैं। ये मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं।

(1) विक्षेप चुम्बकत्व-मापी (Deflection Magnetometer)

(2) दोलन चुम्बकत्व-मापी (Oscillation Magnetometer)

6·02—**विक्षेप चुम्बकत्व-मापी**। इस यंत्र मे प्राय 1 मीटर लम्बी लकड़ी की पट्टी के मध्य में एक दिक्-सूची-बक्स (compass box) लगा होता है जिसके छोटे से दंड-चुम्बक का विक्षेप कोण नापा जा सकता है (चित्र 6·01)। चुम्बक बारीक सूई की नोक पर इस प्रकार रखा रहता है कि बिना घर्षण के घूम सके। इस चुम्बक से लम्बतः एल्युमीनियम की हलकी किन्तु लम्बी पत्ती लगी रहती है जिसे संकेतक (pointer) कहते है। इसके दोनों सिरे वृत्ताकार स्केल पर घूमते हैं और विक्षेप-कोण का नाप करते है। कोण के नाप की यथार्थता बढ़ाने के लिए इस पत्ती के सिरो के भागो का तल मोड़ कर ऊर्ध्वाधर बना दिया जाता है और बहुधा उसके नीचे समतल दर्पण भी लगा रहता है। दिक्-सूची-बक्स के दोनों ओर जो लकड़ी की पट्टियाँ होती हैं (जिन्हें चुम्बकत्व-मापी की भुजाएँ भी कह सकते हैं) उन पर दूरी नापने का स्केल लगा रहता है।

जब विक्षेप कोण छोटा हो और उसको अधिक यथार्थता पूर्वक नापना हो तब चुम्बकीय सूची बहुत ही हलकी सी होती है और वह प्रायः 1 मम० व्यास वाले किसी पतले से समतल अथवा अवतल (concave) दर्पण के पीछे की तरफ चिपका दी जाती है। और इस दर्पण को रेशम के अत्यन्त पतले बिना बटे हुए तन्तु के द्वारा इस प्रकार लटका दिया जाता है कि दर्पण का तल ऊर्ध्वाधर रहे। हवा से बचाने के लिए इसे एक छोटे से बक्स मे रख देते हैं जिसमे दर्पण के सामने कांच का ढक्कन लगा होता है ताकि दर्पण पर प्रकाश की किरणे डाली जा सकें। किसी लैम्प का प्रकाश प्रायः 1 मीटर दूरी से इस पर डाला जाता है और वह प्रायः 1 मीटर दूरी पर रखे हुए स्केल पर फ़ोकस कर लिया जाता है ताकि स्केल पर अत्यन्त पतली सी एक रेखा

स्पष्ट देख पड़े। दर्पण यदि अवतल हो तब तो वह स्वयं ही फ़ोकस कर लेता है किन्तु यदि वह समतल हो तो एक उत्तल लैंस की सहायता से यह काम हो जाता है। जब किसी कारण चुम्बक विक्षेपित होता है तो दर्पण भी घूम जाता है और स्केल पर की पतली प्रकाश रेखा भी विस्थापित हो जाती है। यह तो ज्ञात ही है कि परावर्तित किरण का विक्षेप दर्पण के विक्षेप θ से दोगुणा होता है। अतः प्रकाश-रेखा के विस्थापन के नाप के द्वारा θ का नाप हो जाता है। जिस चुम्बकत्व-मापी में प्रकाश-परावर्तन का उपयोग किया जाता है उसे परावर्तन-चुम्बकत्व-मापी कहते हैं।
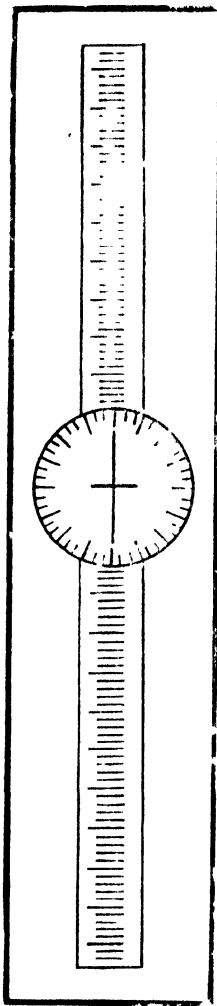
चित्र 6·01

विक्षेप-चुम्बकत्व-मापी का मुख्य काम है दो चुम्बकीय क्षेत्रों की तुलना करना। बहुधा इन दो में से एक क्षेत्र पृथ्वी का क्षेत्र H होता है और दूसरा F उस चुम्बक के कारण होता है जो इस यंत्र की भुजाओं पर रखा जाता है। दोनों क्षेत्र परस्पर समकोणिक रखने होते हैं। इस तुलना का समीकरण अनु० 2·11 में दिया जा चुका है।

$$F=H\tan\theta$$

इसके व्यवहार में चुम्बक को भुजा पर रखने की तीन मुख्य स्थितियाँ है। (1) ध्रुवाभिमुखी स्थिति (2) मध्याभिमुखी स्थिति (3) ज्या-स्थिति।

(1) **ध्रुवाभिमुखी स्थिति** (End-on position)। इसमें चुम्बकत्व-मापी की भुजाओं की दिशा पूर्व-पश्चिम रखी जाती है और जिस दंड-चुम्बक के क्षेत्र को नापना होता है उसके मध्यविन्दु को इष्ट-दूरीपर रखकर चुम्बक को चुम्बकत्व-मापी की भुजाओं से समान्तर रख दिया जाता है। अर्थात् उसका एक ध्रुव विक्षेप्य-सूची के अभिमुख होता है।

यदि चुम्बक का घूर्ण M हो और यदि विक्षेप्य सूची से इसके मध्य-बिन्दु की दूरी r हो तो अनु० 2·10(i) के अनुसार सूची पर उसका क्षेत्र होगा

$$F=\frac{2Mr}{(r^2-l^2)^2}$$

और उसकी दिशा H से समकोणिक होगी।

अनु० 2·11 के अनुसार $F = H \tan \theta_1$

$$\therefore \quad \frac{M}{H} = \frac{1}{2r}(r^2 - l^2)^2 \tan \theta_1 \quad . \; . \; . \quad \text{(i)}$$

यदि $l << r$ हो तो, सन्निकटत: $\frac{M}{H} = \frac{1}{2} r^3 \tan \theta_1$ . . . (ii)

इस स्थिति को स्पर्शज्या-स्थिति A (Tangent-A position) भी कहते हैं।

(2) **मध्याभिमुखी स्थिति** (Broadside-on position)। इसमें चुम्बकत्व-मापी की भुजाओं की दिशा उत्तर दक्षिण कर ली जाती है और चुम्बक को भुजा से लम्ब-रूप रखा जाता है। अत: उसका कोई भी ध्रुव विक्षेप्य-सूची के अभिमुख नहीं होता। इस स्थिति में

$$F = \frac{M}{(r^2 - l^2)^{\frac{3}{2}}} \qquad \text{[अनु० 2·10(ii)}$$

अब भी $F \perp H$ है। अत: $F = H \tan \theta_2$

$$\therefore \quad \frac{M}{H} = (r^2 - l^2)^{\frac{3}{2}} \tan \theta_2 \quad . \; . \; . \quad \text{(iii)}$$

$$= r^3 \tan \theta_2 \qquad \text{[यदि } l << r$$

यह स्पर्श-ज्या-स्थिति B (Tangent-B position) है।

(3) **ज्या-स्थिति** (Sine position)। उपर्युक्त दोनों स्थितियों के अतिरिक्त कभी-कभी एक तीसरी स्थिति का भी उपयोग किया जाता है। इसे ज्या-स्थिति (Sine position) कहते हैं। इसमें आरम्भ में तो स्थिति ध्रुवाभिमुखी होती है। किन्तु फिर चुम्बकत्व-मापी की भुजाओं को घुमा कर ऐसी स्थिति में ले जाते हैं कि विक्षेपित-सूची चुम्बक से अथवा भुजाओ से समकोणिक हो जाय। यदि ऐसी स्थिति लाने के लिए भुजाओं को कोण θ में घुमाया गया हो तो स्पष्ट है कि विक्षेपित सूची भी पृथ्वी के क्षेत्र H से θ का कोण बनावेगी। और चुम्बक का क्षेत्र F पृथ्वी के क्षेत्र H से कोण $(90°\text{-}\theta)$ बनावेगा। ऐसी दशा मे विक्षेप्य सूची पर H के कारण लगने वाला बल-युग्म होगा

$$C_H = MH \sin \theta$$

तथा F के कारण बल-युग्म होगा $C_F = MF$

और सन्तुलन के कारण $C_F = C_H$

$\therefore$ $MF = MH \sin\theta$

या $F = H \sin\theta$

इस विधि का उपयोग करने के लिए चुम्बकत्व-मापी मे एक और वृत्ताकार स्केल लगाना पड़ता है और उसके केन्द्र में सारे यंत्र को घुमाने के लिए धुरी लगी रहती है। इसके द्वारा यह नापा जा सकता है कि चुम्बकत्व-मापी को कितना घुमाया गया।

इन तीनों ही स्थितियों में θ के नाप में यंत्र निर्माण की त्रुटियों के कारण कुछ ग़लती होने की संभावना रहती है। य त्रुटियाँ और उनके कारण से उत्पन्न ग़लती का निराकरण करने की विधियाँ निम्न प्रकार हैं :—

(क) दिक्-सूची की घूर्णनाक्ष वृत्ताकार स्केल के ठीक केन्द्र पर स्थित न हो। इससे संकेतक का एक सिरा θ का मान अधिक बतावेगा और दूसरा कम। अतः दोनों ही सिरो का पाठ लेकर उनके मध्यमान को θ का यथार्थ मान समझना चाहिए।

(ख) चुम्बक के ध्रुव उसके मध्य-विन्दु से बराबर दूरी पर न हों। इसका निराकरण करने के लिए पहिले तो चुम्बक को इस प्रकार रखना चाहिए कि उत्तर-ध्रुव दिक्-सूची की ओर हो। इस अवस्था में θ का पाठ लेकर चुम्बक को पलट कर फिर वही रख देना चाहिए ताकि अब दक्षिण-ध्रुव दिक्-सूची की ओर हो। अब फिर θ का पाठ लेना चाहिए। दोनों का मध्यमान यथार्थ θ होगा।

(ग) भुजाओं के स्केल का शून्यांक (0) दिक्-सूची की घूर्णनाक्ष पर न हो। इस कारण स्केल पर पठित चुम्बक की दूरी ठीक न होगी। यदि चुम्बक एक भुजा पर रखा हो तो यह दूरी अधिक होगी और यदि दूसरी भुजा पर रखा हो तो कम। अतः चुम्बक को क्रमशः दोनों ओर रखकर θ का नाप किया जाता है। और दोनों के मध्यमान से ही θ का यथार्थ मान प्राप्त हो सकता है।

6·03—चुम्बकीय घूर्ण नापने की विधि। चुम्बकत्व-मापी के द्वारा चुम्बकीय क्षेत्र के अतिरिक्त चुम्बकीय घूर्ण का आपेक्षिक नाम भी हो सकता है। यह अनु० 6·02 के समीकरणों से स्पष्ट ही है। यदि दो चुम्बकों के घूर्ण क्रमशः M_1

और M_2 हों तो

$$\frac{M_1}{H}=\frac{1}{2}\,r_1^3\tan\,\theta_1$$

और
$$\frac{M_2}{H}=\frac{1}{2}\,r_2^3\,\tan\,\theta_2$$

$$\therefore\qquad\frac{M_1}{M_2}=\frac{r_1^3\tan\theta_1}{r_2^3\tan\theta_2}$$

यदि चुम्बक छोटे न हों अर्थात् यदि $l<r$ न हो तो समी० (i) का व्यवहार करना चाहिए।

इसके लिए सन्तुलन विधि (null method) का भी उपयोग किया जा सकता है। एक चुम्बक को एक भुजा पर रख दिया जाता है और दूसरे को दूसरी पर और तब उनकी दूरी बदल कर विक्षेप कोण को शून्य कर लिया जाता है। तब उन्हीं समीकरणों से

$$H\tan\,\theta=\frac{2M_1}{r_1^3}=\frac{2M_2}{r_2^3}$$

$$\therefore\qquad\frac{M_1}{M_2}=\frac{r_1^3}{r_2^3}$$

6·04—**चुम्बक की चुम्बकीय लम्बाई को नापने की विधि।** यह बताया जा चुका है कि चुम्बक-दंड की लम्बाई चुम्बक की लम्बाई अर्थात् उसके ध्रुवों के बीच की दूरी के बराबर नहीं होती क्योंकि ध्रुव ठीक उसके सिरों पर अवस्थित नहीं होते। किन्तु ऊपर के समीकरणों में $2l$ = चुम्बकीय लम्बाई मानी गई है। यह स्केल से नहीं नापी जा सकती। इसका नाप विक्षेप-चुम्बकत्व-मापी से सरलता पूर्वक हो सकता है। किसी दंड-चुम्बक को पहिले दूरी r_1 पर रखकर θ_1 का नाप कर लिया जाता है और फिर उसे दूरी r_2 पर रखकर θ_2 नाप लिया जाता है। तब

$$\frac{M}{H}=\frac{(r_1^2-l^2)^2}{2r_1}\tan\;\theta_1=\frac{(r_2^2-l^2)^2}{2r_2}\tan\theta_2$$

$$\therefore\qquad l^2=\frac{r_1^3\tan\,\theta_1-r_2^3\tan\,\theta_2}{2(r_1\tan\,\theta_1-r_2\tan\,\theta_2)}$$

यदि l^4 वाले पद उपेक्षणीय समझ लिये जावें।

6·05—**दोलन चुम्बकत्व-मापी।** अनु० 2·21 में बतलाया गया है कि चुम्बकीय क्षेत्र में अवलम्बित चुम्बक दोलन करता है और उसका आवर्तकाल

$$T=2\pi\sqrt{\frac{I}{MH}}$$

इस समीकरण के द्वारा M या H को नापने के यंत्र को दोलन-चुम्बकत्व-मापी कहते हैं। इसमें अत्यन्त पतले बिना बटे हुए रेशम के तन्तु से या अत्यन्त पतले तार से एक दन्ड-चुम्बक इस प्रकार लटका दिया जाता है कि वह क्षैतिज-तल में कोणीय दोलन कर सके। हवा के झोंकों से बचाने के लिए यह एक बक्स मे बंद रहता है और कांच की खिड़की मे से दोलनों का प्रेक्षण किया जाता है। विराम-घड़ी (stop-watch) से आवर्त-काल T नाप लिया जाता है।

चुम्बक को लटकाने मे इस बात का ध्यान रखना जरूरी है कि जब चुम्बक स्थिर हो तब अवलम्बन-सूत्र मे ऐंठन जरा भी न रहे। इसके लिये पहले तो चुम्बकीय याम्योत्तर की दिशा यथार्थता पूर्वक मालूम कर ली जाती है। फिर चुम्बक की जगह पीतल या अन्य अचुम्बकीय पदार्थ की छड़ को अवलम्बन-सूत्र से लटका देते हैं और बक्स को घुमा-घुमा कर ऐसी दिशा मे कर लेते हैं कि यह छड़ चुम्बकीय याम्योत्तर में स्थिर हो जाय। तब छड़ हटाकर उसके स्थान में चुम्बक को रख देते हैं। और किसी अन्य चुम्बक की सहायता से उसमे छोटे दोलन उत्पन्न कर लिये जाते हैं।

यदि दो चुम्बकों के घूर्ण की तुलना करनी हो तो क्रमशः दोनों चुम्बकों के आवर्त-काल नाप लिये जाते हैं। तब

$$T_1=2\pi\sqrt{\frac{I_1}{M_1H}} \quad \text{तथा} \quad T_2=2\pi\sqrt{\frac{I_2}{M_2H}}$$

$$\therefore \qquad \frac{M_1}{M_2}=\frac{T_2^2I_1}{T_1^2I_2}$$

I_1 और I_2 चुम्बक की आकृति और नाप से ज्ञात हो सकते हैं। यदि चुम्बक बेलनाकार हो तो

$$I=m\left(\frac{l^2}{12}+\frac{r^2}{4}\right)$$

जहाँ m=चुम्बक का द्रव्यमान (mass), l=लम्बाई और r=बेलन की त्रिज्या। यदि चुम्बक आयताकार (rectangular) हो तो

$$I=m\left(\frac{l^2+b^2}{12}\right)$$

जहाँ m और l तो ऊपर लिखे अनुसार ही हैं और चुम्बक की चौड़ाई b (क्षैतिज तल में) है।

जब दो चुम्बकीय क्षेत्रों की तीव्रता की तुलना करना हो तो पहिले एक क्षेत्र में आवर्त-काल नापा जाता है और तब दूसरे क्षेत्र में। किन्तु पार्थिव क्षेत्र H दोनों अवस्थाओं में विद्यमान ही रहेगा। अतः उसका निरसन (elimination) करने के लिए माप्य क्षेत्र F की और H की दिशा एक ही कर ली जाती है ताकि सम्मिलित क्षेत्र $F+H$ हो जाय।

तब केवल H के कारण $$T=2\pi\sqrt{\frac{I}{MH}}$$

और F_1+H के कारण $$T_1=2\pi\sqrt{\frac{I}{M(F_1+H)}}$$

तथा F_2+H के कारण $$T_2=2\pi\sqrt{\frac{I}{M(F_2+H)}}$$

$$\therefore \quad \frac{F_1+H}{H}=\frac{\frac{1}{T_1^2}}{\frac{1}{T^2}} \quad \text{और} \quad \frac{F_1}{H}=\frac{\frac{1}{T_1^2}-\frac{1}{T_2}}{\frac{1}{T^2}}$$

इसी प्रकार $$\frac{F_2}{H}=\frac{\frac{1}{T_2^2}-\frac{1}{T^2}}{\frac{1}{T^2}}$$

$$\therefore \quad \frac{F_1}{F_2}=\frac{\frac{1}{T_1^2}-\frac{1}{T^2}}{\frac{1}{T_2^2}-\frac{1}{T^2}}$$

6·06—**पृथ्वी के क्षैतिज क्षेत्र H का नाप**। विक्षेप-चुम्बकत्व-मापी के द्वारा अनु० 6·02 के अनुसार

$$\frac{M}{H}=\frac{(r^2-l^2)^2}{2r}\cdot \tan\theta$$

तथा दोलन चुम्बकत्व-मापी के द्वारा अनु० 6·05 के अनुसार

$$MH = \frac{4\pi^2 I}{T^2}$$

अतः एक ही चुम्बक का दोनों चुम्बकत्व-मापियों में उपयोग करके इन दोनों समीकरणों में से M का निरसन करने से प्राप्त होगा

$$H^2 = \frac{4\pi^2 I}{T^2} \cdot \frac{2r}{(r^2-l^2)^2 \tan\theta}$$

और इससे H का मान नापा जा सकता है।

यदि उन्हीं समीकरणों मे से H का निरसन किया जाय तो

$$M^2 = \frac{4\pi^2 I}{T^2} \cdot \frac{(r^2-l^2)^2}{2r} \cdot \tan\theta.$$

इससे उस चुम्बक का घूर्ण ज्ञात हो जाता है।

इन दोनों मे I का मान गणना द्वारा अथवा अन्य प्रयोग द्वारा प्रथक् ज्ञात करना पड़ेगा।

6·07—**दिक्-पात का नाप।** इस नाप मे हमे एक तो भौगोलिक याम्योत्तर की दिशा मालूम होना चाहिये और दूसरे चुम्बकीय याम्योत्तर की दिशा। प्रथम दिशा जानने का सबसे सरल उपाय यह है कि एक लम्बी और पतली छड़ को धूप मे ठीक ऊर्ध्वाधर खड़ी करके उसकी परछांई को देखना चाहिये। प्रातःकाल यह परछांई बहुत लम्बी होती है किन्तु इसकी लम्बाई धीरे-धीरे घट कर दोपहर के समय बहुत छोटी हो जाती है और फिर धीरे-धीरे बढ़ने लगती है। परछांई की दिशा भी बदलती रहती है। सबसे छोटी परछांई की दिशा ही भौगोलिक याम्योत्तर की दिशा है। इससे अधिक यथार्थतापूर्वक इस दिशा को जानने के लिये ध्रुव-तारे का अथवा ज्योतिष विज्ञान की किसी विधि का उपयोग करना चाहिये।
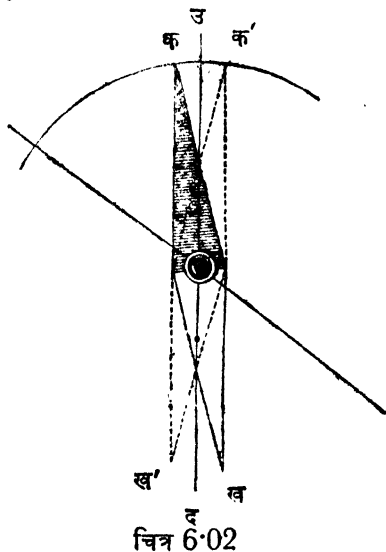
चित्र 6·02

चुम्बकीय याम्योत्तर की दिशा चुम्बक को बिना बटे हुए रेशम के तागे से लटका कर मालूम की जाती है। किन्तु इसमें कठिनाई यही है कि चुम्बक के ध्रुवों का स्थान ठीक-ठीक न मालूम होने के कारण यह नही पता लगता कि चुम्बकीय अक्ष कहाँ है। दिक्-सूची बहुधा नोकदार बनाई जाती है किन्तु यह आवश्यक नही है कि इसकी ज्यामितीय अक्ष ही चुम्बकीय अक्ष भी हो। चित्र 6·02 में ऐसी ही चुम्बकीय सूची दिखाई गई है। इसकी ज्यामितीय अक्ष **क ख** है किन्तु चुम्बकीय अक्ष **उ द** है। इसे लटकाने से **उ द** ही चुम्बकीय याम्योत्तर में स्थित रहेगी किन्तु हम जो दिशा देख सकते हैं वह होगी **क ख**। हमें **उ द** का पता नही चल सकता। इस गड़बड़ी को मिटाने का उपाय यह है कि **क ख** दिशा को मेज पर अंकित कर लेने के बाद इस चुम्बक-सूची को उलट दिया जाय ताकि उसका जो पृष्ठ नीचे की ओर था वह ऊपर की ओर हो जाय। ऐसी दशा में वह छिन्न-रेखित स्थान पर ठहरेगी। **उ द** अब भी पूर्ववत् ही रहेगी किन्तु **क ख** अब **क′ ख′** पर जा पहुँचेगी। चित्र 6·02 से स्पष्ट समझ में आ जायगा कि **क ख** और **क′ ख′** के बीच के कोण को दो बराबर भागों में विभक्त करने वाली रेखा ही चुम्बकीय याम्योत्तर की दिशा है।

6·08—**नमन-मापी** (Dip Circle)। नमन को नापने के यंत्र को नमन-मापी कहते हैं। इसमें प्रायः 10—12 सम० लम्बी चुम्बकीय सूची इस प्रकार व्यवस्थित होती है कि वह ऊर्ध्वाधर तल में ही घूम सके (चित्र 6·03)। इस ऊर्ध्वाधर तल में एक वृत्ताकार स्केल लगा रहता है जिसकी 0°—0° रेखा क्षैतिज दिशा में होती है। इसी स्केल के द्वारा नमन-कोण नापा जाता है। हवा के झोंको से बचाने के लिये यह सूची और स्केल एक बक्स से ढके रहते हैं जिसके कांच के पार्श्वों में से कोण का पाठ लिया जा सकता है। यह बक्स भी एक ऊर्ध्वाधर अक्ष पर घूम सकता है और एक क्षैतिज तल में स्थित वृत्ताकार स्केल के द्वारा चुम्बकीय सूची के घूर्णन-तल की स्थिति का ज्ञान हो सकता है। इस यंत्र के आधार के नीचे तीन
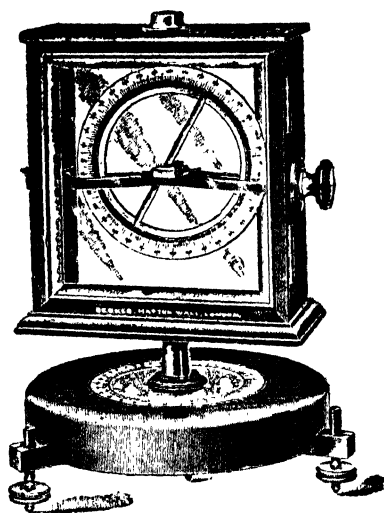
चित्र 6·03

संस्थिति कारक पेंच (levelling screws) लगे रहते हैं जिनके द्वारा उपर्युक्त ऊर्ध्वाधर अक्ष को यथार्थतापूर्वक ऊर्ध्वाधर कर लिया जाता है।

अनु० 5·03 में बताया जा चुका है कि नमन-कोण याम्योत्तर तल में नापा जाता है। अतः सबसे पहिले तो यह आवश्यक है कि इस यंत्र की सूची का घूर्णन-तल याम्योत्तर में कर लिया जाय। इसकी सरल विधि निम्न प्रकार है :—

यंत्र के बक्स को घुमा कर ऐसी अवस्था प्राप्त कर ली जाती है कि सूची ठीक ऊर्ध्वाधर हो जाय। अर्थात् उसके सिरे वृत्ताकार स्केल की ठीक 90°—90° वाली रेखा पर स्थित हो जावे। स्पष्ट है कि इस स्थिति में इस सूची पर पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र का ऊर्ध्वाधर घटक V ही कार्यकारी है। क्षैतिज घटक H भी इसके ध्रुवों पर बल तो लगाता है किन्तु सफल नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि H सूची को वृत्ताकार स्केल से अभिलम्ब दिशा में घुमाने का प्रयत्न करता है किन्तु यन्त्र में सूची लगी ही इस प्रकार है कि यह संभव नही। अतः स्पष्ट हुआ कि इस स्थिति में सूची के घूर्णन-तल से अभिलम्ब-दिशा मे पृथ्वी का चुम्बकीय याम्योत्तर है। इसलिये क्षैतिज-तलीय स्केल की सहायता से बक्स को घुमा कर सूची का घूर्णन-तल याम्योत्तर में अवस्थित किया जा सकता है।

ऐसा समंजन कर देने पर सूची क्षैतिज से जितना कोण बनावेगी वही नमन का मान होगा।

इस नाप में यथार्थता लाने के लिए कई पाठ लेने पड़ते हैं क्योंकि निम्नलिखित कारणों से नाप में भूल हो सकती है:—

(1) चुम्बकीय सूची की घूर्णन-अक्ष ऊर्ध्वाधर वृत्त के केन्द्र पर स्थित न हो।

(2) ऊर्ध्वाधर-वृत्त की 0—0 रेखा ठीक-ठीक क्षैतिज दिशा में न हो।

(3) सूची की चुम्बकीय अक्ष ज्यामितीय अक्ष पर न हो।

(4) घूर्णन-अक्ष सूची के गुरुत्व-केन्द्र (centre of gravity) पर न लगी हो।

इन भूलों के निराकरण के लिये क्रमशः निम्नलिखित 16 पाठ लिये जाते हैं। इन सब का मध्यमान ही यथार्थतः नमन का मान होगा।

(1) ऊर्ध्वाधर-वृत्त पर सूची के दोनों सिरों के पाठ।

(2) ऊर्ध्वाधर वृत्त को 180° में घुमाकर, पुनः सूची के दोनों सिरों के पाठ।

(3) सूची की घूर्णन-अक्ष को उसके आधारों से हटाकर उसे विपरीत दिशा में लगाकर पुनः उपर्युक्त प्रकार से चार पाठ।

(4) सूची को विचुम्बकित (demagnetise) करके पुनः विपरीत दिशा में चुम्बकित करके अर्थात् पहिले जो उत्तर-ध्रुव था उसे अब दक्षिण-ध्रुव बनाकर पुनः उपर्युक्त आठ पाठ।

6·09—**चुम्बकत्व-लेखी** (Magnetograph)। पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र के अवयवो के दैनिक परिवर्तनों का ठीक-ठीक नाप करने के लिये यह आवश्यक है कि कुछ ऐसा प्रबंध हो कि मिनट-मिनट का परिवर्तन स्वयमेव ही कागज पर अंकित हो जाय। इस काम के यंत्र को चुम्बकत्व-लेखी कहते है। ये तीन प्रकार के होते है:—

(1) दिक्-पात-लेखी, (2) क्षैतिज-तीव्रता-लेखी, (3) ऊर्ध्वाधर-तीव्रता-लेखी।

कोई अच्छा नमन लेखी अभी तक नही है। किन्तु नमन का परिवर्तन दूसरे तथा तीसरे चुम्बकत्व-लेखियों से ज्ञात हो सकता है।

इन सबमें छोटी चुम्बकीय सूची पर एक छोटा सा दर्पण चिपका दिया जाता है। इस दर्पण पर प्रकाश की किरण डाली जाती है और यह वहां से परावर्तित होकर एक बेलन पर पड़ती है। यह बेलन दर्पण से इतनी दूर होता है कि दर्पण के थोड़े भी घूमने से बेलन पर पड़ने वाली किरण का स्थान बहुत बदल जाता है। बेलन पर फ़ोटो का आलोकग्राही (sensitive) कागज़ लपेटा रहता है जिसपर किरण पड़ने का स्थान अंकित हो जाता है। बेलन घड़ी-यंत्र (clock-work) के द्वारा धीरे-धीरे घूमता रहता है और 24 घंटे मे पूरा चक्कर लगा लेता है। अतः इस कागज़ पर एक वक्र अंकित हो जाता है जिससे दिन के किसी भी समय पर चुम्बक की स्थिति का ज्ञान हो सकता है।

दिक्-पात-लेखी में तो चुम्बक रेशम के तागे से लटका रहता है और दिक्-पात के परिवर्तन के अनुसार क्षैतिज-तल में उसके ध्रुव पूर्व या पश्चिम की ओर हटते रहते हैं। बहुधा ऐसी व्यवस्था की जाती है कि आलोकग्राही कागज़ पर वक्र के एक मिली-मी[illegible] इधर-उधर हटने से दिक्-पात के 1′ परिवर्तन का निदर्शन होता है।

क्षैतिज-तीव्रता-लेखी का चुम्बक भी क्षैतिज तल ही में घूम सकता है। किन्तु वह रेशम से लटका कर चुम्बकीय याम्योत्तर में नहीं रखा जाता। उसे दो तागों से लटका कर उन तागों को इस प्रकार ऐंठ दिया जाता है कि चुम्बक याम्योत्तर से लम्बरूप

अर्थात् पूर्व-पश्चिम दिशा में स्थित रहे। इस अवस्था में उस पर दो विरोधी बल लगते हैं। पृथ्वी का क्षैतिज चुम्कीय बल तो उसे याम्योत्तर में लाना चाहता है और अवलम्बन सूत्रों की ऐंठन उसे दूसरी ओर घुमाना चाहती है। सन्तुलन याम्योत्तर से 90° पर होता है। यदि क्षैतिज तीव्रता घट गई तब तो चुम्बक 90° से कुछ अधिक घूम जाता है और यदि तीव्रता बढ़ गई तो उसकी दिशा 90° से कम हो जाती है। यह परिवर्त्तन भी आलोकग्राही कागज पर अंकित हो जाता है। बहुधा ·00005 ओरस्टेड के परिवर्तन को एक मिलीमीटर निदर्शित करता है।

ऊर्ध्वाधर-तीव्रता-लेखी में चुम्बक याम्योत्तर में रहता है और उसी ऊर्ध्वाधर तल में वह घूम सकता है। इसे एक तने हुए स्फटिक के तन्तु (quartz fibre) पर लगाते हैं। ऐसा करने पर उसके उत्तर-ध्रुव का नमन होता है किन्तु दक्षिण-ध्रुव की ओर कुछ बोझा रख कर या स्फटिक तन्तु में ऐंठन देकर इसे ठीक क्षैतिज अवस्था में स्थित रखते हैं। इस दशा मे ऊर्ध्वाधर तीव्रता उसके उत्तर-ध्रुव को नीचे की ओर ले जाकर नमन की दिशा में स्थित रखना चाहती है किन्तु तार की ऐंठन उसे दूसरी ओर घुमाती है। सन्तुलन क्षैतिज दिशा में होता है। ऊर्ध्वाधर तीव्रता की घट-बढ़ से इस चुम्बक का उत्तर-ध्रुव भी ऊँचा या नीचा हो जाता है। यही कागज़ पर अंकित होता है।

परिच्छेद 7

स्थिर-विद्युत्

(Statical Electricity)

7·01—**घर्षण से विद्युत् की उत्पत्ति।** लाख की छड़ को ऊनी कपड़े से थोड़ा सा रगड़ने पर उसमें कुछ विलक्षणता आ जाती है। उसके समीप कोई भी हलकी वस्तु रखने से यह छड़ उसे आकर्षित कर लेती है। कागज़ के छोटे-छोटे टुकड़े, भूसा इत्यादि इस छड से चिपकने लगते है। यही दशा काँच की नली या छड़ को रेशम से रगडने पर होती है।

घर्षण के द्वारा इस आकर्षण की उत्पत्ति का ज्ञान मनुष्य को बहुत प्राचीन काल से है। कम से कम २५०० वर्ष पहले की ग्रीक पुस्तकों में इलैक्ट्रान नामक एक पदार्थ के इस गुण का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इस पदार्थ का भारतवर्ष तथा अरब में नाम अम्बर (amber) प्रसिद्ध है और यहाँ के निवासियों को अम्बर की इस अद्भुत आकर्षण शक्ति का परिचय अत्यन्त प्राचीन काल से है।

अम्बर के अतिरिक्त प्राय. सभी दूसरे पदार्थों में भी उपयुक्त वस्तु से रगड़ने पर आकर्षण का यह गुण उत्पन्न हो जाता है। किन्तु वह इतना कम होता है कि उसके अस्तित्व का पता चलाने के लिए विशेष सावधानी की जरूरत होती है।

यद्यपि यह आकर्षण बहुत कुछ उसी प्रकार का है जिस प्रकार का आकर्षण चुम्बक और लोहे में होता है, किन्तु इनका भेद भी प्रत्यक्ष ही है। लोहे में चुम्बकत्व का गुण केवल रगड़ से उत्पन्न नहीं होता। उसे चुम्बक ही की सहायता से यह गुण मिलता है। इसके अतिरिक्त चुम्बक लोहे और एक दो अन्य पदार्थों को छोड़ कर दूसरे पदार्थों को आकर्षित नहीं कर सकता किन्तु उपर्युक्त लाख या काँच की छड़ प्रत्येक पदार्थ के छोटे-छोटे टुकड़ों को आकर्षित कर लेती है।

जिस वस्तु में यह आकर्षण का गुण विद्यमान हो उसे विद्युन्मय, आविष्ट अथवा चार्जित (charged) कहते हैं। ऐसा भी कहा जाता है कि उस वस्तु में विद्युत् (electricity) है। इस पिछले वाक्य में विद्युत् नामक एक ऐसी वस्तु की कल्पना की गई है जो घर्षण से उत्पन्न होती है। आकर्षण का यह गुण वास्तव में इस

विद्युत् का ही समझा जाता है। अम्बर, लाख, काँच आदि केवल विद्युत् को धारण करने वाले पात्र ही हैं।

इस स्थान पर यह प्रश्न उठाने से कुछ भी लाभ नहीं कि यह अदृश्य, अद्भुत और रहस्यमय विद्युत् वास्तव में है क्या अथवा कुछ है भी या नहीं। इस पर यथास्थान विचार किया जायगा। अभी इसे कल्पना-मात्र समझ सकते हैं। इस कल्पना से हमें आविष्ट वस्तुओं सम्बंधी अनुभवों को भाषा में व्यक्त करने में बड़ी सुविधा होती है।

7·02—**प्रतिकर्षण** (Repulsion)। ऊन से रगड़ कर आविष्ट की हुई लाख की छड़ रेशम के तागे से लटका दीजिए या सुई की नोक पर सन्तुलित कर दीजिए। इसके निकट दूसरी आविष्ट लाख की छड़ लाने पर आप देखेंगे कि इनमें आकर्षण नहीं होता। प्रत्युत लटकी हुई छड़ दूर हट जाती है। इनमें आकर्षण के स्थान में प्रतिकर्षण होता है।

किन्तु इसी लटकी हुई छड़ के निकट रेशम के द्वारा आविष्ट की हुई कांच की छड़ लाने पर प्रबल आकर्षण देख पड़ता है। यदि लटकी हुई आविष्ट छड़ कांच की हो
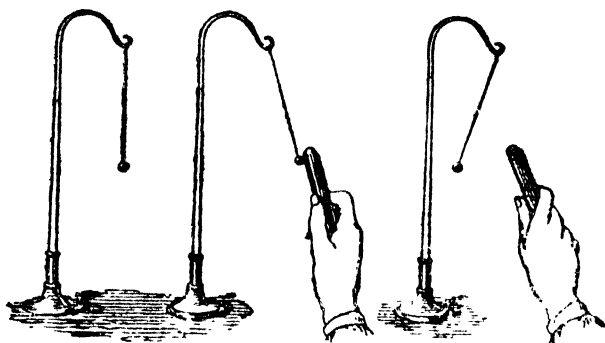
चित्र 7·01

तो लाख की छड़ उसे आकर्षित कर लेगी और कांच की छड़ प्रतिकर्षण करेगी। इसी बात को रेशम के डोरे से सरकंडे के गूदे या काग की बनी हलकी गोली लटका कर भी देख सकते हैं। इस गोली के निकट आविष्ट लाख की छड़ लाने पर यह गोली तुरन्त उस पर जा चिपकती है। किन्तु क्षण भर के बाद ही यह गोली छड़ से प्रतिकर्षित

होकर दूर हट जाती है। किन्तु आविष्ट कांच की छड़ इस गोली को तुरन्त आकर्षित कर लेती है (चित्र 7·01)।

इस प्रयोग में पहले गोली अनाविष्ट थी। अतः उसे लाख की छड़ ने खींच लिया। किन्तु जब इनका स्पर्श हो गया तो छड़ की कुछ विद्युत् गोली में प्रवेश कर गई। गोली भी छड़ से प्रतिकर्षित हो गयी। किन्तु कांच की छड़ ने उसे आकृष्ट कर लिया। यदि गोली को पहले कांच की छड़ स्पर्श करती तो परिणाम उलटा होता। कांच से प्रतिकर्षण और लाख से आकर्षण हो जाता। यदि गोली पर धातु की पन्नी (foil) चिपकी हो तो यह प्रयोग अधिक सफल होता है। इसी प्रकार से अनेक प्रयोगों को देखने पर यह परिणाम निकलता है कि लाख की छड़ की विद्युत् काँच की छड़ की विद्युत् से भिन्न है। उनमें परस्पर विरोधी गुण हैं। दोनों ही अनाविष्ट वस्तुओं को अपनी ओर आर्काषित करती हैं किन्तु आविष्ट वस्तु पर दोनों का प्रभाव उलटा होता है। एक उसे आर्काषित करती है तो दूसरी उसे प्रतिर्काषित कर देती है।

7·03—**दो प्रकार का विद्युत्**। अन्य आविष्ट वस्तुओं की परीक्षा करने पर भी यही देखने में आता है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि विद्युत् दो प्रकार का होता है। एक प्रकार का वह है जो कांच पर रेशम रगड़ने से पैदा होता है। इसका नाम धन-विद्युत् (positive electricity) रख दिया गया है। पहले इसे कांच-विद्युत् (vitreous electricity) भी कहते थे। दूसरी प्रकार का विद्युत् जो लाख को ऊन से रगड़ने पर प्राप्त होता है ऋण-विद्युत् (negative electricity) कहलाता है। जिस वस्तु मे धन विद्युत् हो वह धनाविष्ट कहलाती है और जिस वस्तु मे ऋण-विद्युत् हो वह ऋणाविष्ट। इन नामों की सहायता से प्रतिकर्षण के नियम निम्न प्रकार लिखे जा सकते हैं :—

(i) धनाविष्ट वस्तु अन्य धनाविष्ट वस्तु को प्रतिर्काषित करती है।

(ii) ऋणाविष्ट वस्तु भी अन्य ऋणाविष्ट वस्तु को प्रतिर्काषित करती है।

(iii) धनाविष्ट वस्तु तथा ऋणाविष्ट वस्तु में परस्पर आकर्षण होता है।

इन्हीं नियमों का अधिक व्यापक रूप यह है :—

(क) समान विद्युत् से आविष्ट वस्तुओं में प्रतिकर्षण होता है,

(ख) असमान विद्युत् से आविष्ट वस्तुओं में आकर्षण होता है।

चुम्बकीय आकर्षण तथा प्रतिकर्षण के नियमों से इन नियमों की समानता प्रत्यक्ष ही है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि चुम्बक के उत्तर तथा दक्षिण ध्रुव कभी

पृथक् नहीं किये जा सकते किन्तु धन-विद्युत् तथा ऋण-विद्युत् पृथक्-पृथक् रह सकते हैं। लाख की छड़ पर केवल ऋण-विद्युत् होता है और कांच की छड़ पर केवल धन-विद्युत्। कांच और लाख की छड़ों के समान ही हाथी-दांत, गंधक, मोम, रबड़, गटापार्चा, आदि पदार्थों पर भी रेशम, ऊन, बालदार चमड़ा, चिड़ियों के पर, इत्यादि से रगड़ने से विद्युत् उत्पन्न हो जाता है। किसी पर धन-विद्युत् और किसी पर ऋण-विद्युत्। किन्तु यह न समझना चाहिये कि किसी एक पदार्थ पर सदा एक ही प्रकार का विद्युत् उत्पन्न होता हो। कांच को रेशम से रगड़ने पर उसमें धन-विद्युत् उत्पन्न होता है किन्तु उसी कांच को बिल्ली के रोंयेदार चमड़े से रगड़ने से ऋण-विद्युत् उत्पन्न हो जाता है। इसके अतिरिक्त यदि कांच चिकना न हो और खुरदरा हो तो उसे रेशम से रगड़ने पर भी उसमे ऋण विद्युत् उत्पन्न हो जाता है। इस प्रयोग से दो परिणाम निकलते हैं। (i) घर्षण के द्वारा धन-विद्युत् उत्पन्न होगा या ऋण-विद्युत् यह केवल घर्षित पदार्थ पर ही निर्भर नही है। जिस वस्तु से वह रगड़ा जाता है उस पर भी यह बात उतनी ही निर्भर है। (ii) घर्षित वस्तु के पृष्ठ देश के चिकनेपन या रूक्षता अथवा उसके पृष्ठ देश की भौतिक अवस्था पर भी विद्युत् की जाति अवलम्बित होती है।

नीचे की तालिका में पदार्थों को इस प्रकार लिखा गया है कि यदि किसी भी पदार्थ को उससे बाद वाले पदार्थों से घिसा जाय तो उनमें धन-विद्युत् उत्पन्न होता है और यदि उन्हें उनसे पहले वाले पदार्थों से रगड़ा जाय तो ऋण-विद्युत् उत्पन्न होता है।

बिल्ली का रोंयेदार चमड़ा, हाथी-दांत, कांच, ऊन, चिड़ियों के पर, लकड़ी, कागज, गंधक, रेशम, लाख।

7·04—**चालक तथा अचालक पदार्थ** (Conductors and Non-conductors)। ऊपर की तालिका में किसी धातु का नाम नहीं है। इसी से बहुत काल तक लोगों की धारणा यह थी कि धातुओं में विद्युत् उत्पन्न हो ही नहीं सकता। किन्तु वास्तव में बात यह नहीं है। यदि धातु की छड़ को कांच या लाख का दस्ता लगा दिया जाय और तब धातु को हाथ से न स्पर्श करके इस दस्ते ही के द्वारा पकड़ें तो रेशम, ऊन इत्यादि से रगड़ने पर धातु में भी विद्युत् का प्रभाव प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। यदि इस आविष्ट धातु को तनिक भी हाथ से स्पर्श कर दें तो तुरन्त उसमें का विद्युत् नष्ट हो जाता है।

इस बात का कारण यह है कि विद्युत् किसी पदार्थ में तो बड़ी सुगमता से गमन कर सकता है और किसी में नहीं। कांच पर जिस जगह विद्युत् उत्पन्न हुआ वहीं

से वह हट कर दूसरे स्थान पर नहीं जा सकता। यदि कांच की छड़ का एक सिरा रेशम से रगड़ा जाय तो उसके उस सिरे ही में वैद्युत आकर्षण देख पड़ेगा। छड़ के अन्य भागों में नही। यही हाल लाख का है। किन्तु धातु में विद्युत् एकही स्थान में स्थित नहीं रह सकता। वह तुरन्त सर्वत्र फैल जाता है। कांच के दस्तेवाली धातु की छड़ को आविष्ट करके इस बात की परीक्षा की जा सकती है।

इस दृष्टि से समस्त पदार्थ दो वर्गों में विभाजित हो सकते हैं। जिनमें विद्युत् एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकता है यथा धातु। उन्हें चालक (conductor) पदार्थ कहते हैं। और कांच, लाख, आदि के समान विद्युत् को स्थान परिवर्तन न करने देने वाले पदार्थों को अचालक (non-conductor) कहते हैं। मनुष्य का शरीर भी चालक है तब ही तो हाथ से स्पर्श करते ही आविष्ट धातु की छड़ का विद्युत् नष्ट हो जाता है।

अब समझना कठिन नही कि चालक वस्तु को हाथ में पकड़ कर रगड़ने से हम उसमे विद्युत् नहीं पा सकते क्योंकि जितना विद्युत् उत्पन्न होता जाता है उतना ही तुरन्त हमारे शरीर में होकर समस्त पृथ्वी मे फैल जाता है। किन्तु कांच का दस्ता लगा देने से यह विद्युत् धातु की छड़ से बाहर नही जा सकता।

किन्तु यह न समझना चाहिये कि चालक तथा अचालक पदार्थों मे कुछ ऐसा भेद है कि जिससे उक्त दो वर्ग सर्वथा एक दूसरे से भिन्न हों। वास्तव मे प्रत्येक पदार्थ में कुछ न कुछ चालकता होती है। जिनमें यह चालकता बहुत ही थोड़ी होती है उन्हें हम अचालक कह देते हैं। जिनमें अचालकों से कुछ अधिक हो उन्हे कुचालक कहते हैं और जिन पदार्थो मे इसकी मात्रा अधिक होती है वे सुचालक कहलाते हैं। गंधक, कांच, चीनी मिट्टी, लाख, रेशम, तेल, अभ्रक अचालक हैं। सूखी लकड़ी, ऊन, कागज आदि कुचालक हैं और सभी प्रकार की धातुएँ सुचालक हैं। पानी भी कुचालक है। कांच आदि कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं जिनके पृष्ठ पर आर्द्र आयु में जल की एक पतली तह जम जाती है। इस कारण वास्तव में अचालक होने पर भी इनमें थोड़ी बहुत चालकता देखी जाती है।

यह स्पष्ट है कि जिस किसी वस्तु पर हमें विद्युत् को स्थिर रखना हो उसे इस प्रकार रखना आवश्यक है कि वह केवल अचालक वस्तुओं को स्पर्श करे। चालक वस्तुओं से वह पृथक् रहे। इसलिए उस आविष्ट वस्तु को या तो रेशम इत्यादि से लटका देते हैं, या उस पर कांच या लाख का दस्ता लगा देते हैं या अन्य अचालक वस्तुओं का आधार या उपष्टंभ (stand) बनाकर उस पर उसे रख देते हैं। इस दृष्टि से अचालक वस्तुएँ विलागक (insulator) भी कहलाती हैं। और जो वस्तु

इस प्रकार चालक वस्तुओं से पृथक् कर दी गई हो वह विलगित (insulated) कहलाती है। गंधक, लाख या चमड़ा, स्फटिक (quartz) और एबोनाइट अच्छे विलागक समझे जाते हैं। कांच भी अच्छा विलागक हो सकता है यदि उस पर लाख का वार्निश लगाकर उसके पृष्ठ की रक्षा आर्द्र होने से कर दी जाय।

7·05—**सुवर्ण-पत्र विद्युत्‌दर्शी** (Gold-leaf Electroscope)। यद्यपि रेशम के तागे से लटकी हुई काग या सरकंडे की गोली के द्वारा विद्युत् के अस्तित्व का पता लग सकता है और यह भी मालूम हो जाता है कि वह विद्युत् धन है या ऋण तथापि बहुत से प्रयोगों के लिए इससे अधिक सुग्राही (sensitive) विद्युत्‌दर्शी की आवश्यकता होती है। सुवर्ण-पत्र विद्युत-दर्शी ऐसा यंत्र है। इसका सबसे आवश्यक अवयव एक जोड़ा सोने के वरक हैं। इसी से इस यंत्र का नाम सुवर्ण-पत्रविद्युत्-दर्शी पड़ा है। चित्र 7·02 में जो विद्युत्‌दर्शी है उसमें केवल एक ही सुवर्ण पत्र है जो पीतल की पत्ती पर चिपका है। क धातु का बना हुआ डिब्बा है। इसके दो तरफ कांच लगा है। ऊपर बड़ा सा एक छेद है जिसमें रबड़ या एबोनाइट का डाट लगा है। इस डाट के बीच में लाख, गंधक, एबोनाइट अथवा अन्य विलागक की एक नली **न** लगी है जिसके रंध्र में पीतल की एक छड बैठा दी गई है। इस छड के ऊपर के सिरे पर एक पीतल की मंडलाकार पट्टिका **प** लगा दी गई है और नीचे के सिरे पर सोने का वरक **स** पत्ती **फ** पर चिपका दिया गया है।
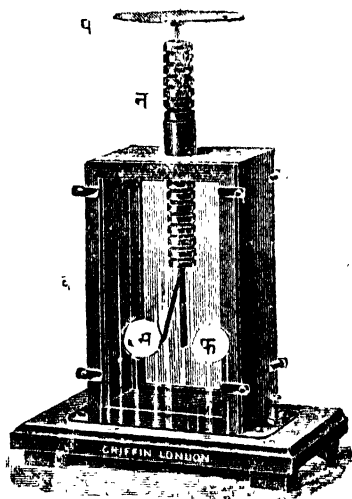
चित्र 7.02

यह सुवर्ण-पत्र मामूली तौर पर ऊर्ध्वाधर लटकता रहता है। किन्तु यदि आविष्ट लाख या काँच की छड़ इस विद्युत्‌दर्शी की पट्टिका से स्पर्श करादी जाय तो क्रमश: ऋण या धन आवेश पीतल की पट्टिका तथा छड़ और सुवर्ण-पत्र में प्रवेश कर जाता है। तथा **फ** और **स** में एक ही जाति का आवेश होने के कारण वे परस्पर प्रतिकर्षण करते हैं। अतः सुवर्ण-पत्र ऊर्ध्वाधर नहीं रह सकता। उसकी स्थिति चित्र 7·02 के समान हो जाती है।

अब मान लीजिये कि यह विद्युत्दर्शी धनाविष्ट कर दिया गया है। यदि कोई धनाविष्ट वस्तु इसकी पट्टिका के समीप लाई जाय तो प्रतिकर्षण के कारण पट्टिका तथा छड़ का विद्युत् भी सुवर्णपत्र पर पहुँच जायगा तथा वह और भी अधिक उठ जायगा। किन्तु यदि ऋणाविष्ट वस्तु पट्टिका के पास लाई जाय तो सुवर्णपत्र का विद्युत् भी आकृष्ट होकर पट्टिका पर पहुँच जायगा। अतः सुवर्णपत्र विद्युत् रहित होकर सीधा लटक जायगा। इस प्रकार हम आविष्ट वस्तु को इस पट्टिका के निकट लाकर यह जान सकते है कि उस पर विद्युत् धन है या ऋण।

किन्तु यदि अनाविष्ट वस्तु भी इसके निकट लाई जाय तब भी सुवर्णपत्र नीचे लटक जायगा। क्योंकि हम देख चुके है कि अनाविष्ट वस्तु भी विद्युत् को आकर्षित करती है। अतः उपर्युक्त प्रयोग मे सुवर्ण-पत्र के उठान के कम हो जाने से हम नही कह सकते कि जो वस्तु उसकी पट्टिका के निकट लाई गई वह ऋणाविष्ट थी या अनाविष्ट। इस संशय को मिटाने का उपाय यह है कि विद्युत्दर्शी का धन विद्युत् पट्टिका को हाथ से स्पर्श कर के दूर कर दिया जाय और तब उसे ऋणाविष्ट कर दिया जाय। अब यदि वही वस्तु फिर उसकी पट्टिका के निकट लाई जाय और पत्र का उठान बढ़ जाय तब तो ज्ञात हो जायगा कि वस्तु ऋणाविष्ट थी। किन्तु यदि अब भी पहले ही की भाँति पत्र का उठान घट जाय तो समझना होगा कि वस्तु अनाविष्ट थी।

यह विद्युत्दर्शी इस प्रकार बहुत ही थोड़े परिमाण के विद्युत् के अस्तित्व तथा उसकी जाति का पता लगा सकता है। इसकी सुग्राहिता का कारण यह है कि सुवर्ण-पत्र बहुत हलका होता है और बहुत ही थोड़ा प्रतिकर्षण बल उसे उठा देने में समर्थ हो जाता है। आजकल ऐल्युमीनियम के पत्रों का भी इस मे व्यवहार होता है। किन्तु यद्यपि यह धातु सुवर्ण की अपेक्षा बहुत हलकी होती है तथापि उसके वरक उतने पतले नही बनाये जा सकते। इस कारण अब भी संभवतः सुवर्णपत्रों की सुग्राहिता ही अधिक होती है।

अब इस विद्युत्दर्शी के निर्माण में बहुत उन्नति कर ली गई है और कई प्रकार के नापों के लिए यह बहुत ही अच्छा यंत्र बन गया है।

7·06. **धन तथा ऋण विद्युत् की एक ही साथ उत्पत्ति**। इस सुवर्णपत्र विद्युत्-दर्शी की सहायता मे हम बड़ी आसानी से प्रमाणित कर सकते हैं कि जब कभी घर्षण के द्वारा हम काँच पर धन विद्युत् उत्पन्न करते है तब काँच को रगड़ने वाले रेशम पर भी उसी समय ऋण-विद्युत् प्रगट होता है। लाख को ऊन से रगड़ने से यदि लाख पर ऋण विद्युत् उत्पन्न होता है तो ऊन पर धन विद्युत् भी उत्पन्न हो जाता है। वस्तुतः

दो वस्तुओं को रगड़ने से केवल एक ही प्रकार के विद्युत् की उत्पत्ति कभी नहीं होती। एक वस्तु पर धन विद्युत् आ जाता है और दूसरी पर ऋण विद्युत्।

यह बात देखने का सबसे सुगम उपाय यह है कि लाख की मोटी छड़ पर बैठती हुई ऊन की एक टोपी बनाई जाय। इस टोपी के रेशम का एक तागा बाँध दिया जाय। छड़ को टोपी पहना कर और टोपी को घुमा-घुमा कर खूब रगड़ा जाय। तब तुरन्त रेशम के तागे से खींच कर टोपी छड़ से अलग कर दी जाय। ध्यान रहे कि पृथक् करते समय या उसके पीछे टोपी को हाथ स्पर्श न करे। अब यदि सुवर्ण-पत्र विद्युत्दर्शी से छड़ और टोपी की बारी-बारी से परीक्षा करें तो स्पष्ट हो जायगा कि छड़ पर ऋण विद्युत् है और टोपी पर धन विद्युत्।

यही क्यों इस प्रयोग से यह भी प्रमाणित हो जाता है कि धन तथा ऋण विद्युत् का परिमाण भी बराबर है। क्योंकि यदि छड़ और टोपी दोनों को रगड़ने के बाद पृथक् न करे और उन्हें एक ही साथ विद्युत्दर्शी के निकट लावें तो हम देखेंगे कि विद्युत्दर्शी इन दोनों के समुदाय को अनाविष्ट बतावेगा। किन्तु पृथक् करते ही एक में धन तथा दूसरे में ऋण विद्युत् देख पड़ेगा।

7·07—**धन तथा ऋण नामों की उचितता**। यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि धन विद्युत् और ऋण विद्युत् ये नाम क्यों चुने गये। विद्युत् दो प्रकार का होता है। अतः दो अलग-अलग नामों की आवश्यकता तो है ही। किन्तु ये नाम एक दूसरे से उलटे क्यों होने चाहिये? पिछले प्रकरण के छड़ और टोपी वाले प्रयोग से इसका कारण समझ में आ जायगा। वहाँ हम बतला चुके हैं कि विद्युत्दर्शी पर छड़ के विद्युत् का जो प्रभाव होता है उसे टोपी का विद्युत् बिलकुल नष्ट कर देता है। टोपी का प्रभाव छड़ से उलटा पड़ता है। यदि पहले अकेली छड़ को विद्युत्दर्शक के निकट रक्खे और तब टोपी को भी धीरे-धीरे उसके निकट लावें तो यह विपरीतता और भी स्पष्ट हो जाती है। पत्रों का फैलाव धीरे-धीरे घटता जायगा। गणित में धन-राशि में ऋण-राशि को जोड़ने से जो परिणाम होता है वही धन-विद्युत् के प्रभाव में ऋण-विद्युत् का प्रभाव सम्मिलित करने से होता है। यहाँ तक कि यदि दोनों का परिमाण बराबर हो तो योगफल शून्य हो जाता है। यही कारण है कि दो प्रकार के विद्युत् के लिए दो परस्पर विरोधदर्शी नाम चुने गए हैं।

7·08—**विद्युत् की उत्पत्ति का वास्तविक कारण**। आधुनिक खोज से पता चला है कि जब कभी दो भिन्न धातुओं का स्पर्श होता है तब ही उनमें विद्युत् उत्पन्न

हो जाता है। एक धातु धनाविष्ट हो जाती है और दूसरी ऋणाविष्ट। इसमें रगड़ या घर्षण की भी आवश्यकता नहीं है। यह सच है कि यह विद्युत् इतना थोड़ा होता है कि उसका पता लगाने के लिए विशेष प्रकार के सुग्राही यंत्रों की आवश्यकता होती है। किन्तु अब ऐसे यंत्रों का अभाव नही है।

अतः हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि ऊपर घर्षण से विद्युत् की उत्पत्ति का जो वर्णन किया गया है उसमें भी घर्षण मुख्य बात नही है। वास्तविक कारण तो दो भिन्न पदार्थों का स्पर्श ही है। घर्षण की आवश्यकता तो हमें यों पडती है कि काँच, लाख, रेशम आदि सब पदार्थ अचालक है। अतः इनका परस्पर स्पर्श केवल एक स्थान पर स्पर्श कराने से अच्छी तरह नहीं हो सकता। घर्षण के द्वारा सर्वत्र अच्छा स्पर्श हो जाता है और हमे यथेष्ट परिमाण में विद्युत् प्राप्त हो सकता है।

यही कारण है कि घर्षण मे हम जितनी ऊर्जा का व्यय करते है उससे विद्युत् की उत्पत्ति में कुछ भी सहायता नही मिलती। जो ऊर्जा हम व्यय करते है वह सब तो ऊष्मा के रूप में हमारे पट्ठों को गरम करने मे ही खर्च होती है। वैद्युत ऊर्जा तो केवल उस ऊर्जा के बराबर होती है जो हम दोनों आविष्ट वस्तुओं को पृथक् करने में घर्षण के बाद खर्च करते है।

7·09—**प्रेरण** (Induction)। जिस प्रकार चुम्बक-ध्रुव को लोह-दंड के निकट लाने पर प्रेरण होता है और उस दंड का एक सिरा उत्तर-ध्रुव तथा दूसरा
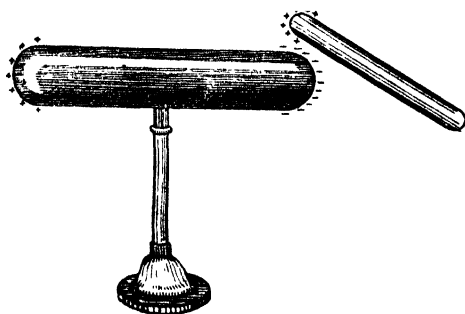
चित्र 7·03

सिरा दक्षिण-ध्रुव बन जाता है ठीक उसी प्रकार यदि हम किसी विलगित चालक के निकट कोई धनाविष्ट छड़ लावें तो चालक में विद्युत् का प्रेरण हो जाता है (चित्र 7·03)। छड़ के निकट वाला भाग ऋणाविष्ट हो जाता है और दूसरा भाग धनाविष्ट। इसकी परीक्षा सुवर्ण-पत्र विद्युत्दर्शी और परीक्षा-पट्टिका

(proof plane) के द्वारा आसानी से हो सकती है। इस परीक्षा-पट्टिका में पीतल की एक छोटी सी पट्टिका प्रायः आधे या एक इंच व्यास की होती है। और उसके एबोनाइट या वार्निश किये हुए काँच का दस्ता लगा रहता है। किसी चालक से स्पर्श कराने पर इस पट्टिका में वही विद्युत् आ जाता है जो स्पर्शस्थान पर विद्यमान् हो। विलागक दस्ते के द्वारा पकड़कर इस परीक्षा-पट्टिका को विद्युत्दर्शी के पास ले जा कर आप तुरन्त देख सकते हैं कि उसमें ऋण विद्युत् है या धन विद्युत्।

दोनों सिरों पर दो प्रकार के विद्युत् का अस्तित्व प्रमाणित कर देने के बाद यदि आप आविष्ट छड़ को दूर हटालें और तब फिर दोनों सिरों की परीक्षा करें तो आप देखेंगे कि उनपर विद्युत् का कोई भी निशान बाकी नही है। इस बात से ऐसा जान पड़ता है मानो छड़ की उपस्थिति में जो दो प्रकार के विद्युत् सिरों पर उत्पन्न हुए थे छड़ के हटते ही पुनः उनका संमिश्रण हो गया। यह धन तथा ऋण इन नामों के औचित्य का एक और प्रमाण है।

यद्यपि उपर्युक्त प्रयोगो मे चुम्बकीय प्रेरण तथा वैद्युत प्रेरण बिलकुल एक से मालूम होते है तथापि इनमे भेद है। प्रेरित उत्तर और दक्षिण ध्रुवो को हम पृथक् कभी नही कर सकते। किन्तु प्रेरित धन और ऋण विद्युत् बिना कठिनाई के ही पृथक् हो सकते हैं। **क** और **ख** दो विलगित चालक हैं। प्रत्येक के साथ एक-एक सुवर्ण-पत्र विद्युत्-दर्शी का सम्बंध है। इन्हें या तो इतने निकट रख दो कि वे आपस में स्पर्श करलें (चित्र 7·04) या किसी धातु की छड़ या तार के द्वारा इनका पारस्परिक स्पर्श करा दो। अब धनाविष्ट छड़ **क** के निकट लाकर उसकी उपस्थिति में ही इन्हें अलग कर दो। इसके बाद छड़ को भी हटा लो। दोनों विद्युत्दर्शियों के सुवर्णपत्र फैले रहेंगे। परीक्षा करके देख लो कि **क** पर ऋण-विद्युत् विद्यमान है और **ख** पर धन-विद्युत्। दोनों विद्युत् पृथक् भी हो गये हैं और अब वे **क** और **ख** पर स्थायी रूप से स्थित हैं। जब तक किसी चालक के द्वारा इनका विद्युत् अन्यत्र न चला जाय तब तक दोनों हीं आविष्ट बने रहेंगे।
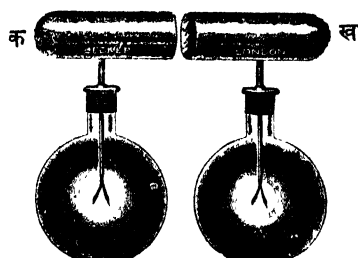
चित्र 7·04

यदि इस प्रयोग में छड़ ऋणाविष्ट हो, तो क पर धन-विद्युत् रहेगा और ख पर ऋण-विद्युत्।

7·10—प्रेरण के द्वारा आविष्ट करने की विधि। ऊपर के प्रथम प्रयोग में यदि छड़ की उपस्थिति में ही हम **क** या **ख** (चित्र 7·04) को उंगली से स्पर्श कर दें तो हमारे शरीर की चालकता के कारण **क ख** का पृथवी से सम्बंध हो जाता है और अब वास्तव में **क ख**, हमारा शरीर और पृथ्वी सब मिलकर एक विशाल चालक बन जाता है। प्रेरण से **क** पर ऋण-विद्युत् उत्पन्न होता है और इस विशाल चालक के दूसरे छोर पर धन-विद्युत्। इसी स्थिति में छड़ को हटाने से पहले ही यदि हम अपनी उंगली **क ख** पर से हटा लें तो **क** पर केवल ऋण-विद्युत् रह जायगा। अब छड़ को हटा लेने पर भी **क** में ऋण-विद्युत् स्थायी रूप से विद्यमान रहेगा। इस प्रकार आविष्ट वस्तु के स्पर्श के बिना ही **क** आविष्ट कर दिया गया। किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि इस प्रकार प्रेरण से आविष्ट करने पर जो विद्युत् **क** पर उत्पन्न होता है वह प्रेरक वस्तु (छड़) के आवेश से असमान होता है। यदि स्पर्श के द्वारा **क** में विद्युत् उत्पन्न किया जाता तो वह सजातीय होता। इसके अतिरिक्त प्रेरण की क्रिया में छड़ का आवेश कुछ भी कम नहीं होता। किन्तु स्पर्श के द्वारा जब **क** को आविष्ट करें तो अवश्य ही छड़ के आवेश में कमी आ जायगी। अतः यह भी स्पष्ट है कि प्रेरण के द्वारा उसी छड़ से हम अनेक वस्तुओं में ऋण-विद्युत् उत्पन्न कर सकते हैं और यदि किसी उपाय से इन सब वस्तुओं का विद्युत् इकट्ठा कर लिया जाय तो छड़ के विद्युत् से कई गुणा अधिक विद्युत् हमें किसी दूसरी वस्तु पर प्राप्त हो सकता है। ऐसे उपायों का वर्णन आगे चल कर किया जायगा।

इस बात में भी चुम्बकीय तथा वैद्युत प्रेरण में समानता है। एक ही चुम्बक लोहे की अनेक छड़ों को चुम्बकित कर सकता है और इस क्रिया में उसका चुम्बकत्व कुछ भी नहीं घटता। वास्तव में प्रेरित चुम्बकत्व या विद्युत् की ऊर्जा प्रेरक चुम्बक या आविष्ट वस्तु में से नहीं आती। प्रेरक को प्रेरित विद्युत् अथवा चुम्बक-ध्रुव से पृथक करन में आकर्षण के विरुद्ध जो यांत्रिक ऊर्जा हमें खर्च करनी पड़ती है वही विद्युत् अथवा चुम्बकत्व की ऊर्जा का रूप धारण करती है।

प्रेरण के द्वारा आविष्ट करने की यह विधि विद्युत्दर्शी को आविष्ट करने के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है। यदि विद्युत्दर्शी को धनाविष्ट करना हो तो ऊन से रगड़ कर लाख की छड़ को पहले ऋणाविष्ट कर लेते हैं। इस छड़ को विद्युत्दर्शी की पट्टिका के निकट लाते ही पट्टिका में धन-विद्युत् और सुवर्णपत्र में ऋण-विद्युत् प्रेरित हो जाता है। इसी से पत्र फैल जाते हैं। इसी अवस्था में लाख की छड़ को विद्युत्दर्शी से दूर हटाये बिना ही पट्टिका को हाथ से स्पर्श कर दीजिए। पत्र तुरन्त अनाविष्ट होकर नीचे लटक जायेंगे क्योंकि अब प्रेरित ऋण-विद्युत् पृथ्वी

पर स्थित होगा। हाथ को पट्टिका पर से हटा लीजिये। और तब लाख की छड़ को भी हटा लीजिये। पट्टिका पर का धन-विद्युत् अब पट्टिका पर ही एकत्रित न रहेगा। वह फैल कर सुवर्णपत्रों पर भी पहुँच जायगा। और पत्र फैल जावेंगे।

यदि विद्युत्दर्शी को ऋणाविष्ट करना हो तो काँच की छड़ को रेशम से रगड़ कर उसके द्वारा करना चाहिए।

7·11—**अनाविष्ट वस्तुओं के आकर्षण का कारण**। प्रेरण की घटना को समझ लेने पर यह भी समझ में आ गया होगा कि आविष्ट वस्तु अनाविष्ट वस्तु को आकर्षित क्यों करती है। स्पष्ट ही है कि पहले प्रेरण के द्वारा आविष्ट वस्तु अनाविष्ट वस्तु के निकट भाग में विजातीय आवेश उत्पन्न कर देती है। और तब उस विजातीय विद्युत् को आकर्षित करती है। प्रेरित सजातीय विद्युत् अधिक दूरी पर रहता है। अतः उस पर प्रतिकर्षण बल भी कम लगता है। अतः दोनों प्रकार के बलों की उपस्थिति में भी आकर्षण की अधिकता के कारण अनाविष्ट वस्तु आकर्षित हो जाती है चाहे आविष्ट वस्तु पर धन आवेश हो या ऋण।

7·12—**विद्युत् सम्बंधी सिद्धान्त**। घर्षण के द्वारा विद्युत् की उत्पत्ति तथा प्रेरण की घटनाओं का रहस्य समझने के लिए समय-समय पर अनेक कल्पनाएँ की गई थी। ज्यों-ज्यों नवीन घटनाएँ ज्ञात होती गई त्यों-त्यों इन कल्पनाओं में भी हेर फेर होता रहा है। इसका इतिहास भी रोचक है। अतः आधुनिक सिद्धान्त का वर्णन करने से पहले इन प्राचीन कल्पनाओं का भी संक्षेप में वर्णन कर देना अनुचित न होगा।

(1) सबसे प्रथम और मूल कल्पना तो यह थी कि आविष्ट वस्तुओं में विद्युत् नामक कोई पदार्थ भर जाता है। यह पदार्थ क्या है, द्रव्य है, या ऊर्जा अथवा इन दोनों से भिन्न कोई और, इन प्रश्नों का उत्तर देने का उस समय कोई साधन न था। अतः इस संबंध मे कोई मत नहीं बन सका। किन्तु चालकता और अचालकता की घटना ने यह अवश्य ही बतला दिया कि विद्युत् चाहे कुछ हो किन्तु उसमें स्थान परिवर्तन करने का या बहने का गुण अवश्य है। अतः वह द्रव या गैस के समान एक प्रकार का तरल (fluid) मान लिया गया।

(2) सिमर (Symmer) नामक विद्वान ने यह स्थिर किया कि विद्युत् तरल दो प्रकार के होते हैं जिन्हें धन-तरल और ऋण-तरल कह सकते हैं। अनाविष्ट वस्तुओं में दोनों तरल समान मात्रा में विद्यमान रहते हैं। घर्षण के कारण

एक वस्तु में धन-तरल की अधिकता हो जाती है और दूसरे में ऋण-तरल की। इसी से धन तथा ऋण विद्युत् सदैव एक ही साथ तथा बराबर मात्रा में उत्पन्न होते हैं। आकर्षण तथा प्रतिकर्षण के गुण भी इन्हीं तरलों में होते हैं। और इन्हीं गुणों के कारण प्रेरण होता है। आविष्ट वस्तु का विद्युत् तरल अनाविष्ट चालक के विजातीय तरल को खीच कर अपने निकट ले आता है किन्तु सजातीय तरल को दूर भगा देता है। प्रेरक वस्तु को हटा लेने पर दोनों तरल पुनः मिल जाते हैं। इस सिद्धान्त का नाम **द्वि-तरल सिद्धान्त** पड़ गया।

(3) अमेरिका के सुप्रसिद्ध बेंजमिन फ्रैंकलिन (Franklin) ने इस के स्थान में **एक-तरल सिद्धान्त** का प्रचार किया। इसके अनुसार विद्युत्-तरल एक ही प्रकार का होता है। संसार की प्रत्येक वस्तु में यह कुछ परिमाण में भरा रहता है। जब किमी वस्तु में इसका परिमाण उक्त सामान्य परिमाण से बढ जाता है तो उसमें एक प्रकार के विद्युत् के गुण प्रगट हो जाते हैं। और जब यह परिमाण घट जाता है तो दूसरे प्रकार के विद्युत् के गुण प्रगट होते हैं। यह कहना असम्भव है कि इस तरह की अधिकता से धन-विद्युत् होता है या ऋण-विद्युत्। फ्रैंकलिन ने सुविधा के लिए यह मान लिया कि तरल की अधिकता धन-विद्युत् का कारण है। यह विद्युत्-तरल जड़ द्रव्य को आकर्षित कर लेता है। किन्तु विद्युत्-तरल को प्रतिकर्षित करता है। इस दृष्टि से अनाविष्ट वस्तु वह है जिसके जड़-द्रव्य का आकर्षण और विद्युत्-तरल का प्रतिकर्षण समस्त वाह्य वस्तुओं पर बराबर हो। इस सिद्धान्त के द्वारा भी बहुत मी बातें समझ मे आ जाती थीं और सिमर के सिद्धान्त से यह कुछ सरल भी था। अतः इसका प्रचार भी खूब हुआ। यदि धन और ऋण नामों को उलट दिया जाय तो आधुनिक सिद्धान्त से इसका बहुत कुछ सादृष्य हो जाय।

इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि जहाँ द्वि-तरल सिद्धान्त यह बताता था कि विद्युत् दो प्रकार का होता है, एक-तरल सिद्धान्त यह कहता है कि विद्युत् तो एक ही प्रकार का है, किन्तु आविष्ट अवस्था दो प्रकार की होती हैं। एक में विद्युत्-तरल की अधिकता होती है और दूसरे में उसकी कमी।

(4) इसके बाद फ़ैरेडे (Faraday) ने जिस प्रकार चुम्बकीय घटनाओं का कारण ईथर (ether) नामक माध्यम का विकार बतलाया था, उसी प्रकार उन्हों ने विद्युत् का कारण भी वैद्युत-माध्यम का विकार बतलाया। इस धारणा के कारण बहुत समय तक लोगों का ध्यान विद्युत् नामक पदार्थ पर से हट कर इस माध्यम के अध्ययन में लग गया। इसका कुछ विस्तृत विवरण आगे के परिच्छेद में दिया

जायगा। किन्तु अनेक आधुनिक खोजों से पुनः वैज्ञानिकों को विद्युत् की ओर ध्यान देने के लिए बाध्य होना पड़ा है।

(5) सबसे अधिक महत्व की बात जो इस आधुनिक खोज के द्वारा ज्ञात हुई है वह यह है कि जिस प्रकार जड़ द्रव्य अणु-परमाणु मय होता है ठीक उसी प्रकार विद्युत् भी कणिकामय है। जिस प्रकार जल स्थूल दृष्टि से बिलकुल अविच्छिन्न जान पड़ता है किन्तु वास्तव मे उसमे के अणु पृथक्-पृथक् हैं और उनके बीच में बहुत सा शून्य अवकाश भी है तथा इनमें से किसी भी अणु के और छोटे भाग करने पर वह जल नहीं रह जाता ठीक उसी प्रकार विद्युत् की भी अत्यन्त सूक्ष्म कणिकाएँ होती हैं। ये सब कणिकाएँ बराबर परिमाण की होती है तथा इनसे छोटे परिमाण में विद्युत् का अस्तित्व कभी देखा नही गया। इस दृष्टि से लारेंट्ज (Lorentz) ने द्वि-तरल सिद्धान्त मे विद्युत् के दो प्रकार के संतत (continuous) तरलों के स्थान मे दो प्रकार की कणिकाओं की कल्पना की। इसके अनुसार धनाविष्ट वह वस्तु होगी जिसमे धन-कणिकाओं की अधिकता हो और ऋणाविष्ट वह होगी जिसमे ऋण-कणिकाओं की अधिकता हो।

(6) किन्तु जब ऋण-विद्युत् की कणिकाओ का अस्तित्व निश्चित रूप से प्रमाणित हो गया और उनका आकार, भार आदि सब कुछ ठीक-ठीक नाप लिया गया और तब भी जड़ पदार्थ के अणुओं को छोड़कर धन-विद्युत् की कोई भी कणिकाएँ पृथक् रूप से न मिली तब लारेंट्ज़ के सिद्धान्त में से धन-कणिकाओं को हटा देना पड़ा। अतः उस सिद्धान्त ने फ्रैंकलिन के एक-तरल सिद्धान्त का रूप धारण कर लिया और अब हम प्रत्येक घटना की व्याख्या विद्युत् की इन ऋण-कणिकाओ के द्वारा कर सकते हैं। इन कणिकाओं का नाम इलैक्ट्रान (electron) रख दिया गया है। यद्यपि अब धन-कणिकाओं का भी पता लग गया है और उनका नाम पाज़ीट्रान (positron) रख दिया गया है किन्तु तब भी इलैक्ट्रान सिद्धान्त में कुछ हेर-फेर करने की आवश्यकता नहीं हुई क्यों कि पाज़ीट्रान विद्युत्-सम्बन्धी साधारण घटनाओं में कुछ भी भाग नहीं लेते। इलैक्ट्रान का भार बहुत ही थोड़ा होता है–प्रायः सबसे छोटे द्रव्य-परमाणु (हाइड्रोजन परमाणु) के भी 1/1760 वें भाग के बराबर।

पाज़ीट्रान के अतिरिक्त एक और प्रकार की धनाविष्ट कणिका भी पाई गई है जिसे प्रोटान (proton) कहते हैं। इसमें विद्युत् तो उतना ही होता है जितना इलैक्ट्रान में या पाज़ीट्रान में किन्तु इसका भार होता है हाइड्रोजन परमाणु के बराबर। कुछ अनाविष्ट कणिकाएँ भी पाई गई हैं जिनका भार प्रोटान के बराबर ही होता है।

इन्हें न्यूट्रान (neutron) कहते हैं। सम्भवतः जड़ द्रव्य का सबसे छोटा परमकण यही है। और इसी के साथ एक पाज़ीट्रान के संयोग से प्रोटान उत्पन्न होता है।

इस विषय की चर्चा यहाँ अधिक करने की आवश्यकता नहीं है केवल यही काफी है कि आधुनिक मतानुसार प्रत्येक परमाणु के केन्द्र में प्रोटानों और न्यूट्रानों का एक समुदाय रहता है जिसका नाम नाभिक (nucleus) रखा गया है। इसका आकार अन्यन्त ही सूक्ष्म होता है। परमाणु का प्रायः समस्त भार इस नाभिक ही में रहता है। नाभिक के चारों ओर कई इलैक्ट्रान चक्कर लगाते रहते हैं। जिस प्रकार सूर्य के चारों ओर पृथ्वी, मंगल, बुध आदि ग्रह घूमते हैं उसी प्रकार ये इलैक्ट्रान भी नाभिक की परिक्रमा करते रहते हैं। इनमें से कुछ इलैक्ट्रान आसानी से अलग हो सकते हैं। जिस परमाणु में से एक या अधिक इलैक्ट्रान निकल गए हों उसे धन-आयन (cation) कहते हैं और वह धनाविष्ट होता है। यदि इस प्रकार निकला हुआ इलैक्ट्रान किसी अन्य परमाणु के इलैक्ट्रान समुदाय में सम्मिलित हो जाय तो वह परमाणु ऋणाविष्ट हो जाता है और वह ऋण-आयन (anion) कहलाता है।
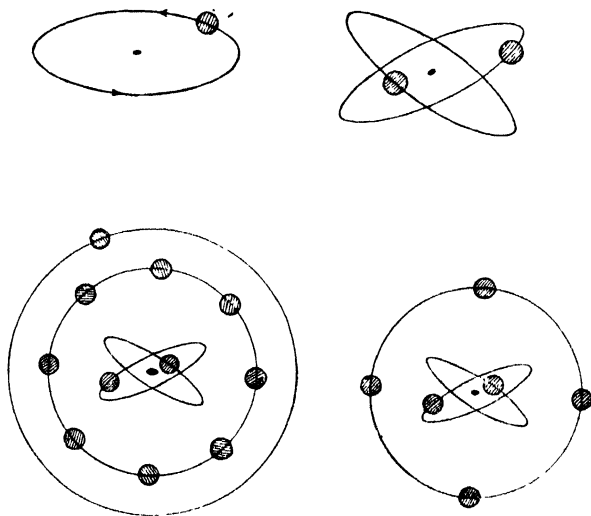
चित्र 7·05

प्रत्येक पदार्थ में परमाणुओं के पारस्परिक संघात के कारण अनेक परमाणु आयनित (ionised) हो जाते हैं और इस कारण प्रत्येक पदार्थ में परमाणुओं

से पृथक् भी अनेक इलैक्ट्रान स्वतन्त्र रूप से मुक्त अवस्था में घूमते रहते हैं। ये इलैक्ट्रान परस्पर प्रतिकर्षण करते हैं।

जब दो पदार्थों में घर्षण होता है तब इन मुक्त (free) इलैक्ट्रानों में से कुछ एक पदार्थ में से निकल कर दूसरे में चले जाते है। अतः प्रथम पदार्थ धनाविष्ट हो जाता है और द्वितीय ऋणाविष्ट। प्रेरण में भी वस्तु के एक ओर इलैक्ट्रानों की भीड़ लग जाती है ओर दूसरी ओर उनकी कमी हो जाती है। चालक पदार्थ वे हैं जिनमे ये इलैक्ट्रान आसानी से स्थान परिवर्तन कर सकते हैं और अचालक वे जिन में यद्यपि ये इलैक्ट्रान अपने स्थान से इधर उधर थोड़ा सा हिल सकते है किन्तु वहाँ से हट कर दूर नही जा सकते। इसी प्रकार अन्य समस्त घटनाएं भी इनइलैक्ट्रानों की सहायता से अब हमारी समझ मे आ सकती है।

फ्रैंकलिन के एक-तरल सिद्धान्त मे और इस इलैक्ट्रान-सिद्धान्त मे सबसे बड़ा मतभेद है तो यही है कि जहाँ फ्रैंकलिन तरल की अधिकता को धन-विद्युत् का कारण समझता था वहाँ अब हम इलैक्ट्रानों की अधिकता को ऋण-विद्युत् का कारण मानते हैं।

7·13—**विद्युत् सदा चालक के वाह्य पृष्ठ पर रहता है**। यह बात नीचे लिखे प्रयोगों के द्वारा प्रकट होती है।

चित्र 7·06

(1) चित्र 7·06 की आकृति का धातु का एक तंग और गहरा डिब्बा या गोला किसी विलागित आधार (stand) पर रख दो और उसे स्पर्श के द्वारा अथवा प्रेरण के द्वारा आविष्ट कर दो। तब परीक्षा-पट्टिका की सहायता से उसके भीतर के पृष्ठ की परीक्षा करो। आप
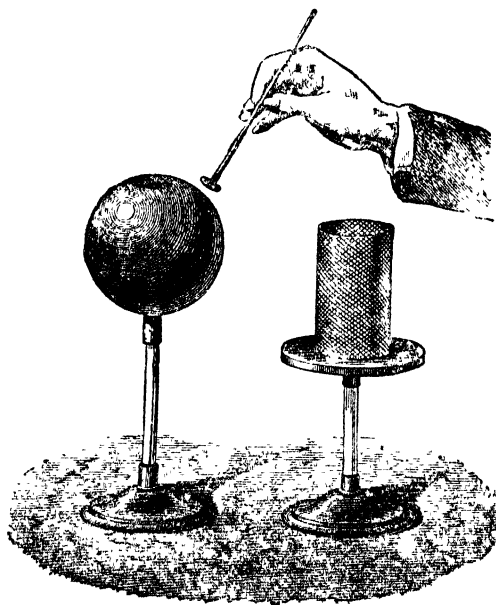
को वहाँ किसी भी प्रकार के आवेश का पता न चलेगा। किन्तु परीक्षा-पट्टिका को बाहरी पृष्ठ से स्पर्श करने पर वह अवश्य ही आविष्ट प्रमाणित हो जायगा।

(2) उपर्युक्त डिब्बे को हाथ से स्पर्श करके अनाविष्ट कर दो। रेशम के डोरे से एक पीतल की गोली लटका कर उसे आविष्ट कर दो। अब इस गोली को डिब्बे के भीतर डाल कर डिब्बे से स्पर्श कर दो। फिर गोली को बाहर निकाल कर उसकी विद्युत्दर्शी द्वारा परीक्षा करो। वह बिलकुल अनाविष्ट निकलेगी और परीक्षा-पट्टिका के द्वारा देखने पर डिब्बे का बाहरी पृष्ठ आविष्ट निकलेगा और भीतरी पृष्ठ अनाविष्ट। इससे ज्ञात होता है कि जब गोली ने डिब्बे के भीतरी पृष्ठ को स्पर्श किया और गोली डिब्बे ही का एक भाग बन गई तब आवेश उस पर से निकल कर डिब्बे के बाहरी पृष्ठ पर चला गया।

(3) फ़ैरेड ने इसी बात को प्रमाणित करने के लिए मलमल या जाली के कपड़े को सीकर तितली पकड़ने का जाल तैयार किया (चित्र 7·07)। इस शंक्वाकार (conical) जाल की नोक पर रेशम के तागे बाँध दिये जिन्हें खीचकर जाल को जब चाहे उलट सकते हैं। अर्थात् जब चाहें भीतरी पृष्ठ को बाहर की ओर ला सकते हैं। इस जाल को विलागित आधार पर लगा कर उसे आविष्ट किया गया। परीक्षा-पट्टिका के द्वारा पता चला कि आवेश बाहरी पृष्ठ पर है। डोरा दूसरी ओर खीच कर इस आविष्ट पृष्ठ को भीतर की ओर कर दिया। अब आवेश इस पृष्ठ पर बिलकुल न रहा और फिर बाहर ही के पृष्ठ पर चला आया।
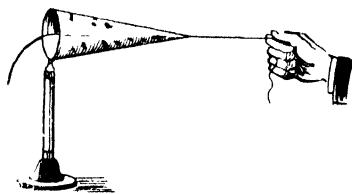
चित्र 7·07

7·14—विद्युत् के प्रभाव से रक्षा करने का उपाय। इन प्रयोगों से एक बड़ी लाभदायक बात यह मालूम हो गई कि किसी वस्तु को आविष्ट वस्तुओं के प्रभाव से कैसे बचाया जाय। स्पष्ट ही है कि यदि उस वस्तु को किसी धातु के डिब्बे के भीतर रख दें तो डिब्बे पर चाहे जितना विद्युत् उत्पन्न कर दिया जाय वह उसके बाहरी पृष्ठ पर ही रहेगा। उसके भीतर रखी हुई वस्तु पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा। इस प्रकार वैद्युत प्रभाव से रक्षा करने का नाम परिरक्षण (shielding) रख दिया गया है।

फ़ैरेडे ने इस परिरक्षण की परीक्षा करने के लिए प्रायः 12 फ़ुट लम्बा चौड़ा एक घनाकार पिंजड़ा बनवाया था। इसका चौखटा लकड़ी का बना था और वह कागज से मढ़ दिया गया था। फिर इस पर तांबे का तार लपेट कर तथा टीन की पत्ती चिपका कर इसका पृष्ठ अच्छा चालक बना दिया गया। फैरेडे स्वय इसके भीतर चला गया और विद्युत्दर्शी आदि यंत्र भी साथ लेता गया। इसके बाद बड़-बड़े विद्युत् यंत्रों द्वारा पिंजड़े को इतना आविष्ट किया गया कि उसके बाहरी पृष्ठ से बिजली की चिनगारियाँ निकलने लगी। किन्तु फैरेडे को पिजड़े के अन्दर कुछ भी कष्ट न हुआ और न वह वहाँ किसी भी यत्र द्वारा विद्युत् के अस्तित्व का कुछ पता चला सका।

7·15—**किसी वस्तु का पूरा आवेश किसी दूसरी वस्तु को दे देने के उपाय।** यह कई बार कहा गया है कि यदि आविष्ट वस्तु किसी अनाविष्ट किन्तु विलागित वस्तु से स्पर्श करे तो अनाविष्ट वस्तु भी आविष्ट हो जाती है। किन्तु इस क्रिया मे जो आवेश पहली वस्तु पर था उसी का वितरण दोनों वस्तुओं पर हो जाता है। उसका कुछ भाग दूसरी वस्तु पर चला जाता है और कुछ पहली ही पर रह जाता है। ऐसा नही हो सकता कि आविष्ट वस्तु का सारा ही आवेश अनाविष्ट वस्तु में चला जाय। किन्तु यदि अनाविष्ट वस्तु खोखली हो और वह आविष्ट वस्तु को चारो ओर से ढक ले तो स्पर्श होते ही सारा आवेश अनाविष्ट वस्तु के बाहरी पृष्ठ पर चला जायगा। इस उपाय से उस अनाविष्ट वस्तु को हम जितना चाहे उतना आवेश दे सकते है। उसमें बहुत अधिक विद्युत् की मात्रा हो जाने पर भी जो कोई आविष्ट वस्तु उसके भीतरी पृष्ठ को स्पर्श करेगी उसका सारा आवेश निकल कर अवश्य ही बाहरी पृष्ठ पर चला आयगा। इस बात का अत्यन्त लाभकारी उपयोग अनु० 12·07 में बताया गया है।

7·16—**प्रेरक और प्रेरित विद्युत् का परिमाण बराबर होता है।** ऊपर दिये हुए डिब्बे वाले प्रयोग को यदि हम प्रेरण की दृष्टि से देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि आवेश बाहरी पृष्ठ पर क्यों चला जाता है। जब अनाविष्ट गोली डिब्बे के भीतर डाली जाती है तो वह डिब्बे के भीतरी पृष्ठ पर ऋण-विद्युत् प्रेरित करती है और बाहरी पृष्ठ पर धन-विद्युत्। गोली का विद्युत् भीतरी पृष्ठ के विद्युत् को आकर्षित करता है और जब गोली डिब्बे से छू जाती है तब ये दोनों विद्युत् मिलकर लुप्त हो जाते हैं। और केवल बाहरी पृष्ठ पर का धन-विद्युत् बच जाता है।

अतः इस प्रयोग से जो वास्तविक परिणाम निकलता है वह यह है कि गोली का धन-विद्युत् डिब्बे के भीतरी पृष्ठ पर जो ऋण-विद्युत् प्रेरित करता है वह परिमाण

में गोली के धन-विद्युत् के बराबर ही होता है। इस बात की और भी अच्छी तरह परीक्षा करने के लिए उस डिब्बे को विद्युत्दर्शी की पट्टिका पर रख दो। अब आविष्ट गोली को धीरे-धीरे डिब्बे में प्रवेश करने दो। ज्यों-ज्यों गोली अन्दर घुसेगी त्यों-त्यों सुवर्णपत्र फैलते जायँगे। किन्तु जब गोली काफ़ी नीचे पहुँच जायगी तब सुवर्ण-पत्रों का फैलाव स्थिर हो जायगा; तब फिर गोली को चाहे जितना इधर-उधर हटाइये पत्र ज्यों के त्यों रहेंगे। यदि डिब्बा धातु के ढक्कन से ढका हो और उस में केवल गोली वाला रेशम का डोरा जाने के लिए छोटा सा छेद हो तो आप गोली को ढक्कन के समीप तक ऊपर भी उठा सकते हैं। इससे भी सुवर्ण-पत्रों के फैलाव पर कुछ प्रभाव न पड़ेगा। अब गोली से डिब्बे को स्पर्श कर दीजिये। इससे भी सुवर्ण पत्रों में कोई परिवर्तन न होगा।

स्पर्श करने से पहले सुवर्णपत्रों का जो फैलाव था वह अवश्य ही प्रेरित विद्युत् के कारण था। उसमें गोली को इधर-उधर, ऊपर-नीचे हटाने से कोई परिवर्तन न हुआ। इसका अर्थ यही है कि प्रेरित विद्युत् की मात्रा में गोली के स्थान से कोई परिवर्तन नहीं होता। फिर स्पर्श करने पर गोली का धन-विद्युत् डिब्बे के भीतरी पृष्ठ पर प्रेरित ऋण-विद्युत् से मिलकर दोनों लुप्त हो जाते हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि प्रेरित विद्युत् प्रेरक विद्युत् के बराबर परिमाण ही का होता है।

जब तक डिब्बे का मुंह खुला था तब तक ज्यों-ज्यों गोली नीचे उतरती थी प्रेरित विद्युत् की मात्रा बढ़ती जाती थी। इसका कारण समझने में कुछ कठिनाई नहीं। प्रेरक वस्तु अपने चारों ओर सर्वत्र ही प्रेरण करती है। जब गोली डिब्बे के बाहर स्थित थी तब वह कमरे में रक्खी हुई सब वस्तुओं पर और कमरे की दीवारों पर प्रेरण कर रही थी। ज्यों-ज्यों वह डिब्बे में घुसती गई त्यों-त्यों डिब्बे पर ही उसका प्रेरण अधिक होता गया। खुले मुँह की तरफ कुछ थोड़ा सा प्रेरण डिब्बे के बाहर कमरे की छत इत्यादि पर भी हुआ। किन्तु ढकना रखने पर इधर का प्रेरण भी डिब्बे पर ही हुआ।

7·17—**विद्युत् के परिमाण की समता नापने का उपाय।** बंद डिब्बे में आविष्ट वस्तु रखने से विद्युत्दर्शी पर जो प्रभाव होता है वह पिछले प्रकरण के अनुसार सर्वथा निश्चित होता है। वह आविष्ट वस्तु की स्थिति पर नहीं किन्तु केवल उसके आवेश की मात्रा पर निर्भर होता है। अतः यदि हमारे पास दो धनाविष्ट वस्तुएँ हों और प्रत्येक डिब्बे में जाकर सुवर्ण पत्रों को बिलकुल बराबर फैलाती हो तब अवश्य ही हमें मानना पड़ेगा कि उन दोनों पर आवेश की मात्रा बराबर है।

यदि एक वस्तु पर धन आवेश है और दूसरी पर ऋण-आवेश और दोनों को एक ही साथ डिब्बे में डालने पर विद्युत्दर्शी के सुवर्णपत्र बिलकुल न फैलें तब यह प्रकट होगा कि उस धन-आवेश की मात्रा ऋण-आवेश के ठीक बराबर है । इस परीक्षा को अधिक सुग्राही बनाने का उपाय यह है कि जब पहली वस्तु डिब्बे में डाली जाय और सुवर्णपत्र फैल जाँय, तब डिब्बे को हाथ से स्पर्श कर दीजिये । प्रेरित धन-विद्युत् पृथ्वी में चला जायगा और सुवर्णपत्र लटक जायँगे ।

भीतर की आविष्ट वस्तु को इधर-उधर हटाने से भी ये पत्र ज्यों के त्यों लटके रहेंगे । किन्तु आविष्ट वस्तु को निकालने पर सुवर्णपत्र ऋणाविष्ट होकर फैल जायँगे । अब दूसरी धनाविष्ट वस्तु डिब्बे में डालिये । यदि इस वस्तु का धन-आवेश पहली के आवेश के बराबर हुआ तब तो सुवणपत्र बिलकुल लटक जायँगे किन्तु यदि कुछ भी अंतर दोनों के आवेश मे होगा तो सुवर्णपत्र कुछ फैले रह जायँगे । इस स्थिति में सुवर्ण-पत्र बहुत अधिक सुग्राही होते हैं ।

7·18—**धन तथा ऋण विद्युत् की समता का नियम** । उपर्युक्त विधि से विद्युत्दर्शी पर धातु का डिब्बा रखकर यह प्रमाणित करना कुछ भी कठिन नहीं कि धन तथा ऋण दोनों प्रकार के विद्युत् सदा एक ही साथ बराबर परिमाण में उत्पन्न होते है । यदि किसी भी प्रकार कही कुछ मात्रा धन-विद्युत् की प्रकट होती है या लुप्त होती है तो उसी समय उतनी ही मात्रा ऋण-विद्युत् की भी उसके साथ ही प्रकट या लुप्त होती है ।

घर्षण से जो विद्युत् उत्पन्न होता है उसके विषय में पहले भी बताया जा चुका है कि घर्षक तथा घर्षित दोनों वस्तुओं पर विद्युत् एक ही साथ उत्पन्न होता है । एक पर धन और दूसरी पर ऋण । इनके परिमाण बिलकुल बराबर होते हैं । इस बात की परीक्षा अब अच्छी तरह हो सकती है ।

काँच की एक सादी छड़ और दूसरी रेशम से आवृत छड़ दोनों को डिब्बे में डाल कर आपस में रगड़िये । विद्युत्दर्शी पर इसका कुछ भी प्रभाव नही दीख पड़ेगा । किन्तु उनमें से किसी भी एक छड़ को बाहर निकाल लीजिये । तुरन्त ही सुवर्णपत्र फैल जायँगे । दोनों की उपस्थिति में पत्रों पर कुछ प्रभाव न होने का स्पष्ट अर्थ यह है कि धन तथा ऋण विद्युत् की मात्रा बिलकुल बराबर उत्पन्न हुई ।

दो गोलियाँ लीजिये । एक को कुछ धन आवेश दे दीजिये और दूसरी को ऋण-आवेश । दोनों को डिब्बे में लटका दीजिये । यदि दोनों का विद्युत् बिलकुल बराबर न हुआ तो पत्र फैल जायँगे । मान लीजिये कि धन-विद्युत् अधिक है । डिब्बे को हाथ

से स्पर्श कर दीजिये ताकि पत्र लटक जायँ किन्तु सुग्राहिता बढ़ जाय। अब दोनों आविष्ट वस्तुओं को आपस में स्पर्श करने दीजिये। इससे पत्रों पर कुछ भी प्रभाव न पड़ेगा। स्पर्श करने पर अधिक मात्रा वाला धन-विद्युत् कम मात्रा वाले विजातीय विद्युत् से मिलकर उसे लुप्त कर देगा। किन्तु ऐसा होने पर भी विद्युत्दर्शी पर कोई प्रभाव न पड़ने से स्पष्ट ही है कि ऋण-विद्युत् के साथ ही साथ उतने ही धन-विद्युत् का भी लोप हो गया।

इसी प्रकार डिब्बे में एक धनाविष्ट वस्तु लटकाइये और डिब्बे को हाथ से स्पर्श कर दीजिये। अब एक अनाविष्ट वस्तु भी डिब्बे में लटकाइये। प्रेरण के द्वारा इसके एक ओर ऋण-आवेश प्रकट हो जायगा और दूसरी ओर धन-आवेश। किन्तु इन दोनो नवीन आवेशो के प्रकट होने पर भी विद्युत्दर्शी पर कोई भी प्रभाव न होगा। अतः दोनों प्रेरित आवेशों की मात्रा अवश्य ही बराबर होनी चाहिए। यदि अब उन दोनों वस्तुओं को परस्पर स्पर्श करा दें तो आविष्ट वस्तु का विद्युत् तथा विजातीय प्रेरित विद्युत् आकृष्ट होकर मिल जायँगे और केवल प्रेरित सजातीय विद्युत् बच रहेगा। फिर भी विद्युत्दर्शी ज्यों का त्यों रहेगा। अतः स्पष्ट है कि प्रेरित सजातीय विद्युत् प्रेरक विद्युत् के बिलकुल बराबर है। इसी प्रकार अनेक प्रयोग किये जा सकते है जिनसे उपर्युक्त नियम की सत्यता प्रमाणित हो जायगी।

7·19—**विद्युत् का पृष्ठ-घनत्व** (Surface Density)। यद्यपि यह सत्य है कि विद्युत् सदा चालक वस्तु के बाहरी पृष्ठ पर ही रहता है किन्तु उस पृष्ठ पर भी
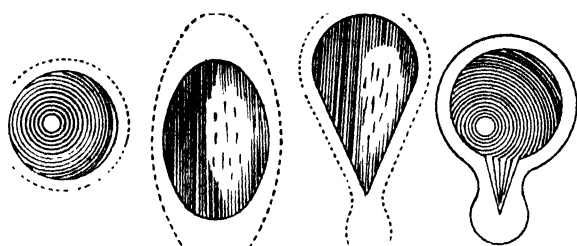
चित्र 7·08

वह सर्वत्र समान रूप से नहीं फैला रहता। यदि चालक गोलाकार हो तब तो अवश्य ही विद्युत् का वितरण उसके पृष्ठ पर एक-समान (uniform) होता है। किन्तु यदि चालक अन्य आकार का हो तो ऐसा नहीं होता। चित्र 7·08 में बिन्दुमय रेखा के द्वारा चालकों के भिन्न-भिन्न भागों पर विद्युत् का परिमाण दिखलाया गया है। जहाँ

यह रेखा चालक पृष्ठ से जितनी दूर है वहाँ उतना ही अधिक पृष्ठ-घनत्व (अर्थात् प्रति वर्ग सेन्टीमीटर क्षेत्र पर विद्युत् की मात्रा) विद्यमान है। इसकी जाँच परीक्षा-पट्टिका के द्वारा हो सकती है क्योंकि यदि उस पट्टिका को अधिक घनत्व के स्थान पर रखें तो वह अधिक विद्युत् ले लेगी। और विद्युत्दर्शी पर रखे हुए टीन में जाकर उसके पत्रों को अधिक फैलायगी।

इन चित्रों से स्पष्ट मालूम होता है कि विद्युत् का यह पृष्ठ-घनत्व उन्ही स्थानों पर अधिक होता है जहाँ चालक का पृष्ठ बाहर की ओर अधिक मुड़ा हुआ हो अथवा गणित की भाषा में यों कह सकते है कि जहाँ पृष्ठ की वक्रता (curvature) अधिक हो वही विद्युत् का घनत्व भी अधिक होता है।

7·20 —**नोक से विसर्ग** (Discharge from a Point)। चित्र 7·08 मे अंतिम चालक पर जो नोक निकली है वहाँ तो वक्रता बहुत ही अधिक है। अतः वहाँ घनत्व भी बहुत अधिक है। नोक पर घनत्व की इस अधिकता के कारण वहाँ से विद्युत् निकल भागता है और धीरे-धीरे चालक पर का विद्युत् बहुत घट जाता है। यह क्रिया इस प्रकार होती है कि इस नोक मे धूल आदि के कण अथवा वायु के कण जब स्पर्श करते है तो उन पर बहुत सा विद्युत् चला जाता है। तब प्रतिकर्षण के कारण ये कण अथवा अणु अपने आवेश को लेकर चालक से दूर भाग जाते है। इनके हटते ही अन्य कण और अणु नोक को स्पर्श करते है और पहले ही की भाँति ये भी कुछ विद्युत् लेकर हट जाते है। इसी प्रकार नये-नये कण तथा अणु आ-आकर विद्युत् ले-लेकर हटते जाते है। परिणाम यह होता है कि चालक का विद्युत् घटता जाता है।

विद्युत् के इस प्रकार स्थानांतरित होने को हम संवहन (convection) की क्रिया कह सकते है। जिस प्रकार ताप चालन तथा संवहन इन दो क्रियाओं के द्वारा स्थानांतरित होता है उसी प्रकार विद्युत् भी चालन तथा संवहन के द्वारा गमन करता है। पहली क्रिया में द्रव्य अपना स्थान नही छोड़ता। अकेला विद्युत् ही उत्तरोत्तर एक परमाणु से दूसरे में चला जाता है। किन्तु संवहन में विद्युत् द्रव्य पर सवारी करके द्रव्य को भी अपने साथ लेकर गमन करता है।

नोकों (point) के इस गुण की परीक्षा बड़ी आसान है। विद्युत्दर्शी को आविष्ट करके उसकी पट्टिका पर एक सुई इस प्रकार रख दो कि उसकी नोक पट्टिका से बाहर निकली रहे। आप देखेंगे कि सुवर्ण-पत्रों का फैलाव शीघ्रता से घट जायगा क्योंकि नोक में से विद्युत् निकलता चला जाता है। किसी आविष्ट वस्तु के आवेश के

नष्ट होने को विसर्ग (discharge) कहते हैं। नोक के द्वारा जो विसर्ग होता है उसे संवहन-विसर्ग कहते हैं।

किन्तु नोक सदा आविष्ट वस्तुओं को विसर्जित ही नहीं करती। वह अनाविष्ट वस्तुओं को आविष्ट भी कर देती है। अनाविष्ट विद्युत्दर्शी पर सुई लगा कर उसकी नोक के समीप कोई आविष्ट वस्तु लाइये। थोड़ी देर के बाद आविष्ट वस्तु हटा लीजिये। आप देखेंगे कि विद्युत्दर्शी के पत्र फैले ही रहेंगे। वे आविष्ट हो गये हैं। किन्तु इस आवेश का कारण भी वास्तव मे संवहन-विसर्ग ही है। आविष्ट वस्तु ने पहले प्रेरण से नोक में विजातीय विद्युत् उत्पन्न किया और पत्रों मे सजातीय। नोक वाला विजातीय विद्युत् नोक से निकल कर संवहन के द्वारा आविष्ट वस्तु पर पहुँच गया और उसने वहाँ के आवेश को घटा दिया। विद्युत्दर्शी पर सुवर्णपत्रो वाला आवेश बाकी रह गया जो आविष्ट वस्तु को हटाने पर भी लुप्त न हो सका।

यदि इस प्रयोग में प्रेरण वाली बीच की क्रिया की तरफ ध्यान न दे तो यही मालूम होगा कि नोक के द्वारा आविष्ट वस्तु का विद्युत् विद्युत्दर्शी मे प्रवेश कर गया क्योंकि आविष्ट वस्तु का आवेश जितना घटा है उतना ही विद्युत्दर्शी मे विद्यमान है। जो हो, व्यवहारोपयोगी बात यह है कि यदि किसी आविष्ट वस्तु को बिना स्पर्श किये ही हम उसका विद्युत् किसी चालक को देना चाहे तो उसका उपाय यह है कि उक्त चालक के एक या अधिक नोके लगा दे और इन नोकों को आविष्ट वस्तु के समक्ष उपस्थित कर दे।

इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि यदि किसी चालक पर हम विद्युत् को स्थायी रूप से रखना चाहते हैं तो विलागन (insulation) के अतिरिक्त हमें उसका आकार भी ऐसा बनाना चाहिए कि जिसमे कोई कोने या नोके न निकली हों। यही नही। उसका पृष्ठ सुचिक्कण भी होना चाहिये और उस पर धूल का भी कोई कण न रहना चाहिए। क्योंकि खुरदरे पृष्ठ पर अनेक नोकें होती हैं और धूल का कण भी नोक ही का काम करता है।

7·21—**वैद्युत आकर्षण तथा प्रतिकर्षण का नियम।** इस परिच्छेद में वैद्युत आकर्षण तथा प्रतिकर्षण का वर्णन कई बार किया गया है किन्तु अभी तक यह नहीं बतलाया गया कि यह बल होता कितना है। और उसका परिमाण किन बातों पर निर्भर है।

इस सम्बन्ध में सबसे पहली बात तो स्मरण रखने की यह है कि यह आकर्षण या प्रतिकर्षण उत्क्रम-वर्ग के नियम के अनुसार होता है। जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण और

चुम्बकीय आकर्षण या प्रतिकर्षण उत्क्रम-वर्ग नियम के अनुसार होता है ठीक उसी प्रकार वैद्युत बल भी उसी नियम का पालन करता है। अर्थात् यदि दो सजातीय आवेशों के बीच की दूरी r_1 हो और उनका प्रतिकर्षण बल F_1 हो तो यदि दूरी r_2 कर दी जाय तो बल F_2 हो जायगा और

$$\frac{F_1}{F_2} = \frac{r_2^2}{r_1^2}$$

इस नियम को सबसे पहले कूलम्ब (Coulomb) ने प्रयोगात्मक रीति से प्रमाणित किया था। उसके यंत्र (चित्र 7·09) का नाम ऐंठन-तुला (torsion-balance) है। इसमें एक पतले तार के द्वारा काँच की एक पतली छड़ लटका दी गयी थी। यह छड़ बीच मे से इस प्रकार लटकाई गयी थी कि ठीक क्षैतिज रहे। इसके एक सिरे पर छोटी सी काग की गोली लगा दी गयी जिस पर सुवर्णपत्र चिपका दिया गया। इस गोली को आविष्ट कर दिया गया। ऐसी ही एक दूसरी आविष्ट गोली दूसरी काँच की छड़ पर लगाई गयी और उसे पहली गोली से कुछ दूर पर रख कर स्थिर कर दिया गया। दोनों के प्रतिकर्षण के कारण लटकी हुई छड़ घूम गयी। इसके कारण जिस तार से वह लटकी थी उसमे कुछ ऐंठन (torsion) पड़ गयी। ज्यों-ज्यों छड़ अधिक घूमती गयी त्यों-त्यों ऐंठन बढ़ती गयी। यह ऐंठन छड़ को अपने पूर्व स्थान पर लाने का प्रयत्न करती थी और वैद्युत प्रतिकर्षण उसे वहाँ से हटा रहा था। जब दोनों बलों का संतुलन हो गया तब छड़ स्थिर हो गयी। अतः इस अवस्था में गोलियों की दूरी नाप ली गयी और ऐंठन कोण का भी परिमाण नाप लिया गया। तब
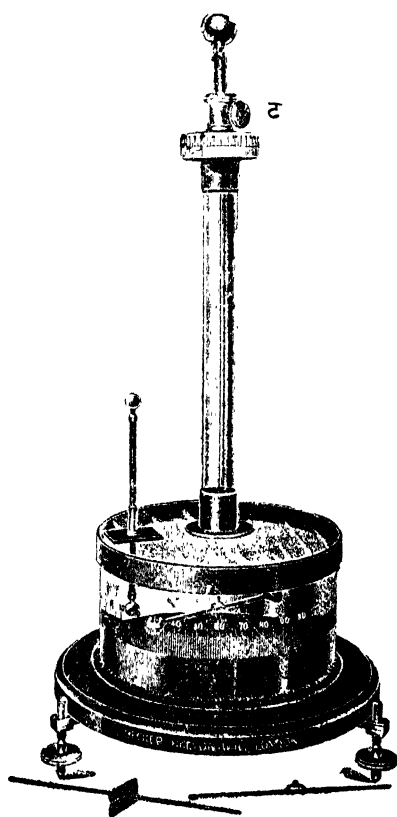
चित्र 7·09

गोलियों की दूरी घटाई गयी। इससे ऐंठन का परिमाण बढ़ गया। प्रत्यास्थता (elasticity) के नियमानुसार ऐंठन का प्रत्यानयन बल (restoring force) ऐंठन के परिमाण का अनुपाती होता है। अतः वैद्युत बल भी इस ही परिमाण का समझा गया।

चित्र 7·09 में ऐंठन-तुला दिखलाई गयी है। इसमें लटकी हुई छड़ और उसकी आविष्ट गोली तथा दूसरी आविष्ट गोली स्पष्ट दिखलाई देती है। छड़ अपने पूर्व-स्थान से कितना अंश हटी यह काँच के बक्स पर लगे स्केल से नाप लिया जाता है। यही ऐंठन का परिमाण हुआ। यदि आवश्यक ऐंठन का परिमाण अधिक हुआ तो ऐंठन-टोपी (torsion-head) ट को विपरीत दिशा में घुमा कर भी ऐंठन बढ़ाया जा सकता है। तब उसका परिणाम ट पर लगे हुए स्केल से नापा जा सकता है।

इसके बाद कैवेन्डिश ने (Cavendish) ने 1773 में थोड़ी परोक्ष रीति से इसी नियम की यथार्थता प्रमाणित की। उन्होंने गणित की सहायता से प्रमाणित
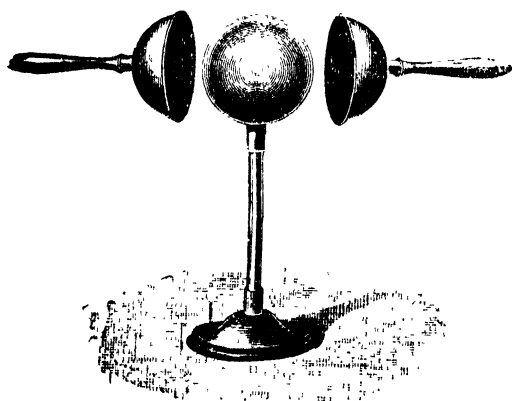
चित्र 7·10

किया कि किसी चालक के भीतरी भाग में वैद्युत बल का अभाव तब ही हो सकता है जब कि उत्क्रम-वर्ग-नियम ठीक हो। यह प्रमाण अनु० 8·15 में दिया गया है। फिर उन्होंने चित्र 7·10 के समान एक विलग्न (insulated) गोला लिया। और विलागक दस्ते वाले दो गोलार्द्ध ऐसे बनाये जो इस गोले पर ठीक बैठ जायँ। एक छोटा-सा तार गोले में ऐसा लगा दिया कि जिसे रेशम के तागे से खींच कर गोले का स्पर्श

गोलार्द्धों से करा दिया जा सके। अब उन्होंने गोलार्द्धों को धनाविष्ट कर दिया और तार खींच कर भीतर के गोले को भी इनसे स्पर्श करा दिया। तब गोलार्द्धों को धीरे से हटा लिया। गोले की परीक्षा करने पर मालूम हुआ कि उसपर आवेश का कुछ भी निशान नहीं है। अतः यह प्रमाणित हुआ कि वैद्युत बल

$$F \propto \frac{1}{r^2}$$

यदि इस नियम में r का घातांक 2 से कुछ कम होता तो गोले पर ऋण विद्युत् पाया जाता और यदि वह 2 से अधिक होता तो धन विद्युत् पाया जाता।

1870 में मैक्सवैल (Maxwell) ने अधिक सुग्राही यंत्रों से गोले के विद्युत् की परीक्षा की। किन्तु उन्हें गोले पर विद्युत् के अस्तित्व का पता न चला। यदि r का घातांक 2 के स्थान मे $2 \pm \frac{1}{21000}$ भी होता तो वे उसका पता अवश्य चला लेते।

दूसरी बात इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य यह है कि वैद्युत बल आवेश की मात्रा का अनुपाती भी है। अर्थात् यदि दो आविष्ट वस्तुओं में प्रतिकर्षण या आकर्षण का बल F हो और उनमें से किसी का भी आवेश दुगना कर दिया जाय तो F का परिमाण भी दुगना हो जायगा। यदि आवेश आधा कर दिया जावे तो F भी आधा ही रह जायगा। इस बात को भी कूलम्ब ने ऐंठन-तुला के द्वारा प्रमाणित किया था।

इस प्रमाण में आवेश को आधा या चौथाई करने का तरीका यह था कि दो बिलकुल एक ही आकार की धातु की गोलियाँ बनाई गयीं। इनमें से एक को आविष्ट किया गया और उसे ऐंठन तुला में रख कर छड़ का ऐंठन नाप लिया गया। तब इस गोली से दूसरी अनाविष्ट गोली को स्पर्श करा दिया। इससे उसका आवेश दोनों गोलियों पर बराबर फैल गया। गोलियों को पृथक् करने पर प्रत्येक में पहली गोली से आधा आवेश रह गया। अब इसमें से एक गोली फिर ऐंठन-तुला में रखी गयी और अवलम्बित गोली और इस गोली के बीच की दूरी को ठीक पहले के बराबर रखने के लिए आवश्यक ऐंठन को नापा गया। यह ऐंठन पहले नापे हुए ऐंठन से ठीक आधा निकला। तब उस आधे आवेश वाली गोली को पुनः दूसरी अनाविष्ट गोली से स्पर्श कराकर उसका आवेश चौथाई कर लिया गया। अब ऐंठन भी चौथाई निकला। जब ऐंठन-तुला में स्थिर गोली का आवेश न घटा कर अवलम्बित गोली का आवेश घटाया गया तब भी यही परिणाम निकला। अतः हम कह सकते हैं कि वैद्युत बल दोनों आवेशों की मात्रा

का अनुपाती होता है। उपर्युक्त दोनों ही नियमों को एकत्रित करके हम यों लिख सकते हैं :

$$F \propto \frac{q \times q'}{r^2}$$

इसमें q और q' दोनों गोलियों के विद्युत् की मात्राएँ हैं और r उनके केन्द्रों की दूरी।

7·22—**विद्युत् के आवेश का मात्रक** (Unit of Electric Charge)। उपर्युक्त नियम के द्वारा विद्युत् को नापने का मात्रक भी नियत किया जा सकता है। विद्युत् का मात्रक वह है जिसे ठीक उसके बराबर ही मात्रा के विद्युत् से 1 सेंटीमीटर दूरी पर निर्वात स्थान में रखने से प्रतिकर्षण बल 1 डाइन हो। डाइन (dyne) बल नापने का मात्रक है। मात्रक की इस परिभाषा के अनुसार उपर्युक्त नियम का रूप यह हो जायगा

$$F = \frac{q \times q'}{r^2} \text{ डाइन}$$

इस प्रकार निश्चित किये हुए विद्युत् के मात्रक को स्थिर-वैद्युत (electrostatic) मात्रक कहते हैं। स०ग०स० पद्धति पर अवलम्बित होने के कारण यह स०ग०स० स्थिर-वैद्युत मात्रक भी कहलाता है। परन्तु इसका कोई ख़ास नाम नही है।

यह मात्रक इतना छोटा होता है कि अनेक बार इसके उपयोग से सुविधा नहीं होती। अतः इससे 30 अड़ब (अर्थात् 3×10^{10}) गुणा एक और मात्रक काम में आता है जिसका नाम कूलम्ब (coulomb) रख दिया गया है। यह नाम वैद्युत बल के नियम के आविष्कर्त्ता कूलम्ब की स्मृति में रखा गया है।

यदि दो आवेशों के बीच का माध्यम निर्वात अथवा वायु न होकर कोई दूसरा पदार्थ हो तो इस पारस्परिक आकर्षण या प्रतिकर्षण बल का परिमाण घट जाता है और

$$F = \frac{q \times q'}{kr^2}$$

जहाँ k विशेष मान का नियतांक होता है। इसे उस पदार्थ का पारवैद्युतांक (dielectric constant) कहते हैं। भिन्न-भिन्न पदार्थों के लिए इसके मान भी भिन्न-भिन्न होते हैं।

स्मरण रखना चाहिए कि यह नियम केवल विन्दु-आवेशों ही के लिए ठीक है। तभी उनके बीच की दूरी का नाप यथार्थता पूर्वक हो सकता है।

परिच्छेद 8

स्थिर-वैद्युत क्षेत्र

(Electrostatic Field)

8·01—**वैद्युत क्षेत्र।** आविष्ट वस्तुओं के समीप जितने अवकाश में वैद्युत आकर्षण अथवा प्रतिकर्षण कार्य करते है वह सब वैद्युत क्षेत्र कहलाता है। चुम्बकीय
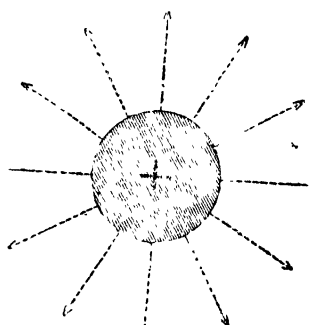
(i) चित्र 8·01 (ii)
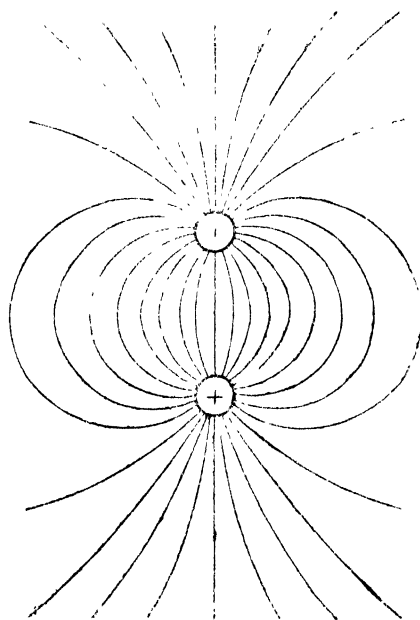
क्षेत्र के समान ही इसमें भी बल-रेखाओं (lines of force) की कल्पना की जा सकती है। यह रेखाएँ प्रत्येक बिन्दु पर वैद्युत बल की दिशा का निदर्शन करती हैं। यदि कोई धनाविष्ट वस्तु वैद्युत क्षेत्र के अन्दर रख दी जाय और उसे गुरुत्व आदि अन्य बातों से मुक्त कर दिया जाय तो वैद्युत बल के कारण वह बल-रेखा ही पर गमन करेगी। ऋणाविष्ट वस्तु भी इसी रेखा पर गमन करेगी किन्तु विपरीत दिशा में। धनाविष्ट वस्तु की गति की दिशा ही बल-रेखा की दिशा कहलाता है।

अतः हम यह समझ सकते हैं कि प्रत्येक धनाविष्ट वस्तु इन रेखाओं का उद्गम स्थान है। ये रेखाएँ वहाँ से निकल कर किसी ऋणाविष्ट वस्तु पर समाप्त होती हैं, चाहे यह ऋण-आवेश स्वतन्त्र हो अथवा प्रेरण के द्वारा उत्पन्न हुआ हो।

इसके अतिरिक्त इन सब बातों की तुलना चुम्बकीय क्षेत्र तथा चुम्बकीय बल-रेखाओं से करने पर और यह देख कर कि दोनों ही में उत्क्रम-वर्ग-नियम लागू है हम यह भी समझ सकते हैं कि इन रेखाओं की आकृति भी चुम्बकीय रेखाओं के समान ही होगी (चित्र 8·01)।
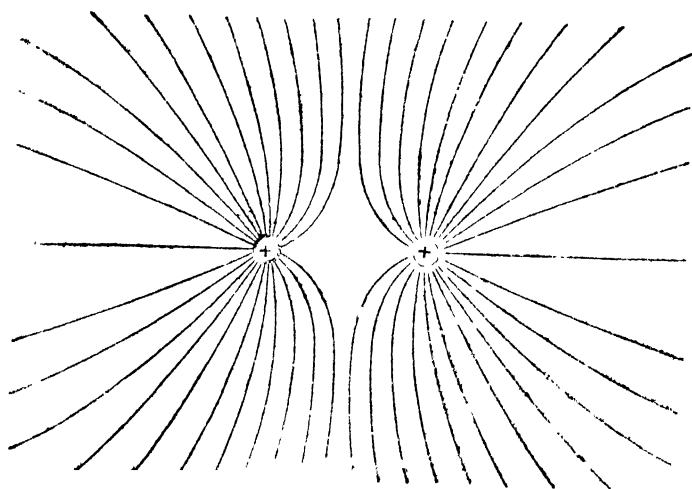
चित्र 8·01 (iii)

चुम्बकीय बल-रेखाओं के सम्बन्ध में जितनी आवश्यक बातें परिच्छेद 3 में बतलाई गयी हैं वे सब वैद्युत बल-रेखाओं के लिए भी अक्षरशः ठीक हैं और वहाँ उत्क्रम-वर्ग-नियम और समान्तर चतुर्भुज-नियम की सहायता से चुम्बकीय रेखाओं को खींचने की जो विधि बतलाई गयी थी ठीक उसी विधि से वैद्युत बल-रेखाएँ भी खींची जा सकती है।

8·02—**वैद्युत बल-रेखाएँ खींचने प्रयोगात्मक रीति।** चुम्बकीय रेखाओं को प्रदर्शित करने के दो उपाय बतलाये गए थे। एक तो लोहे के बुरादे के द्वारा और दूसरा छोटी सी दिक्-सूची के द्वारा। ठीक उसी प्रकार वैद्युत रेखाओं के लिए भी दो उपाय हैं :—

(i) प्रथम उपाय मे लोहे के बुरादे के स्थान में लकड़ी का बुरादा काम में लाया जाता है। बुरादा खूब बारीक होना चाहिए और उसके प्रत्येक कण की आकृति एक
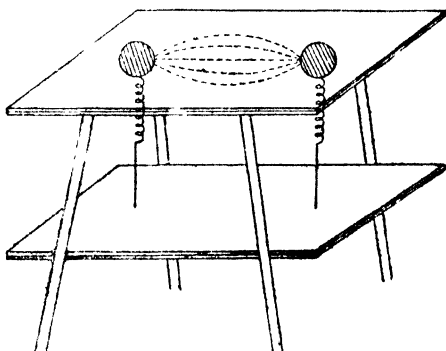
चित्र 8·02

तरफ से लम्बी होना चाहिए। काँच की पट्टिका के नीचे चित्र 8·02 के समान पन्नी के दो गोल टुकड़े चिपका दो और उन्हें जैसा चाहो आवेश दे दो। तब काँच के ऊपर की ओर बुरादा बुरकाओ और उंगली से धीरे-धीरे काच पर आघात करके बुरादे के कणों को स्थान परिवर्तन करने में सहायता दो। ये कण शीघ्र ही बल-रेखाओं पर जम जायँगे। इस प्रयोग में पन्नियों पर आवेश अधिक होना चाहिए। अतः यह परिच्छेद 12 में वर्णित विद्युत्-यंत्रों के द्वारा पन्नियों पर पहुँचाया जाता है।

(ii) दूसरे उपाय मे दिक्-सूची का काम प्रायः एक सेंटीमीटर लम्बे धातु के पतले तार से लिया जाता है। इस तार के दोनों सिरों पर पन्नी चिपकी हुई छोटी-छोटी काग की गोलियाँ लगा दी जाती हैं (चित्र 8·03)। यह रेशम के तागे से लटका दी जाती है। प्रेरण के कारण इनमें से एक गोली पर धन-आवेश उत्पन्न हो जाता है और दूसरी पर ऋण-आवेश। अतः दिक्-सूची के समान यह भी वैद्युत बल-रेखाओं की ही दिशाओं में स्थित हो जाती है। इसे क्रमशः हटा-हटाकर हम चुम्बकीय रेखाओं के खीचने की विधि से ही समस्त क्षेत्र की बल-रेखाएँ खीच सकते हैं।
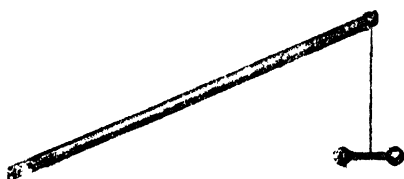
चित्र 8·03

8·03—**वैद्युत क्षेत्र की तीव्रता** (Intensity)। वैद्युत क्षेत्र में किसी भी स्थान पर रखे हुए एक मात्रक आवेश पर क्षेत्र जो बल लगाता है वह उस स्थान पर क्षेत्र की तीव्रता का परिमाण समझा जाता है। इस परिभाषा के अनुसार यदि किसी स्थान पर क्षेत्र की तीव्रता F हो और वहाँ e एकाक मात्रा का आवेश रक्खा हो तो उस पर $F \times e$ डाइन बल लगेगा। इस तीव्रता का निदर्शन भी बल-रेखाओं के द्वारा हो जाता है क्योंकि जहाँ तीव्रता अधिक होती है वहाँ रेखाओं की भीड़ भी अधिक होती है और जहाँ तीव्रता कम होती है वहाँ रेखाएँ दूर-दूर हो जाती हैं। अतः यदि किसी स्थान पर एक वर्ग-सेंटीमीटर इस प्रकार रक्खा जाय कि ये रेखाएँ उसे लम्ब-रूप काटें तो उसमें से जाने वाली रेखाओं की संख्या के द्वारा तीव्रता व्यक्त की जा सकती है। किन्तु यह तभी हो सकता है जब हम पहले यह निश्चित कर लें कि प्रत्येक मात्रक आवेश कितनी बल-रेखाएँ उत्पन्न करेगा।

चुम्बकीय रेखाओं के संबंध मे यह मान लिया गया है कि प्रत्येक एकांक ध्रुव से 4π बल-रेखाएँ उत्पन्न होती हैं और इसका कारण यह था कि इस कल्पना से क्षेत्र की तीव्रता एक वर्ग-सेंटीमीटर मे प्रवेश करने वाली बल-रेखाओं की संख्या के द्वारा व्यक्त हो जाती है।

किन्तु दुर्भाग्य से वैद्युत रेखाओं की संख्या फैरेडे (Faraday) ने दूसरी ही प्रकार निश्चित की थी। उन्होंने यह माना था कि प्रत्येक मात्रक आवेश, एक ही बल-रेखा उत्पन्न करता है। अतः क्षेत्र की तीव्रता एक वर्ग-सेंटीमीटर में प्रवेश करने वाली रेखाओं की संख्या के द्वारा व्यक्त नहीं होती किन्तु इस संख्या को 4π से गुणा करना पड़ता है। इस प्रकार निश्चित की हुई बल-रेखाएँ फैरेडे-रेखाएँ कहलाती हैं। किन्तु मैक्सवैल (Maxwell) ने यह निश्चित किया है कि एक मात्रक आवेश को 4π बल-रेखाओं का जन्मदाता मानना चाहिए। इस प्रकार निश्चित की हुई बल-रेखाएँ मैक्सवैल रेखाएँ कहलाती हैं। प्रतिवर्ग-सम० क्षेत्र में इन मैक्सवैल-रेखाओं की संख्या के बराबर ही क्षेत्र की तीव्रता होती है।

उपर्युक्त बातें निर्वात स्थान ही के लिए ठीक हैं। यदि वहाँ अन्य पदार्थ उपस्थित हों तो आगे चलकर हम देखेंगे कि यदि क्षेत्र की तीव्रता को अब भी मैक्सवैल बल-रेखाओं की संख्या ही के द्वारा व्यक्त करना हो तो प्रत्येक मात्रक आवेश में से निकलने वाली मैक्सवैल-रेखाओं की संख्या $4\pi/k$ समझनी चाहिए।

आविष्ट वस्तु के पृष्ठ पर एक छोटा सा बंद या निमीलित क्षेत्र (closed area) लेकर यदि उसकी परिधि के प्रत्येक बिन्दु में से बल-रेखाएँ खींची जायँ तो इन

रेखाओं से एक नलिका बन जायगी जिसका नाम बल-नलिका (tube of force) रक्खा जा सकता है। यदि आविष्ट वस्तु के सारे पृष्ठ को छोटे छोटे भागों में विभक्त करके प्रत्येक भाग की एक-एक बल-नलिका समझ ली जाय तो सारा वैद्युत क्षेत्र इन नलिकाओं से भर जायगा क्योंकि यह परस्पर सटी रहेंगी। इनकी मोटाई सर्वत्र एकसी न होगी क्योंकि जहाँ तीव्रता कम होगी वहाँ बल-रेखाएं दूर-दूर होती है इसलिए वहाँ नलिकाओं की मोटाई भी बढ़ जायगी। अधिक तीव्रता के स्थान पर इनकी मोटाई भी कम होगी। बल-रेखाओं के स्थान मे इन नलिकाओं का प्रयोग अधिक अच्छा है यह आगे चलकर खुलासा तौर पर बतलाया जायगा।

यदि फ़ैरेडे के मतानुसार एक मात्रक आवेश एक नलिका का उद्गम समझा जाय तो प्रत्येक नलिका फैरेडे की मात्रक-नलिका (unit-tube) कहलाती है। और यदि एक मात्रक आवेश से 4π नलिकाएं निकलती हुई मानी जायें तो प्रत्येक नलिका मैक्सवैल की मात्रक-नलिका कहलाती है। फैरेडे की मात्रक-नलिका के प्रत्येक सिरे पर एक मात्रक आवेश रहता है किन्तु मैक्सवैल की मात्रक-नलिकाओं के सिरों पर $1/4\pi$ मात्रक आवेश रहता है। इन दो प्रकार की नलिकाओं का भेद ठीक-ठीक न समझने के कारण बहुधा बड़ी गड़बड़ी मच जाती है क्योंकि पुस्तकों में बहुधा एक ही प्रकार की बल-नलिकाओं का वर्णन होता है। किसी मे पहली प्रकार की और किसी में दूसरी प्रकार की। और दोनों ही का नाम मात्रक-नलिका दिया रहता है। यहाँ यह भी और स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि माध्यम के कारण फैरेडे बल-नलिकाओं की संख्या क्षेत्र में बदलती नही किन्तु मैक्सवैल की मात्रक-नलिकाओं की संख्या माध्यम के k पर निर्भर है।

8·04—**वैद्युत माध्यम** (Medium)। विद्युत् सम्बंधी जितने भी प्रयोगों का वर्णन अबतक किया गया है उनसे ज्ञात होगया होगा कि यह कभी सम्भव नहीं है कि किंचित मात्र भी धन आवेश कही उत्पन्न हो जाय और उसी समय उतना ही ऋण आवेश कहीं न कही उत्पन्न न हो। यद्यपि हम बहुधा किसी एक ही प्रकार के आवेश का ज़िकर करते है तथापि हमे यह भूल न जाना चाहिए कि वह आवेश अकेला नहीं है। उसके समीप मेज पर, कमरे की दीवारों और ज़मीन पर अथवा हमारे शरीर पर उतना ही दूसरे प्रकार का आवेश भी विद्यमान है। यह असम्भव है कि अकेला धन आवेश एक कमरे मे हो और उसका साथी ऋण आवेश दूसरे कमरे मे हो। यदि हम उन्हें इस प्रकार रखना चाहे तो तुरन्त ही कमरे की दीवारों पर विजातीय आवेश उत्पन्न हो जायगा।

इस बात का स्पष्ट अर्थ यह है कि जो बल-रेखाएँ किसी धन आवेश से चलती हैं उनका अन्त उतने ही परिमाण के ऋण आवेश पर होता है। प्रत्येक बल-नलिका के एक सिरे पर धन-आवेश होता है और दूसरे सिरे पर ऋण-आवेश। इस नलिका के मार्ग में कोई चालक रख दिया जाय तो नलिका का अन्त अवश्य उस चालक पर
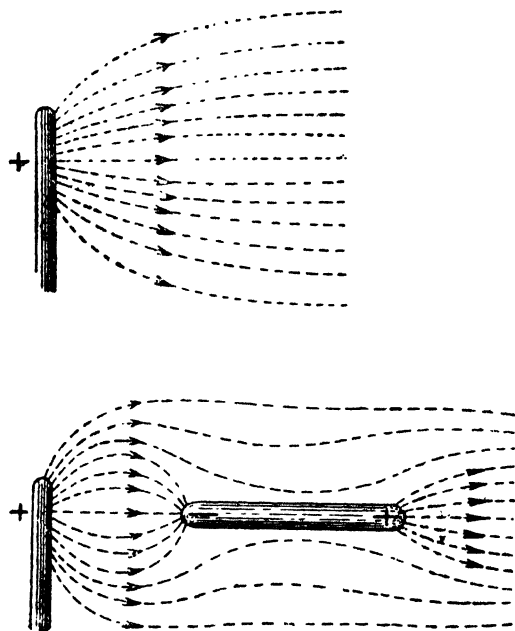
चित्र 8·04

हो जायगा किन्तु वहीं ऋण-आवेश भी उत्पन्न हो जायगा। चालक के दूसरी ओर उतना ही धन-आवेश प्रेरित होगा और वहाँ से फिर बल-नलिकाएँ चलकर कमरे की दीवारों पर समाप्त होंगी और उस दीवार पर भी ऋण आवेश रहेगा (चित्र 8·04)। चालक के भीतर बल-नलिकाओं का अभाव रहेगा।

इस अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना से यह मालूम होता है कि कहीं भी किसी धन अथवा ऋण आवेश का अस्तित्व स्वतन्त्र रूप से नहीं हो सकता। धन तथा ऋण आवेश परस्पर बंधे रहते हैं। यद्यपि उनका यह बंधन हम देख नहीं सकते तथापि इसमें संदेह नहीं कि यह केवल काल्पनिक बंधन नहीं है। यदि हम ऐसा समझें कि प्रत्येक धन-आवेश अपने आनुषंगिक ऋण-आवेश से एक रबर की तनी हुई डोरी से बंधा है

तो हमें इस विषय का वास्तविक चित्र देख पड़ेगा। जैसे रबर की डोरी खींच कर दोनों को पास लाने का प्रयत्न करती है ठीक वैसे ही वह अदृश्य बंधन इन आवेशों में आकर्षण उत्पन्न करता है।

ऐसी विचार धारा से फैरेडे (Faraday) इस निश्चय पर पहुँचे कि वैद्युत घटनाओं का मुख्य कारण वह नही है जिसे हम धन या ऋण आवेश कहते हैं किन्तु वास्तविक कारण इन आवेशों के बीच का माध्यम है। जिस प्रकार रबर से बंधी दो वस्तुओं में जो आकर्षण होता है वह कुछ उन वस्तुओं का गुण नहीं है। रबर की डोरी ही उन्हें एक दूसरे के निकट खीच लाती है। इसी प्रकार वैद्युत आकर्षण का गुण भी आवेशों में नही है। वह आवेशों के बीच के माध्यम के तनाव का प्रभाव है। वैद्युत ऊर्जा इसी माध्यम मे संचित रहती है।

इसका एक प्रमाण यह है कि वैद्युत आकर्षण-बल का परिमाण मध्यवर्ती पदार्थ पर निर्भर होता है। जब दोनों आवेशों के बीच में केवल शून्य स्थान अथवा वायु हो तब जिस बल से उनमें आकर्षण होता है वह उनके बीच मे काँच, लाख, गंधक आदि रख देने से बदल जाता है। अतः हम यह नही मान सकते कि एक आवेश दूसरे पर बिना मध्यवर्ती पदार्थों की सहायता के बल लगाता है। इस दूरस्थ प्रभाव के स्थान में हमे यही मानना पड़ेगा कि यह प्रभाव उत्तरोत्तर माध्यम के अवयवों में से चलकर ही दूसरे आवेश पर पहुँचता है।

फ़ैरेडे ने चुम्बकीय बल के विषय मे भी यही मत निश्चित किया था। उसका वर्णन हम यथास्थान कर चुके है। जो-जो बातें वहाँ इस सम्बंध मे कही गयी थी वे सब ही वैद्युत-बल के लिए भी उतनी ही सत्य हैं। वैद्युत माध्यम भी चुम्बकीय माध्यम के ही समान साधारण द्रव्यों से भिन्न अत्यन्त सूक्ष्म तथा अतीन्द्रिय वस्तु है जो समस्त संसार में भरी है। परम शून्य स्थान से लेकर अत्यन्त सघन वस्तु के अन्तरावकाश में भी वह व्याप्त है।

वैद्युत माध्यम चुम्बकीय माध्यम से भिन्न है अथवा नहीं इसकी विवेचना यहाँ नही की जा सकती किन्तु आगे चलकर हम देखेगे कि चुम्बक विद्युत् की धारा से उत्पन्न हो जाता है और चुम्बकत्व से विद्युत् की उत्पत्ति भी हो जाती है। अतः इन दोनों घटनाओं को पृथक् समझने का हमारे पास कोई कारण नहीं है। इसलिए वैद्युत माध्यम को भी हमे चुम्बकीय माध्यम से भिन्न मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

किन्तु यह भूल जाना उचित नहीं है कि इस माध्यम की कल्पना केवल इसलिए की गयी है कि हमें वैद्युत तथा चुम्बकीय बलों का कार्य समझने में सुविधा होती है

और हम अपने द्रव्य सम्बधी इंद्रियगोचर अनुभव ही की सहायता से इन घटनाओं को भी अपनी विचार शक्ति के समक्ष प्रत्यक्ष रूप से चित्रित देख सकते हैं। यह कहने का हमें कुछ भी अधिकार नहीं है कि ऐसे माध्यम का अस्तित्व निश्चित रूप से प्रमाणित हो गया है। वस्तुतः आइन्स्टाइन (Einstein) का आपेक्षिकता-वाद (theory of relativity) इस माध्यम के अस्तित्व की आवश्यकता नहीं समझता।

8·05—**प्रेरण** (Induction)। धन तथा ऋण आवेशों के मध्यवर्ती माध्यम को रबर की डोरी की उपमा दी गयी है और उसका खिचाव ही आकर्षण का कारण बतलाया गया है। इस दृष्टि से हम ऐसा समझ सकते हैं कि आवेशों के अभाव में यह माध्यम अपनी स्वाभाविक अविकृत अवस्था में रहता है। किन्तु जहाँ कोई आवेश उत्पन्न हुआ कि इस माध्यम मे विकृति भी उत्पन्न हो जाती है। इसे यों भी कह सकते हैं कि यदि किसी कारण से हम माध्यम मे कुछ विकृति उत्पन्न करते हैं तब ही आवेशो की उत्पत्ति होती है। अर्थात् विकृति आवेशों का कारण है, न कि आवेश विकृति का।

वैद्युत क्षेत्र की बल-रेखाओ अथवा नलिकाओ की कल्पना हमने केवल इसलिए की थी कि उनके द्वारा क्षेत्र के किसी भी विन्दु पर हम वैद्युत बल की दिशा तथा उसके परिमाण को व्यक्त कर सकें। यह बल भी तभी प्रकट हो सकता है जब कि उक्त विन्दु पर हम कोई आविष्ट वस्तु रखें। किन्तु आविष्ट वस्तु के अभाव में न तो क्षेत्र में वैद्युत बल है और न बल-रेखा।

किन्तु अब हम इन रेखाओं या नलिकाओं को एक दूसरे ही दृष्टि-कोण से देख सकते हैं। हम वैद्युत बल के स्थान में इन रेखाओं अथवा नलिकाओं को माध्यम की विकृति का द्योतक समझ सकते हैं। यह विकृति हमारे माध्यम मे वास्तविक है काल्पनिक नही। उसका भौतिक अस्तित्व है। अतः इन नलिकाओं का भी भौतिक अस्तित्व हमें मानना पड़ेगा। सारा माध्यम इन नलिकाओं में विभक्त समझ लीजिये और प्रत्येक नलिका को तनी हुई रबर की नली की तरह मान लीजिये जिसमें पम्प के द्वारा खूब गैस भर दी गयी हो। अतः प्रत्येक नलिका लम्बाई में छोटी होने का प्रयत्न करेगी और उसके भीतर की वायु उसकी मोटाई को बढ़ाने का प्रयत्न करेगी। किन्तु नलिकाओं के पारस्परिक स्पर्श के कारण मोटाई अधिक न बढ़ सकेगी। जहाँ नलिकाओं की भीड़ अधिक होगी वहाँ नलियाँ पतली ही रहेंगी। किन्तु जहाँ उनकी भीड़ कम होगी वहाँ वे मोटी हो जायँगी। ऐसे गुणों से युक्त नलिकाओं की आकृति

ठीक चित्र 8·01 की बल रेखाओं के समान हो जायगी। इनसे वैद्युत आकर्षण तथा प्रतिकर्षण की क्रिया भी ठीक-ठीक समझ में आ जायगी। माध्यम की ऐसी विकृति का नाम फ़ैरेडे ने प्रेरण (induction) रखा था। इसी को मैक्सवैल ने वैद्युत विस्थापन (electric displacement) कहा है और कोई कोई इसे माध्यम का वैद्युत ध्रुवन (electric polarisation) भी कहते हैं। तीनों ही नाम प्रचलित हैं। इन भिन्न-भिन्न नामों का कारण यह है कि माध्यम की विकृति की भिन्न-भिन्न रूप से कल्पना की गयी है। फ़ैरेडे ने तो इस विषय को अनिश्चित ही छोड़ कर ऐसा नाम दिया है कि जिसमें किसी क्रिया विशेष पर ध्यान नहीं जाता। किन्तु मैक्सवैल के विस्थापन नाम से ऐसा बोध होता है कि मानो माध्यम अपने स्थान से कुछ हट गया है। मान लीजिये कि चित्र 8·05 मे काँच की नली के मध्य में पतले रबर का एक पर्दा **प** लगा है। नली मे पर्दे के दोनों ओर पानी भरा है। अब यदि एक ओर के बर्तन **ब**₁ मे अधिक पानी भर दिया जाय तो उसके दबाव के कारण पानी नली में से बह कर दूसरे बर्तन **ब**₂ मे जाने का प्रयत्न करेगा। इसके कारण रबर का पर्दा **प** विच्छिन्न रेखा की आकृति धारण कर लेगा। इस क्रिया मे नली का पानी सर्वत्र कुछ थोड़ा-सा अपने स्थान से हट जायगा किन्तु अधिक न हट सकेगा क्योंकि रबर की प्रत्यास्थता (elasticity) उसे रोक रखेगी। यदि **ब**₁ का पानी कम कर दिया जाय तो तुरन्त पर्दा **प** सीधा हो जायगा। मैक्सवैल ने वैद्युत माध्यम मे इसी प्रकार की विकृति की कल्पना की थी। अतः उन्होंने इस विकृति का नाम विस्थापन रखना उचित समझा था।
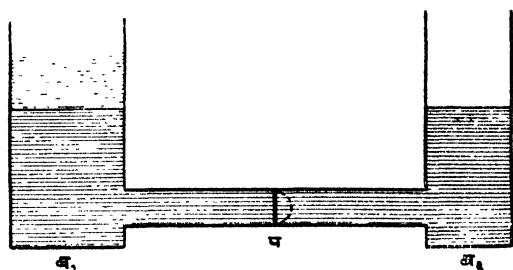
चित्र 8·05

जिन लोगों ने माध्यम के विकार की तुलना चुम्बकीय प्रेरण के अणु-सिद्धान्त से की उन्होंने इसका नाम ध्रुवन रख दिया। इनके मतानुसार आविष्ट वस्तुओं का मध्यवर्ती पदार्थ अणुमय है। प्रत्येक अणु में धन और ऋण दोनों प्रकार के आवेश इस प्रकार मिले रहते हैं कि अणु के बाहर के बिन्दु पर कोई वैद्युत बल नहीं लगता।

किन्तु वैद्युत क्षेत्र मे रखने पर धन विद्युत एक तरफ खिंच जाता है और ऋण विद्युत दूसरी ओर। फल यह होता है कि प्रत्येक अणु चुम्बक के समान ही ध्रुवित हो जाता है। और सब अणुओ के समान-ध्रुव एक ही दिशा मे रहने के कारण इस माध्यम के एक छोर पर धन-ध्रुव प्रकट हो जाता है और दूसरे छोर पर ऋण-ध्रुव। इस दृष्टि से माध्यम को ध्रुवित कह सकते हैं और इस विकृति का नाम ध्रुवन रखा जा सकता है। यद्यपि ये कल्पनाएँ घटना के रहस्य को समझने में कुछ सहायता करती हैं किन्तु यह नही कहा जा सकता कि इनमें सचाई का अंश कितना है। अतः अच्छा यही है कि हम माध्यम की विकृति को अनिश्चित ही समझें। इस प्रकार फ़ैरेडे का दिया हुआ नाम प्रेरण ही अधिक अच्छा मालूम होता है। हम इसी नाम का व्यवहार करेंगे।

प्रेरण के भौतिक अस्तित्व का एक और भी प्रमाण दिया जा सकता है। यदि दो चालक पट्टिकाओं के बीच में काँच अथवा अन्य पारदर्शक अचालक पदार्थ रख दिया जाय और एक पट्टिका पर प्रबल धन आवेश और दूसरी पर प्रबल ऋण आवेश उत्पन्न कर दिया जाय तो उस पारदर्शक वस्तु मे कुछ ऐसा विकार उत्पन्न हो जाता है कि उसमें से जाने वाली प्रकाश किरण दो सम-ध्रुवित (plane polarised) भागों में विभक्त हो जाती है। इन दो किरणों का वेग भिन्न-भिन्न होता है और दोनों के ध्रुवन-तल भी भिन्न-भिन्न होते हैं। इस घटना का नाम वैद्युत द्विवर्तन (electric double refraction) है। इससे प्रकट है कि वैद्युत क्षेत्र माध्यम में सचमुच कुछ विकार पैदा कर देता है।

8·06—**प्रेरण-नलिकाएँ** (Tubes of Induction)। प्रेरण की द्योतक नलिकाओं का नाम प्रेरण-नलिकाएँ रख दिया गया है। इनके मुख्य गुण नीचे संक्षेप में लिखे है :—

(1) प्रत्येक नलिका के एक छोर पर धन-आवेश होता है। और दूसरे पर ऋण-आवेश।

(2) प्रत्येक नलिका में अनुदैर्घ्य संकुंचन (longitudinal contraction) का गुण होता है।

(3) प्रत्येक नलिका में अनुप्रस्थ प्रसार (lateral expansion) का गुण होता है।

(4) चालक वस्तु के भीतर माध्यम की विकृति का अभाव होता है। अतः वहाँ ये नलिकाएँ भी नहीं होतीं।

(5) चुम्बकीय और वैद्युत प्रेरण-नलिकाओं में एक बड़ा भेद है। चुम्बकीय नलिकाएँ बंद वक्रो के रूप में होती हैं। वे एक स्थान से प्रारम्भ होकर पुनः उसी स्थान पर समाप्त होती हैं। उनके छोर होता ही नही। किन्तु वैद्युत नलिकाएँ धन-आवेश से प्रारम्भ होकर ऋण-आवेश पर समाप्त हो जाती हैं। उनके छोर होते हैं। इन्ही छोरों को हम आवेश कहते हैं।

यदि प्रेरण-नलिकाएँ ऐसी समझी जायँ कि प्रत्येक नलिका के छोर पर $1/4\pi$ मात्रक आवेश हो तो वे एकाकी प्रेरण-नलिकाएँ कहलाती हैं। अर्थात् प्रत्येक मात्रक आवेश 4π प्रेरण नलिकाओं का उद्गम होता है। चाहे माध्यम कोई भी क्यो न हो प्रतिवर्ग-सेंटीमीटर में से लम्बतः जितनी नलिकाएं निकले वह संख्या उस स्थान पर प्रेरण का परिमाण समझा जाता है। यहाँ यह कह देना उचित जान पड़ता है कि यद्यपि ऊपर प्रेरण, विस्थापन, तथा ध्रुवन एक ही विकृति के नामान्तर बतलाये गये हैं किन्तु इनके परिमाण नापने के मात्रको मे भेद है। विस्थापन या ध्रुवन प्रति वर्ग-सम० में से निकलने वाली फैरेडे नलिकाओ की संख्या के द्वारा नापा जाता है। इस हिसाब से विस्थापन=ध्रुवन=$1/4\pi$ प्रेरण।

8·07—**पार-वैद्युतांक** (Dielectric Constant)। इन परिभाषाओं से प्रेरण-नलिकाओं तथा मैक्सवैल बल-नलिकाओं की संख्याएँ बराबर होती हैं तथा क्षेत्र की तीव्रता तथा प्रेरण का परिमाण भी बराबर होता है। किन्तु यह बात निर्वात स्थान अथवा वायु ही के लिए ठीक है। जब माध्यम अन्य कोई अचालक हो तब यह समता नहीं रहती। प्रेरण का परिमाण तथा प्रेरण-नलिकाओं की संख्या तब भी उतनी ही समझी जाती है किन्तु तीव्रता तथा बल-नलिकाओं की संख्या घट जाती है क्योंकि बताया जा चुका है कि वैद्युत बल का परिमाण माध्यम पर निर्भर है।

यदि किसी माध्यम मे प्रेरण D हो और तीव्रता F हो तो $D/F=k$ उस माध्यम का पार-वैद्युतांक कहलाता है। निर्वात स्थान में $k=1$ होता है। वायु में भी k का मूल्य 1 से बहुत भिन्न नही होता।

पार-वैद्युतांक की इस परिभाषा से हम यह भी कह सकते हैं कि यदि किसी क्षेत्र में वायु हो और वहाँ तीव्रता F हो तो वायु के स्थान में k वैद्युतांक वाले अचालक को रखने पर तीव्रता घट कर F/k हो जायगी क्योंकि प्रेरण का परिमाण माध्यम के कारण बदलता नहीं।

उपर्युक्त परिभाषा $D/F=k$ को हम एक दूसरी दृष्टि से भी देख सकते हैं। प्रत्यास्थी (elastic) वस्तु में विकृति (strain) के कारण प्रतिबल (stress) होता है। और उनका पारस्परिक सम्बन्ध उपयुक्त मात्रकों में यह है

$$\frac{\text{प्रतिबल}}{\text{विकृति}}=\text{प्रत्यास्थता}$$

ठीक इसी प्रकार वैद्युत माध्यम में प्रेरण और तीव्रता भी परस्परानुपाती हैं।

$$\frac{\text{तीव्रता}}{\text{प्रेरण}}=\frac{1}{k}=\frac{1}{\text{पार-वैद्युतांक}}$$

यदि वैद्युत-बल भी माध्यम के किसी विशेष प्रकार की प्रत्यास्थता के कारण समझा जाय तो हमें उस प्रत्यास्थता का परिमाण (1/पार-वैद्युतांक) के बराबर समझना चाहिए।
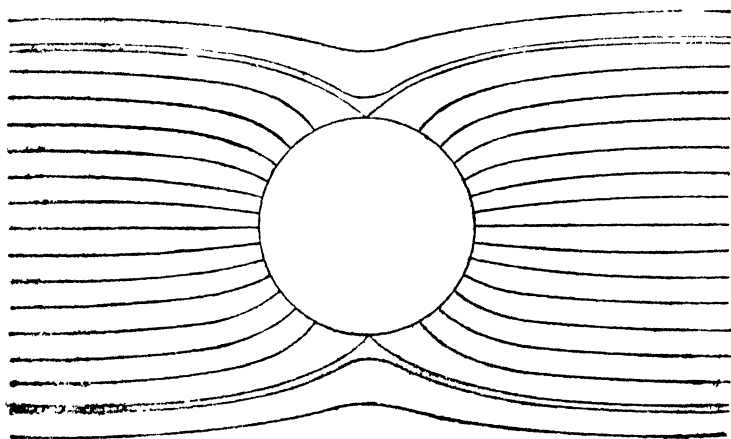
चित्र 8·06

8·08—**वैद्युत क्षेत्र में अचालक वस्तु रखने का परिणाम**। यह ऊपर कई बार कहा गया है कि चालक वस्तु के भीतर वैद्युत बल का अभाव होता है। इस कारण यह भी मालूम होता है इस बल का जन्मदाता प्रेरण भी चालक के भीतर नहीं होता अर्थात् वैद्युत क्षेत्र में चालक वस्तु रखने से प्रेरण-रेखाएँ चित्र 8·06 के समान हो जाती हैं। चालक के बाहर उनका वितरण कुछ बदल जाता है और भीतर से वे बिलकुल लुप्त ही हो जाती है। किन्तु अचालक वस्तु वैद्युत क्षेत्र में रखने पर ऐसा

नहीं होता। उसके कारण क्षेत्र की तीव्रता घट जाती है और प्रेरण बढ़ जाता है। चित्र 8·07 मे प्रेरण-नलिकाओं का वितरण अचालक मे बतलाया गया है।
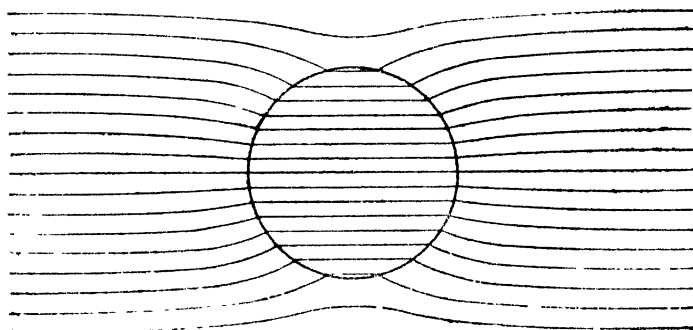
चित्र 8·07

8·09—**वैद्युत संतुलन** (Electrostatic Equilibrium)। कई प्रयोगों में हमने विद्युत् के एक वस्तु से दूसरी वस्तु पर चले जाने का ज़िकर किया है। यदि दो गोले लेकर उन्हे एक ही प्रकार के विद्युत् मे आविष्ट कर दे और विद्युद्दर्शी पर रखे हुए डिब्बे मे डाल कर उन के विद्युत् के परिमाण को नाप ले और तब उन्हें आपस मे स्पर्श करा दे तो हम देखेंगे कि उनकी वैद्युत अवस्था में परिवर्तन हो जायगा। ऐसा मालूम होगा कि विद्युत् एक गोले मे से निकलकर दूसरे गोले में चला गया है। विशेष अवस्थाओं में कभी-कभी ऐसे स्पर्श से कुछ भी परिवर्तन नहीं होता। अर्थात् कभी-कभी स्पर्श करने पर भी विद्युत् एक चालक से दूसरे में नहीं जाता। ऐसी अवस्था को वैद्युत-संतुलन कहते है। जब विद्युत् एक गोले से दूसरे पर चला जाता है तब भी इस क्रिया के बाद वैद्युत संतुलन हो जाता है क्योंकि अब जो अवस्था दोनों गोलों की हो गयी है उसमें फिर कुछ भी परिवर्तन स्पर्श करने से नहीं होता।

अब विचार करने की बात यह है कि वैद्युत संतुलन कब होता है। वह विशेष अवस्था क्या है जिसके कारण विद्युत् का स्थान परिवर्तन रुक जाता है अथवा साधारणतया विद्युत् क्यों एक चालक से दूसरे पर जाता है?

सम्भव है कि पाठकों का यह अनुमान हो कि जिस चालक में विद्युत् की मात्रा अधिक होगी वहाँ से वह कम मात्रा वाले चालक मे चला जायगा और जब दोनों की मात्राएँ बराबर हो जायँगी तब ही दोनों मे संतुलन हो जायगा। किन्तु यह बात नहीं

है। उपर्युक्त प्रयोगों मे एक गोला बहुत बड़ा और एक बहुत छोटा लीजिये। डिब्बे-दार विद्युद्दर्शी से नाप कर दोनों को समान परिमाण का आवेश दे दीजिये। तब दोनों को परस्पर स्पर्श करा दीजिये। इसके बाद प्रत्येक गोले की पुनः उसी विद्युद्दर्शी से परीक्षा कीजिये। आप देखेंगे कि बड़े गोले के विद्युत् की मात्रा बढ़ गयी है। और छोटे की कम हो गयी है। विद्युत् छोटे गोले मे निकलकर बडे में चला गया है।

शायद आप कहें कि इस प्रयोग मे विद्युत् का पृष्ठ-घनत्व दोनों गोलों पर बराबर नही था। छोटे गोले के छोटे पृष्ठ पर भी उतना ही विद्युत् था जितना बड़े गोले के अधिक विस्तृत पृष्ठ पर। अत. छोटे गोले पर विद्युत् का घनत्व प्रति वर्ग सम० अधिक था। दोनों गोलो पर घनत्व बराबर होने पर संतुलन होता था। किन्तु ऐसा भी नही है। हम नाप कर दोनों को इतना आवेश भी दे सकते है कि दोनों का पृष्ठ-घनत्व बराबर हो जाय। किन्तु इस अवस्था मे स्पर्श करने पर हम विद्युत् को बड़े गोले से छोटे मे जाता हुआ पायेंगे।

8·10—**वैद्युत विभव** (Electric Potential)। अतः यह ज्ञात हुआ कि मात्रा या पृष्ठ-घनत्व के अतिरिक्त वह कुछ और ही बात है जिस पर विद्युत् का संतुलन अथवा स्थानान्तर निर्भर है। इसका नाम विभव (potential) रखा गया है। जिस चालक का वैद्युत विभव अधिक होगा उस पर से विद्युत् कम विभव वाले चालक में चला जायगा। जब दोनों का विभव बराबर हो जायगा तभी दोनों में संतुलन स्थापित हो सकेगा। उपर्युक्त प्रयोग मे छोटे गोले का विभव अधिक था और बड़े गोले का कम। अत. विद्युत् छोटे गोले से बड़े में चला गया।

यह विभव क्या है और कैसे नापा जाता है यह तो पीछे बताया जायगा किन्तु उससे पहले उचित होगा कि कुछ उपायों से यह विषय थोड़ा और स्पष्ट कर दिया जाय। सब कोई जानते हैं कि जल ऊँची जगह से नीची जगह पर बह जाता है। यदि दो बर्तनों मे जल भरा हो और उन्हें हम एक नली से जोड दें तो पानी एक में से दूसरे में बह जायगा। यह बहाव न तो इस बात पर निर्भर है कि कौन सा पात्र छोटा है और कौन सा बड़ा और न इस बात पर ही अवलम्बित है कि पानी किस पात्र में अधिक है। जिस पात्र में जलपृष्ठ ऊँचा होगा उसी में से जल दूसरे में बहेगा। इस दृष्टि से यदि विद्युत् को पानी के समान समझा जाय तो विभव को जल-पृष्ठ की ऊँचाई के अनुरूप समझना होगा।

एक और उदाहरण ऊष्मा का इस सम्बन्ध में दिया जा सकता है। दो वस्तुओं को स्पर्श करने पर बहुधा हम देखते हैं कि ऊष्मा एक में से निकलकर दूसरे में चली जाती

है । यहाँ भी ऊष्मा की अधिकता प्रवाह का कारण नहीं है । जिस वस्तु का टेम्परेचर अधिक हो उसी में से ऊष्मा कम टेम्परेचर वाली वस्तु में जाती है चाहे ऊष्मा की मात्रा दूसरी वस्तु में ही अधिक हो ।

अतः जलपृष्ठ की ऊँचाई तथा टेम्परेचर के अनुसार ही वैद्युत विभव भी विद्युत् के प्रवाह का निर्णायक है । प्रत्येक वस्तु का कुछ न कुछ वैद्युत विभव होता है । यदि दो वस्तुओं का विभव बराबर हो तो उन्हें स्पर्श करने से विद्युत् इधर से उधर नहीं जाता । किन्तु यदि विभव में कुछ भी अन्तर हो तो धन विद्युत् अधिक विभव वाली वस्तु में से निकल कर कम विभव वाली वस्तु में चला जाता है । इससे पहली का विभव घटता है और दूसरी का बढ़ता है । दोनों का विभव बराबर हो जाने पर यह प्रवाह बन्द हो जाता है । ऋण-विद्युत विपरीत दिशा में गमन करता है अर्थात् वह कम विभव से अधिक विभव की ओर जाता है ।

किन्तु और भी एक बात में जलपृष्ठ की ऊँचाई तथा टेम्परेचर से वैद्युत विभव की समानता ध्यान देने योग्य है । ऊँचाई का नाप सदा आपेक्षिक होता है । शिमला 7000 फुट ऊँचा है समुद्र तल की अपेक्षा । समुद्र पृष्ठ की ऊँचाई को शून्य मानकर साधारण ऊँचाइयाँ नापी जाती हैं । किन्तु कोई नहीं कह सकता कि निरपेक्ष (absolute) ऊँचाई क्या है । हमें केवल ऊँचाइयों के अन्तर ही से काम है ।

इसी प्रकार टेम्परेचर भी आपेक्षिक रीति से नापा जाता है । टेम्परेचर का निरपेक्ष परिमाण हम कुछ नहीं बतला सकते । बरफ़ के टेम्परेचर को शून्य मान कर हम कह सकते हैं कि किसी वस्तु का टेम्परेचर उससे कितना अधिक है अथवा कम । हम टेम्परेचर का शून्य सुविधानुसार जहाँ चाहें नियत कर सकते हैं । फ़ारेनहाइट और सेन्टीग्रेड विधि में हम प्रत्यक्ष ही इस अनिश्चितता का प्रमाण पाते हैं । शून्य के नीचे के टेम्परेचर ऋण-चिन्हीय समझे जाते हैं ।

ठीक यही दशा वैद्युत विभव की है । यह कहना आसान है कि अमुक वस्तु का विभव अमुक से अधिक है या कम । ऊँचा है या नीचा । किन्तु इस विभव का निरपेक्ष मान बताना सम्भव नहीं । ऊँचाई और टेम्परेचर के समान ही विभव का शून्य भी सुविधा के लिए जो चाहें नियत कर सकते हैं । इस अनिश्चितता का कारण यह है कि हमें वैद्युत प्रभाव का अनुभव तब ही हो सकता है जब विभव की भिन्नता हो । यदि हमारे सामने सब पदार्थ एक ही विभव वाले हों तो उनमें पारस्परिक संतुलन होने के कारण किसी प्रकार का वैद्युत बल न देख पड़ेगा, चाहे उनका विभव कितना

ही ऊँचा क्यों न हो । हम केवल विभव के अन्तर का अनुभव कर सकते हैं न कि उसके निरपेक्ष परिमाण का ।

पृथ्वी का विभव सुविधा के लिए शून्य मान लिया गया है । यदि किसी धनाविष्ट वस्तु का संपर्क किसी चालक के द्वारा पृथ्वी से कर दिया जाय तो धन-आवेश पृथ्वी में चला जाता है । अतः धनाविष्ट वस्तु का विभव पृथ्वी से अधिक समझा जाता है । उसे धन-चिन्हीय विभव अथवा धन-विभव कहते हैं । पृथ्वी को स्पर्श करने के बाद उसका विभव पृथ्वी के बराबर ही अर्थात् शून्य हो जाता है ।

ऋणाविष्ट वस्तु का विभव पृथ्वी से कम होता है । अतः वह ऋण-चिन्हीय अथवा ऋण-विभव कहलाता है । ऐसी वस्तु जब पृथ्वी को स्पर्श करती है तब धन आवेश पृथ्वी में से आकर उसके ऋण आवेश को नष्ट कर देता है ।

जिस प्रकार विशालता के कारण समुद्रपृष्ट की ऊँचाई स्थिर समझी जाती है और बादलों के उठने या नदियों के उसमें मिलजाने से उसकी ऊँचाई में कोई परिवर्तन होता हुआ नही समझा जाता, ठीक वैसे ही पृथ्वी का विभव भी उसकी विशालता के कारण कभी नही बदलता । उसमें हम चाहे जितना धन आवेश चला दें या ऋणावेश, वह सदा अनाविष्ट ही रहती है ।

यह विभव केवल आविष्ट वस्तु पर ही नही होता । उसके चारो ओर के क्षेत्र के प्रत्येक बिन्दु पर भी हम विभव की कल्पना कर सकते हैं क्योंकि यदि इस क्षेत्र में कोई धन आवेश रक्खा जाय तो वह अपना स्थान परिवर्तन करता है । बल-रेखाओं की दिशा में वह गमन करता है । विद्युत् की गति के कारण ही को हमने विभव का नाम दिया है । अतः वैद्युत क्षेत्र में भी सर्वत्र कुछ न कुछ विभव मानना ही पड़ेगा । धनाविष्ट वस्तु से प्रारम्भ करके यदि हम पृथ्वी की ओर जायें तो वैद्युत विभव धीरे-धीरे घट कर शून्य हो जाता है । धनाविष्ट वस्तु के चारों ओर समस्त क्षेत्र धन विभवमय है । इसी प्रकार ऋणाविष्ट वस्तु का क्षेत्र ऋणविभवमय है ।

यदि एक धनाविष्ट और एक ऋणाविष्ट वस्तु पास पास रक्खी हों तो प्रथम वस्तु से दूसरी वस्तु की ओर जाने में धन-विभव धीरे-धीरे घट कर शून्य हो जायगा और तब और भी घट कर ऋण-चिन्हीय बन जायगा ।

वैद्युत क्षेत्र के इस विभव या विभवान्तर का पता तभी चलता है जब हम वहाँ कोई आविष्ट वस्तु रखते हैं । किन्तु ऐसी वस्तु की अनुपस्थिति में भी विभव तो वहाँ

होता ही है । माध्यम के विकार या प्रेरण को हम इस विभव का कारण समझ सकते हैं ।

किसी आविष्ट वस्तु पर स्वयं अपने आवेश के कारण जो विभव होता है वह उसका निजी विभव कहलाता है । किन्तु जो विभव किसी अन्य वस्तु के कारण होता है वह प्रेरित विभव कहलाता है ।

मान लीजिये कि एक धनाविष्ट गोला है जो सुवर्णपत्र-विद्युद्दर्शी की पट्टिका से तार द्वारा जुड़ा है । इसका कुछ स्वतन्त्र धन-विभव है जिससे पत्र फैले हुए हैं । अब यदि इसके निकट कोई ऋणाविष्ट वस्तु लायी जाय तो हम देखेंगे कि पत्रों का फैलाव घट जाता है अर्थात गोले का विभव घट जाता है । इसका कारण प्रेरित ऋण-विभव है । निजी धन-विभव और यह प्रेरित ऋण-विभव दोनों का सम्मिलित परिणाम ही हम देखते हैं । ऋणाविष्ट वस्तु को गोले के अधिक निकट लाने पर पत्र बिलकुल लटक जाते हैं अर्थात् गोले का विभव अब शून्य हो जाता है । यदि ऋण-आवेश और भी निकट लाया जाय तो पत्र पुनः फैल जाते हैं किन्तु इस बार ऋण आवेश के कारण गोले का विभव अब ऋण हो गया है । इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि गोले पर अब भी धन विद्युत् ज्यों का त्यों विद्यमान है तथापि ऋण आवेश की निकटता के कारण उसका विभव धन, शून्य अथवा ऋण जैसा चाहे हो सकता है ।

8·11—**सुवर्णपत्र-विद्युद्दर्शी का रहस्य**। यद्यपि इस विद्युद्दर्शी का आविष्ट करना तथा उससे विद्युत् की जाति पहचानना हमने परिच्छेद 7 में सीख लिया है और स्थूल-रूप से उसके कार्य को समझ भी लिया है तथापि बल-नलिकाओं तथा विभव की दृष्टि से उसका रहस्य समझ लेना आवश्यक है क्योंकि इससे अन्यत्र भी विद्युत् सम्बन्धी बातों को समझने में बड़ी सहायता मिलेगी । चित्र 8·08 में भिन्न भिन्न अवस्थाओं में विद्युद्दर्शी के समीप की फ़ैरेडे बल-नलिकाएँ दिखलाई गयी हैं । चित्र (i) में अनाविष्ट विद्युद्दर्शी के निकट ऋणाविष्ट छड़ लायी गयी है । चित्र (ii) उक्त छड़ की उपस्थिति में ही विद्युद्दर्शी की पट्टिका को हाथ से स्पर्श कर देने के बाद का है । चित्र (iii) में धनाविष्ट छड़ दूर हटा ली गयी है । चित्र (iv) में इस आविष्ट विद्युद्दर्शी के निकट क्रमशः धनआवेश, ऋणआवेश, तथा पृथ्वी संपृक्त अनाविष्ट वस्तु लायी गयी है । बल-नलिकाओं की संख्या से तथा बाण से अंकित उनकी दिशा से विद्युद्दर्शी के आवेश का परिमाण तथा जाति मालूम होती है क्योंकि प्रत्येक नलिका के छोर पर एक मात्रक आवेश होता है—नलिका के प्रारम्भ-स्थान पर धन-आवेश तथा अन्त में ऋण-आवेश ।

इन चित्रों में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। पहले कहा गया था कि धनाविष्ट वस्तु की उपस्थिति में प्रेरित ऋण-आवेश तो आकर्षण के कारण ज्यों का
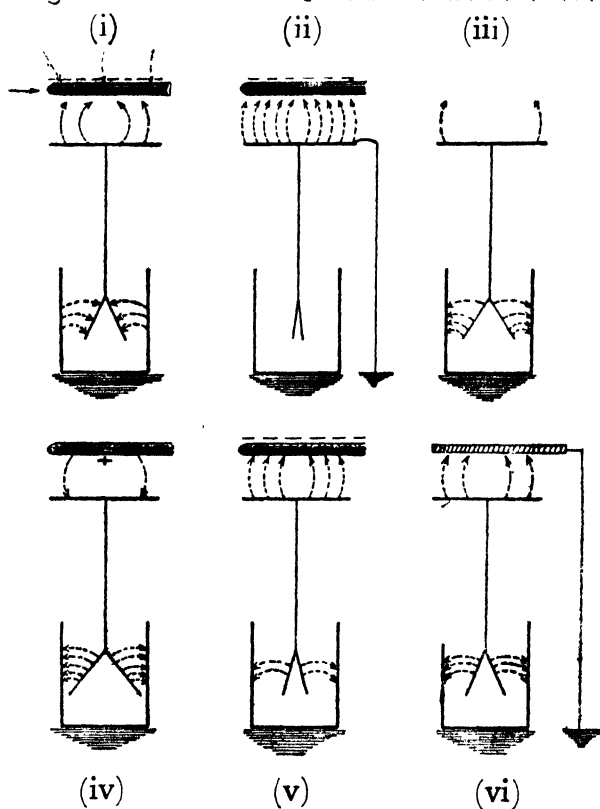
चित्र 8·08

त्यों रहता है किन्तु हाथ से पट्टिका को स्पर्श करते ही प्रेरित धनआवेश पत्रों पर से हट कर पृथ्वी में चला जाता है। किन्तु चित्र (i) तथा (ii) की तुलना करने पर आप देखेंगे कि धनआवेश तो वस्तुतः पृथ्वी में चला गया है किन्तु पट्टिका पर ऋण-आवेश की मात्रा स्पर्श करने पर कुछ बढ़ गयी है। अतः प्रेरित ऋण आवेश को आबद्ध तथा धन-आवेश को मुक्त मानने ही से यथार्थ बात का पता नहीं चलता।

इसका कारण यह है कि जो बल-नलिकाएँ आविष्ट छड़ के चारों ओर फैली हुई थीं उनमें से विद्युत्दर्शी की पट्टिका पर पहले कुछ थोड़ी का ही आरम्भ होता था। किन्तु जब पट्टिका का पृथ्वी से स्पर्श हो गया तो अन्य नलिकाओं को भी अपनी

लम्बाई छोटी करने का अवसर मिल गया और वे अधिक संख्या में वहाँ आ पहुँची। अथवा विभव की दृष्टि से यों कह सकते हैं कि पट्टिका का विभव चित्र (i) मे शून्य से कुछ कम है। वहाँ कुछ ऋण-विभव तो ऋण-विष्ट छड़ के कारण है और कुछ धन-विभव प्रेरित धन-आवेश के कारण है। यह धन-विभव ऋण-विभव से कम है। किन्तु जब पट्टिका पृथ्वी से छू दी गयी तो उसके विभव का परिमाण शून्य से अधिक नही रह सकता। अतः पट्टिका पर और अधिक धन आवेश की आवश्यकता हुई ताकि उसका ऋण-विभव धन-विभव के ठीक बराबर हो जाय।

8·12—**समविभव-पृष्ठ** (Equipotential Surface)। यदि कोई धनाविष्ट वस्तु कमरे के बीच मे स्थित हो तो उस वस्तु का तो कुछ धन-विभव होता है और कमरे की दीवारों तथा छत और फर्श का शून्य विभव होता है। मध्यवर्ती क्षेत्र मे सब दिशाओं मे विभव क्रमशः घटता है।

अतः यदि हम कही भी एक विन्दु की कल्पना करें तो जो विभव इस विन्दु का होगा वही आविष्ट वस्तु के चारों ओर अनेक अन्य विन्दुओं का भी होगा। इन सब समान
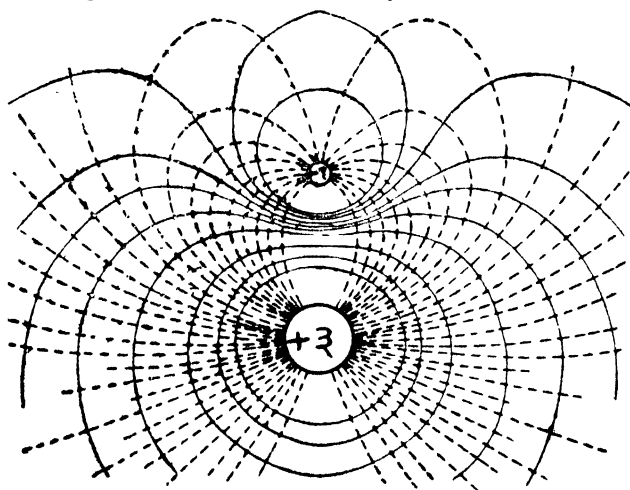
चित्र 8·09

विभव वाले विन्दुओं से एक निमीलित पृष्ठ बन जायगा जो आविष्ट वस्तु को सब तरफ से घेर लेगा। इस तल का नाम समविभव-पृष्ठ है। इससे कम या अधिक विभव वाले अनेक इसी प्रकार के सम-विभव-पृष्ठों की कल्पना हम आसानी से कर सकते हैं। चित्र 8·09 में अविच्छिन्न रेखाओं के द्वारा ये पृष्ठ दिखलाये गये हैं। बल-रेखाएँ

सर्वत्र इन पर लम्बरूप होती है। यह तो प्रगट ही है कि प्रत्येक चालक का पृष्ठ समविभव-पृष्ठ होता है क्योंकि यदि उस पृष्ठ पर विभव का तनिक भी कहीं अन्तर हो तो विद्युत् इधर से उधर चल कर इस अन्तर को दूर कर देगा और संतुलन तभी होगा जब सर्वत्र विभव बराबर हो जायगा। किन्तु चालक के इस पृष्ठ के भीतर जितनी जगह, जितना अवकाश है उसमें भी सर्वत्र उतना ही विभव होता है जितना कि चालक के पृष्ट पर। चाहे चालक ठोस हो अथवा खोखला उसके भीतर का समस्त अवकाश समविभव-अवकाश है। यदि ऐसा न हो तो हमें चालक के भीतर वैद्युत बल का अभाव न मिलता। यही कारण है कि चालक परिरक्षण (shielding) कर सकता है। उसके भीतर सर्वत्र एक ही विभव होने के कारण उसमे विद्युत् इधर से उधर हट नही सकता। अतः न प्रेरण होता है और न वैद्युत बल ही प्रकट होता है। फैरेडे के पिजड़े मे विद्युद्दर्शी के प्रत्येक भाग का विभव बराबर था। अतः पत्र किसी प्रकार भी न फैल सके। यदि खोखले चालक के भीतर कोई आविष्ट वस्तु चालक से विलग्न रक्खी हो तब यह बात नही होती। इस आवेश का क्षेत्र और वैद्युत बल चालक के भीतरी अवकाश मे अवश्य विद्यमान रहेंगे। किन्तु चालक का बाह्य पृष्ठ अब भी समविभव-पृष्ठ होगा।

जब कोई धनाविष्ठ वस्तु किसी वैद्युत क्षेत्र मे रक्खी हो तो उस पर वैद्युत बल लगता है और वह उच्च विभव से निम्न विभव की ओर हटती है। किन्तु यदि दो विन्दुओं का विभव बरावर हो तो वह एक विन्दु से दूसरे पर नही हट सकती अर्थात् वह समविभव-पृष्ठ पर थोड़ा सा भी इधर-उधर नहीं चल सकती। अतः उसकी गति समविभव-पृष्ठ से अभिलम्बतः ही होती है। इससे यह भी परिणाम निकला कि वैद्युत बल का कोई भी संघटक (component) समविभव-पृष्ठ की दिशा मे नही होता। अतः इस बल की दिशा उस पृष्ठ पर अभिलम्ब रूप ही होती है।

चित्र 8·10

8·13—**विभव का नाप**। यदि हम धनाविष्ट वस्तु को निम्न-विभव से उच्च-विभव की ओर ले जाना चाहे तो हमें उस वैद्युत बल के विपरीत ऊर्जा उसी प्रकार खर्च करनी होगी जिस प्रकार गुरुत्व के विरुद्ध वस्तुओं को नीचे से ऊपर उठाने में ऊर्जा खर्च करनी पड़ती है। इस ऊर्जा का परिमाण इस बात पर निर्भर नहीं है कि किस मार्ग से वस्तु ऊपर उठाई जाय। चित्र 8·10 में चाहे वह **च** से **क** तक सीधी उठाली जाय, चाहे प्रवणतल के मार्ग से **ख** से **क** पर
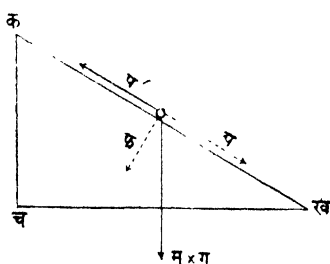
पहुँचाई जाय। जो यांत्रिक कार्य हमें करना पड़ेगा उसमें कुछ भी अन्तर नहीं होता। इसी प्रकार आवेश को भी हम जिस मार्ग से भी चाहे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जायँ, जो यांत्रिक काम हमें करना होगा वह केवल उन दोनों स्थानों के विभव के अन्तर पर ही निर्भर है। अतः हम कह सकते हैं कि एक सम-विभव-पृष्ठ से दूसरे सम-विभव-पृष्ठ पर आवेश को ले जाने में एक निश्चित ऊर्जा का व्यय होता है, मार्ग चाहे जो हो।

समविभव-पृष्ठ इस प्रकार खींचे जा सकते हैं कि किसी एक पृष्ठ से निकटवर्ती दूसरे पृष्ठ पर एक मात्रक आवेश को ले जाने मे एक मात्रक ऊर्जा (एक अर्ग) का व्यय हो। पृथ्वी सम्पृक्त समविभव-पृष्ठ का विभव शून्य मान लिया जाता है उससे प्रारम्भ करके समविभव-पृष्ठों के विभव को हम क्रमशः 1, 2, 3 इत्यादि संख्याओं के द्वारा व्यक्त कर सकते हैं। इस दृष्टि से किसी भी स्थान का विभव ऊर्जा के उन मात्रकों की सख्या के द्वारा व्यक्त होगा जो पृथ्वी से एक मात्रक आवेश को वैद्युत बल के विरुद्ध उस स्थान पर लाने मे व्यय होंगे।

यदि आविष्ट वस्तु अकेली हो अर्थात यदि हम ऐसा समझ ले कि उससे अनन्त दूरी पर भी कोई दूसरा आवेश विद्यमान नहीं है तो उसके क्षेत्र में शून्य-विभव अनन्त दूरी पर होगा। अत. इस अवस्था में किसी भी विन्दु पर विभव का परिमाण उस ऊर्जा के मात्रकों के बराबर होगा जो एक मात्रक आवेश को अनन्त दूरी से उस स्थान पर लाने में खर्च करना पड़े। यदि आवेश q मात्रक हो और उससे किसी विन्दु की दूरी r हो तो अनुच्छेद 2·15 की विधि से उक्त ऊर्जाका परिमाण q/r अर्ग के बराबर होगा। अतः वहाँ का विभव भी q/r के बराबर समझा जायगा।

यदि आविष्ट वस्तु के चारों ओर माध्यम वायु के अतिरिक्त और कोई हो और यदि उसका पार-वैद्युतांक k हो तो विभव q/kr होगा।

8·14—**विभव-प्रवणता** (Potential Gradient)। समविभव-पृष्ठों के चित्र से यह भी प्रकट है कि कहीं ये पृष्ठ बहुत नज़दीक-नज़दीक हैं और कहीं दूर-दूर। अर्थात् कहीं विभव जल्दी-जल्दी बदलता है और कहीं धीरे-धीरे। साथ ही वैद्युत बल की तीव्रता पर ध्यान देने से ज्ञात होगा कि विभव का परिवर्तन उस स्थान पर ही अधिक होता है जहाँ तीव्रता अधिक है। इसी बात को दूसरी प्रकार भी समझ सकते हैं। मान लीजिये कि कहीं तो एक सेंटीमीटर हटने पर विभव में एकांक का परिवर्तन होता है और कहीं चार सेंटीमीटर हटने पर। किन्तु दोनों ही स्थानों पर

ऊर्जा उतनी ही व्यय होती है। अतः स्पष्ट है कि पहले स्थान पर वैद्युत बल दूसरे स्थान की अपेक्षा चार गुणा अधिक होगा। अतः दूरी के साथ विभव के परिवर्तन की दर (dV/dr) जिसे हम **विभव-प्रवणता** का नाम दे सकते हैं क्षेत्र की तीव्रता बतलाती है। जहाँ यह प्रवणता अधिक होती है वहीं क्षेत्र अधिक तीव्र होता है।

$$\therefore \qquad F = -\frac{dV}{dr}$$

इस सूत्र में ऋण-चिन्ह इस बात का द्योतक है कि क्षेत्र के बल की दिशा वह है जिसमें विभव घटता है।

परिच्छेद 9

कुछ स्थिर-वैद्युत प्रमेय

(Some Electro-static Theorems)

9·01—**उत्क्रम-वर्ग-नियम का प्रमाण।** अनु० 7·21 मे कहा गया था कि गणित की सहायता मे प्रमाणित किया जा सकता है कि उत्क्रमवर्ग नियम के अनुसार खोखले किन्तु पूर्णतः बंद चालक गोले के भीतरी भाग मे वैद्युत बल का अभाव होता है। यह प्रमाण निम्न प्रकार है।

चित्र 9·01

मान लो कि गोले का केन्द्र **क** है और **प** उसके भीतर कोई बिन्दु है (चित्र 9·01)। **प** को शीर्ष मान कर उसके दोनों ओर एक अत्यन्त छोटे घन-कोण का शंकु बनाओ। यह गोले के पृष्ठ में से दो अत्यन्त छोटे क्षेत्र ds_1 और ds_2 कटेगा। मान लो कि **प** से ds_1 और ds_2 की दूरी क्रमशः r_1 और r_2 है। **क ख** और **क ग** इन क्षेत्रों पर अभिलम्ब खींचे गये हैं और ये अभिलम्ब **ख ग** से बराबर के कोण α बनाते है।
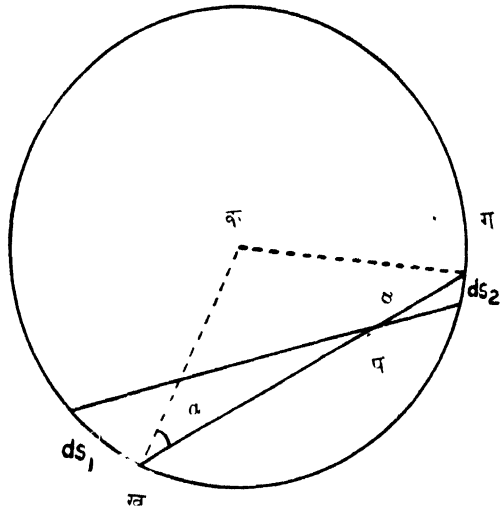
तब **प** पर शंकु का घन-कोण $= d\omega = \dfrac{ds_1 \cos\alpha}{r_1^2} = \dfrac{ds_2 \cos\alpha}{r_2^2}$

अर्थात् $\qquad ds_1 = \dfrac{r_1^2\, d\omega}{\cos\alpha} \qquad$ तथा $\; ds_2 = \dfrac{r_2^2\, d\omega}{\cos\alpha}$

यदि गोले के आवेश का पृष्ठ-घनत्व σ हो तो ds_1 पर आवेश

$$dq_1 = \sigma\, ds_1 = \frac{\sigma\, d\omega}{\cos\alpha} . r_1^2 - A\, r_1^2 \qquad \text{जहाँ } A = \frac{\sigma\, d\omega}{\cos\alpha} = \text{अचर}$$

इसी प्रकार ds_2 पर आवेश $\qquad dq_2 = A r_2^2$

अब यदि यह मान लिया जाय कि वैद्युत बल $F=1/kr^n$ है, तो **प** पर ds_1 के आवेश के कारण वैद्युत बल

$$=\frac{dq_1}{kr_1^{\,n}}=\frac{Ar_1^{\,2}}{kr_1^{\,n}}=\frac{A}{k}\cdot\frac{1}{r_1^{\,n-2}}$$

इसी प्रकार ds_2 के आवेश के कारण वैद्युत बल

$$=\frac{A}{k}\cdot\frac{1}{r_2^{\,n-2}}$$

ये दोनों बल विपरीत दिशाओं में भी होंगे ही और यदि $n=2$ हो तो इनका मान भी बराबर हो जायगा क्योंकि तब $r_1^{\,n-2}=r_2^{\,n-2}$। अर्थात् $n=2$ होने पर **प** पर इन दोनों क्षेत्रों (ds_1 और ds_2) के कारण वैद्युत बल का सर्वथा अभाव हो जायगा।

इसी प्रकार समस्त गोले के पृष्ठ को **प** शीर्ष वाले शंकुओं में विभाजित करने से स्पष्ट हो जायगा कि पूरे गोले के आवेश के कारण भी **प** पर कोई वैद्युत बल न रहेगा। किन्तु ऐसा तभी होगा जब यथार्थतया पूर्वक $n=2$ हो। यदि n का मूल्य 2 से तनिक भी भिन्न हुआ तो **प** पर कुछ न कुछ वैद्युत बल अवश्य विद्यमान रहेगा। अनु० 7·21 में वर्णित कैवेन्डिश के प्रयोग में वैद्युत बल का यह अभाव प्रत्यक्षतः प्रमाणित कर दिया गया था। अतः उस प्रयोग में यह भी प्रमाणित हो गया कि अनु० 7·22 के नियम $F=(q\ \ q')/r^2$ में r का घात यथार्थतः 2 ही है।

9·02—**अभिलम्ब प्रेरण** (Normal Induction)। यह बताया जा चुका है (अनु० 8·03) कि वैद्युत क्षेत्र में रखे हुए एक मात्रक आवेश पर जितना बल लगे वही उस क्षेत्र की तीव्रता कहलाती है। अतः q मात्रक युक्त विन्दु-आवेश (point charge) से r दूरी पर क्षेत्र की तीव्रता $F=q/r^2$ होगी। यदि माध्यम वायु के स्थान में और कोई हो तो $F=q/kr^2$

यह भी बताया जा चुका है कि प्रेरण$=kF=(q/r^2)$ प्रति वर्ग सम०। यह उन प्रेरण-नलिकाओं की संख्या है जो वहाँ रखे हुए एक वर्ग-सम० क्षेत्र में होकर अभिलम्बतः जाती हैं। यदि कोई क्षेत्र S इस प्रकार रखा हो कि प्रेरण-नलिकाएँ उसके अभिलम्ब से कोण θ बनावें तो उस क्षेत्र पर अभिलम्ब-प्रेरण का मान$=kFS\cos\theta$

9·03—**गाउस का प्रमेय** (Gauss's Theorem)। मान लीजिये कि **प** पर q मात्रा का एक आवेश है और उसे सब तरफ से एक निमीलित-पृष्ठ

(closed surface) ने घेर रखा है (चित्र 9·02)। इस पृष्ठ के विन्दु **च** पर एक छोटा सा क्षेत्रफल ds समझिये। **च** पर तीव्रता की दिशा **प च** है और पृष्ठ पर अभिलम्ब **च ल** है। **च ल** तथा **प च** के बीच में कोण θ है। अतः ds में से अभिलम्ब प्रेरण

चित्र 9·02

$$dD = kF \, . \, ds \, . \cos\theta$$

किन्तु　$F = \dfrac{q}{kr^2}$

जहाँ　$r =$ **प च**

$$\therefore \quad dD = k \, . \, \frac{q}{kr^2} \, . \, ds \cos\theta = q \, . \, \frac{ds \cos\theta}{r^2}$$

परन्तु क्षेत्रफल ds जितना घनकोण **प** पर बनाता है उसका परिमाण

$$d\omega = \frac{ds \cos\theta}{r^2}$$

$$\therefore \quad dD = q \, . \, d\omega$$

इसलिए पूरे निमीलित पृष्ठ में से पूर्ण अभिलम्ब प्रेरण$= q\int d\omega = 4\pi q$ क्योंकि $\int d\omega$ पूरे निमीलित पृष्ठ से बना घनकोण 4π के बराबर है।

यदि इस निमीलित पृष्ठ के भीतर और भी कई आवेश q के अतिरिक्त हों तो प्रत्येक आवेश के कारण $4\pi q_1$, $4\pi q_2$... इत्यादि प्रेरण के परिमाण होंगे। इसलिए हम कह सकते हैं कि किसी भी निमीलित पृष्ठ में से पूर्ण अभिलम्ब-प्रेरण परिमाण में उस पृष्ठ के अंतर्गत आवेश के परिमाण को 4π से गुणा करने से प्राप्त होता है।
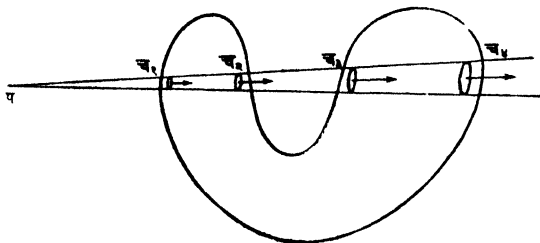
चित्र 9·03

यदि आवेश इस पृष्ठ से बाहर हो तो उसके कारण प्रेरण कुछ भी नहीं होता क्योंकि **च₁** तथा **च₂** (चित्र 9·03) पर प्रेरण एक ही परिमाण वाला किन्तु विपरीत

दिशा वाला होता है। **च**$_1$ पर प्रेरण पृष्ठ के भीतर की ओर जाता है और **च**$_2$ पर बाहर की ओर। प्रेरण-नलिकाओं की भाषा मे जितनी नलिकाएँ **च**$_1$ पर पृष्ठ में प्रवेश करती है वे सब **च**$_2$ मे से बाहर चली जाती है। यही दशा **च**$_3$, **च**$_4$ की है।

अतः $$\int kF\cos\theta\, ds = 4\pi\Sigma q$$

और यदि पृष्ठ के भीतर आवेश न हो तो $\int kF\cos\theta\, ds = 0$

यदि पृष्ठ के भीतर कुछ आवेश धन हो तथा कुछ ऋण हो तो उपर्युक्त सूत्र में Σq को q_1, q_2 ... आवेशों का बीजीय योग समझना चाहिए।

गाउस का यह नियम बड़े काम का है। इसके द्वारा बहुत-सी समस्याएँ हल हो जाती है। नीचे उनमे से कुछ दी जाती है।

9·04—**समतः आविष्ट गोला** (Uniformly Charged Sphere)। चित्र 9·04 में **ग** एक आविष्ट गोला है जिसके पृष्ठ पर q मात्रक का आवेश समान रूप से विनीर्ण है। इसका केन्द्र **म** है और हमें किसी बाह्य बिन्दु **प** पर इस गोले के कारण उत्पन्न क्षेत्र की तीव्रता का परिमाण जानना है।

चित्र 9·04

प मे से एक गोलाकार पृष्ठ **ग** के चारों ओर समझिये जिसका केन्द्र भी **म** है तथा त्रिज्या **मप**$=r$ सम० है। संमिति के कारण इस कल्पित गोले के प्रत्येक बिन्दु पर तीव्रता F का मूल्य बराबर होगा और उसकी दिशा भी इस पृष्ठ से अभिलम्ब-रूप ही होगी। अर्थात $F=$ अचर तथा $\theta=0$।
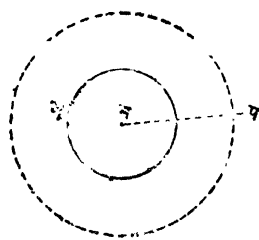
अतः पूर्ण अभिलम्ब प्रेरण $=\int kF\cos\theta\, ds = kF\,.\,4\pi r^2$

$$\therefore \qquad kF\,.\,4\pi r^2 = 4\pi q$$

$$\therefore \qquad F = \frac{q}{kr^2}$$

इससे प्रकट है कि **प** पर गोले **ग** के कारण क्षेत्र की तीव्रता ठीक इतनी है मानो **ग** का सारा आवेश गोले के केन्द्र **म** पर ही स्थित है। बाह्य बिन्दुओं पर समतः आविष्ट गोले का वैद्युत प्रभाव जानने के लिए हम उसके समस्त आवेश को केन्द्र पर एकत्रित समझ सकते है। यदि गोले के आवेश का पृष्ठ घनत्व σ हो और r उसकी त्रिज्या के बराबर लिया जाय तो $q=4\pi\sigma r^2$ हो जायगा और $F=(4\pi\sigma/k)$

इसी प्रकार यदि **प** गोले के अन्दर लिया जाता तो **प** में से कल्पित गोल पृष्ठ के भीतर कुछ भी आवेश न होता क्योंकि वास्तव में आवेश तो **ग** के पृष्ठ पर ही रहता है।

अतः वहाँ $$k.F.4\pi r^2 = 4\pi q = 0$$

$$\therefore \quad F = 0$$

अर्थात् समतः आविष्ट गोले के भीतर वैद्युत बल बिल्कुल नहीं होता।

9·05—**समतः आविष्ट अनन्त समतल** (Uniformly Charged Infinite Plane)। इसमें भी क्षेत्र की दिशा संमिति के कारण समतल से अभिलम्ब-रूप ही है। चित्र 9·05 मे समतल से ऊपर की ओर एक निमीलित बेलन-पृष्ठ (cylindrical surface) **च छ** की कल्पना करिये जिसके समतल सिरे तो
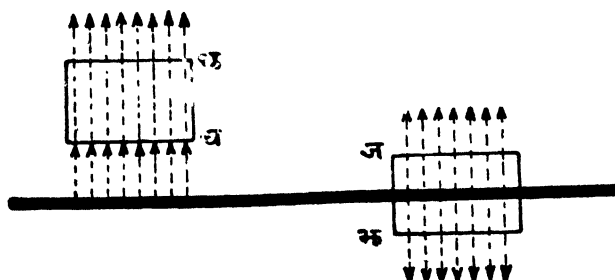
चित्र 9·05

अनन्त समतल से समान्तर हों और जिसका वक्र भाग उस पर अभिलम्ब-रूप हो। **च छ** के भीतर कोई आवेश न होने के कारण और तीव्रता वक्रतल से समान्तर होने के कारण पूर्ण अभिलम्ब प्रेरण $= kFA - kF'A = 0$

यहाँ F तथा F' **च** और **छ** पर क्षेत्र की तीव्रताएँ हैं और A बेलन के सिरों का क्षेत्रफल है। इससे ज्ञात हुआ कि क्षेत्र में सर्वत्र तीव्रता का परिमाण बराबर ही है।

अब इसी प्रकार का दूसरा कल्पित बेलन-पृष्ठ **ज झ** लीजिये जिसके सिरे आविष्ट समतल के दोनों ओर स्थित हों। यदि आवेश का पृष्ठ-घनत्व σ हो तो अनन्त समतल के दोनों ओर संमिति के कारण पूर्ण अभिलम्ब प्रेरण $= 2kF.A. = 4\pi(\sigma A)$.

$$\therefore \quad F = \frac{2\pi\sigma}{k}.$$

यदि आविष्ट समतल पट्टिका के दोनों पृष्ठों पर आवेश हो और प्रत्येक का पृष्ठ-घनत्व σ हो तो

$$F = \frac{4\pi\sigma}{k}.$$

9·06—**समतः आविष्ट अनन्त बेलन** (Uniformly Charged Infinite Cylinder)। चित्र 9·06 के अनन्त बेलन के चारों ओर **प** बिन्दु में से उसी अक्ष पर एक और बेलन की कल्पना करो। इसके वक्रतल पर भी तीव्रता संमिति के कारण सर्वत्र बराबर तथा अभिलम्ब रूप होगी और इसके समतलीय सिरों में से प्रेरण कुछ भी न होगा। अतः यदि **प** पर तीव्रता F हो, **प** की दूरी अक्ष से r हो तथा बाहिर वाले कल्पित बेलन की लम्बाई l हो और आविष्ट बेलन पर आवेश q प्रतिसम० हो तो

चित्र 9·06

$$k.F.2\pi rl = 4\pi(ql)$$

$$\therefore \qquad F = \frac{2q}{kr}$$

यदि आविष्ट बेलन की त्रिज्या a हो और **प** उसके पृष्ठ के निकट लिया जाय तथा बेलन का पृष्ठ-घनत्व σ हो तो $q = 2\pi a\sigma$ तथा $r = a$।

$$\therefore \qquad F = \frac{4\pi\sigma}{}$$
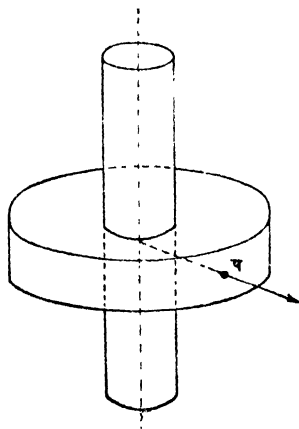
9·07—**कूलंब का प्रमेय** (Coulomb's Theorem)। यदि किसी चालक के पृष्ठ पर σ मात्रक प्रतिवर्ग-सम० का आवेश हो तो उस पृष्ठ के अत्यन्त निकट क्षेत्र की तीव्रता $(4\pi\sigma/k)$ होती है।

ख ग कोई चालक है जिसके पृष्ठ **ख ग** तथा **ङ घ** हैं (चित्र 9·07)। **ख ग** पर आवेश का पृष्ठ-घनत्व σ है। एक निमीलित बेलन **च छ** लीजिये जिसका वक्रतल इस पृष्ठ **ख ग** से अभिलम्ब-रूप हो तथा जिसका एक समतल सिरा **च** चालक से बाहिर हो और दूसरा सिरा **छ** चालक के भीतर हो। **च** अथवा **छ** का क्षेत्रफल A मान

लीजिये। यही इस बेलन के अन्तर्गत आविष्ट तल का भी क्षेत्रफल होगा। और उस पर आवेश होगा σA ।
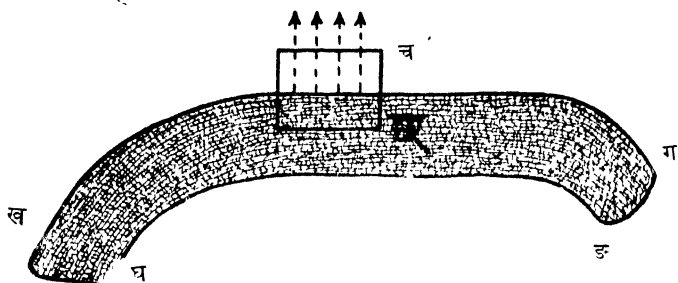
चित्र 9·07

इस बेलन के वक्रतल में से और छ में से तो कोई प्रेरण है ही नहीं। अत: पूर्ण अभिलम्ब प्रेरण = च में से प्रेरण $= k.F.A = 4\pi\sigma A.$

$$F = \frac{4\pi\sigma}{k}$$

पिछले तीन प्रकरणों में यह नियम तीन विशेष अवस्थाओं में स्वतन्त्र-रूप से प्रमाणित किया गया है।

9·08—**आविष्ट चालक पर स्थिर-वैद्युत दबाव** (Electrostatic Pressure)। चित्र 9·08 में आविष्ट चालक के पृष्ठ के अत्यन्त निकट दो बिन्दु **च** तथा **छ** हैं। जिनमें **च** बाहर की ओर है और **छ** चालक के भीतर की ओर। इनके बीच में चालक का जो छोटा सा भाग **प फ** है उसका क्षेत्रफल A मान लीजिये। तब कूलम्ब के नियमानुसार **च** पर क्षेत्र की तीव्रता

$$F = 4\pi\sigma$$
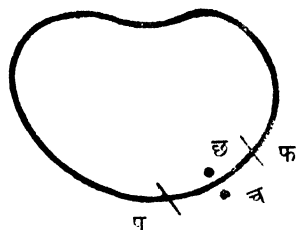
चित्र 9·08

इस तीव्रता का एक भाग F_1 तो **प फ** के आवेश के कारण है और दूसरा भाग F_2 शेष चालक के आवेश के कारण। अत:

$$F = F_1 + F_2 = \frac{4\pi\sigma}{k}$$

छ बिन्दु पर F_2 का मूल्य तो वही है जो **च** पर है क्योंकि **च** और **छ** अत्यन्त निकट

है किन्तु F_1 की दिशा उलटी है। अतः **छ** पर तीव्रता $=F_1-F_2$ है। किन्तु बिन्दु **छ** चालक के अन्दर होने के कारण यह तीव्रता $=0$

$$\therefore \quad F_1-F_2=0$$

$$\therefore \quad F_1=F_2=\frac{F}{2}=\frac{2\pi\sigma}{k}$$

अब यदि **प फ** को शेष चालक से पृथक् समझा जाय तो वह F_1 तीव्रता वाले क्षेत्र में स्थित है और उस पर आवेश σA है। अतः उस पर बाहिर की ओर एक बल लगेगा जिसका परिमाण

$$=F_1\sigma A=\frac{2\pi\sigma}{k}\,.\,\sigma\,.\,A$$

$$=\frac{2\pi\sigma^2}{k}\,.\,A=\frac{kF^2}{8\pi}\,.\,A\,.$$

अर्थात् आविष्ट चालक के प्रत्येक वर्ग सम० पर बाहिर की ओर $2\pi\sigma^2/k=kF^2/8\pi$ डाइन का बल लगता है। यह बल ठीक उस प्रकार का है मानो चालक के भीतर कोई गैस भरी हो और उसका दबाव $kF^2/8\pi$ हो। इस समानता के कारण इस परिमाण $kF^2/8\pi$ को स्थिर-वैद्युत दबाव कहते हैं। साबुन के बुलबुले को आविष्ट करने से यह दबाव प्रत्यक्ष देखा जा सकता है क्योंकि आवेश के कारण उसका आकार बढ़ जाता है।

9·09—**वैद्युत क्षेत्र की ऊर्जा** (Energy)। यह बताया जा चुका है कि वैद्युत क्षेत्र और उसमें व्यक्त होने वाले वैद्युत बल का कारण माध्यम की विकृति समझी जा सकती है। और प्रेरण-नलिकाओं के तनाव तथा दबाव की धारणाओं के द्वारा हम सब घटनाओं को अच्छी तरह समझ सकते हैं। इस दृष्टि से यह भी स्पष्ट है कि माध्यम में विकृति उत्पन्न करने के लिए कुछ ऊर्जा का व्यय करना होता है। यह ऊर्जा माध्यम ही में स्थित रहती है। इसका परिमाण जानने का उपाय निम्नलिखित है।

पिछले प्रकरण के क्षेत्रफल **पफ** को स्थिर-वैद्युत दबाव के प्रतिकूल बहुत थोड़ी सी दूर d हटाने में स्पष्ट ही $(kF^2/8\pi)A\,.\,d$ अर्ग ऊर्जा का व्यय होगा। इस क्रिया में वैद्युत क्षेत्र का आयतन बढ़ जायगा और इस वृद्धि का परिमाण $=A\,.\,d$ घन सम० होगा। अतः $A\,.\,d$ घन-सम० वैद्युत क्षेत्र की उत्पत्ति में $(kF^2/8\pi)A\,.\,d$ अर्ग ऊर्जा की आवश्यकता होती है। अर्थात् क्षेत्र के प्रत्येक घन सम० की उत्पत्ति $kF^2/8\pi$

अर्ग ऊर्जा व्यय करने से होती है। यही ऊर्जा उस क्षेत्र में भरी रहती है। अतः वैद्युत क्षेत्र की ऊर्जा $kF^2/8\pi$ अर्ग प्रति घन-सम० होती है।

9·10—**फ़ैरेडे-नलिकाओं का तनाव** (Tension)। ऊपर प्रमाणित हो चुका है कि चालक के प्रत्येक वर्ग-सम० पर आवेश के कारण $2\pi\sigma^2/k$ डाइन का बल लगता है। इस वर्ग-सम० पर आवेश की मात्रा σ होने के कारण इस पर σ नलिकाओं के सिरे स्थित हैं। अतः यदि यह माना जाय कि ये नलिकाएँ ही अपने तनाव के कारण चालक पर बल लगाती हैं तो यह भी मानना पड़ेगा कि प्रत्येक नलिका का तनाव

$$\frac{2\pi\sigma^2}{k\,.\,\sigma}=\frac{2\pi\sigma}{k}=\frac{F}{2}$$

डाइन होता है। इस दृष्टि से भी क्षेत्र का ऊर्जा-घनत्व ज्ञात हो सकता है। नलिका की लम्बाई को एक सम० बढ़ाने मे तनाव के विरुद्ध $(F/2)\times 1$ अर्ग ऊर्जा का व्यय होगा। यह ऊर्जा नलिका के इस बढ़े हुए भाग मे स्थित रहेगी। इस भाग का आयतन $1/\sigma$ घन-सम० होगा क्योंकि चालक के एक वर्ग सम० क्षेत्र मे से σ नलिकाएँ उत्पन्न होती हैं।

किन्तु $$F=\frac{4\pi\sigma}{k}$$

$\therefore$ $$\frac{1}{\sigma}=\frac{4\pi}{kF}$$

इससे स्पष्ट है कि $4\pi/kF$ घन-सम० में $F/2$ अर्ग ऊर्जा रहती है। अतः एक घन-सम० क्षेत्र मे ऊर्जा

$$=\frac{F}{2}\bigg/\frac{4\pi}{kF}=\frac{kF^2}{8\pi}\ \text{अर्ग}$$

प्रत्येक नलिका का तनाव $F/2$ होने के कारण प्रत्येक वर्ग सम० क्षेत्र पर नलिकाओं का तनाव

$$\frac{F}{2}\cdot\sigma=\frac{F}{2}\cdot\frac{kF}{4\pi}=\frac{kF^2}{8\pi}$$

डाइन होगा। यह भी प्रमाणित किया जा सकता है कि नलिकाओं का पार्श्वीय दबाव (lateral pressure) भी $kF^2/8\pi$ डाइन प्रति वर्ग सम० होता है।

9·11—**बल-रेखाओं का दिशा परिवर्तन**। जब किसी वैद्युत क्षेत्र में दो या अधिक प्रकार के माध्यम वर्तमान हो तब इन माध्यमों के पार्थक्य-तलों पर जिन नियमों का पालन होता है उन पर भी विचार करना आवश्यक है।

मान लीजिये कि चित्र 9·09 मे **प फ** पार्थक्य-तल है और k_1 तथा k_2 इस तल के दोनों ओर के माध्यमों के वैद्युतांक है। वैद्युत बल को हम दो संघटकों में विश्लेषित कर सकते है। एक **प फ** से समान्तर तथा दूसरा **प फ** से अभिलम्ब-रूप। प्रथम भाग को हम समान्तर संघटक E कह सकते है और दूसरे का अभिलम्ब संघटक N
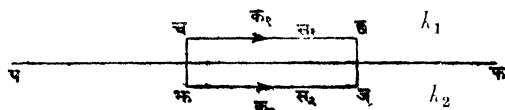
चित्र 9·09

मान लीजिये कि **च छ ज झ** एक कुंडली है जिसमे **चछ** तथा **ज झ** तो **प फ** के दोनों ओर उससे समान्तर है और **च झ** तथा **छ ज** है **पफ** पर अभिलम्ब-रूप। इसके अतिरिक्त **च छ** की लम्बाई बहुत बड़ी (l) है और **च झ** या **छ च** की अत्यन्त छोटी। अब यदि ऊपर वाले माध्यम मे वैद्युत बल का समान्तर संघटक E_1 नीचे वाले माध्यम के E_2 की अपेक्षा छोटा हो तो किसी आवेश को **च** से **छ** तक ले जाने में **झ** से **ज** तक ले जाने की अपेक्षा अधिक ऊर्जा लगेगी। **च** से **झ** तक अथवा **छ** से **ज** तक ले जाने में कुछ भी ऊर्जा का व्यय न होगा क्योंकि ये रेखाएँ अत्यन्त ही छोटी है। अतः यदि कोई आवेश q इस कुंडली के चारो ओर ले जाया जाय तो

$$\text{कार्य} = q.E_1l+0-qE_2l+0$$
$$=q(E_1-E_2)l$$

इस कार्य का परिमाण अवश्य ही 0 होना चाहिए अन्यथा इस प्रकार आवेश को इस कुंडली पर बराबर घुमा कर हमें अनन्त परिमाण की ऊर्जा प्राप्त हो सकेगी।

$$\therefore \quad E_1=E_2.$$

यदि अभिलम्ब संघटक N_1 और N_2 हों और चित्र 9·05 के **ज झ** के समान ही पार्थक्य-तल **प फ** पर भी हम एक बेलनाकार निमीलित पृष्ठ की कल्पना करें जिसका वक्रतल N_1 और N_2 से समान्तर हो तो गाउस के प्रमेय के अनुसार **प फ** पर आवेश के अभाव में

$$k_1N_1A=k_2N_2A$$

अर्थात्
$$k_1N_1=k_2N_2$$

इन दोनों परिणामों को हम शब्दों में यों लिख सकते है :

(i) पार्थक्य-तल के दोनो ओर वैद्युत बल के समान्तर संघटक बराबर होते है।

(ii) पार्थक्य-तल के दोनो ओर अभिलम्ब प्रेरण बराबर होते हैं।

यदि प्रथम माध्यम में बल-रेखा **प फ** हो (चित्र 9·10) और अभिलम्ब से θ_1 का कोण बनाती हो तो वैद्युत बल का समान्तर संघटक $E_1 = F_1 \sin \theta_1$

तथा अभिलम्ब संघटक $N_1 = F_1 \cos \theta_1$

तथा अभिलम्ब प्रेरण $k_1 N_1 = k_1 F_1 \cos \theta_1$

इसी प्रकार यदि यह बल-रेखा दूसरे माध्यम में **फ ब** की दिशा में हो और अभिलम्ब से θ_2 का कोण बनावे तो वैद्युत बल का समान्तर संघटक $E_2 = F_2 \sin \theta_2$ तथा अभिलम्ब प्रेरण

$$N_2 = k_2 F_2 \cos \theta_2$$

अतः उपर्युक्त नियमों के अनुसार

$$F_1 \sin \theta_1 = F_2 \sin \theta_2$$

चित्र 9·10

तथा
$$k_1 F_1 \cos \theta_1 = k_2 F_2 \cos \theta_2$$

$$\therefore \quad \frac{\tan \theta_1}{\tan \theta_2} = \frac{k_1}{k_2}$$

इस सूत्र के द्वारा बल-रेखाओं के दिशा-परिवर्तन का ज्ञान होता है। यदि $k_1 > k_2$ हो तो $\theta_1 > \theta_2$। अर्थात् जब कोई बल-रेखा अधिक पार-वैद्युतांक वाले माध्यम में से छोटे पार-वैद्युतांक वाले माध्यम में प्रवेश करती है तब वह पार्थक्य-तल के अभिलम्ब की ओर मुड़ जाती है। यह बात चित्र 8·07 की रेखाओं में देखी जा सकती है।

चुम्बकीय बल-रेखाओं के लिए भी ऐसे ही नियमों का पालन आवश्यक है।
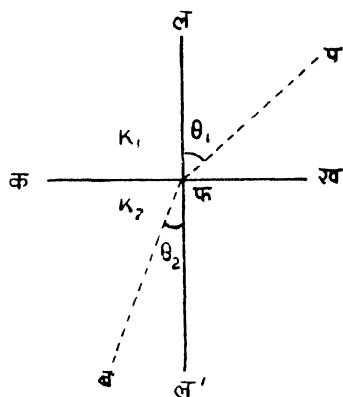
परिच्छेद 10

वैद्युत संधारित्र

(Electric Condenser.)

10·01—**वैद्युत विभव** (Electric Potential)। चुम्बकीय विभव के समान ही वैद्युत विभव की परिभाषा यह दी जा चुकी है:—

एक मात्रक आवेश को अनन्त दूरी से क्षेत्र के किसी विन्दु पर लाने में जो यांत्रिक कार्य करना पड़ता है उसके परिमाण को उस विन्दु का वैद्युत विभव कहते हैं।

चुम्बकीय विभव के समान ही यह भी प्रमाणित हो जाता है कि यदि किसी विन्दु-आवेश की मात्रा q हो तो उससे r सम० की दूरी पर विभव q/r होगा (अनु० 2·15)।

यह प्रमाणित हो चुका है कि समतः आविष्ट गोले का समस्त आवेश केन्द्र पर स्थित समझा जा सकता है। अतः बाह्य विन्दुओं के लिए गोले का आवेश भी विन्दु-आवेश ही है। और केन्द्र से r सम० की दूरी पर इसके कारण भी विभव q/r ही होगा।

यदि गोले की त्रिज्या a सम० हो तो स्वय गोले के पृष्ठ ही का विभव q/a होगा।

चालक गोले के भीतर वैद्युत क्षेत्र का अभाव होने के कारण उसके अन्दर सर्वत्र विभव बराबर ही होगा। अतः गोले के भीतर के प्रत्येक विन्दु पर भी वैद्युत विभव q/a होगा।

वैद्युत विभव के स० ग० स० मात्रक का कोई विशेष नाम नहीं है। व्यवहार में $\frac{1}{300}$ स०ग०स० मात्रक के बराबर एक दूसरा ही मात्रक काम में आता है। यही विद्युत्चुम्बकीय व्यावहारिक मात्रक (electromagnetic practical unit) है। इसका नाम वोल्ट (volt) रखा गया है।

10·02—**विद्युत धारिता** (Capacity)। पिछले परिच्छेद में बतलाया गया था कि यदि धातु का एक बड़ा गोला लें और एक छोटा और दोनों को बराबर परिमाण का धन विद्युत् दे दें तो उनका परस्पर स्पर्श कर देने पर धन विद्युत् छोटे गोले में से

निकल कर बड़े में चला जाता है। अर्थात् एक ही परिमाण के विद्युत् के द्वारा बड़े गोले की अपेक्षा छोटे गोले का विभव अधिक हो जाता है। इसी प्रकार यदि उक्त दोनों गोलों को आपस मे स्पर्श करा कर कुछ आवेश दिया जाय और तब उन्हे अलग कर दे तो डिब्बेदार विद्युत्दर्शी के द्वारा हमें ज्ञात होगा कि यद्यपि हमने दोनो का विभव बराबर कर दिया था तथापि आवेश दोनों पर बराबर नही हुआ। बड़े गोले पर अधिक विद्युत् मिलेगा। और छोटे पर कम।

इन प्रयोगों मे ज्ञात हो जाता है कि भिन्न-भिन्न आकृति तथा नाप वाले चालकों का विभव किसी निश्चित परिमाण का बनाने के लिए भिन्न-भिन्न परिमाण के विद्युत् की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न नाप के दो पात्रो में वायु का कोई निश्चित दबाव उत्पन्न करने के लिय वायु का भिन्न-भिन्न परिमाण आवश्यक होता है अथवा जिस प्रकार भिन्न-भिन्न वस्तुओ का टेम्परेचर एक डिग्री बढ़ाने के लिए ताप की भिन्न-भिन्न मात्राओं की जरूरत होती है ठीक वही हाल विद्युत् के सम्बन्ध मे है।

इस भिन्नता को प्रकट करने के लिए धारिता शब्द का प्रयोग किया जाता है। जिस पात्र की धारिता अधिक होती है उसमे वायु अधिक भरना पड़ता है और जिसकी ऊष्मा-धारिता (thermal capacity) अधिक होती है उसका टेम्परेचर बढ़ाने के लिए अधिक ऊष्मा की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार जिस वस्तु का विभव बढ़ाने के लिए अधिक विद्युत् की आवश्यकता हो उसकी विद्युत्-धारिता अधिक कही जाती है। गोलों वाले प्रयोग मे बड़े गोले की धारिता छोटे गोले की अपेक्षा अधिक थी।

नाप की दृष्टि से जिस प्रकार ताप के सम्बन्ध मे एक मात्रक ऊष्मा-धारिता उस वस्तु की समझी जाती है जिसका टेम्परेचर एक डिग्री बढ़ाने के लिए एक मात्रक ऊष्मा की आवश्यकता हो। ठीक उसी प्रकार विद्युत् के सम्बन्ध मे भी एक मात्रक धारिता उस वस्तु की समझी जाती है जिसके विभव में एक मात्रक की वृद्धि करने के लिए विद्युत् का एक मात्रक आवश्यक हो। अतः यदि q मात्रक विद्युत् के द्वारा किसी चालक का विभव V मात्रक बढ़े तो उसकी धारिता होगी $C=q/V$।

धारिता का स०ग०स० स्थिर-वैद्युत मात्रक सेंटीमीटर है। व्यावहारिक विद्युत्-चुम्बकीय मात्रक का नाम फ़ैरेडे की स्मृति में फ़ैरड (Farad) रख दिया गया है। एक फ़ैरड धारिता उस चालक की समझी जाती है जिसका विभव एक कूलम्ब विद्युत् के कारण एक वोल्ट बढ़ जाय।

हम बता चुके हैं कि एक कूलम्ब $=3\times10^9$ स्थिर-वैद्युत मात्रक

और एक वोल्ट $=\frac{1}{300}$ स्थि० वै० मात्रक

अत: एक फैरड $=\dfrac{3\times10^9}{\frac{1}{300}}=9\times10^{11}$ स्थि० वै० मात्रक

इसके दस-लाखवें भाग अर्थात 10^{-6} फैरड को माइक्रोफ़ैरड (microfarad) कहते हैं।

10·03—विद्युत धारिता किस बात पर निर्भर है। सब ही जानते हैं कि वायु के लिए पात्र की धारिता केवल पात्र के आयतन (volume) पर निर्भर है। चाहे पात्र काँच का हो या पीतल का या अन्य किसी पदार्थ का, केवल उसका आयतन ही यह निश्चित करता है कि उसमे दबाव की निश्चित वृद्धि करने के लिए कितनी वायु भरना होगा। यदि पात्र रबर के समान स्वयं भी दबाव के कारण आयतन में बढ़ जाता हो तो उसकी प्रत्यास्थता पर भी आवश्यक वायु का परिमाण निर्भर रहेगा। ऊष्मा-धारिता वस्तु के आयतन पर निर्भर नही है। वह उसके भार पर निर्भर है। इसके अतिरिक्त वह वस्तु की विशिष्ट ऊष्मा (specific heat) पर भी निर्भर है। किन्तु हम देखेंगे कि विद्युत-धारिता चालक के नाप (size) के अतिरिक्त उसकी आकृति (shape) पर भी निर्भर है। तथा उसका परिमाण इस बात पर भी निर्भर है कि उसके चारों ओर कौन सा अचालक पदार्थ विद्यमान है। एक ही नाप और आकृति के दो विलागित गोले लीजिये। दोनों को कुछ दूर रख कर पतले तार से जोड़ दीजिये। अब उन्हें कुछ आवेश दे दीजिये। तार के कारण दोनों का विभव बराबर रहेगा। विद्युत्दर्शी पर डिब्बा रखकर उसमें इन गोलों को क्रमश: प्रवेश कराकर देख लीजिये कि दोनों पर विद्युत् की मात्रा बराबर है इससे मालूम हो जायगा कि दोनों गोलों की धारिता बराबर है।

चित्र 10·01

अब चित्र 10·01 के अनुसार दोनों गोलों में से एक गोले **ख** के चारों ओर पैराफिन (मोम) भर दीजिये, और फिर ऊपर वाला प्रयोग उसके साथ कीजिये। आप देखेंगे कि विभव बराबर होने पर भी **ख** में अधिक विद्युत् मिलेगा। अत: पैराफिन के कारण **ख** की धारिता अधिक हो गयी।

यह हम कह आये है कि q मात्रक आवेश के कारण वैद्युत क्षेत्र में r दूरी पर विभव q/r होता है, यदि माध्यम वायु हो। किन्तु यदि माध्यम दूसरा हो और उसका पार-वैद्युतांक k हो तो यह विभव q/kr हो जाता है। अतः स्वयं आविष्ट वस्तु का विभव भी वायु से भिन्न माध्यम में V से घट कर V/k रह जायगा। इसलिये स्पष्ट है कि k पार-वैद्युतांक वाले माध्यम में धारिता

$$c' = \frac{q}{\frac{V}{k}} = k\frac{q}{V} = kc$$

जहां वायु मे धारिता c है।

यह भी हम देख चुके है कि किसी चालक का विभव उसके समीपवर्ती अन्य चालकों के आवेश के कारण भी बदल जाता है। स्वयं उस पर चाहे जितना आवेश हो, अन्य आविष्ट वस्तु की निकटता के कारण उसका विभव धन, शून्य, अथवा ऋण भी हो सकता है। अतः स्पष्ट है कि उसकी धारिता समीपवर्ती अन्य वस्तुओं पर भी निर्भर है।

10·04—**क्षेत्र की धारिता** (Capacity of Field)। फ़ैरेडे के मतानुसार हम देख आये है कि वास्तव मे विद्युत् की ऊर्जा का स्थान चालक नही है। उसके चारों ओर के माध्यम मे जो विकृति होती है वही असल में विद्युत् का घटनास्थल है। इस दृष्टि से चालक पर जितना विद्युत् प्रकट होता है वह चालक के गुणों पर निर्भर नही हो सकता। यही कारण है कि धारिता अन्य चालकों की उपस्थिति तथा माध्यम के पदार्थ पर निर्भर पायी जाती है। इस कारण सच पूछिये तो हमें उपर्युक्त धारिता को वैद्युत क्षेत्र की धारिता कहना चाहिये। तब उस पर उस क्षेत्र के नाप, आकृति तथा क्षेत्र मे भरे हुए अचालक माध्यम का प्रभाव होना स्वाभाविक ही मालूम पड़ेगा। अन्य आविष्ट तथा अनाविष्ट चालकों की उपस्थिति मे क्षेत्र की आकृति तथा विस्तार में परिवर्तन हो जाता है। उसकी बल-नलिकाओं का वितरण बदल जाता है। यही कारण है कि क्षेत्र की धारिता भी बदल जाती है।

10·05—**चालक की धारिता** (Capacity of a Conductor)। किन्तु यदि आविष्ट चालक ऐसे स्थान पर रखा हो कि उसके चारों ओर अनन्त दूरी तक भी कोई अन्य आवेश अथवा चालक न हो तथा वहाँ का माध्यम भी शून्य आकाश के अतिरिक्त और कोई न हो तब उस वस्तु के अपने क्षेत्र की जो धारिता होगी उसे हम उस चालक ही की धारिता कह सकते हैं। वायु का पार-वैद्युतांक भी निर्वात

स्थान के पार-वैद्युतांक से अधिक भिन्न नहीं होने के कारण इस परिभाषा में माध्यम वायु भी समझा जा सकता है।

10·06—**चालक गोले की धारिता** (Capacity of Spherical Conductor)। यदि किसी गोले की त्रिज्या a सम० हो तो q आवेश के कारण उसका विभव q/a होता है। अतः उसकी धारिता

$$c=\frac{q}{\frac{q}{a}}=a$$

अर्थात् अन्य आवेशों से दूर स्थित चालक गोले की धारिता का परिमाण सेंटीमीटरों में नापी हुई त्रिज्या की लम्बाई के बराबर होता है। अतः धारिता का मात्रक कभी कभी सेंटीमीटर भी समझा जाता है।

यदि माध्यम का पार-वैद्युतांक k हो तो गोले की धारिता ka होती है।

10·07—**दो चालकों में आवेश का वितरण**। यदि दो चालकों की धारिता क्रमशः c_1 और c_2, आवेश q_1 और q_2 तथा विभव V_1 और V_2 हो तो

$$c_1=\frac{q_1}{V_1} \quad \text{तथा} \quad c_2=\frac{q_2}{V_2}$$

अर्थात् $$q_1=c_1V_1 \quad \text{तथा} \quad q_2=c_2V_2 \quad \ldots \quad (1)$$

अब यदि इन दोनों को परस्पर स्पर्श करा दिया जावे तो दोनों का विभव कितना होगा और प्रत्येक पर आवेश की मात्रा क्या होगी ? इस सम्बन्ध में दो बातें स्मरण रखनी चाहिये:—

(i) यदि स्पर्श के बाद चालकों पर आवेश की मात्रा क्रमशः q_1' और q_2' हो तो
$$q_1+q_2=q_1'+q_2' \quad \ldots \quad (2)$$

(ii) यदि दोनों की सम्मिलित धारिता c हो तो $c=c_2+c_2$

मान लीजिये कि स्पर्श के बाद दोनों का विभव V है तो

$$q_1'=c_1V \quad \text{और} \quad q_2'=c_2V \quad \ldots \quad (3)$$

तथा $$c=(c_1+c_2)=\frac{q_1+q_2}{V} \quad \ldots \quad (4)$$

$$\therefore \quad (c_1+c_2)V=q_1+q_2=c_1V_1+c_2V_2$$

$$\therefore \qquad V=\frac{c_1V_1+c_2V_2}{c_1+c_2} \qquad . \quad . \quad . \quad (5)$$

तथा $\dfrac{q_1'}{q_2'}=\dfrac{c_1}{c_2}$ [समी० 3 से

$$\therefore \qquad \frac{q_1+q_2}{q_1'}=\frac{q_1'+q_2'}{q_1'}=\frac{c_1+c_2}{c_1}$$

$$\therefore \qquad q_1'=\frac{c_1}{c_1+c_2}(q_1+q_2)$$

और $$q_2'=\frac{c_2}{c_1+c_2}(q_1+q_2)$$

10·08—**आवेश की स्थितिज ऊर्जा** (Potential Energy of a Charge)। किसी चालक को आविष्ट करने में जितनी ऊर्जा का व्यय हुआ हो वह उसकी स्थितिज ऊर्जा है। इस ऊर्जा की गणना करने के लिये हम यह समझ सकते है कि सब आवेश एक ही साथ चालक पर नही पहुँचाया गया किन्तु उसके अगणित टुकड़े उत्तरोत्तर पहुचाये गये। मान लीजिये कि किसी समय उसका विभव V था। इस समय किसी आवेश dq को शून्य विभव के स्थान से इस पर लाने मे कार्य $=Vdq$ अर्ग।

$$\therefore \quad \text{पूरा आवेश देने मे कार्य}=\int_0^q Vdq=\int_0^q \frac{q}{c}\,dq=\frac{1}{2}\frac{q^2}{c}$$
$$=\tfrac{1}{2}q\,.\,V$$
$$=\tfrac{1}{2}cV^2 \quad . \quad . \quad (6)$$

इससे यह भी प्रकट है कि पिछले प्रकरण में दो आवेशों के जिस पुर्नवितरण का वर्णन है उसमें सदैव ऊर्जा की कुछ हानि होती है। क्योंकि स्पर्श से पहले ऊर्जा $$E_1=\tfrac{1}{2}c_1V_1^2+\tfrac{1}{2}c_2V_2^2$$

और स्पर्श के बाद में ऊर्जा

$$E_2=\tfrac{1}{2}cV^2=\tfrac{1}{2}(c_1+c_2)\left(\frac{c_1V_1+c_2V_2}{c_1+c_2}\right)^2 \qquad \text{[समी० 5 से}$$

$$=\frac{1}{2}\frac{(c_1V_1+c_2V_2)^2}{c_1+c_2}$$

∴ ऊर्जा की हानि

$$=E_1-E_2=\tfrac{1}{2}\left\{c_1V_1^2+c_2V_2^2-\frac{(c_1V_1+c_2V_2)^2}{c_1+c_2}\right\}$$

$$=\tfrac{1}{2}\frac{c_1c_2(V_1-V_2)^2}{c_1+c_2} \quad . \quad . \quad . \quad (7)$$

इसमें $(V_1-V_2)^2$ सदा धन-चिन्हीय ही होगा। अतः हानि भी धन-चिन्हीय होगी। यह नष्ट स्थितिज ऊर्जा ताप-रूप में परिणत होकर या तो स्फुल्लिंग उत्पन्न करती है अथवा स्पर्श करने वाले तार आदि का टेम्परेचर बढ़ा देती है।

10·09—**संधारित्र** (Condenser)। हम बता चुके हैं कि अन्य चालकों की उपस्थिति मे किसी भी आविष्ट चालक की धारिता बदल जाती है। यदि यह अन्य चालक पृथ्वी से जुड़ा हुआ हो तो धारिता बढ़ जाती है। अतः किसी आविष्ट वस्तु के निकट पृथ्वी-संपृक्त चालक रख कर बिना विभव को अधिक बढ़ाये ही हम उसे बहुत सा आवेश दे सकते हैं। दो चालकों की ऐसी व्यवस्था **वैद्युत संधारित्र** कहलाती है। संधारित्र बड़े काम का उपकरण प्रमाणित हुआ है। इसलिये हम उसका वर्णन कुछ विस्तार पूर्वक करेंगे।

संधारित्र मे एक चालक A विलागित होता है और दूसरा B पृथ्वी-संपृक्त (चित्र 10·02)। दोनों के बीच में वायु, काँच, अभ्रक, इत्यादि कोई अचालक पदार्थ माध्यम का काम करता है। विलागित चालक को आविष्ट करने से पृथ्वी-संपृक्त चालक पर विजातीय आवेश प्रेरित हो जाता है। अतः A का स्वतंत्र विभव B पर प्रेरित विजातीय विभव के कारण घट जाता है। जब A कमरे में अकेला होता है तब भी विजातीय आवेश कमरे की दीवार इत्यादि पर प्रेरित होता है। किन्तु वह इतनी दूर होता है कि उसके कारण A के विभव में अधिक कमी नही होती। संधारित्र में यह दूरी बहुत कम होती है, और जितनी ही कम यह दूरी होगी उतना ही A का विभव कम होगा तथा उतनी ही उसकी धारिता अधिक हो जायगी। संधारित्र के विलागित चालक की धारिता ही संधारित्र की धारिता कहलाती है।
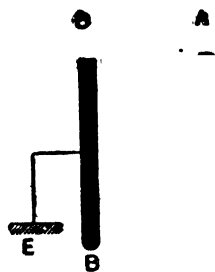
चित्र 10·02

चित्र 10·03 में दो वृत्ताकार (circular) पट्टिकाओं (A, B) का संधारित्र बतलाया गया है। चित्र (i) में इनके बीच की प्रेरण-नलिकाएँ दिखलाई गई

है। चित्र (ii) में बीच की दूरी बढ़ाने पर इन नलिकाओं का परिवर्तन बतलाया गया है। ये नलिकाएँ A और B के बीच में सीधी होती हैं। केवल किनारों पर अनुप्रस्थ दबाव के कारण कुछ वक्र हो जाती हैं। कुछ नलिकाएँ A के दूसरे पृष्ठ से भी निकलती है। वे कमरे की दीवार इत्यादि पर समाप्त होती हैं। इनकी संख्या (ii) में (i) की अपेक्षा अधिक है।
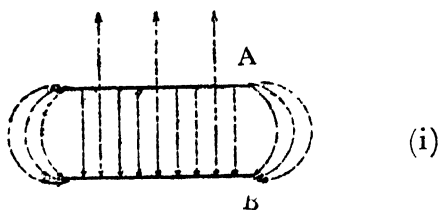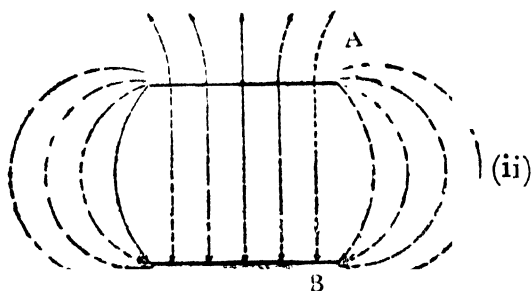
चित्र 10·03

इन चित्रों से प्रगट है कि जब A और B के बीच की दूरी अधिक नहीं होती तब B का आवेश A के आवेश के लगभग बराबर ही होता है। B को पृथ्वी से स्पर्श कराने से पहिले उस पर ऋण तथा धन दोनों ही प्रकार के आवेश A के आवेश के बराबर परिमाण के प्रेरित होते हैं। पृथ्वी से स्पर्श करते ही धन-आवेश पृथ्वी में चला जाता है। अतः यदि पूरे संधारित्र पर विचार करें तो हम देखते हैं कि जितना आवेश हम A को दें ठीक उतना ही आवेश B में से निकल कर पृथ्वी में चला जाता है। इसलिये यह कहना अनुचित है कि संधारित्र में विद्युत् का अधिक संचय हो जाता है। हां उसके प्रत्येक चालक पर अवश्य ही बहुत अधिक आवेश रह सकता है।

10·10—**संधारित्र की धारिता** (Capacity of a Condenser)। यह धारिता तीन बातों पर अवलम्बित है :—

(1) चालकों का क्षेत्रफल। जितना ही अधिक यह क्षेत्रफल होगा उतनी ही धारिता अधिक होगी। इस बात को समझने के लिये मान लीजिये कि हमारे पास एक ही प्रकार के कई संधारित्र हैं अर्थात् उनके चालकों का क्षेत्रफल तथा उनके बीच की दूरी और बीच का माध्यम सब एक से हैं। उनको बराबर आवेश देने से विलागित चालकों का विभव भी सबमें बराबर ही हो जायगा। अब यदि सबके विलागित चालक परस्पर जोड़ दिय जाये तो विभव बराबर होने के कारण विद्युत् तनिक भी इधर-उधर न हटेगा। प्रत्येक संधारित्र की अवस्था ज्यों की त्यों बनी रहेगी। किन्तु अब इन सब संधारित्रों के समूह को हम एक बड़ा संधारित्र मान सकते हैं जिसके विलागित चालक का क्षेत्रफल सब सधारित्रों के चालकों के क्षेत्रफल का जोड़ है। इस पर आवेश भी सब संधारित्रों के आवेशों के जोड़ के बराबर है। अतः इसकी धारिता भी पृथक्-पृथक् संधारित्रों की धारिताओं के जोड़ के बराबर हुई।

(2) चालकों के बीच की दूरी। जितनी अधिक यह दूरी होगी उतनी ही धारिता कम होगी। यह ऊपर बतलाया जा चुका है।

(3) चालकों के बीच का माध्यम। इस माध्यम का नाम वैद्युतांगण (dielectric) अधिक उचित है। यदि किसी संधारित्र के चालकों के बीच में काँच, एबोनाइट, अभ्रक आदि की पट्टिकाएँ रखकर विलागित चालक के विभव की विद्युद्दर्शी के द्वारा परीक्षा की जाय तो आप देखेंगे कि प्रत्येक अचालक पदार्थ वायु की अपेक्षा संधारित्र की धारिता को अधिक कर देता है। यह प्रमाणित हो सकता है कि यदि वैद्युतांगण का पार-वैद्युतांक k हो तो वायु के स्थान में उसे रखने पर संधारित्र की धारिता k गुणी अधिक हो जायगी।

10·11—संधारित्र की धारिता तथा ऊर्जा का नाप। संधारित्र के पृथ्वी-संपृक्त चालक की उपस्थिति में विलागित चालक की धारिता ही को संधारित्र की धारिता कहते हैं। अर्थात् संधारित्र के दोनों चालकों में एक स० ग० स० मात्रक का विभवान्तर उत्पन्न करने के लिये विलागित चालक पर जितने आवेश की आवश्यकता हो उतनी ही संधारित्र की धारिता होती है।

यदि q मात्रक आवेश के द्वारा विभवान्तर V उत्पन्न हो तो धारिता $c = \frac{q}{V}$

इस आवेश को विलागित चालक में पहुँचाने में जितनी ऊर्जा का व्यय करना पड़ता है और जो विलागक माध्यम में स्थितिज रूप में अवस्थित रहती है उसे

संधारित्र की ऊर्जा कहते हैं। अनु० 10·07 से प्रगट है कि इस ऊर्जा का मान होगा

$$\frac{1}{2}\frac{q^2}{c}=\frac{1}{2}cV^2$$

यदि संधारित्र में माध्यम वायु न होकर कोई अन्य पदार्थ हो तो उसकी धारिता kc हो जायगी। अतः यदि चार्ज अब भी q ही हो तो ऊर्जा $\frac{1}{2}(q^2/kc)$ हो जायगी किन्तु यदि विभवान्तर इस माध्यम में भी V ही हो तो ऊर्जा $\frac{1}{2}kcV^2$ तथा चार्ज kq हो जावेंगे।

10·12—**समान्तर-पट्ट संधारित्र** (Parallel-plate Condenser)। मान लीजिये कि इस संधारित्र की पट्टिकाओं के विभव क्रमशः V तथा O हैं और दोनों के बीच की दूरी d सम० है। यदि पट्टिकाएँ बहुत नज़दीक हों तो यह भी समझा जा सकता है कि उनके बीच में सब बल-रेखाएँ सीधी तथा समान्तर हैं और इस कारण क्षेत्र की तीव्रता F भी सर्वत्र एक-सी है। यदि पट्टिकाएँ वृत्ताकार हों और उनका क्षेत्रफल भी A वर्ग सम० हो तथा उन पर आवेश q मात्रक हो तो

$$V=F.d \text{ तथा पृष्ठ-घनत्व } \sigma=\frac{q}{A}$$

किन्तु $$F=\frac{4\pi\sigma}{k}$$ [अनु० 9·05

अतः $$V=\frac{4\pi\sigma}{k}.d=\frac{4\pi q}{kA}.d$$

∴ $$\text{धारिता } c=\frac{q}{V}=\frac{kA}{4\pi d} \quad . \quad . \quad . \quad (8)$$

यदि इस संधारित्र में विलागक वायु हो तो $c=A/4\pi q$। यदि दोनों पट्टिकाओं के बीच में t सम० मोटी किसी दूसरे अचालक की पट्टिका वायु-संधारित्र में रखी हो तो $(d-t)$ सम० वायु बीच में रहेगी। वायु में यदि तीव्रता F हो तो इस पट्टिका में तीव्रता F/k होगी। अतः एक मात्रक आवेश को एक पट्टिका से दूसरी पट्टिका पर ले जाने में कार्य

$$W=V=F(d-t)+\frac{F}{k}\times t$$

$$=F\left(d-t+\frac{t}{k}\right) \quad . \quad . \quad . \quad (9)$$

किन्तु
$$F = 4\pi\sigma = \frac{4\pi q}{A}$$

$$V = \frac{4\pi q}{A}\left(d - t + \frac{t}{k}\right)$$

$$\therefore \qquad c = \frac{q}{V} = \frac{A}{4\pi\{d - t(1 - 1/k)\}} \quad . \; . \; . \quad (10)$$

विलागित पट्टिका के प्रत्येक वर्ग सम० पर आवेश की मात्रा σ है और दूसरी पट्टिका के कारण इसके प्रति एक मात्रक आवेश पर आकर्षण बल $2\pi\sigma/k$ लगता है (अनु० 9·08)। अतः विलागित पट्टिका पर प्रति वर्ग सम० लगने वाला बल

$$= \sigma . \frac{2\pi\sigma}{k} = \frac{2\pi\sigma^2}{k}$$

$\therefore$ पूरी पट्टिका पर बल $= \frac{2\pi\sigma^2}{k} . A$

किन्तु समी० 8 से अनुसार $\sigma = \frac{Vk}{4\pi d}$ जहाँ V पट्टिकाओं का विभवान्तर है।

$$\therefore \qquad \text{आकर्षण बल} = \frac{2\pi}{k}\left(\frac{Vk}{4\pi d}\right)^2 . A.$$

$$= \frac{kAV^2}{8\pi d^2} \quad . \; . \; . \quad (11)$$

10·13—**गोलीय संधारित्र** (Spherical Condenser)। गोलीय संधारित्र में दो संकेन्द्र (concentric) गोल चालक होते है। बाहिर वाला पृथ्वी-संपृक्त है और भीतर वाला विलागित। दोनों के बीच में वायु है। यदि इन गोलों की त्रिज्याये क्रमशः r_1 तथा r_2 हो और आवेश की मात्रा q हो तो भीतर वाले गोले के कारण केन्द्र से r सम० दूरी पर क्षेत्र का तीव्रता q/r^2 होगी। अतः एक मात्रक आवेश को बाहिर वाले गोले से भीतर वाले पर ले जाने में कार्य

$$W = V = -\int_{r_2}^{r_1} \frac{q}{r^2} dr = q\left(\frac{1}{r_1} - \frac{1}{r_2}\right)$$

$$\therefore \qquad c = \frac{q}{V} = \frac{r_1 r_2}{r_2 - r_1}$$

माध्यम का पार-वैद्युतांक यदि k हो तो $c = k\frac{r_1 r_2}{r_2 - r_1} \quad . \; . \; . \quad (12)$

10·14—बेलनाकार संधारित्र (Cylindrical Condenser)। इसमें दो समाक्ष (coaxial) बेल्नाकार चालक होते हैं। बाहिर वाला पृथ्वी-संपृक्त होता है और भीतर वाला विलागित। दोनों के बीच में वायु है। दोनों बेलनों की त्रिज्यायें यदि क्रमश. r_1 तथा r_2 हों और भीतर वाले पर आवेश σ मात्रक प्रति सेंटीमीटर लम्बाई हो तो यह प्रमाणित किया जा चुका है कि अक्ष से r सम० दूरी पर क्षेत्र की तीव्रता

$$F=\frac{2q}{r} \qquad \text{[अनु० 9·06}$$

अत: एक मात्रक आवेश को बाहिर वाले बेल्न से भीतर वाले तक पहुँचाने में

कार्य $$W=V=-\int_{r_2}^{r_1}\frac{2q}{r}dr=2q\log\frac{r_2}{r_1}$$

अत: $$c=\frac{q}{V}=\frac{1}{2\log r_1/r_2}$$

यदि माध्यम कोई और हो तो $c=\dfrac{k}{2\log r_1/r_2}$ प्रति सम० (13)

इस सूत्र के द्वारा समुद्री केबल (cable) की धारिता मालूम हो सकती है। और r_2 को अनन्त मान कर पृथ्वी से दूर स्थित तार की धारिता भी जानी जा सकती है।

10·15—लीडन जार (Leyden Jar)। ऐतिहासिक दृष्टि से संधारित्र का यही सबसे प्राचीन रूप है। इसमें कांच की एक बोतल के बाहिर और भीतर टीन की पन्नी चिपका दी जाती है (चित्र 10·04)। बोतल का पैदा तथा उसकी दीवार का तीन चौथाई इस पन्नी से ढका रहता है। यही पन्नियाँ संधारित्र के दोनो चालक हैं और कांच वैद्युतांगण। बोतल के मुँह में रबड़ की डाट लगी रहती है और उसमे पीतल की छड़ बैठा दी जाती है। छड़ का नीचे का सिरा ज़ंजीर के द्वारा अन्दर-वाली पन्नी को स्पर्श करता है और ऊपर के सिरे पर पीतल की गोली लगी रहती है। इसे आविष्ट करने के लिये बाहिर की पन्नी को पृथ्वी-संपृक्त कर देते हैं और गोली को विद्युत्-यंत्र (electric machine) के द्वारा आविष्ट कर देते हैं।
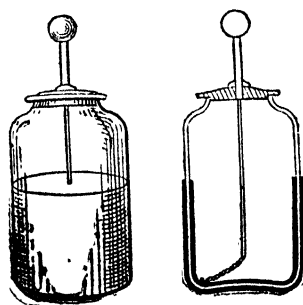
चित्र 10·04

इसके आविष्कार की कथा बड़ी रोचक है। लीडन शहर में प्रोफेसर मुशनब्रोक (Musschenbrock) और उनके शिष्य क्यूनियस (Cuneus) ने चाहा कि विद्युत्-यंत्र मे जो विद्युत्-तरल उत्पन्न होता है उसे बोतल मे इकट्ठा कर लिया जाय। इसलिये उन्होंने एक काच की बोतल में पानी भर दिया और विद्युत्-यत्र से जुड़ा हुआ एक तार पानी मे डुबा दिया। बोतल को हाथ मे पकड कर पानी आविष्ट कर दिया गया। जब अचानक क्यूनियस ने बोतल को पकडे हुए ही उस तार को स्पर्श किया तो उसे बड़े जोर से झटका लगा। इस प्रयोग मे वह बोतल सधारित्र बन गई थी। पानी उसका विलागित चालक था और जिस हाथ मे बोतल पकड़ी गई थी वह पृथ्वी-संपृक्त चालक। यही कारण था कि बहुत सा आवेश जल मे इकट्ठा हो गया था।

10·16—**विसर्जक चिमटा** (Discharging Tongs)। आविष्ट लीडन-जार के चालक को स्पर्श करने का यत्न कभी न करना चाहिये। अन्यथा क्यूनियस के समान आपको भी ऐसा झटका लगेगा कि जन्म भर उसे न भूलेंगे। इसके लिये काँच के दस्तों वाला चिमटा काम में लाया जाता है (चित्र 10·05)। इसमें पीतल की छड़ों पर पीतल की दो गोलियाँ लगी रहती हैं। एक गोली को जार के बाहरी चालक से स्पर्श करा देते हैं और दूसरी को भीतर के चालक पर की गोली के निकट ले जाते हैं। बड़ी आवाज़ के साथ खूब चमकदार चिनगारी इनके बीच में पैदा होती है। इस चिनगारी का कारण यह है कि दोनों चालकों का विजातीय आवेश अचानक वायु के आवरण को चीर कर परस्पर मिल जाते हैं। इस क्रिया को संधारित्र का विसर्ग (discharge) कहते हैं।
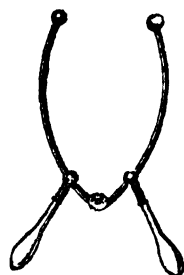
चित्र 10·05

चित्र 10·06

10·17—**संधारित्र का आवेश वैद्युतांगण के पृष्ठों पर रहता है।** चित्र 10·06 में ऐसी लीडन जार दिखलाई गई है जिसके बाहिर और भीतर के चालक

अलग-अलग किये जा सकते हैं। इसके चालक टीन की पन्नी के स्थान मे मोटे लोहे की चादर के बने हैं। **ज** पूरी जार है और **क**, **ख**, **ग** उसके तीनों अवयव हैं। **ज** को आविष्ट करके किसी विलागक छड के द्वारा उसमे से **क** को उठा लीजिये। फिर कांच के गिलास **ग** को भी **ख** मे पृथक् कर दीजिये। जब आप **क** और **ख** को स्पर्श करके अनाविष्ट कर दीजिये। किन्तु काच के पृष्ठो को स्पर्श न कीजिये। पुनः **ख** में **ग** और **क** बैठा दीजिये। विसर्जक चिमटे के द्वारा आप देख सकते हैं कि इस लीडन-जार मे अब भी आवेश ज्यो का त्यों है। इससे मालूम होता है कि आवेश वास्तव में मध्यवर्ती काँच के दोनो पृष्ठों पर ही था। माध्यम मे जो विकृति उत्पन्न की गई थी वह चालकों को हटाने पर भी ज्यों की त्यों बनी रहती है।

10·18—अवशिष्ट आवेश (Residual Charge) तथा विसर्ग। लीडन जार को अथवा किसी भी संधारित्र को जिसका पारवैद्युतांक घन अथवा द्रव पदार्थ हो धनाविष्ट कर दीजिये। और उसके विलागित चालक का विद्युद्दर्शी के द्वारा विभव नाप लीजिये। अब इसे इसी प्रकार कुछ देर पडे रहने दीजिये। आप देखेंगे कि धीरे-धीरे उसका विभव कम हो रहा है। थोड़ी देर तक ऐसा होने के बाद फिर विभव मे परिवर्तन न होगा। इससे मालूम होता है कि संधारित्र की धारिता आप ही आप कुछ बढ़ जाती है।

ऐसे ही यदि आविष्ट संधारित्र का विसर्जक चिमटे से विसर्ग कर दें तो अवश्य ही उसकी दोनों पट्टिकाओं का विभवान्तर शून्य हो जायगा। किन्तु इस विसर्ग के बाद धीरे-धीरे यह विभवान्तर आप ही आप फिर बढ़ने लगेगा। विलागित चालक पर पुनः धन आवेश एकत्रित होने लगेगा जिसकी परीक्षा विद्युद्दर्शी के द्वारा की जा सकती है और थोड़ी देर बाद फिर एक विसर्ग-चिनगारी उससे मिल सकेगी। थोड़ी देर और ठहरने से तीसरी और चौथी चिनगारियाँ भी मिल सकेंगी। ये चिनगारियाँ उत्तरोत्तर क्षीण होती जायँगी।

इन बाद वाली चिनगारियों से प्रकट होता है कि प्रथम विसर्ग में यद्यपि विभवान्तर शून्य हो जाता है किन्तु फिर भी कुछ न कुछ आवेश बच रहता है। इसे **अवशिष्ट आवेश** कहते हैं। यह अवश्य ही वैद्युतांगण में रहता होगा। ऊपर आविष्ट संधारित्र के विभव में आप ही आप होने वाली जिस कमी का वर्णन किया गया है उसका कारण ऐसा मालूम होता है कि वैद्युतांगण कुछ आवेश का शोषण (absorb) कर लेता है। प्रथम विसर्ग में पृष्ठ-वर्ती आवेश तो नष्ट हो जाता है। किन्तु यह शोषित आवेश अन्दर ही रह जाता है। यही अवशिष्ट आवेश धीरे-धीरे फिर पृष्ठ पर निकल आता है जिसके कारण हमें दूसरी चिनगारियाँ मिल जाती हैं।

किन्तु वास्तव में आवेश के शोषण की यह कल्पना ठीक नही है। माध्यम के विकार की दृष्टि से हम यह समझ सकते है कि संधारित्र को आविष्ट करने पर जो विकृति माध्यम मे उत्पन्न हुई थी वह विसर्ग से सहसा दूर नही हो जाती। उसके घटने में समय लगता है।

मैक्सवेल ने इस घटना का जो कारण बतलाया था और जिसे अब तक बहुत अंशों में ठीक माना जाता है वह यह है कि काँच आदि अचालक सर्वथा समांगी (homogeneous) नही होते। इनके कुछ अवयव तो ऐसे होते है कि जिनकी वैद्युत विकृति अपने आप नष्ट नही होती। विसर्ग ही उसे नष्ट कर सकता है। किन्तु कुछ भाग ऐसे भी होते है जिनकी विकृति स्वयमेव नष्ट हो जाती है। अर्थात् इन भागों में कुछ थोड़ी चालकता होती है।

मान लीजिये कि **क ख** तथा **ग घ** संधारित्र के चालक है और मध्यवर्ती काँच में **च छ** ऐसा तल है कि जिसके नीचे की ओर काँच सर्वथा अचालक है किन्तु ऊपर के ओर के काँच में कुछ थोड़ी सी चालकता है। इसे आविष्ट करते ही जो विकृति काँच में उत्पन्न होगी वह चित्र 10·07(i) की प्रेरण-रेखाओं के द्वारा व्यक्त है। इसे थोड़ी देर तक यों ही छोड़ देने पर **च छ** के ऊपर के भाग का प्रेरण कुछ घट जायगा। चित्र (ii)
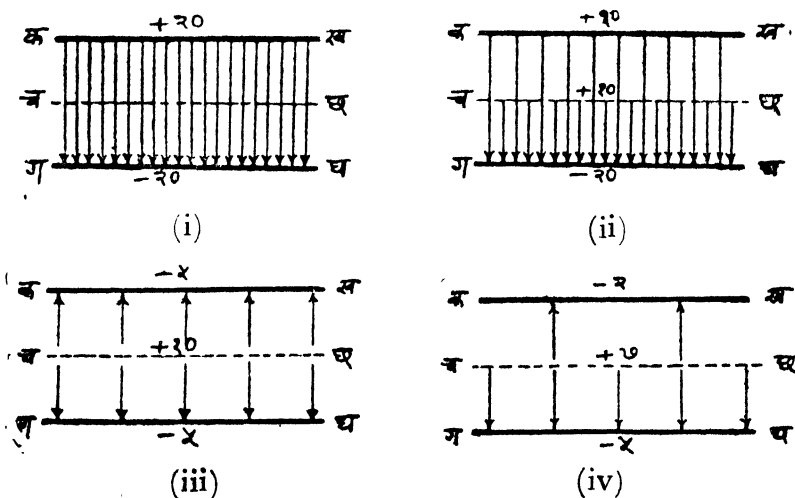
चित्र 10·07

में यह अवस्था दिखलाई गयी है। अब **क ख** पर −20 मात्रक आवेश के स्थान में +10 ही मात्रक आवेश रह गया है। किन्तु **ग घ** पर अब भी −20 मात्रक आवेश

है। **च छ** पर $+20-10=+10$ मात्रक आवेश है। **क ख** का विभव भी घट गया है। इस अवस्था में **क ख** और **ग घ** को स्पर्श कर देनें से **क ख** का $+10$ **ग घ** के -10 से मिल कर नष्ट हो जायगा और **ग घ** के बचे हुए -10 में से -5 **क ख** पर चला जायगा तथा -5 **ग घ** पर रह जायगा। **च छ** पर अब भी $+10$ ज्यों का त्यों रहेगा। चित्र (iii) में यह अवस्था बतलाई गयी है। इस समय **क ख** तथा **ग घ** का विभव बराबर है। **क ख** को विलागित करके थोडी देर और ठहरने पर **क ख** और **च छ** के बीच की प्रेरण-रेखाएँ फिर नष्ट हो जायेंगी और **क ख** का विभव फिर धन-चिन्हीय हो जायगा। हमे ऐसा मालूम होगा कि **क ख** पर धन-आवेश इकट्ठा हो रहा है। चित्र (iv) में **क ख** और **च छ** के बीच में 2 रेखाएँ बच रही हैं। **क ख** पर $+3$ आवेश **च छ** मे आ गया है और अब **क ख** पर -2, **च छ** पर $+7$ और **ग घ** पर -5 आवेश है। इस बार **क ख** तथा **ग घ** को जोड़ने से **ग घ** में से $-1{\cdot}5$ का आवेश **क ख** मे चला जायगा और प्रत्येक पर $-3{\cdot}5$ रह जायगा। **ग घ** में से $-1{\cdot}5$ का **क ख** पर जाना वही बात है जो **क ख** पर से $+1{\cdot}5$ का **ग घ** में जाना। अतः इस बार **क ख** मे से $+1{\cdot}5$ का विसर्ग हो जायगा। इसी प्रकार उत्तरोत्तर कम परिमाण का विसर्ग कई बार हो सकेगा।

यद्यपि इस उदाहरण में जिस प्रकार चालक और अचालक भागों में माध्यम विभक्त किया गया है वह सर्वथा कल्पित है, किन्तु यह विभाग चाहे जिस प्रकार का हो परिणाम इसी प्रकार का होगा। अब अवशिष्ट आवेश तथा विसर्ग की क्रिया का पूरा-पूरा रहस्य समझाने के लिए यह सिद्धान्त समर्थ है। इसकी पुष्टि में यह बात भी है कि वायु अथवा अन्य गैसों मे जो बहुत अच्छे विलागक है अवशिष्ट आवेश या विसर्ग की घटना नही होती। कैलसाइट (calcite) में भी नहीं होती किन्तु पैराफिन में बहुत अधिक होती है।

इस घटना के कारण किसी संधारित्र की धारिता नापना कठिन हो जाता है क्योंकि यदि आविष्ट करते ही तुरन्त नापें तब तो विसर्ग मे अधिक आवेश मिलेगा और यदि कुछ ठहर कर नापें तो कम। इस गड़बड़ी को मिटाने के लिये संधारित्र की धारिता की परिभाषा यह कर दी गई है :—

एक मात्रक का विभवान्तर उत्पन्न करने के लिये जितने तात्कालिक आवेश की आवश्यकता हो उतनी ही संधारित्र की धारिता समझना चाहिये।

अनुभव से ज्ञात हुआ है कि संधारित्र के आवेश में कुछ फ़र्क नही मालूम होता यदि आविष्ट करने का समय आधे सैकंड से अधिक न हो।

10·19—संधारित्रों का पार्श्व-बंधन (Connection in Parallel)। जब दो या अधिक संधारित्रों का परस्पर सम्बन्ध इस प्रकार किया जाता है कि सबके धन-चालक आपस में संबद्ध हो जावें और सबके ऋण चालक आपस में (चित्र 10·08) तो उसे पार्श्व-बंधन कहते हैं। स्पष्ट ही है कि इसमें सब संधारित्रों का विभवान्तर बराबर होता है। अतः प्रत्येक पर आवेश अपनी अपनी धारिता के अनुसार कम या ज़्यादा रहता है। यदि इन्हें पृथक-पृथक रख कर उतने ही विभवान्तर तक आविष्ट करते और तब सब धन-चालक आपस में जोड़ दिये जाते तब भी वही बात होती। अतः इन पार्श्व-बद्ध संधारित्रों को हम एक बड़ा संधारित्र समझ सकते हैं जिस पर उतने ही विभवान्तर पर आवेश की मात्रा पृथक्-पृथक् आवेशों के योग के बराबर है। इसका अर्थ यह हुआ कि पार्श्व-बद्ध संधारित्रों की धारिता सबकी पृथक्-पृथक् धारिताओं के योग के बराबर होती है।
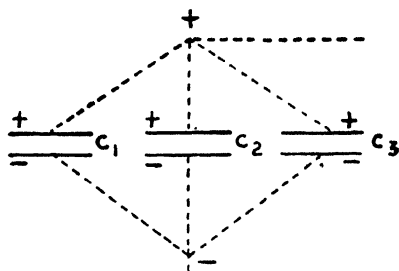
चित्र 10·08

$$C=c_1+c_2+c_3 \quad . \ . \ . \quad (14)$$

10·20—संधारित्रों का श्रेणी बन्धन (Connection in Series)। किन्तु यदि संधारित्रों के चालक इस प्रकार जोड़े जावें कि एक का धन-चालक दूसरे के ऋण-चालक से जुड़ा रहे (चित्र 10·09) तो इस बन्धन को श्रेणी-बन्धन कहते हैं।

क ख ग घ च छ
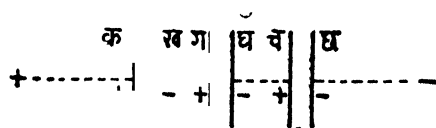
चित्र 10·09

इसमें आवेश की मात्रा सब संधारित्रों पर बराबर-बराबर है। क्योंकि जितना धन आवेश q आपने **क** को दिया उतना ही ऋण आवेश **ख** में तथा धन-आवेश **ग** में प्रेरित हुआ। **ग** का धन-आवेश उतनी ही मात्रा के ऋण तथा धन आवेश **घ** और **च** में प्रेरित करेगा। इसी प्रकार अन्य संधारित्र भी करेंगे और अन्तिम चालक पर भी

उतना ही ऋण-आवेश रहेगा। विभवान्तर **क** और **ख** में $V_1 = q/c_1$ होगा, **ग** और **घ** में $V_2 = q/c_2$ और **च** और **छ** मे $V_3 = q/c_3$ होगा। अतः **क** तथा **छ** का विभवान्तर

$$V = V_1 + V_2 + V_3 = \frac{q}{c_1} + \frac{q}{c_2} + \frac{q}{c_3} = q\left\{\frac{1}{c_1} + \frac{1}{c_2} + \frac{1}{c_3}\right\}$$

यदि यह समस्त श्रेणी-बद्ध सधारित्रों का समुदाय एक ही संधारित्र समझा जाय और **क** तथा **छ** उसके दो चालक समझे जावे और इसकी धारिता c हो तो हम कह सकते हैं कि

$$\frac{1}{c} = \frac{V}{q} = \frac{1}{c_1} + \frac{1}{c_2} + \frac{1}{c_3} \qquad \ldots \quad (15)$$

ध्यान देने की बात है कि पार्श्व-बन्धन के द्वारा हम अधिक धारिता प्राप्त कर सकते है किन्तु श्रेणी-बन्धन से धारिता घट जाती है। उदाहरणार्थ यदि प्रत्येक संधारित्र की धारिता 10 हो तो दो सधारित्रों के पार्श्व-बन्धन से हमें $10+10=20$ की धारिता प्राप्त हो जावेगी। किन्तु श्रेणी-बन्धन से जो धारिता हमें मिलेगी वह होगी

$$\frac{1}{1/10 + 1/10} = 5$$

10·21—**भिन्न-भिन्न प्रकार के संधारित्र**। सधारित्र कई प्रकार के होते है। उनमे से मुख्य नीचे लिखे जाते हैः—

(क) नियत मान के सधारित्र—

(1) लीडन जार—इसका वर्णन हो चुका है।

(2) समान्तर-पट्ट संधारित्र (Parallel Plate Condenser)। इसमें दो चालक पट्टिकाएँ होती हैं। इनके बीच में वायु भी रहती है।

चित्र 10·10

और कभी-कभी कांच, एबोनाइट, अभ्रक, पैराफ़िन मोम इत्यादि भी रख दिये जाते हैं। अनु 10·12 में प्रमाणित किया जा चुका है कि इसकी धारिता $kA/4\pi d$ के बरा-

बर होती है। k माध्यम का पार-वैद्युतांक, A चालक का क्षेत्रफल और d माध्यम की मोटाई है। अधिक धारिता प्राप्त करने के लिये माध्यम बहुत पतला बनाया जाता है और बहुत से ऐसे संधारित्रों का पार्श्व-बन्धन भी कर दिया जाता है। चित्र 10·10 मे यह पार्श्व-बन्धन दिखलाया गया है। अच्छे संधारित्रों में माध्यम पतला अभ्रक होता है और मामूली संधारित्रों मे पैराफिन लगा हुआ कागज़। पैराफ़िन वाले संधारित्रों में अवशिष्ट आवेश अधिक होता है।

(3) **गोलीय संधारित्र** (Spherical Condenser)। इसमें एक विलागित गोला होता है जिसके चारों ओर दूसरा गोला पृथ्वी-संपृक्त रहता है। दोनो के बीच में वायु अथवा अन्य अचालक होता है। अनु० 10·13 मे बताया गया था कि इसकी धारिता $k(r_1r_2/(r_2-r_1)$ होती है।

(4) **बेलनाकार संधारित्र** (Cylindrical Condenser)। इसमे एक चालक बेलन दूसरे के भीतर रहता है। धारिता $=\{k/2\log(r_2/r_1)\}$ प्रति सम० (अनु० 10·14)

(5) **विद्युद्विश्लेषकीय संधारित्र** (Electrolytic Condenser)।

इसमे एल्यूमीनियम की चद्दर के दो टुकड़े एक प्रकार के चालक द्रव मे रखे जाते हैं। इस द्रव में बोरिक एसिड (boric acid), ग्लीसरीन (glycerine) अमोनिया (ammonia) और पानी होता है। इन चद्दरों के द्वारा उच्च विभव की दिष्ट-धारा (direct current) द्रव मे से चलाई जाती है। परिणाम यह होता है कि जो एल्यूमीनियम पट्टिका धन-इलैक्ट्रोड से सम्बन्धित होती है उस पर एक अत्यन्त पतली तह एल्यूमीनियम आक्साइड की जम जाती है जिसकी मोटाई $10^{-7}-10^{5}$ सम० से अधिक नही होती और यह तह अत्यन्त कुचालक होती है। फलतः धारा बन्द कर देने पर हमें एक संधारित्र प्राप्त हो जाता है जिसकी एक पट्टिका तो एल्यूमीनियम की होती है और दूसरी उस द्रव की और इनके बीच में अत्यन्त पतली अचालक तह आक्साइड की होती है।

स्पष्ट है कि इस तह के अत्यन्त पतलेपन के कारण इसकी धारिता बहुत अधिक होती है। और पट्टिका का क्षेत्रफल बढ़ा कर इसकी धारिता कई हज़ार माइक्रोफ़ैरड तक बढ़ाई जा सकती है।

ये दो प्रकार के बनाये जाते हैं—गीले और सूखे। गीले संधारित्र में द्रव पतला न बनाकर गाढ़ा बनाया जाता है और प्रायः २ इंच चौड़ी और बहुत लम्बी-लम्बी एल्यू-मीनियम की पत्तियों के बीच में उस द्रव का लेप लगा कर उन्हें परस्पर चिपका देते हैं

और लपेट कर बेलनाकार बना लेते है । तब दिष्ट-धारा चलाने पर संधारित्र तैयार हो जाता है ।

सूखा संधारित्र बनाने के लिये पहले एक पत्ती पर उपर्युक्त रीति से आक्साइड की तह जमा ली जाती है । तब उस पर दूसरी पत्ती रख दी जाती है और दोनों के बीच मे सूती जाली का कपड़ा उसी द्रव मे भीगा हुआ रखा होता है । इसे भी लपेट कर बेलनाकार बना लिया जाता है । इस प्रकार के संधारित्रों मे धारिता की अधिकता के अतिरिक्त एक और गुण यह होता है कि यदि अधिक विभवान्तर के कारण दोनों पट्टिकाओं के बीच की अचालक तह छिन्न हो जाय तो संधारित्र सर्वथा नष्ट नहीं हो जाता । उसमें यह तह फिर उत्पन्न की जा सकती है ।

किन्तु इनकी धन और ऋण पट्टिकाएँ नियत होती है । अन्य संधारित्रों के समान चाहे जिस पट्टिका को धन या ऋण नही बनाया जा सकता । अत. ये प्रत्यावर्ती धारा (alternating current) के परिपथ (circuit) मे काम नही आ सकते ।

(ख) परिवर्ती संधारित्र (variable condensers)। ये भी कई प्रकार के होते है :—

(1) समान्तर-पट्ट वायु-संधारित्र जिनमें चालकों की दूरी को घटाने-बढ़ाने का प्रबन्ध रहता है ।
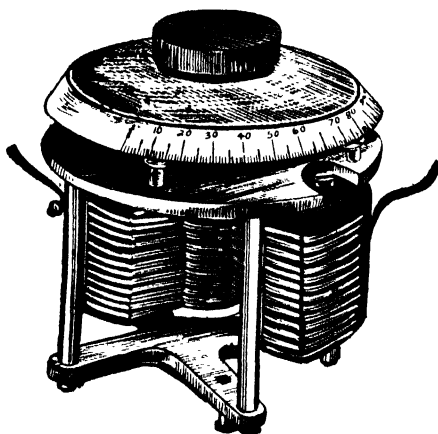
चित्र 10·11

(2) चित्र 10·11 के समान बहु-पट्ट-वायु-संधारित्र ।

इनका एक पट्ट-समुदाय अक्ष पर घूम कर चालकों का कार्यकारी क्षेत्रफल घटा देता है। यह आजकल रेडियो में बहुत काम आते हैं।

(3) बेलनाकार संधारित्र जिनमें भीतर वाले बेलन को बाहिर खींच कर कार्यकारी क्षेत्रफल घटा दिया जाता है।
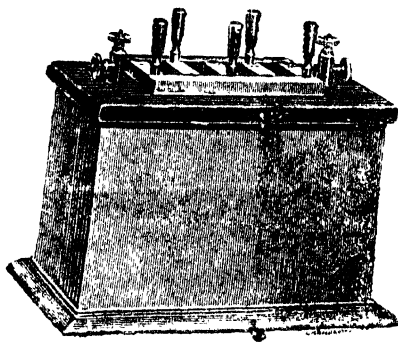
चित्र 10·12

(4) चित्र 10·12 में जो संधारित्र है उसमें दूसरे प्रकार से धारिता घटाई या
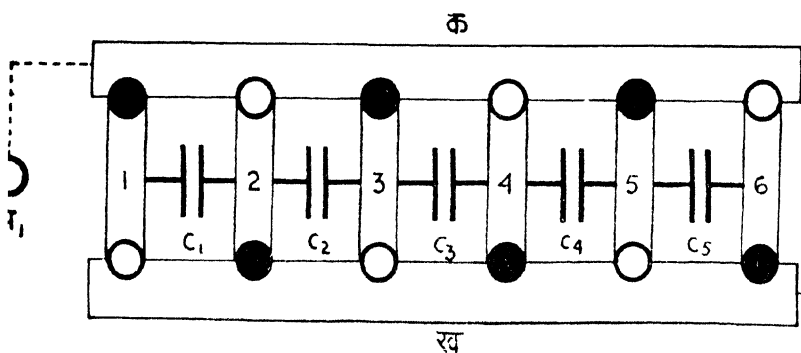
चित्र 10·13

बढाई जाती है। इसका कार्य चित्र 10·13 से समझ में आवेगा। c_1, c_2, c_3, c_4, c_5 अभ्रक के पृथक्-पृथक् संधारित्र हैं। इनकी धारिता क्रमशः ·5, ·2, ·2, ·05, ·05

माइक्रोफैरड (mf) है। जिस प्रकार इनकी पट्टिकाएँ बीच की छोटी पीतल की शलाकाओं (1, 2, 3, 4, 5, 6) से जुड़ी है वह चित्र मे स्पष्ट है। दो पीतल की बड़ी शालाकयें **क**, **ख** और हैं जो संयोजक पेच **प**$_1$, **प**$_2$ से जुड़ी हैं। पीतल के डाटों को बीच के छेदों में घुसा कर **क**, **ख** का सम्बन्ध इच्छानुसार c_1, c_2 इत्यादि से किया जा सकता है। चित्र में काले वृत्त वाले छेदों मे डाट लगी है। इससे स्पष्ट है कि इस समय सब संधारित्र पार्श्वबद्ध हैं। अत इस अवस्था मे पूरे संधारित्र की धारिता $\cdot5+\cdot2+\cdot2+\cdot05+\cdot05=1mf$ हुई। डाटों का स्थान बदल-बदल कर धारिता इच्छानुसार बदली जा सकती है। यदि 2 को **ख** से न जोड़ कर **क** से जोड़ दिया जाय तो स्पष्ट ही है कि c_1 और c_2 के संधारित्रों की सब पट्टिकाएँ **क** से जुड़ जायँगी। इन संधारित्रों में विभवान्तर न रहेगा और इस कारण उनमें आवेश भी न रहेगा। शेष संधारित्र अब भी पार्श्वबद्ध रहेगे। अतः इस अवस्था में धारिता $=\cdot2+\cdot05+\cdot05=\cdot3mf$ मात्र रह जायगी।

परिच्छेद 11

विद्युतमापी

(Electrometers)

11·01—**विद्युत्मापी** (Electrometer)। विद्युद्दर्शी का वर्णन पहिले किया जा चुका है (अनु० 7·05)। उसके द्वारा यह मालूम हो जाता है कि किसी वस्तु मे विद्युत् है या नही, और यह भी मालूम हो जाता है कि वह ऋण है अथवा धन। सुवर्ण-पत्रो के फैलाव को देखकर यह भी अंदाजा हो जाता है कि उसका विभव अधिक है या कम। किन्तु उसका यथार्थतापूर्वक नाप नही हो सकता। यदि सुवर्ण-पत्रों के फैलाव का नाप किसी उचित स्थान पर लगे हुए स्केल से कर भी लिया जाय तो भी नाप के लिये यह अधिक उपयोगी यंत्र नही है। जो यत्र नाप के लिये विशेष रूप मे बनाये गये है उन्हे विद्युत्मापी कहते है।

विद्युत्मापी मूलतः तो विभवान्तर (potential difference) V नापता है। किन्तु यदि उसकी धारिता c ज्ञात हो तो उसके द्वारा आवेश q भी नापा जा सकता है क्योकि $q = cV$। इसके अतिरिक्त इसके द्वारा बहुत क्षीण विद्युत्धारा भी नापी जा सकती है क्योकि यदि धारा इसमें प्रवेश करे तो इसका आवेश धीरे-धीरे बढ़ेगा। इस वृद्धि की दर (rate) dq/dt ही धारा का मान i होगा। अर्थात्

$$i = \frac{dq}{dt} = c\frac{dV}{dt} \quad . \quad . \quad . \quad (1)$$

इन सभी नापों मे मूल नाप विभवान्तर का है। अतः हम यहाँ विभवान्तर नापने के लिये जिन विभिन्न प्रकार के यत्रों का निर्माण किया गया है उन्हीं का वर्णन करेंगे।

11·02—**केल्विन** (Kelvin) **का निरपेक्ष** (absolute) **विद्युत्मापी**। इसका दूसरा नाम आकर्पित-पट्टिका विद्युत्मापी (attrected-disc electrometer) भी है। इसमें वायु मे स्थित दो समान्तर पट्टिकाओं का आकर्षण-बल नापकर उसके द्वारा उनके विभवान्तर की गणना कर ली जाती है। इस बल को स०ग०स० मात्रक (डाइन) में नापने के कारण विभवान्तर का मूल्य भी स०ग०स० मात्रकों में ज्ञात हो जाता है। इसी कारण इसे निरपेक्ष विद्युत्मापी कहते हैं।

चित्र 11·01 में इसका मर्म समझाया गया है। क और ख धातु की दो गोल पट्टिकाएँ हैं और इन के द्वारा एक सधारित्र बन गया है।
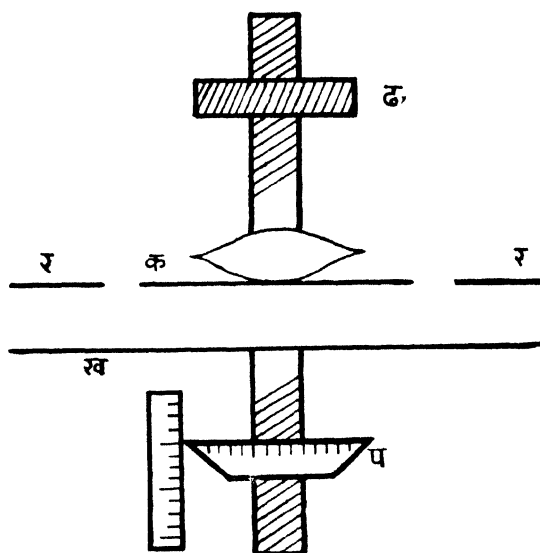
चित्र 11·01

ख का आकार बड़ा है। क के चारों ओर एक रक्षक-वलय (guard-ring) र र है। इसकी आवश्यकता अनु० 11·03 में समझाई गई है। क एक छड़ से बड़ी नाज़ुक कमानी द्वारा लटका हुआ है और उसका पृष्ठ ख से समान्तर है। ढेबरी ढ के द्वारा पट्टिका क ऊपर नीचे सरकाई जा सकती है। ख भी प्रमापक पेच (micrometer screw) प के द्वारा ऊँची-नीची करी जा सकती है और उसका विस्थापन नापा भी जा सकता है। क का विभव V_1 किसी बैटरी से उसे जोड़ कर स्थिर रखा जाता है और जिस वस्तु का विभव V_2 नापना हो उसे ख से जोड़ देते हैं। क और र र सदा एक ही तल में समंजित कर लिये जाते हैं। क और ख के बीच में जो वैद्युत बल P होगा उस ही के द्वारा विभवान्तर $V_1 - V_2$ नापा जाता है।

पहिले तो यह जानना आवश्यक है कि P और $V_1 - V_2$ में क्या सम्बन्ध है।

मान लीजिये कि **क** का क्षेत्रफल A है और उस पर आवेश का पृष्ठ-घनत्व σ है। तथा **क** और **ख** के बीच मे क्षेत्र की तीव्रता F है। तब

$$V_1 - V_2 = F.d = 4\pi\sigma.d \qquad \text{[अनु॰ 9·07]}$$

अर्थात्
$$\sigma = \frac{V_1 - V_2}{4\pi d}$$

अनु॰ 9·08 के अनुसार **क** पर प्रतिवर्ग सम॰ जो वैद्युत बल लग रहा है वह है

$$2\pi\sigma^2 = \frac{(V_1 - V_2)^2}{8\pi d^2}$$

पूरी पट्टिका **क** पर बल $P = \frac{(V_1 - V_2)^2 A}{8\pi d^2}$

$$\therefore \qquad V_1 - V_2 = d\sqrt{\left(\frac{8\pi P}{A}\right)} \quad . \quad . \quad . \quad . \quad (2)$$

P के नापने के लिये पहिले तो दोनों पट्टिकाओं को पृथ्वी-संपृक्त कर देते हैं और ढेबरी **ढ** के द्वारा **क** का तल ठीक **र र** के तल मे समंजित कर लियां जाता है। तब **क** पर कोई छोटा वजन m रख देते हैं। इससे **क** नीचे उतर जाता है। तब **ढ** के द्वारा उसे पुनः **र र** के तल मे कर दिया जाता है। अब m को उठा लेते हैं और **क** ऊँचा उठ जाता है। स्पष्ट है कि अब यदि कोई बल **क** पर ऐसा लगाया जाय कि वह फिर **र र** के तल मे आ जाय तो उस बल का परिमाण होगा $m.g$।

अब **क** का विभव बैटरी से जोड़ कर V कर लिया जाता है और **ख** को जिस वस्तु का विभव नापना हो उसमे जोड़ दिया जाता है। फिर **प** के द्वारा **ख** को ऊँचा नीचा करके **क** पुनः **र र** के तल मे लाया जाता है। स्पष्ट है कि इस अवस्था मे **ख** जो बल **क** पर लगाती है वह है $P = mg$। इस स्थिति में प्रमापक **प** ही के द्वारा **क** और **ख** की दूरी d_1 नाप ली जाती है।

अतः
$$V - V_1 = d_1\sqrt{\left(\frac{8\pi mg}{A}\right)}$$

यदि दो वस्तुओं का विभवान्तर नापना हो तो उत्तरोत्तर यही क्रिया दोनों वस्तुओं पर की जाती है और तब

$$V - V_2 = d_2\sqrt{\left(\frac{8\pi mg}{A}\right)}$$

$$\therefore \qquad V_1 - V_2 = (d_1 - d_2)\sqrt{\left(\frac{8\pi mg}{A}\right)} \quad . \quad . \quad . \quad . \quad (3)$$

$(d_1 - d_2)$ प्रमापक के द्वारा अत्यन्त यथार्थता पूर्वक नापा जा सकता है।

11·03—**रक्षक-वलय** (Guard-ring)। ऊपर बतलाया गया था कि समान्तर-पट्ट-संधारित्र के बीच की प्रेरण नलिकाएँ चालकों के किनारे के निकट वक्र
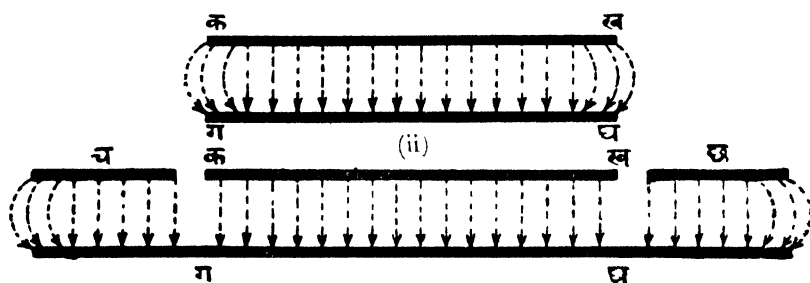
चित्र 11·02

हो जाती है [चित्र 11·02(i)] अतः वहाँ पर क्षेत्र की तीव्रता भी बदल जाती है। इस कारण अनु० 10·10 में दिये हुए सूत्र $A/4\pi d$ से समान्तर-पट्ट-संधारित्र की धारिता की गणना यथार्थतापूर्वक नहीं हो सकती। इस दोष को दूर करने के लिए जो उपाय काम में लाया जाता है उसका नाम रक्षक-वलय है। [चित्र 11·02(ii)] में **क ख** संधारित्र की एक वृत्ताकार पट्टिका है और **ग घ** दूसरी पट्टिका जो पृथ्वी-संपृक्त है। **क ख** के चारों ओर धातु की एक कुंडली **च छ** है। यह **क ख** से विलागित है। किन्तु **क ख** और **च छ** के बीच में वायु की जो झिरी है वह बहुत पतली है। **ग घ** का क्षेत्रफल इतना बड़ा है कि वह **च छ** के सामने भी अच्छी तरह रहता है। पहले रेशम के धागे से लगे हुए तार द्वारा **क ख** और **च छ** का स्पर्श करा दिया जाता है। तब **क ख** को आविष्ट करते हैं। **च छ** भी आविष्ट हो जाती है और उसका विभव भी **क ख** के विभव के बराबर हो जाता है। इस दशा में प्रेरण नलिकाएँ **च छ** के वाह्य किनारे पर ही टेढ़ी होती हैं। किन्तु **क ख** के किनारे पर सीधी ही रहती हैं। अब तार हटा दिया जाता है जिससे **च छ** से **क ख** अलग हो जाती है। इस अवस्था में **क ख** और **ग घ** का जो संधारित्र बना उसकी धारिता की गणना उक्त सूत्र के द्वारा यथार्थतापूर्वक हो सकती है।

11·04—**डोलेज़ेलैक का पाद-विद्युत्मापी** (Dolezelek's Quadrant Electrometer)। उपर्युक्त निरपेक्ष विद्युत्मापी के अतिरिक्त केल्विन ने एक और प्रकार के अधिक सुग्राही विद्युन्मापी का भी निर्माण किया था जिसे डोलेज़ेलैक ने बहुत अधिक सुग्राही रूप दे दिया है। यह यंत्र बहुत ही काम का प्रमाणित हुआ है

इसमें पीतल की एक चपटी तथा गोल खोखली डिबिया होती है जिस की ऊँचाई प्रायः 1 सम० तथा व्यास प्रायः 5-6 सम० होता है। यह चार बराबर के भागों में विभक्त रहती है जिन्हें पाद (quadrants) कहते हैं। ये पाद विलागित आधारों पर इस प्रकार जमे रहते हैं कि परस्पर स्पर्श तो नहीं करते किन्तु मिल कर पूरी डिबिया ही की तरह मालूम देते हैं। चित्र 11·03 में **क**, **ख**, **ग**, **घ** ये पाद हैं। **क** और **ग** तथा **ख**
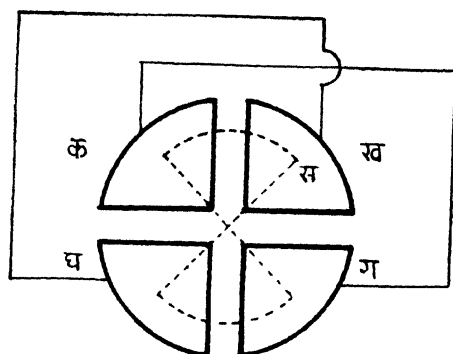
चित्र 11·03

और **घ** पतले तारों से परस्पर जुड़े रहते हैं। एल्यूमिनियम पत्र का बना एक पतला बिन्दुमय रेखा द्वारा प्रदर्शित आकृति का समतल चालक **स** जिसे सूची (needle) कहते हैं उन पादों के ठीक बीच में अत्यन्त पतले फ़ास्फ़र-ब्राज़ (phosphor bronze) के तन्तु के द्वारा लटकता रहता है। अधिक सुग्राहिता के लिये यह तन्तु क्वार्ट्ज़ (quartz) का बनाया जाता है और उसे कैलशियम क्लोराइड के विलयन में डुबाकर चालक बना लिया जाता है। इस अवलम्बन-तन्तु का ऊपर का सिरा एक ऐंठन-टोपी (torsion head) में लगा रहता है ताकि उसे घुमा कर सूची को यथेष्ट दिशा में स्थिर किया जा सके। इसी टोपी के द्वारा बैटरी जोड़ कर सूची को जितना चाहें उतना विभव दिया जा सकता है। पहिले पादों के दोनों युग्मों को तथा ऐंठन टोपी को परस्पर जोड़ कर उनका विभव बराबर कर दिया जाता है और तब ऐंठन-टोपी के द्वारा सूची को ऐसी स्थिति में कर लिया जाता है कि वह पादों की अपेक्षा संमित (symmetrical) रहे। सूची की स्थिति को जानने के लिये अवलम्बन-तन्तु पर ही एक छोटा सा दर्पण लगा होता है जिस से परावर्तित प्रकाश किसी स्केल पर पड़ता है।

इसके बाद सूची को प्राय: 100 वोल्ट का विभव दे देते हैं और जिन दो वस्तुओं का विभवान्तर नापना हो वे दोनों पाद-युग्मों से जोड़ दी जाती हैं। इससे सूची ऊँचे विभव से नीचे विभव की ओर घूम जाती है। और सन्तुलन उस स्थिति में प्राप्त करती है जब सूची पर लगने वाला वैद्युत बलयुग्म अवलम्बन-तन्तु की ऐंठन के बल-युग्म के बराबर हो जाता है। इस विक्षेप-कोण (angle of deflection) को स्केल पर प्रकाश-विन्दु के विस्थापन के द्वारा नाप लिया जाता है। विभवान्तर इस विक्षेप-कोण का अनुपाती होता है।

सूची की आकृति द्वैत्रिज्य (sector) रूप बनाने का कारण यह है कि विक्षेप के कारण उसका जितना क्षेत्रफल एक पाद-युग्म में से निकल कर दूसरे पाद-युग्म में प्रवेश करे वह विक्षेप-कोण θ का अनुपाती रहे। यदि सूची के द्वैत्रिज्य की त्रिज्या r हो और **क** से **ख** पाद की ओर सूची का विक्षेप हो तो **क-ग** युग्म में उसके एक भाग के क्षेत्रफल की कमी होगी

$$\pi r^2 \cdot \frac{\theta}{2\pi} = \tfrac{1}{2} r^2 \theta$$

किन्तु सूची के दो भाग हैं और ऊपर तथा नीचे वाले दो मुख भी हैं। अत: क्षेत्रफल की पूरी कमी होगी $2 \times 2 \times \frac{1}{2} r^2 \theta = 2r^2 \theta$

यह सूची पादों के चपटे चालकों के साथ मिलकर दो संधारित्र बनाती है एक **क-ग** पाद-युग्म के साथ और दूसरा **ख-घ** युग्म के साथ। इन संधारित्रों की धारिता होगी सूची का क्षेत्रफल/$4\pi d$ जहाँ d तो सूची और पाद-पृष्ठ की दूरी है और क्षेत्रफल सूची के उस भाग का है जो एक पाद-युग्म में अवस्थित है। अत: विक्षेप θ के कारण इस संधारिता की धारिता में कमी $= \frac{2r^2 \theta}{4\pi d} = \frac{1}{2} \frac{r^2 \theta}{\pi d}$। दूसरे संधारित्र में इतनी ही वृद्धि हो जायगी।

अब यदि सूची का विभव V हो और **क-ग** युग्म का V_1 हो तो अनु० 10·11 से इस संधारित्र **स-कग** की वैद्युत ऊर्जा में कमी $= \frac{1}{2} \cdot \frac{r^2 \theta}{2\pi d} (V - V_1)^2$। इसी प्रकार दूसरे संधारित्र **स-खघ** की ऊर्जा में वृद्धि $= \frac{1}{2} \cdot \frac{r^2 \theta}{2\pi d} (V - V_2)^2$

अत: दोनों संधारित्रों की ऊर्जा की वृद्धि का सम्मिलित मान

$$= \frac{r^2 \theta}{4\pi d} \left[(V - V_2)^2 - (V - V_1)^2 \right]$$

$$= \frac{r^2 \theta}{2\pi d} (V_1 - V_2) \left[(V - \frac{V_1 + V_2}{2} \right] \quad \ldots \quad (4)$$

यदि वैद्युत बल-युग्म का मान C हो तो सूची के विक्षेप θ का लिये आवश्यक ऊर्जा होगी $=C\theta$

अतः
$$C=\frac{r^2}{2\pi d}(V_1-V_2)\left[V-\frac{V_1+V_2}{2}\right] \quad \ldots \quad (5)$$

किन्तु यह वैद्युत बल-युग्म C=अवलम्बन-तन्तु के ऐंठन का बल-युग्म $T.\theta$ जहाँ T वह बल-युग्म है जो तन्तु मे एक मात्रक कोण की ऐंठन से पैदा होता है ।

$$\theta=\frac{C}{T}=\frac{r^2}{2\pi d\,T}(V_1-V_2)\left[V-\frac{V_1+V_2}{2}\right]$$
$$=K'(V_1-V_2)\left[V-\frac{V_1+V_2}{2}\right] \quad (6)$$

जहाँ $K'=(r^2/2\pi dT)$ एक नियतांक है ।

अब यदि $V>V_1$ या V_2 हो तो V के मुकाबले मे $(V_1+V_2)/2$ उपेक्षणीय होगा

और
$$\theta=K'V(V_1-V_2)$$
$$=K(V_1-V_2) \quad \ldots \quad \ldots \quad (7)$$

जहाँ K दूसरा नियतांक है क्योंकि V का मान स्थिर है । अर्थात् विक्षेप-कोण विभवान्तर का अनुपाती होता है। यदि एक पाद-युग्म को पृथ्वी से जोड़ कर $V_2=0$ कर दिया जाय तो

$$\theta=KV_1 \quad \ldots \quad \ldots \quad (8)$$

हो जायगा ।

इस विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि विक्षेप उत्पन्न करन में कुछ ऊर्जा का तो सूची और पाद के संधारित्र में संग्रह होता है और कुछ का अवलम्बन तन्तु में ऐंठन की स्थितिज ऊर्जा के रूप में । ये दोनों ऊर्जायें आती हैं उस बैटरी मे मे जो सूची के विभव को स्थिर रखती है ।

विद्युत्मापी के व्यवहार की उपर्युक्त विधि मे V, V_1 और V_2 तीनों के मान भिन्न होते हैं । इस विधि का नाम विषम-विभव (heterostatic) विधि है । किन्तु जब माप्य विभवान्तर बड़ा होता है अर्थात् जब V_1 या V_2 या V_1-V_2 बड़ा होता है तब विद्युत्मापी की सूची को एक पाद-युग्म से जोड़ देते हैं । अर्थात् $V=V_1$ कर लेते हैं । तब समी० (6) से

$$\theta=\tfrac{1}{2}K'(V_1-V_2)^2 \quad \ldots \quad \ldots \quad (9)$$

और यदि दूसरे पाद-युग्म को पृथ्वी से संपृक्त कर दें तो $V_2=0$

और तब
$$\theta=\tfrac{1}{2}K'V_1^2 \quad \ldots \quad \ldots \quad (10)$$

इस विधि को सम-विभव (idiostatic) विधि कहते हैं। इसमें विक्षेप विभव के वर्ग का अनुपाती होता है और V_1 चाहे + हो या —, विक्षेप + ही रहता है। उसकी दिशा बदलती नही।

इस विद्युत्मापी से नाप करने में बड़ी सतर्कता की आवश्यकता होती है और कई बातों का ध्यान रखना पड़ता है। इनका वर्णन यहाँ आवश्यक नही है। प्रायोगिक पुस्तकों से देखा जा सकता है।

11·05—काम्पटन का विद्युत्मापी (Compton's Electrometer)। इसमें और डोलेज़ेलैक के विद्युत्मापी मे भेद इतना ही है कि इसमें सूची को जरा टेढ़ी रखी जाती है और अवलम्बन-तन्तु उसके तल पर अभिलम्ब नही होता (चित्र 11·04) तथा एक पाद-युग्म को ऊँचा या नीचा करने का भी प्रबन्ध रहता है। इन युक्तियों से विद्युत्मापी की सुग्राहिता 1000 मम० प्रति वोल्ट से बहुत बढ़ कर प्राय. 60000 मम० प्रति वोल्ट तक पहुँच जाती है।
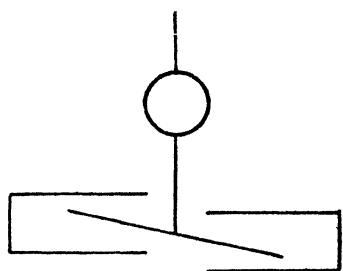
चित्र 11·04

11·06—लिंडमान (Lindemann) का विद्युत्मापी। सैद्धान्तिक रूप से इस मे और डोलेज़ेलैक के विद्युत्मापी में कोई अन्तर नही होता। यह अत्यन्त
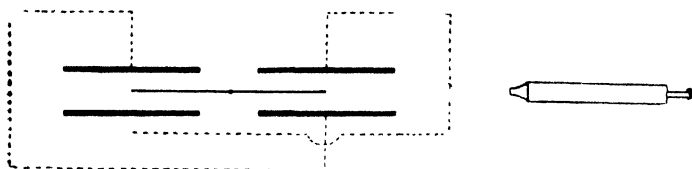
चित्र 11·05

छोटे आकार का होता है और इसकी सूची अत्यन्त बारीक और हलके तार की अथवा सुवर्ण-रंजित काँच-तन्तु की बनी होती है। और इसका अवलम्बन तन्तु स्फटिक (quartz) का बना हुआ ओर अत्यन्त बारीक होता है। वह दोनों तरफ से तना रहता है (चित्र 11·05)। सूची का विक्षेप उसके सिरे को सूक्ष्म-दर्शक के अभिनेत्र में स्थित प्रमापक स्केल (micrometer scale) के द्वारा नापा जाता है। इसमें सब से बड़ा गुण यह है कि इसके पाद-युग्मों की धारिता बहुत कम होती है (प्रायः 2 सम०)। अतः अत्यन्त क्षीण विद्युत्-धारा को नापने के लिए यह विशेष उपयोगी है।

11·07—**तन्तु-विद्युन्मापी** (String Electrometer) । इसकी रचना बड़ी सरल होती है (चित्र 11·06)। **क** और **ख** दो समान्तर धातु-पट्टिकाएँ हैं और इनके मध्य में रजत-रंजित क्वार्ट्ज़-तन्तु भी समान्तर लगा है। यह तन्तु सिरे पर लगी हुई कमानी के द्वारा तना हुआ रहता है। और यदि उसका विभव ऊँचा कर दिया जाय तो **क** और **ख** के विभवान्तर के कारण तन्तु का **क** या **ख** की ओर विस्थापन हो जाता है। इसे सूक्ष्मदर्शक के द्वारा नाप लेते हैं। यह बहुधा उन विभवों को नापने के काम मे आता है जो जल्दी-जल्दी बदलते रहते हैं क्योंकि यह तन्तु भी उतनी ही शीघ्रता से विस्थापित हो जाता है। ऐसी अवस्था में इस तन्तु का विस्थापन फ़ोटो की फिल्म पर अंकित कर लिया जाता है। इसे एक-तन्तु (unifilar) विद्युत्मापी कहते हैं। कभी कभी इसमें दो समान्तर तन्तु लगा दिये जाते हैं। विभवान्तर के कारण उनके बीच की दूरी घटती-बढ़ती है। तब उसे द्वि-तन्तु (bifilar) विद्युत्मापी कहते हैं।
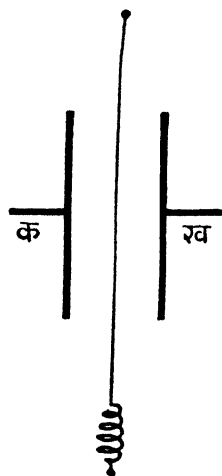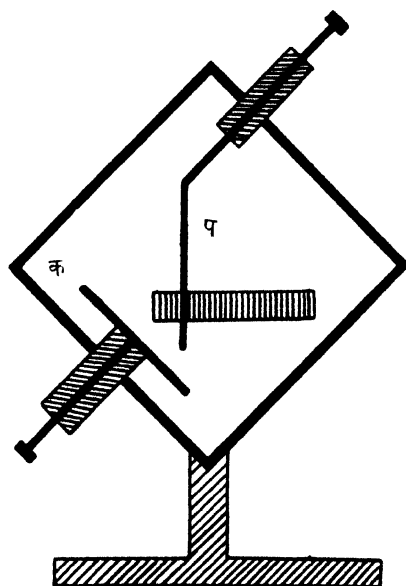
चित्र 11·06 चित्र 11·07

11·08—**विलसन** (Wilson) **का आनत सुवर्ण-पत्र** (Tilted Gold-leaf) **विद्युत्दर्शी**। यह भी विद्युत्मापी ही है। चित्र 11·07 में इसकी बनावट बताई गई है। धातु के बक्स में **क** एक विलगित पीतल की पट्टिका है। और **प** सुवर्ण

का या एल्यूमीनियम का पत्र या वरक है जो एक विलागित छड़ से लटक रहा है। बक्स के बाहिर दो संयोजक पेच लगे हैं जो **क** और **प** से जुड़े हैं। जिस वस्तु का विभव-परिवर्तन नापना होता है वह सुवर्ण-पत्र से संयोजित कर दी जाती है और **क** को उच्च विभव दे दिया जाता है। सुवर्ण-पत्र का विस्थापन सूक्ष्म-दर्शक के द्वारा नापा जाता है। **क** के विभव और बक्स की आनति पर सुग्राहिता अवलम्बित है जो प्रायः स्केल के 100 विभाग प्रति वोल्ट होती है। यह भी अत्यन्त क्षीण विद्युत्धारा के नापने के काम आता है क्योंकि इसकी भी धारिता बहुत कम होती है।

11·09—**विद्युत्-स्थैतिक वोल्टमापी** (Electrostatic Voltmeter)। यह पाद-विद्युत्मापी ही का व्यवहारोपयोगी रूप है। किन्तु इसमें एक ही पाद-युग्म होता है जो ऊर्ध्वाधर तल में लगा होता है। सूची एल्यूमीनियम की बनी होती है
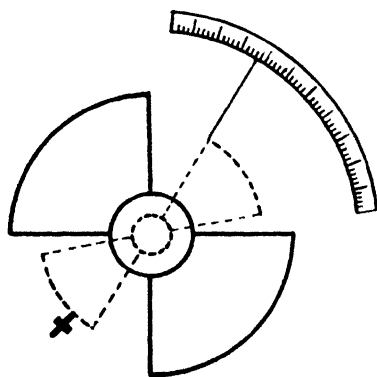
चित्र 11·08

और क्षैतिज धुरी पर ऊर्ध्वाधर तल मे घूम सकती है (चित्र 11·08)। जिन बिन्दुओं का विभवान्तर नापना होता है उनमे से एक को पाद-युग्म से तथा दूसरे को सूची से जोड़ देते हैं। अर्थात् सम-विभव विधि (अनु० 11·04) का उपयोग किया जाता है। सूची के नीचे के सिरे पर छोटा-सा नियन्त्रक भार (controlling weight) लगा रहता है जो सूची पर लगने वाले वैद्युत् प्रतिकर्षण बल का विरोध करता है। इसी भार को घटा बढ़ा कर इस वोल्टमापी की परास (range) बदली जा सकती है। सूची के दूसरे सिरे पर संकेतक लगा रहता है जिसके द्वारा एक वृत्ताकार स्केल पर सूची का विक्षेप नापा जा सकता है। स्केल पर अंशांकन ऐसा किया जाता है जिससे विभवान्तर सीधा वोल्टों में पढ़ा जा सके।

इस से प्रत्यावर्ती विभवान्तर भी नापा जा सकता है क्योंकि विक्षेप लगभग विभवान्तर के वर्ग का अनुपाती होता है।

दूसरा लाभ इस यंत्र का यह है कि इस मे कोई विद्युत्धारा नही प्रवाहित होती। अतः नापने मे विभवान्तर घट नही जाता जैसा धारा द्वारा नापने वाले वोल्टमापियों में होता है।

11·10 —**विद्युत्मापी के अन्य उपयोग**। विभवान्तर नापने के अतिरिक्त विद्युत्मापी के द्वारा निम्नलिखित नाप भी हो सकते है :—

(i) धारिता (capacity) की तुलना।

(ii) पारवैद्युताक का नाप।

(iii) आयनीकरण धारा का नाप।

इन सभी नापों मे विद्युत्मापी का एक पाद-युग्म पृथ्वी से जोड़ दिया जाता है और जिस वस्तु का विभव V नापना हो उसे दूसरे पाद-युग्म मे जोड़ देते है। बताया जा चुका है कि तब विक्षेप कोण $\theta = KV$ होता है।

इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक होता है कि विद्युत्मापी की धारिता का मान भी ज्ञात हो। यह निम्न प्रकार नापी जाती है (चित्र 11·09)।
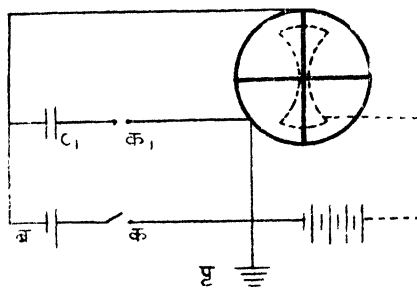
चित्र 11·09

पहले विद्युत्मापी के पाद-युग्म को किसी प्रमाण बैटरी **ब** के एक विद्युदग्र से थोड़ी देर के लिए जोड़ दिया जाता है। और बैटरी का दूसरा विद्युदग्र पृथ्वी से जोड़ दिया जाता है। यदि बैटरी का विद्युत्वाहक बल E हो तो

$$\theta_0 = KE$$

तथा पाद-युग्म पर का चार्ज $q = CE$ जहाँ C विद्युत्मापी की धारिता है। अब बैटरी का विद्युदग्र पाद-युग्म से अलग कर दिया जाता है और एक प्रमाण संधारित्र जिसकी धारिता C_1 है वह कुजी **क**$_1$ के द्वारा पाद-युग्मों से पार्श्वबद्ध कर दिया जाता है। इससे विभव बदलकर V_1 हो जाता है और विक्षेप कोण भी θ_1 हो जाता है।

$$\theta_1 = KV_1 \quad \text{तथा} \quad q = CE = (C + C_1) V_1$$

$$\therefore \quad \frac{C + C_1}{C} = \frac{E}{V_1} = \frac{\theta_0}{\theta_1}$$

$$\therefore \quad \frac{C_1}{C} = \frac{\theta_1 - \theta_0}{\theta_1}$$

और $$C = C_1 \frac{\theta_1}{\theta_1 - \theta_0}$$

11·11—**संधारित्र की धारिता का नाप**। इसके लिए चित्र 11·10 के समान प्रमाण संधारित्र C_1 माप्य संधारित्र C_2,, तथा प्रमाण बैटरी **ब** को तीन कुजियों
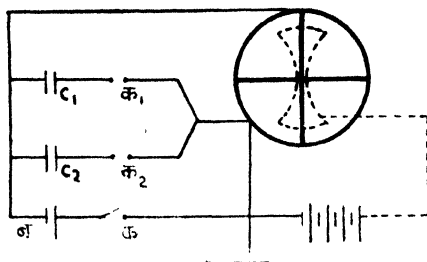
चित्र 11·10

क$_1$, **क**$_2$, **क** के द्वारा विद्युत्मापी के पाद-युग्म से जोड़ दिया जाता है। पहले **क**$_1$ और **क** को बन्द करके C_1 और पाद-युग्म पर चार्ज q पहुँचा दिया जाता है और विक्षेप θ_1 नाप लिया जाता है। तब **क** को खोलकर **क**$_2$ भी बंद कर दी जाती है। इससे चार्ज q का कुछ भाग अब C_2 पर भी फैल जाता है, और विक्षेप-कोण बदल कर θ_2 हो जाता है। स्पष्ट है कि यदि पाद-युग्म की धारिता C हो तो

$$q = (C_1 + C) V_1 = (C_1 + C_2 + C) V_2$$

$$\therefore \quad \frac{C_1 + C_2 + C}{C_1 + C} = \frac{V_1}{V_2} = \frac{\theta_1}{\theta_2}$$

$$C_2 = (C_1 + C) \frac{\theta_1 - \theta_2}{\theta_2}$$

अतः यदि C पिछले अनुच्छेद की रीति से पहले ही नाप लिया गया हो तो C_2 का मान ज्ञात हो जाता है। किन्तु C बहुत छोटा होता है और यदि वह उपेक्षणीय हो तो

$$C_2 = C_1 \frac{\theta_1 - \theta_2}{\theta_2}$$

उपर्युक्त विधि के अतिरिक्त निम्नलिखित संतुलनविधि से भी यह नाप हो सकता है।

C_1, C_2, C_3 और C_4 चार संधारित्र है जो चित्र 11·11 की नाईं परस्पर जुड़े है। इस चतुर्भुज के एक विकर्ण **च ज** मे बैटरी **ब** और कुंजी **क** लगे है और दूसरे
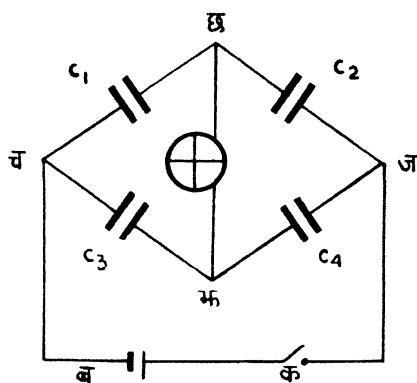
चित्र 11·11

विकर्ण **छ झ** मे विद्युत्मापी। स्पष्ट है कि विद्युत्मापी का विक्षेप θ शून्य तब ही होगा जब **छ** का विभव **झ** के विभव के बराबर हो।

मान लो कि C_1 और C_2 पर चार्ज q_1 है और C_3 तथा C_4 पर चार्ज q_2 है। तब $\theta=0$ होने के लिए **च झ** का विभवान्तर=**च छ** का विभवान्तर।

$$\therefore \qquad \frac{q_1}{C_1} = \frac{q_2}{C_3}$$

इसी तरह $$\frac{q_1}{C_2} = \frac{q_2}{C_4}$$

$$\therefore \qquad \frac{C_1}{C_2} = \frac{C_3}{C_4}$$

अतः यदि इन चारों में से कोई भी तीन धारिताएँ मालूम हों तो चौथी नापी जा सकती है। व्यवहार में यदि C_4 को नापना हो तो C_1 और C_2 तो नियत मान के संधारित्र लिये जाते हैं और C_3 परिवर्त्य संधारित्र होता है जिसकी धारिता का परिवर्तन करने से संतुलन अथवा शून्य विक्षेप प्राप्त कर लिया जाता है।

11·12—**पार-वैद्युतांक** (Dielectric Constant) **नापने की विधि।** अनु० 10·10 में यह बताया जा चुका है कि संधारित्र के दोनों चालकों के बीच के माध्यम पर उसकी धारिता का मान अवलम्बित होता है। यदि वायु माध्यम होने पर धारिता C_0 हो तो उसी संधारित्र की धारिता किसी दूसरे माध्यम के कारण बढ़कर C_1 हो जायगी और $C_1 = kC_0$ होगा जहाँ k उस माध्यम का पारवैद्युतांक है। अतः स्पष्ट है कि k को नापने का उपाय यह है कि पहले किसी संधारित्र की धारिता C_0 नापी जाय और तब माध्यम को बदल कर C_1 नापी जाय। इस कार्य के लिये पिछले अनुच्छेद की ही विधियों का उपयोग किया जाता है। केवल ध्यान यह रखना होता है कि दूसरा माध्यम चालकों के बीच के स्थान को पूरी तरह से भर ले।

जब माध्यम पिंड अवस्था में हो तो उसका अत्यन्त बारीक चूर्ण बना लिया जाता है। दो गोलीय (spherical) संधारित्र लिये जाते हैं और दोनों बिलकुल एक ही नाप के होते हैं। एक में माध्यम वायु रहता है और दूसरे में यह चूर्ण अच्छी तरह ठूस ठूस कर भर दिया जाता है। तब किसी भी विधि से दोनों की धारिता का अनुपात मालूम कर लिया जाता है। बहुधा चूर्ण केवल आधे ही संधारित्र में भरा जाता है क्योंकि पूरे गोलीय संधारित्र में चूर्ण ठूस कर भरने में बहुत कठिनाई है। बाहर का गोला दो गोलार्द्धों में बना होता है। अतः नीचे के गोलार्द्ध में चूर्ण भर दिया जाता है और तब ऊपर का गोलार्द्ध उस पर रख दिया जाता है। इस प्रकार आधे संधारित्र में माध्यम वायु रहता है और आधे में दूसरा पदार्थ।

यदि माध्यम द्रव या गैस हो तब तो पूरे गोलीय संधारित्र में उसे भर देना आसान ही है। जो माध्यम साधारण टेम्परेचर पर पिंडित रहता हो (यथा मोम या गंधक) किन्तु ताप से पिघलाया जा सके उसे भी द्रव अवस्था में पूरे संधारित्र में भर दिया जाता है और ठंडा होने पर नाप लिया जाता है। गैस के लिये समान्तर-पट्ट संधारित्र भी काम में आ सकते हैं।

लेकिन जब कोई पदार्थ पट्टिका-रूप में उपलब्ध हो तो समान्तर-पट्ट संधारित्र का उपयोग किया जाता है। वास्तव में इस कार्य के लिये केल्विन का निरपेक्ष विद्युत्मापी बहुत उपयुक्त है क्योंकि वह संधारित्र तो है ही और उसमें यथार्थता के लिये

रक्षक-वलय (guard-ring) भी है (अनु० 11·03)। बताया जा चुका है कि वायु माध्यम में ऐसे संधारित्र की धारिता $A/4\pi d$ होती है। किन्तु यदि संधारित्र की पट्टिकाओं के बीच मे किसी दूसरे अचालक पदार्थ की t सम० मोटी पट्टिका रख दी जाय तो धारिता $A/4\pi\{(d-t)+(t/k)\}$ हो जाती है (अनु० 10·12)। अतः ये दोनो धारिताएँ नापने से उस बीच वाली पट्टिका के पदार्थ के k का मान नापा जा सकता है। इसमे धारिता नापने के लिये एक बेलनाकार परिवर्त्य संधारित्र का उपयोग किया जाता है और उसे विपरीत चिह्नीय चार्ज देकर समान्तर-पट्ट संधारित्र के बराबर ही विभवान्तर उत्पन्न कर लिया जाता है। स्पष्ट है कि दोनों संधारित्रों के चार्ज बराबर तब ही होंगे जब दोनों की धारिता भी बराबर हो। इस बात की परीक्षा करने के लिये दोनों के विलागित चालकों को जोड़ देते हैं। यदि चार्ज बराबर हों तो इनका विभव शून्य हो जायगा अन्यथा कुछ धन या ऋण विभव बच रहेगा जिसका पता किसी पाद-विद्युत्मापी के द्वारा लगाया जा सकता है। बेलनाकार संधारित्र की धारिता को बदल कर इस परीक्षा द्वारा समान्तर-पट्ट संधारित्र के बराबर कर ली जाती है। तब समान्तर-पट्ट संधारित्र के बीच मे माप्य पदार्थ की पट्टिका घुसा दी जाती है। इससे धारिता बढ़ जाती है। तब समान्तर पट्ट संधारित्र के नीचे वाली पट्टिका को अधिक दूर हटा कर धारिता पुनः पूर्व मान के बराबर अर्थात् उसी बेलनाकार संधारित्र के बराबर कर ली जाती है। मान लीजिये कि उसे x सम० खिसकाना पड़ा। तब

$$\frac{A}{4\pi d}=\frac{A}{4\pi\{d+x-t+(t/k)\}}$$

अर्थात् $$x=t-(t/k)$$

$\therefore$ $$k=\frac{t}{t-x}$$

11·13—**अत्यन्त क्षीण धारा की नाप** (Measurement of Very Small Current)। आयनीकरण धारा (ionisation current) अत्यन्त क्षीण होती है और उसका नाप साधारण धारा-मापी से नहीं हो सकता। किन्तु पाद-विद्युत्मापी के द्वारा यह आसानी से नापी जा सकती है। एक समान्तर-पट्ट संधारित्र की पट्टिकाओं के बीच में यह धारा चलाई जाती है। एक पट्टिका बैटरी से जोड़ दी जाती है और दूसरी विद्युत्मापी के एक पाद-युग्म मे। बैटरी का दूसरा विद्युदग्र तथा विद्युत्मापी का दूसरा पाद-युग्म पृथ्वी से संपर्कित रहते हैं। पहले किसी कुंजी से दोनों पाद-युग्मों को परस्पर जोड़ देते हैं जिससे विद्युत्मापी का

विक्षेप शून्य हो जाता है। तब इस कुंजी को खोल देते हैं जिससे धारा के कारण पाद-युग्म और तत्संबंधित संधारित्र-पट्टिका पर चार्ज एकत्रित होने लगता है। विराम घड़ी (stop-watch) के द्वारा विक्षेप की इस वृद्धि की रेट $d\theta/dt$ को नाप लेते हैं। तब स्पष्ट है कि धारा

$$i=\frac{dq}{dt}=C\frac{dV}{dt}=\frac{C}{K}\frac{d\theta}{dt}$$

इसमें C विद्युत्मापी तथा संधारित्र पट्टिका की सम्मिलित धारिता है जो अनु० 11·10 में वर्णित रीति से नाप ली जाती है। K विद्युत्मापी का नियतांक है जिससे $\theta=KV$। इस रीति से प्रायः 10^{-13} से 10^{-16} अम्पीयर तक की क्षीण धारायें आसानी से नापी जा सकती हैं क्योंकि C का मान बहुत कम होता है (विशेष कर लिडमान के विद्युत्मापी में) और एक वोल्ट विभवान्तर से प्रायः 1000 मम० का विक्षेप विद्युत्मापी में आसानी से प्राप्त हो सकता है।

परिच्छेद 12

विद्युत्-यंत्र

(Electrostatic Machines)

12·01—**विद्युत्-यंत्र** (Electric machine)। जिस किसी यंत्र से बहुत सा वैद्युत आवेश उत्पन्न हो सके वह विद्युत्-यंत्र अथवा वैद्युत मशीन कहलाता है। ये यंत्र मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं। एक घर्षण-यंत्र और दूसरे प्रेरण-यंत्र।

12·02—**घर्षण विद्युत्-यंत्र** (Frictional machine)। चित्र 12·01 मे घर्षण यंत्र दिखाया गया है। इसमें काँच का एक गोल चक्का दस्ते **द** से घुमाया जाता है। यह चक्का रेशम के कपड़े में **र र** पर दबा है। इस रेशम की रगड़ से काँच का पृष्ठ धन-आवेशमय हो जाता है। **क ख** मे चालक **च** मे लगी हुई पीतल की नोंके हैं। यह अनु० 7·20 मे बताई हुई विधि से काँच का आवेश ले लेती है। चालक **च** विलागित है। रेशम का कपड़ा लकड़ी के बीच मे दबा है। यदि चालक **च** किसी लीडन जार अथवा अन्य संधारित्र से जोड़ दिया जाय तो उस पर बहुत अधिक आवेश एकत्रित हो सकता है।
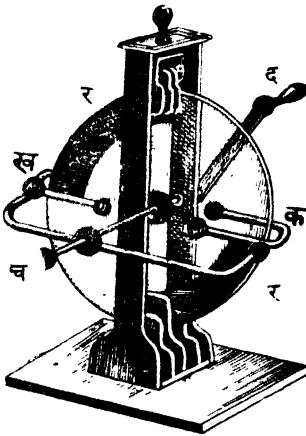
चित्र 12·01

इस यंत्र का रिवाज अब उठ गया है क्योंकि प्रेरण-यंत्र में बहुत आसानी से और अधिक परिमाण में विद्युत् उत्पन्न किया जा सकता है।

12·03—**इलैक्ट्रोफ़ोरस** (Electrophorus)। प्रेरण-यंत्रों का कार्य समझने का सब से अच्छा उपकरण इलैक्ट्रोफ़ोरस है। इसमें लाख, गंधक या एबोनाइट की एक गोल पट्टिका **प** किसी पृथ्वी-संपृक्त चालक **च**$_1$ पर रखी है (चित्र 12·02)। ऊनी कपड़े से रगड़ कर **प** पर ऋण आवेश उत्पन्न कर दिया जाता है। यह नीचे वाले चालक **च**$_1$ पर धन आवेश प्रेरित कर देता है। इन दोनों के पारस्परिक आकर्षण के कारण **प** का आवेश आसानी से हटाया नही जा सकता। **च**$_2$ एक और चालक पट्टिका है। इसके विलागक दस्ता **द** लगा है। इस दस्ते से पकड़ कर जब इसे

प के समीप लाते हैं तो इसके नीचे के पृष्ठ पर धन आवेश और ऊपर के पृष्ठ पर ऋण आवेश प्रेरित होता है। $च_२$ को **प** पर रख देने से भी इन आवेशों में कोई अन्तर नहीं होता क्योंकि प्रथम तो **प** को $च_२$ अच्छी तरह छूता नही और दूसरे **प** चालक भी नहीं हैं। अत: **प** का आवेश $च_२$ पर नही जाता। इस अवस्था में यदि हम $च_२$ को हाथ से स्पर्श करदें तो उसका ऋण आवेश पृथ्वी में चला जाता है। अब उसे **प** पर से उठा लीजिये। उसमे **प** के आवेश के बराबर ही धन आवेश रहेगा। यदि इसके समीप हम अपना हाथ लावे तो छोटी सी चिनगारी निकलेगी जिससे इसके आवेश का पता लग जायगा। यह आवेश यदि हम चाहे तो किसी दूसरे चालक को दे सकते हैं। स्मरण रहे कि इस आवेश की उत्पत्ति में **प** का आवेश कम नहीं हुआ है। इस आवेश की ऊर्जा उस ऊर्जा से पैदा हुई है जो हमने $च_२$ और **प** को उनके पारस्परिक आकर्षण के विरुद्ध दूर हटाने में खर्च की थी।
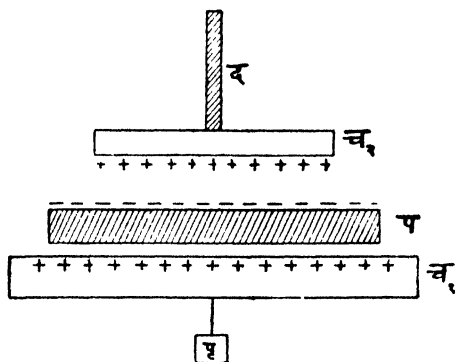
चित्र 12·02

$च_२$ को अनाविष्ट करके पुन. **प** के समीप हाथ से स्पर्श करके फिर उसे हम उतना ही धन आवेश दे सकते हैं। बार-बार $च_२$ का आवेश किसी अन्य चालक को देकर, और बार-बार **प** के द्वारा उसमे उतना ही आवेश फिर उत्पन्न किया जा सकता है। इस प्रकार **प** के थोड़े से आवेश से हम जितना चाहें उतना आवेश उत्पन्न कर सकते हैं। चित्र 12·03 मे इस क्रिया की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में आवेश दिखलाये गये हैं।
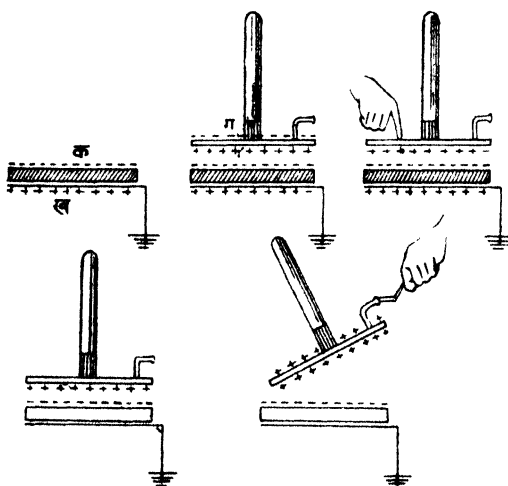
चित्र 12·03

12·04—**कैल्विन का विद्युत्-यंत्र**। इलैक्ट्रोफोरस के सिद्धान्त पर काम करने वाले कई यंत्र लार्ड केल्विन (Lord Kelvin) ने बनाये थे। उसमें से एक का नाम जल-पातक यंत्र (Water-dropping machine) था। चित्र 12·04 में जल-पातक यंत्र का कार्य समझाया गया है। **क, ख, ग, घ** चार विलागित धातु के बर्तन हैं। इनके पेंदा नही है किन्तु **ग घ** के नीचे के मुँह कुछ तंग हैं। **क** और **घ** आपस में तार से जुड़े हैं और इसी प्रकार **ख** और **ग**। **च** दो मुँह की नली है जिस में से जल की बूंदे बराबर नीचे गिरती रहती हैं। नली के दोनो मुँह **क** और **ख** मे अच्छी तरह घुसे हुये हैं।
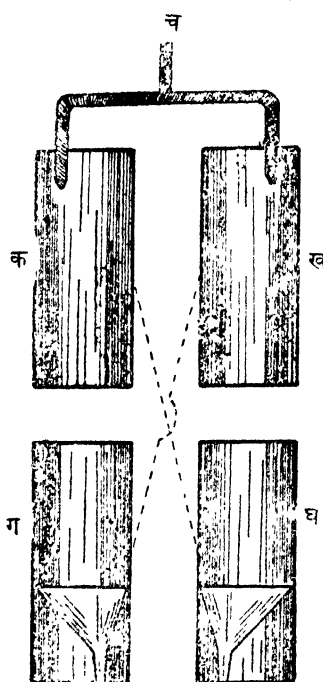
चित्र 12·04

मान लीजिये कि **क** मे थोड़ा सा धन आवेश किसी प्रकार उत्पन्न हो गया है। जो पृथ्वीसंपृक्त पानी की बूंद **क** मे नली से लटकेगी उस पर ऋण आवेश प्रेरित हो जायगा और जब वह गिरेगी तब अपना यह ऋण आवेश **ग** को दे देगी। इससे **ख** मे भी ऋण आवेश आ जायगा। इस प्रकार **क** में से आने वाली प्रत्येक बूद **ग** और **ख** को ऋण आवेश देगी और **ख** में से आने वाली प्रत्येक बूद **क** और **घ** को धन आवेश देगी। इस प्रकार **क घ** का धन आवेश तथा **ख ग** का ऋण आवेश उत्तरोत्तर बढ़ता जायगा जिस से बूदों मे प्रेरित आवेश भी अधिकाधिक होता जायगा। अतः थोड़ी ही देर में बहुत अधिक धन आवेश **क घ** पर एकत्रित हो जायगा और उतना ही ऋण आवेश **ख ग** पर।

इसमें जो वैद्युत ऊर्जा संचित होती है वह नीचे गिरने वाली बूंदों की गतिज ऊर्जा है। जब बूंद नीचे गिरती है तो नीचे के पात्र के कारण उस पर प्रतिकर्षण बल लगता है। अतः बूंद का वेग कुछ घट जाता है। यही ऊर्जा वैद्युत ऊर्जा के रूप में एकत्रित हो जाती है।

12·05—**टोपलर (Toepler) या वास (Voss) का विद्युत्-यंत्र**। यह मशीन 1865 मे सबसे पहले बनाई गई थी। इस में काँच की दो गोल पट्टिकाएँ

होती हैं (चित्र 12·05 और 12·06)। एक स्थिर रहती है और दूसरी घूमती है। स्थिर पट्टिका पर टीन की पन्नी के दो चालक च$_1$, च$_2$ चिपके रहते हैं और घूमने वाली पट्टिका पर छोटी छोटी पन्नियाँ प$_1$, प$_2$ इत्यादि चिपकी हैं। ये स्थिर पट्टिका से समान्तर घूमती हैं जिस से वे क्रमशः च$_1$ और च$_2$ के सामने आती रहती हैं। छ$_1$ छ$_2$ पीतल के बहुत पतले तारों के बुरुश हैं जो पीतल के तार द्वारा आपस में जुड़े हैं। जब
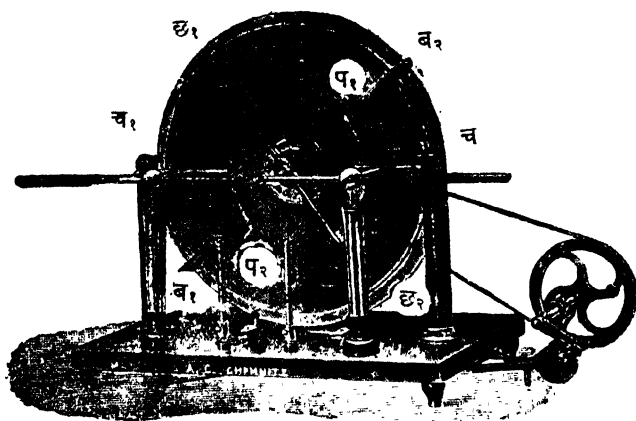
चित्र 12·05

बुरुश छ$_1$ किसी चालक प$_1$ को छूता है तो बुरुश छ$_2$ उसी समय ठीक सामने वाले चालक प$_2$ को छूता है। यह स्पर्श उस समय होता है जब यह चालक च$_1$ और च$_2$ के सामने से हटने वाले ही होते हैं। ब$_1$ और ब$_2$ दूसरे बुरुश हैं जो प$_1$, प$_2$, इत्यादि चालकों का च$_1$, च$_2$ से स्पर्श करा देते हैं। चित्र 12·06 में इस यंत्र का कार्य समझाया गया है। मान लीजिये कि च$_1$ पर किसी तरह थोड़ा सा धन आवेश विद्यमान है। जब इसके सामने छ$_1$ को प$_1$ छूता है तो प$_1$ पर ऋण आवेश प्रेरित हो जाता है और प$_2$ पर धन आवेश। जब प$_1$ और प$_2$ घूम कर छ$_1$, छ$_2$ को छोड़ देते हैं तो इन पर यह प्रेरित आवेश रह जाता है। इसके बाद प$_1$ और प$_2$ क्रमशः ब$_2$, ब$_1$ को छूते हैं। इस से प$_1$ का ऋण आवेश च$_2$ में चला जाता है और प$_2$ का धन आवेश च$_1$ में जाकर पहिले वाले धन आवेश को और भी बढ़ा देता है। किन्तु तब भी प$_1$ और प$_2$ पर थोड़ा आवेश बच रहता है। ठीक इसी प्रकार छ$_1$

और $छ_2$ को अन्य पत्रियां $प_3$, $प_4$ आदि स्पर्श करती हैं। $च_1$ और $च_2$ के अधिक आवेश के कारण अब इन पत्रियों में धन और ऋण आवेश पहले की अपेक्षा अधिक प्रेरित होते हैं और ये भी $ब_2$ और $ब_1$ के द्वारा $च_1$, $च_2$ में चले जाते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर $च_1$ और $च_2$ के आवेश बढ़ते जाते हैं।
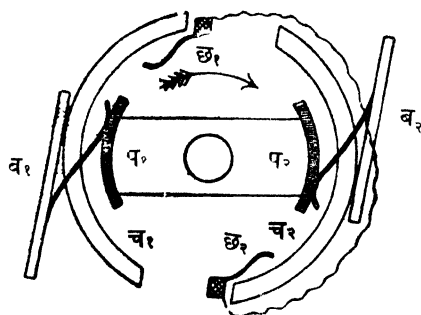
चित्र 12·06

$ब_1$ और $ब_2$ को छोड़ने पर चालक $प_1$, $प_2$.... दो कंघों के सामने आते हैं। यहीं इनका बचा हुआ आवेश कंघों से जुड़ी हुई दो गोलियां ले लेती हैं। एक धन आवेश लेती हैं और दूसरी ऋण। ज्यों-ज्यों $च_1$ और $च_2$ पर आवेश बढ़ता जाता है त्यों-त्यों गोलियों को भी अधिक आवेश प्राप्त होता जाता है। इन गोलियों से एक-एक लीडन-जार भी जुड़ी रहती है जो उनकी धारिता बढ़ा देती है।

अब प्रश्न यह है कि $च_1$ पर पहला धन-आवेश कहाँ से आवे। बहुधा तो ऐसा होता है कि कुछ न कुछ आवेश वहाँ रहता ही है और उससे स्वयमेव ही इस यंत्र का कार्य प्रारम्भ हो जाता है। किन्तु यदि ऐसा न हो तो एक आविष्ट छड़ $च_1$ के पास ज़रा सी देर पकड़ रखने से यह कार्य अवश्य ही प्रारम्भ हो जायगा।

12·06—**विमशर्स्ट (Wimshurst) मशीन।** यह और भी प्रबल मशीन है। इसमें भी वास मशीन की तरह दो कांच की गोल पट्टिकायें होती हैं। किन्तु इसमें दोनों ही पट्टिकाये घूमती हैं। एक सीधी तरफ घूमती है तो दूसरी उलटी तरफ।

दोनों ही पर टीन के पत्री के बहुत से चालक लगे रहते हैं। प्रत्येक पट्टिका के सामने तार के बुरुशों से व्यास के दोनों ओर के चालकों को स्पर्श करने
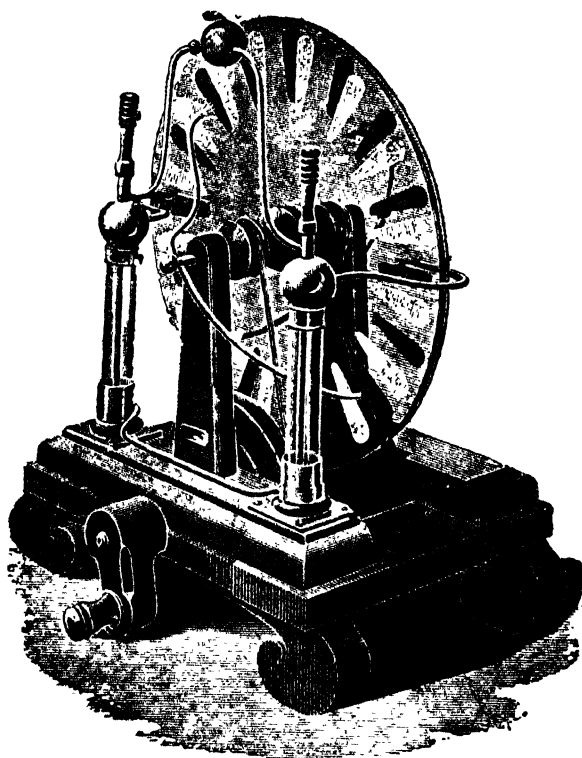
चित्र 12·07

वाली पीतल की छड़ें लगी रहती हैं। ये दोनों छड़े परस्पर समकोणिक होती हैं (चित्र 12·07)।

इसका कार्य चित्र 12·08 से समझ में आ जायगा। इसमें अन्दर का वृत्त सामने की पट्टिका का चित्र है और बाहिर का वृत्त पीछे वाली पट्टिका का। A B और C D बुरुश हैं। E और F गोलियां X और Y कंघों से जुड़ी हैं।

मान लीजिये कि सामने वाली पट्टिका के किसी भी एक चालक P पर कुछ थोड़ा सा ऋण-आवेश है। जब वह A के सामने जाता है तब वह A से स्पर्श करने वाली

पिछली पट्टिका के चालक पर धन-आवेश प्रेरित कर देता है और साथ ही B से स्पर्श करने वाले चालक पर ऋण-आवेश। ये चालक अपना धन तथा ऋण आवेश लेकर यथा समय C और D के सामने पहुँचेंगे और उनसे स्पर्श करने वाले सामने वाली पट्टिका के चालकों में क्रमशः धन तथा ऋण आवेश प्रेरित कर देंगे। इसी प्रकार एक ही दो चक्करों में दोनों पट्टिकाओं के सभी चालक आविष्ट हो जायँगे। वे सभी चालक
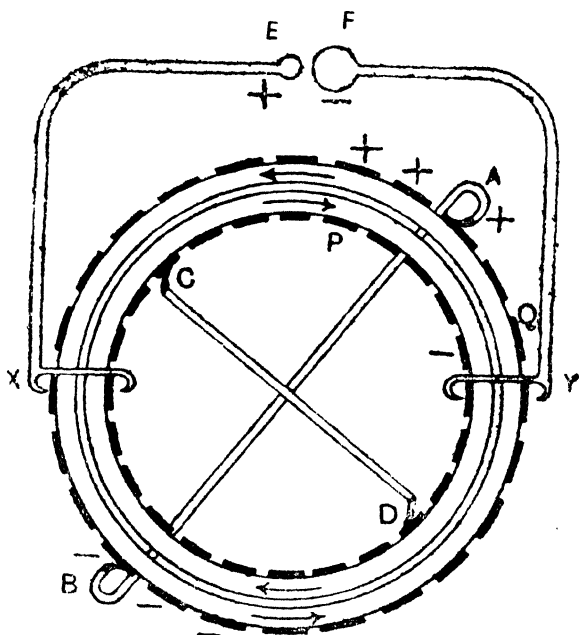
चित्र 12·08

जो पिछली पट्टिका पर A को स्पर्श करके X की ओर जावेंगे, धन-आवेश से आविष्ट रहेंगे और जो B को स्पर्श करके Y की ओर जावेंगे वे सब ऋण-आविष्ट रहेंगे। सामने वाली पट्टिका पर D से X की ओर जाने वाले चालक धन-आविष्ट होंगे और C से Y की ओर जाने वाले ऋण-आविष्ट। मतलब यह है कि X के निकट आने वाले सभी चालक धन-आविष्ट होंगे और X की नोकें इस आवेश को लेकर E में पहुँचा देंगी। इसी प्राकार F में ऋण-आवेश पहुँच जायगा। धारिता बढ़ाने के लिये E और F लीडन-जार संधारित्रों से जुड़े रहते हैं।

इस प्रकार की मशीन से E और F का विभवान्तर 50,000 वोल्ट हो जाना कुछ भी कठिन नहीं है।

12·07—वैन डी ग्राफ़ का विद्युत्-जनक (Van de Graaf Generator)। ऊपर लिखी हुई सभी मशीनों से अधिक शक्तिशाली आधुनिक विद्युत्-यंत्र का आविष्कारक वैन डी ग्राफ है। इसके द्वारा प्रायः एक करोड़ (10^7) वोल्ट तक विभव वाला विद्युत् उत्पन्न किया जा सकता है। इसका मूल सिद्धान्त वही है जो केल्विन के जल-पातक विद्युत-यंत्र का था। इसका सबसे मुख्य भाग है एक प्रायः 10-15 फुट व्यास का धातु का बना खोखला और खूब पालिश किया हुआ गोला ग जो पृथ्वी से प्रायः 40 फुट ऊँचे किसी विलागित स्तम्भपर रखा होता है। जितना ही बड़ा गोला हो और जितनी ही अच्छी पालिश उस पर हो उतना ही अच्छा है। उसके केन्द्र मे एक घिरनी (pulley) लगी रहती है और दूसरी घिरनी खम्भे से नीचे वाले भाग पर लगी रहती है। इन घिरनियों पर रबर या रेशम का पट्टा (belt) चढ़ा रहता है। नीचे की घिरनी को बिजली की मोटर द्वारा घुमाने पर पट्टा दोनों घिरनियों पर घूमता रहता है। यह पट्टा गोले में दो झिरियों के द्वारा प्रविष्ट होता है। चित्र 12·09 में यह व्यवस्था दिखलाई गई है। प्रत्येक घिरनी के निकट एक छोटा नोकदार चालक लगा रहता है। ये नोकें क, ख पट्टे के इतने निकट रखी जाती हैं कि
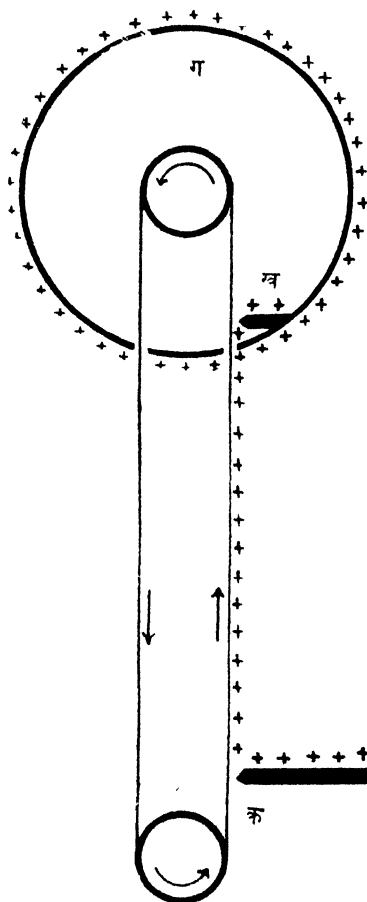
चित्र 12·09

वे पट्टे को लगभग छू ही लेती हैं। प्रारम्भ में **क** को किसी उच्च-विभव बैटरी के धनाग्र से जोड़ कर धन आवेश दे दिया जाता है। बैटरी का दूसरा छोर पृथ्वी से जोड़ दिया जाता है। यह धन-आवेश **क** की नोक में से निकल कर ऊपर की ओर जाते हुए पट्टे पर चला जाता है। ऊपर पहुँच कर यह आवेश **ख** पर प्रेरित ऋण-आवेश में नोक के द्वारा मिल कर लुप्त हो जाता है और **ख** पर प्रेरित धन-आवेश पूरा का पूरा उससे जुड़े हुए बड़े गोले **ग** में चला जाता है क्योंकि **ख** उस बड़े गोले के अन्दर स्थित होता है और किसी भी चालक के बाहरी पृष्ठ पर ही उसका समस्त आवेश रह सकता है। अन्दर के पृष्ठ पर नहीं।

इसी प्रकार के दो बड़े गोले लगाकर एक पर धन आवेश और एक पर ऋण-आवेश का संग्रह करने से दो गुणा विभवान्तर भी उत्पन्न कर लिया जा सकता है।

12·08—**विद्युत्स्फुलिंग** (Electric spark)। ऊपर कई बार यह कहा गया है कि जब दो चालकों का विभवान्तर बहुत बढ़ जाता है तो कभी-कभी उनके बीच में चिनगारी या स्फुल्लिग पैदा हो जाती है। यद्यपि वायु की अचालकता बहुत अच्छी है किन्तु जब अधिक विभवान्तर के कारण उसमें वैद्युत विकृति अधिक हो जाती है तब मानो विद्युत् वायु को चीर कर एक चालक से दूसरे चालक पर चला जाता है। विद्युत् का जाना तो इससे प्रमाणित है कि इस चिनगारी के निकलते ही दोनों चालक प्रायः अनाविष्ट हो जाते हैं। वायु के इस प्रकार विदीर्ण होने से बड़ा शब्द होता है और प्रकाश भी पैदा होता है।

इस चिनगारी की आकृतियां कई प्रकार की होती हैं किन्तु उनके दो मुख्य रूप हैं। एक में प्रकाश की एक ही सीधी अथवा टेढ़ी अथवा पेड़ के समान शाखा वाली रेखा

चित्र 12·10

होती है। इसी को वास्तव में स्फुल्लिग कहते हैं (चित्र 12·10)। सब शाखायें धन से ऋण चालक की ओर चलती दिखलाई देती हैं। दूसरे प्रकार की चिनगारी का नाम

ब्रुश विसर्ग (brush discharge) है (चित्र 12·11)। इसमें धनाविष्ट चालक में ब्रुश के समान बैंजनी रंग का प्रकाश दिखलाई देता है किन्तु यह प्रकाश धीमा होता
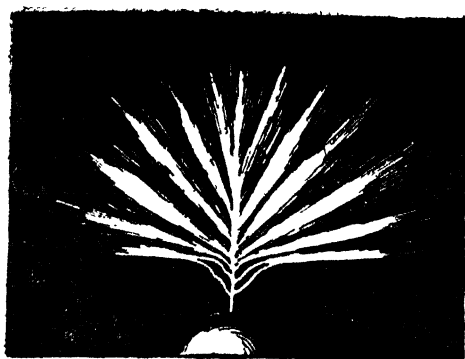
चित्र 12·11

है और अंधेरे कमरे में ही इसे देख सकते हैं। ऋणाविष्ट चालक में से ब्रुश नहीं निकलता। किन्तु वह स्वयं धीमे बैंजनी प्रकाश से आवृत रहता है। यदि इस चालक का पृष्ठ भी कहीं पर नकीला हो तो वहां से तारे के समान थोड़ी सी किरणें निकलती मालूम होती हैं।

स्फुल्लिंग-विसर्ग में शब्द कड़ाके का होता है। विमशर्स्ट मशीन की गोलियों में से स्फुल्लिंग निकलने से पहले विभवान्तर बढ़ता जाता है। सहसा कड़ाका होता है, स्फुल्लिंग निकलती है और विभवान्तर शून्य हो जाता है। मशीन को चलाते रहने पर विभवान्तर फिर बढ़ता है और फिर स्फुल्लिंग निकलती है।

किन्तु जब उसमें ब्रुश विसर्ग होता है तब शब्द ऐसा होता है मानो पत्तों में से वायु बड़े जोर से चल रही हो। यह हिसहिसाने का शब्द स्फुल्लिंग के कड़ाके के समान रह-रह कर नहीं होता किन्तु बराबर होता ही रहता है। गोलियों का विभवान्तर इसमें स्थिर रहता है।

12·09—**स्फुल्लिंग-विसर्ग** (Spark Discharge) **कब होता है**। जब विमशर्स्ट मशीन की गोलियां खूब पालिश की हुई हों और एक दूसरे से बहुत दूर न हों तब स्फुल्लिंग-विसर्ग होता है। यदि संधारित्र के द्वारा इन गोलियों की धारिता अधिक न बना दी गयी हो तब तो स्फुल्लिंग पतली सी होती है और उसमें प्रकाश भी अधिक नहीं होता। किन्तु यदि लीडन-जार उनमें लगे हों तो खूब मोटी, और चमकदार स्फुल्लिंग निकलती है और आवाज भी जोर की होती है। मतलब यह है कि

जब स्फुलिंग में से बहुत अधिक विद्युत् जाता है तब वह अधिक मोटा और चमकदार होता है।

बुरुश विसर्ग तब होता है जब गोलियां इतनी दूर हों कि स्फुलिंग न निकल सके।

12·10—**स्फुलिंग-दैर्घ्य** (Spark-length)। स्फुलिंग की लम्बाई अथवा जिन चालको के बीच में स्फुलिंग उत्पन्न हो सकती है उनके बीच की दूरी कई बातों पर अवलम्बित है :—

(1) चालकों का विभवान्तर

(2) चालकों के बीच का अचालक या माध्यम

(3) चालको की आकृति

(4) यदि माध्यम गैस हो तो उसका दबाव।

चालक किस धातु के बने हैं इस बात का उस पर कुछ भी असर नही होता।

(1) **विभवान्तर**। यदि अन्य बातों में अन्तर न हो तो ज्यों-ज्यों विभवान्तर बढ़ता जाता है, स्फुलिंग-दैर्घ्य भी बढ़ता जाता है। यदि वायु में स्फुलिंग-दैर्घ्य d प्रायः 2 सम० से अधिक हो तो विभवान्तर

$$V = a + bd$$

a का मूल्य b से बहुत कम प्राय. $\frac{1}{20}$वां भाग होता है। अतः हम कह सकते हैं कि V लगभग d का अनुक्रमानुपाती है। अर्थात् V/d का मूल्य स्थिर है। V/d को हम विभव की प्रवणता कह आये हैं। अतः जान पड़ता है कि वायु को विदीर्ण करने के लिये कुछ निश्चित विभव-प्रवणता की आवश्यकता है। इस नियम का उपयोग उच्च विभवान्तर नापने के लिये किया जाता है। बड़े-बड़े प्राय. 10 सम० व्यास के दो पीतल के गोलों के बीच का स्फुलिंग-दैर्घ्य नापने से विभवान्तर ज्ञात कर लिया जाता है। गोलों पर अच्छी पालिश होना चाहिए और उन पर निकल आदि चढ़ा भी होना चाहिए जिससे यह पालिश खराब न हो सके। जिस यंत्र से यह नाप होता है उसे गोलव्यवधान-वोल्टमापी (sphere-gap voltmeter) कहते हैं।

(2) **माध्यम**। घन या द्रव माध्यम में स्फुलिंग-दैर्घ्य बहुत कम होता है। अर्थात् जितने विभवान्तर से वायु में एक सम० दूरी में स्फुलिंग पैदा हो जायगी उतने ही विभवान्तर से तेल, कांच, अथवा एबोनाइट में से स्फुलिंग चलाने के लिए चालकों की दूरी बहुत घटानी पड़ेगी। इसका कारण यह है कि घन और द्रव पदार्थ अधिक मजबूत होते हैं और वे आसानी से विदीर्ण नहीं हो सकते। इनके लिये विभव-प्रवणता अधिक होना चाहिए। इस दृष्टि से मैक्सवैल ने स्फुलिंग-

कारक विभव-प्रवणता का नाम पार-वैद्युत-प्रबलता (dielectric strengh) रखा था। किन्तु हम देखेंगे कि चालकों की आकृति के कारण इस विभव-प्रवणता का मूल्य बदल जाता है। अतः इसके द्वारा किसी पदार्थ की पार-वैद्युत-प्रबलता का नाप नहीं हो सकता। फिर भी तुलना के लिए नीचे कुछ पदार्थों की पार-वैद्युत-प्रबलता दी जाती है :

(वोल्ट प्रति सम० के मात्रकों मे)

वायु	23,800
हाइड्रोजन	22,200
पैराफिन-कागज़	360,000
तारपीन का तेल	94,000
पैराफिन तेल	87,000

(3) **चालकों की आकृति**। चालकों की आकृति का भी स्फुल्लिग-दैर्घ्य पर बड़ा असर होता है। नोकदार चालकों में बहुत दूर से स्फुल्लिग निकल जाती है। चौड़े अथवा गोल चालकों में यह दैर्घ्य कम होता है।

(4) **गैस का दबाव**। यदि स्फुलिंग-दैर्घ्य स्थिर रख कर अर्थात् यदि विद्युत्-यंत्र की गोलियों के बीच की दूरी स्थिर रख कर हम वायु-पम्प से उनके बीच की वायु का दबाव धीरे-धीरे घटाते जावें तो हम देखेंगे कि स्फुल्लिग के लिए आवश्यक विभवान्तर भी धीरे-धीरे घटता जायगा। किन्तु वायु का दबाव किसी निश्चित परिमाण से कम हो जाने पर यह विभवान्तर फिर शीघ्रता से बढ़ने लगेगा और यहाँ तक बढ़ जायगा कि फिर उसमें से स्फुल्लिग चलाना प्रायः असम्भव हो जायगा। जिस दबाव पर स्फुल्लिग के लिये सबसे कम विभवान्तर की आवश्यकता होती है वह संक्रमण-दबाव (critical pressure) कहलाता है। वायु के लिये समान्तर पट्टिकाओं के बीच में स्फुल्लिग चलाने के लिये संक्रमण-दबाव 3 सम० (पारद) है।

इस सम्बन्ध में पाशन (Paschen) ने एक नियम का पता चलाया था जो अब पाशन का नियम कहलाता है वह नियम यह है :—

यदि विभवान्तर न बदला जाय तो वायु के दबाव और स्फुल्लिग-दैर्घ्य का गुणन-फल स्थिर रहता है। अर्थात् स्थिर विभवान्तर के लिए स्फुल्लिग दैर्घ्य वायु-दबाव का उत्क्रमानुपाती है। यह नियम संक्रमण-दबाव से अधिक दबाव पर ही लागू है।

12·11—**स्फुल्लिंग-विसर्ग का रहस्य**। इस रहस्य को समझने में नीचे लिखी हुई घटनाओं ने बड़ी सहायता दी है। यह साधारण अनुभव की बात है कि

जब विद्युत्-यंत्र की गोलियों में से प्रथम चिनगारी निकलती है तब बहुत अधिक विभवान्तर की आवश्यकता होती है। किन्तु एक स्फुल्लिग के निकल जाने पर बाद की स्फुल्लिगें कम विभवान्तर से ही पैदा हो जाती है। ऐसा जान पड़ता है कि मानो वायु की पार-वैद्युत-प्रबलता पहली स्फुल्लिग के कारण सहसा बहुत घट जाती हो।

यह भी देखा गया है कि यदि गोलियों के बीच की वायु पर बैजनी अथवा परा-बैजनी (ultra-violet) प्रकाश डाला जाय तब भी वायु की पार-वैद्युत-प्रबलता घट जाती है।

इसके अतिरिक्त ऐसा भी प्रमाणित हो चुका है कि स्फुल्लिग के प्रकट होने से पहले वायु में से कुछ विद्युत् की धारा भी बह जाती है। अर्थात् वायु में कुछ चालकता आ जाती है।

इन सबका स्पष्टीकरण सर जे० जे० टामसन (J. J. Thomson) ने इस प्रकार किया है। वायु में कुछ ऋणाविष्ट इलैक्ट्रान सदा विद्यमान रहते हैं। गोलियों के बीच के विभवान्तर के कारण ये इलैक्ट्रान बड़े वेग से धनाविष्ट गोली की ओर आकर्षित होते हैं। इस प्रबल गति के कारण इलैक्ट्रानों की जोरदार टक्कर वायु के अणुओं से होती है जिससे अणु टूट जाते हैं। अणु का एक भाग धनाविष्ट हो जाता है और दूसरा ऋणाविष्ट। इन भागों को आयन (ion) कहते हैं और अणुओं के इस प्रकार टूटने को वायु का आयनित होना (ionisation) कहते हैं। यह आयन भी गोलियों की ओर आकर्षित होते हैं और दूसरे अणुओं पर टक्कर मार-मार कर ये भी अधिक आयनों को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार जब काफ़ी आयन वायु में हो जाते हैं तब उनमें से कुछ गोलियों पर भी पहुँच जाते हैं जिससे धनाविष्ट गोली का धनआवेश घटता है और ऋणाविष्ट गोली का ऋणआवेश भी घटता है। इसी क्रिया को दूसरे शब्दों में धन-आवेश का धन-गोली से ऋण-गोली पर जाना कह सकते हैं। अर्थात् आयनित होने के कारण वायु मे कुछ चालकता आ जाती है। तब इस चालक मार्ग से सारा विद्युत् एक गोली से दूसरी गोली पर एक-दम चला जाता है। इसी को हम स्फुल्लिग कहते हैं।

परा-बैजनी प्रकाश मे आयनीकरण का गुण होता है। इसका हम आगे चल कर विस्तार-पूर्वक वर्णन करेंगे। अतः ऐसे प्रकाश से स्फुल्लिग पैदा होने में सुविधा हो जाना स्वाभाविक ही है।

स्फुल्लिग का रंग गोलियों की धातु पर तथा माध्यम पर निर्भर है। धातु के परमाणु भी स्फुल्लिग के साथ निकल कर वायु में चले आते हैं और प्रदीप्त हो जाते हैं। यही रंग का कारण है।

12·12—**नोक तथा पट्टिका में स्फुल्लिंग ।** जिन दो चालकों के बीच में स्फुल्लिंग उत्पन्न किया जाता है उनमें से यदि एक नोकदार हो और दूसरा चपटा, तो देखा जाता है कि यदि नोक ऋणाविष्ट हो तब तो स्फुल्लिंग कम विभवान्तर के द्वारा ही प्रकट हो जाता है और यदि नोक धनाविष्ट हो तो बहुत अधिक विभवान्तर की आवश्यकता होती है। यह घटना भी बड़े काम की है। जब विभवान्तर की दिशा क्षण-क्षण मे बदलती हो और हमें एक ही दिशा मे विसर्ग करना अभीष्ट हो तब स्फुल्लिंग नोक तथा पट्टिका के बीच में उत्पन्न किया जाता है।

12·13—**लिख्टनवर्ग चित्र** (Lichtenburg Figures)। यदि विद्युत्-यंत्र का धन अथवा ऋण चालक किसी अचालक पट्टिका पर रख दिया जाय और उस पट्टिका पर गंधक और सीसे के लाल आक्साइड (red oxide of lead) का चूर्ण फैला दिया जाय तो इस चूर्ण मे विसर्ग के कारण बड़ी मनोरंजक आकृतियाँ बन जाती
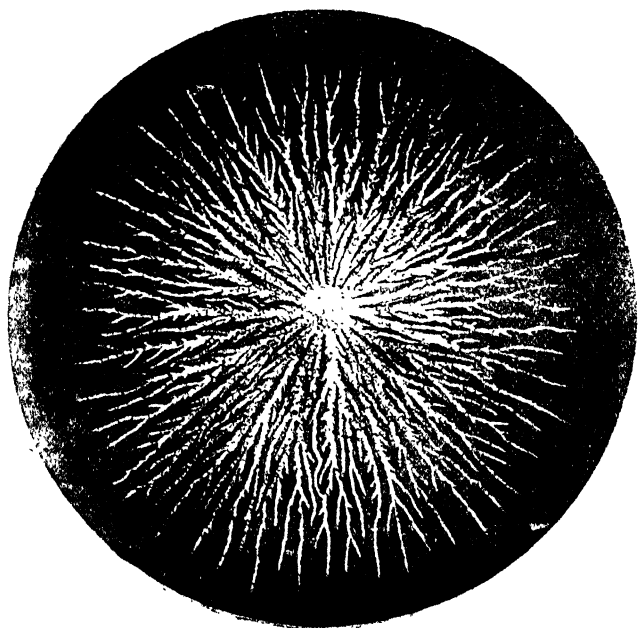
चित्र 12·12

हैं। चित्र 12·12 ऋण चालक के द्वारा बनी हुई आकृति दिखलाई गई है। इसका कारण यह है कि चूर्ण में घर्षण के कारण गंधक ऋणाविष्ट हो जाता है और सीसे का

आक्साइड धनाविष्ट। अतः जिन रेखाओं पर धन आवेश का विसर्ग हुआ हो उस पर गंधक आकर्षित होकर जम जाता है और इसी प्रकार ऋण-विसर्ग की रेखाओं पर लाल-आक्साइड जम जाता है। इन चित्रों में धन-चालक तथा ऋण-चालक के द्वारा बनी हुई आकृतियों का अन्तर ध्यान मे रखने के योग्य है। ऐसे चित्रों को लिख्टन-बर्ग चित्र कहते हैं। फ़ोटो के प्लेट पर भी ऐसे चित्र अंकित हो जाते हैं जो प्लेट को डेवलप करने के बाद स्थायी रूप से उस पर रह जाते हैं।

12·14—**विसर्ग के अन्य प्रभाव।** (1) मोटे कागज़ या गत्ते को दोनों गोलियों के बीच में रख कर विद्युत्-यंत्र चलाने से स्फुल्लिग गत्ते मे छेद कर देता है। इस छेद की परीक्षा करने पर ऐसा मालूम होता है मानो गत्ते मे से कुछ चीज़ दोनों तरफ बाहर निकली हो। इसका कारण यह है कि स्फुल्लिग यद्यपि अकेला मालूम पड़ता है तथापि वास्तव में उसमे विद्युत् अनेक बार इधर से उधर जाता है। इसे हम दोलित विसर्ग कह सकते हैं। यदि वेग से घूमते हुए दर्पण मे स्फुल्लिग का प्रतिबिम्ब देखैं तो उसमे इसके भिन्न-भिन्न प्रत्यावर्तन के स्फुल्लिग पृथक् देख पड़ेगे।

इसी प्रकार कांच की पट्टिका में भी स्फुल्लिग छेद कर सकता है। इस प्रयोग मे पट्टिका खूब लम्बी-चौड़ी होनी चाहिए नही तो स्फुल्लिग उसके पृष्ठ पर होकर चला जाता है। यदि कांच की पट्टिका छोटी हो तो विसर्जक चालक गोल न बनाकर नोकदार मोटे तार के बनाना चाहिए और उसके चारों ओर या तो तेल डाल देना चाहिए या पट्टिका पर कांच की नलियां चिपका कर उसमें इन तारों को घुसा देना चाहिए।

(2) उपर्युक्त यांत्रिक प्रभाव के अतिरिक्त विसर्ग के द्वारा रासायनिक क्रिया भी होती है। कागज़ को स्टार्च (starch) और पोटाशियम आयोडाइड (potassium iodide) के विलयन में भिगोकर कांच की पट्टिका पर रख दीजिये। इस पट्टिका पर विद्युत्-यंत्र की दोनों गोलियां रख कर स्फुल्लिग उत्पन्न करिये। जहाँ-जहाँ विसर्ग कागज़ को स्पर्श करेगा वही नीले रंग के धब्बे पड़ जावेगे जिससे ज्ञात होगा कि विसर्ग पोटाशियम आयोडाइड का विश्लेषण करके आयोडीन (iodine) उत्पन्न कर देता है। यह नीला रंग धन और ऋण दोनों ही चालकों के निकट होता है। यदि विसर्ग एक-दैशिक होता तो वास्तव में यह रंग केवल धन-चालक के निकट ही होता। अतः यह भी विसर्ग के दोलित होने का द्योतक है।

जब विद्युत्-यंत्र के द्वारा बहुत से स्फुल्लिग उत्पन्न किये जाते हैं तो वायु में एक प्रकार की गन्ध आने लगती है। यह गन्ध ओज़ोन (ozone) की होती है। वायु में

की आक्सीजन (oxygen) के अणुओं से ओज़ोन के अणुओं की उत्पति यह स्फुल्लिग-विसर्ग कर देता है।

यदि कांच की नलियों में दो प्लेटिनम के तार बैठा दिये जावें ताकि उनका बहुत ही थोड़ा भाग कांच में से निकला रहे और तब उन्हें पानी में डुबा कर इनके बीच में स्फुल्लिग उत्पन्न किया जाय तो जल का विश्लेषण होकर हाइड्रोजन तथा आक्सीजन उत्पन्न हो जाते है।

(3) विद्युत्-विसर्ग के द्वारा ऊष्मा भी उत्पन्न होती है। दो पीतल की गोलियों को बहुत ही पतले तार से जोड़ दीजिये। फिर कई पार्श्वबद्ध लीडन-जारों का विसर्ग इस तार में कराइये। इतनी ऊष्मा प्रकट होगी कि यह तार न केवल पिघल जायगा किन्तु इसका वाष्प बन कर उड़ भी जायगा। बारूद में से स्फुल्लिग चलाने पर यों तो उसका विस्फोट नही होता क्यों कि स्फुल्लिग इतनी जल्दी खतम हो जाता है कि बारूद का टेम्परेचर बढ़ने का अवसर ही नही मिलता। वह केवल इधर-उधर बिखर जाता है। किन्तु यदि गीला सूत बारूद मे रख दिया जाय और इस सूत में से विसर्ग चलाया जाय तो तुरन्त विस्फोट हो जाता है। यदि आप किसी कांच की टांगों वाले विलागक स्टूल पर खड़े हो जावे और विद्युत्-यंत्र के एक चालक को स्पर्श कर लें तो यंत्र के द्वारा आपका शरीर आविष्ट हो सकता है। फिर यदि आप किसी भी पृथ्वी-संपृक्त चालक के निकट अपनी उंगली ले जावें तो उसमें से स्फुल्लिग निकलेगी। यदि गैस खोल कर बुन्सन ज्वालक (Busen burner) के निकट उँगली ले जाकर आप उसकी गैस में यह स्फुल्लिग उत्पन्न करें तो ज्वालक तुरन्त जल उठेगा।

(4) यदि मोटे ताँबे के तार की एक सर्पिल (spiral) बनाकर उसके बीच मे इस्पात की सुई विलागित करके रख दें और तब इस सर्पिल म से विसर्ग चलावे तो आप देखेंगे कि सुई चुम्बकित हो जाती है। उसका कौन-सा ध्रुव उत्तर होगा और कौन-सा दक्षिण यह पहले से ही नही कहा जा सकता क्योंकि विसर्ग दोलित होता है और सुई के ध्रुव भी कई बार बदलते हैं। जिस दिशा मे अधिक प्रबल अन्तिम विसर्ग हुआ हो उसी के अनुसार ध्रुव भी सुई में बन जाते हैं।

(5) जीवधारियों के शरीर पर भी इस विसर्ग का प्रभाव देखा जाता है। लीडन-जार के आविष्कार के सम्बन्ध में बतलाया गया था कि क्यूनियस के शरीर में से वद्युत विसर्ग होने के कारण उसकी तंत्रिकाओं को ऐसा झटका लगा कि वह अचेत होकर गिर पड़ा। पेशियां और पुट्ठे इस विसर्ग के कारण आप ही आप सिकुड़ने लगते हैं जिससे बड़ा कष्ट मालूम होता है। फ्रांस के बादशाह 15-वें लुई

ने एक बार पादरियों को हाथ से हाथ मिला कर खड़ा कर दिया और उनमें से लीडन-जारों का विसर्ग चला दिया। सबके सब पादरी उस वैद्युत झटके से घबरा गये। कभी-कभी यदि झटका जोर का लगे और हृदय इत्यादि शरीर के नाजुक भागों में से विसर्ग चला जाय तो मृत्यु भी हो सकती है। किन्तु मृत्यु इस विसर्ग के द्वारा बहुधा परोक्ष रीति से ही होती है। तंत्रिकाओं और पेशियों पर झटका लगने के कारण कभी-कभी श्वास बन्द होकर दम घुट जाता है या दिल का धड़कना बंद होकर मृत्यु हो जाती है।

परिच्छेद 13

वायु-मंडल का विद्युत्

(Atmospheric Electricity)

13·01—**बिजली या तड़ित्** (Lightning)। वर्षा ऋतु में आकाश में बिजली की कड़क तथा उसकी चौंधियाने वाली दमक मनुष्य अनादि काल से देखता आया है। किन्तु उसका यथार्थ कारण तब तक मालूम न हो सका जब तक कि विद्युत्-यंत्र के स्फुल्लिग विसर्ग का अनुभव उसे न हुआ। जितनी बातें आकाश की तड़ित् या बिजली में दिखलाई देती हैं यथा चमक, कड़क, वेग, टेढ़ी आकृति, पदार्थों का विदारण इत्यादि, वे सब वैद्युत स्फुल्लिग में भी ज्यों-की-त्यों पाई जाती हैं। अतः यह विश्वास बहुत दिनों से चला आता है कि आकाश की तड़ित् और विद्युत्-यंत्र का विद्युत् वास्तव में एक ही वस्तु है। यदि अंतर है तो इतना कि कृत्रिम स्फुल्लिग छोटा-सा होता है और उसके प्रभाव भी क्षीण होते हैं। प्राकृतिक तड़ित्-स्फुल्लिग मीलों लम्बा होता है और उसका शब्द कोसों तक सुनाई देता है। बड़े-बड़े मजबूत मकानों को वह क्षण भर में नष्ट कर देता है और अनेक मनुष्यों तथा पशुओं की मृत्यु का कारण होता है। इसकी शक्ति का अन्दाज़ा इसी बात से किया जा सकता है कि 1 सम॰ लम्बा स्फुल्लिग पैदा करने के लिए भी साधारणतः प्रायः 12,000 वोल्ट के विभवान्तर से अधिक की आवश्यकता होती है। कृत्रिम रीति से प्रायः एक मीटर से अधिक का स्फुल्लिग उत्पन्न नहीं किया जा सकता। इसके लिये भी प्रायः 10 लाख वोल्ट की आवश्यकता होती है। इस हिसाब से यदि तड़ित्-स्फुल्लिग एक मील लम्बा भी मान लिया जाय तो उसके लिये कम से कम 1000 गुणा अधिक अर्थात् एक अरब वोल्ट का विभवान्तर तो अवश्य ही चाहिए।

इस भयानक विभवान्तर की उत्पत्ति का कारण यह है कि आकाश में बादल आविष्ट हो जाते हैं। यह आवेश कैसे उत्पन्न होता है इसके विषय में निश्चित रूप से अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। सम्भव है यह कई कारणों का सम्मिलित प्रभाव हो। जिस किसी प्रकार भी हो, बादल में प्रत्येक जल की बूंद आविष्ट हो जाती है। बादल एसी ही अगणित जल की बूंदों का समुदाय होता है। अतः उसके समस्त आयतन में यह विद्युत् भरा रहता है। अन्य चालकों के समान केवल पृष्ठ-भाग ही पर यह आवेश नहीं होता। अतः बादल की धारिता भी बहुत अधिक होती है। किन्तु कई

कारणों से जब बूंद नीचे गिरने लगती हैं तो वे परस्पर मिलकर बड़ी-बड़ी बूंदों के रूप में परिणत हो जाती हैं। मान लीजिये कि आठ बूंदें मिल कर एक बड़ी बूंद बन गई। इसमें आवेश तो प्रत्येक बूंद से आठ गुणा हो गया किन्तु इसका समस्त विद्युत् जिस पृष्ठ पर है उसका क्षेत्रफल केवल चार गुणा ही बढ़ा। अतः अब इन सब बूंदों की सम्मिलित धारिता कम हो गई और उनका विभव बढ़ गया। इसी प्रकार सारे बादल का विभव बढ़-बढ़ कर बहुत अधिक हो जाता है।

यह विद्युत् किसी बादल पर धन-चिह्नीय होता है और किसी पर ऋण-चिह्नीय। और प्रत्येक बादल अपने नीचे वाली पृथ्वी पर अथवा निकटवर्ती दूसरे बादलो पर अपने से उलटी प्रकार का विद्युत् प्रेरित कर देता है। जब इन समक्षस्थित विजातीय आवेशों का विभवान्तर अधिक बढ़ जाता है तो मध्यवर्ती वायु विदीर्ण होकर बड़ा भारी स्फुल्लिग प्रकट हो जाता है। जब दो बादलों के बीच मे यह तड़ित्-स्फुल्लिग प्रकट होता है तब तो हम केवल उसकी चमक और शब्द ही का अनुभव करते हैं। किन्तु जब यह स्फुल्लिग पृथ्वी की ओर जाता है तब मकानो, वृक्षो, पशुओं, पक्षियो और मनुष्यों को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है।

बादलों के आविष्ट होने की बात को प्रमाणित करने के लिये फ्रैंकलिन (Franklin) ने 1750 के लगभग पतंग उड़ा कर उसकी गीली तथा चालक डोर के सहारे यह आवेश पृथ्वी पर उतार लिया था। पतंग की डोर से उन्होंने लोहे की एक चाबी बाँध दी और उस चाबी के नीचे साधारण डोर के स्थान में रेशम की डोर बांध दी ताकि बादलों का विद्युत् पतंग उड़ानेवाले मनुष्य के शरीर में पहुँच कर उसे हानि न पहुँचावे। इस चाबी में से स्फुल्लिग उत्पन्न हो गये। इसके द्वारा लीडन जारों में आवेश पहुँचा दिया गया और जितने भी कार्य घर्षण-जनित विद्युत् कर सकता है वे सब उसके द्वारा भी हो गये। अतः इस प्रयोग के बाद इसमें कुछ भी संदेह न रहा कि हमारे कृत्रिम घर्षण से उत्पन्न विद्युत् और आकाश के प्राकृतिक तड़ित्-विद्युत में कोई अन्तर नही है। वे एक ही वस्तु हैं।

रोमास (Romas) नामक एक विद्वान ने यह पतंग वाला प्रयोग फिर किया था। इसमें उसने धातु के पतले तार मे पतंग उड़ाया था और तीन मीटर लम्बी स्फुल्लिग उसने उत्पन्न कर ली थी।

13·02—**तड़ित् के प्रकार**। तड़ित् तीन प्रकार का होता है। (1) टेढ़ा या सशाख तड़ित् (forked lightning)। यही सब से साधारण प्रकार का तड़ित् है। इसकी आकृति ठीक चित्र 12·10 के स्फुल्लिग के समान होती है। (2)

पट-तड़ित् (sheet lightning)। इसमें स्फुल्लिग की कोई रेखा नहीं दिखाई देती किन्तु बादल का पूरा पृष्ट ही प्रदीप्त दिखलाई देता है। इस का मुख्य कारण तो यह है कि कही दूर पर असली स्फुल्लिग होता है। वह तो हमें दिखलाई नही देता किन्तु उसका प्रकाश हमारे सामने वाले बादल को प्रदीप्त कर देता है। कभी-कभी असली स्फुल्लिग इतना दूर होता है कि उसका शब्द भी हमें सुनाई नही पड़ता। पट-तड़ित् का एक कारण यह भी हो सकता है कि उसमे स्फुल्लिग-विसर्ग के स्थान में बुरुश-विसर्ग हो रहा हो। (3) गोल-तड़ित् (ball lightning)। यह बहुत ही कम देखने में आता है। अनेक विद्वानों का मत तो ऐसा है कि इसका विवरण बहुत कुछ कपोल-कल्पित है और यह घटना वास्तव मे होती ही नही। किन्तु कुछ लोगों का कहना है कि यह सत्य घटना है। जो हो, ऐसा कहा जाता है कि इसमें प्रकाश का गोला धीरे धीरे आकाश मे चलता नजर आता है और अन्त में यह बड़े कड़ाके के साथ फट जाता है।

13·03—**तड़ित् का शब्द**। तड़ित् के शब्द का कारण यह है कि जिस वायु मे से स्फुल्लिग जाता है वह उसकी ऊष्मा मे गरम हो जाती है और अकस्मात् उसका दबाव बढ़ जाता है। इससे शब्द-तरगें उत्पन्न होकर चारों तरफ फैल जाती है। जब स्फुल्लिग छोटा और सीधा होता है तब तो एक ही क्षणिक कड़ाका सुनाई देता है। किन्तु जब वह लम्बा और कई शाखा वाला होता है तब उत्तरोत्तर कई शब्द सुनाई देते हैं। इसे गड़गड़ाहट कहते हैं। एक और प्रकार का शब्द बहुधा बादलों में से निकलता है जिसे गरजना या गर्जन कहते हैं। इसका कारण प्रतिध्वनि है। किसी एक ही कड़क का शब्द दूर-दूर के अनेक बादलों मे प्रतिध्वनित हो कर हमारे पास भिन्न-भिन्न समय पर पहुँचता है। इसी से बहुत देर तक गरजने का शब्द सुनाई देता रहता है। वास्तविक कड़क तो शायद सैकन्ड के एक लाखवे भाग ही के समय में समाप्त हो चुकती है।

यह भी देखा गया है कि एक कड़क के बाद तुरन्त ही कई बार कड़क का शब्द सुना जाता है। इससे मालूम होता है कि प्रथम स्फुल्लिग के बाद वायु की पार-वैद्युत प्रबलता घट जाती है। इसका वर्णन पहले किया जा चुका है।

13·04—**तड़ित्-चालक** (Lightning Conductor)। फ्रैंकलिन ने ही 1749 में सबसे पहले बिजली के भयंकर परिणामो से रक्षा करने का एक उपाय बतलाया था। उन्होंने कहा कि यदि बादल और पृथ्वी के आवेशों को धीरे-धीरे मिल कर नष्ट हो जाने दिया जाय तो विभवान्तर की इतनी वृद्धि होने न होने पावे कि स्फुल्लिग मकानों को तोड़-फोड़ सके। नोकदार चालकों के द्वारा विद्युत के विसर्ग

का ज़िकर हो चुका है। फ्रैंकलिन ने ऐसे चालकों से इस कार्य के लिए सहायता ली। उनके मतानुसार मकान के सबसे ऊँचे भाग से भी ऊँची धातु की एक छड़ लगा देना चाहिए और इसका नीचे का सिरा पृथ्वी में गाड़ देना चाहिए। ऊपर के सिरे पर कई नोकें बना देनी चाहिए। इस प्रकार लगी हुई छड़ का नाम तड़ित्-चालक है (चित्र 13·01)।
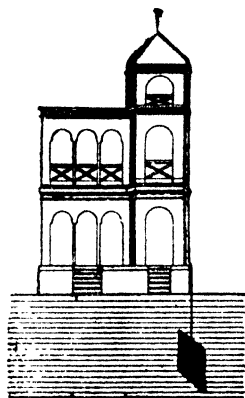
चित्र 13·01

मान लीजिये कि कोई धनाविष्ट बादल मकान के ऊपर आया वह मकान पर तथा पृथ्वी पर ऋण आवेश प्रेरित कर देगा। तड़ित्-चालक की नोकों पर इस ऋण आवेश का पृष्ठ-घनत्व अधिक होगा और वहाँ से वायु के अणु इस आवेश को लेकर बादल का आवेश घटा देंगे। यदि स्फुल्लिग सहसा उत्पन्न हो ही जाय तो वह इस सुचालक धातु की छड़ के मार्ग से ही पृथ्वी में जायगा। मकान की दीवारें इतनी अच्छी चालक नहीं हैं कि वह उनमें से अधिक आसानी से जा सके। अतः बिना नुकसान पहुँचाये ही तड़ित्-स्फुल्लिग बादल के आवेश को घटा देगा।

यदि निम्नलिखित बातों पर ध्यान रखा जाय तो तड़ित्-चालक अच्छा कार्य करता है :—

(1) तडित्-चालक ताँबे का या लोहे का होना चाहिए। उसमें जोड़ जहाँ तक हो सके न होना चाहिए और नीचे से ऊपर तक एक ही धातु का होना चाहिए।

(2) वह चौड़ी पत्ती के रूप में हो तो और भी अच्छा है। गोल तार से भी कार्य चल सकता है किन्तु उतना अच्छा नहीं।

(3) उसमें जहाँ तक हो मोड़ भी कम होने चाहिए।

(4) वह दीवार से विलागित रहना चाहिए। गैस या पानी के नल के पास उसे नहीं लगाना चाहिए और यदि पास से ले जाना अनिवार्य हो तो उन्हें आपस में तार से जोड़ देना चाहिए।

(5) नीचे के सिरे पर चौड़ा धातु का पट्ट जोड़ कर जमीन में बहुत गहरा गाड़ देना चाहिए। इस स्थान पर ज़मीन गीली रहना आवश्यक है।

(6) ऊपर के सिरे की नोकें छत से बहुत ऊँची नहीं होनी चाहिए। वस्तुतः मकान के प्रत्येक ऊँचे भाग के पास एक-एक चालक लगा देना चाहिए और उन्हें

लोहे के तार के द्वारा आपस मे मिला देना चाहिए। किन्तु यह समझना ग़लत है कि प्रत्येक अवस्था मे तड़ित्-चालक बिजली से रक्षा कर सकता है। कभी-कभी धोखा हो जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि तड़ित्-स्फुल्लिग भी एक-दैशिक नही होता। उसमें भी विद्युत् का कई बार इधर से उधर प्रत्यावर्तन होता है। ऐसे प्रत्यावर्तक विद्युत् की धारा का वर्णन परिच्छेद 23 में किया जायगा। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि ऐसी धारा कभी कभी चालक मार्ग को छोड़ कर दूसरे मार्ग से जाना पसन्द करती है। यह खासकर तब होता है जब तड़ित्-चालक और आविष्ट बादल के बीच मे कोई अनाविष्ट बादल आ जाय। ऐसी दशा मे तड़ित्-चालक की नोक अपना कार्य नही कर सकती। अब यदि आविष्ट और अनाविष्ट बादल के बीच मे स्फुल्लिग उत्पन्न हो जाय तो उसी समय अनाविष्ट बादल और पृथ्वी के बीच मे भी स्फुल्लिग उत्पन्न हो जायगा और सभव है कि यह चालक में होकर न जाय।

इस भेद को समझने के लिये नीचे लिखा प्रयोग बहुत अच्छा है। चित्र 13·02 में लीडन जार के एक पत्र से एक पट्टिका **प** जुड़ी है और दूसरी से विविध आकृतियों के
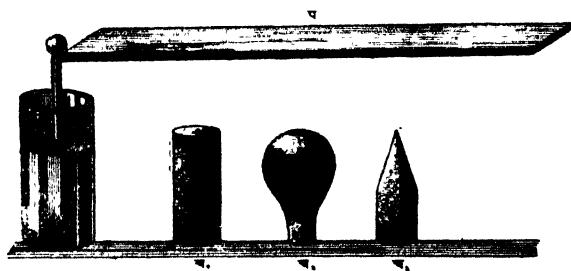
चित्र 13·02

कई चालक **च**$_1$, **च**$_2$, **च**$_3$ ...। जार को आविष्ट करने पर आप देखेंगे कि यदि सब चालकों की ऊँचाई बराबर हो तो नोकदार चालक में से स्फुल्लिग उत्पन्न होती है। अन्य में से नहीं। वस्तुतः यदि नोकदार चालक नीचे भी हो तब भी स्फुल्लिग उसमें से ही जायगा। चित्र 13·03 में दो लीडन-जारें है। दोनों के अन्दर वाले पत्र क्रमशः विद्युत्-यंत्र के धन तथा ऋण चालकों से जुड़े हैं। इनके बीच में चिनगारी निकल के लिये दो गोलियाँ **ग, ग** भी लगी है। एक जार का बाहरी पत्र पट्टिका **प** से जुड़ा है और दूसरी का चालक **फ** तथा **च**$_1$, **च**$_2$, **च**$_3$ इत्यादि से। यंत्र चलाने पर **ग ग** में स्फुल्लिग निकलती है। ठीक उसी समय **प** तथा **च**$_1$, **च**$_2$, **च**$_3$ इत्यादि के बीच में भी

स्फुल्लिग उत्पन्न होती है। यदि **प** और **फ** किसी चालक तार के द्वारा जुड़े भी हों और उस मार्ग से इन का धन तथा ऋण आवेश मिल कर नष्ट हो सकता हो तब भी **ग ग** में स्फुल्लिग निकलते ही चालक-तार के मार्ग से न जाकर **प फ** का विद्युत् स्फुल्लिग के रूप मे **च**$_1$, **च**$_2$, **च**$_3$ में से जाता है और इन में भी नोकदार तथा बेनोक के चालकों
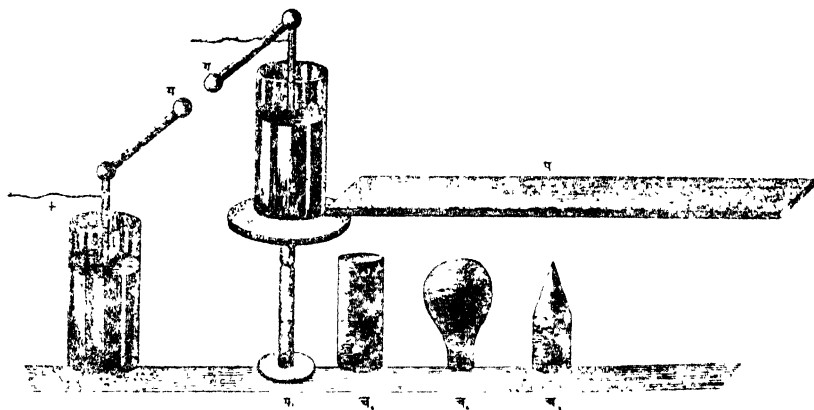
चित्र 13·03

में कोई भेद नही देखा जाता। नोकदार चालक का ऐसी अवस्था मे कोई विशेष लाभ नहीं है। इस का कारण यह है कि चित्र 13·02 मे **प** और **च** के बीच की वायु की वैद्युत विकृति स्थायी है। अतः नोक उसे धीरे-धीरे घटाती ही रहती है। चित्र 13·03 में **प फ** के बीच की वायु की विकृति स्थायी नही है। वह **ग ग** की चिनगारी के साथ उत्पन्न होती है और उस समय उसकी प्रबलता इतनी होती है कि तार के टेढ़े और लम्बे रास्ते में से चलकर विद्युत् उस विकृति को शीघ्र दूर नही कर सकता। वह सीधा स्फुल्लिग के रूप मे **प** से **च**$_1$, **च**$_2$, **च**$_3$ में चला जाता है।

इस डर से बचाने के लिए मैक्सवैल इत्यादि ने यह उपाय निकाला कि मकानों को चारों ओर धातु के तारों के एक जाल मे ढक देना चाहिए। फ़ैरेडे के पिंजड़े के समान यह आवरण समस्त वैद्युत बलों से मकान की रक्षा कर लेगा।

13·05—**वायु का विद्युत्**। सन् 1752 मे लेमोनियर (Lemonnier) ने सबसे पहले यह देखा कि यदि कोई लम्बा चालक ऊर्ध्वाधर वायु में विलागित रखा रहे तो वह थोड़ी देर मे आविष्ट हो जाता है। इस प्रयोग के लिए बादलों की कोई आवश्यकता नहीं होती। आकाश बिलकुल स्वच्छ होने पर भी यह आवेश पाया जाता है। इस का अर्थ यह है कि वायु स्वयं आविष्ट रहती है और उसका विभव

क्रमश: ऊपर की दिशा में अधिकाधिक होता जाता है। इस आवेश के कारण पृथ्वी पर ऋण आवेश रहता है और वायु में यदि किसी स्थान पर कोई धन आवेश रख दिया जावे तो वह पृथ्वी की ओर आकर्षित हो जाता है। ऋण-आवेश ऊपर उठने का यत्न करता है। यदि किसी ऊर्ध्वाधर चालक के ऊपर का भाग नोकदार हो तो वहाँ ऋण-आवेश एकत्रित होकर चालक में से निकल भागेगा और समस्त चालक का विभव अंत में नोक पर की वायु के बराबर हो जायगा।

वायु में किसी भी स्थान का विभव जानने के लिए नोकदार चालक ही सबसे अच्छा उपाय है। वोल्टा ने 1787 में चालक पर गैस की ज्वाला जला कर नोक का काम लिया था। किन्तु यह विधि ठीक नहीं है क्यों कि ज्वाला मे दहन की क्रिया के कारण भी थोड़ा बहुत विद्युत् उत्पन्न हो जाता है।

लार्ड कैल्विन ने इस विभव को नापने का एक बड़ा सुन्दर उपाय निकाला था। चित्र 13·04 में एक ताँबे के पात्र मे पानी भरा है। एक पतली-सी ताँबे की नली में
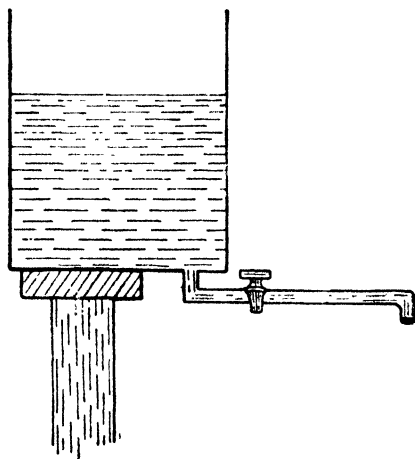
चित्र 13·04

से बूंद-बूंद पानी नीचे गिरता है। प्रत्येक बूंद पर वायु से विपरीत प्रकार का आवेश होता है और वह उसे लेकर गिरती है। अत: जल और पात्र का विभव बदलता जाता है। अन्त में जब वाय का विभव जल-पात्र के विभव के बराबर हो जाता है तब बूंदों के गिरने से भी विभव में अन्तर नहीं होता। इस पात्र को विद्युद्दर्शी अथवा विद्युत्मापी से सम्बन्धित करके उसका विभव नापा जा सकता है।

इसी नाप के लिये एक अन्य उपाय का भी उपयोग होता है। इसमें रेडियम अथवा यूरेनियम के लवण को किसी चालक पर रख देते हैं। इन लवणों में से आविष्ट सूक्ष्म कण निकलते रहते हैं। (देखो परिच्छेद 32)। इन के कारण भी उस चालक का विभव वायु के विभव के बराबर हो जाता है।

इस प्रकार नापने पर यह मालूम हुआ कि बादलों के अभाव में बहुधा वायु का विभव पृथ्वी से ऊपर की ओर बढ़ता जाता है। पृथ्वी के निकट तो यह विभव प्रायः 100-200 वोल्ट प्रति मीटर बढ़ता है किन्तु ज्यों-ज्यो ऊपर उठते जाते हैं यह दर कम होती जाती है। 4000 फुट की ऊँचाई पर तो यह घट कर प्रायः 40 वोल्ट प्रति मीटर ही रह जाती है और इससे ऊँचे पर और भी कम हो जाती है।

जब आकाश में कुछ बादल होते है तब वायु का यह विभव बहुत घट जाता है और पानी बरसने पर तो यह विभव धन के स्थान मे कभी-कभी ऋण-चिह्नीय भी हो जाता है। कम से कम वह बदलता तो बहुत ही रहता है। जल-प्रपात के निकट की वायु सदैव ऋणाविष्ट ही पाई जाती है। यदि पृथ्वी का पृष्ठ सर्वत्र सम-तलीय होता तब तो वायु मे समविभव पृष्ठ भी पृथ्वी मे समान्तर धरातल होते। किन्तु पहाड़ों, मकानों आदि के कारण ये सम-विभव-पृष्ठ पृथ्वी के निकट टेढ़े हो जाते हैं। अधिक ऊँचाई पर इनकी यह असरलता दूर हो जाती है और वहाँ यह लगभग क्षैतिज ही हो जाते हैं।

13·06–**वायु-विद्युत् में दैनिक और वार्षिक परिवर्तन।** दिन के भिन्न-भिन्न समयों पर वायु का विभव नापने से पता चलता है कि वह बराबर बदलता रहता है। प्रायः प्रातःकाल 8–9 बजे इसका मूल्य अधिकतम हो जाता है और फिर दिन के 2–3 बजे तक यह घटता जाता है। इसके बाद फिर रात्रि के 9 बजे दूसरी बार अधिकतम मान को प्राप्त कर लेता है। तब फिर घट-घट कर पुनः दूसरे दिन प्रातःकाल बढ़ जाता है। वायु के अधिकतम विभव अथवा अधिकतम आवेश के समय वही होते है जब वायु के टेम्परेचर में अधिक परिवर्तन होता रहता है। जब टेम्परेचर प्रायः स्थिर रहता है तब यह आवेश बहुत घट जाता है।

इसी प्रकार सर्दी के मौसम में वायु अधिक आविष्ट रहती है और गर्मी में कम।

13·07—**वायु-विद्युत् का कारण।** केवल वायु के इस विभव को देखकर हम यह नहीं कह सकते कि इसका कारण क्या है। यह धन-विभव तीन अवस्थाओं में उत्पन्न हो सकता है:—

(1) पृथ्वी पर ऋण आवेश हो,

(2) वायु स्वयं ही धनाविष्ट हो,

(3) बहुत ऊपर की वायु धनाविष्ट हो और जहाँ हम नापते हैं वहाँ की वायु आविष्ट न हो।

यदि वायु में कोई आवेश न होता और नीचे की पृथ्वी पर या ऊपर की वायु पर ही स्वतंत्र आवेश होता तब तो विभव ऊँचाई का ठीक अनुक्रमानुपाती होता और प्रतिमीटर विभव परिवर्तन का मूल्य स्थिर रहता। किन्तु हम देख चुके है कि ज्यों-ज्यों हम ऊपर चढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों इस परिवर्तन की दर घटती जाती है। इससे मालूम होता है कि वायु भी स्वयं धनाविष्ट है। इस सम्बन्ध में बैलून उड़ा-उड़ा कर प्रायः 10000 मीटर से अधिक ऊँचाई तक विभव का परिवर्तन देख लिया गया है। इसके अतिरिक्त किसी भी स्थान पर विभव के सतत परिवर्तन का कारण भी यही हो सकता है कि कम या अधिक विद्युत् वाली वायु इधर से उधर बहती रहती है। इसके अतिरिक्त यदि विभव नापने का जल-पातक सब तरफ से तार की जाली के पिजड़े मे बन्द कर दिया जाय तो स्पष्ट ही है कि उस पिजड़े में बाहर वाले किसी भी आवेश का कुछ भी असर न होगा। किन्तु इस प्रकार बन्द करने पर भी जल-पातक धनाविष्ट हो जाता है। अत: पिंजरे के अन्दर वाली वायु ही धनाविष्ट है। वायु के इस आवेश का कारण यह बतलाया जाता है कि सूर्य के प्रकाश के परा-बैंगनी भाग मे यह गुण है कि वह अणुओं में से इलैक्ट्रान को बाहर निकाल फेंकता है। वायु के अणुओं की जब यह दशा होती है तब इलैक्ट्रानों के ऋण आवेश के निकल जाने के कारण वे धनाविष्ट रह जाते हैं। इलैक्ट्रान हलका होने के कारण इधर-उधर भाग जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि परा-बैंगनी प्रकाश के कारण वायु के अणु आयनित तो हो जाते हैं किन्तु ऋण-आयन अथवा इलैक्ट्रानों के दूर हट जाने का कारण दूसरा है। यह मानी हुई बात है कि वायु का वाष्प जल की बूंद के रूप में तभी परिणत होता है जब उसके लिये कुछ केन्द्रक (nucleus) उपस्थित हो। धूल के कणों पर जल की बूंद आसानी से बन जाती हैं। इसी प्रकार आयनित अणु भी केन्द्रक का काम बहुत अच्छी तरह करते हैं। इन में भी ऋण-आयन अधिक जल्दी वाष्प को द्रव-रूप कर देता है। अतः वायु के ऋण-आयनों पर जल की बूंदे बन जाती हैं और तब वे भार के कारण पृथ्वी पर गिर पड़ती हैं। इस प्रकार वायु धनाविष्ट रह जाती है।

इसके समर्थन में यह भी बात है कि मेह बरसते समय पृथ्वी के निकट की वायु ऋणाविष्ट पाई जाती है। कुछ वर्षों पहले लोगों का यह ख़याल था कि जब समुद्र

में से बादल उठते हैं तब वाष्प धनाविष्ट हो जाता है। वाष्पीभवन ही बादल के और वायु के धन-आवेश का कारण समझा जाता था। किन्तु यदि ऐसा हो तो जब मेह बरसेगा तब धन-आवेश पृथ्वी की ओर आवेगा। अतः उस समय वायु धनाविष्ट होना चाहिए। यह अनुभव के विपरीत है।

13·08—**मेरुज्योति** (Aurora)। तड़ित् और वायु-विद्युत् के अतिरिक्त एक और घटना पृथ्वी के उत्तर और दक्षिण ध्रुव के समीपवर्ती देशों में दिखाई देती है। उत्तर-ध्रुवीय देशों में उत्तरी आकाश में श्वेत प्रकाश का एक धनुष दिखाई देता है और उसमें से लाल, हरे, पीले रंग की त्रिज्यीय किरणे फैली हुई देख पड़ती हैं। ऐसा मालूम होता है मानो यह किरणें चुम्बकीय ध्रुव के समीप से निकल रही हों। इन किरणों का रंग, उनकी दीप्ति, और उनकी लम्बाई में क्षण-क्षण परिवर्तन होता रहता है और कभी-कभी तो ऐसा मालूम होता है मानो बड़ा सुन्दर रंगीन पर्दा वायु से हिल रहा हो। इसे सुमेरू ज्योति (Aurora Borealis) कहते हैं। दक्षिण ध्रुव के निकट वाली ज्योति को कुमेरु ज्योति (Aurora Australis) कहते हैं।

इस ज्योति का स्पैक्ट्रम (spectrum) देखने से ठीक विद्युत्-स्फुल्लिग का जैसा मालूम होता है। अतः ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह भी विद्युत् ही की घटना है। इस अनुमान के और भी अनेक कारण हैं। चुम्बकीय ध्रुवों से इनका सम्बन्ध तथा इनके साथ ही चुम्बकीय तूफ़ान का होना भी यही बात बतलाता है। और प्रायः 11·5 वर्ष के बाद सूर्य के धब्बों के साथ ही इस ज्योति की अधिकता का होना इस बात को और भी पुष्ट कर देता है। फ्रैंकलिन ने इस मेरुज्योति के विद्युत् की उत्पति का कारण यह बतलाया था कि ध्रुवीय प्रदेशों की ठंडी वायु जब भूमध्य से आने वाली गर्म वायु से टकराती है तब यह विद्युत् उत्पन्न हो जाती है। किन्तु आजकल इस का कारण यह समझा जाता है कि सूर्य में से इलैक्ट्रान निकल-निकल कर पृथ्वी पर आते रहते हैं। यही पार्थिव चुम्बकत्व के कारण ध्रुवों के निकट इस ज्योति को उत्पन्न कर देते है।

परिच्छेद 14

विद्युत्-धारा

(Electric Current)

14·01—**विद्युत् का प्रवाह** (Flow of Electricity)। वैद्युत विभव के प्रकरण मे हम देख चुके हैं कि धन विद्युत सदा अधिक विभव वाले चालक में से कम विभव वाले चालक में जाने का प्रयत्न करता है। जब तक उसके मार्ग में अचालक पदार्थ रहते हैं तब तक तो यह प्रयत्न सफल नहीं होता। अचालक माध्यम में केवल कुछ विकृति उत्पन्न होकर ही रह जाती है जिसके कारण उन चालकों के बीच में वैद्युत बल प्रकट हो जाता है। किन्तु यदि उन्हे किसी धातु के तार से जोड़ दिया जाय तो विद्युत् तुरन्त उस तार के मार्ग से दौड़ जाता है। परिणाम यह होता है कि अधिक विभव वाले चालक का विभव घट जाता है और कम विभव वाले चालक का विभव बढ़ जाता है। क्षण भर मे दोनो का विभव बराबर हो जाता है और तब विद्युत् का सन्तुलन होकर उसका प्रवाह बन्द हो जाता है।

विद्युत्-यंत्र की धन और ऋण गोलियों के बीच मे जो स्फुलिंग निकलती है उसमे भी यही क्रिया होती है। पहले वायु में कुछ चालकता उत्पन्न होती है और तब उसे विदीर्ण करके विद्युत् स्थानान्तरित हो जाता है। इस प्रवाह को हमने विसर्ग कहा था, क्योंकि उस समय हमारा ध्यान चालकों के आवेश ही पर अधिक था। इस विसर्ग के ताप आदि कई प्रभावों का भी हमने ज़िकर किया था यद्यपि वहाँ हम इन प्रभावों का अच्छी तरह अध्ययन न कर सके थे।

किन्तु अब आगे के परिच्छेदों मे हमें इस प्रवाह ही पर विचार करना है क्योंकि आजकल विद्युत् के द्वारा जितने काम हम करते हैं उन सब में विद्युत् का प्रवाह ही कारण होता है। बिजली की रोशनी, बिजली के पंखे, बिजली की रेल और ट्राम और बिजली से चलने वाले अनेक प्रकार के कारखाने सब में इस प्रवाह ही की प्रधानता है। इनमें विद्युत् का प्रवाह क्षणिक नही होता। जिन आविष्ट वस्तुओं के बीच में प्रवाह होता है उनका विभवान्तर इस प्रवाह से घट नही जाता। अतः हम नहीं कह सकते कि उनका आवेश इस प्रवाह से नष्ट हो जाता है। इस दृष्टि से इस प्रवाह का नाम विसर्ग उचित नहीं मालूम होता और वह विद्युत्-धारा (electric current) के नाम से प्रसिद्ध हो गया है।

विद्युत्-धारा को उत्पन्न करने के लिये किसी ऐसी वस्तु की आवश्यकता है जो कि दो चालकों के विभवान्तर को स्थायी रख सके। इस प्रकार की दो चीजों का आजकल व्यवहार होता है। एक तो एक प्रकार की मशीन है जिस का नाम डायनमो (dynamo) है और जो भाप या तेल के इंजन से चलायी जाती है। इस का वर्णन परिच्छेद 24 में किया जायगा। दूसरे उपाय का नाम सेल (cell) है। पहिले इस सेल ही के आविष्कार और उपयोग का वर्णन करना आवश्यक जान पड़ता है।

14·02—**गाल्वनी** (Galvani) **का आविष्कार**। बोलोना नगर में गाल्वनी (Galvani) नामक एक डाक्टर था। सन् 1786 के लगभग वह जीवधारियों के शरीर पर होने वाले वैद्युत विसर्ग के प्रभाव का अध्ययन कर रहा था। वह विद्युत्-यंत्र के द्वारा मरे हुए मेंढक की टाँगों में से विसर्ग कराकर देख रहा था कि किस प्रकार टाँगों की पेशियाँ (muscles) उस विसर्ग से सिकुड़ जाती हैं और टाँगें उछलने लगती हैं। एक बार उसने देखा कि बिना विद्युत्-यंत्र के भी टाँगें उछलने लगीं। ढूँढने पर उसका कारण यह मालूम हुआ कि उसने एक तंत्रिका (nerve) को लोहे से स्पर्श किया था और एक पेशी को ताँबे से। जब-जब यह लोहा और ताँबा आपस में छूते थे तब-तब ही टाँगों में झटका लगता था। इसका कारण गाल्वनी ने यह समझा कि मेंढक की टाँग में तंत्रिकाएँ और पेशियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार से आविष्ट होती हैं। उन्हें चालक के द्वारा स्पर्श करने पर इस आवेश का प्रवाह होता है जिसके कारण टाँगों को झटका लगता है।

14·03—**वोल्टा** (Volta) **के प्रयोग**। किन्तु प्रोफेसर वोल्टा (1745-1827) ने अपने कई प्रयोगों के द्वारा प्रमाणित कर दिया कि गाल्वनी का ख़याल ग़लत था। विद्युत् की उत्पत्ति का स्थान मेंढक की टाँग नहीं था। जहा लोहे और तांबे का स्पर्श हुआ था, वास्तव में वही पर विद्युत् प्रगट हुआ था। वोल्टा के मतानुसार जब कभी दो विभिन्न धातुएँ स्पर्श करती हैं तो उनमें से एक धनाविष्ट हो जाती है और दूसरी ऋणाविष्ट। अर्थात् उनमें कुछ विभवान्तर उत्पन्न हो जाता है।

इस बात की पुष्टि वोल्टा ने कई प्रयोगों के द्वारा की थी। उनमें से मुख्य ये हैं:—

चित्र 14·01

(i) उन्होंने एक ताँबे की पट्टिका ली और एक जस्ते की। दोनों के काँच या एबोनाइट के विलागक दस्ते लगा दिये (चित्र 14·01)। अच्छी तरह दोनों पट्टिकाओं को अनाविष्ट कर
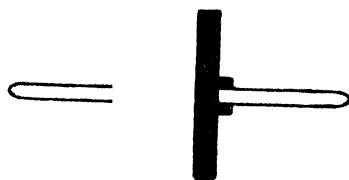
लिया । फिर दस्तो से पकड़ कर इन्हें परस्पर स्पर्श करा दिया और पुनः अलग कर दिया । अब अच्छे सुग्राही विद्युद्दर्शी के द्वारा परीक्षा करने पर मालूम हुआ कि ताँबे पर ऋण-आवेश है और जस्ते पर घन-आवेश । अथवा जस्ते का विभव ताँबे की अपेक्षा अधिक है ।

(ii) विद्युद्दर्शी की ताबे की पट्टिका पर अभ्रक या अन्य विलागक की पतली पट्टिका रख दी गई और उस पर ताँबे की विलागक दस्तेवाली एक और पट्टिका रख दी गई (चित्र 14·02) । इन पट्टिकाओं से एक प्रकार का संधारित्र बन गया । इस संधारित्र-युक्त विद्युद्दर्शी को संधारित्र विद्युद्दर्शी (condensing electroscope) कहते हैं । इसके द्वारा बहुत थोड़ा विभवान्तर भी नापा जा सकता है ।
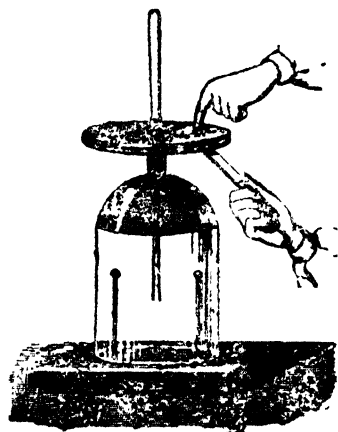
चित्र 14·02

वोल्टा ने ताबे और जस्ते की छड़ो को जोड़ कर एक छड़ तैयार की । जस्ते की तरफ से उसे हाथ मे पकड़ कर उसका ताँबे वाला सिरा संधारित्र-विद्युद्दर्शी की नीचे वाली पट्टिका से लगा दिया और साथ ही ऊपर की पट्टिका को भी हाथ से जरा सा छू कर हाथ हटा लिया । यदि ताबे और जस्ते में थोड़ा भी विभवान्तर हो तो इस संधारित्र की पट्टिकाओं में भी उतना ही विभवान्तर उत्पन्न हो जायगा और इन पट्टिकाओं पर धन तथा ऋण आवेश भी एकत्रित हो जायगा । संधारित्र की धारिता अधिक होने के कारण इस आवेश की मात्रा भी अधिक होगी । अब छड़ को दूर हटा कर ऊपर वाली पट्टिका भी हटा ली गई । विद्युद्दर्शी वाली पट्टिका में आवेश तो ज्यों का त्यों रहा किन्तु पृथ्वी-संपृक्त ऊपर वाली पट्टिका के हट जाने से उसका विभव बढ़ गया और सुवर्णपत्र ऋण आवेश से फैल गये । इससे प्रमाणित हो गया कि जस्ते का विभव तांबे की अपेक्षा अधिक होता है ।

(iii) किन्तु जब उस यौगिक छड़ को तांबे की तरफ से पकड़ कर यही प्रयोग करना चाहा तो सुवर्ण पत्र न फैले । इसका कारण यह था कि जस्ते की छड़ का विभव हाथ वाली तांबे की छड़ से तो अधिक अवश्य था किन्तु जस्ते की छड़ विद्युद्दर्शी की तांबे की पट्टिका को भी स्पर्श कर रही थी । अतः उस स्पर्श के कारण उसका विभव इस

ताम्रपट्टिका से भी उतना ही अधिक था। फलतः ताम्रपट्टिका का विभव हाथ वाली तांबे की छड़ के बराबर अर्थात् शून्य हो गया। संधारित्र की दोनों पट्टिकाओं में कोई विभवान्तर उत्पन्न न हुआ और न उनमें कुछ आवेश ही उत्पन्न हुआ।

तब वोल्टा ने जस्ते की छड़ और विद्युद्दर्शी की ताम्र-पट्टिका को स्पर्श कराये बिना ही इस पट्टिका पर जस्ते का आवेश पहुँचाने का प्रबन्ध किया। एक कपड़े को अम्लीकृत (acidulated) पानी में भिगो कर दोनो के बीच मे रख दिया। ऐसा करने पर सुवर्णपत्र धनाविष्ट हो गये। इसी कपड़े को ऊपर वाले दूसरे प्रयोग मे ताम्रपट्टिका और तांबे की छड़ के बीच मे रखने पर पहिले ही के समान सुवर्ण पत्रों पर ऋण आवेश आ गया।

(iv) अब वोल्टा ने कई तांबे और जस्ते की पट्टिकाओ का एक पुज (pile) तैयार किया। सबसे नीचे तांबे की पट्टिका रख कर उस पर जस्ते की पट्टिका रखी। इस पर अम्लीकृत जल में भीगा हुआ कपड़ा रखकर फिर तांबे और जस्ते की पट्टिकाएं रखी। फिर कपड़ा और फिर दोनों पट्टिकाएं। इसी प्रकार कई ताम्र-यशद-युग्म एक के ऊपर एक रख दिये (चित्र 14·03)। इससे सब युग्मों का विभवान्तर जुड़ कर प्रथम तांबे और अंतिम जस्ते का विभवान्तर इतना अधिक हो गया कि उसका अस्तित्व बतलाने के लिये विद्युद्दर्शी की आवश्यकता ही नहीं रही। गीले हाथों से इन दोनों पट्टिकाओं का स्पर्श करते ही हाथ मे बड़े ज़ोर का झटका लगा।
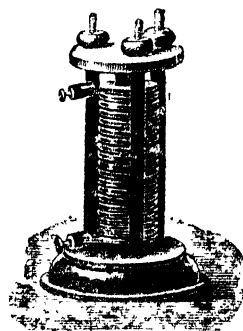
चित्र 14·03

(v) इसी प्रयोग को वोल्टा ने एक दूसरी प्रकार भी किया था। कांच के कई बर्तन ले कर उनमें अम्लीकृत जल या नमक का पानी भर दिया। फिर कई यौगिक पत्तिया आधी तांबे की और आधी जस्ते की बनाई। इन्हें उन बर्तनों में इस प्रकार रख दिया कि प्रत्येक पत्ती का तांबे वाला भाग एक बर्तन में और जस्ते वाला दूसरे में रहे और प्रत्येक बर्तन मे एक ही तांबे की पत्ती और एक ही जस्ते की पत्ती हो (चित्र 14·04)। यह स्पष्ट ही है कि इस पात्र-समूह में और प्रयोग (iv) वाले पट्टिका-पुंज
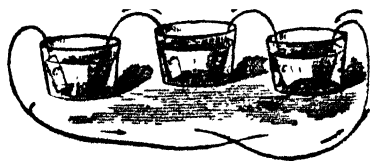
चित्र 14·04

में कोई विशेष भेद नहीं है। इससे भी प्रथम ताँबे की पत्ती और अंतिम जस्ते की पत्ती में विभवान्तर बहुत अधिक पाया गया।

14·04—**विभवान्तर का स्पर्श-सिद्धान्त** (Contact Theory)। यद्यपि वोल्टा के प्रयोगों की सत्यता में शंका करने की कोई जगह नहीं है किन्तु फिर भी उसके सिद्धान्त के द्वारा विद्वानों को संतोष न हुआ। वोल्टा का कहना था कि तांबे और जस्ते के स्पर्श-स्थान पर कुछ बल ऐसा उत्पन्न हो जाता है जिसके कारण धन-विद्युत् तांबे पर से जस्ते पर चला जाता है और ऋण विद्युत् जस्ते पर से तांबे पर। ज्यों-ज्यों इस बल के कारण धन आवेश जस्ते पर इकट्ठा होता जाता है और ऋण आवेश तांबे पर, त्यों-त्यों इन आवेशों का पारस्परिक आकर्षण भी बढ़ता जाता है। यह आकर्षण उपर्युक्त बल का विरोध करता है और अन्त में दोनों का परिणाम बराबर हो जाने पर विद्युत् का स्थानान्तरित होना बन्द हो जाता है। यही कारण है कि तांबे और जस्ते में नियत परिमाण का विभवान्तर रहता है। इस विभवान्तर मे इन धातुओं के आकार और विस्तार के कारण कुछ भी परिवर्तन नही होता। तांबे और जस्ते के अतिरिक्त दूसरी धातुओं मे भी यह विभवान्तर होता है। किन्तु इसका परिमाण भिन्न-भिन्न धातुओ के लिए भिन्न-भिन्न होता है।

यह सब सत्य हो सकता है और परिच्छेद 20 में हम देखेंगे कि कुछ अंशो मे सत्य है भी किन्तु इससे यह नही समझ मे आता कि इस प्रकार विद्युत् के इधर से उधर आने मे जो ऊर्जा खर्च होती है वह कहाँ से आती है। धातुओं में जो ऊष्मा होती है वही एक मात्र कोष है जिसमें से कुछ ऊर्जा यह रूप धारण कर सकती है। किन्तु यह प्रमाणित किया जा सकता है कि वोल्टीय पट्टिकापुंज के विभवान्तर के लिए जितनी ऊर्जा की आवश्यकता है वह पट्टिकाओं का टेम्परेचर घटने से प्राप्त नही हो सकती। परिच्छेद 20 मे यह बतलाया जायगा कि जब वोल्टा के प्रयोगों की अपेक्षा बहुत ही अधिक परिमाण में विद्युत् विभिन्न धातुओं के स्पर्श-स्थान में से प्रवाहित किया जाता है तब वस्तुतः वहाँ का टम्परेचर घट या बढ़ जाता है। अतः इसमें सन्देह नही कि स्पर्श-जनित भी कुछ न कुछ विभवान्तर अवश्य होता है। किन्तु वह वोल्टा के प्रयोग में उत्पन्न विभवान्तर (एक वोल्ट) से हजारों गुणा कम होता है। इसके अतिरिक्त इन दोनों विभवान्तरों में केवल परिमाण का भेद ही नहीं है। बहुत सी धातुओ के युग्मों में तो इन विभवान्तरों की दिशा भी एक नहीं होती।

14·05—**रासायनिक सिद्धान्त** (Chemical Theory)। इन कठिनाइयों के कारण इस वोल्टीय विभवान्तर के लिए एक दूसरा सिद्धान्त बना है जिसे रासायनिक सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार विभवान्तर तांबे और जस्ते

के स्पर्श के कारण उत्पन्न नहीं होता। वह उत्पन्न होता है इन धातुओं से होने वाली रासायनिक क्रिया के कारण।

वोल्टा के पट्टिकापुंज में अथवा पात्र-समूह में अम्लीकृत जल का उपयोग किया गया है। वोल्टा का मत तो यह था कि इसके द्वारा केवल तांबे और जस्ते का स्पर्श नहीं होने दिया जाता है। जस्ते से तांबे में विद्युत् का प्रवाह ही इस अम्लीकृत जल में से हो सकता है। स्पर्श-जनित विभवान्तर वहाँ उत्पन्न नहीं होता। किन्तु रासायनिक सिद्धान्त कहता है कि इस अम्लीकृत जल की जो रासायनिक क्रिया जस्ते और ताँबे पर होती है वही इस विद्युद्वाहक बल को उत्पन्न करती है। और उसका स्थान ताँबे और जस्ते का स्पर्श-स्थान नहीं किन्तु जस्ते का और अम्ल का स्पर्श स्थान तथा ताँबे और अम्ल का स्पर्श-स्थान है।

चित्र 14·05

चित्र 14·05 में वोल्टीय पात्र समूह में का एक पात्र है इसका नाम वैद्युत सैल (electric cell) अथवा संक्षेप में केवल सैल (cell) पड़ गया है। इसमें गंधकाम्ल (sulphuric acid) से अम्लीकृत जल में एक तांबे की पट्टिका **त** पड़ी है और एक जस्ते की पट्टिका **ज** पड़ी है। स्पर्श-सिद्धान्त के अनुसार **त** और **ज** में कोई विभवान्तर नहीं है। किन्तु यदि **ज** से कोई तांबे का तार जोड़ दिया जाय तो इस तार का विभव **त** से एक वोल्ट कम हो जाता है। वोल्टा के मत से यह विभवान्तर तांबे के तार और **ज** के स्पर्श-स्थान पर उत्पन्न हुआ है। अतः यदि इस तार के दूसरे सिरे को **त** से मिला दिया जाय तो **ज** का धन-विद्युत् तार में होकर तांबे की पट्टिका **त** में जायगा और तार तथा **त** का ऋण-विद्युत् विपरीत मार्ग से **ज** में चला जायगा।
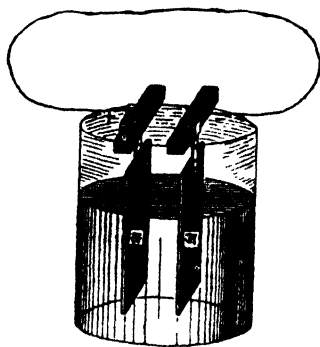
किन्तु रासायनिक सिद्धान्त कहता है कि **ज** में तार को जोड़ने से पहले ही यह एक वोल्ट का विभवान्तर विद्यमान रहता है। **त** का विभव **ज** से एक वोल्ट अधिक रहता है और जब तार **ज** से जोड़ा जाता है तब वह भी **ज** के विभव को ग्रहण कर लेता है। नर्न्स्ट (Nernst) के मतानुसार आधुनिक भाषा में इसका रहस्य यह है कि आयनिक सिद्धान्त के अनुसार—

(क) प्रत्येक विलयन में विलेय पदार्थ के अणु दो भागों में स्वयमेव विभक्त हो जाते है। इन भागों को आयन (ion) कहते हैं। एक भाग धनाविष्ट होता है

और धन-आयन कहलाता है और दूसरा भाग ऋणाविष्ट होता है और ऋण-आयन कहलाता है।

(ख) जब कोई धातु (यथा जस्त) किसी विद्युद्विश्लेष्य विलयन (electrolyte) (यथा गंधकाम्ल) में डुबाया जाता है तो उस धातु के कुछ धनाविष्ट आयन अर्थात् वे परमाणु जिनमें से एक-दो इलैक्ट्रान अलग हो गये हों धातु में से निकल कर विलयन में चले जाते हैं और वहाँ उपस्थित ऋणाविष्ट SO_4 आयन से मिलकर उस धातु के सल्फ़ेट के अनाविष्ट अणु बना देते हैं। हम यों समझ सकते हैं कि धातु में एक प्रकार का बल उत्पन्न हो जाता है जो धन-आयनों को विलयन की ओर चलाता है। इसे विलायक-दबाव (solution pressure) कहते हैं।

$$H_2SO_4 = 2H^+ + SO_4^{--}$$
$$Zn^{++} + SO_4^{--} = ZnSO_4$$
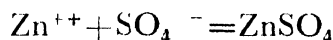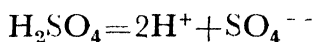
धन आयनों के धातु में से निकल जाने के कारण धातु में तो ऋण-आवेश प्रकट हो जाता है और इन धन आयनों के विलयन में प्रवेश करने के कारण विलयन में धन आवेश आ जाता है।

(ग) विपरीत इसके विलयन में जो धातु के धन-आयन होते हैं वे धातु में प्रवेश करने का प्रयत्न करते हैं। अम्ल में भी एक बल उत्पन्न होता है जो धन आयनों को धातु में प्रविष्ट कराता है। इसे रसाकर्षण दबाव (osmotic pressure) कहते हैं। इसकी दिशा विलायक दबाव से विपरीत होती है। और इसके कारण धातु में धन-आवेश बढ़ता है और विलयन में ऋण-आवेश।

(घ) यदि विलायक दबाव रसाकर्षण दबाव से अधिक हो (यथा जस्त और ज़िंक-सल्फ़ेट में) तब तो दोनों के सम्मिलित प्रभाव से धातु के आयन ही विलयन में अधिक प्रवेश करते हैं और धातु पर ऋण आवेश उत्पन्न हो जाता है किन्तु यदि रसाकर्षण अधिक हो (यथा तांबे और कापर-सल्फ़ेट में) तब धातु पर धन आवेश हो जाता है, क्योंकि तब विलयन में से निकल कर अधिक धन-आयन धातु पर पहुँच जाते हैं। इन दोनों विरोधी बलों के बीजीय योग (algebraic sum) को विद्युद्वाहक बल (electromotive force) कहते हैं।

(ङ) दोनों ही अवस्थाओं में धातु और विलयन के स्पर्शतल के एक ओर धन आवेश तथा दूसरी ओर ऋण आवेश उत्पन्न होकर वहाँ एक वैद्युत द्वितल (electric

double layer) पैदा हो जाता ह (चित्र 14·06)। अर्थात् वहाँ ऐसा विभवान्तर उत्पन्न हो जाता है जो उपर्युक्त क्रिया का विरोध करता है और इन आवेशों पर विद्युद्वाहक बल मे विपरीत बल लगाता है। थोडी देर मे सतुलन हो जाता है और यह क्रिया बिलकुल रुक जाती है। जस्त और ज़िक-सल्फेट के स्पर्श-स्थान पर यह विभवान्तर जस्ते के धन-आयनों को विलयन मे जाने से रोकता है किन्तु तांबे और कापर सल्फेट के स्पर्शतल पर वह विपरीत दिशा मे होने से विलयन मे से ताँबे के धन आयनो को ताँबे की पट्टिका पर जाने मे रोकता है।

इस विभवान्तर का नाम विद्युदग्र-विभव (electrode potential) है। और स्पष्टत विद्युदग्र-विभव का बल = विद्युद्वाहक बल = (विलायक दबाव — रसाकर्षण दबाव)।

चित्र 14·06

इस प्रकार गन्धकाम्ल मे जस्त-पट्टिका का विभव अम्ल की अपेक्षा 0·62 वोल्ट कम होता है किन्तु ताँबे की पट्टिका का विभव अम्ल की अपेक्षा 0·46 वोल्ट अधिक हो जाता ह। फलतः ताँबे का विभव जस्त से (0·62 + 0·46 = 1·08) वोल्ट अधिक रहता है।

सैल की पट्टिकाओ को तार के द्वारा जोडने पर विद्युत की धारा तार मे से प्रवाहित होकर ज और त का विभवान्तर घटा देती है। इससे अम्ल और जस्त का विभवान्तर भी घट जाता है। इसलिए धातु के धनाविष्ट आयन पुनः अम्ल मे पहुँचने लगते है और वहाँ रासायनिक क्रिया आरम्भ कर देते है। जस्त पर ऋण-आवेश पुनः एकत्रित होने लगता है। इस प्रकार विद्युत्-धारा तार मे बहती रहती है और जस्त पर तथा ताँबे पर अम्ल की क्रिया भी होती रहती । चित्र 14·07 में वैद्युत सैल में विभवान्तर का वितरण दिखलाया गया है।
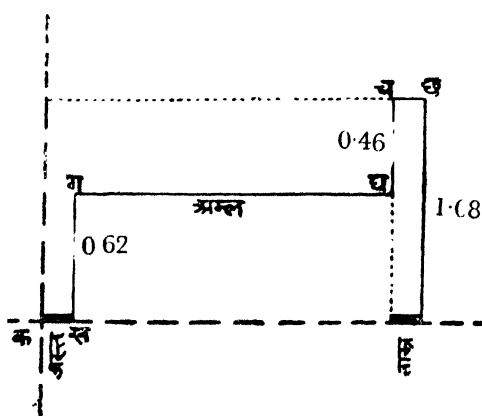
चित्र 14·07

किन्तु वोल्टा के सभी प्रयोगों में अम्ल का प्रयोग नहीं हुआ था। उनमे ताँबे और जस्त का विभवान्तर कहाँ से आया? रासायनिक सिद्धान्त के अनुयायी कहते हैं कि उनमें वायु की आक्सीजन अम्ल का काम करती है। जस्त से वह जिंक आक्साइड (zinc oxide) बनाती है और ताँबे से कापर-आक्साइड (copper oxide)। इस क्रिया के कारण जस्त का विभव वायु मे 1·8 वोल्ट घट जाता है और ताँबे का भी 0·8 वोल्ट घट जाता है। अतः ताँबे का विभव जस्त मे एक वोल्ट अधिक रहता है

वायु की इस क्रिया को प्रमाणित करने के लिए अनेक विद्वानों ने तांबे और जस्ते की पट्टिकाओं को वायु-रिक्त स्थान में रख कर परीक्षा की थी। यह विभवान्तर ज्यों का त्यों पाया गया। इस सम्बन्ध मे कुछ लोगों का कहना है कि वायु-पम्प से इन पट्टिकाओं के पृष्ठ से चिपकी हुई वायु नही हटाई जा सकती। किन्तु यदि पेट्रोलियम तेल मे रख कर प्राय. 150° तक इन्हे गर्म किया जाय तब वह दूर हो सकती है। इस प्रकार गर्म करने पर वास्तव मे विभवान्तर का कोई निशान नही मिलता। इनके पृष्ठों पर से तेल को अच्छी तरह पोंछ डालने पर कई दिनों में धीरे-धीरे वह फिर प्रकट होता है। इससे मालूम होता है कि तेल की बहुत ही पतली तह अदृश्य रूप से इन पट्टिकाओं पर रह जाती है। और वायु को रासायनिक क्रिया करने का अवसर नहीं देती। यह बात स्पष्ट रूप से रासायनिक सिद्धान्त के पक्ष में समझी जाती है। किन्तु स्पर्श-सिद्धान्त वाले कह सकते है कि यही तेल की तह पट्टि काओं को स्पर्श नही करने देती। अतः विभवान्तर के प्रकट न होने मे आश्चर्य ही क्या है।

किन्तु सब बातों पर दृष्टि रख कर रासायनिक सिद्धान्त में ही यथार्थता अधिक मालूम होती है। विशेषकर इस कारण कि वह वैद्युत ऊर्जा का कारण स्पष्ट रूप से रसायनिक क्रिया को निर्धारित कर देता है।

14·06—**वोल्टीय सैल** (Voltaic Cell)। वोल्टा के प्रयोगों से सबसे बड़ा लाभ जो हमें हुआ है वह यह है कि हमें विद्युत्धारा उत्पन्न करने का सरल उपाय मालूम हो गया। अपने पात्र समूह मे वोल्टा ने प्रत्येक पात्र में जस्त और ताँबे की पट्टिकाओं को गंधकाम्ल के तनु (dilute) विलयन में डुबाया था। यही पात्र अब वोल्टीय सैल (voltaic cell), वैद्युत सैल अथवा केवल सैल के नाम से प्रसिद्ध हो गया है। चित्र 14·05 मे यही सैल दिखलाया गया है। तांबे का विभव जस्त से ऊँचा रहता है। अतः जब किसी चालक तार के द्वारा इन पट्टिकाओं को जोड देते तो उस तार में विद्युत् प्रवाहित होता है।

इसके सम्बन्ध मे ध्यान देने योग्य बात यह है कि यदि पट्टिकाएं शुद्ध जस्त और शुद्ध ताँबे की हों तो अम्ल की उन पर कोई भी क्रिया होती नजर नहीं आती। किन्तु ज्यों ही तार के द्वारा इन पट्टिकाओं को जोड़ते है तो तुरन्त रसायनिक क्रिया का प्रारम्भ हो जाता है। जस्त अम्ल में घुल-घुल कर ज़िक-सलफ़ेट बनाता है और हाइ-ड्रोजन गैस के बुलबुले ताँबे की पट्टिका के पास निकलने लगते है। जब तक तार के द्वारा पट्टिकाओ का सम्बन्ध रहता है तब तक यह क्रिया होती रहती है किन्तु इस सम्बन्ध का विच्छेद होते ही यह क्रिया भी बन्द हो जाती है। जब तक यह रसायनिक क्रिया होती रहती है तब तक स्थायी रूप से विद्युत्-धारा भी प्रवाहित होती रहती है। जिस प्रकार इंजन मे कोयला जला कर हमे यात्रिक शक्ति प्राप्त होती है ठीक उसी प्रकार जस्त को अम्ल मे घुला-घुला कर हम विद्युत्-धारा की वैद्युत ऊर्जा को प्राप्त कर सकते है। जस्त ईंधन का काम करता है। इस मैल के दोषो का वर्णन तथा उन्हे दूर करने के उपाय परिच्छेद 15 मे बताये जायेगे। यहाँ केवल एक बात का स्मरण कराने की बड़ी आवश्यकता है। वैद्युत मैल विद्युत् को उपन्न नही करती। जो विद्युत् जस्त, अम्ल, तांबा इत्यादि मैल के अवयवों मे है उसी को मैल विद्युत्-धारा के रूप मे प्रवाहित करती है। इस कार्य मे जो ऊर्जा आवश्यक होती है वह रासायनिक क्रिया से प्राप्त हो जाती है। नल मे से जल को प्रवाहित करने के लिए पम्प की आवश्यकता होती है। किन्तु पम्प जल का निर्माण नही करता वह उसे केवल बहा देता है। ठीक वैसे ही मैल भी वैद्युत् को केवल प्रवाहित करती है। इस दृष्टि से मैल की तुलना पम्प से की जा सकती है।

14·07—**विद्युत्-धारा की दिशा** (Direction of Current)। वैद्युत सैल के वर्णन मे कहा गया है कि ताँबे का विभव जस्त से अधिक होता है। ताँबे पर धन आवेश रहता है और जस्त पर ऋण आवेश। अतः ताम्रपट्टिका के ऊपर के सिरे को सैल का धन-ध्रुव (positive pole) कहते है और जस्त के सिरे को ऋण-ध्रुव (negative pole)। किन्तु इन दोंनों सिरों को तार से जोड़ने पर धारा किस तरफ बहती है? इस प्रश्न का उत्तर देने का हमारे पास इस समय कोई साधन नही है। सम्भव है कि तार में धन-आवेश तांबे से जस्त की ओर जाती हो। सम्भव है कि ऋण-आवेश जस्त से ताँबे की ओर जाता हो। यह भी सम्भव है कि दोनों ही क्रियाएं साथ-साथ होती हों। किन्तु विद्युत्-धारा के व्यवहारिक प्रयोगों में इस बात को निश्चित करने की कुछ आवश्यकता नहीं होती। चाहे धन-विद्युत् एक ओर जाय या ऋण-विद्युत् दूसरी ओर, परिणाम एक ही होता है। एक-तरल सिद्धान्त के अनुयायियों को तो इस झगड़े की आवश्यकता ही न थी। उन्होंने तो यही कहना उचित समझा कि तार में विद्युत् ताँबे से जस्त की ओर जाता है। यही विद्युत्-धारा

की दिशा है। आज तक यही रिवाज चला आता है। धारा धन-ध्रुव से ऋण-ध्रुव की ओर प्रवाहित होती हुई समझी जाती है। आधुनिक इलैक्ट्रान सिद्धान्त के अनुसार वास्तविक बात तो यह है कि इलैक्ट्रान ही तार में जस्ते से तांबे की तरफ जाते हैं और हमें धारा की दिशा यही बताना उचित है। किन्तु सैकड़ो वर्षो का रिवाज मिटाया नही जा सकता। उचित न होने पर भी धारा की दिशा धन-ध्रुव से ऋण-ध्रुव की ओर ही कही जाती है।

14·08—**वैद्युत बैटरी** (Battery)। कई सैलो को वोल्टा के पात्रसमूह के समान श्रेणीबद्ध करने से प्रथम सैल के धन ध्रुव और अंतिम के ऋण ध्रुव में विभवान्तर भी कई गुणा हो जाता है। इन ध्रुवो को तार के द्वारा मिलाने से इस तार में विद्युत्-धारा भी अधिक प्रबल प्रवाहित होती है। इस प्रकार के अनेक सैलों के समूह का नाम बैटरी है।

14·09—**विद्युत्-धारा के प्रभाव** (Effects of Electric Current)। यद्यपि सैल अथवा बैटरी में धन और ऋण ध्रुवों के विभवान्तर के कारण हमने अनुमान किया कि इन ध्रुवो के मध्यवर्ती चालक में विद्युत प्रवाहित होता है किन्तु इस धारा के अस्तित्व का प्रत्यक्ष प्रमाण अभी तक हमने कोई भी नही दिया है। जिस तांबे के तार से धन-ध्रुव और ऋण-ध्रुव जोड़े जाते हैं उसमें ज़ाहिरा कुछ भी परिवर्तन होता हुआ नही देख पड़ता। उसका आकार, उसका रंग, इत्यादि सब ज्यों का त्यों ही जान पड़ता है। ऐसा कोई चिह्न नहीं दिखाई देता कि जिससे यह मालूम हो कि उसमें से कोई चीज बह रही है। किन्तु निम्नलिखित प्रयोगों से ज्ञात हो जायगा कि तार को सैल के ध्रुवों से जोड़ते ही उसमें कुछ न कुछ विलक्षणता उत्पन्न हो जाती है। इस विलक्षणता के कारण हमे मानना पड़ता है कि सैल उसमें विद्युत् की धारा चला रही है।
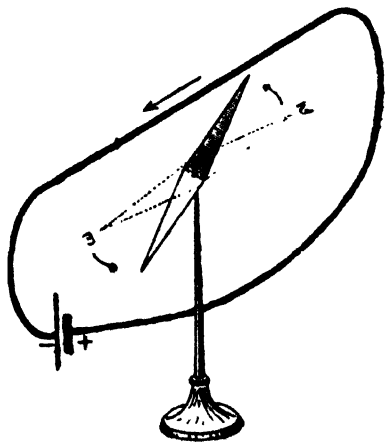
चित्र 14·08

(1) चित्र 14·08 मे एक लम्बी दिक्सूचक सुई है जो स्वाभाविक रीति से चुम्बकीय याम्योत्तर में स्थित रहती है। **उ** उसका उत्तर ध्रुव है और **द** दक्षिण ध्रुव। ठीक इसके ऊपर और इसके समान्तर एक तांबे का तार सीधा तना हुआ है। इसका एक सिरा वैद्युत सैल के धन-

ध्रुव से जुड़ा हुआ है और दूसरे को इच्छानुसार जब चाहे तब ऋण-ध्रुव से जोड़ सकते है। जब तक यह सिरा मुक्त रहता है तब तक चुम्बक भी स्थिर रहता है। किन्तु इस से ऋण ध्रुव का स्पर्श करते ही दिक्-सूची घूम जाती है। यों तो ताँबे मे दिक-सूची को घुमाने का गुण नही होता किन्तु विद्युत्-धारा उसमे यह गुण पर्याप्त मात्रा मे उत्पन्न कर देती है।

इसके अतिरिक्त यदि तार का जो सिरा पहिले धन-ध्रुव से जुड़ा था उसको ऋण ध्रुव से जोड दे और दूसरे को धन-ध्रुव से, तो हम देखेंगे कि दिक्-सूची अब दूसरी ओर घूमती है। विद्युत्धारा का चुम्बकीय गुण अब उलट गया। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि धारा की दिशा भी उलट गई है।

(2) 10-12 सैलों को श्रेणीबद्ध करके एक बैटरी बना लीजिये। तब जर्मन सिल्वर अथवा यूरिका (eureka) के बहुत पतले तार से उसके ध्रुवों को जोड़ दीजिये। आप देखेंगे कि तुरन्त तार गरम हो जायगा। अर्थात् विद्युत्-धारा मे ताप भी उत्पन्न होता है। यदि तार काफ़ी पतला हो तो वह गरम होकर लाल भी हो सकता है और इस गर्मी के कारण वह पिघल भी सकता है। जब तार मोटा हो तब वह इतना गरम नहीं होता। ताँबे के तार मे यह गरमी और भी कम पैदा होती है। इन सब बातों का कारण आगे चल कर मालूम होगा।

इस प्रयोग में बैटरी की आवश्यकता यों हुई कि एक सैल से विद्युत्-धारा काफी प्रबल नही होती। अत उसमे ताप भी कम उत्पन्न होता है।

(3) यदि यह धारा जल अथवा अन्य विलयनों में चले तो यह उनका रासायनिक विच्छेदन (decomposition) भी कर देती है। चित्र 14·09 मे एक काँच के प्याले के पेंदे मे एक रबड़ की डाट लगी है और उसमें प्लाटिनम (platinum) के दो तार लगे हैं। प्याले मे थोड़ा अम्लीकृत जल भर दीजिये और वही जल दो काँच की नलियों में भर कर उन्हें उलट कर इन तारों पर रख दीजिये। दो तीन सैल की बैटरी के ध्रुव इन तारों से जोड़ दीजिये। आप देखेंगे कि गैस के बुलबुले निकल-निकल कर नलियों में एकत्रित हो जायेंगे। थोड़ी देर तक क्रिया हो जाने पर आप देखेंगे कि जो तार धन-ध्रुव से लगा था उस पर की नली में जितनी गैस एकत्रित हुई है उससे द्विगुणित परिमाण मे दूसरी नली में इकट्ठी हुई है। इन गैसों की
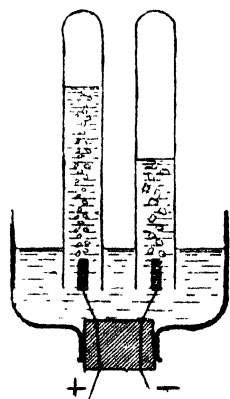
चित्र 14·09

परीक्षा करने से आप को मालूम होगा कि वे क्रमशः आक्सीजन और हाइड्रोजन हैं। जल का विच्छेदन होकर उसमें से ये गैसें निकली हैं। इसी प्रकार अम्लीकृत जल के स्थान में अन्य विलयन रखने से भी विच्छेदन हो जाता है। इसका सविस्तार वर्णन परिच्छेद 21 में किया जायगा।

(4) मनुष्य शरीर पर भी विद्युत्-धारा का प्रभाव पड़ता है। वैद्युत सैल के दोनों तारों को जीभ पर रखने से एक विशेष प्रकार के स्वाद का अनुभव होता है। नेत्र-गोलक (eye-ball) में से विद्युत्-धारा चलाने पर अंधेरे में भी प्रकाश की चमक मालूम होने लगती है। दृष्टि-तंत्रिका (optic nerve) पर विद्युत्-धारा का वैसा ही प्रभाव पड़ता है जैसा कि प्रकाश का। यदि ललाट और हाथ को बैटरी के ध्रुवों से जोड़कर प्रबल विद्युत्-धारा चलाई जाय तो हरे और नीले रंग भी दिखाई देने लगते हैं। कान में से यह धारा चलाने पर वोल्टा और रिटर (Ritter) को मधुर संगीत ध्वनि भी सुनाई दी थी। हमबोल्ट (Humbolt) ने तालू से नासिका में विद्युत्-धारा चलाकर गंध का अनुभव किया था। इस प्रकार मनुष्य शरीर की सब ही इंद्रियाँ विद्युत्-धारा से उत्तेजित हो जाती हैं।

हमारे शरीर में कोई खास इंद्रिय वैद्युत बल का अनुभव करने वाली नहीं है किन्तु कई छोटे-छोटे कीड़ों में संभव है कि यह शक्ति हो। साधारण घोंघा यदि जस्त की पट्टिका पर छोड़ दिया जाय और पट्टिका से स्पर्श कर के एक ताँबे की पट्टिका भी रख दी जाय तो जब वह चलते-चलते ताँबे को स्पर्श करेगा तो सहसा सिकुड़ जायगा। मानो उसे कुछ झटका लगा हो। यही हाल सैल के ध्रुवों को स्पर्श करने से होता है।

गाल्वनी के आविष्कार के संबंध में मेंढक की पेशियों (muscles) का विद्युत् धारा से होने वाले संकुचन का वर्णन किया जा चुका है। दूसरे जानवरों और मनुष्यों की पेशियों का भी यही हाल है। यदि धारा बहुत प्रबल हो तो यह संकुचन इतना अधिक भी हो सकता है कि मृत्यु ही हो जाय।

इन सब प्रभावों की परिच्छेद 12 के वैद्युत विसर्ग वाले प्रभावों से तुलना करने से ज्ञात होता है कि वास्तव में ये प्रभाव एक ही से हैं। यदि कुछ अन्तर है तो उसका कारण यह है कि वैद्युत विसर्ग में जो विद्युत्-धारा प्रवाहित होती है वह क्षणिक होती है और उसमें विभवान्तर बहुत अधिक होता है। किन्तु सम्भवतः विद्युत् की मात्रा अधिक नहीं होती क्योंकि प्रवाह का समय बहुत कम होता है और बहुधा विसर्ग के दोलित होने के कारण धारा एक ही दिशा में नहीं बहती। वैद्युत सैल में विभवान्तर अधिक नहीं होता किन्तु एक ही दिशा में लगातार बहुत देर तक प्रवाहित होने के कारण बहुत अधिक मात्रा में विद्युत् स्थानान्तरित हो जाता है।

घर्षण-जनित विद्युत् और सैल-जनित विद्युत् की एकता मे सन्देह करने का अब कोई कारण नही है।

14·10—**विद्युत्-धारा की प्रबलता** (Strength of Electric Current)। ऊपर कई जगह क्षीण और प्रबल विद्युत्धारा का जिकर आया है। बैटरी का उपयोग धारा को प्रबल बनाने के लिए ही किया जाता है। किन्तु इस प्रबलता का अर्थ क्या है ? विद्युत्-धारा की तुलना हम जल की धारा मे कर सकते है। लोहे के नल मे पानी भरा है। टोंटी खोलते ही उसमे मे पानी गिरने लगता है। और नल मे पानी बहने लगता है। यदि टोंटी मे से पानी धीरे-धीरे निकलेगा तो नल मे भी पानी धीरे धीरे बहेगा और यदि टोंटी मे मे बहुत सा पानी थोड़ी ही देर मे निकल आवेगा तो नल मे भी पानी की धारा प्रबल होगी। इस दृष्टि से नल के पानी की धारा की प्रबलता प्रति मिनट या प्रति सैकंड टोंटी मे से निकलने वाले पानी की मात्रा के द्वारा नापी जा सकती है। जितना पानी टोंटी मे से प्रति सैकंड निकलेगा
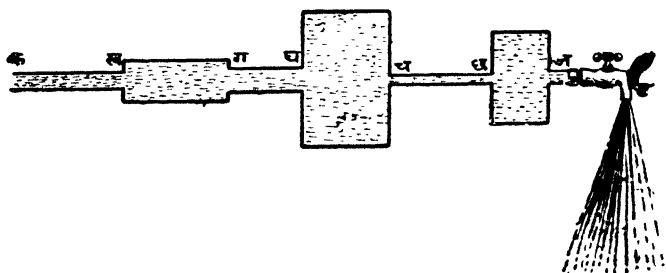
चित्र 14·10

उतना ही नल के प्रत्येक अनुप्रस्थकाट (cross-section) मे से भी प्रति सैकंड बहेगा। चित्र 14·10 में यह नल और टोंटी दिखलाये गये है। नल की चौड़ाई सर्वत्र बराबर नही है। किन्तु जितना जल प्रति सेकंड **क** मे प्रवेश करता है उतना ही **ख**, **ग** आदि में से बह कर **ट** मे से गिरता है। क्यों कि नल के बीच मे कही जल को संचित होने के लिये जगह नही है। यह सच है कि जल-कण का वेग सर्वत्र बराबर नहीं है किन्तु नल के किसी भी भाग में से प्रवाहित होने वाले जल की मात्रा सर्वत्र बराबर है। यदि इस मात्रा से धारा की प्रबलता नापी जाय तो हम कह सकते हैं कि धारा की प्रबलता सर्वत्र बराबर है।

इसी प्रकार विद्युत्धारा की प्रबलता भी तार के प्रत्येक अनुप्रस्थ काट में से प्रवाहित होने वाले विद्युत् की मात्रा के द्वारा नापी जाती है। यह बताया जा

चुका है कि विद्युत् की मात्रा नापने का व्यावहारिक मात्रक कूलम्ब है (अनु० 7·22)। अतः एक सैकंड में एक कूलम्ब विद्युत् के प्रवाह को एक मात्रक धारा कहते हैं। इस मात्रक धारा का नाम अम्पीयर है। अम्पीयर (Ampere) फ्रांस देश के एक वैज्ञानिक का नाम है जिन्होंने विद्युत्-धारा के चुम्बकीय प्रभाव के सम्बध में बहुत-सी बातों का पता लगाया था। उन्हीं की स्मृति में विद्युत्-धारा का मात्रक अम्पीयर कहलाता है।

जब हम कहते हैं कि एक अम्पीयर की धारा किसी तार में बह रही है तब हमारा मतलब यह होता है कि वैद्युत् सैल के धन-ध्रुव में से प्रति सैकंड एक कूलम्ब धन-विद्युत् निकल कर तार में होकर ऋण-ध्रुव में जाता है। जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं, एक कूलम्ब ऋण-विद्युत् ऋण-ध्रुव से धन-ध्रुव की ओर जावे तब भी वही बात होगी और यदि आधा कूलम्ब धन विद्युत् एक तरफ जावे और आधा कूलम्ब ऋण-विद्युत् दूसरी ओर प्रवाहित हो तब भी वही बात होगी। वास्तव में बात इतनी ही है कि प्रति सैकंड धन-ध्रुव के धन-आवेश में एक कूलम्ब की कमी होती जाती है और सैल की रासायनिक क्रिया प्रति सैकंड इस कमी को पूरा करती जाती है।

व्यवहार में एक अम्पीयर की धारा किस को कहेंगे और वह किस प्रकार नापी जायगी यह आगे चल कर यथास्थान बतलाया जायगा। यहाँ इतना ही जान लेना काफ़ी है कि धारा नापने का मात्रक अम्पीयर है। कभी कभी इसके लिये एक बड़ा मात्रक भी काम में आता है जिसे निरपेक्ष स० ग० स० मात्रक (absolute c.g.s. unit) कहते हैं। यह 10 अम्पीयर के बराबर होता है।

विद्युत्-धारा का प्रत्येक प्रभाव धारा की प्रबलता के अनुसार अधिक प्रबल हो जाता है। चुम्बकीय बल, ताप, रासायनिक क्रिया सब ही क्षीण धारा से थोड़े परिमाण में उत्पन्न होते हैं और प्रबल धारा से अधिक परिमाण में। अतः इन में से प्रत्येक प्रभाव धारा नापने में काम आ सकता है।

14.11—**विद्युद्वाहक बल** (Electromotive Force)। विद्युत्-धारा का प्रत्यक्ष कारण तो सैल के धन तथा ऋण ध्रुवों का विभवान्तर है किन्तु वास्तविक कारण जस्त पर होने वाली अम्ल की रासायनिक क्रिया है। इस क्रिया का जो विवरण दिया गया है उससे स्पष्ट है कि इसी के कारण जस्त का अम्ल में डूबा हुआ पृष्ठ ऋणाविष्ट हो जाता है और उस पृष्ठ से संलग्न अम्ल का पृष्ठ धनाविष्ट हो जाता है। अतः सैल के धन और ऋण ध्रुवों में जो विभवान्तर हमें मिलता है उसका वास्तविक स्थान जस्त और अम्ल तथा ताँबे और अम्ल के स्पर्श-पृष्ठ है, और उसके जन्मदाता वहाँ पर के विद्युदग्र-विभव हैं। दोनों विद्युदग्र-विभवों के बीजीय योग

(algebraic sum) को सैल का विद्युद्वाहक बल कहते हैं। संक्षेप में इसे वि० वा० ब० (e. m. f.) लिखा जाता है।

स्पष्ट ही है कि जितना ही यह विद्युद्वाहक बल अधिक होगा उतना ही अधिक आवेश, तांबे, जस्त और अम्ल पर एकत्रित होगा और उतना ही अधिक विभवान्तर सैल के धन और ऋण ध्रुवों में उत्पन्न होगा। अतः इस विद्युद्वाहक बल का नाप उक्त विभवान्तर के द्वारा हो सकता है। वोल्टीय सैल में जब धारा न बह रही हो तब इस विभवान्तर का परिमाण 1 वोल्ट के लगभग होता है। अतः इस सैल का विद्युद्वाहक बल भी 1 वोल्ट कहा जाता है। वोल्टों में नापने के कारण बहुधा विद्युद्वाहक बल को वोल्टेज (voltage) भी कहते हैं।

वि० वा० ब० को विभव के मात्रक वोल्टों में नापने के रिवाज का परिणाम यह हुआ है कि बहुधा इस विषय का अध्ययन आरम्भ करने वाले विद्यार्थी वि०वा०ब० और ध्रुवों के विभवान्तर में जो भेद है उसे भूल जाते हैं। वि०वा०ब० वास्तव में बल है और उसका नाप बल के मात्रकों में होना चाहिये था। यह बल विद्युत् को प्रवाहित करके जस्त और अम्ल में विभवान्तर उत्पन्न करता है किन्तु स्वयं विभवान्तर नहीं हैं। इस बल को नापने का हमारे पास और कोई उपाय न होने के कारण ही हम विभवान्तर के द्वारा इसे नापते हैं। किन्तु वि० वा० ब० विभवान्तर का कारण है, स्वयं विभवान्तर नहीं।

तांबे और जस्त के स्थान में अन्य धातुओं अथवा कार्बन का भी प्रयोग किया जा सकता है। प्रत्येक धातु के लिये विद्युदग्र-विभव का परिमाण भिन्न-भिन्न होता है। अतः धातु पट्टिकाओं की भिन्नता के कारण वैद्युत सैल का वोल्टेज भी भिन्न-भिन्न परिमाण का हो सकता है।

यदि कई सैलों को श्रेणीबद्ध कर दिया जाय तो सब का इकट्ठा वि० वा० ब० सब सैलों के बलों को जोड़ने से प्राप्त होगा।

चित्र 14·11 में सैल के विभिन्न विन्दुओं के विभव उस समय दिखाये गये हैं जब तांबे की पट्टिका को जस्त की पट्टिका से तार के द्वारा जोड़ देते हैं। इस चित्र में जो दो बिन्दु **क** के द्वारा व्यक्त हैं वे वास्तव में एक ही बिन्दु है क्योंकि तार के द्वारा तांबे के बिन्दु **छ** को जस्त के बिन्दु **क** से ही जोड़ा गया है। सुविधा के लिये ही **क** को दाहिनी ओर अलग दिखाया गया है। तब तार में **छ** से **क** की ओर धारा प्रवाहित होती है। अतः **छ** और **क** का विभवान्तर घट जाता है। इसकी पूर्ति के लिये वि० वा० ब० **ख** से **ग** की ओर तथा **घ** से **च** की ओर धारा चलाता है। परिणाम

यह होता है कि विद्युत्धारा **छ** से प्रारम्भ कर **क ख ग घ च** मार्ग से पुनः **छ** पर पहुँच जाती है। विद्युत् इस चालक परिपथ (circuit) का पूरा चक्कर कर लेता है।

जैसे जल ऊँचे स्थान से नीचे की तरफ बहता है, उस ही तरह विद्युत् भी उच्च विभव से निम्न विभव की ओर प्रवाहित होता है। अतः प्रगट है कि धारा के बहते समय सल मे विभवान्तर का रेखाचित्र चित्र 14·11 के समान हो जायगा। **क**
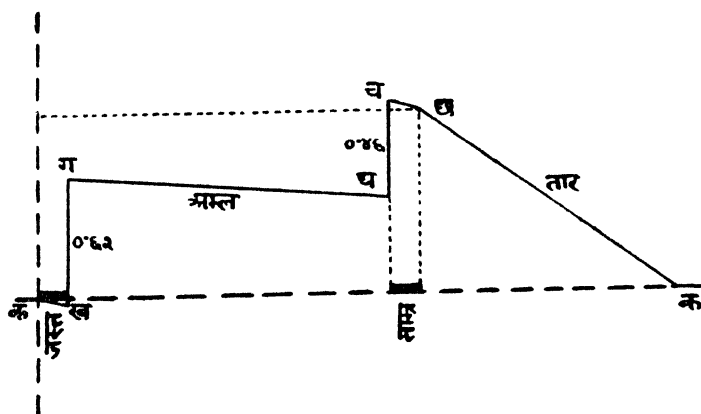
चित्र 14·11

से **ख**, **च** से **छ**, **छ** से **क** और **ग** से **घ** तक तो धारा ऊँचे से नीचे विभव की तरफ स्वयं-मेव बहेगी किन्तु ख से ग तक और घ से च तक वि० वा० ब० उसे नीचे से ऊँचे विभव की तरफ बहायेगा। यदि इस चित्र के समान ही ऊँची-नीची ज़मीन हो और तब **च** पर कुछ पानी छोड़ दें तो वह गुरुत्वाकर्षण के नियम से स्वयं ही **च छ क ख** मार्ग से बह कर **ख** पर जा पहुँचेगा। यदि यहाँ कोई मनुष्य या पम्प इसे उठाकर **ग** पर चढ़ादे तो फिर वह स्वयं ही बह कर **घ** पर पहुँच जायगा। यहाँ भी यदि कुछ प्रबंध उसे उठाकर **च** पर पहुँचाने का हो तो स्पष्ट ही है कि पानी इस परिपथ का पूरा चक्कर करता ही रहेगा।

इस उदाहरण के द्वारा विभवान्तर और वि० वा० ब० का भेद अच्छी तरह समझ में आ सकता है। वि० वा० ब० पम्प के समान है जो नीचे स्थान से जल को ऊपर उठा देता है। विभवान्तर ढालू पृथ्वी के समान है जो जल को ऊपर से नीचे की ओर बहाता है। यही नहीं। जिस प्रकार जल को उक्त परिपथ में पूरा चक्कर कराने के लिये पम्प को चलाने में जल की अपनी ऊर्जा के अतिरिक्त वाह्य ऊर्जा

(मानव, वैद्युत अथवा बैलों की ऊर्जा) की आवश्यकता होती है उस ही प्रकार विद्युत् धारा के प्रवाहित करने में भी **ख ग** तथा **घ च** पर रासायनिक ऊर्जा का व्यय होता है।

चित्र 14·11 से एक और भी परिणाम निकलता है जो ध्यान देने योग्य है। धारा बहते समय **छ** और **क** का विभवान्तर 1·08 वोल्ट से कुछ कम है। वि० वा० ब० बलों का योग अब भी 1·08 वोल्ट ही है। किन्तु **क** से **ख**, तक, **ग** से **घ** तक तथा **च** से **छ** तक जो विभव घटता है उसके कारण वैद्युत सैल के ध्रुव **छ** और **क** का विभवान्तर भी घट जाता है। विभवान्तर नापने का सरल उपाय सीख लेने पर यह बात प्रयोगात्मक रीति से प्रमाणित की जा सकती है।

14·12—**प्रतिरोध** (Resistance)। विद्युत्-धारा के चुम्बकीय प्रभाव से अथवा तार में उत्पन्न ताप के द्वारा यह प्रमाणित करना कठिन नहीं है कि वैद्युत सैल के द्वारा जो विद्युत्-धारा उत्पन्न होती है उसकी प्रबलता उसके ध्रुवों को जोड़ने वाले तार पर निर्भर है। अधिक अच्छे उपाय आगे बतलाये जायेंगे। यदि यह तार बहुत लम्बा और पतला हो तो दिक्सूची बहुत थोडी ही सी घूमेगी और यदि तार मोटा और कम लम्बा हो तो यही दिक्सूची ज़ोर से घूम जायगी। तांबे के स्थान में लोहे, अथवा जर्मन सिल्वर, यूरिका आदि मिश्र-धातुओं (alloys) का पतला तार रखने से धारा की प्रबलता और भी घट जायगी। यद्यपि इन सब तरह के तारों में धारा प्रवाहित करने वाला वि० वा० ब० बराबर ही (अर्थात 1 वोल्ट) है तथापि धारा की प्रबलता बदल जाती है। अनु० 14·09 के प्रयोग (2) से भी यही परिणाम निकलता है।

इस बात को भी नली में होने वाले जल-प्रवाह के उदाहरण से हम अच्छी तरह समझ सकते हैं।

नली पानी के बहने में रुकावट पैदा करती है। तंग नली अधिक रुकावट करती है। नली की लम्बाई बढ़ाने से भी रुकावट बढ़ जाती है। ठीक इस ही प्रकार विद्युत् धारा के लिये भी तार रुकावट पैदा करता है। और लम्बा तार अधिक तथा मोटा और छोटा तार कम। इसके अतिरिक्त तार की धातु पर भी यह रुकावट निर्भर है। तांबे में कम रुकावट होती है और मिश्र धातुओं में अधिक। यह चालकता (conductivity) का भेद है। ताँबे की चालकता अधिक होती है। और जर्मन सिलवर की कम।

विद्युत्-धारा सम्बंधी रुकावट का नाप प्रतिरोध (resistance) रख दिया गया है। अधिक प्रतिरोध से धारा क्षीण हो जाती है और कम प्रतिरोध से प्रबल।

प्रतिरोध का नाप परिच्छेद 18 में बतलाया जायगा। यहाँ पर यही कह देना काफ़ी है कि यदि हमें धारा की प्रबलता घटाना हो तो उसके मार्ग मे आवश्यकतानुसार मोटा या पतला, लम्बा या छोटा, किसी मिश्र धातु का तार लगा देना चाहिये। इस कार्य के लिये जो तार काम में लाये जाते हैं उनका उपयोग बहुधा कुंडलियों के रूप में होता है और उन्हें नियंत्रक-प्रतिरोध (rheostat) कहते हैं।

14·13—**वैद्युत परिपथ** (Electric Circuit)। यह न समझना चाहिये कि सैल के धन-ध्रुव से विद्युत्-धारा ऋण-ध्रुव में जाकर समाप्त हो जाती है। सैल के अन्दर भी अम्ल मे यह धारा जस्त की पट्टिका से ताँबे की पट्टिका की ओर बहती है। चित्र 14·12 के समान दिक्सूची को अम्ल के ठीक नीचे रख कर इस धारा का अस्तित्व प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। धन-ध्रुव से प्रारम्भ करके धारा तार मे से पहिले ऋण-ध्रुव मे पहुँचती है, फिर वहाँ से अम्ल मे प्रवेश करके ताम्र-पट्टिका की ओर जाकर पुनः धन-ध्रुव पर पहुँच जाती है।
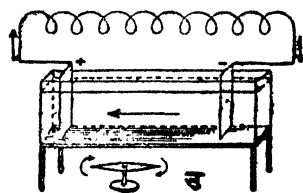
चित्र 14·12

इस प्रकार विद्युत्-धारा एक पूर्ण अथवा निमीलित परिपथ बनाती है। इस वैद्युत परिपथ मे धन-ध्रुव से ऋण-ध्रुव तक सैल के बाहर का भाग वाह्य परिपथ (external) कहलाता है और सैल के भीतर का भाग आंतरिक परिपथ (internal circuit)।

जब तक इस परिपथ में सर्वत्र चालक पदार्थ न हों तब तक विद्युत् धारा का प्रवाह नही हो सकता। यदि कहीं इस धारा के मार्ग मे थोड़ा सा भी अचालक पदार्थ—वायु, रबड़ काँच आदि—आ गया तो धारा बिलकुल रुक जाती है। उस समय यह परिपथ खुला या उन्मीलित (open) कहलाता है। जिस स्थान पर परिपथ में भंग हुआ हो उसके एक ओर के सब चालक धन-ध्रुव का विभव प्राप्त कर लेते है। और दूसरी ओर के चालक ऋण-ध्रुव का विभव।

यह बात बड़े काम की है क्योंकि इसके उचित प्रयोग से हम इच्छानुसार विद्युत्-धारा को रोक सकते हैं या चला सकते हैं। इस कार्य के लिये जो उपकरण काम में आते है उनके साधारण नाम कुंजी (key) और स्विच (switch) हैं। कुंजी क्षीण धाराओं के लिये काम में आती है और स्विच अधिक विभव वाली धाराओं के लिये।

कभी कभी यह भी आवश्यक होता है कि विद्युत्-धारा की दिशा उलट दी जाय। इसके लिये सैल के ध्रुवों को वाह्य परिपथ से अलग करके और तब जहाँ पहिले धन-ध्रुव लगा था वहाँ ऋण-ध्रुव और जहाँ ऋण-ध्रुव था वहाँ धन-ध्रुव लगाना पड़ता है। इस कार्य के लिये जिन कुंजियों या स्विचों का प्रयोग होता है वे दिक्परिवर्ती (commutator) कहलाते हैं।

14·14—**वैद्युत मर्मचित्र** (Electrical Diagram)। जब कभी विद्युत् धारा के किसी भी कार्य को समझाने की आवश्यकता होती है तो चित्र में यह बतलाना होता है कि धारा किस किस उपकरण में से किस प्रकार जाती है। उसके समस्त निमीलित परिपथ को चित्रित करना पड़ता है। इसमें सैल, प्रतिरोध, स्विच आदि का वास्तविक चित्र खीचने मे व्यर्थ ही बहुत समय भी नष्ट हो जायगा और चित्र भी अच्छे न बनेंगे। इस कारण ऐसे मर्मचित्रों के लिये कुछ संकेत नियत कर लिये गये हैं। इनका जान लेना परम आवश्यक है। चित्र 14·13 मे ये सकेत बताये गये हैं।
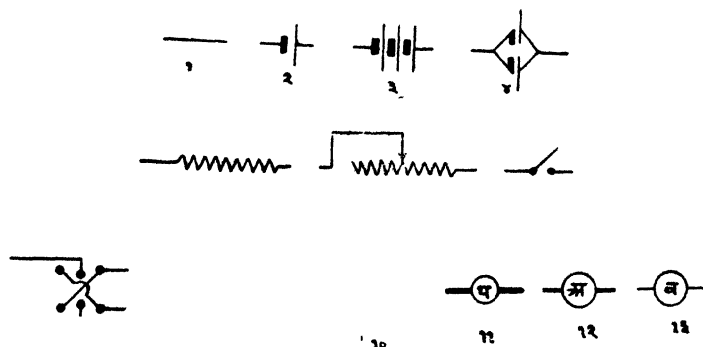
चित्र 14·13

(1) अविच्छिन्न रेखा से धातु का चालक तार दिखाया जाता है। ये रेखाएं कागज की कोरों के समान्तर ही खींची जावें तो अच्छा है।

(2) यह सैल का संकेत है। लम्बी रेखा धन-ध्रुव है और छोटी रेखा ऋण-ध्रुव।

(3) यह कई सैलों की श्रेणीबद्ध बैटरी है।

(4) यह सैलों का पार्श्वबंधन बतलाता है।

(5) यह प्रतिरोध का चिह्न है।

(6) यह नियंत्रक अथवा परिवर्त्य प्रतिरोध है

(7) यह कुंजी या स्विच है।

(8) यह दिक्-परिवर्ती है

(9) यह चिह्न यह बतलाता है कि एक तार दूसरे तार को बिना स्पर्श किये ही लांघ जाता है।

(10) यहाँ दोनों तारों का स्पर्श होता है।

(11-13) ऐसा वृत्त किसी मापक यंत्र का द्योतक है। यदि यह धारा को नापने का यंत्र हो तो वृत्त के बीच में **ध** (धारामापी) या **अ** (अम्पीयर-मापी) लिख दिया जाता है। यदि विभव को नापने का यंत्र हो तो **व** (वोल्ट-मापी) लिख देते हैं।

इनके अतिरिक्त और भी कई संकेत वैद्युत मर्मचित्रों के लिये काम मे आते हैं। वे यथास्थान बताये जायेंगे।

14·15—**विद्युत्धारा के लिये उपयोगी तार**। यह तो प्रगट ही है कि जिन तारों के द्वारा विद्युत्धारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाई जाती हैं उन तारों का प्रतिरोध बहुत कम होना चाहिये। अतः वे तांबे के बनाये जाते हैं क्यों कि तांबे की चालकता अच्छी होती है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि धारा इन तारों में से अन्यत्र चली न जाय। अतः इन्हे विलगित भी करना पड़ता है। या तो इन्हे इस प्रकार रखा जाता है कि ये चीनी के विलागकों के सहारे वायु में लटके रहते हैं और कहीं भी किसी चालक से नही छूते। तार-समाचार भेजने को जो तार रेल की लाइन के पास लगे रहते ह वे इस ही प्रकार लगे होते हैं। शहर में बिजली की रोशनी आदि के तार भी इस ही प्रकार विलागित होते हैं।

किन्तु जहाँ तार के अन्य वस्तुओं से स्पर्श करने का डर रहता है वहाँ पूरा तार विलागक पदार्थ से ढक दिया जाता है। जिन तारों में अधिक वोल्टेज वाली प्रबल धाराएं बहती हों उन्हें तो रबड़ आदि पदार्थों से अच्छी तरह ढक देते हैं। किन्तु जहाँ विभवत्व अधिक नहीं होता वहाँ तार पर रेशम या सूत का डोरा दोहरा या इकहरा लपेट कर ही काम चल जाता है।

साधारण प्रयोगों में तो सूती डोरे से लपेट देना ही काफ़ी है। ऐसे तारों को रेशम-वेष्ठित (silk-covered) या सूत-वेष्ठित (cotton-covered) तार कहते हैं। प्रयोगशाला में भिन्न-भिन्न उपकरणों को जोड़ने के लिये खुले हुए अविलागित तारों को काम में नही लाना चाहिये।

परिच्छेद 15

प्राथमिक तथा द्वैतीयिक सैलें

(Primary and Secondary Cells)

15·01—**वोल्टीय सैल का दोष** । वोल्टीय सैल के द्वारा किसी परिपथ (circuit) में जो धारा प्रवाहित होती है उसकी प्रबलता स्थिर नही रहती। अम्पीयर-मापी (अनु० 17·10) के द्वारा नापने पर आप देखेंगे कि यह धारा धीरे-धीरे क्षीण होती जाती है। साथ ही यदि उसके ध्रुवों का विभवान्तर भी आप वोल्ट-मापी के द्वारा नापे तो आपको ज्ञात होगा कि उसका वि० वा० ब० भी धीरे-धीरे घटता जाता है। वोल्टीय सैल मे यह बड़ा ऐब है। इसलिये जहां देर तक विद्युत् धारा से काम लेना हो वहाँ इस सैल से काम नही चल सकता।

15·02—**सैल का ध्रुवाच्छादन** (Polarisation)। वोल्टीय सैल के वि० वा० ब० की इस कमी का कारण खोजने पर यह मालूम हुआ है कि धारा के बहने से जो हाइड्रोजन उत्पन्न होती है वह जाकर तांबे की पट्टिका पर एकत्रित हो जाती है। जब थोड़ी देर वोल्टीय सैल धारा प्रवाहित कर ले तब गौर से देखने पर तांबे की पट्टिका का सारा पृष्ठ हाइड्रोजन के छोटे-छोटे अगणित बुलबुलों से आच्छादित देख पड़ेगा। यह हाइड्रोजन विद्युत्धारा को दो प्रकार से कम करती है।

प्रथम तो यह तांबे के बहुत से पृष्ठ को ढक कर अम्ल से उस का स्पर्श नही होने देती। इसमे धारा के मार्ग मे प्रतिरोध बढ़ जाता है। और धारा की प्रबलता घट जाती है।

किन्तु इस हाइड्रोजन का दूसरा प्रभाव इससे भी अधिक हानिकारक है। हाइड्रोजन पर भी अम्ल की रासायनिक क्रिया प्रायः वैसी ही होती है जैसी कि जस्त पर। अतः हाइड्रोजन और अम्ल का जहां स्पर्श होता है वहां भी वि० वा० ब० प्रायः उतना ही पैदा हो जाता है जितना जस्त और अम्ल के स्पर्श-स्थान पर होता है और इसकी दिशा भी ऐसी होती है कि धारा हाइड्रोजन से अम्ल की तरफ प्रवाहित हो। अतः यह वि० वा० ब० जस्त तथा तांबे वाले वि० वा० ब० का विरोध करता है। इससे सैल का वि० वा० ब०, जो इन सब अवयव बलों का एकत्रित परिणाम है, घट जाता है। यह समझ लीजिये कि अब हमारी सैल मे जस्त और तांबे की पट्टिकाओं के स्थान से अम्ल और हाइड्रोजन की पट्टिकाएं हो गई हैं।

सैल के ध्रुवों के इस प्रकार हाइड्रोजन आदि गैस से आच्छादित हो कर वोल्टेज के घट जाने को ध्रुवाच्छादन कहते है।

सैल के वि० वा० ब० के घटने का यह ध्रुवाच्छादन ही मुख्य कारण है। इस बात का सबसे अच्छा प्रमाण यही है कि यदि ब्रुश से तांबे की पट्टिका पोंछ दी जाय और इन बुलबुलों को वहाँ से हटा दिया जाय तो तुरन्त वि० वा० ब० अपने स्वाभाविक मान को प्राप्त कर लेता है और धारा की प्रबलता भी पूर्ववत् हो जाती है।

15·03—**स्थानीय क्रिया** (Local Action)। वोल्टीय सैल का वर्णन करते समय कहा गया था कि शुद्ध जस्त पर अम्ल की रासायनिक क्रिया नही होती और जब परिपथ को निमीलित करने पर धारा प्रवाहित होती है तभी उस पर रासायनिक क्रिया होने लगती है। किन्तु जब बाज़ार से साधारण जस्त की पट्टिका लेकर अम्ल मे डालते है तो तुरन्त ही उसमे से हाइड्रोजन के बुलबुले निकलने लगते है। विद्युत्-धारा को उत्पन्न किये बिना ही जस्त अम्ल मे घुलने लगता है। इस क्रिया का नाम स्थानीय क्रिया है।

इसका कारण यह है कि बाज़ारू जस्त मे लोहा, तांबा, कार्बन आदि पदार्थ भी कुछ परिमाण मे मिले रहते है। मान लीजिये कि जस्त की पट्टिका पर एक तांबे का कण चिपका है। स्पष्ट ही है कि इस कण मे और जस्त मे वोल्टीय सैल वाला 1 वोल्ट का विभवान्तर उपस्थित हो जायगा और उस कण का स्पर्श जस्त से होने के कारण विद्युत्-धारा भी उस छोटे से परिपथ मे से प्रवाहित होने लगेगी। इस विद्युत्-धारा ही के कारण जस्त पर रासायनिक क्रिया होती रहेगी और तांबे के कण पर से हाइ-ड्रोजन के बुलबले निकलने लगेगे। इसी प्रकार अन्य अशुद्धियों के कारण भी जस्त की पट्टिका पर स्थानीय क्षुद्र सैले बन जाती है।

15·04—**पारदरंजन** (Amalgamation)। इस स्थानीय क्रिया के कारण वोल्टीय सैल का जस्त व्यर्थ ही घुलता रहता है। इस खर्च को मिटाने के लिये शुद्ध जस्त का व्यवहार तो नही किया जा सकता क्योंकि शुद्ध जस्त का मूल्य बहुत अधिक होता है। किन्तु एक युक्ति ऐसी निकाली गई है कि जिससे स्थानीय क्रिया रोक दी जा सकती है।

यह युक्ति पारदरंजन कहलाती है। जस्त की पट्टिका को थोड़ी देर तनु गंधकाम्ल या हाइड्रोक्लोरिकाम्ल मे डुबा कर उस पर इस ही अम्ल में भिगोए हुए कपड़े से थोड़ा पारा मल दीजिये। इससे जस्त की पट्टिका पर पारा चढ़ जायगा। उस पर पारे की चमकदार कलई हो जायगी। इस पारदरंजित पट्टिका को वोल्टीय सैल के अम्ल

में रखने से स्थानीय क्रिया नहीं होने पाती। जस्त को पिघला कर जिस समय पट्टिका बनाई जाती है उसी समय उसमें प्रायः 4% पारा मिला देने से भी पारद-रंजन हो जाता है।

इसका कारण यह है कि पारे में जस्त घुल जाता है किन्तु लोहा कार्बन आदि आसानी से नही घुलते। अतः पारे की जो कलई जस्त की पट्टिका पर हो जाती है उसमें पारे और जस्त के अतिरिक्त और कुछ नही होता। लोहा, कार्बन आदि के कण इस कलई के नीचे ही दबे रह जाते है और अम्ल को स्पर्श नही कर सकते।

किन्तु पारदरंजन करने पर भी स्थानीय क्रिया बिलकुल बंद नही हो जाती। यद्यपि भली प्रकार पारदरंजित जस्ते वाली सैल में जब तक परिपथ उन्मीलित रहता है तब तक हाइड्रोजन जस्त पर से निकलती हुई दिखाई नही देती। तथापि कुछ थोड़ी हाइड्रोजन अदृष्ट रूप से वहाँ उत्पन्न होती ही रहती है। इसलिये जब विद्युत्-धारा की आवश्यकता न हो तब जस्त की पट्टिका को अम्ल से बाहर निकाल कर रख देना चाहिये।

15·05—**ध्रुवाच्छादन दूर करने के उपाय**। जब इस दोष का कारण ज्ञात हो गया तो उसे दूर करने की युक्तियाँ भी निकाली गई। हम इन युक्तियो को तीन वर्गों में विभाजित कर सकते है।

(1) **यांत्रिक** (mechanical) **युक्ति**। इसमे ताबे की पट्टिका को ऐसा बनाया जाता है कि हाइड्रोजन के बुलबुले उस पर टिक न सके और स्वयमेव ही वहाँ से अलग होकर बाहर निकल जावे।

(2) **रासायनिक** (chemical) **युक्ति**। इसमे अम्ल के साथ कोई ऐसा पदार्थ मिला दिया जाता है जो हाइड्रोजन को उत्पन्न होते ही नष्ट कर देता है। यह पदार्थ हाइड्रोजन पर ऐसी क्रिया करता है कि जिससे वह आक्सिजन या क्लोरीन से मिल कर जल या हाइड्रोक्लोरिकाम्ल बना दे, और तांबे पर किसी किस्म का बुलबुला बनने ही न पावे।

(3) **विद्युत्-रासायनिक** (electrochemical) **युक्ति**। इसमें विद्युत्-धारा का प्रवाह ही इस प्रकार होता है कि तांबे पर हाइड्रोजन पहुंचती ही नहीं। उसके स्थान में कोई धातु (तांबा आदि) पहुँचती है।

इन तीनों प्रकार के उपायों के व्यवहार से वोल्टीय सैल के अनेक रूप हो गये है। और उसके नाम भी भिन्न-भिन्न पड़ गये हैं। उन सब का संक्षिप्त विवरण यहाँ दे देना आवश्यक जान पड़ता है। इन सब प्रकार की सैलों को प्राथमिक सैलें (primary cells) कहते हैं।

15·06—**यांत्रिक अनाच्छादक** (Mechanical Depolariser) **वाली सैलें**। इनमे दो बाते मुख्य है। एक तो यह कि धन-पट्टिका के पृष्ठ का जितना ही क्षेत्रफल अधिक होगा उतनी ही अधिक देर उसे हाइड्रोजन से आच्छादित होने में लगेगी। और दूसरी यह कि यदि धन-पट्टिका का पृष्ट चिकना न होकर खुरदरा बनाया जाय तो उसकी नोकों पर से बुलबुले जल्दी हट सकेंगे। इन्ही दो बातों का उपयोग करके जो कई प्रकार की सैलें बनी है उनमें सबसे प्रधान स्मी (Smee) की सैल है। इसमें तांबे की पट्टिका के स्थान में चांदी की पट्टिका लगाई जाती है और उसके पृष्ठ पर प्लाटिनम की खुरदरी तह रासायनिक विधि से लगा दी जाती है। वाकर (Walker) ने कार्बन की सरंध्र (porous) पट्टिका का उपयोग तांबे के स्थान में किया था। किन्तु इन सब उपायों से ध्रुवाच्छादन अच्छी तरह दूर नहीं होता।

15·07—**रासायनिक अनाच्छादक** (Chemical Depolariser) **वाली सैलें**। (1) **बाइक्रोमेट सैल** (Bichromate cell):—इसमें धन-पट्टिका दो है और वे कार्बन की बनी होती है। जस्त की पट्टिका के दोनों पार्श्वों में ये लगी होती है। गंधकाम्ल मे पोटासियम बाइक्रोमेट मिला है जिससे रग लाल-लाल देख पड़ता है। बाइक्रोमेट युक्त गधकाम्ल बड़ा तेज़ होता है और जस्त तथा तांबे पर प्रबल क्रिया करता है। यही कारण है कि इस सैल मे तांबे के स्थान मे कार्बन का उपयोग हुआ है और जस्त की पट्टिका को भी खींच कर बाहर निकाल लेने का प्रबंध कर दिया जाता है (चित्र 15·01)। इसमें बाइक्रोमेट पर गधकाम्ल की क्रिया होने से प्रबल आक्सीकारक (oxidiser) क्रोमिक आक्साइड बनता है और यह हाइड्रोजन का जल बना देता है और स्वयं क्रोमियम सल्फ़ेट बन जाता है।

चित्र 15·01

$$Zn + H_2SO_4 = ZnSO_4 + 2H$$

$$K_2Cr_2O_7 + 4H_2SO_4 + 6H = Cr_2(SO_4)_3 + K_2SO_4 + 7H_2O$$
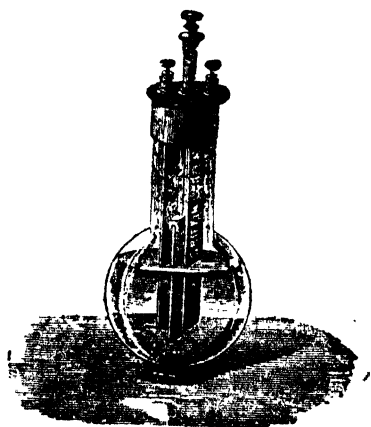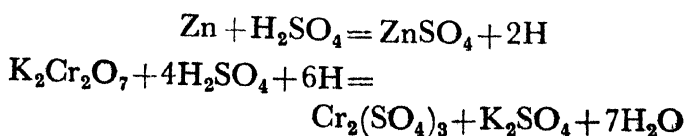
इस सैल के द्रव का संगठन निम्न प्रकार है :—

पोटाशियम बाइक्रोमेट	100 ग्राम
शुद्ध गंधकाम्ल (सांद्रित)	200 ग्राम
जल	1200 ग्राम

इसका वि० वा० ब० लगभग 2 वोल्ट होता है।

(2) **ग्रोव सैल** (Grove cell)। सर विलियम ग्रोव ने जस्त को और अनाच्छादक को पृथक रखने का उपाय निकाला। उनकी सैल में मिट्टी का एक सरंध्र पात्र किसी कांच के या चीनी के पात्र मे रख दिया जाता है (चित्र 15·02)। बाहर के पात्र मे पारद-रंजित जस्त और गंधकाम्ल रहता है। और सरंध्र पात्र में सांद्र नाइट्रिकाम्ल और प्लाटिनम की पत्ती।

चित्र 15·02

यही प्लाटिनम इस सैल का धन-ध्रुव है। बाहर के पात्र में जो हाइड्रोजन जस्त पर पैदा होती है वह छेदों में से निकल कर सरंध्र पात्र के अन्दर पहुँच जाती है। वहाँ नाइट्रिकाम्ल उसे आक्सिजन से मिला कर जल बना देता है। इसका वि० वा० ब० 1·9 से 2·0 वोल्ट तक होता है।

$$HNO_3+H=NO_2+H_2O$$
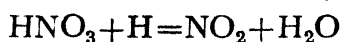
इसमें एक बड़ा ऐब है। नाइट्रिकाम्ल और हाइड्रोजन की क्रिया से नाइट्रिक आक्साइड नामक गैस उत्पन्न होती है। यद्यपि यह कुछ-कुछ जल मे घुल कर वहीं रह जाती है तथापि जब बहुत परिमाण में उत्पन्न होती है तब यह बाहर निकल कर लाल रंग की नाइट्रिक पर-आक्साइड गैस मे परिणत हो जाती है। इसकी एक तो गंध बड़ी खराब होती है और दूसरे यह पास मे रक्खी हुई वस्तुओं को खा जाती है।

(3) **बुन्सन सैल** (Bunsen cell)। यह ग्रोव सैल ही का रूपान्तर है। बाहरी आकृति के अतिरिक्त इन दोनों सैलों में भेद इतना ही है कि बुनसन सैल में प्लाटिनम जैसी बहुमूल्य धातु के स्थान में कार्बन की पट्टिका काम मे लाई जाती है (चित्र 15·03)। इसका वि० वा० ब० भी 1·9 से 2 वोल्ट तक होता है।

चित्र 15·03

(4) **लैक्लांश सैल** (Leclanche cell)। इस में अनाच्छादक द्रव नहीं है। मैंगनीज डाइआक्साइड एक प्रबल आक्सीकारक है। सरंध्र पात्र में यह

कार्बन के चूर्ण से मिला कर ठूस कर भर दिया जाता है और इस मिश्रण के बीच में कार्बन की पट्टिका घुसा दी जाती है। इस प्रकार सुसज्जित सरंध्रपात्र कांच के बड़े पात्र मे रख दिया जाता है और इस पात्र मे नौसादर (अमोनियम क्लोराइड) का विलयन भर दिया जाता है। इसी मे जस्त की पारदरजित पट्टिका पडी रहती है (चित्र 15.04)। नौसादर के विलयन मे प्राय 20 भाग पानी मे 3 भाग नौसादर होता है।
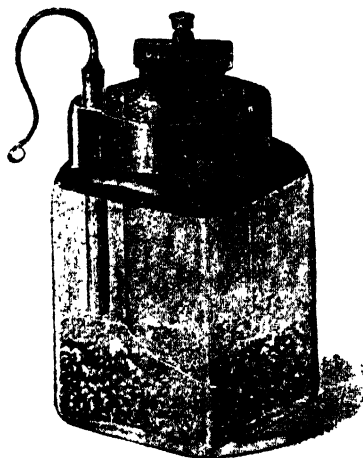
चित्र 15·04

नौसादर भी गंधकाम्ल ही की तरह जस्त पर क्रिया करके हाइड्रोजन उत्पन्न करता है। इस हाइड्रोजन को मैंगनीज़ डाइआक्साइड जल के रूप मे परिणत करके धन-ध्रुव को आच्छादित होने से बचा देता है।

$$2MnO_2 + 2H = Mn_2O_3 + H_2O$$
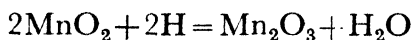
किन्तु यह कार्य बहुत धीरे-धीरे होता है। इसलिए जब इस सैल से धारा प्रवाहित की जाती है तब थोड़ी ही देर में इसका वि० वा० ब० घट जाता है। किन्तु यदि थोड़ी देर इसे आराम दिया जाय तो मैंगनीज़ डाइआक्साइड को अपना काम करने का समय मिल जाता है और वि० वा० ब० पुनः बढ़ जाता है। अतः यह सैल ऐसे मौकों पर काम में लाई जाती है जहाँ विद्युत्-धारा की आवश्यकता रह-रह कर एक आध मिनट के लिए होती हो। बराबर बहुत देर तक इससे धारा नही ली जा सकती। बिजली की घंटी बजाने के लिये यह बड़ी अच्छी है। इसका वि० वा० ब० प्रायः 1·4 वोल्ट होता है।

(5) **सूखी सैल** (Dry cell)। यह भी लैकलांश सैल का रूपान्तर है। इसमें नौसादर के विलयन के स्थान मे भी एक गाढ़ा सा द्रव मिश्रण भरा जाता है जिससे सैल को उलटा-सीधी करने पर भी वह-बह कर बाहर न निकल सके। इस मिश्रण मे लकड़ी का बुरादा, कागज का गूदा, प्लास्टर आफ पेरिस आदि के साथ नौसादर का सांद्र विलयन और थोड़ा जिंक क्लोराइड होता है। कार्बन की छड़ को बीच में रख कर कार्बन और मैंगनीज़ डाइ आक्साइड के चूर्ण को कागज़ में लपेट दिया जाता है। चूर्ण में थोड़ा गोंद का पानी डाल देने से यह जम जाता है।

अब इस कागज़ के बेलन को जस्त के पात्र में रखकर उसमें उपर्युक्त नौसादर वाला मिश्रण भर दिया जाता है (चित्र 15·05) और सैल का मुंह पिच (pitch) आदि से बंद कर दिया जाता है। इसकी रासायनिक क्रिया वही है जो लैकलाश सैल की। अतः वि० वा० ब० भी 1·4 वोल्ट ही होता है। ज़िंक-क्लोराइड मिलाने का कारण यह है कि जिसमें मिश्रण सूखने न पावे। आजकल जेब में रखने के जो बिजली के छोटे-छोटे टार्च बाजार मे बिकते हैं उनमे ऐसी ही सैलों का प्रयोग होता है।
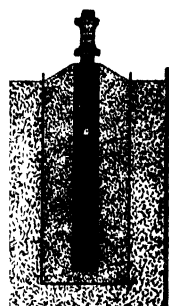
चित्र 15·05

इनका नाम सूखी सैल सच पूछिये तो ठीक नहीं है। क्योंकि यदि यह वास्तव में सूख जाय तो हमें उससे कुछ भी धारा न मिले। उसमे थोड़ा बहुत पानी रहना तो अत्यन्त आवश्यक है। कभी-कभी यह पानी बिलकुल सूख जाने से ही सैल निकम्मी हो जाती है। तब जस्त के पात्र मे बहुत से छोटे-छोटे सूराख करके सैल को पानी में थोडी देर डुबाकर रखने से वह ठीक हो सकती है। पानी सोख लेने के बाद पात्र के छेदो को मोम या चपड़ी मे बंद कर देना चाहिए।

15·08—**विद्युत्-रासायनिक अनाच्छादन वाली सैलें**। इस युक्ति का आविष्कार डेनियल (Daniell) ने 1836 मे किया था। जिस प्रकार जस्त को गंधकाम्ल (H_2SO_4) में डुबाने से वि० वा० ब० उत्पन्न होता है। ठीक उसी प्रकार जस्त को जस्त ही के लवण ज़िंक सल्फ़ेट ($ZnSO_4$) मे डुबाने से भी वि० वा० ब० उत्पन्न होता है। विद्युत्-धारा जब जस्त से अम्ल की ओर प्रवाहित होती है तब अम्ल का ऋणाविष्ट आयन SO_4^{--} जस्त की ओर जाकर ज़िंक-सल्फ़ेट बना देता है। यह विलयन में घुल जाता है जिससे जस्त की पट्टिका का भार घटता जाता है। जस्त को ज़िंक-सल्फ़ेट मे रखने से भी विद्युत्-धारा जस्त का भार घटा देती है किन्तु यदि विद्युत्-धारा की दिशा बदल दी जाय अर्थात् किसी अन्य सैल या बैटरी के द्वारा उलटी दिशा मे विद्युत् प्रवाहित किया जाय तो यह क्रिया भी उलट जाती है। अब जस्त की पट्टिका की तरफ अम्ल का धनाविष्ट आयन H^+ आयगा। और वहाँ हाइड्रोजन गैस निकलेगी और ध्रुवाच्छादन हो जायगा। किन्तु यदि अम्ल के स्थान में ज़िंक सल्फ़ेट हो तो उसका धनाविष्ट आयन Zn^{++} जस्त की पट्टिका पर पहुंचेगा। इससे वहां हाइड्रोजन के स्थान में जस्त ही जम जायगा। इसमें रासायनिक क्रिया होने पर भी जस्त की पट्टिका के पृष्ठ में परिवर्तन नहीं होता। अतः वहाँ के वि० वा० ब० में भी घट-बढ़ नहीं होती।

यही हाल अन्य धातुओं का होगा यदि उन्हे उन्ही के लवण के विलयन मे डुबाया जाय। यथा यदि तांबे की पट्टिका को नीले थूथिये (कापर सल्फ़ेट) के विलयन मे डुबाया जाय तो एक तरफ धारा प्रवाहित करने से तांबा विलयन मे जायगा और दूसरी तरफ धारा चलाने मे विलयन में से निकल कर ताबा पट्टिका पर जम जायगा। परन्तु वि० वा० ब० मे कुछ भी फर्क न पडेगा।

इससे परिणाम यह निकलता है कि यदि कोई सैल ऐसी बनाई जाय कि दो धातुएं अपने-अपने लवण के विलयन मे डूबी रहे और दोनों विलयन सरंध्र पात्र के द्वारा पृथक् रहें तो स्पष्ट है कि विद्युत्-धारा के प्रवाहित करने पर किसी भी पट्टिका के पृष्ठ पर कोई गैस आदि न निकलेगी। या तो वहाँ से धातु घुल जायगी या वहाँ धातु और जम जायगी। अतः ध्रुवाच्छादन का प्रश्न ही पैदा न होगा।

इस सिद्धान्त पर निम्न सैले बनाई गई है। इन सबका वि० वा० ब० बिलकुल स्थिर रहता है। यहाँ तक कि इनमें से अंतिम दो सैलें तो वि० वा० ब० नापने के लिये प्रमाण समझी जाती है। उन्हे प्रमाण सैले (standard cell) कहते है।

(1) **डेनियल सैल** (Daniell Cell)। इसमे सरंध्र पात्र मे गंधकाम्ल या ज़िंक सल्फ़ेट का विलयन और पारदरंजित जस्त की पट्टिका रहती है। बाहर के पात्र में नीले तूतिये का सतृप्त विलयन रहता है और उसमें तांबे की पट्टिका पड़ी रहती है (चित्र 15·06)। धारा के प्रवाहित होने पर जस्त घुलता जाता है और ताबे पर तूतिये मे मे और ताबा जमता जाता है। सैल के अन्दर धारा की दिशा जस्त मे अम्ल की तरफ होने के कारण सरध्र पात्र मे ज़िंक-सल्फेट भरने की कोई आवश्यकता नही है। गधकाम्ल से भी काम चल सकता है क्योंकि अम्ल हो या सल्फ़ेट, दोनों ही अवस्थाओं में जस्त घुलता है। जस्त पर कुछ जमता नहीं। अतः वहाँ के वि० वा० ब० में कुछ अन्तर नहीं हो सकता।

चित्र 15·06

$$Zn + H_2SO_4 = ZnSO_4 + 2H^+$$
$$CuSO_4 + 2H^+ = H_2SO_4 + Cu^{++}$$
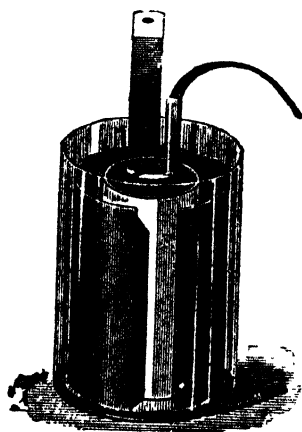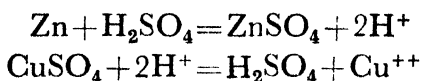
इस सैल का वि० वा० ब० गंधकाम्ल अथवा ज़िंक सल्फ़ेट के विलयन की सांद्रता (concentration) पर निर्भर रहता है। ज्यों-ज्यों यह सांद्रता बढ़ती जाती है त्यों-

त्यों वि० वा० ब० घटता जाता है। यदि ज़िंक सल्फ़ेट का विलयन संतृप्त हो तो वि० वा० ब० 1·081 वोल्ट होता है और यदि उस विलयन मे 100 ग्राम पानी में $1\frac{1}{2}$ ग्राम जिंक-सल्फ़ेट हो तो वि० वा० ब० 1·146 वोल्ट हो जाता है। यदि गधकाम्ल के विलयन मे 8% अम्ल हो तो वि० वा० ब० 1·178 वोल्ट होता है।

इस सैल मे सरध्र पात्र का काम केवल दोनों द्रवों को अलग रखने का है। किन्तु बहुत देर तक यह उन्हे पृथक् नही रख सकता। इन लवणों के अणु धीरे-धीरे उसके छेदो मे से निकल जाते है। इससे जस्त पर जाकर कुछ तांबा जमने लगता है और वहाँ स्थानीय क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। अत: यह आवश्यक है कि काम हो जाने पर सरंध्र पात्र को तूतिये के घोल मे से निकाल लिया जाय। यदि उसके अन्दर के द्रव को भी खाली करके उसमे स्वच्छ जल भर दिया जाय तो और भी अच्छा हो। ऐसा करने से पात्र के छेद साफ रहते हैं और उनमे किसी लवण के क्रिस्टल जम कर वे बन्द नही हो जाते।

इस सैल का वि० वा० ब० बहुत कुछ स्थिर रहता है। अत: किसी समय यही प्रमाण सैल के काम मे आती थी। किन्तु आगे जिन सैलों का वर्णन है वे इस मतलब के लिए इससे भी अच्छी हैं।

(2) **प्रमाण क्लार्क सैल** (Standard Clark Cell)। यह सैल लैटिमर क्लार्क की बनाई हुई है। इसमे एक ध्रुव शुद्ध अथवा पारदरंजित जस्त का होता है और एक ध्रुव शुद्ध पारे का। जस्त ज़िंक-सल्फ़ेट के सान्द्र विलयन मे रखा जाता है और पारे के पास शुद्ध मरक्यूरस-सल्फ़ेट की पिट्ठी होती है।

$$Zn^{++} + Hg_2SO_4 = ZnSO_4 + 2Hg^+$$
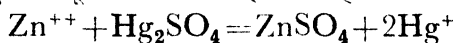
चित्र 15·07 मे क्लार्क सैल की आकृति और उसके अवयव दिखलाये गये हैं। इसका वि० वा० ब० 15°C के टेम्परेचर पर 1·433 वोल्ट होता है और यदि उसका टेम्परेचर 15° से भिन्न T° हो तो वि० वा० ब०

$$e = 1{\cdot}433 - {\cdot}00119\,(T - 15) \text{ वोल्ट}$$

इस सैल के वि० वा० ब० का टेम्परेचर-गुणांक (temperature coefficient) बहुत बड़ा है। अत: टेम्परेचर के परिवर्तन से इसका वि० वा० ब० बहुत बदल जाता है।
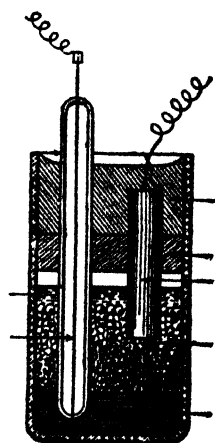
चित्र 15·07

इसका कारण यह है कि ज़िंक-सल्फेट की विलेयता पर टेम्परेचर का प्रभाव बहुत अधिक होता है। अत आजकल इसके स्थान में वैस्टन कैडमियम सैल ही का प्रचार अधिक हो गया है।

(3) **वैस्टन कैडमियम सैल** (Weston Cadmium Cell)। इसमें और क्लार्क सैल में अन्तर यही है कि इसमें जस्त की छड के स्थान मे शुद्ध कैडमियम और पारद का मिश्रण काम मे आता है और ज़िंक-सल्फेट के स्थान मे कैडमियम-सल्फेट।

$$Cd^{++} + Hg_2SO_4 = CdSO_4 + 2Hg^+$$
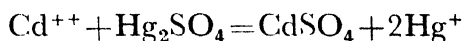
चित्र 15 08 मे इस सैल का प्रचलित रूप दिखाया गया है। इसका वि० वा० ब० 20°C पर 1 0183 होता है और अन्य टेम्परेचर पर $T°$ पर

$$e = 1{\cdot}0183 - {\cdot}000041\ (T - 20)\ \text{वोल्ट}$$
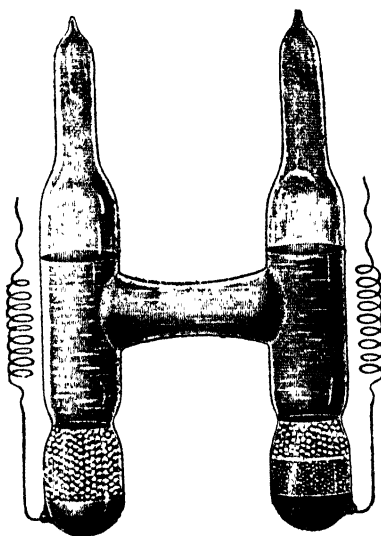
चित्र 15·08

क्लार्क और कैडमियम सैल के संबंध मे यह कह देना आवश्यक है कि य विद्युत्-धारा उत्पन्न करने के लिये नहीं बनाई जाती है। इनमे जितना सामान होता है वह इतना कम होता है कि थोड़ी देर तक विद्युत्-धारा प्रवाहित होने से ही वह सब खर्च हो जाता है। इनका मुख्य काम वि० वा० ब० या विभवान्तर के नाप के लिये प्रमाण

(standard) उपस्थित करना है। इनसे तुलना करके किसी भी विभवान्तर का परिमाण नापा जा सकता है। अतः इनके प्रयोग में इस बात का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है कि इनके परिपथ में प्रतिरोध सदैव इतना ज्यादा रहे कि धारा बहुत ही क्षीण बह सके। यह क्षीण धारा भी एक दो सैकंड से अधिक न बहने देना चाहिये। यह प्रतिरोध बहुधा इन सैलों के बाहिरी बक्स में रखा रहता है और सैल के एक ध्रुव से सदा जुड़ा ही रहता है। अतः वोल्टमापी से इनका वि० वा० ब० नापा नहीं जा सकता।

15·09—**सैलों का आन्तरिक प्रतिरोध** (Internal Resistance)। यह तो प्रगट ही है कि प्रत्येक सैल का कुछ न कुछ प्रतिरोध होता है। यह धारा के मार्ग के विस्तार पर बहुत कुछ निर्भर है। यदि धन-पट्टिका और ऋण-पट्टिका दोनों खूब लम्बी चौड़ी हों, उनके बीच में जो सरध्र पात्र हो उसके छिद्र साफ़ हों और पट्टिकाओं की दूरी भी अधिक न हो तो यह प्रतिरोध बहुत कम होता है। छोटे आकार की सैल में छोटी-छोटी पट्टिकाओं के कारण प्रतिरोध अधिक हो जाता है। सैल में प्रयुक्त विलयनों की सान्द्रता पर भी प्रतिरोध निर्भर होता है। ग्रोव और बुन्सन सैल का प्रतिरोध बहुत कम होता है। अतः उनसे प्रबल धारा प्रवाहित की जा सकती है। लैकलांश सैल में मैंगनीज़ डाइआक्साइड का चूर्ण अच्छा चालक नहीं है। अतः उसका प्रतिरोध अधिक होता है। सूखी सैल का प्रतिरोध तो कभी कभी बहुत ही अधिक हो जाता है।

15·10—**सैल के वि० वा० ब० का परिमाण**। सैल में होने वाली रासायनिक क्रिया के द्वारा वि०वा०ब० का परिकलन निम्न प्रकार हो सकता है :—

जब जस्त गंधकाम्ल में घुलता है तब कुछ ऊष्मा भी उत्पन्न होती है। अतः इसका पूर्ण समीकरण यों लिखा जाना चाहिए :—

$$Zn^{++}+H_2SO_4=ZnSO_4+2H^++109{,}200 \text{ कलारी}$$
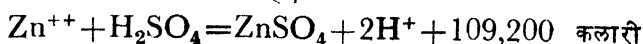
अर्थात् एक ग्राम-अणु जस्त पर गंधकाम्ल की क्रिया से 109,200 कलारी ऊष्मा उत्पन्न होती है।

इसी प्रकार $Cu^{++}+H_2SO_4=CuSO_4+2H^++57{,}800$ कलारी

अथवा $CuSO_4+2H^+=H_2SO_4+Cu^{++}-57{,}800$ कलारी
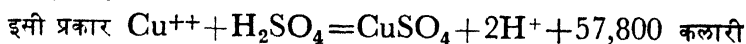
अतः डेनियल सैल में जब 65 ग्राम जस्त घुल जाता है और 63 ग्राम तांबा धन-ध्रुव पर जम जाता है तब उत्पन्न हुई

$$\text{ऊष्मा} =109{,}200-57{,}800=51{,}400 \text{ कलारी}$$
$$=51{,}400\times 4{\cdot}18\times 10^7 \text{ अर्ग}$$

सैल में यह ऊर्जा ऊष्मा के रूप में प्रगट नही होती किन्तु विद्युत्-धारा प्रवाहित करने में व्यय होती है ।

यह प्रगट है कि यदि विद्युत् की मात्रा q को विभवान्तर V में स्थानान्तरित जाय तो आवश्यक वैद्युत ऊर्जा होगी $W = q.V.$

अनु० 21·04 में बताया जायगा कि जस्त अथवा तांबे के समान किसी भी द्वि-संयोजक (divalent) आयन के एक ग्राम-अणु के द्वारा स्थानान्तरित विद्युत्

$q = 2 \times 96{,}400$ कूलंब $= 2 \times 96400 \times 10^{-1}$ स०ग०स० मात्रक

और यदि सैल का वि० वा० ब० E वोल्ट $= E \times 10^{8}$ स०ग०स० मात्रक हो तो इस स्थानान्तरण के लिये आवश्यक ऊर्जा होगी

$$W = (E \times 10^{8})(2 \times 96{,}400 \times 10^{-1}) \text{ अर्ग}$$

$$\therefore \quad E \times 2 \times 96400 \times 10^{7} = 51{,}400 \times 4{\cdot}18 \times 10^{7}$$

$$\therefore \quad E = \frac{51{,}400 \times 4{\cdot}18}{2 \times 96400} = 1{\cdot}1 \text{ वोल्ट}$$

प्रयोगात्मक नाप के द्वारा भी डेनियल सैल का वि० वा० ब० इतना ही पाया जाता है । इसलिए हम कह सकते हैं कि इस सैल की वैद्युत ऊर्जा रासायनिक क्रिया की ऊर्जा ही से उत्पन्न होती है ।

अन्य सैलों में यह परिकलन ठीक नही उतरता और वि० वा० ब० का मूल्य बिलकुल सही नहीं प्राप्त होता । बात यह है कि उनमे सब ऊर्जा धारा को प्रवाहित करने में खर्च नही होती । कुछ थोड़ी सी अन्य प्रकार भी खर्च हो जाती है । यही कारण है कि उनमे वि० वा० ब० का मान टेम्परेचर के साथ बदलता भी है । डेनियल सैल के वि० वा० ब० पर टेम्परेचर का असर प्राय: कुछ भी नहीं होता । हैल्महोल्ट्ज़ ने इस प्रश्न की सूक्ष्म विवेचना करके ताप-विद्युत् के नियमों के द्वारा ठीक-ठीक परिकलन की विधि मालूम की थी । किन्तु उसका वर्णन यहाँ करने की आवश्यकता नहीं है ।

15·11—**संचायक सैल** (Accumulator) । बहुधा बिजली के कारखानों में इस बात की आवश्यकता होती है कि डायनमो चलाये बिना ही हमें विद्युत्-धारा प्राप्त हो सके । इसके लिये प्राथमिक सैलों की बैटरी का उपयोग तो संभव नहीं है क्योंकि उनमें जस्त का खर्च होता है और इस प्रकार उत्पन्न विद्युत्-धारा बहुत मंहगी पड़ती है । किन्तु एक दूसरी प्रकार की सैल से यह कार्य अच्छी तरह सम्पादित होता है । इसे द्वैतीयिक सैल (secondary cell) अथवा संचायक

सैल (accumulator या storage cell) कहते हैं। पहिले इसमें डायनमो की धारा प्रवाहित करना पड़ता है। यह धारा मानो इसमें संचित हो जाती है और फिर जब चाहें तब हम उस का उपयोग कर सकते हैं। इसका रहस्य निम्न-लिखित प्रयोग से समझ में आ जायगा।

कांच के पात्र में तनु गंधकाम्ल भर दीजिये और उसमें दो कार्बन-पट्टिकाएं डाल दीजिये। इन्हें विद्युदग्र बनाकर धारा प्रवाहित करने पर एक पट्टिका पर हाइड्रोजन के बुलबुले निकलेंगे और दूसरी पर आक्सिजन के। इनमें से कुछ बुलबुले पट्टिकाओं पर चिपके रह जावेंगे। अब यदि धारा बन्द कर दी जाय और इन पट्टिकाओं को आपस में तार द्वारा जोड़ दिया जाय तो वोल्टीय सैल के ही समान इस तार में विद्युत्धारा प्रवाहित होने लगेगी। काफ़ी अधिक प्रतिरोध वाले वोल्टमापी से नापने पर अब इन पट्टिकाओं का विभवान्तर प्रायः 1 वोल्ट मिलेगा। ध्रुवाच्छादन के सम्बन्ध में इस क्रिया का वर्णन अनु० 15·02 मे किया जा चुका है। इस सैल मे एक बार धारा चलाने पर विद्युत् विश्लेषण के कारण विद्युदग्रों पर हाइड्रोजन और आक्सिजन एकत्रित हो जाती हैं और तब यह सैल वास्तव मे जस्त और तांबे की वोल्टीय सैल ही के समान हाइड्रोजन और आक्सिजन की सैल बन जाती है। जो धारा हमने इसमें पहले प्रवाहित की थी उसकी ऊर्जा ने रासायनिक रूप धारण कर लिया और इस सैल के ध्रुवो को उत्पन्न कर दिया। जब इस सैल से हम विपरीत धारा प्राप्त करते हैं तब इसकी आक्सिजन और हाइड्रोजन पुनः अम्ल मे विलीन हो जाती हैं। किन्तु यदि हम इसकी अंतरंग क्रिया पर इतना ग़ौर न करे तो कहा जा सकता है कि जो धारा हमने इसमें पहले प्रवाहित की थी उसकी वैद्युत ऊर्जा इसमें संचित हो गई और वही पुनः विद्युत्धारा के रूप मे प्रगट हो गई। यही कारण है कि इस प्रकार की सैल का नाम सचायक सैल रखा गया।

यद्यपि कार्य प्रणाली समझने के लिए उपर्युक्त गैस-सैल अच्छी है किन्तु इससे हम कुछ काम नहीं ले सकते। क्योंकि बहुत ही थोडी गैस कार्बन-पट्टिकाओं पर रह सकती है। इस सैल का वि० वा० ब० बड़ी शीघ्रता मे नष्ट हो जाता है। किन्तु 1650 में प्लान्टे (Plante) ने जो संचायक सैल तैयार की उसमें यह दोष नहीं है। इसमें उन्होने गंधकाम्ल में शुद्ध सीसे (Pb) की दो पट्टिकाएँ रखी। विद्युत्धारा इसमें प्रवाहित करने से इसमें भी हाइड्रोजन और आक्सिजन उत्पन्न होंगी। हाइड्रोजन तो बुलबुले बनकर निकल जायगी किन्तु आक्सिजन सीसे पर रासायनिक क्रिया करके उसका आक्साइड PbO_2 बना देगी। इसका गहरा लाल रंग धनाग्र पर स्पष्ट दिखलाई देने लगेगा। यह क्रिया पूरी हो जाने पर सैल में एक पट्टिका PbO_2 की हो जायगी और एक शुद्ध सीसे की। इन दोनों का विभवान्तर प्रायः 2 वोल्ट रहेगा,

और जब तक धनाग्र पर सीसे का आक्साइड रहेगा तब तक यह सैल बराबर धारा देती रहेगी। जिस समय इससे वोल्टीय सैल का सा काम लिया जायगा उस समय रासायनिक क्रिया उलटी होगी। हाइड्रोजन आकर PbO_2 का पुनः सीसा बना देगी और SO_4 ऋणाग्र पर पहुच कर सीसे को $PbSO_4$ का रूप दे देगा। अब यदि पुनः डायनमो की धारा चलाई जाय तो पुनः धन-ध्रुव पर PbO_2 और ऋण-ध्रुव पर सीसा बन जायगा। एक बार आविष्ट (charge) कर देने पर यह कई दिनों तक काम करती रह सकती है।

किन्तु सीसे की पट्टिका के पृष्ठ पर कितना PbO_2 जम सकता है। जहाँ पतली-सी तह इसकी जमी कि यह क्रिया बन्द हो जाती है। इसलिए अधिक ऊर्जा इसमें संचित नहीं हो सकती। प्लान्टे ने देखा कि यदि कई बार इसे आविष्ट किया जाय और कई बार इसकी धारा खर्च की जाय अर्थात् यदि बार-बार धन-ध्रुव पर PbO_2 जमाया जाय और बार-बार उसे सीसे के रूप में परिणत किया जाय तो यह सैल अधिक देर तक काम करने लगती है। इसकी संचय-क्षमता बढ़ जाती है। संभव है कि इसका कारण यह हो कि बार-बार की रासायनिक क्रिया के कारण सीसे का पृष्ठ स्पंज के समान सरंध्र हो जाता हो और अधिक क्षेत्रफल पर रासायनिक क्रिया हो सकती हो। अस्तु प्लान्टे ने इसी युक्ति से काम लिया।

1881 मे फ़ावरे (Faure) ने युक्ति निकाली कि दोनों सीसे की पट्टिकाओं पर पहिले ही से PbO_2 का प्रलेप दे दिया। इसी क्रिया का आधुनिक रूप यह है कि सीसे की पट्टिका के स्थान में सीसे की एक मोटी जाली ली जाती है। उसके छिद्रों में सीसे के लाल आक्साइड के चूर्ण की गंधकाम्ल के साथ पिष्टी बना-कर दबा-दबा कर भर दी जाती है। मधुमक्खी के छत्ते के समान इस की आकृति हो जाती है और अम्ल को क्रिया करने के लिए बहुत अधिक क्षेत्रफल प्राप्त हो जाता है। धन-पट्टिकाओं और ऋण-पट्टिकाओं के बनाने की क्रिया में थोड़ा भेद है।

आजकल दोनों ही विधियों का प्रचार है, और कई सैलें तो ऐसी भी होती हैं जिनमें धन-पट्टिका प्लान्टे की विधि से बनी होती है और ऋण-पट्टिका फ़ावरे की विधि से।

इसकी रासायनिक क्रिया निम्न समीकरणों के द्वारा व्यक्त हो सकती है :—

आविष्ट करते समय :—

धन-पट्टिका पर— $PbSO_4+SO_4''+2H_2O=PbO_2+2H_2SO_4$

ऋण-पट्टिका पर— $PbSO_4+2H^+=Pb+H_2SO_4$

अनाविष्ट करते समय—

धन-पट्टिका पर— $PbO_2+2H^++H_2SO_4=PbSO_4+2H_2O$

ऋण-पट्टिका पर— $Pb+SO_4''=PbSO_4$
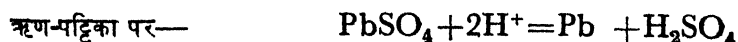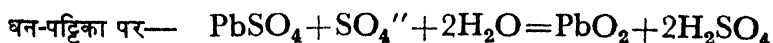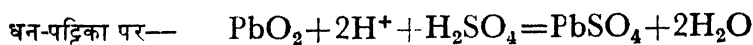
इन रासायनिक समीकरणों से यह भी प्रगट है कि आविष्ट होते समय गंधकाम्ल बनता है। इसलिए सैल के द्रव का घनत्व बढ़ता जाता है। अनाविष्ट होते समय विपरीत क्रिया होती है और घनत्व घटता है। यह घनत्व इस सैल के आवेश की स्थिति का बहुत अच्छा द्योतक है। पूर्ण आविष्ट स्थिति में गंधकाम्ल का घनत्व 1·21 रखा जाता है। इससे धारा लेते-लेते यह घनत्व घट कर 1·17 तक पहुँच जाता है। इससे कम घनत्व न होने देना चाहिए अन्यथा एक प्रकार का अविलेय सल्फ़ेट बनने लगता है। यह सैल की सारी क्रिया को रोक देता है।

15·12—**सीसे की संचायक सैल का विभवत्व**। लेखा-चित्र 15·09 तथा 15·10 में आविष्ट करते समय और अनाविष्ट करते समय इसके ध्रुवों
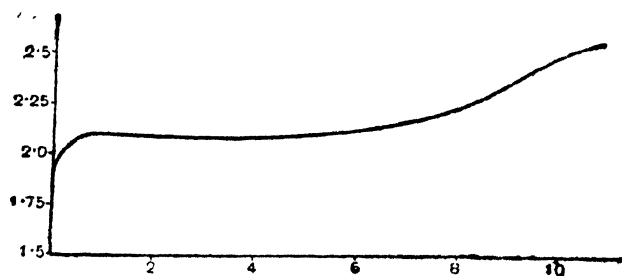
चित्र 15·09

का विभवान्तर दिखलाया गया है। आविष्ट करते समय प्रायः 2 वोल्ट से बढ़ते-

चित्र 15·10
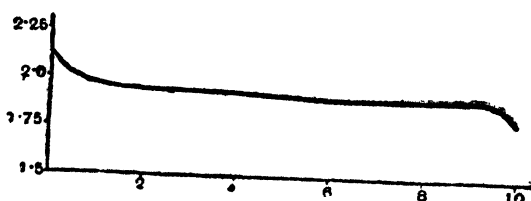
बढ़ते विभवत्व 2·5-2·7 वोल्ट तक बढ़ जाता है। आविष्ट करने वाली धारा को

रोकने के थोड़ी ही देर बाद यह विभवत्व घट कर प्राय: 2·2 वोल्ट हो जाता है। तब इससे धारा प्रवाहित करना प्रारम्भ करने पर पहिले यह विभवत्व शीघ्रता से घट कर 2·0 वोल्ट हो जाता है किन्तु जब तक सैल क़रीब क़रीब अनाविष्ट न हो जाय तब तक इसमें और कमी नहीं होती। अन्त में पुन: शीघ्रता से घट कर 1·8 वोल्ट तक पहुँच जाता है। विभवत्व को इससे कम कभी न होने देना चाहिए।

15·13—**संचायक सैल की धारिता**। पूर्णतया अनाविष्ट होने में जितने घंटे का समय लगे और उस समय में धारा का जो औसत मान अम्पीयरों में हो इनके गुणनफल को सैल की धारिता कहते हैं और इसका मात्रक अम्पीयर-घंटा है। यथा यदि कोई सैल 10 अम्पीयर की धारा 20 घंटे तक दे सके तो उसकी धारिता 200 अम्पीयर-घंटे की है। इस नाप का संबन्ध वास्तव में सैल में से प्राप्त विद्युत् के परिमाण से है। एक अम्पीयर की धारा एक सैकंड में एक कूलम्ब विद्युत् का प्रवाह करती है। अत: एक घंटे में वह 3600 कूलम्ब विद्युत् का प्रवाह करेगी। अत: 1 अम्पीयर-घंटा = 3600 कूलम्ब।

यदि अनविष्ट करने का समय कम कर दिया जाय तो धारा अधिक प्रबल प्राप्त हो सकती है क्योंकि धारिता तो उतनी ही रहेगी। वास्तव में यह थोड़ी सी घट जाती है।

यह स्पष्ट है कि जितने अधिक क्षेत्रफल पर गंधकाम्ल अपना कार्य कर सकेगा उतनी ही धारिता भी अधिक होगी। अत: एक ही सैल में कई पट्टिकायें लगा दी जाती हैं। सब धन-पट्टिकाएं आपस में जुड़ी रहती हैं और सब ऋण-पट्टिकाएँ भी परस्पर सम्बद्ध रहती हैं। ये इस प्रकार रखी जाती हैं कि प्रत्येक धन-पट्टिका के दोनों ओर ऋण-पट्टिकाएँ रहती हैं और इसी प्रकार ऋण-पट्टिकाओं के दोनों ओर धन-पट्टिकाएँ। इस आयोजन से पट्टिकाओं के दोनों पृष्ठ काम में आ जाते हैं और प्रतिरोध भी बहुत घट जाता है। चित्र 15·11 में ऋण और धन पट्टिकाओं को रखने की विधि दिखलाई गई है। बीच-बीच में लकड़ी, एबोनाइट अथवा अन्य अचालक पदार्थ की पतली जाली के पृथक्कारी टुकड़े (separators) लगा दिये जाते हैं ताकि पट्टिकाएं परस्पर स्पर्श न कर सकें।
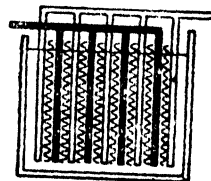
चित्र 15·11

15·14—**एडिसन (Edison) की क्षारीय संचायक सैल (Alkaline Accumulator)**। इसमें धन-ध्रुव निकल का होता है और उस पर

निकल का हाइड्राक्साइड जमाया हुआ रहता है। ऋण-ध्रुव लोहे का होता है। द्रव कास्टिक पोटाश K O H का विलयन रहता है। इसका वि० वा० ब० प्रायः 1·2 वोल्ट होता है किन्तु यह सीसे की सैल के समान स्थिर नहीं रहता। इस सैल में कई बातें अच्छी हैं :—

(1) यह सीसे की सैल की अपेक्षा बहुत हलकी होती है।

(2) इसमें से गंधकाम्ल का वाष्प निकल कर पास की वस्तुओं को ख़राब नहीं करता।

(3) यह जल्दी बिगड़ती नही। इसमें से चाहे प्रबल धारा लीजिये चाहे क्षीण, चाहे इसके ध्रुवों को परस्पर स्पर्श भी करा दीजिये, चाहे आविष्ट करते समय उलटी धारा चला दीजिये तब भी इसे कुछ विशेष हानि नहीं पहुँचती। सीसे की सैल तो ऐसी अवस्था में तुरन्त नष्ट हो जाती है।

किन्तु एक तो इसका वि० वा० ब० कम होता है और दूसरे इसमें ऊर्जा का अपव्यय भी बहुत होता है। सीसे की सैल में जो ऊर्जा डायनमो की धारा के द्वारा घुसाई जाती है उसका प्रायः 80% भाग लाभदायक होता है किन्तु एडिसन सैल में प्रायः 50% से अधिक ऊर्जा व्यर्थ नष्ट हो जाती है।

परिच्छेद 16

विद्युत्-धारा के चुम्बकीय प्रभाव

16·01—**ओरस्टेड (Oersted) का आविष्कार।** विद्युत् धारा का चुम्बकीय प्रभाव दिखलाने के लिए जिस प्रयोग का वर्णन ऊपर किया गया है वह सबसे पहले डेनमार्क देश के कोपनहेगन नगर में ओरस्टेड (Oersted) ने 1820 मे किया था। यही अत्यन्त सरल-सा प्रयोग विद्युत् धारा के आधुनिक चमत्कारों का जन्मदाता है। इसी में से पहले-पहल यह ज्ञात हुआ कि चुम्बकत्व और विद्युत् का कुछ परस्पर सम्बन्ध है।

इस प्रयोग में हम देख चुके हैं कि यदि धारावाहक तार दिक्-सूची के ऊपर उत्तर दक्षिण रखा हो और उसमें विद्युत्-धारा दक्षिण से उत्तर की ओर चल रही हो तो चुम्बक का उत्तर ध्रुव पश्चिम की तरफ घूम जाता है। यदि धारा की दिशा उत्तर से दक्षिण की ओर कर दी जाय तो वही उत्तर-ध्रुव पूर्व की तरफ घूम जायगा। यदि धारा चुम्बक के नीचे से बहे तो चुम्बक के ऊपर उसका प्रभाव भी उल्टा होता है। यदि तार दिक्-सूची के ऊपर या नीचे न रख कर उसके पार्श्व में पूर्व की ओर रखा जाय और यदि दिक्-सूची के ध्रुवों को क्षैतिज तल से ऊपर-नीचे उठने की कुछ स्वतन्त्रता हो तो उत्तर से दक्षिण जाने वाली धारा उत्तर-ध्रुव को कुछ नीचे झुका देगी। यदि तार पश्चिम की ओर स्थित हो तो उत्तर-ध्रुव ऊँचा उठ जायगा।

16·02—**अम्पीयर का नियम (Ampere's Rule)।** फ्रांस देश के विद्वान अम्पीयर (Ampere) ने चुम्बक-ध्रुव की इन विभिन्न गतियों को याद रखने के
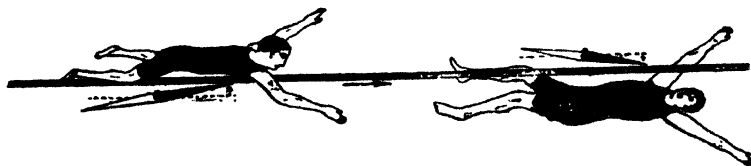
चित्र 16·01

लिए एक बड़ा अच्छा नियम बतलाया है। मान लीजिये कि कोई मनुष्य तार में की विद्युत्-धारा के साथ बहता हुआ जा रहा है। उसका सिर आगे की तरफ है अर्थात्

धारा की दिशा उसके पाँव से सिर की तरफ है और उसका मुख चुम्बक की तरफ है। ऐसी दशा में वह मनुष्य देखेगा कि चुम्बक का उत्तर-ध्रुव सदैव उसके बाँयें हाथ की ओर घूमता है (चित्र 16·01)। चाहे तार चुम्बक के ऊपर हो या नीचे अथवा पार्श्व में, चाहे धारा एक तरफ प्रवाहित हो या दूसरी तरफ, यह नियम प्रत्येक अवस्था में उत्तर-ध्रुव की गति को ठीक ठीक बतला देगा। इस नियम की सहायता से उत्तर-ध्रुव की गति को देख कर हम बड़ी आसानी से विद्युत्-धारा की दिशा मालूम कर सकते हैं।

16·03—**विद्युत्-धारा का चुम्बकीय क्षेत्र**। ओरस्टेड के प्रयोग से स्पष्ट मालूम होता है कि विद्युत्-धारा से एक चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न हो जाता है। उत्तर-ध्रुव जिस दिशा में हटता है वही इस क्षेत्र के चुम्बकीय बल की दिशा है। चित्र 16·02 में भिन्न भिन्न स्थानोंपर धारा के चारों ओर इस बल की दिशा दिखलाई गई है। इससे मालूम होता है कि बल रेखाएँ धारावाही तार के चारों ओर वृत्ताकार होती हैं।
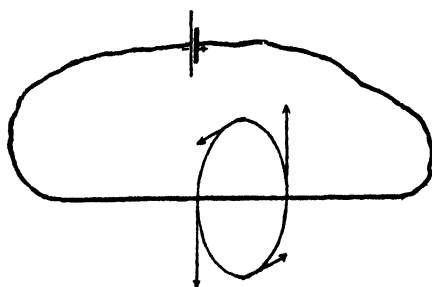
चित्र 16·02

इन बल-रेखाओं को हम प्रत्यक्ष भी देख सकते हैं। मोटे से गत्ते को क्षैतिजत: किसी उपष्टम्भ में पकड़ लो। इसके बीच में एक छेद करलो। उसमें से ताँबे का तार ऊर्ध्वाधर चला दो। गत्ते पर लोहे का बुरादा बुरका दो। तार में से प्रबल विद्युत्-धारा चला कर गत्ते को उंगली से ठपठपा दो। बुरादा तार के चारों ओर वृत्ताकार जम जायगा (चित्र 16·03)।

छोटी सी दिक्-सूची को तार के चारों तरफ भिन्न भिन्न स्थानों पर रख कर भी बल-रेखाएँ खींची जा सकती हैं। इस प्रकार खींचने से यह भी ज्ञात हो जायगा कि यदि धारा ऊपर से नीचे की ओर आ रही हो तो ऊपर से देखने पर इन रेखाओं की दिशा वही मालूम होगी जो घड़ियों की सुइयों के चलने की होती है।

इस बात से हम यह नियम बना सकते हैं कि यदि हम तार को अपने सामने इस प्रकार रखें कि विद्युत्-धारा हमें अपने पास से दूर जाती हुई दिखलाई दे तो उसकी चुम्बकीय बल-रेखाएँ भी हमें घड़ी की सुइयों के समान दक्षिणावर्ती (right-handed) दिखलाई देंगी।
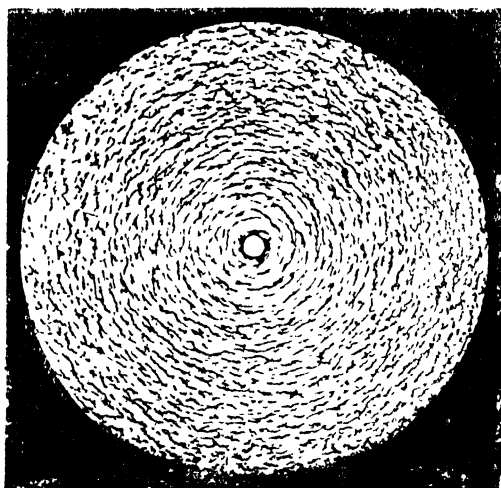
चित्र 16·03

16·04—**पेच-नियम** (Cork-Screw Rule)। मैक्सवेल ने इस नियम को याद रखने के लिए पेच का उदाहरण दिया है। लकड़ी को सामने रख कर जब हम पेच उसमें घुसाना चाहते हैं तो उसे उसी प्रकार घुमाना पड़ता है जिस प्रकार घड़ी की सुइयाँ घूमती हैं।

अतः यदि ऐसी कल्पना की जाय कि आप पेंच को विद्युत्-धारा की दिशा में घुसा रहे हैं तो जिस दिशा में आपको अपना हाथ घुमाना पड़ेगा वही दिशा बल-रेखाओं की भी होगी (चित्र 16·04)। विद्युत्-धारा के इस चुम्बकीय क्षेत्र में और चुम्बक के क्षेत्र में एक बात को छोड़ कर और कोई भी अन्तर नहीं है। जितने भी गुण चुम्बक के द्वारा उत्पन्न क्षेत्र में विद्यमान हैं वे सब इस विद्युत्-धारा से उत्पन्न क्षेत्र में भी हैं। किन्तु भेद यह है कि इस क्षेत्र की बल-रेखाएँ अन्त-हीन हैं। इन वृत्ताकार बल-रेखाओं का न कहीं आरम्भ है और न कहीं अन्त। परिच्छेद 2 में हम देख आये हैं कि प्रत्येक बल-रेखा किसी उत्तर-ध्रुव से प्रारम्भ होती है और किसी दक्षिण-ध्रुव पर उसका अन्त हो जाता है। किन्तु इन बल-रेखाओं में ऐसा नहीं

होता। वास्तव में विद्युत्-धारा के चुम्बकीय क्षेत्र में कोई उत्तर या दक्षिण ध्रुव है ही नहीं जहाँ से ये रेखाएँ प्रारम्भ होती हों। यह सच है कि यदि किसी ताँबे के तार को लोहे के बुरादे में बोर कर उसमें धारा चलाई चाय तो बुरादा तार से चिपक जाता
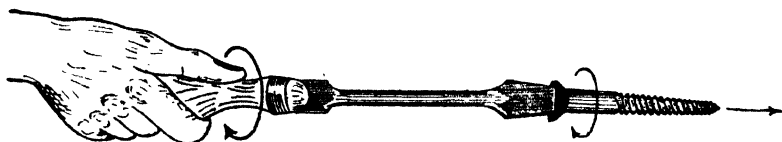
चित्र 16·04

है। किन्तु गौर से देखने पर मालूम होगा कि बुरादे के कण इस तार पर कुछ दूसरे ही प्रकार चिपके हैं। उनका कोई सिरा तार को नही छूता। उनका मध्य भाग ही तार से चिपक रहा है। तार में ध्रुव-हीन चुम्बकत्व है। इस तार की तुलना हम किसी भी प्राकृतिक या कृत्रिम चुम्बक से नही कर सकते।

दूसरी बात यह है कि यदि हमें किसी प्रकार अकेला उत्तर-ध्रुव मिल जाय और उसे हम विद्युत्-धारा वाही तार के निकट रख दें तो वह अवश्य ही बल रेखा पर चक्कर लगायगा। चुम्बक के क्षेत्रों मे तो वह उत्तर-ध्रुव से दौड़ कर दक्षिण-ध्रुव पर जायगा और वहाँ चिपक कर रह जायगा। किन्तु धारा के क्षेत्र में वह निरन्तर तार के चारों ओर घूमता ही रहेगा। जब तक धारा चलती रहेगी यह भी बराबर उसकी परिक्रमा करता रहेगा। किन्तु धारा के रुकते ही इसके चक्कर भी रुक जायेंगे। इस प्रयोग मे कठिनाई यह है कि उत्तर-ध्रुव के साथ सदा दक्षिण-ध्रुव भी लगा ही रहता है। यह दक्षिण-ध्रुव विपरीत दिशा में घूमने का प्रयत्न करता है। फल यह होता है कि चुम्बक घूम कर बल-रेखा-वृत्त की स्पर्श-रेखा पर स्थित हो जाता है। किन्तु तब भी यह अकेले ध्रुव की कल्पना दोनों प्रकार के चुम्बकीय क्षेत्रों का भेद समझने में बड़ी सहायता करती है।

16·05—**विद्युत्-धारा के बल की दिशा**। उपर्युक्त प्रयोगों से स्पष्ट हो गया होगा कि धारा के निकट यदि कोई चुम्बकीय ध्रुव रखा जावे तो धारा उस पर जो बल लगायगी उसकी दिशा धारा की दिशा से लम्ब-रूप होगी और ध्रुव में से धारा पर जो लम्ब गिराया जायगा उससे भी लम्ब-रूप होगी। चित्र 16·05 में ध्रुव **क** पर रखा है तथा धारा **ध ध** और रेखा **ग क** दोनों से चुम्बकीय बल **क ख** समकोण बनाता है।
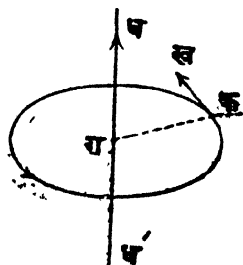
चित्र 16·05

16·06—**विद्युत्-धारा के चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता** (Intensity)। बल-रेखाओं के वृत्ताकार होने से ही प्रकट है कि धारावाही तार के चारों ओर चुम्बकीय क्षेत्र संमित (symmetrical) होता है। अतः यह भी स्पष्ट है कि यदि इस तार के चारों ओर कोई वृत्त खीचा जाय तो उसके सब ही विन्दुओं पर क्षेत्र की तीव्रता परिमाण में बिलकुल बराबर होगी। यह भी समझने में कठिनाई नही हो सकती कि क्षेत्र की तीव्रता धारा की दूरी के साथ-साथ घटती ही जायगी। तार के निकट क्षेत्र प्रबल होगा और ज्यों-ज्यों हम दूर हटते जायगें क्षेत्र भी क्षीण होता जायगा।

16·07—**वृत्ताकार धारा का चुम्बकीय क्षेत्र**। जिस तार में विद्युत्-धारा प्रवाहित हो रही हो यदि वह वृत्ताकार हो तो उसकी बल-रेखाएँ चित्र 16·06 में दिखलाई गई हैं। ये भी लोहे के बुरादे के द्वारा स्पष्ट देखी जा सकती हैं। यदि रेशम-वेष्टित तारको कई वार लपेट कर एक कुंडली (coil) बना ली जाय तो इस कुंडली के प्रत्येक फेरे का चुम्बकीय क्षेत्र भी ठीक उपर्युक्त क्षेत्र के समान ही बनेगा, क्योंकि प्रत्येक फेरे में उतनी ही धारा उसी दिशा में बहेगी। परिणाम यह होगा कि चुम्बकीय बल की दिशा तो वही रहेगी किन्तु उसका परिमाण सर्वत्र बढ़ जायगा। जितने फेरे कुंडली में होंगे उतनी ही गुणी क्षेत्र की तीव्रता भी होगी।
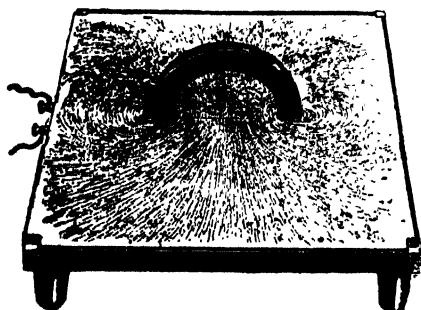
चित्र 16·06

इस बात की परीक्षा हम दे ला राइव (de la Rive) की तैरने वाली सैल के द्वारा कर सकते हैं। चित्र 16·07 में बडे बर्तन में गंधक का अम्ल भरा है। एक बड़े काग में जस्त और ताँबे की दो पट्टिकाएँ लगा कर इसमें तैरा दी गयी हैं। ताँबे के तार को वृत्ताकार कई बार लपेट कर एक चपटी कुंडली बना ली गयी है। और उसके तार का एक सिरा जस्त से और दूसरा ताँबे से जोड़ दिया गया है। कुंडली का तल ऊर्ध्वाधर है। इस प्रकार विद्युत्-धारा कुंडली में वाणांकित दिशा में बहेगी। आप देखेंगे कि इस प्रकार व्यवस्था कर देने पर यह कुंडली आप ही आप घूम कर अपना तल याम्योत्तर से समकोणिक बना लेगी। चित्र 16·07 में इसका जो पृष्ठ सामने की ओर है वह उत्तर की ओर हो जायगा। यदि इसके उत्तर वाले पृष्ठ के निकट किसी दंड-चुम्बक का दक्षिण ध्रुव लावें तो यह आकर्षित हो जायगी

और उत्तर-ध्रुव से परार्कषित हो जायगी। कुंडली पकड़ कर यदि उत्तर-ध्रुव उसके बीच में घुसा कर दूसरी तरफ निकाल दिया जाय और तब कुंडली को छोड़ दें तो वह बड़े जोर से प्रतिकर्षित हो कर चुम्बक से दूर भाग जायगी। तब घूम कर अपना दक्षिण पृष्ठ सम्मुख कर देगी और आर्कषित होकर चुम्बक को अपने में घुसा लेगी।

अस्तु हम वृत्ताकार धारा के बीच के स्थान को एक प्रकार का चुम्बक समझ सकते हैं। इस चुम्बक में और साधारण चुम्बको में सबसे बडा भेद यही है कि इसकी
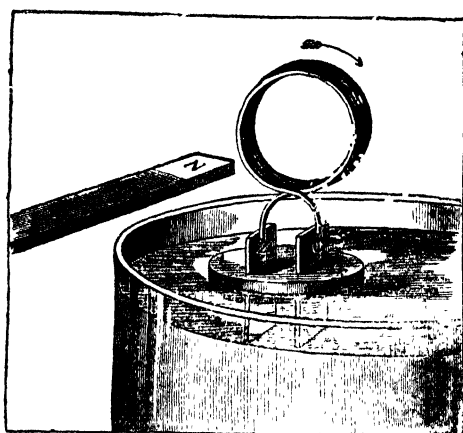
चित्र 16·07

लम्बाई तो बहुत थोड़ी है और ध्रुवों का क्षेत्रफल बहुत बड़ा। किन्तु इस्पात के भी ऐसे चुम्बकों की कल्पना हो सकती है और वे बनाये जा सकते हैं। मान लीजिये कि खूब पतले इस्पात के तार के 5 मम० लम्बे टुकड़े काट लिये गये और प्रत्येक को चुम्बकित कर दिया गया। तब इन टुकड़ों को बराबर इस प्रकार जमाया कि सबके उत्तर-ध्रुव एक तल में और दक्षिणध्रुव दूसरे तल में हो गये। यदि इन टुकड़ों की संख्या बहुत काफ़ी हो तो इस प्रकार 5 मम० मोटी इस्पात की एक विस्तृत पट्टिका बन जायगी। इसका एक पृष्ठ उत्तर-ध्रुव होगा और एक दक्षिण-ध्रुव। ऐसी पट्टिका को चुम्बकीय पट्टिका (magnetic shell) कहते हैं। वृत्ताकार विद्युत्-धारा में भी इस चुम्बकीय पट्टिका के समान ही चुम्बकत्व है।

इस प्रकरण में धारा का आकार वृत्तीय केवल सुविधा के लिए चुना गया है। तार को किसी अन्य आकृति में कुंडलित करने पर भी यह उत्तर और दक्षिण पृष्ठ प्राप्त हो जाँयगे।

16·08—कुंडलित धारा का आकर्षण और बल-रेखाओं की संख्या। पिछले प्रकरण को कुंडलित धारा और चुम्बक-ध्रुव के आकर्षण या प्रतिकर्षण के सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने योग्य है। इस धारा के कारण बल-रेखाओं की कुछ संख्या कुंडली के बीच से जाती हैं (चित्र 16·08 में अविच्छिन्न रेखाएँ)। यह संख्या क्षेत्र की तीव्रता पर निर्भर है। अतः वह धारा की प्रबलता, कुंडली में तार के फेरों की संख्या आदि पर भी निर्भर है। इस कुंडली के निकट जो चुम्बक-ध्रुव
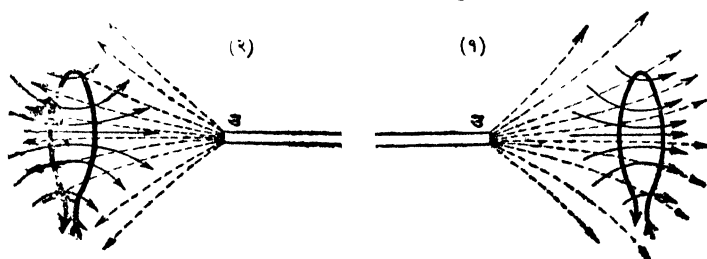
चित्र 16·08

लाया जाता है उसका भी अपना क्षेत्र है (विच्छिन्न रेखाएँ)। उसके कारण भी इस कुंडली में कुछ बल-रेखाएँ प्रवेश करेंगी। यदि यह ध्रुव कुंडली के एक पृष्ठ की ओर लाया जाय तो दोनों प्रकार की रेखाओं की दिशाएँ विपरीत होंगी। अतः क्षेत्र की तीव्रता घट जायगी और बल-रेखाओं की संख्या भी घट जायगी। यदि वही ध्रुव दूसरी तरफ लाया जाय तो इन दोनों प्रकार की रेखाओं की दिशा एक ही होगी। क्षेत्र की तीव्रता बढ़ जायगी और सम्मिलित बल-रेखाओं की संख्या भी बढ़ जायगी। चित्र 16·08 में यह बात दिखलाई गई है। अविच्छिन्न रेखाओं की दिशा से यह भी प्रकट है कि प्रथम अवस्था में कुंडली का उत्तर-ध्रुव चुम्बक के उत्तर-ध्रुव के सामने होगा। अतः प्रतिकर्षण होगा। द्वितीय अवस्था में आकर्षण होगा। आकर्षण के समय ध्रुव ज्यों-ज्यों कुंडली के निकट आता जायगा त्यों-त्यों कुंडली में बल-रेखाओं की संख्या बढ़ती जायगी। प्रतिकर्षण के समय ध्रुव के दूर हटने से उसकी विपरीत-दैशिक बल-रेखाओं की संख्या घटेगी। अतः इस बार भी सम्मिलित बल-रेखाओं की संख्या बढ़ेगी। दोनों ही अवस्थाओं में बल इस प्रकार लगेगा कि कुंडली-गत बल-रेखाओं की संख्या में वृद्धि होगी।

मैक्सवैल ने ही पहले-पहल इस विषय पर बल-रेखाओं की संख्या की दृष्टि से विचार किया था और उनका निम्नलिखित नियम बड़े ही काम का है।

धारा-कुंडली के प्रत्येक भाग पर चुम्बकीय बल ऐसा लगता है कि जिससे कुंडली-गत बल रेखाओं की संख्या अधिकतम हो जाय।

यह नियम बड़ा व्यापक है । आगे के परिच्छेदों में इसके अन्य उपयोग भी बतलाये जायेंगे ।

16·09—परिनालिका (Solenoid) का चुम्बकीय क्षेत्र । यदि किसी नालिका या बेलन पर बिलागित तार लपेट दिया जावे तो एक लम्बी कुंडली बन जायगी जिसे परिनालिका कहते हैं । इसमें धारा प्रवाहित करने से जो चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न होगा वह चित्र 16·09 में दिखाया गया है । यदि परिनालिका का
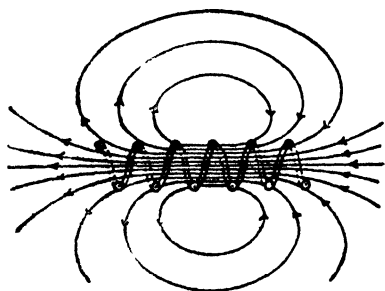
चित्र 16·09

प्रत्येक फेरा चुम्बकीय पट्टिका समझा जावे तो यह परिनालिका ऐसी कई पट्टिकाओं का समुदाय है जिसमें ये पट्टिकाएँ इस प्रकार रखी है कि सबके उत्तर-पृष्ठ एक ओर हैं और दक्षिण-पृष्ठ दूसरी ओर । अन्तिम पृष्ठों को छोड कर बीच के सब पृष्ठों के ध्रुवत्व उत्तर और दक्षिण ध्रुवों के पास-पास होने से नष्ट हो जायेंगे । अतः यह परिनालिका ठीक दंड-चुम्बक के समान हो जायगी । बल-रेखाओं का चित्र भी यही बताता है । दोनों की बाह्य बल-रेखाएँ बिलकुल एकसी हैं । परिनालिका के भी एक उत्तर-ध्रुव है और दूसरा दक्षिण-ध्रुव । किन्तु अभ्यन्तर बल-रेखाओं में भेद है । चुम्बक में अभ्यन्तर बल-रेखाओं की दिशा भी उत्तर-ध्रुव से दक्षिण-ध्रुव की ओर होती है । किन्तु परिनालिका की अभ्यन्तर रेखाएँ दक्षिण-ध्रुव से उत्तर-ध्रुव की ओर चलती हैं । वस्तुतः जैसा पहले कहा गया था ये रेखाएँ निमीलित वक्र हैं । इनका न कहीं प्रारम्भ है और न कोई अन्त । अभ्यन्तर बल-रेखाओं को देखने से यह भी प्रकट है कि परिनालिका के अन्दर क्षेत्र की तीव्रता सर्वत्र बराबर है । केवल सिरों के निकट ही उस तीव्रता में कुछ फर्क पड़ता है ।

ऊपर जो कई नियम बताये गये हैं उनकी सहायता से यह पता लगाने में कोई कठिनाई नहीं कि परिनालिका का कौनसा सिरा उत्तर-ध्रुव होगा और कौनसा दक्षिण ध्रुव । किन्तु इसके लिए निम्नलिखित नियम भी अधिक सरल है :

(i) **पेच-नियम। पेच को परिनालिका की अक्ष पर रख कर धारा की दिशा में घुमाइये। उस की नोक उत्तर ध्रुव की तरफ आगे बढ़ेगी।**

(ii) **परिनालिका का जो सिरा आपके सामने हो उसमें यदि विद्युत् धारा दक्षिणावर्ती** (right handed) **है तो यह सिरा दक्षिण-ध्रुव होगा। यदि धारा वामावर्ती हो तो सिरा उत्तर-ध्रुव होगा।**

16·10—**विद्युत्-चुम्बक** (Electro-magnet)। यदि परिनालिका के अन्दर नरम लोहे की शलाका रख दी जाय तो वह वहाँ के चुम्बकीय क्षेत्र के कारण चुम्बकित हो जायगी। अतः अब कुंडली के ध्रुवों के अतिरिक्त इस लोहे के ध्रुव भी चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न करेंगे। फल यह होगा कि लोहा और कुंडली दोनों मिलकर बड़ा प्रबल चुम्बक बन जायगा। ऐसे चुम्बक को विद्युत्-चुम्बक कहते हैं। इसकी प्रबलता धारा की प्रबलता बढ़ा कर इच्छानुसार बढ़ाई जा सकती है। और बड़ी सुविधा यह है कि धारा का प्रवाह बन्द करते ही यह सारा चुम्बकत्व नष्ट हो जाता है।

चित्र 16·10 में विद्युत्-चुम्बक भारी बोझ को उठाता हुआ दिखाया गया है। आजकल कारखानों में ऐसे विद्युत्-चुम्बक सैकड़ों मन का बोझ बिना कठिनाई के उठा लेते हैं। ऐसे चुम्बकों से ही लोहे और पीतल के मिश्रण में से लोहा पृथक् किया जा सकता है। बिजली के बहुत से काम विद्युत्-चुम्बक की सहायता से ही होते हैं।

16·11—**विद्युत्-धारा से चुम्बक बनाने की रीति।** परिच्छेद 1 में जहाँ चुम्बक बनाने की अन्य रीतियों का वर्णन है वहीं यह भी कहा गया था कि विद्युत्-धारा से भी चुम्बक बनाया जा सकता है। यह कार्य परिनालिका ही करती है। उसके अन्दर इस्पात की छड़ को रख कर धारा प्रवाहित करने से छड़ विद्युत्-चुम्बक के लोहे के समान ही चुम्बकित हो जाती है। किन्तु यह चुम्बकत्व स्थायी होता है। इस स्थायित्व का कारण इस्पात और लोहे के चुम्बकीय गुणों की विभिन्नता है।
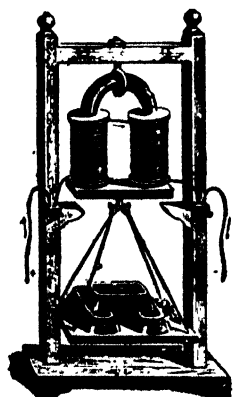
चित्र 16·10

16·12—**धारा-दर्शी** (Galvanoscope)। धारा का चुम्बकीय गुण ही प्रायः धारा के अस्तित्व को बताने के काम में आता है। ओरस्टेड के प्रयोग से हमें तुरन्त पता लग सकता है कि किसी कुंडली में से धारा बह रही है या नहीं। इस कार्य के लिए आवश्यक इतना ही है कि हम कुंडली के किसी भी तार को दिक्-सूची के पास रखकर देख लें कि उस पर कुछ असर होता है कि नहीं।

किन्तु जब धारा प्रबल नहीं होती तब इस उपाय से काम नहीं चलता। तब यह आवश्यक हो जाता है कि धारा का चुम्बकीय बल बढ़ाया जाय। हम देख चुके हैं कि धारा को कई फेरों की कुंडली में प्रवाहित करने से यह बल बढ़ जाता है। अतः इस कार्य के लिए कई सौ फेरों की चपटी कुंडली के भीतर छोटी सी चुम्बकीय सुई रख दी जाती है। यह सुई या तो चूल पर घूमती है या पतले रेशम के तार से लटका दी जाती है जिससे उसकी गति में रगड़ के कारण रुकावट न हो। ऐसे उपकरण को धारादर्शी कहते हैं।

16·13—**धारामापी** (Galvanometer)। उपर्युक्त धारा-दर्शी में यदि यह नापने का प्रबन्ध हो कि चुम्बक की घूमी हुई स्थिति में और पूर्व स्थिति में जो कोण है वह कितना है तो इसके द्वारा धारा का नाप भी हो सकता है। इस कोण को विक्षेप (deflection) कहते हैं। और विक्षेप को नापने का प्रबन्ध जिस धारा-दर्शी में हो उसे धारा-मापी कहते हैं।

16·14—**धारा का मात्रक** (Unit of Current)। यद्यपि यह बताया गया था कि एक कूलम्ब विद्युत् प्रति सैकंड जिस धारा में प्रवाहित हो उसे एक अम्पीयर की धारा कहते हैं। यही धारा का व्यावहारिक मात्रक है। किन्तु वैद्युत आवेश की मात्रा का नाप बड़ा कठिन है। अतः धारा का नाप उसके चुम्बकीय प्रभाव के द्वारा करना अधिक सुविधाजनक है। और धारा के मात्रक की कोई दूसरी व्यवहारोपयोगी परिभाषा निश्चित करना भी आवश्यक है। वह परिभाषा यह है :—

यदि तार का एक वृत्त एक सेंटीमीटर त्रिज्या वाला बनाया जाय तो उसमें बहने वाली जिस विद्युत्-धारा के चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता केन्द्र पर 2π डाइन हो वही एक मात्रक की धारा है।

इस परिभाषा का रूपान्तर यह भी है :—

यदि एक सेंटीमीटर लम्बे तार को मोड़ कर एक ही सेंटीमीटर त्रिज्या वाला वृत्त-खंड (sector) बनाया जाय और उसके केन्द्र पर एक मात्रक चुम्बकीय ध्रुव रख दिया जाय तो उस तार में बहने वाली जो धारा इस ध्रुव पर एक डाइन का बल लगायगी वही मात्रक धारा है। वास्तव में यही पिछली परिभाषा मौलिक है। वृत्तखंड के स्थान में पूरा वृत्त बनाने से स्पष्ट ही है कि तार की लम्बाई 2π गुणी हो जायगी। तार का प्रत्येक भाग केन्द्र पर बराबर बल लगायगा। अतः केन्द्र पर चुम्बकीय बल भी एक डाइन के स्थान में 2π डाइन हो जायगा। पहली परिभाषा में गुणांक 2π के अस्तित्व का यही कारण है। ध्यान रखने की बात है कि इस

परिभाषा में धारा का मात्रक चुम्बकीय ध्रुव के मात्रक के परिमाण पर निर्भर है। अतः इस मात्रक को विद्युत्-चुम्बकीय स० ग० स० मात्रक (electromagnetic c.g.s. unit) कहते हैं। व्यावहारिक मात्रक का नाम अम्पीयर है। यह स० ग० स० मात्रक का दसवाँ भाग है अर्थात् एक स० ग० स० मात्रक $=10$ अम्पीयर।

एक अम्पीयर की धारा जितना विद्युत् एक सैकंड में स्थानान्तरित कर देती है उसके परिमाण का नाम कूलम्ब है। यही विद्युत् के आवेश की मात्रा का विद्यत-चुम्बकीय मात्रक है। स्पष्ट ही है कि मात्रा का विद्युत्चुम्बकीय स० ग० स० मात्रक 10 कूलम्ब के बराबर होगा। अनुच्छेद 7·22 में विद्युत् के पारस्परिक आकर्षण या प्रति-कर्षण बल के द्वारा आवेश का मात्रक नियत किया गया था। वह मात्रक स्थिर-वैद्युत स० ग० स० मात्रक (electrostatic c.g.s. unit) कहलाता है। उसका तथा कूलम्ब का सम्बन्ध वहाँ बतलाया गया था कि

$$1 \text{ कूलम्ब } = 3 \times 10^{10} \text{ स्थिर-वैद्युत मात्रक}$$

अब समझ में आ गया होगा कि इसमें जो गुणांक 3×10^{10} है वह कहाँ से आया। कूलम्ब विद्युत्-चुम्बकीय मात्रक है। उसका निर्धारण स्थिर-वैद्युत मात्रक की अपेक्षा सर्वथा स्वतन्त्र रीति से किया गया है। इसके बाद जिस प्रकार एक ही लम्बाई को इंचों और सेंटीमीटरों में नाप कर लम्बाई के इन दो मात्रकों का सम्बन्ध जान लिया गया है कि 1 इंच $=2·54$ सम०, उसी प्रकार यह पता लगाया गया है कि 1 कूलम्ब $=3 \times 10^{10}$ स्थिर-वैद्युत मात्रक। गुणांक 3×10^{10} प्रयोग-लब्ध संख्या है।

दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार आवेश के स्थिर-वैद्युत मात्रक को नियत करने के बाद धारा, विभव आदि के स्थिर वैद्युत मात्रक नियत किये गये हैं ठीक उसी प्रकार विद्युत् सम्बन्धी प्रत्येक बात को नापन के लिए विद्युत्-चुम्बकीय मात्रक भी नियत कर लिये गये हैं। प्रथम प्रकार के मात्रकों को स्थिर-वैद्युत पद्धति के मात्रक कहते हैं और दूसरे प्रकार के मात्रकों को विद्युत्-चुम्बकीय पद्धति के मात्रक कहते हैं। स्थिर-वैद्युत पद्धति का मूल मात्रक आवेश का मात्रक है। विद्युत्-चुम्बकीय पद्धति का मूल मात्रक चुम्बकीय ध्रुव का मात्रक है।

16·15—**धारा के चुम्बकीय बल का परिकलन।** ऊपर धारा के चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा और उसकी तीव्रता आदि का वर्णन स्थूल रूप से किया गया है। किन्तु यह नहीं बताया गया कि उस बल के परिमाण को परिकलन के द्वारा कैसे जाना जा सकता है। इस परिकलन के लिए तीन मुख्य नियम हैं:—

(i) लापलास का नियम ।

(ii) अम्पीयर का प्रमेय ।

(iii) ध्रुव को निमीलित चक्र में घुमाने के कार्य का नियम ।

ये तीनों नियम वास्तव में भिन्न नहीं हैं । एक ही नियम के भिन्न भिन्न रूप मात्र हैं । केवल परिकलन की सुविधा के लिए ये भिन्न रूप दिये गये हैं । परिस्थिति के अनुसार कभी कोई और कभी कोई नियम परिकलन को अधिक सरल बना देता है ।

16·16—**लापलास का नियम** (Laplace's Rule) । यह नियम इस प्रकार है :—

किसी धारावाही चालक तार के अत्यन्त छोटे से अंश के कारण किसी विन्दु **प** पर (चित्र 16·11) जो चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता dF होती है वह (i) उस अंश की लम्बाई dl (ii) धारा की प्रबलता i और (iii) उस अंश के मध्य विन्दु से **प** को जोड़ने वाली रेखा तथा तार के बीच के कोण α की ज्या ($\sin \alpha$) की अनुपाती होती है तथा उस अंश से **प** की दूरी r के वर्ग की उत्क्रमानुपाती होती है ।

अर्थात् $$dF \propto \frac{idl \sin \alpha}{r^2}$$
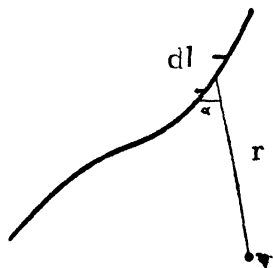
चित्र 16·11

धारा की प्रबलता का मात्रक अनु० 16·14 की रीति से निश्चित कर लेने पर

$$dF = \frac{idl \sin \alpha}{r^2}$$

हो जाता है । इस बल की दिशा तार के अंश की लम्बाई से तथा उसके मध्य-बिन्दु से **प** को जोड़ने वाली रेखा से भी समकोण बनाती है । चित्र 16·11 में बल की दिशा कागज़ पर अभिलम्ब रूप होगी ।

इस नियम का प्रमाण यही है कि इसके द्वारा जहाँ कहीं चुम्बकीय तीव्रता का परिकलन किया गया है वहीं प्रयोग के द्वारा परीक्षा करने पर उसकी सत्यता प्रमाणित हो गई है । इस नियम के उपयोग के दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं ।

16·17—**वृत्ताकार धारा के चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता** (Intensity of Magnetic Field due to a Circular Current) । चित्र 16·12

में वृत्ताकार धारा i बाणांकित दिशा में चल रही है। अक्ष **क प** के किसी बिन्दु **प** पर हमें चुम्बकीय तीव्रता मालूम करना है।

ख पर एक अत्यन्त छोटा टुकड़ा लीजिये जिसकी लम्बाई dl है। यदि **ख प**$=r$ हो तो लापलास के नियमानुसार इस टुकड़े के कारण **प** पर तीव्रता होगी

$$dF=\frac{ids}{r^2}$$
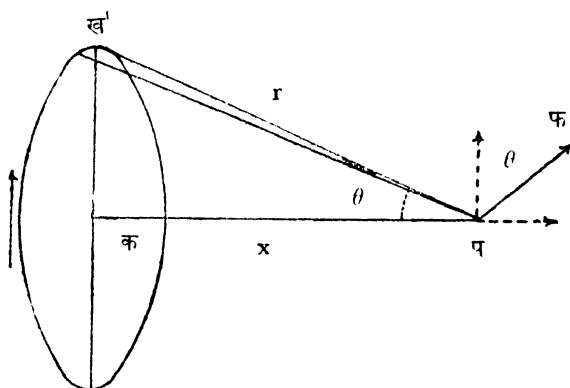
चित्र 16·12

क्योंकि यहाँ $\alpha=90°$। इसकी दिशा होगी **प फ**। यदि अक्ष **क प** से **ख प** कोण θ बनाती हो तो इस बल के विश्लेषण से हमें दो संघटक प्राप्त होंगे।

(1) $dF\sin\theta$ अक्ष **क प** की दिशा में और

(2) $dF\cos\theta$ अक्ष से समकोणिक दिशा में।

ख के अतिरिक्त वृत्त के अन्य टुकड़ों से भी तीव्रता के ऐसे ही संघटक प्राप्त होंगे। उनमें प्रथम प्रकार के अक्षीय संघटक तो सब एक-दैशिक होंगे। अर्थात् सब **क प** दिशा ही में काम करेंगे। किन्तु दूसरे संघटक भिन्न-भिन्न दिशाओं में काम करेंगे। वृत्त से उत्पन्न तीव्रता इन संघटकों का संयोजन करने से प्राप्त होगी। स्पष्ट है कि अक्ष से समकोणिक संघटकों का परिणाम शून्य होगा क्योंकि प्रत्येक ऐसे संघटक का विरोधी उतने ही परिमाण का किन्तु विपरीत दिशा वाला संघटक भी उपस्थित रहेगा। परन्तु अक्षीय संघटकों का परिणाम होगा

$$F=\Sigma\, dF\sin\theta=\int\frac{ids\sin\theta}{r^2}$$

क्योंकि सब संघटकों की दिशा एक ही है । और i, θ, तथा r अचर होने के कारण

$$F = \frac{i \sin\theta}{r^2} \int dl = \frac{2\pi a i \sin\theta}{r^2}$$

जहाँ a वृत्त की त्रिज्या है ।

यदि वृत्त के केन्द्र **क** से **प** की दूरी x हो तो $r^2 = a^2 + x^2$ तथा

$$\text{Sin}\,\theta = \frac{a}{r}$$

$$\therefore F = \frac{2\pi\, i\, a^2}{r^3} = \frac{2\pi\, i\, a^2}{(a^2 + x^2)^{3/2}}$$

यदि वृत्ताकार कुंडली पर धारावाही तार के कई फेरे हो और उनकी संख्या n हो तो प्रत्येक फेरा इतनी ही तीव्रता उत्पन्न करेगा और सबका सम्मिलित परिणाम होगा

$$F = \frac{2\pi\, n\, i\, a^2}{(a^2 + x^2)^{3/2}}$$

वृत्त के केन्द्र **क** पर $F = \frac{2\pi i}{a}$ होगा क्योंकि वहाँ $x = 0$ है । स्पष्ट है कि यदि $a = 1$ सम० हो तथा $i = 1$ म. ग. स. मात्रक हो तो $F = 2\pi$ होगा । धारा के मात्रक की परिभाषा में इसी मान का उपयोग किया गया है ।

16.18—**परिनालिका के क्षेत्र की तीव्रता** (Intensity of Field due to a Solenoid)। परिनालिका (solenoid) पर लिपटे हुए तार में से धारा प्रवाहित करने से प्रत्येक फेरा चुम्बकीय तीव्रता उत्पन्न करता है और इन सब तीव्रताओं के संयोजित परिणाम ही को हम परिनालिका के क्षेत्र की तीव्रता कहते हैं ।

इसके एक अत्यन्त छोटे खंड **क ख** की कल्पना करिये (चित्र 16·13) । यदि परिनालिका में फेरों की संख्या n प्रति सेंटीमीटर हो और **क ख** $= dl$ हो तो
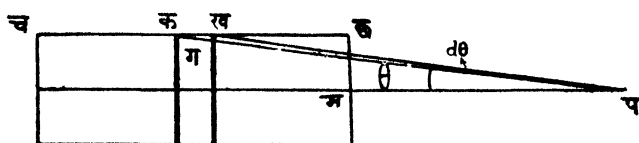
चित्र 16 13

इस खंड में फेरों की संख्या होगी $n \cdot dl$ । प्रत्येक फेरे में धारा है i । अतः हम यह समझ सकते है कि यह खंड एक वृत्ताकार धारा है और उसमें धारा की प्रबलता है

indl । अतः पिछले अनुच्छेद के अनुसार इस खंड के क्षेत्र की तीव्रता होगी

$$dF=\frac{2\pi\ a\ indl \sin\theta}{r^2}$$

जहाँ $a=$ परिनालिका की त्रिज्या तथा **कप**$=r$ है।

यदि ∠**कपख**$=d\theta$ हो तो $d\theta=\frac{\text{कख}\sin\theta}{r}=\frac{dl\sin\theta}{r}$

$$\therefore \qquad dF=2\pi\ ni\frac{a}{r}d\theta$$

$$=2\pi\ ni \sin\theta\ d\theta$$

$$\because \qquad \sin\theta=\frac{a}{r} \text{ है,}$$

$$\therefore \qquad F=2\pi\ ni\int_{\theta_1}^{\theta_2}\sin\theta\ d\theta$$

जहाँ ∠**चपम**$=\theta_1$ तथा ∠**छपम**$=\theta_2$ और **चछ** = पूरी परिनालिका की लम्बाई।

$$\therefore \qquad F=2\pi\ ni\,[\cos\ \theta_1-\cos\theta_2]$$

(अ) यदि **प** बिन्दु परिनालिका के भीतर हो तो θ_2 अधिक कोण (obtuse angle) हो जायगा और $\cos\theta_2$ ऋण चिह्नीय होगा। अब यदि परिनालिका की लम्बाई अनन्त हो तो $\theta_1=\theta$ और $\theta_2=\pi$ और तब सर्वत्र $F=4\pi ni$ । अतः अनन्त लम्बाई वाली परिनालिका में सर्वत्र तीव्रता $4\pi ni$ होती है।

(आ) यदि **प** परिनालिका के एक सिरे पर स्थित हो तो $\theta_1=0$ और $\theta_2=\frac{\pi}{2}$

$$\therefore \qquad F=2\pi ni$$

ध्यान देने की बात है कि इन सूत्रों में n परिनालिका के कुल फेरों की संख्या नहीं है किन्तु केवल एक सेन्टीमीटर लम्बाई में जितने फेरे है उन्हीं की संख्या है।

16·19—**अनन्त सीधी धारा के क्षेत्र की तीव्रता**। मान लीजिये कि **कख** सीधा तार है जिसमें i स० ग० स० मात्रक की धारा प्रवाहित हो रही है (चित्र 16·14) और **प** बिन्दु पर हमें क्षेत्र की तीव्रता मालूम करना है। तार में **चछ** छोटा-सा खंड है जिसकी लम्बाई dl है। तब **चछ** के कारण **प** पर तीव्रता होगी

$$dF = \frac{idl \sin a}{r^2} = \frac{idl \cos\theta}{r^2} \Big[\text{जहाँ } \textbf{प च} = r \text{ और } \theta = 90 - a$$

और इसकी दिशा चित्र-तल (कागज) पर अभिलम्बित होगी।

किन्तु **च ज** $= rd\,\theta =$ **च छ** $\cos\theta = dl \cos\theta.$

चित्र 16·14

$$\therefore\ dF = \frac{ird\,\theta}{r^2} = \frac{id\theta}{r} = \frac{i.d\,\theta}{x} \cdot \frac{x}{r}$$

$$= \frac{id\theta}{x} \cos\theta.$$

अतः पूरे तार **क ख** का क्षेत्र

$$F = \frac{i}{x} \int_{\theta_1}^{\theta_2} \cos\theta\, d\,\theta$$

$$= \frac{i}{x} \Big[\sin\theta_1 - \sin\theta_2 \Big]$$

यदि तार की लम्बाई अनन्त हो तो

$$\theta_1 = \frac{\pi}{2} \text{ तथा } \theta_2 = -\frac{\pi}{2}$$

$$\therefore \qquad F = \frac{2i}{a}.$$
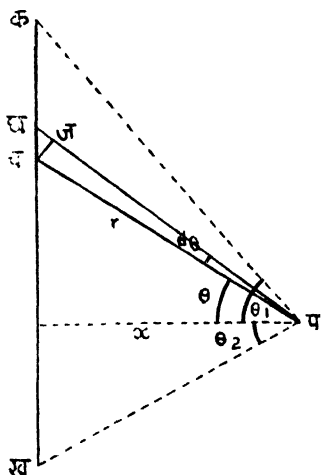
16·20—**अम्पीयर का प्रमेय** (Ampere's Theorem)। अनु० 16·07 मे बताया जा चुका है कि धारावाही तार की कुंडली में और चुम्बकीय पट्टिका (magnetic shell) में बड़ी समानता है और चुम्बकीय क्षेत्र की दृष्टि से कुंडली चुम्बकीय पट्टिका ही समझी जा सकती है।

चित्र 16·15 मे **क ख ग** चालक तार की कुंडली है जिसमें धारा i बाणांकित दिशा में चल रही है। मान लीजिये कि इस कुंडली से सीमित एक जाल ऐसा है कि जिसमें अत्यन्त छोटी-छोटी अनेक तार की कुंडलियाँ है। सब कुंडलियों के क्षेत्र-फल बराबर है और प्रत्येक में धारा i एक ही दिशा में प्रवाहित हो रही है जैसा कि चित्र में प्रदर्शित है। स्पष्ट है कि इन क्षुद्र कुंडलियों के प्रत्येक तार में दो विपरीत दैशिक किन्तु बराबर परिमाण की धाराएँ चल रही है। जिसका परिणाम यह है कि जाली के बीचवाले तारों में वस्तुतः कोई भी धारा नहीं चलती। किन्तु केवल इस जाल की सीमांत कुंडलियों के बाहरी तार में ही धारा चलती है। अर्थात् इस जाल की छोटी

कुंडलियों की धाराओं का सम्मिलित परिणाम ठीक वही होगा जो केवल कुंडली **क ख ग** में प्रवाहित धारा का होता।

ऊपर बताया जा चुका है कि प्रत्येक छोटी कुंडली उतने ही विस्तार की चुम्बकीय पट्टिका समझी जा सकती है। अतः पूरी कुंडली **क ख ग** का चुम्बकीय क्षेत्र भी ठीक
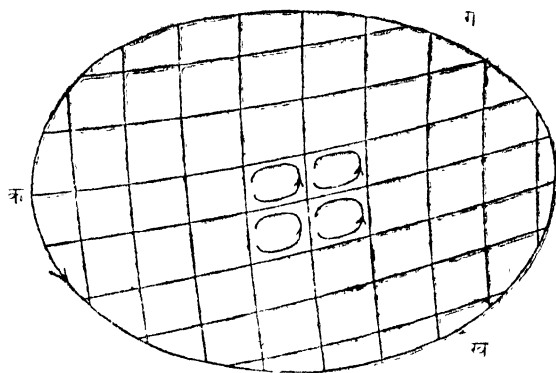
चित्र 16·15

उस चुम्बकीय पट्टिका के जैसा ही होगा जिसका क्षेत्र तार-कुंडली **क ख ग** में सीमित है। यह आवश्यक नहीं कि पट्टिका समतल हो। उसका पृष्ठ किसी भी प्रकार का वक्र हो सकता है।

अब जाल की किसी एक क्षुद्र कुंडली पर विचार करिये। उसका क्षेत्रफल छोटा होने के कारण वह वृत्ताकार समझी जा सकती है। अतः अनु० 16·17 के अनुसार उससे d सम० दूरी पर उसका चुम्बकीय क्षेत्र होगा

$$F=\frac{2\pi a^2 i}{d^3} \qquad \left[\because \quad d>>a\right.$$

और यदि उस कुंडली के स्थान में चुम्बकीय पट्टिका अथवा चुम्बक होता जिसका चुम्बकीय घूर्ण M होता तो दूरी d पर क्षेत्र की तीव्रता होती $\frac{2M}{d^3}$ (अनु० 2·10)।

अतः कुंडली और पट्टिका के क्षेत्र बराबर होने के लिए आवश्यक है कि

$$\frac{2M}{d^3}=\frac{2\pi a^2 i}{d^3}$$

अर्थात् $$M=\pi a^2 i$$

यदि पट्टिका की मोटाई t हो और चुम्बकन की तीव्रता σ हो तो उसके ध्रुव का प्राबल्य $\pi a^2 \sigma$ होगा और चुम्बकीय घूर्ण होगा

$$M = \pi a^2 \sigma t$$

अतः $i = \sigma t = \phi =$ चुम्बकीय पट्टिका की प्रबलता। यही बात जाल की प्रत्येक क्षुद्र कुडली के लिए ठीक होगी। इसलिए यदि ऊपर के चित्र की प्रत्येक क्षुद्र कुडली के स्थान मे एक-एक चुम्बक की कल्पना कर ली जावे तो इन सब चुम्बकों का सम्मिलित प्रभाव भी **क ख ग** कुडली की धारा के प्रभाव के बराबर ही होगा। किंतु एसे चुम्बकों के समूह से तो एक बडी चुम्बकीय पट्टिका की सृष्टि हो जायगी जिसकी प्रबलता $\phi = i$ होगी। अतः हम कह सकते है कि

"किसी निमीलित परिपथ की धारा का चुम्बकीय क्षेत्र ठीक उस चुम्बकीय पट्टिका के क्षेत्र के बराबर होता है जिसकी सीमा-रेखा वह परिपथ की रेखा होती है और जिसकी प्रबलता परिपथ की धारा की प्रबलता के बराबर होती है।"

यह नियम अम्पीयर के नियम के नाम से प्रसिद्ध है। यह बताया जा चुका है कि चुम्बकीय पट्टिका के कारण किसी भी बिन्दु पर चुम्बकीय विभव $= \phi \cdot \omega$ होता है, जहाँ ω पट्टिका के द्वारा उस बिन्दु पर अंतरित घन कोण है। इसलिए निमीलित कुडली के द्वारा भी चुम्बकीय विभव $= i \cdot \omega$ हुआ। इस अम्पीयर के प्रमेय के द्वारा भी वृत्ताकार धारा के चुम्बकीय क्षेत्र का परिकलन सरलता से हो सकता है।

चित्र 16·12 में **प** बिन्दु पर वृत्ताकार कुंडली जो घन कोण अंतरित करती है उसका परिमाण है

$$\omega = 2\pi(1 - \cos\theta)$$

और $$\tan\theta = \frac{a}{x} \text{ तथा } \cos\theta = \frac{x}{\sqrt{a^2 + x^2}}$$

अतः **प** पर चुम्बकीय विभव $V = 2\pi i \left\{1 - \frac{x}{\sqrt{a^2 + x^2}}\right\}$

$\therefore$ चुम्बकीय बल $F = -\frac{dV}{dx} = 2\pi i \frac{a^2}{(a^2 + x^2)^{3/2}}$

यही परिणाम अनु० 16·17 में प्राप्त हुआ था।

इसी प्रकार दूसरे आकारों की धाराओं के क्षेत्र का भी परिकलन हो सकता है।

16·21—धारा के चारों ओर एकांक ध्रुव को निमीलित चक्र में घुमाने का कार्य (Work done in taking a Unit Pole round a Current) यदि चुम्बकीय पट्टिका के निकट दो बिन्दु **क ख** ऐसे लिये जावें कि **क** उसके एक ओर हो और **ख** दूसरी ओर हो (चित्र 2·15) तब हम बता चुके हैं कि **क** और **ख** का विभवान्तर $4\pi\phi$ होगा जहाँ ϕ पट्टिका का प्राबल्य है (अनु० 2·18)। अतः इस पट्टिका-स्थानीय धारा-कुंडली के कारण भी **क** और **ख** का विभवान्तर $4\pi i$ होगा। यह प्रत्यक्ष ही है कि यद्यपि पट्टिका में **क** तथा **ख** के बीच में पट्टिका का लोहा विद्यमान रहेगा तथापि कुंडली में **क** तथा **ख** के बीच में कुछ भी न होगा और ये दोनों बिन्दु परस्पर अत्यन्त निकट आ सकते हैं। दूसरे यद्यपि पट्टिका के कारण **क** और **ख** के बीच में बल की दिशा बदल जाती है तथापि धारा कुंडली में बल की दिशा नही बदलती। अतः यदि एकांक ध्रुव को **क** से **ख** तक ले जावें और आगे बढ़ा कर पुनः **क** पर ले आवें अर्थात् उसे निमीलित चक्र में घुमा दें तो पट्टिका के कारण तो कार्य $=0$ होगा। किन्तु धारा-कुंडली के कारण कार्य $W=4\pi i$ ही रहेगा। ध्रुव को दो, तीन या चार बार धारा के चारों ओर घुमाने से कार्य का मूल्य भी $2W$, $3W$ या $4W$ हो जायगा। इस दृष्टि से **क** पर विभव के कई मान हो सकते हैं। यदि अनन्त दूरी से एकांक ध्रुव को **क** पर लाने में V अर्ग कार्य करना पड़ता हो तो **क** का विभव V हुआ। किन्तु वहाँ से उसे धारा के चारों ओर एक बार घुमा दें तो कुल कार्य $V+4\pi i$ हो जायगा और दो बार घुमाने पर यह कार्य $V+2\times 4\pi i$ हो जायगा। अतः **क** के विभव का मूल्य $V, V+4\pi i, V+8\pi i, \ldots V+n.4\pi i$ इत्यादि में से कुछ भी हो सकता है। यह विलक्षणता पट्टिका में नहीं होती। इसका कारण यह है कि धारा में विद्युत् का सतत प्रवाह होता रहता है और एकांक ध्रुव को बार-बार धारा के चारों ओर घुमाने में जो कार्य करना पड़ता है उसकी ऊर्जा विद्युत्-धारा से प्राप्त होती है। यदि इस ध्रुव को अन्य किसी निमीलित वक्र में घुमाया जाय और वह धारा की परिक्रमा न कर पावे तो कार्य $=0$ होगा। इस बात को हम यों भी लिख सकते हैं :—

यदि धारा कुंडली के चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता F हो तो एकांक ध्रुव को निमीलित वक्र में घुमाने का कार्य $=\int F ds=4\pi i$

$\int F ds$ तीव्रता का रेखा-अनुकल (line-integral) कहलाता है। और जब ध्रुव निमीलित वक्र में घुमाया जावे तो इस अनुकल को कर्ल (curl) कहते हैं। अतः ऊपर का समीकरण यों भी लिखा जाता है

$$\int F ds=\text{curl } F=4\pi i$$

यह बड़े काम का नियम है। इसकी सहायता से भी अनेक अवस्थाओं में चुम्बकीय बल का परिमाण सरलता से ज्ञात हो जाता है। यथा

(1) **अनन्त सीधी धारा का क्षेत्र**—(अ) बाह्य बिन्दु (external point) पर। सीधे तार से d की दूरी पर यदि चुम्बकीय बल F हो तो संमिति के कारण d त्रिज्या वाले वृत्त के प्रत्येक बिन्दु पर बल बराबर ही होगा (चित्र 16·16-क)

अतः
$$4\pi i = \int F ds = 2\pi d.F$$

$$\therefore \quad F = \frac{2i}{d}$$

यही परिणाम अनुच्छेद 16·19 मे प्राप्त हो चुका है।

(क)

(ख)
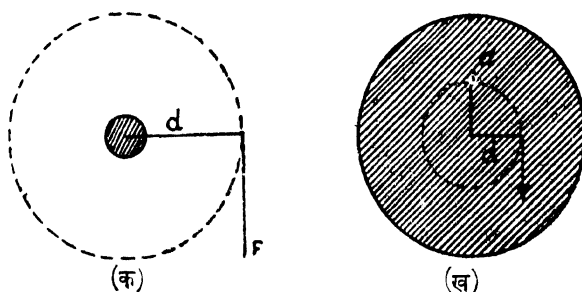
चित्र 16·16

(आ) अभ्यन्तर बिन्दु (internal point) पर। यदि धारा-वाहक तार की त्रिज्या a हो और उसके अनुप्रस्थ काट में धारा सम रूप से वितीर्ण हो तो तार ही के भीतर अक्ष से d दूरी पर स्थित बिन्दु पर चुम्बकीय बल यों मालूम होगा :—

इस बिन्दु में से जो वृत्त खींचा जायगा उसके भीतर धारा की मात्रा स्पष्ट ही $i' = i\frac{\pi d^2}{\pi a^2} = i\frac{d^2}{a^2}$ होगी क्योंकि पूरे काट का क्षेत्रफल πa^2 है और उस वृत्त का क्षेत्रफल πd^2 है (चित्र 16·16-ख)। अतः इस वृत्त पर एकांक ध्रुव को घुमाने का कार्य भी $4\pi i' = 4\pi i\frac{d^2}{a^2}$ हुआ।

$$\therefore \quad 2\pi d.F = 4\pi i\frac{d^2}{a^2}$$

$$F = \frac{2id}{}$$

अर्थात् तार के भीतर चुम्बकीय बल दूरी का अनुपाती होता है और बाहर दूरी का उत्क्रमानुपाती।

(2) **अन्तहीन परिनालिका** (Endless Solenoid)—यदि किसी अचुम्बकीय पदार्थ के वृत्ताकार वलय (ring) पर विलागित तार बराबर लपेट दिया जाय और वह उसे सर्वत्र अच्छी तरह ढक ले तो यह कुंडली अन्तहीन वृत्ताकार परिनालिका कहलाती है (चित्र 16·17)। संमिति के कारण यह समझना सरल है कि इस कुंडली के भीतर चुम्बकीय बल की रेखाएं वृत्ताकार होंगी और प्रत्येक रेखा पर बल सर्वत्र बराबर होगा। यदि F इस चुम्बकीय तीव्रता का परिमाण हो तो d सम० के वृत्त पर एकाक ध्रुव को घुमाने में कार्य $=2\pi d \cdot F$ होगा। यदि कुडली के कुल फेरों की संख्या N हो तो इस चक्र के परिभ्रमण में धारा N बार कटेगी।
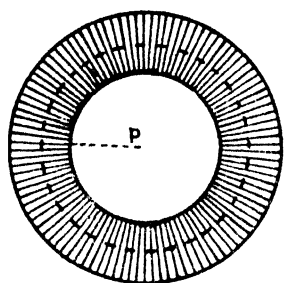
चित्र 16·17

अतः यह कार्य $=4\pi i.N$

$$\therefore\ 2\pi dF = 4\pi Ni$$

$$\therefore\quad F=\frac{2Ni}{d}$$

यदि d काफी बड़ा हो और परिनालिका की मोटाई उसके व्यास के मुकाबिले में बहुत ही कम हो तो स्पष्ट ही F का मूल्य परिनालिका के अनुप्रस्थ काट में सर्वत्र बराबर ही होगा तथा यदि उस पर फेरों की संख्या n प्रति सम० हो तो

$$N=2\pi\, d.n$$

$$\therefore\quad F=\frac{2\times 2\pi d.ni}{d}=4\pi ni$$

अतः इस प्रकार की परिनालिका के वलय का व्यास चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, यदि उसकी मोटाई व्यास के मुकाबिले में छोटी हो तो उसके अन्दर चुम्बकीय बल $F=4\pi ni$ होता है।

यदि d अनन्त हो जाय तो यह परिनालिका सीधी हो जायगी। इसलिये अनन्त सीधी परिनालिका में भी $F=4\pi ni$

16·22—**धारा पर चुम्बकीय क्षेत्र का बल**। यह कई बार कहा गया है कि आकर्षण या प्रतिकर्षण सदा पारस्परिक होते हैं। यदि एक वस्तु दूसरी को

अपनी ओर आकृष्ट करती है तो दूसरी वस्तु भी प्रथम को उतने ही बल से आकर्षित करेगी। यह न्यूटन के सुप्रसिद्ध गति संबंधी तृतीय नियम ही का एक उदाहरण है।

अतः यदि विद्युत्-धारा चुम्बकीय ध्रुव पर बल लगाती है तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि वह ध्रुव भी धारावाही तार पर उतना ही बल विपरीत दिशा में लगावेगा। गति दोनों में से किस में उत्पन्न होगी यह इस बात पर निर्भर है कि कौन अधिक आसानी से चल सकता है। पिछले प्रकरणों में जिन तारों में से विद्युत धारा प्रवाहित होती थी वे सब भारी थे और उनका अपने स्थान से हिलना कठिन था। अतः चुम्बक ही में गति उत्पन्न होती हुई देखी गई। किन्तु जब चुम्बक भारी हो और जमा कर रख दिया जाय तथा धारावाही तार को हल्का बनाकर इधर-उधर हिलने की स्वतंत्रता दे दी जाय तो इस तार में भी गति उत्पन्न हो जायगी। देला राइव की तैरने वाली सैल मे यह गति हम देख चुके है। निम्नलिखित प्रयोगों में भी यह गति स्पष्ट दिखाई देगी।

(1) चित्र 16·18 में कांच की एक नली है इसके दोनों मुंह काग से बन्द है। नीचे काग में से एक दंड चुम्बक का उत्तर ध्रुव नली में घुसा हुआ है। इस काग के ऊपर कुछ पारा भी भरा है।

चित्र 16·18

ऊपर के काग में से एक तार लटक कर पारे में डूबा है। यह तार आसानी से इधर-उधर हिल सकता है। इस तार में से चित्र में दिखलाई हुई रीति से विद्युत्-धारा चलाते ही आप देखेंगे कि तार उत्तर-ध्रुव की परिक्रमा करने लगता है। यदि धारा की दिशा बदल दी जाय तो तार की परिक्रमा की दिशा भी बदल जायगी।

चित्र 16·19
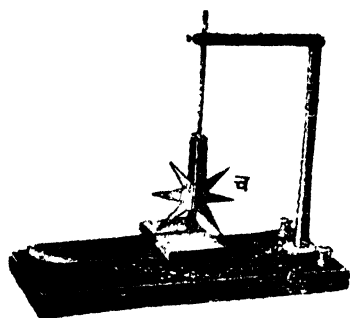
(2) चित्र 16·19 में 8 नोक वाला तांबे का पहिया अपनी अक्ष पर घूम सकता है। इसके नीचे लकड़ी में गढ़ा खोद कर पारा भर दिया गया है। विद्युत्-धारा पहिये के अक्ष में से नोक के द्वारा पारे में चलाई जाती है। पारे के समीप एक प्रबल नाल-चुम्बक के दोनों ध्रुव इस प्रकार रखे है कि पहिये की नोकें उनके बीच में हैं। धारा का प्रवाह प्रारम्भ होते ही पहिया घूमने लगेगा। धारा की दिशा बदलने पर

या चुम्बक को उलट कर चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा बदलने से पहिया भी दूसरी ओर घूमने लगेगा। इन दोनों उदाहरणों में चुम्बक स्थिर है। चुम्बक के क्षेत्र में धारा जिस चालक में से बहती है वह (तार या पहिये की नोक) आसानी से चल सकता है। अतः उसमें गति उत्पन्न हो जाती है।
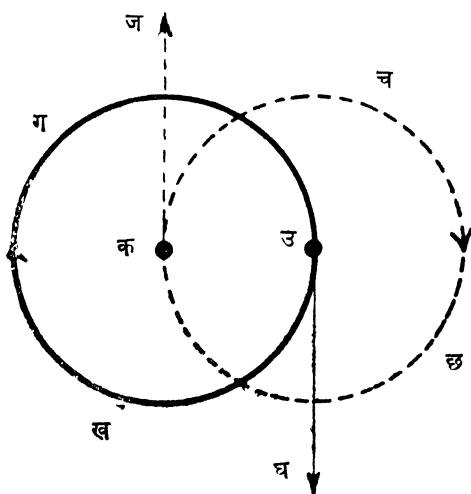
चित्र 16·20

चित्र 16·20 में **क** पर कागज से अभिलम्ब रूप एक तार की कल्पना करिये जिसमें ऊपर से नीचे की तरफ धारा बह रही है? उत्तर ध्रुव **उ** को यह धारा **उ ख ग** वृत्त पर चलावेगी। **उ** पर जो बल लगेगा उसकी दिशा **उ घ** है। अब यदि **उ** को स्थिर कर दें और धारा को गमन करने की स्वतन्त्रता दे दें तो स्पष्ट ही है कि **उ** और **क** की उत्तरोत्तर वही स्थिति होनी चाहिये जो **क** को स्थिर रखने पर होती थी। अर्थात् **क** अब वृत्त **क च छ** पर **उ** के चारों ओर घूमेगा। धारा पर **उ** के कारण **क ज** दिशा में बल लगेगा।

यह बताया जा चुका है कि **उ** पर धारा जो बल लगाती है वह रेखा **क उ** तथा धारा की दिशा दोनों से लम्ब-रूप दिशा में होता है। इसी प्रकार धारा पर जो बल **उ** लगावेगा वह भी रेखा **क उ** तथा धारा की दिशा दोनों से लम्ब-रूप होगा।

16·23—**धारावाही सीधे तार पर चुम्बकीय क्षेत्र का बल**। लापलास के नियमानुसार किसी धारावाही तार के छोटे से टुकड़े dl के कारण उससे r सम०

दूरी पर चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता $dF=(idl\sin\alpha)/r^2$ होती है (अनु० 16·16) अतः यदि r सम० दूरी पर कोई ध्रुव रखा हो जिसका प्राबल्य m हो तो उस पर यह धारा $(midl.\sin\alpha)/r^2$ डाइन का बल लगावेगी।

न्यूटन के तृतीय नियम के अनुसार चुम्बकीय ध्रुव भी धारावाही तार पर इतने ही परिमाण का बल विपरीत दिशा में लगावेगा।

किन्तु इस ध्रुव के कारण तार के स्थान पर चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता है

$$F=\frac{m}{}$$

और इसकी दिशा m और dl को जोड़ने वाली रेखा है। अतः तार पर लगने वाला बल $=Fidl\sin\alpha$ जहाँ dl और F के बीच का कोण α है। यदि पूरे तार की लम्बाई l हो और सर्वत्र चुम्बकीय क्षेत्र H हो तो पूरे तार पर बल $=iHl\sin\alpha$ होगा। यदि $\alpha=90^\circ$ हो तो बल $=iHl$ डाइन। यदि धारा I अम्पीयर हो तो बल $\frac{IHl}{10}$ डाइन।

16·24—**फ्लेमिंग का नियम** (Fleming's Rule)। चुम्बकीय क्षेत्र में धारा पर लगने वाले बल की दिशा जानने के लिए फ्लेमिंग (Fleming) ने निम्नलिखित नियम बनाया है :
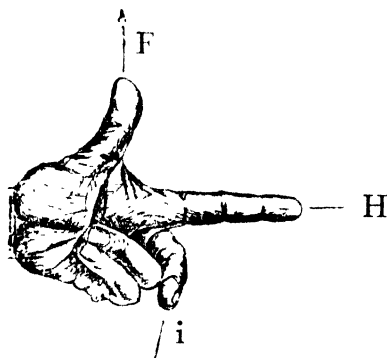
चित्र 16·21

बायें हाथ के अंगूठे तथा तर्जनी और मध्यमा उँगलियों को परस्पर समकोणिक कर लो। मध्यमा को धारा की दिशा में रख कर तर्जनी को चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा में कर लो। धारा पर बल अँगूठे की दिशा में लगेगा (चित्र 16·21)।

16·25—**धारा कुंडली पर चुम्बकीय क्षेत्र का बल**। मान लीजिये कि **क ख ग घ** (चित्र 16·22) तार की चौकोर कुंडली है और इसका तल चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा ही में स्थित है। अर्थात् चुम्बकीय बल रेखाओं की दिशा **ख ग** है।

जब कुंडली में धारा बाणांकित दिशा में वहेगी तब **क ख** और **ग घ** पर बल लगेगा। यह बल फ्लेमिंग के नियमानुसार F_1 और F_2 वाणों के द्वारा प्रदर्शित हैं। यदि **क ख** = **ग घ** $= l$ हो तो $F_1 = -F_2 = iHl$ होगा। **ख ग** और **क घ** वाले तारों पर कुछ भी बल न लगेगा क्योंकि यहाँ धारा और चुम्बकीय क्षेत्र समान्तर हैं $(\alpha = 0)$। F_1 और F_2 का परिणाम यह होगा कि तार-कुंडली घूम जायगी। संतुलन तब होगा जब कुडली का तल चुम्बकीय क्षेत्र मे लम्ब-रूप हो जायगा। अतः हम संक्षेप में यह कह सकते है कि चुम्बकीय क्षेत्र धारा-कुंडली पर एक बल-युग्म (couple) लगाता है और उसे घुमा कर क्षेत्र को कुडली के तल पर अभिलम्ब रूप कर देना चाहता है।
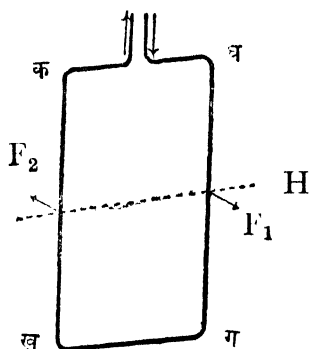
चित्र 16·22

घूमने की दिशा को देखने ही से पता चल जायगा कि अन्तिम संतुलन की अवस्था मे कुंडली में से जाने वाली समस्त चुम्बकीय बल-रेखाओं की संख्या अधिकतम होती है। इस सम्बंध में मैक्सवैल का जो नियम अनु० 16·08 मे बताया गया था वही यहाँ भी लागू है। यदि कुंडली दूसरी दिशा में घूम जाती तो उसकी अपनी बल-रेखाएँ क्षेत्र की बल रेखाओं से विपरीत दिशा मे हो जातीं। अतः दोनों की सम्मिलित रेखाओं की संख्या घट जाती।

चुम्बकीय क्षेत्र धारावाही कुंडली को केवल घुमा ही नही देता। यदि उसका विस्तार या आकृति बदल सकती हो तो उसे भी बदल देता है। यहाँ भी मैक्सवैल का नियम लागू है। आकृति इस प्रकार बदलती है कि कुंडली-गत बल-रेखाओं की संख्या बढ़ जाय। चित्र 16·23 मे लकड़ी की पट्टिका में दो नालियां बनी है और उनमें पारा भरा है। एक मुड़ा हुआ तार है जिसकी एक टांग एक नली में है और दूसरी टांग दूसरी नली में। यह तार पारे पर तैर रहा है। पारे और तार में धारा प्रवाहित करने पर तार स्वयमेव दाहिनी ओर हट जायगा। इसमें अन्य किसी चुम्बक के द्वारा बल रेखाएँ उत्पन्न करने की भी आवश्यकता नहीं है। कुंडली में स्वयं धारा ही के कारण जो बल-रेखाएं जा रही है उन्हीं की संख्या बढ़ाने के लिये तार दाहिनी ओर खिसक जाता है।

चित्र 16·22 की तार-कुंडली पर लगने वाले दोनों बलों (F_1, F_2) से एक बलयुग्म बन जायगा। यदि **कघ**=**खग**=b हो तथा H की दिशा ही में

चित्र 16·23

कघ हो तो इस बल-युग्म का घूर्ण $C=iHl\times b$ होगा। किन्तु $l\times b$ कुंडली का क्षेत्रफल A है।

अतः बल-युग्म का घूर्ण $\quad C=iAH$

यदि कुंडली-तल और H की दिशा में कोण θ हो तो घूर्ण

$$C=iAH\cos\theta$$

यदि कुंडली मे N फेरे हों तो $\quad C=iNAH\cos\theta$

जब $\theta=\frac{\pi}{2}$ हो तब यह घूर्ण $=0$ हो जायगा। अतः यदि कुंडली प्रारम्भ ही में इस प्रकार रखी हो कि क्षेत्र की बल-रेखाएँ उसमे अभिलम्बतः प्रवेश करें तो वह ज्यों की त्यों स्थिर रहेगी। किन्तु यदि वे उसके तल से कुछ कोण बनावें तो यह बल-युग्म कुंडली को घुमा कर बल-रेखाओं को अभिलम्ब-रूप कर देगा।

16·26—**चुम्बकीय क्षेत्र में कुंडली को घुमाने का कार्य**। इस अभिलम्ब अवस्था में कुंडलीगत बल-रेखाओं की संख्या $\mathcal{N}=AH$ होगी और अन्य स्थितियों में $\mathcal{N}\sin\theta$। यदि चित्र 16·22 की कुंडली को $\theta=0$ से $\theta=\frac{\pi}{2}$ तक घुमाने के कार्य का परिकलन किया जाय तो प्रत्यक्ष है कि यह कार्य

$$W=\int_0^{\pi/2} i\,AH\cos\theta\,d\theta$$

$$=i\,AH\Big[\sin\theta\Big]_0^{\pi/2}$$

$$=i\,AH$$

$$=i\mathcal{N}$$

यह भी प्रत्यक्ष है कि इस घूमने में चालक ने N बल रेखाओं को काटा है। अतः कहा जा सकता है कि जब कोई चालक चुम्बकीय क्षेत्र में गमन करता है तो उस कार्य में खर्च होने वाली ऊर्जा धारा की प्रबलता i और चालक द्वारा काटी हुई बल-रेखाओं की संख्या N के गुणनफल के बराबर होती है।

16·27—**दो धारावाही तारों का पारस्परिक प्रभाव।** मान लीजिये कि **क ख** और **ग घ** दो समान्तर तार हैं (चित्र 16·24) और इनमें बाणांकित दिशाओं में धाराएँ बह रही हैं। मान लीजिये कि **क ख** तो अचल है किन्तु **ग घ** स्थानान्तरित होने के लिए स्वतंत्र है। **क ख** के कारण जो चुम्बकीय क्षेत्र **ग घ** पर कार्य कर रहा है वह चित्र में विच्छिन्न रेखा के द्वारा अंकित है। स्पष्ट है कि **ग घ** पर यह क्षेत्र जो बल लगावेगा वह उसे **क ख** की ओर खींच कर ले जायगा। अतः इन दो समान्तर धाराओं में आकर्षण होता है। यदि **ग घ** में या **क ख** में धारा की दिशा बदल दी जाय तो इन तारों में प्रतिकर्षण होने लगेगा।
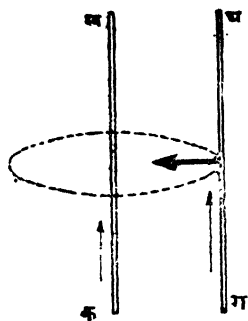
चित्र 16·24

यह बात दोनों तारों की बल-रेखाएँ खींचने से स्पष्ट हो जायगी। चित्र 16·25 में दोनों धाराएँ विपरीत दिशाओं में चल रही हैं। तारों के बीच में रेखाओं
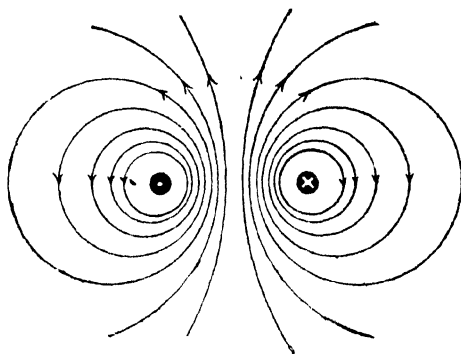
चित्र 16·25

की संख्या अधिक होने का कारण यह है कि वहाँ दोनों तारों की पृथक्-पृथक् बल-रेखाओं की दिशा एक ही है। प्रतिकर्षण इस चित्र से प्रकट ही है। यदि धाराएँ

एक ही दिशा में होती तो दोनों तारों के बीच की बल-रेखाएँ घट जाती और उनमें आकर्षण हो जाता।

चित्र 16·26 के उपकरण से यह आकर्षण या प्रतिकर्षण आसानी से देखा जा सकता है। कड़े तार को मोड़ कर एक कुंडली बना ली गई है जिसके दोनों नोकदार सिरे पारा भरे प्यालों में डूबे हैं। यह कुंडली बड़ी आसानी से अपनी अक्ष पर घूम सकती है। प्यालियों को सैल से जोड़ कर इन कुंडलियों में धारा प्रवाहित की जा
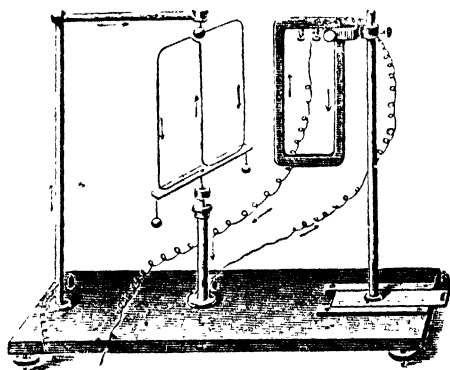
चित्र 16·26

सकती है। अब एक दूसरी चौकोर कुंडली की एक भुजा को उसके समीप समान्तर रख कर उसमें से भी धारा प्रवाहित करिए। यदि धाराओं की दिशा एक ही होगी तो दोनों में आकर्षण हो जायगा। यदि दिशा विपरीत हुई तो प्रतिकर्षण हो जायगा।
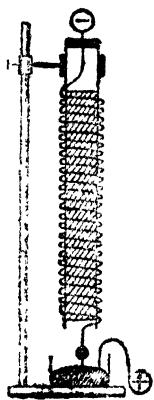
चित्र 16·27

चित्र 16·27 की सर्पिल के द्वारा भी यह बात देखी जा सकती है। सर्पिल ऊपर तो उपष्टम्भ से लगी है किन्तु उसका नीचे का छोर केवल प्याले के पारे में डूबा हुआ है। सर्पिल के मध्य में लोहे की छड़ है। इस प्याले तथा सर्पिल के ऊपर वाले छोर को सैल से जोड़ कर धारा प्रवाहित करिए। आप देखेंगे कि सर्पिल तुरन्त सिकुड़ जाती है और नीचे का सिरा पारे के बाहर निकल आता है। इससे धारा बन्द हो जाती है और सर्पिल का छोर पुनः नीचे पारे में डूब जाता है। इसी प्रकार वह बराबर ऊपर-नीचे कूदती रहती है। धारा के कारण सर्पिल के सिकुड़ने का कारण यह है कि उसके सब

फेरों में धारा एक ही दिशा में चलती है। अतः पास-पास के फेरों में आकर्षण होने के कारण ये फेरे कुछ निकट आ जाते हैं। यह उपकरण राजेट की सर्पिल (Roget's spiral) कहलाता है।

चित्र 16·28 (i) में **ग घ** तार **क ख** से लम्ब रूप है। धारा की दिशाओं से यह स्पष्ट है कि **ग घ** ऊपर की तरफ हटेगा।

चित्र (ii) में **ग घ** टेढ़ा रखा हुआ है। इसकी धारा विद्युत् को **क ख** की दिशा में भी ले जाती है और **क ख** से लम्ब रूप दिशा में **क ख** की ओर भी ले जाती है। अतः इस धारा पर **क ख** का आकर्षण भी होगा और यह ऊपर की तरफ भी हटेगी।
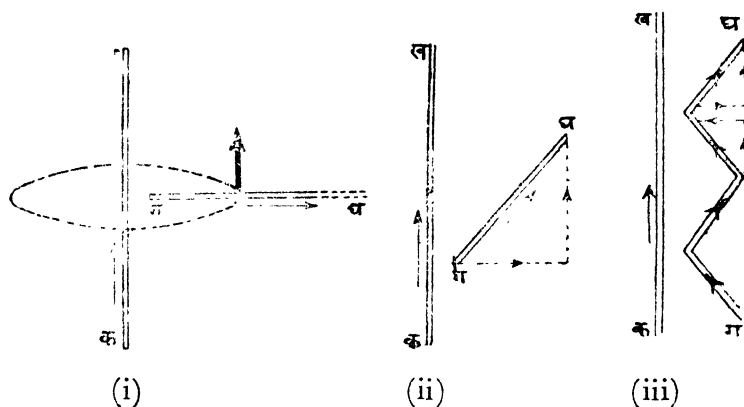
चित्र 16·28

यदि **ग घ** की धारा उलट दी जाय तो **क ख** से **ग घ** दूर भी हटेगा और नीचे की ओर भी खिसकेगा।

चित्र (iii) में तार **ग घ** लहरदार है। ऊपर के चित्रों से तुलना करने पर स्पष्ट हो जायगा कि इसके प्रत्येक भाग पर **क ख** का आकर्षण होगा। किन्तु दूसरा बल कुछ भागों पर ऊपर की ओर होगा और कुछ पर नीचे की ओर। फल यह होगा कि वह न ऊपर की ओर हटेगा और न नीचे की ओर। केवल **क ख** की ओर ही वह खिंच जायगा। इस दृष्टि से इस लहरदार तार में और सीधे तार में कुछ भी अन्तर नहीं है।

परिच्छेद 17

धारामापी (Galvanometers)

(धारा, विभवान्तर और विद्युत् की मात्रा नापने के यंत्र)

17·01—**धारामापी** (Galvanometers)। जिन यंत्रों से चुम्बकीय प्रभाव द्वारा धारा की प्रबलता नापी जाती है उन्हें धारामापी कहते हैं। इनके मुख्यतया चार भेद होते हैं।

(1) **चल-लोह धारामापी** (Moving-iron Galvanometers)। इनमे धारा एक स्थिर कुंडली मे चलाई जाती है और उसके चुम्बकीय बल मे लोह-खंड स्थानांतरित होता है।

(2) **चल चुम्बक धारामापी** (Moving-magnet Galvanometers)। इनमें कुंडली स्थिर रहती है और चुम्बकीय सूची विक्षेपित होती है।

(3) **चल-कुन्डली धारामापी** (Moving-coil Galvanometers)। इनमें चुम्बक स्थिर रहता है और उसके क्षेत्र में कुंडली घूमती है।

(4) **विद्युत्-बल-मापी** (Electro-dynamometers)। इनमें चुम्बक नही होता। धारा दो कुंडलियों में चलाई जाती है। एक कुंडली स्थिर रहती है और दूसरी कुंडली दोनों धाराओं के कर्षण के कारण विक्षेपित या स्थानांतरित होती है।
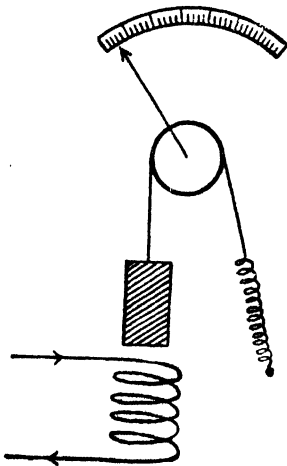
चित्र 17·01

17·02—**चल-लोह धारामापी**। इन्हें नरम-लोह धारामापी (soft-iron instruments) भी कहते हैं। यह भी दो प्रकार के होते हैं :—

(क) एक छोटी परिनालिका स्थिर रहती है और इसमें धारा चलाई जाती है। इसके मुख के निकट लोह खंड रखा रहता है जो धारा के चलाते ही आकर्षित होकर परिनालिका में प्रवेश करता है। इस लोह-खंड की गति का विरोध या तो पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण करता है या कोई कमानी। दोनों विरोधी बलों का संतुलन

होने पर लोह-खंड स्थिर हो जाता है। एक सुई अथवा संकेतक (pointer) लोह-खंड का स्थान किसी स्केल पर बता देता है और उसी से धारा की प्रबलता का नाप हो जाता है (चित्र 17·01)।

(**ख**) एक बड़ी परिनालिका में नरम लोहे की दो पतली छड़ें परिनालिका की अक्ष से समान्तर पास-पास रख दी जाती है। एक छड़ स्थिर कर दी जाती है और दूसरी स्थानांतरित हो सकती है। जब परिनालिका में धारा चलती है तो ये दोनों छड़ें चुम्बकित हो जाती हैं और दोनों के सजातीय ध्रुव पास-पास रहते हैं। अतः उनमें प्रतिकर्षण होता है और दूसरी छड़ दूर हट जाती है। इस छड़ में एक कमानी लगी रहती है जो उस स्थानांतर का विरोध करती है और एक सकेतक भी लगा रहता है जो स्केल पर धारा का माप बता देता है (चित्र 17·02)।
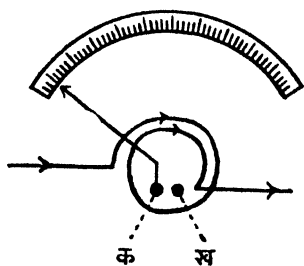
चित्र 17·02

स्पष्ट है कि इस प्रकार के धारामापी में धारा चाहे जिस दिशा में चले परिणाम एक-सा ही होता है। अतः ये प्रत्यावर्ती धारा (परि॰ 23) के नापने में भी काम आ सकते हैं।

17·03--**चल-चुम्बक धारामापी**। ये कई प्रकार के होते हैं किन्तु सब में एक छोटी सी चुम्बकीय सूची कुंडली के मध्य में लगी होती है और वह क्षैतिज तल में घूमने के लिये स्वतंत्र रहती है। वह या तो बारीक नोक की कील पर घूम सकती है या बहुत पतले रेशम के डोरे से लटकी रहती है। कील पर घूमने में घर्षण के कारण रुकावट पैदा हो जाती है और नाप यथार्थ नही हो सकता। किन्तु यह घर्षण कम किया जा सकता है। और जब धारा बहुत क्षीण न हो तो यह घर्षण उपेक्षणीय हो जाता है। डोरे से लटकाने में यह घर्षण बिलकुल नहीं होता किन्तु डोरे की ऐंठन विक्षेप का विरोध करती है। अतः डोरा बहुत ही पतला होना चाहिए। बिना बटे हुए रेशम का या स्फटिक (quartz) का अत्यन्त पतला तन्तु काम में लाया जाता है। परन्तु तब चुम्बकीय सूची बहुत हलकी होना चाहिए।

दूसरी बात जो ऐसे सभी धारामापियों में होती है वह यह है कि चुम्बकीय सूची पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र में रखी रहती है। अतः वह सदा उत्तर-दक्षिण दिशा में स्थिर

रहती है। जब धारा के चुम्बकीय बल से इस सूची का विक्षेप होता है तब पार्थिव चुम्बकत्व-क्षेत्र विक्षेप का विरोध करता है। सूची ठहरती वहाँ है जहाँ धारा-जनित बल-युग्म और पार्थिव क्षेत्र के बल-युग्म का संतुलन हो जाता है।

सूची पर एक लम्बा किन्तु हलका संकेतक लगा रहता है जिससे वृत्ताकार स्केल पर विक्षेप नापा जा सकता है। जब धारा अत्यन्त क्षीण होती है तब तो विक्षेप भी बहुत थोड़ा होता है और उसका नापना कठिन हो जाता है। ऐसी अवस्था में संकेतक
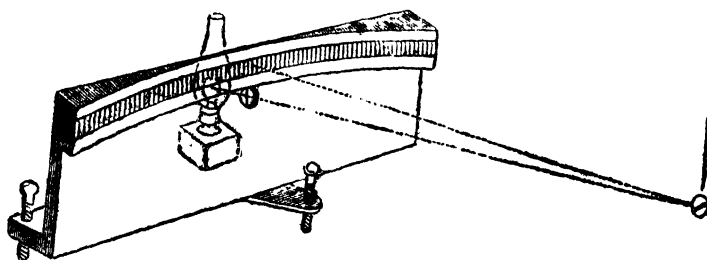
चित्र 17·03

का काम प्रकाश-किरण से लिया जाता है। सूची छोटे से समतल या अवतल दर्पण के पीछे चिपका दी जाती है और दर्पण सहित पतले सूत्र से लटका दी जाती है। प्राय: एक मीटर दूरी से प्रकाश दर्पण पर डाला जाता है और यह वहाँ से परावर्तित होकर एक ही मीटर दूरी पर रखे हुए स्केल पर पड़ता है (चित्र 17·03)। दर्पण के घूमने से परावर्तित किरणें भी दुगने कोण में घूम जाती हैं और स्केल पर पड़ने वाला प्रकाश भी स्थानांतरित हो जाता है। यदि सूची और दर्पण का 1° विक्षेप भी हो तो यह प्रकाश स्केल पर प्राय: 35 सम० हट जायगा। यदि प्रकाश को स्केल पर लैन्स द्वारा एक अत्यन्त पतली रेखा के रूप में फोकस कर लिया जाय तो इस उपाय से प्राय: $2'$ का विक्षेप भी नापा जा सकता है।

17·04—**स्पर्श-ज्या धारामापी** (Tangent Galvanometer)। यह सबसे सरल प्रकार का धारामापी है और इसके द्वारा धारा का निरपेक्ष नाप आसानी से हो सकता है (चित्र 17·04)। इसमें बड़ी-सी वृत्ताकार कुंडली ऊर्ध्वाधर

रखी रहती है। इस पर तार के कई फेरे लिपटे रहते हैं। ठीक इसके केन्द्र पर लगी कील पर चुम्बकीय सूची और उसका संकेतक लगे होते हैं।
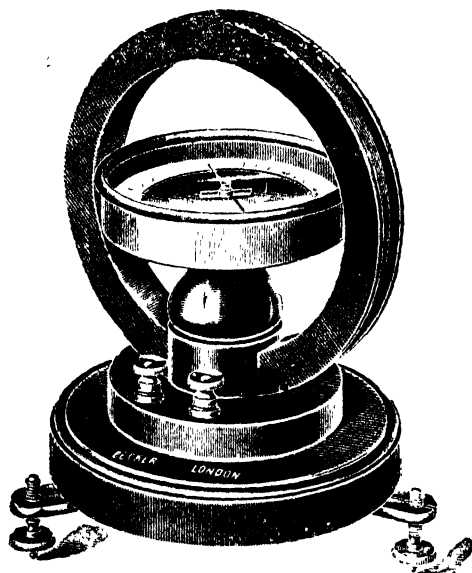
चित्र 17·04

इसके द्वारा धारा के नाप का सिद्धान्त यह है कि यदि कुंडली को ठीक चुम्बकीय याम्योत्तर तल में रख दिया जाय तो कुंडली के केन्द्र पर धारा का चुम्बकीय क्षेत्र F पार्थिव चुम्बकीय क्षेत्र के क्षैतिज घटक H से समकोणिक होता है। अतः वहाँ जो चुम्बकीय सूची हो वह F के द्वारा विक्षेपित होकर ऐसी स्थिति में संतुलित रहेगी कि उसकी अक्ष और याम्योत्तर के बीच का कोण θ निम्न समीकरण को संतुष्ट करेगा।

$$F = H \tan \theta \qquad \text{[अनु॰ 2·11]}$$

परन्तु इसमें शर्त यह है कि क्षेत्र F यथार्थतापूर्वक समांगी (uniform) होना चाहिए ताकि विक्षेप के कारण सूची-ध्रुवों पर लगने वाला बल बदले नहीं। इसके लिए एक तो कुंडली की त्रिज्या बड़ी बनाई जाती है जिससे केन्द्र के आस-पास क्षेत्र की तीव्रता सर्वत्र एक-सी रहती है और दूसरे चुम्बकीय सूची की लम्बाई इतनी कम रखी जाती है कि उसके दोनों ध्रुव सदा समांगी क्षेत्र ही में रहें।

अनु० 16·17 में यह बताया जा चुका है कि कुंडली के केन्द्र पर

$$F=\frac{2\pi Ni}{a}$$

जहाँ a कुंडली-वृत्त की त्रिज्या है और N उस पर तार के फेरों की संख्या है। अतः

$$\frac{2\pi Ni}{a}=H\tan\theta$$

या
$$i=\frac{aH}{2\pi N}\tan\theta=\frac{H}{G}\tan\theta$$
$$=K\tan\theta \text{ स० ग० स० मात्रक}$$
$$=10K\tan\theta \text{ अम्पीयर}$$

K धारामापी का नियतांक है और उसका नाम परिवर्तन-गुणक (reducion factor) है। इसका मान प्रत्येक धारामापी के लिए भिन्न होता है। किन्तु एक बार इसका मान मालूम हो जाने पर धारा की प्रबलता का परिकलन विक्षेप θ के नाप से तुरन्त हो जाता है।

अनु० 6·02 मे विक्षेप-चुम्बकत्वमापी के सम्बध मे θ के नाप की यथार्थता के लिये जो-जो उपाय बताये गये थे वे सब यहाँ भी काम में लाने चाहिए। अर्थात् संकेतक के नीचे दर्पण और उसके दोनो सिरों से θ का नाप यहाँ भी आवश्यक है। तथा धारा की दिशा बदल कर पुनः θ का नाप भी आवश्यक है क्योंकि उससे उस भूल का निराकरण हो जाता है जो कुंडली को याम्योत्तर में रखने में हो गई हो।

इसके अतिरिक्त यह भी देखना आवश्यक है कि θ न तो बहुत छोटा हो और न बहुत बड़ा। क्योंकि छोटे θ के तो नाप में भूल अधिक होगी और जब θ बहुत बड़ा हो तो $\tan\theta$ का मूल्य इतना अधिक परिवर्तित होता है, कि θ के नापने में थोड़ी सी भी भूल होने से i के नाप में बहुत अधिक भूल हो जायगी। वस्तुतः θ का सबसे अच्छा मान 45° है। यह बात निम्न रीति से प्रमाणित हो सकती है।

$$i=K\tan\theta$$
$$\therefore \quad di=K\sec^2\theta\, d\theta$$
$$\therefore \quad \frac{di}{i}=\frac{K\sec^2\theta\, d\theta}{K\tan}=\frac{2\, d\theta}{\sin 2\theta}$$

di/i स्पष्टतः i के नाप की अनुपातिक भूल (proportional error) है। इसका मूल्य न्यूनतम तब होगा जब $\sin 2\theta$ अधिकतम हो अर्थात् जब $\theta=45°$ हो। यह तो संभव नहीं है कि सदा $\theta=45°$ ही हो परन्तु उसका मूल्य 15° और 75° के बीच में ही रहना चाहिए। और इसके लिए धारामापी की कुंडली की त्रिज्या और

फेरों की संख्या ऐसी होनी चाहिये कि जिस धारा को नापना हो उससे θ उपर्युक्त मूल्य का प्राप्त हो सके ।

17·05—**हेमहोल्ट्ज़ का धारामापी** (Helmholtz Galvanometer) । ऊपर वर्णित स्पर्श-ज्या धारामापी मे धारा का नाप काफी अच्छा हो जाता है तथापि एक त्रुटि है जिसे दूर करना अधिक यथार्थ नाप के लिये आवश्यक है। वह त्रुटि यह है कि धारा का क्षेत्र F यथार्थतापूर्वक समागी नही होता । उसका मान स्थिर इतने थोडे क्षेत्रफल में रहता है कि छोटी से छोटी सूची के लिये भी पिछले अनुच्छेद का परिकलन यथार्थ नही समझा जा सकता। अतः हेल्महोल्ट्ज ने धारामापी ऐसा बनाया जिसम दो बराबर त्रिज्या वाली एक-सी कुंडलियाँ लगाई गई और इन्हें समान्तर इस प्रकार रखा गया कि उनके केन्द्रो की परस्पर दूरी उनकी त्रिज्या a के बराबर हो (चित्र 17·05) और उन दोनो केन्द्रों के ठीक बीच में
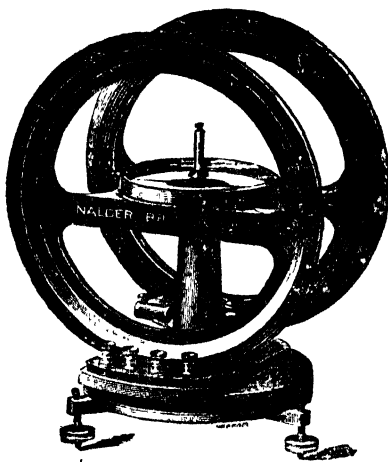
चित्र 17·05 (i)
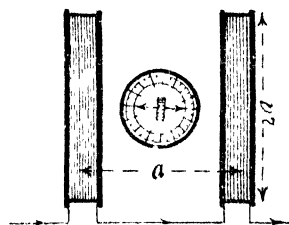
चित्र 17·05 (ii)

अर्थात प्रत्येक कुंडली से $a/2$ की दूरी पर चुम्बकीय सूची रखी गई । इस योजना से दोनों कुंडलियों का सम्मिलित क्षेत्र चुम्बकीय सूची के स्थान पर काफी दूर तक बिलकुल स्थिर मान का हो गया । यह बात निम्न परिकलन द्वारा सिद्ध की जा सकती है । अनु० 16·17 के अनुसार वृत्ताकार कुंडली की अक्ष पर केन्द्र से x दूरी पर

$$F=\frac{2\pi \mathrm{N}ia^2}{(a^2+x^2)^{3/2}}=\frac{C}{(a^2+x^2)^{3/2}}$$

यहाँ $C=2\pi\ \mathrm{N}ia^2$ अचल है ।

$$\therefore\quad \frac{dF}{dx}=-\frac{3}{2}C.\ 2x(a^2+x^2)^{-5/2}$$

तथा $$\frac{d^2F}{dx^2}=-3\,C\left\{(a^2+x^2)^{-\frac{5}{2}}-5x^2(a^2+x^2)^{-\frac{7}{2}}\right\}$$

अत: $\frac{d^2F}{dx^2}=O$ होने के लिए आवश्यक है कि

$$(a^2+x^2)^{-\frac{5}{2}}=5x^2(a^2+x^2)^{-\frac{7}{2}}$$

अर्थात् $$a^2+x^2=5x^2$$

∴ $$4x^2=a^2$$

या $$x=\frac{a}{2}.$$

इससे प्रमाणित हुआ कि हेल्महोल्ट्ज के धारामापी में चुम्बकीय सूची के पास $\frac{dF}{dx}$ स्थिर मान का होगा। इसलिये $x=\frac{a}{2}$ से थोड़ा हटने पर एक कुंडली के क्षेत्र में
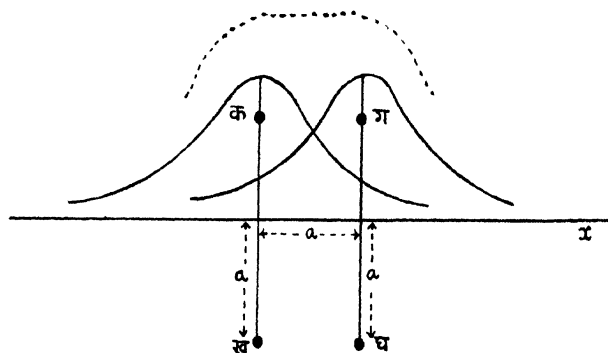
चित्र 17·06

जितनी वृद्धि होगी ठीक उतनी ही कमी दूसरी कुंडली के कारण हो जायगी। अर्थात् दोनों के सम्मिलित क्षेत्र में कुछ भी परिवर्तन नहीं होगा। यह लेखा-चित्र द्वारा चित्र 17·06 में बताया गया है। प्रत्येक कुंडली का क्षेत्र अविच्छिन्न रेखा द्वारा और सम्मिलित क्षेत्र विच्छिन्न रेखा द्वारा प्रदर्शित है।

इस धारामापी की चुम्बकीय सूची पर क्षेत्र होगा

$$F=\frac{2\times 2\pi Nia^2}{\left\{a^2+\left(\frac{a}{2}\right)^2\right\}^{\frac{3}{2}}}=\frac{32\ \pi\ Ni}{5\sqrt{5}\cdot a}$$

$$\text{अतः} \quad i = \frac{5\sqrt{5}\, aH}{32\pi N} \tan\theta \text{ और } K = \frac{5\sqrt{5}\, aH}{32\pi N}.$$

17·06—**धारामापी की सुग्राहिता बढ़ाने के उपाय**। धारा की प्रबलता के परिवर्तन से विक्षेप में होने वाले परिवर्तन की दर $\frac{d\theta}{di}$ धारामापी की सुग्राहिता (sensitiveness) कहलाती है। समीकरण $i = K\tan\theta$ से स्पष्ट है कि

$$\frac{d\theta}{di} = \frac{1}{K sec^2\theta}$$

अतः यदि हमें सुग्राहिता बढाना हो तो K को कम करना चाहिये। और

$$K = \frac{aH}{2\pi N}$$

इसलिये K को कम करने के लिये a घटाया जा सकता है, N बढ़ाया जा सकता है और H घटाया जा सकता है। पहले दो उपायों की उपयोगिता तो बहुत परिमित है क्योंकि a को अधिक छोटा करने से क्षेत्र की समांगिता नष्ट हो जाती है। और N को बहुत अधिक करने से कुंडली का प्रतिरोध बहुत बढ़ जाता है। फिर भी यथा-सम्भव ये उपाय काम में लाये ही जाते हैं। किन्तु तीसरा उपाय (H को घटाने का) बड़ा महत्वपूर्ण है।
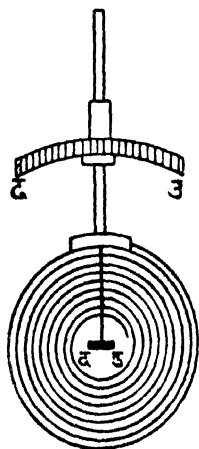
चित्र 17·07

इसकी एक विधि तो यह है कि एक दंड-चुम्बक इस प्रकार और धारामापी की सूची से इतनी दूर रख दिया जाय कि उसका क्षेत्र पृथ्वी के क्षेत्र से विपरीत दिशा में और लगभग उसके बराबर मान का हो जाय (चित्र 17·07)। ऐसी अवस्था में धारामापी की सूची को याम्योत्तर में ले जाने वाला बल घटा कर प्रायः शून्य कर दिया जा सकता है। स्पष्ट ही है कि तब अत्यन्त क्षीण धारा से भी काफी बड़ा विक्षेप प्राप्त हो सकेगा। चित्र 17.08 में ऐसा परावर्ती धारामापी है।

दूसरी विधि यह है कि दो एक-सी चुम्बकीय सूचियाँ एक के नीचे एक समान्तर इस प्रकार लगा दी जावें कि दोनों साथ ही घूमें। अलग-अलग न घूम सकें। जिधर एक का उत्तर-ध्रुव हो उधर दूसरी का दक्षिण-ध्रुव रहे। यदि इन सूचियो का चुम्बकत्व बिलकुल बराबर हो तो इस यौगिक सूची पर पृथ्वी का कुछ भी असर न होगा। ऐसी यौगिक सूची को अस्थैतिक सूची (astatic needle) कहते है क्योंकि यह किसी दिशा विशेष में स्थित नही रहती। ठीक-ठीक ऐसी व्यवस्था करना तो कठिन है किन्तु इसमें संदेह नही कि इस पर पृथ्वी का चुम्बकीय बल घटा कर बहुत ही कम कर दिया जा सकता है।

चित्र 17 08
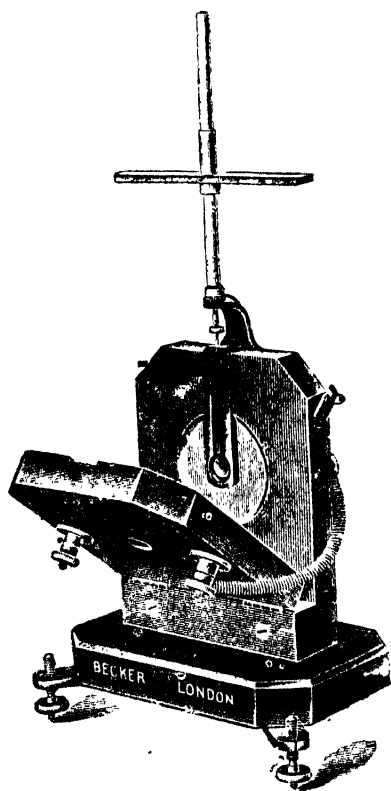
धारामापी में ऐसी अस्थैतिक सूची को काम मे लाने के लिये एक सूची को तो कुंडली के केन्द्र मे रखना होगा और दूसरी को कुंडली से बिलकुल बाहर ताकि पहली पर तो धारा का बल पूरा लग सके किन्तु दूसरी पर बिलकुल नही। अतः अब विक्षेपक बल-युग्म तो पूर्ववत् ही रहेगा किन्तु पार्थिव प्रतिविस्थापक बल-युग्म बहुत घट जायगा। फलतः विक्षेप बहुत बढ़ जायगा। इससे भी अच्छा उपाय यह है कि धारामापी में कुंडलियाँ भी दो हों और वे एक के नीचे एक स्थित हों। अस्थैतिक सूची की एक सूची ऊपर वाली कुंडली के केन्द्र पर रहे और दूसरी सूची नीचे वाली कुंडली के केन्द्र पर। और

दोनों कुंडलियों में से धारा विपरीत दिशाओं में चलाई जाय । फल यह होगा कि धारा का बल दोनों सूचियों पर लगेगा और दोनों का विक्षेप एक ही दिशा में होगा । अर्थात् विक्षेपक बल दुगना हो जायगा। यह व्यवस्था चित्र 17·09 में दिखाई गई है और इसका उपयोग चित्र 17·10 के धारामापी में किया
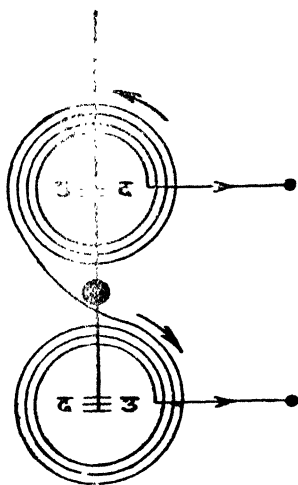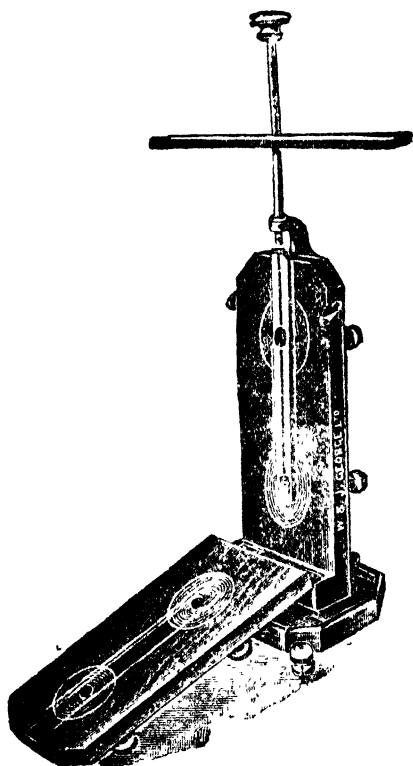
चित्र 17·09 चित्र 17·10

गया है। इसे अस्थैतिक धारामापी कहते हैं। चित्र 17·08 और 17·10 के धारामापी लार्ड कैल्विन (Lord Kelvin) ने बनाये थे। अतः ये केल्विन के धारामापी कहलाते हैं।

17·07—**ब्रोका का धारापापी** (Broca Galvanometer) स्पर्शज्या धारामापी के समीकरण $F=H \tan \theta$ से यह स्पष्ट है कि चुम्बकीय सूची के ध्रुवों की प्रबलता से उसके विक्षेप पर कोई असर नहीं पड़ता । इसलिये सुग्राहिता बढ़ाने के

लिये सूची का चुम्बकत्व बढाने से कोई लाभ नहीं। किन्तु यदि सूची अस्थैतिक हो तो ध्रुवों की प्रबलता बढाने से एक कुंडली वाले धारामापी का विक्षेप बढ़ सकता है। कुंडली की धारा का विक्षेपक बल-युग्म केवल एक सूची पर लगेगा और उसका परिमाण होगा $MF \cos \theta$, जहाँ M सूची का चुम्बकीय घूर्ण है (अनु० 2·11)। किन्तु पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र में बल-युग्म होगा $(M-M')\ H \sin \theta$ क्योंकि यह दोनों सूचियों पर लगने वाले विरोधी बल-युग्मों का परिणाम है।

यदि अस्थैतिकता पूर्ण हो तो $M-M'=O$ होगा और तब यह बलयुग्म भी शून्य हो जायगा। इस अवस्था में विक्षेप का विरोध पृथ्वी का चुम्बकीय क्षेत्र बिल्कुल नहीं करेगा। किन्तु यह काम अब केवल सूची के आलम्बन सूत्र की ऐंठन ही करेगी। इससे प्रकट होता है कि M जितना ही बडा होगा उतना ही विक्षेपक बल भी बढ़ जायगा और विक्षेप भी बड़ा हो जायगा।

किन्तु अभी तक जितने धारामापियों का वर्णन किया गया है उनमें इस उपाय का प्रयोग नहीं हो सकता क्योंकि सूची अत्यन्त हल्की होती है और उसकी लम्बाई भी छोटी होती है। अतः ध्रुव भी प्रबल नहीं हो सकते और M भी बडा नहीं हो सकता।

ब्रोका (Broca) ने एक नई प्रकार की अस्थैतिक सूची बनाई जिससे यह बात सम्भव हो गई। इसमें प्रायः 5 सम० लम्बी और २-३ मम० मोटी इस्पात की दो छड़ों को इस प्रकार चुम्बकित किया जाता है कि एक के दोनों सिरों पर उत्तर-ध्रुव और मध्य में दक्षिण-ध्रुव तथा दूसरी के दोनों सिरों पर दक्षिण-ध्रुव तथा मध्य में उत्तर ध्रुव हों। दोनों के ध्रुवों की प्रबलता भी बराबर बनाई जाती है। अब इन दोनों को प्रायः 1 सम० दूरी पर समान्तर रख कर धातु की पत्ती से जोड़ दिया जाता है। परिणाम चित्र 17·11 में प्रदर्शित है। यह आलम्बन-सूत्र से इस प्रकार लटकाई जाती है कि दोनों चुम्बकित छड़ें ऊर्ध्वाधर रहें। स्पष्ट है कि यह अस्थैतिक सूची बन जायगी। इसमें यद्यपि वास्तविक चुम्बक ऊर्ध्वाधर हैं
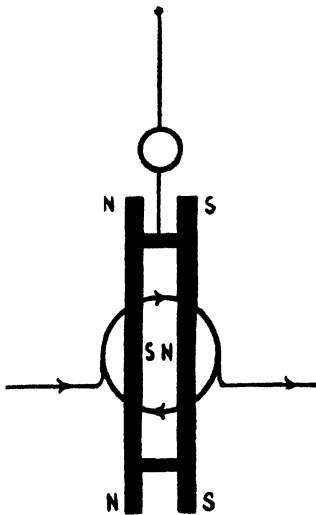
चित्र 17·11

फिर भी पार्थिव क्षेत्र के बल-युग्म की दृष्टि से ऊपर के सिरों के दो ध्रुव एक छोटी किन्तु प्रबल और क्षैतिज चुम्बकीय सूची का काम करेंगे। वैसे ही नीचे के और बीचके ध्रुव भी। बीच के ध्रुवों की प्रबलता ऊपर और नीचे वाले ध्रुवों की सम्मिलित प्रबलता के बिलकुल बराबर होगी और इनके द्वारा निर्मित सूची सिरों वाली सूचियों से विपरीत दिशा में स्थित होगी। अतः यह पूर्णरूप से अस्थैतिक सूची का काम देगी।

अब यदि इसके बीच के ध्रुवों के पास किसी ऊर्ध्वाधर वृत्ताकार कुंडली को रख दिया जाय और उस कुंडली का व्यास इन चुम्बकित छड़ों की लम्बाई से छोटा हो तो कुंडली की धारा बीच वाले ध्रुवों पर तो बल लगावेगी किन्तु सिरों वाले ध्रुवों पर नहीं। इस प्रकार बहुत ही सुग्राही धारामापी बन जायगा।

इससे प्रायः 10^{-12} अम्पीयर की धारा भी नापी जा सकती है।

17·08–चल-कुंडली धारामापी (Moving-coil Galvanometer)

अनु० 16·25 में बताया जा चुका है कि यदि कोई धारावाही कुंडली किसी चुम्बकीय क्षेत्र में इस प्रकार रखी हो कि क्षेत्र की दिशा कुंडली के तल से कोण θ बनावे तो उस पर जो बल-युग्म लगता है उसका परिमाण $C = iNAH \cos\theta$ होता है। अतः यदि कुंडली को कील पर रख कर या सूत्र से लटकाकर घूमने की स्वतंत्रता दे दी जाय तो उसका तल घूम कर क्षेत्र से समकोणिक होने का प्रयत्न करेगा। इस विक्षेपक बल-युग्म का विरोध आलम्बन-सूत्र की ऐंठन करेगी। अतः सन्तुलन के लिये

$$i\,NAH\cos\theta = c\theta$$

और
$$i = \frac{c\theta}{NAH\cos\theta}$$
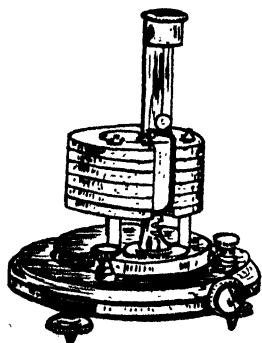
चित्र 17·12

इस समीकरण में A कुंडली का क्षेत्रफल, H चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता और c आलम्बन-सूत्र के एकांक ऐंठन से उत्पन्न बल-युग्म। यह c आलम्बन-सूत्र के पदार्थ और उसकी लम्बाई तथा मोटाई पर निर्भर नियतांक होगा। स्पष्ट है कि धारा इस समीकरण के द्वारा भी नापी जा सकती है।

इस कार्य के लिए जो धारामापी बनाये गये हैं उनकी रचना निम्न प्रकार की है। चित्र 17·12 में **उ द** किसी प्रबल नाल-चुम्बक के ध्रुव हैं। एक अत्यन्त हलकी

कुंडली हलके पीतल या अल्यूमीनियम के चौखटे पर पतले तार के कई फेरे लपेट कर बनाई गई है और उ द के बीच मे किसी धातु के अत्यन्त पतले तार के द्वारा लटका दी गई है। इसी आलम्बन-तार से कुंडली का एक सिरा जुडा हुआ है और दूसरा सिरा नीचे की तरफ अत्यन्त पतले तार की कमानी से जुड़ा हुआ है। इन्ही की सहायता से कुंडली में धारा प्रवाहित की जाती है। ये तार और कमानी फ़ास्फ़र ब्राज (phosphor bronze) धातु के बनाये जाते है।

विक्षेपक बल-युग्म $iNAH\cos\theta$ होने के कारण ज्यों-ज्यों θ बदलता है त्यों-त्यों यह बल-युग्म भी बदलता है और नापने मे सुविधा नही होती। अत: नाल-चुम्बक के ध्रुव उ द बेलनाकार अवतल बना दिये जाते है और उनके बीच मे लोहे की बेलनाकार छड़ इस प्रकार जड़ दी जाती है कि इसकी अक्ष और ध्रुवों के अवतल बेलनतलो की अक्ष एक ही रहे। इसमे चुम्बकीय बल-रेखायें चित्र 17·13 के समान त्रिज्य (radial) हो जाती है। कुडली इस प्रकार लटकाई जाती है कि लोह-छड़ उसके बीच मे रहे किन्तु वह लोह-छड़ को स्पर्श न करे। इस व्यवस्था का परिणाम यह होता है कि कुंडली का तल सदा चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा मे ही रहताहै और उस पर लगने वाले बल-युग्म का परिमाण सदा $iNAH$ ही रहता है। अतः अब
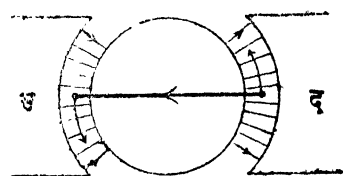
चित्र 17·13

$$i = \frac{c\theta}{NAH} = K\theta.$$

अर्थात् धारा की प्रबलता अब विक्षेप-कोण θ की अनुपाती होती है। बीच वाली लोहे की छड़ से एक और लाभ यह होता है कि नाल-चुम्बक के ध्रुवों के बीच की जगह लोहे से भर जाती है और केवल इतनी सी जगह बच रहती है कि कुंडली घूम सके। इससे क्षेत्र की तीव्रता बहुत बढ जाती है।

इस धारामापी को सुग्राही बनाने के लिये भी वैसी ही युक्तियाँ काम में लाई जाती हैं जैसी कि चल-चुम्बक धारामापी के सम्बंध में बतलाई गई थीं। कुंडली के फेरों की संख्या बढ़ा दी जाती है। इसके लिए तार बहुत ही पतला लेना पड़ता है। अन्यथा कुंडली बड़ी और भारी हो जायगी। नाल-चुम्बक की प्रबलता भी यथासंभव बढ़ा दी जाती है। और आलम्बन-सूत्र बहुत ही पतली पत्ती का बनाया जाता है जिससे उसकी ऐंठन का बल घट जाय। विक्षेप नापने के लिये प्रकाश परावर्तन का भी

उपयोग किया जाता है। यह धारामापी 10^{-11} अम्पीयर की धारा आसानी से नाप सकता है।

जब इस धारामापी को बार-बार इधर-उधर हटाने की आवश्यकता होती है तब कुंडली को इस प्रकार लटकाने मे काम नही चलता। आलम्बन की पत्ती के टूट जाने का बड़ा डर रहता है। इसलिये कुंडली घड़ी के पुर्जो के समान बारीक चूल पर बैठा दी जाती है। और घडी की बाल कमानी (hair spring) के समान ही एक कमानी इस कुंडली पर प्रतिविस्थापन बल लगाती है।

इस प्रकार के धारामापी में एक बड़ी सुविधा तो यह है कि इसको चुम्बकीय याम्योत्तर मे नही रखना पड़ता क्योंकि पार्थिव चुम्बकत्व का इस पर कोई असर नही होता। दूसरे इसके निकट लोहा या चुम्बक लाने से कुछ भी हानि नही होती। क्योंकि कुंडली पर बल लगाने वाले चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता इतनी अधिक होती है कि बाहर वाले चुम्बक या लोहे के कारण उसमे कुछ भी परिवर्तन नही होता। विपरीत इसके चल-चुम्बक धारामापी मे प्रतिविस्थापक बल पृथ्वी के क्षेत्र का बल होता है। चुम्बक या लोहे को इससे बड़ी दूर रखने पर भी उसका क्षेत्र पार्थिव क्षेत्र में बड़ा परिवर्तन कर सकता है। यही कारण है कि चल-कुडली धारामापियों का प्रचार बहुत बढ गया है।

17·09–**विद्युत् बल-मापी** (Electro-dynamometer)। इस प्रकार के धारामापी में चुम्बक नही होता। धारा दो कुंडलियो में चलाई जाती है। एक कुंडली स्थिर रहती है और दूसरी कुंडली को स्थानान्तरित होने की स्वतंत्रता रहती है। स्थिर कुंडली की धारा के चुम्बकीय क्षेत्र के कारण चल-कुडली पर बल लगता है।

केल्विन की अम्पीयर-तुला (ampere-balance) में ये कुंडलियाँ समान्तर रखी जाती है। यदि दोनों में धारा एक ही दिशा में चले तो उनमें आकर्षण होता है। इस आकर्षण बल को नापने से धारा का नाप हो जाता है क्योंकि यह बल i^2 का अनुपाती होगा।

यह आकर्षण उसी प्रकार नापा जाता है जिस प्रकार साधारण तुला से भार। तुला की डंडी के एक सिरे पर एक कुंडली क्षैतिज तल में लगी रहती है और उसके नीचे समान्तर दूसरी कुंडली स्थिर रखी जाती है। धारा प्रवाहित होने पर जो आकर्षण होता है उसका सन्तुलन डंडी के दूसरी ओर वजन रखकर करलिया जाता है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अनु० 2·01 में चुम्बकीय तुला के सम्बन्ध में बताया गया था।

वस्तुतः सुग्राहिता बढ़ाने के लिए तुला की डंडी के दोनों ओर दो कुंडलियाँ लगा दी जाती हैं और प्रत्येक कुंडली के ऊपर-नीचे दो स्थिर कुंडलियाँ रख दी जाती
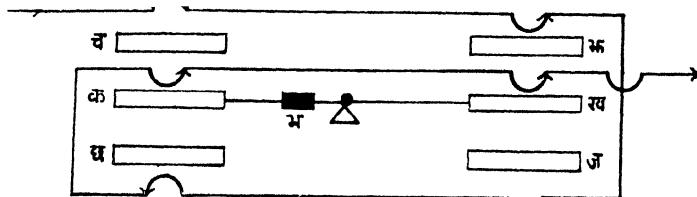
चित्र 17·14

हैं। तथा धारा की दिशा कुंडलियों में ऐसी रखी जाती है कि प्रत्येक चल-कुंडली पर लगने वाले आकर्षण और प्रतिकर्षण तुला की डंडी को एक ही ओर झुकाते हैं। चित्र 17·14 में ये 6 कुंडलियाँ तथा उनमें प्रवाहित धारा की दिशा दिखलाई गई हैं।

सीमैन (Siemen) के विद्युत् बल-मापी में कुंडलियों के तल समकोणिक होते हैं। **क** स्थिर कुंडली है। चल-कुंडली **ख** आलम्बन सूत्र **स** पर अथवा चूल पर घूम सकती है। इस पर बल-युग्म लगता है और इसका विक्षेप नापने से धारा का नाप हो जाता है क्योंकि यह भी i^2 का अनुपाती होगा (चित्र 17·15)।
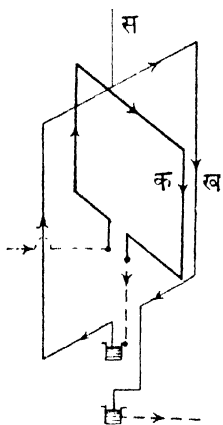
चित्र 17·15

यदि स्थिर और चल-कुंडलियों में धाराएँ अलग-अलग परिमाण की चलाई जावें तो स्थिर कुंडली का क्षेत्र तो i_1 का अनुपाती होगा और विक्षेप $i_1 \times i_2$ का। इस प्रकार $i_1 \times i_2$ का नाप भी इस बल-मापी से हो सकता है।

17·10—अम्पीयर-मापी (Ampere-meter or Ammeter)। ऊपर जितने चल-चुम्बक अथवा चल-कुंडली धारा-मापियों का वर्णन किया गया है वे सब धारा का नाप प्रत्यक्ष रूप से नहीं करते। उनमें चुम्बक का या धारावाही कुंडली का विक्षेप कोण नापा जाता है। फिर गणित की सहायता से इस विक्षेप को अथवा विक्षेप की स्पर्श-ज्या (tangent) को किसी गुणांक से गुणा करके धारा की प्रबलता का

पता लगता है। ऐसे गुणांक को धारामापी का परिवर्तन-गुणांक (reduction factor) कहते हैं।

किन्तु कुछ धारामापियों पर स्केल ऐसा लगा दिया जाता है कि जिससे चुम्बक का अथवा कुंडली का विक्षेप-कोण तो नही मालूम होता किन्तु उस विक्षेप को उत्पन्न करने वाली धारा की प्रबलता अम्पीयरों में पढ़ ली जाती है। इसमें परिकलन की आवश्यकता नही होती। इस प्रकार के धारामापी को अम्पीयर-मापी कहते हैं। चल-कुंडली-अम्पीयर मापी अधिक अच्छे समझे जाते हैं। चित्र 17·16 में ऐसा ही अम्पीयर-मापी है।
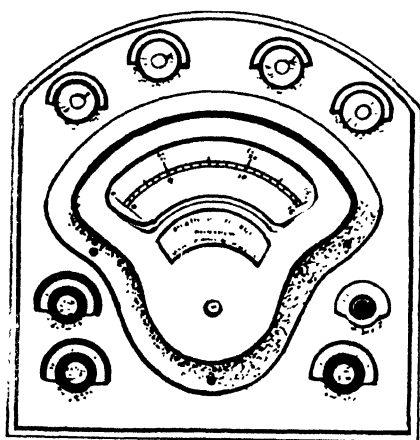
चित्र 17·16

अम्पीयर-मापी के स्केल पर अम्पीयर-द्योतक अंक लिखने का तरीका यह है कि एक ही धारा अम्पीयर मापी में तथा किसी अच्छे धारामापी में चलाई जाती है। और प्रतिरोध को घटा-बढ़ा कर इस धारा को किसी भी इच्छित प्रबलता का कर लिया जाता है। धारामापी का विक्षेप नाप कर गणित के द्वारा धारा की प्रबलता अम्पीयरों में मालूम कर ली जाती है। और फिर यही संख्या अम्पीयर-मापी के स्केल पर जहाँ उसका संकेतक (pointer) हो वहाँ लिख दी जाती है।

अम्पीयर-मापी सर्वत्र कल कारखानों में काम आते हैं और उन्हें सब प्रकार के विज्ञ और अनभिज्ञ लोग काम में लाते हैं। और इन्हें बराबर इधर से उधर उठा-उठाकर ले जाने की भी आवश्यकता पड़ती रहती है। अतः इनमें चलायमान भाग कभी रेशम के डोरे से अथवा धातु की पतली पत्ती से लटका नहीं रहता। वह चूल पर ही बैठाया हुआ रहता है।

जिस किसी धारा को नापना हो उसके परिपथ को कहीं भी काट कर तार के जो दो छोर मिलें उन्हें अम्पीयर-मापी की कुंडली के दोनों छोरों से जोड़ देना चाहिये। इससे यह कुंडली भी उस परिपथ में सम्मिलित हो जायगी और जो धारा बह रही थी
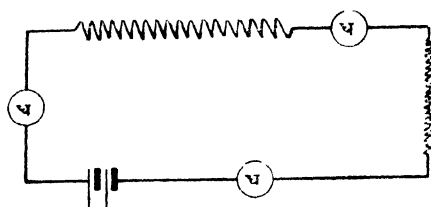
चित्र 17·17

वही अब इस कुंडली में से भी बहेगी। यह धारामापी परिपथ में किसी भी स्थान पर रखा जा सकता है क्योंकि धारा की प्रबलता सर्वत्र समान होती है (चित्र 17·17)।

किन्तु यह आवश्यक है कि अम्पीयर-मापी को परिपथ मे रख देने से उसकी पहिली धारा में परिवर्तन नही होना चाहिये। इसलिये अम्पीयर-मापी का प्रतिरोध बहुत ही थोड़ा रखना होता है।

जिस धारा से अम्पीयर-मापी के संकेतक का विक्षेप स्केल के अंत तक पहुंच जाय उसकी प्रबलता अम्पीयर-मापी की परास (range) कहलाती है। यह तो स्वयं ही प्रगट है कि जितने अम्पीयर की धारा नापना हो उससे अधिक अम्पीयर-मापी का परास होना चाहिये। किन्तु यह भी स्मरण रखना चाहिये कि अधिक परास वाले यंत्र से क्षीण धारा यथार्थतापूर्वक नही नापी जा सकती। 50 अम्पीयर परास वाले यंत्र में 1 अम्पीयर की धारा इतना थोड़ा विक्षेप करेगी कि उसका नाप ठीक-ठीक नही हो सकता। अतः धारा के अनुरूप ही अम्पीयर-मापी की परास होना चाहिये। परास को बदलने की विधि आगे अनु० 18·08 में बतलाई गई है।

17·11—**वोल्टमापी** (Voltmeter)। धारामापी के द्वारा विभव का भी नाप हो सकता है। जिन दो स्थानों का विभवान्तर नापना हो उन्हें धारामापी से जोड़ने पर अवश्य ही धारा का प्रवाह होगा। धारामापी का प्रतिरोध स्थिर होने के कारण इस धारा की प्रबलता विभवान्तर के अनुपात से ही अधिक या कम होगी। अतः इस धारा के द्वारा ही विभवान्तर नाप लिया जा सकता है।

इसमें एक ही बात ध्यान रखने योग्य है। यदि धारामापी का प्रतिरोध कम हो तो उसमें धारा बहुत प्रबल बहेगी। इससे संभव है कि जो विभवान्तर हमें नापना हो वही घट जाय। विभवान्तर नापने का उपकरण तो ऐसा होना चाहिये कि विद्युत्

धारा से हम जो कुछ काम ले रहे हों उसमें तो कुछ गड़बड़ न हो और हम विभवान्तर नाप लें। इसका उपाय यही है कि इस कार्य के लिये जिस धारामापी का उपयोग किया जाय उसका प्रतिरोध इतना अधिक होना चाहिये कि बहुत ही थोड़ी धारा उसमें से बहे। यह प्रतिरोध चाहे उसकी कुंडली का ही हो या अन्य किसी तार की कुंडली से श्रेणीबद्ध करके उत्पन्न किया गया हो इसकी कुछ चिन्ता नहीं।

जिस अधिक प्रतिरोध वाले धारामापी पर स्केल ऐसा लगा दिया जाय कि सकेतक विभवान्तर को सीधा वोल्टों में बतला दे उसे वोल्टमापी (voltmeter) कहते हैं। यह भी चल-कुंडली प्रकार का ही अच्छा समझा जाता है और इसमें भी कुंडली चूल पर ही बैठाई हुई होती है। इसकी परास भी विभवान्तर के अनुरूप ही होना चाहिये।

वोल्टमापी और अम्पीयर-मापी का यह भेद स्मरण रखने योग्य है। प्रथम तो प्रतिरोध अम्पीयर-मापी का बहुत कम और वोल्टमापी का बहुत अधिक होता है। दूसरे अम्पीयर-मापी परिपथ को तोड़ कर लगाया जाता है जिससे पूरी धारा उसमें से भी बहे। वोल्टमापी के व्यवहार में परिपथ ज्यों का त्यों रहता है। जिन बिन्दुओं
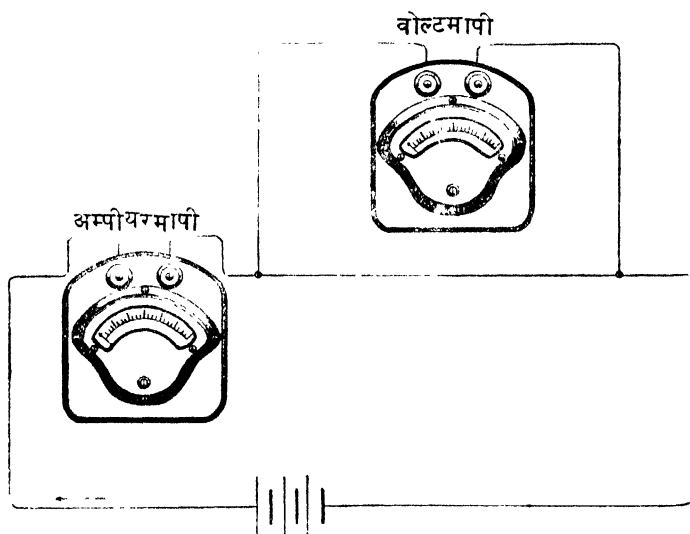
चित्र 17·18

के बीच में विभवान्तर नापना हो उनके बीच में वोल्टमापी एक नवीन मार्ग धारा के लिये उपस्थित कर देता है (चित्र 17·18)। इस मार्ग से एक नवीन धारा प्रवाहित

होती है किन्तु यह बहुत क्षीण होती है और इसके कारण परिपथ की असली धारा में जो थोड़ा-सा परिवर्तन होता है वह उपेक्षणीय होता है।

17·12—**वाटमापी** (Watt-meter)। जब किसी परिपथ में धारा i चलती है और उस परिपथ के दो विन्दु **क** और **ख** का विभवान्तर V हो तो इन दोनो बिन्दुओ के बीच में जितनी वैद्युत ऊर्जा प्रति सैकंड खर्च होती है उसका परिमाण iV वाट होता है।

इस शक्ति (power) का नाप चित्र 17·18 के अनुसार i का नाप अम्पीयर-मापी से तथा V का नाप वोल्टमापी से पृथक् पृथक् करके दोनों को गुणा करने से प्राप्त हो सकता है। किन्तु अनु० 17·09 में वर्णित विद्युत् बल-मापी के द्वारा शक्ति का नाप एक ही यंत्र से भी हो सकता है। इस बल-मापी में दो कुंडलियाँ होती हैं। हम ऐसा प्रबंध कर सकते है कि एक कुंडली में धारा $i_1 = i$ प्रवाहित हो और दूसरी के दोनों सिरे एक बड़े प्रतिरोध से श्रेणीबद्ध करके **क** और **ख** से जोड़ दिये जावें। तब यदि इस पार्श्व परिपथ का प्रतिरोध R हो तो इस दूसरी कुंडली में धारा होगी $i_2 = \frac{V}{R}$

यह बताया जा चुका है कि बल-मापी $i_1 \times i_2$ का नाप करता है। अतः हमें $i_1 \times i_2 = \frac{iV}{R}$ का नाप प्राप्त हो जायगा। और R का मूल्य नियत होने से iV का भी नाप हो जायगा। केल्विन की धारा-तुला और सीमेन के बल-मापी दोनों ही से यह काम लिया जा सकता है। किन्तु सीमेन वाला बल-मापी छोटा और अधिक सुविधा-जनक होता है।

17·13—**विद्युत् की मात्रा का नाप** (Measurement of Quantitity of Electricity)। कभी-कभी धारा बहुत ही थोड़े समय तक चलती है। ऐसी क्षणिक धारा का नाप किसी भी धारामापी से नही हो सकता क्योंकि चुम्बक या कुंडली का विक्षेप होने के लिये समय चाहिये। किन्तु ऐसी अवस्था में धारामापी से यह नापा जा सकता है कि उसमें से कुल विद्युत् की मात्रा कितनी प्रवाहित हुई। यदि धारा i हो तो समय dt में विद्युत् की मात्रा $dq = idt$ होगी। जो धारा क्षणिक होगी उसकी प्रबलता स्थिर तो होती ही नहीं। अतः यदि वह t सैकंड तक चले तो कुल मात्रा $q = \int_0^t idt$ होगी।

जब ऐसी क्षणिकधारा धारामापी की कुंडली में प्रवाहित होती है तो उसके कारण चुम्बकीय सूची को अथवा कुंडली को एक धक्का लगता है जिसकी प्रबलता q पर अवलम्बित होती है। इस धक्के से धारामापी के चल भाग में गति उत्पन्न होती है और धारा के समाप्त हो जाने के बाद धीरे-धीरे उसका विक्षेप बढ़कर अपनी चरम सीमा तक पहुँच जाता है। विक्षेप का बढ़ना तब रुकता है जब उसकी गतिज ऊर्जा स्थितिज रूप में बदल जाती है। ऐसे विक्षेप को प्रक्षेप (throw या kick) कहते है। इस प्रक्षेप के नाप से ही q का नाप होता है।

इस कार्य के लिये चल-चुम्बक और चल-कुडली दोनो ही प्रकार के धारामापी काम मे आते है। किन्तु उन्हे कुछ विशेष प्रकार के बनाना पडता और उन्हें तब प्राक्षेपिक धारामापी (ballistic galvanometer) कहते है। इसकी बनावट में दो बातें मुख्य हैं। एक तो यह कि उसका चल-भाग इतना धीरे-धीरे चलना चाहिये कि जब तक कुंडली में क्षणिक धारा का प्रवाह होता रहे तब तक विक्षेप कुछ भी न हो पावे। इसके बिना q का नाप यथार्थतापूर्वक न हो सकेगा क्योंकि जो समीकरण इस नाप के लिये नीचे प्राप्त किये गये है उनमें यह बात मान ली गई है। किसी भी धारामापी में विक्षेप हो जाने पर यदि धारा का प्रवाह रोक दिया जाय तो चुम्बकीय सूची या कुंडली बड़ी देर तक दोलन करती रहती है। ऊपर लिखी शर्त पूरी करने के लिये इस दोलन का आवर्तकाल (periodic time) बडा होना ही चाहिये। दोलित चुम्बक के लिये अनु० 2·21 में बताया जा चुका है कि आवर्त-काल $T=2\pi\sqrt{\dfrac{I}{MH}}$ होता है, जहाँ I चुम्बक का अवस्थितित्व-घूर्ण (moment of enertia) है। इसी प्रकार यदि कुंडली दोलन करे तो उसका आवर्त-काल $=2\pi\sqrt{\dfrac{I}{c}}$ जहाँ c आलम्बन-सूत्र की एक रेडियन की ऐंटन से उत्पन्न बल-युग्म है। दोनों ही का आवर्त-काल बड़ा होने के लिये आवश्यक है कि I बड़ा हो।

दूसरी बात यह है कि दोलन को रोकने वाला बल बहुत कम हो। अन्यथा प्रक्षेप जितना होना चाहिये उससे कम होगा। किसी भी दोलन करने वाली वस्तु के दोलनो को देखें तो मालूम होगा कि आयाम (amplitude) क्रमशः घटता जाता है। चाहे बायु की श्यानता (viscosity) से उत्पन्न रुकावट के कारण हो अथवा धारामापी की कुंडली पर लगने वाले विद्युत्-चुम्बकीय बल (अनु०16 25) के कारण हो, यह अवमन्दन (damping) बहुत कम होना चाहिये। वास्तव में इस नाप की दृष्टि से तो अवमन्दन बिलकुल भी नहीं होना चाहिये। किन्तु ऐसा हो नहीं

सकता और थोड़ा बहुत अवमन्दन अवश्य ही विद्यमान रहता है। इससे नाप में जो भूल होती है उसका निराकरण करने का उपाय आगे अनु० 17·16 में बताया गया है।

यदि ये दोनों बातें किसी धारामापी में हों तो चाहे उसमें चुम्बक घूमता हो चाहे कुंडली, वह प्राक्षेपिक धारामापी का काम दे सकता है। अब हम दोनों प्रकार के धारामापियों के लिये उपयोगी समीकरण प्राप्त करने की विधि बतावेंगे।

17·14—**चल-चुम्बक प्रक्षेप धारामापी** (Moving Magnet Ballistic Galvanometer)। अनु० 2·19 में बताया जा चुका है कि चुम्बक को पृथ्वी के क्षेत्र H में याम्योत्तर से कोण θ में विक्षेपित करने के लिये आवश्यक ऊर्जा $W = MH(1-\cos\theta)$ है जहाँ M चुम्बक का चुम्बकीय घूर्ण है। यह ऊर्जा धारामापी में से विद्युत् की मात्रा q के क्षणिक प्रवाह से उत्पन्न ऊर्जा ही हो सकती है जो विक्षेप के प्रारम्भ ही में चुम्बक में गतिज रूप में प्रगट होती है और उसमें कोणिक वेग ω उत्पन्न कर देती है। यदि चुम्बक का अवस्थितित्व-घूर्ण I हो तो गतिज ऊर्जा $= \frac{1}{2} I\omega^2$

$$\therefore \qquad \tfrac{1}{2} I\omega^2 = MH(1-\cos\theta) = 2MH\sin^2\frac{\theta}{2}$$

$$\therefore \qquad \omega = 2\sqrt{\frac{MH}{I}}\cdot\sin\frac{\theta}{2}.$$

मान लीजिये कि किसी क्षण कुंडली में धारा i है। इससे उसके केन्द्र पर चुम्बकीय क्षेत्र होगा Gi। अतः चुम्बक पर लगने वाला बल-युग्म $C = MGi$

यदि इस बल-युग्म के लगते रहने का काल dt हो तो उसके द्वारा उत्पन्न संवेग-घूर्ण (moment of impulse) होगा $MGi\,dt$। अतः पूरे आवेश q के प्रवाहित होने से उत्पन्न

$$\text{संवेग-घूर्ण} = \int_o^t MGi\,dt = MGq.$$

इसी संवेग के कारण चुम्बक का कोणीय संवेग (angular momentum) शून्य से बढ़कर $I\omega$ हो गया है। किन्तु गतिकी के नियमानुसार

संवेग-घूर्ण = कोणीय आवेग की वृद्धि

$$\therefore \qquad MGq = I\omega$$

$$= 2I\sqrt{\frac{MH}{I}}\sin\frac{\theta}{2}$$

$$\therefore \quad q=\frac{2H}{G}\sqrt{\frac{I}{MH}}\cdot\sin\frac{\theta}{2}$$

किन्तु $\quad T=2\pi\sqrt{\frac{I}{MH}}$

$$\therefore \quad q=\frac{HT}{G\cdot\pi}\sin\frac{\theta}{2}=\frac{KT}{\pi}\sin\frac{\theta}{2}=2\,K'\sin\frac{\theta}{2}$$

जहाँ $\quad K'=\frac{KT}{2\pi}$ ।

यदि θ छोटा हो तो $\sin\frac{\theta}{2}=\frac{\theta}{2}$ (सन्निकटतः)

$$\therefore \quad q=K'\theta$$

K' धारामापी का प्राक्षेपिक परिवर्तन गुणांक है और

$$K'=\frac{T}{2\pi}K=\frac{T}{2\pi}\cdot\frac{H}{G}$$

17·15—**चल-कुंडली प्रक्षेप धारामापी** (Moving-coil Ballistic Galvanometer)। मान लीजिये कि नाल-चुम्बक के जिस चुम्बकीय क्षेत्र में कुंडली घूमती है उसका परिमाण है H और यह त्रिज्य भी है ।

तब अनु० 17·08 के अनुसार विक्षेप θ होने से उस पर लगने वाला बल-युग्म

$$C=iNAH$$

और इसका संवेग-घूर्ण $=NAH\int_0^t idt=NAHq$

अतः चल-चुम्बक धारामापी के ही समान यहाँ भी

$$I\omega=NAHq \qquad \dots \quad \dots \qquad (1)$$

किन्तु कुंडली की प्रारंभिक गतिज ऊर्जा है $\frac{1}{2}I\omega^2$ और विक्षेप θ होने पर ऐंठन का बल-युग्म होगा $c\theta$ ।

अतः स्थितिज ऊर्जा = विक्षेप में होने वाला कार्य

$$=\int_0^\theta c\theta d\theta=\tfrac{1}{2}c\theta^2$$

$$\therefore \quad \tfrac{1}{2}I\omega^2=\tfrac{1}{2}c\theta^2 \qquad \dots \quad \dots \qquad (2)$$

समीकरण 1 और 2 से $q^2 = \frac{I\omega^{22}}{(NAH)^2} = \frac{I\omega^2}{(NAH)^2} \cdot I = \frac{c\theta^2}{(NAH)^2} I$

$$= \frac{c^2}{(NAH)^2} \cdot \frac{I}{c} \cdot \theta^2$$

किन्तु कुंडली के दोलनों का आवर्त-काल $T = 2\pi\sqrt{\frac{I}{c}}$

$$\therefore \; q = \frac{cT}{2\pi NAH}\theta = \frac{c}{NAH} \cdot \frac{T}{2\pi} \cdot \theta$$

$$= \frac{KT}{2\pi} \cdot \theta = K'\theta$$

प्राक्षेपिक परिवर्तन-गुणांक K' का मान जानने के कई तरीके हैं जो यथास्थान बताये जायेंगे। यहाँ केवल यही तरीका बताया जायगा जिसमें पहिले धारामापी का परिवर्तन-गुणांक K और कुंडली का आवर्त-काल T नापा जाता है और तब $K' = \frac{K'}{2\pi}$

धारामापी में ज्ञात मान की धारा चलाकर विक्षेप नापने से $i = K\theta$ के द्वारा K ज्ञात हो जाता है। और विरामघड़ी (stop watch) के द्वारा T नाप लिया जाता है।

17·16—**अवमन्दन** (Damping)। ऊपर अनु० 17·13 में अवमन्दन का वर्णन किया गया है। पिछले दो अनुच्छेदों में यह मान लिया गया था कि धारामापी के चल भाग में धारा जितनी प्रारंभिक गतिज ऊर्जा उत्पन्न करती है वह सब की सब प्रक्षेप θ की स्थितिज ऊर्जा के रूप में परिवर्तित हो जाती है। किन्तु वास्तव में ऊर्जा का कुछ भाग अवमन्दनकारी बलों के विरुद्ध खर्च हो जाता है। अतः θ का परिमाण कुछ कम रह जाता है। इसलिये q के नाप में यथार्थता प्राप्त करने के लिये θ के मान में संशोधन करने की आवश्यकता होती है।

अवमन्दन-युक्त दोलनों के अध्ययन से मालूम हुआ है कि यदि दोनों पार्श्वों के क्रमागत आयाम θ_1, θ_2, θ_3........आदि हों तो $\frac{\theta_1}{\theta_2} = \frac{\theta_2}{\theta_3} = \frac{\theta_3}{\theta_4} \ldots\ldots = d$

इस अचर d को ह्रास (decrement) और $\log d = \lambda$ को लघुगणकीय ह्रास (logarithmic decrement) कहते है।

$$\therefore \qquad d = e^{\lambda}$$

अर्थात् आधे आवर्त-काल में $\theta_1/\theta_2 = e^{\lambda}$ होता है।

पूरे आवर्त-काल में ह्रास होगा $\theta_1/\theta_3 = \theta_1/\theta_2 \times \theta_2/\theta_3 = d^2 = e^{2\lambda}$

स्पष्ट है कि यह ह्रास समय का अनुपाती होता है। प्राक्षेपिक धारामापियों में विद्युत् के प्रवाहित होने के बाद $T/4$ समय में प्रक्षेप पूर्णता को प्राप्त करता है। इतने समय में ह्रास होगा $e^{\lambda/2}$ ।

अतः यदि यथार्थ प्रक्षेप θ हो और नापा हुआ प्रक्षेप θ_1 हो तो

$$\theta_1 = \theta e^{\lambda/2} = \theta(1+\lambda/2) \qquad \text{(सन्निकटतः यदि } \lambda \text{ छोटा हो)}$$

इसलिये नापे हुए प्रक्षेप को $(1+\lambda/2)$ से गुणा करने ही से यथार्थ प्रक्षेप ज्ञात हो सकेगा ।

λ का नाप सरल है। दोलन के क्रमागत कई आयामों का पाठ ले लीजिये। तब

$$d = e^{\lambda} = \theta_1/\theta_2 = \theta_2/\theta_3 = \theta_3/\theta_4 = \ldots \ldots = \theta_{n-1}/\theta_n$$

$$= \frac{\theta_1+\theta_2+\theta_3+\ldots\ldots+\theta_{n-1}}{\theta_2+\theta_3+\theta_4+\ldots\ldots+\theta_{n-1}}$$

$$\therefore \qquad \lambda = \log\frac{\theta_1+\theta_2+\theta_3+\ldots\ldots\ldots+\theta_{n-1}}{\theta_2+\theta_3+\theta_4+\ldots\ldots\ldots+\theta_n}$$

इसका परिकलन यों भी हो सकता है :—

$$\theta_1/\theta_n = e^{(n-1)\lambda}$$

$$\therefore \qquad \lambda = \frac{1}{n-1}\log\ (\theta_1/\theta_n)$$

पहिली रीति से λ का मान अधिक यथार्थतापूर्वक प्राप्त होता है क्योंकि दूसरी रीति में वह केवल दो पाठ θ_1 और θ_n पर ही निर्भर होता है। और इन पाठों में जो भूल रह गई हो उसका λ के मान पर बहुत अधिक असर पड़ता है। पहिली रीति में सब आयामों के पाठ काम में आते हैं और पाठों की भूलों का परस्पर निराकरण हो जाता है। साधारणतः 8 या 10 आयामों का पाठ लेना ही पर्याप्त होता है।

परिच्छेद 18

(क) प्रतिरोध

(Resistance)

18·01 – **ओह्म का नियम** (Ohm's Law)। परिच्छेद 17 में धारा की प्रबलता तथा विभवान्तर नापने की युक्ति तथा इस कार्य के लिये आवश्यक अम्पीयर-मापी तथा वोल्टमापी का वर्णन हो चुका है। और यह भी बताया जा चुका है कि जब कभी विद्युत्-धारा किसी चालक में से बहती है तब उस चालक का विभव भी धारा के प्रवेश स्थान से धारा की दिशा में धीरे-धीरे घटता जाता है। अब हमे यह देखना है कि धारा की प्रबलता में और इस विभव मे क्या सम्बंध है।

जर्मन सिलवर या यूरिका के पतले तार की एक कुंडली **प्र** ले लीजिये और चित्र 18·01 के समान अम्पीयर-मापी, **ध** विसर्पी प्रतिरोध तथा बैटरी से उसके
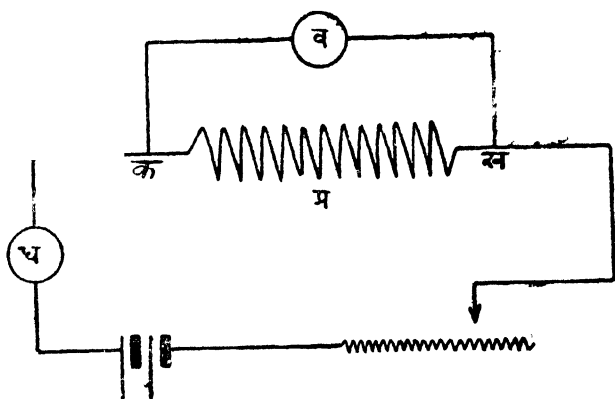
चित्र 18·01

दोनों सिरे **क** और **ख** जोड़ दीजिए। **क** और **ख** से एक वोल्टमापी **व** भी लगा दीजिये। इस प्रकार आप को **प्र** में धारा की प्रबलता भी ज्ञात हो जायगी और **क** और **ख** का विभवान्तर भी मालूम हो जायगा। विसर्पी प्रतिरोध के द्वारा या बैटरी की सैलों की संख्या बदल कर आप कुंडली में से इच्छानुसार

प्रबलता वाली धारा भेज सकते हैं। आप देखेंगे कि ज्यों-ज्यों धारा बढ़ाई जायगी, विभवान्तर भी बढ़ता जायगा। वस्तुतः विभवान्तर V धारा की प्रबलता i का अनुपाती प्रमाणित होगा। अर्थात् $\frac{V}{i}$ = स्थिर।

यदि उक्त कुंडली के स्थान में आप कोई दूसरी कुडली ले तब भी उसके सिरों का विभवान्तर और धारा की प्रबलता का अनुपात स्थिर मिलेगा किन्तु इस अनुपात का परिमाण प्रथम कुडली सम्बधी अनुपात से भिन्न होगा। यदि कुडली उस ही तार की हो किन्तु तार की लम्बाई छोटी हो तो यह अनुपात भी कम होगा।

इन प्रयोगों से प्रगट है कि प्रत्येक चालक के लिये उसके दोनों सिरों के विभवान्तर तथा उसमें प्रवाहित होने वाली धारा की प्रबलता का अनुपात स्थिर रहता है और भिन्न-भिन्न चालकों के लिये इस अनुपात के मान भिन्न-भिन्न होते हैं। यह ओह्म (Ohm) का नियम कहलाता है। सन् 1827 में जर्मनी निवासी डा० ओह्म ने इस नियम का आविष्कार किया था।

18·02—**प्रतिरोध** (Resistance)। उपर्युक्त ओह्मीय अनुपात की विभिन्नता से प्रगट है कि यदि हम विसर्पी प्रतिरोध के द्वारा विभवान्तर दोनों कुडलियों के लिये बराबर भी कर दे तथापि जिस कुंडली के लिये अनुपात का मान अधिक होगा उसमें धारा की प्रबलता भी कम रहेगी। विभवान्तर बराबर होने पर धारा की भिन्नता का कारण प्रतिरोध ही हो सकता है। अतः ओह्मीय अनुपात को हम प्रतिरोध का ही प्रभाव समझ सकते हैं। और इस अनुपात के द्वारा प्रतिरोध का नाप भी हो सकता है। इस नाप के लिये विभवान्तर वोल्टों में नापना चाहिये और धारा अम्पीयरों में। स्पष्ट ही है कि यदि किसी चालक में 1 अम्पीयर की धारा बहाने के लिये 1 वोल्ट का विभवान्तर उसके सिरों के बीच में होना आवश्यक हो तो उस चालक के लिये इस अनुपात का मान 1 होगा। यही प्रतिरोध का मात्रक नियत कर लिया गया है। और ओह्म की स्मृति में इस मात्रक का नाम भी ओह्म रख लिया गया है। उक्त चालक का प्रतिरोध 1 ओह्म कहलाता है।

$$\frac{1 \text{ वोल्ट}}{1 \text{ अम्पीयर}} = 1 \text{ ओह्म}$$

इस हिसाब से यदि किसी चालक के सिरों के बीच में विभवान्तर V वोल्ट हो और उसमें धारा i अम्पीयर हो तो उसका प्रतिरोध हुआ

$$R = \frac{V}{i} \text{ ओह्म} \quad \dots \quad \dots \quad (1)$$

समीकरण $R=\frac{V}{i}$ से स्पष्ट है कि

$$i=\frac{V}{R} \quad \ldots \quad \ldots \quad \ldots \quad (2)$$

तथा

$$V=iR \quad \ldots \quad \ldots \quad \ldots \quad (3)$$

अतः विभवान्तर, धारा और प्रतिरोध इन तीनोमें से कोई भी दो ज्ञात होने पर तीसरा तुरन्त मालूम हो सकता है।

18·03—**विप्रतिरोध**—(Conductance) । प्रतिरोध की व्युत्क्रम (reciprocal) संख्या का नाम विप्रतिरोध है। विप्रतिरोध $=\frac{1}{R}=\frac{i}{V}$

इसके मात्रक का नाम ओह्म का उलटा म्हो (mho) रख दिया गया है। किन्तु विप्रतिरोध के नाप का रिवाज कम है।

18·04—**प्रतिरोधों का श्रेणीबंधन** (Resistances in Series)। यदि कई चालक या (प्रतिरोधक) प्र$_1$ प्र$_2$, प्र$_3$ चित्र 18·02 के समान सम्बद्ध हों तो उन्हे श्रेणीबद्ध कहते हैं। इस श्रेणीबधन मे जो धारा प्रथम प्रतिरोधक मे प्रवेश करती है वही क्रमशः दूसरे तीसरे प्रतिरोधकों में भी प्रवाहित होती है।
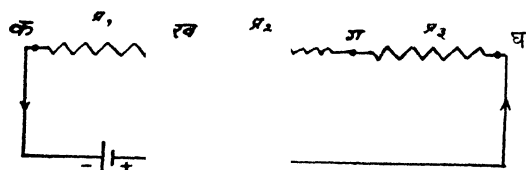
चित्र 18·02

ओह्म के नियमानुसार यह प्रमाणित करना कठिन नही कि इन श्रेणीबद्ध चालको का प्रतिरोध सब चालको के प्रतिरोधों की जोड़ के बराबर होगा।

मान लीजिये कि इनके प्रतिरोध क्रमशः R_1, R_2, R_3 हे और जो धारा इनमें प्रवाहित हो रही है उसका परिमाण i है। अतः उपर्युक्त समीकरण (3) के अनुसार

क और **ख** का विभवान्तर $=V_1=iR_1$
ख और **ग** ,, $=V_2=iR_2$
ग और **घ** ,, $=V_3=iR_3$

अतः **क और घ** का विभवान्तर $V=V_1+V_2+V_3=i(R_1+R_2+R_3)$

यदि **क** से लेकर **घ** तक के चालक समुदाय को एक ही चालक समझा जाय तो उसका प्रतिरोध $R = \frac{V}{i} = \frac{i(R_1+R_2+R_3)}{i}$

$$\therefore \quad R = R_1+R_2+R_3 \quad \ldots \quad (4)$$

18·05—प्रतिरोधों का पार्श्वबंधन (Resistances in Parallel)। कभी कभी कई चालक चित्र 18·03 के समान भी जोड़ दिये जाते हैं। सभी चालकों का एक एक सिरा तो **क** परा जुड़ा है और दूसरा **ख** पर। जो धारा **ख** पर दाहिनी ओर से आवेगी उसको यहाँ से आगे जाने के लिये तीन पृथक् मार्ग उपलब्ध हैं। अतः उस धारा का कुछ भाग प्रथम चालक में से जायगा,
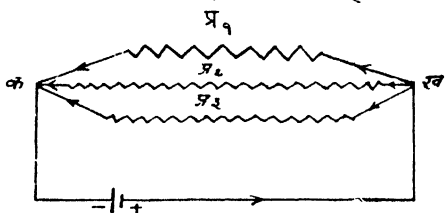
चित्र 18·03

कुछ द्वितीय में से और कुछ तृतीय में से। यदि इन भागों का परिमाण क्रमशः i_1, i_2, और i_3 हो तो स्पष्ट ही है कि पूरी धारा $i = i_1+i_2+i_3$

यदि इन चालकों का प्रतिरोध क्रमशः R_1, R_2, R_3 हो और **क** और **ख** का विभवान्तर V हो तो ओह्म के नियमानुसार प्रगट है कि

$$i_1 = \frac{V}{R_1}\,; \quad i_2 = \frac{V}{R_2}\,; \quad i_3 = \frac{V}{R_3}$$

$$\therefore \quad i = i_1+i_2+i_3 = V\left(\frac{1}{R_1}+\frac{1}{R_2}+\frac{1}{R_3}\right)$$

यदि इन तीनों चालकों का सम्मिलित प्रतिरोध R हो तो

$$i = \frac{V}{R}$$

$$\therefore \quad \frac{1}{R} = \frac{1}{R_1}+\frac{1}{R_2}+\frac{1}{R_3} \quad \ldots \quad \ldots \quad (5)$$

यदि C_1, C_2, C_3 क्रमशः इन चालकों के विप्रतिरोध हों और C उनका सम्मिलित विप्रतिरोध हो तो उपर्युक्त समीकरण का रूप यह हो जायगा

$$C = C_1+C_2+C_3 \quad \ldots \quad \ldots \quad (6)$$

जब चालकों का श्रेणीबंधन होता है तब तो प्रत्येक चालक धारा के मार्ग में प्रतिरोध बढ़ाता है। अतः सब प्रतिरोधों को जोड़ने से सम्मिलित प्रतिरोध मालूम होता है।

पार्श्वबंधन में प्रत्येक चालक धारा के लिये नवीन मार्ग प्रस्तुत कर देता है। वह वास्तव में धारा के चालन में सहायता करता है। अतः पार्श्वबद्ध चालकों का प्रतिरोध घट जाता है। उनका सम्मिलित प्रतिरोध उनमें से न्यूनतम प्रतिरोध से भी कम होता है।

मान लीजिये कि किसी परिपथ में **क** और **ख** के बीच प्रतिरोध 4 ओह्म है। यदि एक और प्रतिरोध 12 ओह्म का इस से पार्श्वबद्ध कर दिया जाय तो दोनों का सम्मिलित प्रतिरोध R निम्न समीकरण से प्राप्त होगा

$$1/R = \tfrac{1}{4} + \tfrac{1}{12} = \tfrac{1}{3}$$

अतः $$R = 3 \text{ ओह्म}$$

पार्श्वबंधन के सम्बंध में यह जानना बड़ा आवश्यक है कि पूरी धारा का भिन्न-भिन्न चालकों में किस प्रकार वितरण होता है।

यह तो प्रत्यक्ष ही है कि जिस चालक का प्रतिरोध कम होगा उसमें से धारा अधिक प्रबल चलेगी क्यों कि विभवान्तर सबके लिये बराबर ही है। किन्तु धाराओं का संख्यात्मक सम्बद्ध भी जानने के योग्य है। यदि चालक दो ही हों और उनके प्रतिरोध क्रमशः R_1 और R_2 हो और उनमें प्रवाहित होने वाली धाराएँ i_1 और i_2 हों तो

$$V = R_1 i_1 = R_2 i_2$$

$$\therefore \quad \frac{i_1}{i_2} = \frac{R_2}{R_1} \quad \ldots \quad \ldots \quad (7)$$

प्रत्येक चालक में धारा का मान प्रतिरोध का उत्क्रमानुपाती होता है। यदि पूरी धारा i हो तो ऊपर बताया जा चुका है कि

$$i = V\left(\frac{1}{R_1} + \frac{1}{R_2}\right)$$

$$\therefore \quad i_1 = \frac{V}{R_1} = \frac{1}{R_1} \times \frac{i}{(1/R_1 + 1/R_2)}$$

$$\left.\begin{aligned} \text{या} \quad i_1 &= \frac{R_2}{R_1 + R_2} \cdot i \\ \text{तथा} \quad i_2 &= \frac{R_1}{R_1 + R_2}\, i \end{aligned}\right\} \quad \ldots \quad (8)$$

ऊपर के उदाहरण में यदि पूरी धारा 4 अम्पीयर की हो तो 4 ओह्म वाले चालक

में धारा $\frac{12}{12+4} \times 4 = 3$ अम्पीयर और 12 ओह्म वाले चालक में धारा $\frac{4}{12+4} \times 4 = 1$ अम्पीयर होगी। इस बात की परीक्षा तीन अम्पीयर-मापियों
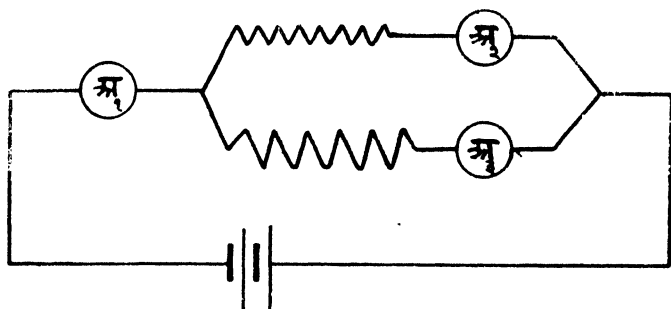
चित्र 18·04

को चित्र 18·04 की भांति रख कर तुरन्त की जा सकती है।

18·06—**पार्श्ववाही** (Shunt)। धारा के वितरण का यह तरीका बड़े काम का है। कभी-कभी प्रबल धारा को सुग्राही धारामापी के द्वारा नापने की आवश्यकता हो जाती है। यदि ऐसा धारामापी यों ही उस धारा के परिपथ में सम्मिलित कर दिया जाय तो उसका विक्षेप इतना अधिक होगा कि उसके झटके से धारामापी टूट सकता है या उससे उत्पन्न ताप के कारण धारामापी की कुंडली जल जा सकती है। अतः यह आवश्यक होता है कि उस प्रबल धारा का कुछ थोड़ा ही सा अंश धारामापी में से चलाया जाय। इसलिये एक अन्य चालक या प्रतिरोधक धारामापी से पार्श्वबद्ध कर दिया जाता है। इसका नाम पार्श्ववाही है। इससे मुख्य धारा i दो भागों में विभक्त हो जाती है और धारावाही में से एक ही भाग
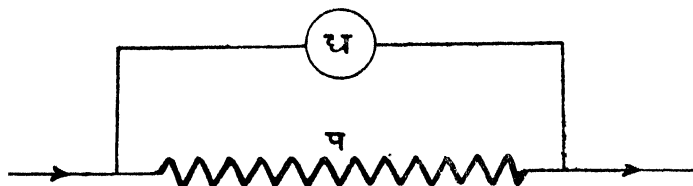
चित्र 18·05

i_1 प्रवाहित होता है। दूसरा भाग i_2 पार्श्ववाही में से जाता है। चित्र 18·05 में **प** पार्श्ववाही है। यदि **प** का प्रतिरोध धारामापी के प्रतिरोध के $\frac{1}{9}$-वें भाग के बराबर

हो, तो पिछले प्रकरण से स्पष्ट है कि धारामापी में पूरी धारा का $\frac{1}{10}$-वां भाग ही प्रवाहित होगा। यदि प का प्रतिरोध $\frac{1}{99}$-वां भाग हो तो अविभक्त धारा का $\frac{1}{100}$-वां भाग धारामापी में से बहेगा।

यह पार्श्ववाही बहुधा बक्स की आकृति का बनाया जाता है और उसमें तीन कुंडलियाँ रहती हैं जिनका प्रतिरोध धारामापी के प्रतिरोध का क्रमशः $\frac{1}{9}$वां, $\frac{1}{99}$वां और $\frac{1}{999}$वा भाग होता है। इन तीनों में से कोई भी कुंडली इच्छानुसार धारामापी से पार्श्वबद्ध की जा सकती है, और धारामापी में पूरी धारा का ·1, ·01 या ·001वाँ भाग प्रवाहित किया जा सकता है। ऐसे पार्श्ववाही प्रत्येक धारामापी के लिए अलग-अलग बनाने पड़ते हैं।

किन्तु एक प्रकार का पार्श्ववाही ऐसा भी बनाया जाता है जो प्रत्येक धारामापी के साथ काम में आ सकता है। इसका नाम आयर्टन-मैथर (Ayrton-

चित्र 18·06
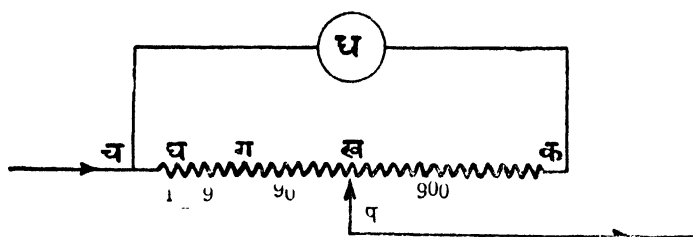
Mather) का सार्वत्रिक पार्श्ववाही (universal shunt) है। इस का मर्म-चित्र चित्र 18·06 में दिया गया है।

पार्श्ववाही का पूरा प्रतिरोध R है। वह चार भागों में इस प्रकार विभक्त है कि **च घ**, **च ग**, **च ख**, **च क** का प्रतिरोध क्रमशः $\frac{R}{1000}, \frac{R}{100}, \frac{R}{10}$ और R है। धारा **च** पर प्रवेश कर के **प** पर पार्श्ववाही से निकल जाती है। **प** इच्छानुसार **क**, **ख**, **ग**, **घ** से जोडा जा सकता है। जिससे कुछ प्रतिरोध तो धारामापी से श्रेणीबद्ध हो जाता है और कुछ पार्श्वबद्ध।

जब **प** और **क** जुड़े हों तब दोनों पार्श्वबद्ध पथों के प्रतिरोध क्रमशः G और R होंगे। अतः धारामापी में प्रवाहित होने वाली धारा

$$i_1 = \frac{R}{R+G} i \qquad \cdots \qquad \cdots \qquad (9)$$

होगी। (G धारामापी का प्रतिरोध है और i पूरी अविभक्त धारा है)।

जब प और ख जुड़े हों तब कख धारामापी से श्रेणीबद्ध होगा और धारामापी वाले मार्ग का प्रतिरोध $G+\left(R-\frac{R}{10}\right)$ हो जायगा और पार्श्ववाही चख का प्रतिरोध $\frac{R}{10}$। अतः अब धारामापी में धारा

$$i_2=\frac{R/10}{R/10+(G+R-R/10)}i=\frac{1}{10}\cdot\frac{R}{R+G}i=\frac{i_1}{10}$$

हो जायगा। इसी प्रकार प को ग तथा घ से जोड़ने पर धारामापी में से i_1 का $\frac{1}{100}$वां या $\frac{1}{1000}$वां भाग प्रवाहित होगा।

धारामापी का प्रतिरोध कुछ भी क्यों न हो इस पार्श्ववाही के द्वारा क,ख,ग,घ, से प को जोड़ने पर धारामापी में क्रमशः 1, ·1, ·01, ·001 के अनुपात ही में धारा प्रवाहित होगी।

किन्तु यह न भूल जाना चाहिए कि इस पार्श्ववाही से यद्यपि धारामापी में प्रवाहित होने वाली धारा $i_1/10$, $i_1/100$ इत्यादि हो जाती है किन्तु वह $i/10$, $i/100$ इत्यादि नहीं होती। प को क, ख, ग, घ पर रखने से i का मान भी बदल जाता है। मान लो कि चप का प्रतिरोध R/n है। तब च और प के बीच का प्रभावकारी प्रतिरोध R' निम्नसमीकरण से प्राप्त होगा :—

$$\frac{1}{R'}=\frac{1}{R/n}+\frac{1}{G+R-R/n}$$

$$\therefore \qquad R'=\frac{(R/n)(G+R-R/n)}{R/n+(G+R-R/n)}$$

$$=\frac{(R/n)(G+R-R/n)}{G+R} \qquad \ldots \quad \ldots \quad (10)$$

जब क पर ही प स्थित था तब च,प का प्रतिरोध R था और प्रभावकारी प्रतिरोध था

$$\frac{GR}{G+R}$$

अतः स्पष्ट है कि प का स्थान के बदलने से धारा भी बदल जायगी। यदि हम चाहें कि i न बदले तो आवश्यक होगा कि

$$\frac{(R/n)(G+R-R/n)}{G+R}=\frac{GR}{G+R}$$

या
$$G=\frac{1}{n}\left(G+R-\frac{R}{n}\right)$$

अर्थात्
$$R=nG \qquad \ldots \qquad (11)$$

दूसरे यह भी स्मरण रखना चाहिये कि इस प्रकार हम नापेंगे तो i_1 ही किन्तु नापना चाहते हैं i। और $i_1=\frac{R}{R+G}i$ है। किन्तु यदि G की अपेक्षा R बहुत बड़ा हो तो i_1 को i के बराबर ही समझा जा सकता है। इसके लिये R का मान कम से कम 100 G के बराबर तो होना ही चाहिये। तब भूल उपेक्षणीय हो जायगी।

18·07—**अम्पीयर-मापी** (Ammeter)। आधुनिक अम्पीयर-मापियों में भी पार्श्वबंधन की सहायता ली जाती है। इनका धारामापी सदैव सुग्राही होता है। किन्तु उसे बहुत ही अल्प प्रतिरोध से पार्श्वबद्ध कर देते हैं (चित्र 18 07)। जिस धारा को नापना होता है उसका एक नियत अल्पांश ही धारामापी में से चलता है। किसी मानक (standard) अम्पीयर-

चित्र 18·07
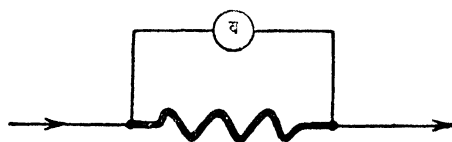
मापी से तुलना करके इस पार्श्ववाही का प्रतिरोध इतना घटाया या बढ़ाया जाता है कि धारामापी का पाठ मानक अम्पीयर-मापी के पाठ के बराबर हो जाय। यह पार्श्ववाही बहुधा अम्पीयर-मापी के बक्स के भीतर ही लगा रहता है। किन्तु कभी-कभी यह अलग भी रखा जाता है। पार्श्ववाही को बदलकर दूसरे प्रतिरोध का पार्श्ववाही लगा देने से अम्पीयर-मापी की परास (range) आसानी से बदली जा सकती है।

पार्श्ववाही लगाकर अम्पीयर-मापी तैयार करने में सबसे बड़ा लाभ यह है कि एक ही धारामापी से भिन्न-भिन्न परास वाले अम्पीयर मापी बन सकते हैं। बहुधा एक ही यंत्र में कई पार्श्ववाही लगा दिये जाते हैं। ऐसे यंत्र को बहु-परास (multi-range) अम्पीयरमापी कहते हैं।

18·08—**पूर्ण परिपथ** (Complete Circuit) **और ओह्म का नियम।** अभी तक हमने ओह्म के नियम का उपयोग किसी एक चालक अथवा
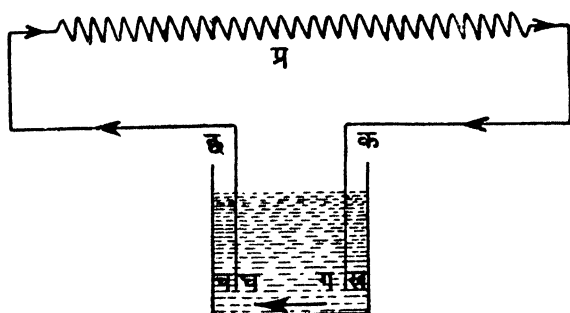
चित्र 18·08

चालक समूह के लिए ही किया है। किन्तु उसका उपयोग सैल सहित पूर्ण परिपथ के लिये भी हो सकता है। इस सम्बध में स्मरण रखने की बात केवल यह है कि सैल के अन्दर भी धारा प्रवाहित होती है और उसका भी प्रतिरोध होता है। चित्र 18·08 में पूर्ण परिपथ दिखलाया गया है। इसमें धारा सर्वत्र ही i अम्पीयर है और उसकी दिशा बाणों से दिखलाई गई है।

पूरे परिपथ में दो स्थानों पर वि० वा० ब० लगता है। जिसका मान **ख** और **ग** के बीच में $-e_1$ वोल्ट है और **घ** और **च** के बीच में $+e_2$वोल्ट है। e_1 ऋण चिन्हीय यों माना गया है कि **ग** का विभव **ख** से अधिक होगा।

यदि सैल के बाहिर **छ** से **क** तक का पूर्ण प्रतिरोध R हो, तथा सैल के अन्दर ऋण पट्टिका, सैल के द्रव, और धन-पट्टिका का सम्मिलित प्रतिरोध r हो तो इन प्रतिरोधों के सिरों का विभवान्तर होगा क्रमशः Ri और ri।
अतः इन विभवान्तरों का जोड़ = वि० वा० बलों का जोड़

या $$Ri+ri=e_1-e_2$$

इसमें r सैल का अन्तरंग प्रतिरोध (internal resistance) और $e_1-e_2=e$ सैल का पूर्ण वि० वा० ब० है।

अतः $$e=i\ (R+r)$$

और $$i=\frac{e}{R+r} \qquad \cdots \qquad (12)$$

पूर्ण परिपथ के लिये ओह्म के नियम का यही स्वरूप है। इसको शब्दों में यों कह सकते हैं कि जिस प्रकार दो विन्दुओं के विभवान्तर और उनके बीच में प्रवाहित होने वाली धारा का अनुपात उनके बीच के प्रतिरोध के बराबर होता है ठीक उसी प्रकार पूर्ण परिपथ में वि० वा० ब० और धारा का अनुपात पूरे परिपथ के प्रतिरोध के बराबर होता है।

उदाहरण के लिये मान लीजिये कि किसी बैटरी का वि० वा० ब० 9 वोल्ट है और इसका अंतरंग प्रतिरोध 1 ओह्म है। यदि इसके ध्रुवों के बीच में 2 ओह्म प्रतिरोध लगाकर परिपथ पूर्ण कर दिया जाय तो धारा का परिमाण $\frac{9}{2+1}=3$ अम्पीयर होगा।

विद्युत्-धारा के सम्बंध में ओह्म के नियम का यह रूप अत्यन्त महत्व का है।

18·09—**नष्ट वोल्ट** (Lost Volts)। उपर्युक्त उदाहरण में सैल के बाहर वाले 2 ओह्म के प्रतिरोध में जो 3 अम्पीयर की धारा बहती है उसके लिये तो हमें केवल $2\times3=6$ वोल्ट के विभवान्तर की आवश्यकता है। 9 वोल्ट के वि० वा० ब० में से केवल यही 6 वोल्ट सैल के बाहर धारा के प्रवाहित करने के काम में आते हैं। बाकी के 3 वोल्ट सैल के भीतर के प्रतिरोध में से धारा चलाने में खर्च होते हैं। यदि इस विद्युत्-धारा से हम कुछ काम लेना चाहें तो हमें केवल 6 वोल्ट ही उस बैटरी से प्राप्त होंगे। इस कारण बाकी के 3 वोल्ट जो सैल के भीतर ही खर्च हो जाते हैं नष्ट वोल्ट कहलाते हैं। वास्तव में वे नष्ट नहीं होते है। वे भी सैल के प्रतिरोध के विरुद्ध धारा प्रवाहित करने का काम करते हैं। किन्तु उनसे हम कोई लाभकारी काम नहीं ले सकते। अतः हमारे लिये तो वे नष्ट ही हैं।

यदि वोल्ट-मापी के द्वारा उक्त बैटरी के ध्रुवों का विभवान्तर उस समय नापा जाय जब कि 3 अम्पीयर की धारा परिपथ में बह रही हो तो स्पष्ट ही है कि वह 6 वोल्ट ही निकलेगा।

समीकरण (12) का एक रूप यह भी है

$$e=Ri+ri=V_1+V'$$

V_1 तो कार्यकारी वोल्ट है और $V'=ri$ नष्ट वोल्ट हैं। अतः नष्ट वोल्टों का परिमाण धारा की प्रबलता के साथ-साथ बढ़ता जाता है। जब परिपथ खुला होता है और धारा बहती ही नहीं तब $V'=0$ हो जाता है और $V_1=e$ हो

जाता है । यदि परिपथ का प्रतिरोध बहुत अधिक हो तब i बहुत कम मान का होगा और तब भी V_1 लगभग e के बराबर ही होगा। इस दशा में वोल्ट-मापी सैल या बैंटरी का वास्तविक वि० वा० ब० नाप लेगा । यही कारण है कि अच्छे वोल्ट मापी का प्रतिरोध अधिक बनाया जाता है ।

18·10—**बैटरी में सैलों का बंधन**। बैटरी बनाने में सैलों को तीन प्रकार से जोड़ सकते है (चित्र 18·09) ।

(i) श्रेणी-बधन (series) । यह चित्र (i) में दिखाया गया है। यदि सैलों की संख्या n हो और प्रत्येक सैल का वि० वा० ब० e तथा अंतरंग प्रतिरोध r हो तो श्रेणीबद्ध बैंटरी का वि० वा० ब० ne और प्रतिरोध भी nr होगा । अत: यदि इस बैंटरी के द्वारा किसी वाह्य प्रतिरोध R में धारा प्रवाहित की जाय तो उसका परिमाण

$$i = \frac{ne}{R+nr}$$

चित्र 18·09
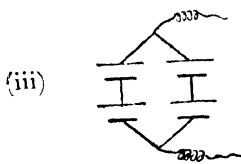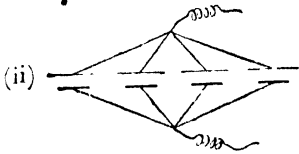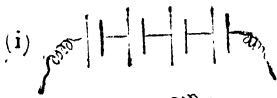
(ii) पार्श्वबंधन (Parallel) । यह चित्र (ii) में दिखाया गया है। इसमें सब सैलों के धन-ध्रुव एक ही स्थान पर जुड़े हैं । अत: वि० वा० ब० तो एक ही सैल के बराबर है । किन्तु पार्श्वबंधन के कारण अंतरंग प्रतिरोध घटकर r/n हो गया है । अत:

$$i = \frac{e}{R+r/n} = \frac{ne}{nR+r}$$

(iii) श्रेणी-पार्श्वबंधन (Series-parallel) । यह चित्र (iii) में दिखाया गया है । कुछ सैल श्रेणीबद्ध है और इन श्रेणीबद्ध बैंटरियों को पार्श्वबद्ध कर दिया गया है । यदि प्रत्येक श्रेणीबद्ध बैंटरी में सैलों की संख्या n हो और ऐसी बैंटरियों की संस्था m हो तो कुल सैलों की संख्या $N = mn$ होगी और प्रत्येक अवयव बैंटरी का वि० वा० ब० ne और अंतरंग प्रतिरोध nr होगा । अत: समस्त बैंटरी का वि० वा० ब० भी ne होगा और अंतरंग प्रतिरोध nr/m होगा ।

अत: $$i = \frac{ne}{R+nr/m} = \frac{mne}{mR+nr} = \frac{Ne}{mR+nr}$$

गणित के द्वारा यह प्रमाणित किया जा सकता है कि i का महत्तम मान उस समय होगा जब $R=nr/m$ अर्थात् जब अंतरंग प्रतिरोध बाह्य प्रतिरोध के बराबर हो।

यद्यपि साधारण दृष्टि से ऐसा मालूम होता है कि यदि हमें किसी चालक में धारा की प्रबलता बढ़ाना हो तो वि० वा० ब० को बढ़ाना चाहिए। यह काम कई सैलों को श्रेणीबद्ध करने से हो सकता है। किन्तु बात इतनी सीधी नहीं है। यदि सैलों में अंतरंग प्रतिरोध न होता तब तो अवश्य ही श्रेणीबंधन सदैव उपयोगी होता। किन्तु इस प्रतिरोध के कारण नष्ट-वोल्टों की संख्या कितनी होगी और कार्यकारी वोल्ट हमें कितने मिलेंगे यह बिना ओह्म के नियम की सहायता से नहीं मालूम हो सकता। इस प्रकार हिसाब लगाने पर हम देखेंगे कि जब बाह्य प्रतिरोध बैटरी के अंतरंग प्रतिरोध की अपेक्षा कम होता है तब श्रेणीबंधन की अपेक्षा पार्श्वबंधन अधिक उपयोगी होता है और सबसे अधिक उपयोगी इन दोनों का सम्मिलित श्रेणी-पार्श्वबंधन होता है।

18·11—**किरचाफ़ के नियम** (Kirchoff's Laws)। यदि बहुत से चालकों का जाल बना हो तो उनमें विद्युत्धारा का वितरण निम्न नियमों द्वारा ज्ञात हो सकता है। इन नियमों का आविष्कार किरचाफ़ (Kirchoff) ने किया था।

(1) किसी एक बिन्दु पर जितने चालक मिलें उन सब की धाराओं का बीजीय जोड़ (algebraic sum) शून्य के बराबर होता है।
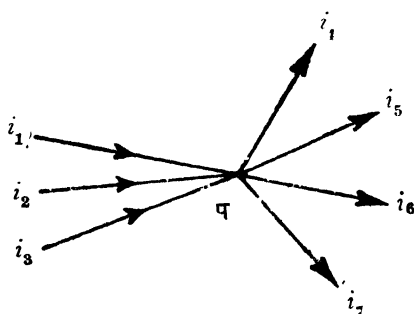
चित्र 18·10

यदि चित्र 18·10 के चालकों में धारा की दिशाएँ बाणांकित हों और

विभिन्न धाराओं के परिमाण क्रमशः i_1, i_2, i_3 इत्यादि हों तो

$$i_1+i_2+i_3-i_4-i_5-i_6-i_7=0$$

इसमें **प** बिन्दु की ओर प्रवाहित होने वाली धारा धन-चिह्नीय समझी जाती है और **प** से किसी अन्य दिशा में जाने वाली धारा ऋण-चिह्नीय कहलाती है।

इस नियम का स्पष्ट कारण यही है कि **प** बिन्दु पर आवेश का संग्रह नहीं होता। जितना विद्युत् वहाँ आता है उतना ही वहाँ से चला भी जाता है।

(2) यदि कई चालकों का एक निमीलित परिपथ (closed circuit) बन जाय तो प्रत्येक चालक के प्रतिरोध तथा उसकी धारा के गुणनफलों का बीजीय
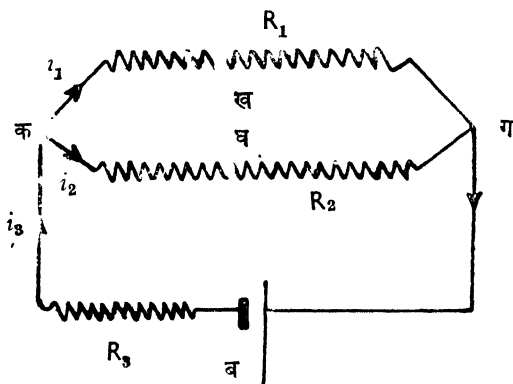
चित्र 18·11

जोड़ उस परिपथ में उपस्थित वि० वा० ब० के बराबर होता है। चित्र 18·11 में **क ख ग ब क** तथा **क घ ग ब क** दो निमीलित परिपथ हैं। इनमें **क ख ग** का प्रतिरोध R_1 है **क घ ग** का R_2 और **क ब ग** का R_3 और इनकी धाराएँ क्रमशः i_1, i_2 और i_3 हैं।

तब $$i_1R_1+i_3R_3=e$$

और $$i_2R_2+i_3R_3=e$$

इस नियम के उपयोग में धारा धन-चिह्नीय है या ऋण-चिह्नीय यह जानने का नियम यह है कि परिपथ के किसी एक विंदु से प्रारम्भ कर जिस दिशा में हम चक्र पूरा करना चाहें उसी ही दिशा में जो धारा हो वह धन-चिह्नीय कही जायगी और विपरीत दिशा वाली ऋण-चिह्नीय। वि० वा० ब० भी धन-चिह्नीय तब ही समझा जायगा जब

उसकी दिशा भी धन-चिह्नीय धारा की दिशा में हो। परिपथ **क ख ग ध क** में इसी नियम के अनुसार i_2 को ऋण-चिन्हीय माना जायगा और उसमें

$$i_1R_1-i_2R_2=0$$

$$\therefore \quad i_2=i_1\times R_1/R_2$$

किरचाफ़ के प्रथम नियमानुसार

$$i_3=i_1+i_2$$

अतः
$$i_3=i_1+i_1\times\frac{R_1}{R_2}=i_1\left(\frac{R_1+R_2}{R_2}\right)$$

$$\therefore \quad i_1=i_3\frac{R_2}{R_1+R_2}$$

यही परिणाम अनु० 18·05 में अन्य रीति से निकाला जा चुका है।

18·12—**व्हीटस्टोन का जाल** (Wheatstone's net)। प्रतिरोध नापने में चित्र 18·12 के समान प्रतिरोधों का जाल बहुत काम में आता है। इसमें चार
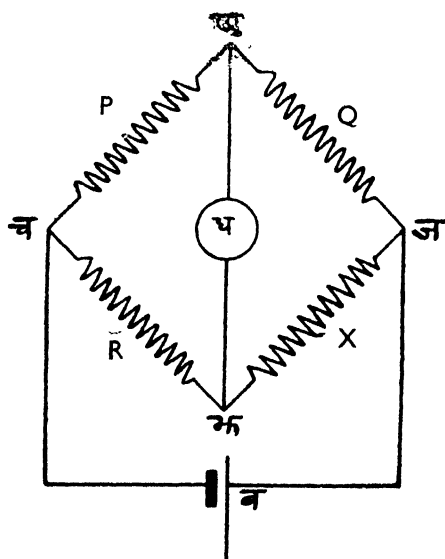
चित्र 18·12

प्रतिरोध **च छ, छ ज, च झ** और **झ ज** हैं। इनके प्रतिरोध क्रमशः P, Q, R, X हैं।

ब बैटरी है और ध धारामापी । च ब ज का प्रतिरोध B और छ ध ज का प्रतिरोध G मान लीजिये । इन छहों चालकों में धाराएँ क्रमशः i_1, i_2, i_3, i_4, b और g तथा उनकी दिशाएँ बाणांकित मान लिजिय ।

तब परिपथ च छ झ च मे $\quad Pi_1+Gg-Ri_3=O \quad \ldots \quad (i)$

तथा परिपथ छ ज झ छ में $\quad Qi_2-Xi_4-Gg=O \quad \ldots \quad (ii)$

बिन्दु छ पर $\quad i_2=i_1-g$

और बिन्दु झ पर $\quad i_4=i_3+g$

समीकरण (ii) मे i_2 तथा i_4 के उपर्युक्त मान रखने से

$$Q(i_1-g)-X(i_3+g)-Gg=O$$

$$Qi_1-(Q+X+G)g-Xi_3=O \quad \ldots \quad (iii)$$

(i) और (iii) से युगपत्समीकरणों के हल के नियमानुसार

$$\frac{i_1}{-GX-R(Q+X+G)}=\frac{g}{-QR+PX}=\frac{i_3}{-P(Q+X+G)-QG}$$

$$\therefore \quad \frac{g}{QR-PX}=\frac{i_1+i_3}{G(P+Q+R+X)+(R+P)(Q+X)}$$

$$\therefore \quad \frac{g}{i_1+i_3}=\frac{QR-PX}{G(P+Q+R+X)-(R+P)(Q+X)}$$

अतः स्पष्ट है कि यदि

$$QR=PX$$

या $\quad P/R=Q/X \quad \ldots \quad \ldots \quad$ (क)

हो तो $g=O$ हो जायगा ।

इसका अर्थ यह है कि यदि व्हीटस्टोन जाल के चारों चालकों के प्रतिरोध शर्त (क) को पूरा करें तो बैटरी धारामापक में बिल्कुल ही धारा नहीं भेज सकती । शर्त (क) का दूसरा रूप $P/Q=R/X$ भी हो सकता है । इससे यह भी प्रगट है कि यदि बैटरी और धारामापी का स्थान परस्पर बदल दिया जाय तो छ झ में स्थित बैटरी च ज में स्थित धारामापी मे भी कोई धारा न भेज सकेगी । ऐसी स्थिति में इस जाल की छ झ तथा च ज भुजाएँ संयुग्मी भुजाएँ (conjugate arms) कहलाती हैं । इनमें से किसी एक में स्थित वि० वा० ब० दूसरी में धारा नहीं भेज सकता । यदि P, Q, R ज्ञात हों तो समीकरण (क) के द्वारा X ज्ञात हो सकता है ।

इस शर्त का पता एक दूसरी रीति से भी सरलता पूर्वक लग सकता है। यदि **च**,**छ**,**ज** और **झ** के विभव क्रमशः V_1, V_2, V_3, V_4 माने जावें तो धारामापी **ध** में धारा के न प्रवाहित होने की शर्त प्रत्यक्ष ही यह है कि $V_2 = V_4$ हो। और जब **ध** में कोई धारा न बहती हो तो $i_1 = i_2$ तथा $i_3 = i_4$ भी होगा ही। अतः ओह्म के नियमानुसार

$$V_1 - V_2 = Pi_1$$

और $$V_1 - V_3 = (P+Q)\ i_1 \qquad \text{... (च छ ज मार्ग से)}$$

ऐसे ही $$V_1 - V_4 = Ri_3$$

तथा $$V_1 - V_3 = (R+X)i_3 \qquad \text{... (च झ ज मार्ग से)}$$

अतः $V_2 = V_4$ होने के लिये $Pi_1 = Ri_3$

और $$(P+Q)i_1 = (R+X)i_3$$

$$\therefore \quad \frac{P+Q}{P} = \frac{R+X}{R}$$

$$\therefore \quad \frac{P}{Q} = \frac{R}{X}$$

(ख) प्रतिरोध का नाप

(Measurement of Resistance)

18·13—**धारामापी तथा वोल्टमापी के द्वारा।** यह विधि वही है जो चित्र 17·18 में प्रदर्शित है। जिस चालक अथवा कुंडली का प्रतिरोध नापना हो उसे बैटरी तथा अम्पीयर-मापी से श्रेणीबद्ध कर देते हैं और वोल्ट मापी को उससे पार्श्वबद्ध। इस प्रकार उस प्रतिरोधक में चलने वाली धारा i और उसके सिरों का विभवान्तर V ज्ञात हो जाता है। अतः

$$\text{प्रतिरोध } R = V/i \text{ ओह्म}$$

वास्तव में धारामापी में चलने वाली धारा i प्रतिरोधक में चलने वाली धारा i_r के बराबर नहीं होती क्योंकि कुछ धारा i_v वोल्टमापी में भी जाती है और $i = i_r + i_v$। किन्तु वोल्टमापी का प्रतिरोध बहुत अधिक होने के कारण i_v उपेक्षणीय समझी जा सकती है।

18·14—**ओह्ममापी** (Ohmmeter) । उपर्युक्त विधि में यदि V स्थिर मान का रहे तो केवल i के माप से ही प्रतिरोध नापा जा सकता है। इसके लिये सूखी सैल का उपयोग किया जाता है जिसका वि० वा० ब० e स्थिर रहे। जिस बक्स में धारामापी लगाया जाता है उसी में यह बैटरी भी रख दी जाती है और एक बटन दबाने से परिपथ पूर्ण हो जाता है। धारामापी पर अंशांकन अम्पीयरों में न करके ओह्मों में कर दिया जाता है ताकि प्रतिरोध का मान सीधा पढ़ा जा सके। इसके नाप की यथार्थता कम होती है क्योंकि e का मान धीरे-धीरे घट जाता है।

18·15—**व्हीटस्टोन-सेतु विधि** (Wheatstone Bridge Method)। अधिक यथार्थतापूर्ण नाप के लिये व्हीटस्टोन-जाल का उपयोग किया जाता है जिसका वर्णन अनु० 18·13 में किया गया है और जिसका परिपथ चित्र 18·12 में दिखाया गया है। धारा के दो मार्गों को जोड़ने वाला **छभ** सेतु है। इसी में धारामापी जोड़ा जाता है। इसी कारण इस जाल को सेतु (bridge) भी कहते हैं। इसमें जो चार प्रतिरोधक P, Q, R और S हैं इनमें से यदि तीन ज्ञात हों तो चौथा नापा जा सकता है। P और Q वाली भुजाएँ अनुपाती-भुजाएँ (ratio arms) कहलाती हैं क्योंकि इनके प्रतिरोध P और Q से अनुपात P/Q नियत होता है।

चझ परिवर्त्य भुजा (variable arm) है। इसके प्रतिरोध R का मान इच्छानुसार बदला जा सकता है और बदलकर इतना कर लिया जाता है कि धारामापी का विक्षेप शून्य हो जाय। X अज्ञात प्रतिरोधक है जिसका प्रतिरोध नापना है। जब सेतु का सन्तुलन हो जाता है अर्थात् जब धारामापी का विक्षेप शून्य हो जाता है तब

$$P/Q = R/X$$

यह पहिले बतलाया जा चुका है कि धारामापी और बैटरी के स्थान परस्पर परिवतनीय हैं। अर्थात् बैटरी की जगह धारामापी तथा धारामापी की जगह बैटरी भी लगाई जा सकती है।

इस विधि के व्यावहारिक रूप अनेक हैं। उनमें से कुछ का वर्णन यहाँ किया जायगा।

18·16—प्रतिरोध-बक्स (Resistance Box)। पिछले अनुच्छेद में कहा गया था कि सेतु की एक भुजा परिवर्त्य भुजा होती है। अर्थात् इसका प्रतिरोध इच्छानुसार बदला जा सकता है। इस कार्य के लिये आवश्यक यह है कि विभिन्न ज्ञात प्रतिरोधों की अनेक कुंडलियाँ श्रेणीबद्ध हों और प्रबंध ऐसा रहे कि उनमें से एक, दो या अधिक कुंडलियाँ परिपथ में सम्मिलित की जा सकें। इस प्रकार
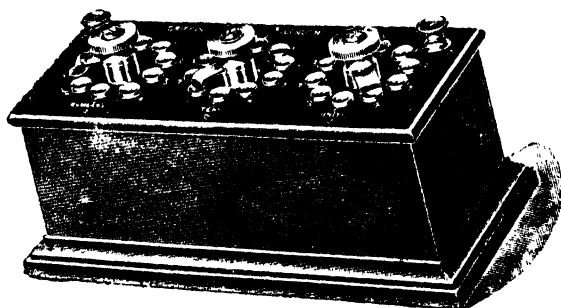
चित्र 18·13

किसी भी परिमाण का प्रतिरोध बन सकता है। यही कुंडलियाँ यदि नियत परिमाण के प्रतिरोध वाली बना दी जावें तो इस उपकरण से नपा हुआ
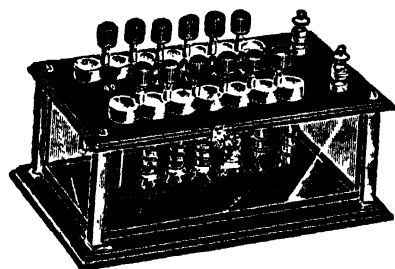
चित्र 18·14

प्रतिरोध धारा के मार्ग में लगाया जा सकता है। ऐसी अवस्था में बहुधा कुंडलियाँ एक संदूक में बंद रहती है और उस सन्दूक को प्रतिरोध बक्स (resistance box) कहते हैं। चित्र 18·13 और 18·14 में दो प्रकार के प्रतिरोध बक्स दिखाय गये हैं। चित्र 18·13 में बटन और विसर्पी भुजा से घड़ी के डायल का-सा आकार बन गया है। वह डायलनुमा (dial pattern) प्रतिरोध बक्स कहलाता है। चित्र 18·14 में तार की कुंडलियाँ पीतल की मोटी मोटी शलाकाओं

से लगी हैं। इनके बीच में पीतल के डाट बैठा कर ये शलाकाएँ आपस में मिला दी जाती हैं। जहाँ डाट नहीं होता वहाँ तो विद्युत्धारा कुंडली में से जाती है और
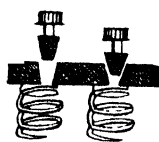
चित्र 18·15

जहाँ डाट लगा दिया जाता है वहाँ विद्युत्धारा एक शलाका से दूसरी में डाट में होकर ही चली जाती है क्योंकि डाट का प्रतिरोध कुंडली के प्रतिरोध की अपेक्षा बहुत ही कम होता है। ऐसे डाटों को प्लग (plug) कहते हैं और बक्स प्लगदार (plug pattern) प्रतिरोध बक्स कहलाता है। इस प्लग का कार्य चित्र 18·15 से और भी स्पष्टतया समझ में आ जायगा।

18·17—**मानक प्रतिरोधक** (Standard Resistance)। जब अत्यन्त अधिक यथार्थता की आवश्यकता होती है तब विशेष यत्न से बनाये हुए प्रतिरोधकों का उपयोग किया जाता है। इन्हें मानक प्रतिरोधक कहते हैं। चित्र 18·16 में जर्मनी की जातीय भौतिक प्रयोगशाला द्वारा बनाया हुआ मानक प्रतिरोध दिखलाया गया है। इसमें तार मैंगनिन (manganin) नामक मिश्र धातु का है।
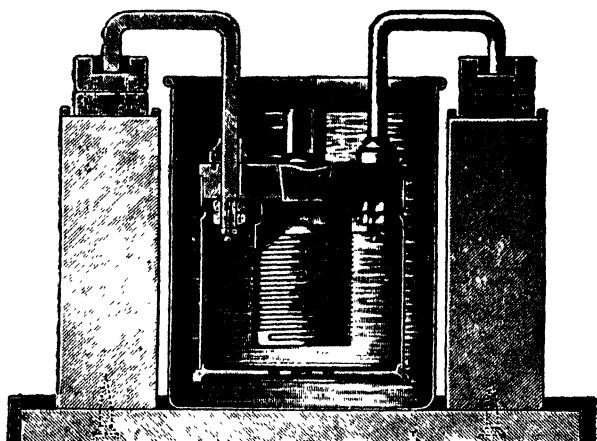
चित्र 18·16

इस धातु का प्रतिरोध टेम्परेचर के परिवर्तन के कारण बहुत ही कम बदलता है। तार पर दोहरा रेशम लपेटा हुआ है और फिर उस पर चपड़े की तह भी लगा दी गई है। यह तार पीतल की एक नलिका पर लिपटा रहता है। धातु के पात्र में वलकेनाइट (vulcanite) नामक विलगक की डाट लगी है। उसी में

यह नलिका भी लगी हुई है। और उसी में ताँबे की दो छड़ें भी लगी हुई हैं जिनसे कुंडली के दोनों सिरे जुड़े हुए हैं। इस पात्र को तेल में डुबा दिया जाता है। पात्र के छिद्रों में से तेल अन्दर घुस कर तार की कुंडली के चारों तरफ भी भर जाता है। इससे कुडली का टेम्परेचर स्थिर रहता है और थर्मामीटर के द्वारा नाप भी लिया जा सकता है। ताँबे की छड़ों के सिरों को पारदरंजित करके पारा भरे हुए प्यालों में डालकर इस मानक प्रतिरोध मे धारा का प्रवाह कराया जाता है।

18·18—**मीटर-सेतु** (Meter Bridge) **अथवा तार सेतु** (Wire-bridge)। इसमे लकड़ी के तख्ते पर एक मीटर लम्बा प्रतिरोधी तार **कख** यूरिका (eureka) या मैंगनिन (manganin) का खींचकर सीधा लगा रहता है और इसके नीचे या पार्श्व में सेंटीमीटर स्केल लगा रहता है। यह तार मोटी ताँबे की पत्तियों पर झाल दिया जाता है और इन पत्तियों के बीच की खाली जगहों पर एक ज्ञात प्रतिरोध R और अज्ञात प्रतिरोध X जोड़ दिये जाते हैं। धारामापी
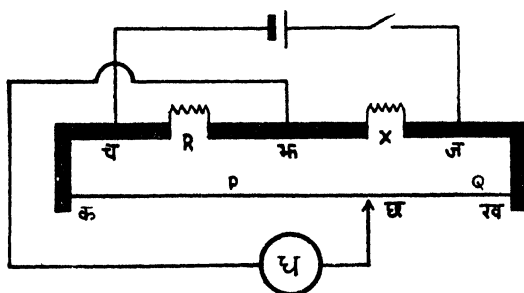
चित्र 18.17

ध का एक सिरा R और X के बीच की पत्ती से **झ** पर जोड़ दिया जाता है और दूसरे सिरे से तार के किसी भी बिन्दु **छ** को जब चाहें तब छू सकते हैं। बैटरी **च** और **ज** से जोड़ी जाती है (चित्र 18·17)। **चक** तथा **जख** का प्रतिरोध उपेक्षणीय है क्योंकि वे मोटी पत्ती से जुड़े हैं।

स्पष्ट है कि इस परिपथ से व्हीटस्टोन का जाल बन गया है। **चछ** का प्रतिरोध P है और **छज** का प्रतिरोध Q है। और ये प्रतिरोध तार के भाग **कछ** तथा **छख** की लम्बाई l_1 और l_2 के अनुपाती होते हैं क्योंकि तार सर्वत्र बराबर मोटाई का है। अतः यदि **छ** को तार पर इधर-उधर सरका कर ऐसा स्थान मालूम कर लिया

जाय कि धारामापी का विक्षेप नष्ट हो जाय तब

$$\frac{l_1}{l_2}=\frac{P}{Q}=\frac{R}{X}$$

$$\therefore \qquad X=R.\frac{l_2}{l_1}$$

इस विधि में केवल R ज्ञात होना चाहिए। तार के प्रतिरोध को जानने की आवश्यकता नही है। R के लिये कोई ज्ञात प्रतिरोध की कुंडली लगा दी जाती है। l_1 और l_2 स्केल पर नाप लिये जाते है। अच्छी यथार्थता के लिये R ऐसा लेना चाहिए कि सन्तुलन-बिन्दु **छ** सेतु के तार **क ख** के मध्य-बिन्दु के निकट ही रहे।

18·19—**केरीफ़ास्टर का सेतु** (Carey-Foster Bridge)। मीटर-सेतु सम्बंधी परिकलन में यह समझ लिया गया है कि तार के सिरे **क** या **ख** और बैटरी को जोड़ने के स्थान **च** या **ज** के बीच में कुछ भी प्रतिरोध नही है। किन्तु वास्तव मे ऐसा हो नहीं सकता और यहाँ भी कुछ न कुछ प्रतिरोध रहते ही है। इन्हें अंत्य प्रतिरोध (end resistance) कहते है। यदि ये क्रमशः r_1 और r_2 हों तो वास्तव में

$$\frac{P}{Q}=\frac{r_1+\rho l_1}{r_2+\rho l_2}=\frac{R}{X}$$

जहाँ ρ सेतु-तार के एक सेंटीमीटर का प्रतिरोध है। अतः स्पष्ट है कि
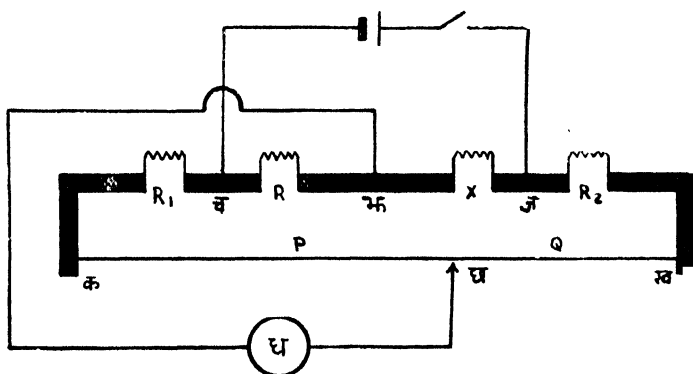
चित्र 18·18

उपर्युक्त समीकरण से X यथार्थतापूर्वक ज्ञात नहीं हो सकता। इस दिक्कत को कम करने के लिये एक तो उपाय यह है कि **क** और **च** के तथा **ख** और ज के

बीच में अतिरिक्त प्रतिरोध कुंडलियाँ रखकर P और Q का मान बढ़ा दिया जाय (चित्र 18·18) ताकि इस बढ़े हुए प्रतिरोध के मुकाबिले में अंत्य प्रतिरोध r_1 और r_2 अधिक उपेक्षणीय हो जावें। इसके लिये मीटर-सेतु में दो खाली जगह और बना दी जाती है और उन्हीं में ये नई प्रतिरोध-कुंडलियाँ रख दी जाती हैं। यदि इन अतिरिक्त प्रतिरोधों का मूल्य R_1 और R_2 हो तो

$$\frac{X}{R}=\frac{\rho l_2+R_2+r_2}{\rho l_1+R_1+r_1}\approx\frac{\rho l_2+R_2}{\rho l_1+R_1}$$

केरी फास्टर ने दो लगभग बराबर प्रतिरोधों के मान का अन्तर नापने की ऐसी विधि निकाली है जिसमें इन अंत्य-प्रतिरोधों के कारण नाप में बिलकुल भी अशुद्धि नहीं रहती। जिस प्रतिरोध R_1 को नापना हो उसे **क** और **च** के बीच में और उसी के लगभग बराबर के प्रतिरोध R_2 को **ख** और **ज** के बीच में लगाया जाता है। **च झ** तथा **झ ज** के बीच में अन्य बराबर के प्रतिरोध R_1 और X लगाये जाते हैं। तब सन्तुलन प्राप्त करने पर

$$\frac{R}{X}=\frac{R_1+r_1+\rho l_1}{R_2+r_2+\rho l_2}$$

अब R_1 और R_2 का परस्पर-स्थान परिवर्तन कर दिया जाता है और पुनः नया सन्तुलन प्राप्त किया जाता है। तब

$$\frac{R}{X}=\frac{R_2+r_1+\rho l_1'}{R_1+r_2+\rho l_2'}$$

$$\therefore\quad \frac{R_1+r_1+\rho l_1}{R_2+r_2+\rho l_2}=\frac{R_2+r_1+\rho l_1'}{R_1+r_2+\rho l_2'}$$

$$\therefore\quad \frac{R_1+r_1+\rho l_1}{(R_1+R_2)+(r_1+r_2)+\rho(l_1+l_2)}$$

$$=\frac{R_2+r_1+\rho l_1'}{(R_1+R_2)+(r_1+r_2)+\rho(l_1'+l_2')}$$

किन्तु $\quad l_1+l_2=l_1'+l_2'=L=$ पूरे तार **क ख** की लम्बाई

$$\therefore\quad R_1+r_1+\rho l_1=R_2+r_1+\rho l_1'$$

$$\therefore\quad R_1-R_2=\rho(l_1'-l_1)$$

अर्थात् $\quad R_1=R_2+\rho(l_1'-l_1)$

$l_1'-l_1$ सन्तुलन-बिन्दु का विस्थापन है और यथार्थतापूर्वक सरलता से नापा जा सकता है। इस समीकरण में अब केवल ρ जानना और शेष है। इसके लिए R_2 के स्थान की खाली जगह को तो ताँबे की मोटी पत्ती से बंद कर देते हैं और R_1 की जगह कोई उपयुक्त छोटा ज्ञात प्रतिरोध S लगा देते हैं। तब उपर्युक्त दोनों सन्तुलनों के पाठ l और l' से

$$S-0=\rho(l-l')$$

इस प्रकार अन्य-प्रतिरोधों के कारण R_1 के नाप में कुछ भी गलती नहीं रहती।

18·20—कैलेन्डर और ग्रिफिथ का सेतु (Callendar and Griffith's Bridge)। यह भी केरी-फास्टर के सेतु का ही थोडा परिवर्तित रूप है। यह विशेषकर प्लाटिनम-थर्मामीटर के प्रतिरोध को नापने के लिए बनाया गया है। इसमें केरी-फ़ास्टर सेतु के प्रतिरोध R और X बिलकुल बराबर होते हैं और R_1 परिवर्त्य प्रतिरोध होता है जो कई ज्ञात कुंडलियों के द्वारा बना होता है। ये सब प्रतिरोध एक बक्स में बंद रहते हैं। सेतु-तार **क ख** भी इस बक्स के ऊपर लगा होता है। R_2 की जगह प्लाटिनम-थर्मामीटर का प्रतिरोध T होता है। जब सन्तुलन-बिन्दु सेतु-तार के ठीक मध्य बिन्दु **म** पर होता है तब तो $T=R_1$ ही होगा। किन्तु यदि यह सन्तुलन-बिन्दु **म** से x सम० हटा हुआ हो तो स्पष्ट है कि x सम० तार का प्रतिरोध $x.\rho$ सेतु की एक भुजा **च छ** में जुड़ जायगा और दूसरी भुजा **छ ज** में से उतना ही प्रतिरोध घट जायगा। ρ सेतु-तार के सम० का प्रतिरोध है।
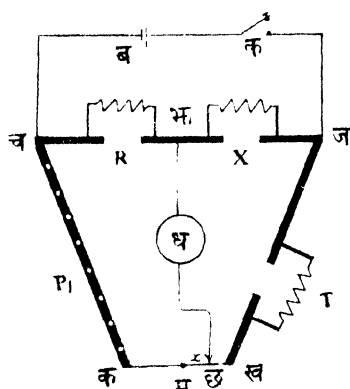
चित्र 18·19

अतः $R=X$ होने से

$$R_1+\text{कम}\,\rho+x\rho=T+\text{मख}\,\rho-x\rho$$

किन्तु

$$\text{कम}=\text{मख}$$

$\therefore$

$$T=R_1+2x\rho$$

यदि सन्तुलन-बिन्दु मध्य से दूसरी ओर हटे तो $T = R_1 - 2x\rho$ होगा। सेतु-तार ऐसा लिया जाता है कि उसके 2ρ का मूल्य R_1 की सब से छोटी प्रतिरोध-कुंडली के दशमांश के बराबर हो। इस प्रकार बिना परिकलन के T का मूल्य सन्तुलन-बिन्दु के स्थान के पाठ से ही मालूम हो जाता है।

प्लाटिनम-थर्मामीटर का प्रतिरोध T इतना बनाया जाता है कि टेम्परेचर में एक डिगरी की वृद्धि होने से वह प्रतिरोध R_1 के एक मात्रक के बराबर बढ़ता है और सेतु-तार के साथ लगे स्केल पर अंशाकन ऐसा होता है कि एक अंश उक्त मात्रक का ठीक दशांश प्रदर्शित करे। यह एक अंश और दस भागों में विभक्त होता है। अत. इस सेतु के R_1 के पाठ से सीधा टेम्परेचर एक डिगरी के सौवें भाग ($0^\circ \cdot 01$) तक पढ़ा जा सकता है।

18·21—**पोस्ट आफिस बक्स** (Post Office Box)। व्हीटस्टोन सेतु के द्वारा प्रतिरोध नापने के लिए एक अत्यन्त उपयोगी उपकरण बनाया गया है जिसे पोस्ट आफिस बक्स कहते हैं। यह नाम यों पड़ गया कि सबसे पहिले इसका उपयोग पोस्ट आफिस के तार विभाग में प्रतिरोध के नाप के लिये हुआ था।
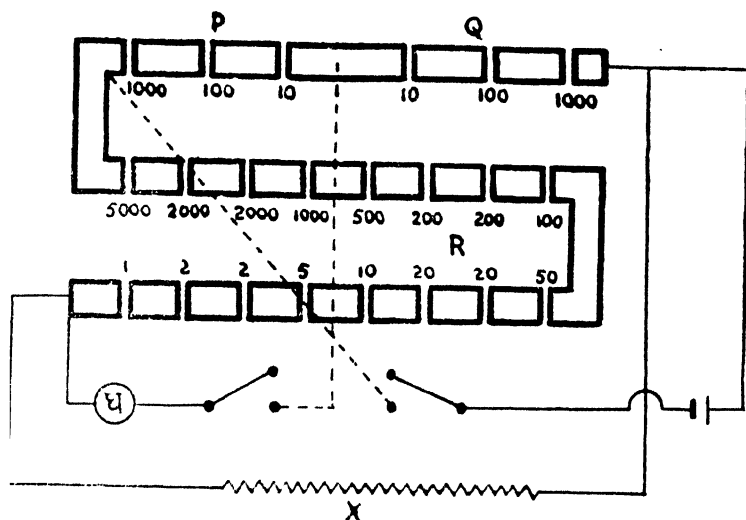
चित्र 18·20

यह लकड़ी का एक बक्स होता है जिसमें व्हीट-स्टोन-सेतु की तीन ज्ञात भुजाओं के लिए कई प्रतिरोध-कुंडलियाँ लगी रहती हैं। बहुधा अनुपाती भुजाओं

के लिए तीन-तीन कुंडलियाँ होती हैं जिनके प्रतिरोध 1, 10 और 100 ओह्म होते हैं। तीसरी ज्ञात परिवर्तनीय भुजा के लिए बहुत-सी कुंडलियाँ होती है जिनके मूल्य क्रमशः 1, 2, 2, 5, 10, 20, 20, 50, 100, 200, 200, 500, 1000, 2000, 2000, 5000 ओह्म होते है। ये सब चित्र 18·19 में बताई हुई रीति मे लगी रहती है और प्लगों द्वारा इनमें से जितनी चाहिए उतनी ही कुंडलियाँ परिपथ में सम्मिलित की जा सकती है। चौथी भुजा का स्थान अज्ञात प्रतिरोध X लेता है। चित्र में यह व्यवस्था दिखाई गई है और बैटरी तथा धारामापी तथा उनको सम्बद्ध करने के परिपथ भी दिखाये गये है। सबसे ऊपर की लाइन में अनुपाती भुजाएं है।

किसी भी प्रतिरोध को नापते समय पहिले तो दोनों अनुपाती भुजाओं मे बराबर प्रतिरोधों के प्लग निकाल लिये जाते है जिससे $P=Q$ हो जाय। फिर परिवर्त्य भुजा R में से कोई भी प्लग निकाल कर पहिले बैटरी की कुंजी दबाई जाती है और तब धारामापी की। इससे धारामापी में विक्षेप होता है। तब अन्य प्लग निकाल निकालकर R का ऐसा समंजन किया जाता है कि विक्षेप न्यूनतम हो जाय। यह बिलकुल शून्य तो होगा नहीं किन्तु एक ओह्म के अन्तर वाले R के दो मान ऐसे मालूम होंगे जिनमें एक मे विक्षेप एक तरफ होगा और दूसरे से दूसरी तरफ। स्पष्ट है कि X का मूल्य R के इन्ही दोनो मानो के बीच का कुछ होगा।

फिर अनुपाती-भुजाओं मे P को Q से 10 गुणा कर लेते है। अर्थात् $P=10$ और और $Q=1$ ओह्म। अब सन्तुलन के लिए $R=10X$ होगा। इसी प्रकार $P=100Q$ करने पर $R=100X$ हो जायगा और अब X के जो दो मान एक ओह्म अन्तर वाले मालूम होंगे उनसे X का मूल्य निकटतम ·01 ओह्म तक ज्ञात हो जायगा।

कभी-कभी बक्स में प्रतिरोध कुडलियों की व्यवस्था डायल-रूपी भी बना दी जाती है। इसमें विसर्पी भुजाओं के पाठ मात्र से P, Q और R का मान ज्ञात हो जाता है। प्लग वाले बक्स में जितने प्लग निकले होते हैं उनके मानों को जोड़ना पड़ता है और तभी R का मान ज्ञात होता है।

18·22—धारामापी के प्रतिरोध का माप (Resistance of Galvanometer)। यों तो उपर्युक्त विधियों से धारामापी की कुंडली का प्रतिरोध नापा ही जा सकता है। किन्तु तब यह धारामापी तो व्हीटस्टोन सेतु की एक भुजा में X के स्थान पर लगाया जायगा और सन्तुलन देखने के लिए दूसरे धारमापी की

आवश्यकता होगी । निम्नलिखित टामसन (Thomson) की विधि से बिना दूसरे धारामापी के भी यह प्रतिरोध नापा जा सकता है ।

चित्र 18·21 में इस विधि के संबंधन दिखाये गये हैं । धारामापी की कुंडली तो सेतु की चौथी भुजा में संबंधित है ही किन्तु छ और झ के बीच में साधारणतः जो धारामापी होता उसके स्थान में केवल एक कुंजी $क_2$ लगा दी गई है । धारामापी का प्रतिरोध G है ।
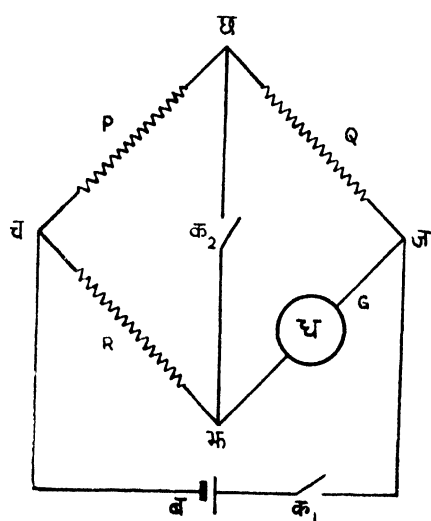
चित्र 18·21

बैटरी वाली कुंजी $क_1$ दबाते ही धारामापी में विक्षेप उत्पन्न होगा क्योंकि उसमें से कुछ धारा-प्रवाहित होगी । परन्तु दूसरी कुजी $क_2$ दबाने से इस धारा में परिवर्तन हो जायगा और विक्षेप भी बदल जायगा । अब यदि R को बदलने से $P/Q=R/G$ हो जाय तो सेतु का सन्तुलन होकर छ और झ का विभव बराबर हो जायगा । कुंजी $क_2$ दबाने से छ झ में कोई धारा न चलेगी और जाल की अन्य धाराओं में कोई परिवर्तन नहीं होगा । अतः धारामापी के विक्षेप में भी कोई अन्तर न पड़ेगा । इसलिए सेतु-सन्तुलन की पहिचान यही समझी जा सकती है कि कुंजी $क_2$ के दबाने से विक्षेप में जरा-सा भी अन्तर न पड़े ।

इस प्रकार माप करने में यह स्मरण रखने की आवश्यकता है कि धारामापी में धारा इतनी अधिक न चली जाय कि उसका विक्षेप स्केल की परास से अधिक हो जाय । इसलिए बैटरीपथ में काफी बड़ा प्रतिरोध सम्मिलित करना जरूरी होगा ।

18·23—**मैन्स की विधि से सैल के प्रतिरोध का नाप** (Mance's Method for Resistance of Cell) । इस विधि का परिपथ चित्र 18·22 में प्रदर्शित है । अब सैल अज्ञात प्रतिरोध के स्थान में है और सैल के स्थान में केवल कुंजी $क_1$ है । बाकी सब संबंधन पूर्ववत् ही हैं । $क_1$ के खुली

रहने पर धारामापी में कुछ धारा प्रवाहित होगी और विक्षेप भी होगा। क$_1$ के दबाने से कुछ धारा इस पथ से भी चलेगी और सेतु की सब भुजाओं की धाराओं में परिवर्तन हो जायगा। फलतः विक्षेप भी बदल जायगा। R को बदलकर विक्षेप का यह परिवर्तन घटाया जा सकता है। जब विक्षेप का परिवर्तन बिलकुल शून्य हो जाय अर्थात् जब क$_1$ को खोलने या बंद करने से विक्षेप में कोई परिवर्तन न हो तब $\frac{P}{Q}=\frac{R}{B}$ होगा (B=सैल का प्रतिरोध)। ऐसी अवस्था म R का मान ज्ञात होने पर B का मान भी ज्ञात हो जायगा। यह बात किरचाफ के नियमानुसार निम्न प्रकार प्रमाणित की जा सकती है:—
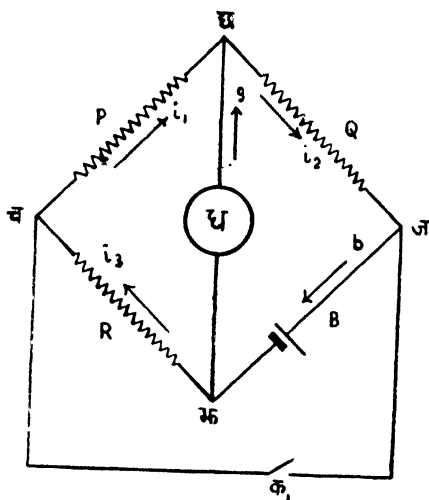
चित्र 18·22

जब क$_1$ खुली हो तब परिपथ च छ झ में $i_1P-gG+i_3R=0$
और परिपथ छ ज झ में $i_2Q+bB+gG=e$ (1)

जहाँ G धारामापी का प्रतिरोध है और g तथा b क्रमशः धारामापी तथा बैटरी में धारा के मान हैं। e सैल का वि० वा० ब० है

क$_1$ को बंद कर देने पर सब धाराएँ बदल जावेंगी किन्तु धारामापी की धारा g नहीं बदलती। अतः i_1 में जितना परिवर्तन x होगा उतना ही i_2 में भी होगा और i_3 में जितना परिवर्तन y होगा उतना ही b में होगा। अर्थात् धाराएँ i_1, i_2, i_3, b बदलकर क्रमशः $i_1+x; i_2+x; i_3+y; b+y$ हो जावेंगी।

अतः अब $(i_1+x)P-gG+(i_3+y)R=0$
और $(i_2+x)Q+(b+y)B+gG=e$. (2)

समी० 2 में से समी० 1 को घटाने से

$$xP+yR=0$$

और $$xQ+yB=0$$

$$\therefore \quad P/Q=R/B$$

इस विधि मे भी विक्षेप को अत्यधिक न होने देना आवश्यक है। इसके लिये धारामापी से श्रेणीबद्ध या पार्श्ववाही प्रतिरोध लगा दिया जाता है।

इसी बात को संक्षेप मे यों भी समझ सकते हैं कि **छझ** और **च क$_1$ज** संयुग्मी भुजाएँ हैं। अत. सन्तुलन की अवस्था में इनमे से एक में चाहे कितनी ही धारा प्रवाहित हो दूसरी मे उसके कारण कोई धारा नही चल सकती। अतः यद्यपि **क$_1$** को बंद करने से **च क$_1$ज** में धारा प्रवाहित होती है किन्तु इसके कारण धारामापी में कोई नवीन धारा नही चलती और इसलिये उसका विक्षेप पूर्ववत् ही रहता है।

18·24—**संचायक सैल** (Accumulator) **के प्रतिरोध का नाप**। सचायक सैल का प्रतिरोध बहुत ही थोड़ा होता है (·01 ओह्म से भी कम)। वह इन विधियों से नही नापा जा सकता। इसके लिए चित्र 18·23 की विधि उपयोगी है
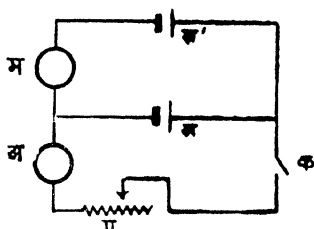
चित्र 18·23

स वह सचायक सैल है जिसका प्रतिरोध नापना है। **स'** वैसा ही दूसरा संचायक है। **म** एक मिलीवोल्ट-मापी है जो दोनों के वि० वा० बलों का अन्तर $V=E-E'$ प्रदर्शित करता है। अम्पीयरमापी अ, विसर्पी प्रतिरोधक **प्र** तथा कुंजी **क** संचायक **स** से श्रेणीबद्ध हैं। **क** को बंद करने से इस परिपथ में धारा i प्रवाहित होती है। यदि **स** का आन्तरिक प्रतिरोध r हो तो **स** के ध्रुवों का विभवान्तर E से घटकर $E-ir$ हो जायगा। अतः अब **म** जो विभवान्तर दिखलायेगा वह होगा $V'=(E-ir)-E'=(E-E')-ir=V-ir$

$$\therefore \qquad r=(V-V')/i$$

18·25—**विभवमापी** (Potentiometer)। इस यंत्र से किसी परिपथ के दो विन्दुओं का विभवान्तर नापा जाता है। इसका
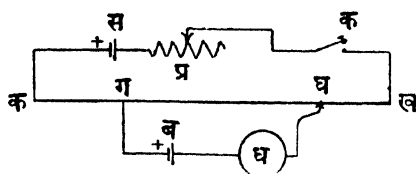
चित्र 18·24

सिद्धान्त बड़ा सरल है। चित्र 18·24 में **स** स्थिर वि०वा०ब० की संचायक

सैल है। **प्र** विसर्पी प्रतिरोध है और **क ख** उच्च प्रतिरोध का सीधा तार है। इस तार का व्यास सर्वत्र बराबर है। अतः इसका प्रतिरोध लम्बाई का अनुपाती है। मान लीजिये कि इस तार मे धारा i **क** से **ख** की ओर चल रही है और इसका प्रतिरोध ρ प्रति सम० है। यदि **क ख** पर कोई विन्दु **ग** और **घ** हों और **क ग** l_1 तथा **क घ**$=l_2$ हों तो **क ग** और **क घ** के प्रतिरोध होंगे क्रमशः ρl_1 और ρl_2 अतः **क** तथा **ग** का विभवान्तर होगा $V_1=i\rho l_1$ और **क** तथा **घ** का $V_2=i\rho l_2$
∴ **ग** और **घ** का विभवान्तर $V_2-V_1=i\rho(l_2-l_1)$
तार का ρ सर्वत्र एक-सा होने के कारण यह विभवान्तर दोनों विन्दुओं के बीच की लम्बाई का अनुपाती होगा।

अब मान लीजिये कि कोई सैल **ब** (जिसका वि० वा०ब० E है) तथा धारामापी **ध** चित्र 18·24 की भांति **क** और **घ** से संबधित कर दिये गये हैं। ध्यान रहे कि **ब** का धन-ध्रुव अधिक विभव वाले विन्दु **ग** से जोड़ा गया है। तब स्पष्ट है कि यदि $E>(V_2-V_1)$ हो तब तो धारामापी में धारा **ब घ ग** दिशा में चलेगी। यदि $E<(V_1-V_2)$ हो तो वह विपरीत दिशा **ग घ ब** में चलेगी। और यदि $E=V_2-V_1$ हो तो धारा किसी भी दिशा में न चलेगी। अर्थात् धारामापी मे विक्षेप शून्य हो जायगा। अतः यदि **ग** को स्थिर रख कर **घ** को तार पर इधर-उधर खिसका कर ऐसी जगह मालूम कर लें कि धारामापी का विक्षेप शून्य रहे, तो

$$E=V_2-V_1=i\rho(l_2-l_1)=i\rho L$$

होगा, जहाँ $L=l_2-l_1$।

यदि **ब** के स्थान में कोई दूसरी सैल **ब′** हो जिसका वि० वा० ब० E' हो तो इसी तरह

$$E'=i\rho L'$$

$$\therefore \quad E/E'=L/L'$$

इस प्रकार बिना i या ρ जाने ही दो सैलों के वि० वा० बलों का अनुपात नापा जा सकता है। और यदि यह दूसरी सैल **ब′** कोई मानक सैल हो जिसका वि० वा० ब० E' वोल्ट ज्ञात हो तो E का मूल्य भी वोल्टों में ज्ञात हो जायगा।

ध्यान देने की बात है कि इस विधि में संतुलन होने पर सैल **ब** में से कोई धारा नहीं प्रवाहित होती। वोल्टमापी से जब वि० वा० ब० नापा जाता है तो सैल मे धारा प्रवाहित होती है और सैल के आन्तरिक प्रतिरोध के कारण वि० वा० ब०

कुछ कम दिखाई देता है (अनु० 18·09)। किन्तु विभवमापी की विधि में यह भूल विद्यमान नहीं रहती। वस्तुतः परिपथ **ग ब घ** में चाहे कितना ही प्रतिरोध क्यों न हो, उसका इस नाप पर कोई असर नहीं पड़ता।

जिस प्रकार सैल के ध्रुवों के बीच का विभवान्तर इस विधि से नापा जाता है उसी प्रकार यदि किसी कुंडली में धारा प्रवाहित हो रही हो तो उसके सिरों का विभवान्तर V भी नापा जा सकता है। चित्र 18·25 में **क ख** विभवमापी का तार
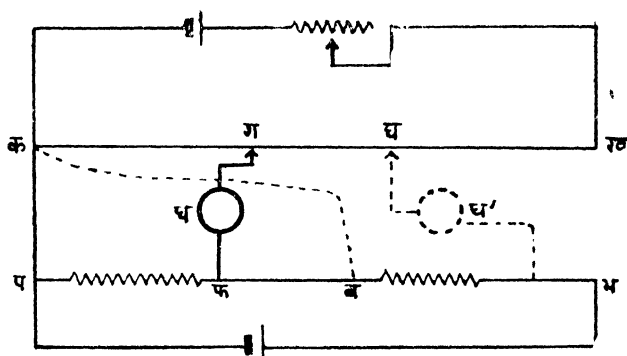
चित्र 18·25

है। **प फ** कुंडली में धारा **प** से **फ** की ओर चल रही है। **प** को **क** से जोड़ दिया है और **फ** को धारामापी **ध** में होकर विभवमापी के तार के किसी बिन्दु **ग** से जोड़ दिया यदि **ध** का विक्षेप शून्य रहे तो स्पष्ट है। **प, फ** का विभवान्तर **क, ग** के विभवान्तर के बराबर होगा। अर्थात् $V=i\rho$ (**क ग**) $=i\rho l$। इस विभवान्तर और मानक सैल के वि०वा०ब० E' का अनुपात भी मालूम किया जा सकता है क्योंकि $E'=i\rho l'$। अतः इस विभवान्तर का मान भी वोल्टों में ज्ञात हो जायगा। $V/E'=l/l'$।

यदि **प फ** और **ब भ** दो कुंडलियाँ श्रेणीबद्ध हों तो दोनों में से एक ही धारा I प्रवाहित होगी। यदि इन कुंडलियों के प्रतिरोध क्रमशः R_1 और R_2 हों तो **प, फ** का विभवान्तर IR_1 होगा और **ब, भ** का IR_2। यदि ऊपर लिखी विधि से विभवमापी का सन्तुलन क्रमशः कुंडली **प फ** तथा **ब भ** से कर लिया जाय तो

$V_1=IR_1=i\rho l_1$ और $V_2=IR_2=i\rho l_2$ नापे जा सकते हैं।

$$\therefore \quad \frac{V_1}{V_2}=\frac{IR_1}{IR_2}=\frac{i\rho l_1}{i\rho l_2}$$

$$\therefore \quad \frac{R_1}{R_2}=\frac{l_1}{l_2}$$

अतः यदि एक कुंडली का प्रतिरोध R_1 ज्ञात हो तो दूसरी का मालूम हो जायगा। प्रतिरोध नापने की यह विधि बहुत अच्छी है क्योंकि इस नाप में कुंडली को विभवमापी से जोड़ने वाले तारों का प्रतिरोध कोई भूल नहीं पैदा करता। पोस्ट-आफ़िस बक्स से और मीटर-सेतु आदि मे जो प्रतिरोध का नाप होता है उसमें इन तारों का प्रतिरोध भी शामिल रहता है। अतः बहुत छोटे प्रतिरोध तो उन उपकरणों से नापे ही नहीं जा सकते। विभवमापी के द्वारा अत्यन्त छोटे प्रतिरोध भी बडी यथार्थता पूर्वक नापे जा सकते हैं।

18·26—**विभवमापी की सुग्राहिता बढ़ाने के उपाय।** विभवमापी के नाप की यथार्थता बढ़ाने के लिए तार की लम्बाई बढ़ा दी जाती है। तब इसे एक ही रेखा में सीधा न रखकर कई बार इधर से उधर ले जा कर तख्ते पर इस प्रकार लगाया जाता है कि एक ही मीटर लम्बाई मे 10 मीटर तार समा जावे और उसका प्रत्येक भाग सीधा रहे।

मान लीजिये कि सचायक सैल का वि० वा० ब० 2 वोल्ट है। तब तार **क ख** का विभवान्तर भी प्रायः 2 वोल्ट होगा। यदि **क ख** की लम्बाई 1 मीटर हो तो प्रत्येक मिलीमीटर तार का विभवान्तर ·002 वोल्ट होगा। किन्तु यदि लम्बाई 10 मीटर हो तो विभवान्तर ·0002 वोल्ट प्रति मिलीमीटर हो जायगा। अतः नाप की यथार्थता बढ़ जायगी। इसकी दूसरी रीति यह है कि बराबर प्रतिरोध की कई कुंडलियाँ तार से श्रेणीबद्ध कर दी जाती हैं (चित्र 18·26)। प्रत्येक कुडली का प्रतिरोध तार **च ख** के प्रतिरोध के ठीक बराबर रहता है। जिस विभवान्तर को नापना होता है उसका एक सिरा इन कुंडलियों के किसी सयोजन-बिन्दु **ग** से जोड़ा
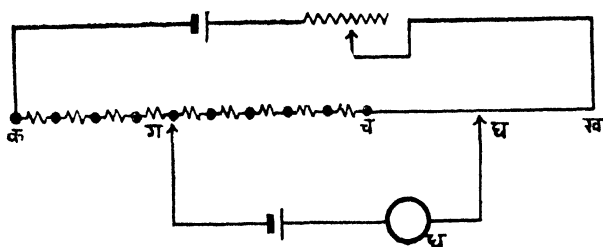
चित्र 18·26

जाता है और दूसरा तार **च ख** के किसी बिन्दु **घ** से। अब विभवान्तर तार की लम्बाई का अनुपाती नहीं होता किन्तु **ग घ** के बीच के प्रतिरोध का अनुपाती होता है। इस

प्रतिरोध का कुछ अंश तो **ग** और **च** के बीच की कुंडलियों का है और कुछ अंश **च** और **घ** के बीच के तार का है। यह दूसरा अंश तार की लम्बाई का अनुपाती होता है और यह भी ज्ञात होता है। यदि इन कुंडलियों की संख्या 9 हो तो परिणाम वही होगा जो तार की लम्बाई को 10 मीटर करने से हुआ था। अर्थात् नाप की यथाथता बढ़ जायगी। इस विधि में सुविधा यह है कि ये कुंडलियाँ थोड़ी जगह में समा सकती है।

बहुधा ये कुंडलियाँ डायल के रूप में लगी रहती है जिससे एक विसर्पी भुजा को गोल घुमाने से इनकी यथेष्ट संख्या का उपयोग किया जा सकता है। इस रूप में बने विभवमापी को क्राम्पटन विभवमापी (Crompton potentiometer) कहते हैं (चित्र 18·27)। इसमें अंशांकन ऐसा होता है कि **ग** और **घ** विन्दुओं के स्थान के पाठ ही विभवान्तर वोल्टों मे बता देते हैं। किन्तु ऐसा होने के लिए विभवमापी की धारा i का समंजन करना पड़ता है जिसके लिये बकस के अन्दर ही समंजक प्रतिरोध लगे रहते है। मानक-सैल ले कर उससे विभव-मापी का
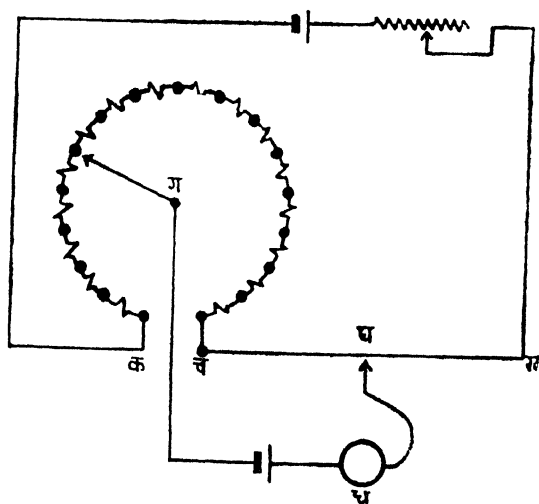
चित्र 18·27

सन्तुलन पहिले किया जाता है और i का समंजन ऐसा कर लिया जाता है कि **ग** और **घ** का पाठ मानक-सैल का वि० वा० ब० ठीक बता दे। तब i को इसी मान पर स्थिर रखकर अन्य विभवान्तर नापे जाते हैं।

18·27—**वोल्ट बक्स** (Volt Box)। यह स्पष्ट है कि विभवमापी उसकी संचायक सैल के वि० वा० ब० से अधिक विभवान्तर नहीं नाप सकता। जब कोई ऐसा विभवान्तर नापना हो जो संचायक सैल के विभवान्तर से बड़ा हो तो एक उपाय तो यह है कि एक के स्थान में कई संचायक सैलें लगा दी जावें। किन्तु इसमें हानि यह है कि विभवमापी के तार और कुंडलियों में धारा प्रबल हो जायगी और उन्हें नुकसान पहुँचा देगी। दूसरा उपाय यह है कि जिस विभवान्तर को नापना हो उसका कोई ज्ञात अंश ही विभवमापी से नाप लिया जाय। इस ज्ञात अंश को प्राप्त करने के उपकरण को वोल्ट-बक्स कहते हैं। यह केवल उच्च प्रतिरोध का प्रतिरोध बक्स है जिसमें कुंडलियाँ ऐसे प्रतिरोध की लगाई जाती हैं कि इच्छानुसार पूरे प्रतिरोध का $\frac{1}{10}$, $\frac{1}{100}$ या $\frac{1}{1000}$ वाँ भाग भी प्राप्त हो सके। माप्य उच्च विभवान्तर
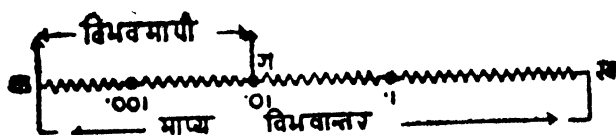
चित्र 18·28

से इसे पार्श्व-बद्ध कर दिया जाता है और तब उसके इच्छित अंश का विभवान्तर विभवमापी से नाप लिया जाता है (चित्र 18·28)।

18·28—**विद्युद्विश्लेष्य का प्रतिरोध** (Resistance of an Electrolyte)। जब किसी विद्युद्विश्लेष्य द्रव में धारा प्रवाहित करना होता है तो उसमें दो धातु-खंड निमज्जित किये जाते हैं। इन्हें विद्युदग्र कहते हैं और इन्हीं के द्वारा धारा द्रव में प्रवेश करती है और उसमें से निकलती है। इन विद्युदग्रों के बीच का प्रतिरोध भी व्हीटस्टोन सेतु के द्वारा नापा जा सकता है किन्तु कठिनाई यह है कि विद्युद्विश्लेषण के द्वारा विद्युदग्रों पर विश्लिष्ट पदार्थ एकत्रित होकर प्रतिरोध को बदल देते हैं। अतः इस कार्य के लिये प्रायः 1000 आवृत्ति की प्रत्यावर्ती धारा (alter nating current) का उपयोग किया जाता है। धारामापी के स्थान में टेलीफ़ोन का उपयोग होता है जिसमें धारा के प्रवाह से उतनी ही आवृत्ति का शब्द सुनाई पड़ता है। सन्तुलन होने पर इस शब्द का अभाव हो जाता है।

18·29—**विशिष्ट प्रतिरोध** (Specific Resistance) प्रतिरोध के सम्बंध में ओह्म ने निम्नलिखित नियमों का आविष्कार किया था:—

(1) किसी भी चालक तार का प्रतिरोध तार की लम्बाई का अनुपाती होता है। यह नियम श्रेणीबद्ध प्रतिरोधों के नियम का परिणाम है।

(2) किसी भी चालक तार का प्रतिरोध उसके अनुप्रस्थकाट के क्षेत्रफल का उत्क्रमानुपाती होता है।

साधारण गोल तार के अनुप्रस्थकाट का क्षेत्रफल उसके व्यास के वर्ग का अनुपाती होने के कारण किसी भी चालक तार का प्रतिरोध उसके व्यास के वर्ग का उत्क्रमानुपाती होता है।

यह नियम पार्श्वबद्ध प्रतिरोधों के नियम का परिणाम है।

(3) यदि एक ही मोटाई और लम्बाई के दो तार हों किन्तु एक तांबे का हो और एक लोहे का, तो इनके प्रतिरोधों में भी अन्तर होता है। अतः तीसरा यह नियम है कि

तार का प्रतिरोध उस पदार्थ पर भी निर्भर है जिस का वह तार बना हुआ है।

इन नियमों को काम में लाने के लिये यह आवश्यक है कि हम प्रत्येक पदार्थ के एक सेंटीमीटर लम्बे और एक ही वर्ग सम० क्षेत्रफल के काट वाले तार का प्रतिरोध जान ले। यदि किसी पदार्थ का यह प्रतिरोध ρ हो तो प्रथम तथा द्वितीय नियमानुसार l सम० लम्बे और a वर्ग सम० अनुप्रस्थ काट वाले उस पदार्थ के तार का प्रतिरोध हमें तुरन्त ज्ञात हो जायगा। यह प्रतिरोध $R = \rho l/a$ ओह्म होगा।

ρ उस पदार्थ का विशिष्ट प्रतिरोध (specific resistance) कहलाता है। और उसकी परिभाषा यह है :–

किसी पदार्थ के एक सम० लम्बे और एक वर्ग सम० अनुप्रस्थ काट वाले टुकड़े के प्रतिरोध को उस पदार्थ का विशिष्ट प्रतिरोध कहते है। विशिष्ट प्रतिरोध की व्युत्क्रम सख्या को उस पदार्थ की चालकता (conductivity) कहते हैं।

विशिष्ट प्रतिरोध पर पदार्थ की भौतिक अवस्था का बड़ा असर होता है। धातु के तारों का प्रतिरोध उन्हें खीचने, पीटने आदि से कुछ बदल जाता है। उन पर आब देने से या मृदुकरण की क्रिया से भी कुछ अन्तर हो जाता है। पदार्थ में कुछ मिलावट अथवा अशुद्धि होने से तो प्रतिरोध बहुत अधिक बदल जाता है। मिश्र-धातुओं का विशिष्ट प्रतिरोध शुद्ध धातुओं की अपेक्षा बहुत अधिक होता है।

18·30—**प्रतिरोध पर टेम्परेचर का प्रभाव**। सबही धातुओं का विशिष्ट प्रतिरोध टेम्परेचर बढ़ाने से बढ़ जाता है। यदि किसी धातु के चालक का प्रतिरोध $0°C$ पर R_o हो तो $t°$ पर उसका प्रतिरोध $R=R_o(1+\alpha t)$ हो जायगा। इस सूत्र मे α उस पदार्थ के प्रतिरोध का टेम्परेचरगुणांक (temperature coefficient) कहलाता है।

यद्यपि इस सूत्र के अनुसार प्रतिरोध की वृद्धि टेम्परेचर की वृद्धि की अनुपाती मालूम होती है किन्तु जब टेम्परेचर बहुत अधिक हो जाता है तब इस सूत्र से प्रतिरोध यथार्थता.पूर्वक मालूम नहीं हो सकता। उस दशा में जिस सूत्र का व्यवहार होता है वह निम्न प्रकार है:—

$$R=R_o(1+\alpha t+\beta t^2)$$

किन्तु अत्यन्त नीचे तापक्रम पर यह सूत्र भी ठीक नहीं निकलता। इस सूत्र के द्वारा प्रतिरोध के नाप से टेम्परेचर का नाप हो सकता है। इस काम के लिए शुद्ध प्लाटिनम के तार का प्रतिरोध काम में आता है और उसे प्लाटिनम-प्रतिरोध थरमामीटर कहते हैं। इसके द्वारा प्रायः 1000° तक के टेम्परेचर बड़ी अच्छी तरह नाप लिये जाते हैं।

नीचे जो तालिका विभिन्न पदार्थों के विशिष्ट प्रतिरोध तथा टेम्परेचर-गुणांक की दी हुई है उसमें दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम तो यह कि बहुत सी शुद्ध धातुओं के टेम्परेचर-गुणांक का परिमाण ·0034 से ·0040 के बीच में है। गैसों का प्रसार-गुणांक (coefficient of expansion) भी लगभग इतना ही अर्थात् ·0036 होता है और इसी कारण —273° को टेम्परेचर का परम शून्य (absolute zero) माना गया है। अनुमान किया जाता है कि इस टेम्परेचर से कम टेम्परेचर हो ही नहीं सकता। प्रतिरोध के टेम्परेचर-गुणांक के उक्त परिमाण से ज्ञात होता है कि इस परम शून्य के टेम्परेचर पर प्रतिरोध कुछ भी न रहेगा और प्रत्येक धातु पूर्णरूप से चालक बन जायगी। इस बात की जांच करने के लिए द्रव-वायु, द्रव हाइड्रोजन और द्रव हीलियम में शुद्ध ताँबे के तार को डुबा कर प्रतिरोध नापा गया तो मालूम हुआ कि यद्यपि प्रतिरोध सर्वथा लुप्त नहीं हो जाता किन्तु वह बहुत ही कम हो जाता है। धातुओं की चालकता ऐसी अवस्था में बहुत ही बढ़ जाती है। इस चालकता का नाम अतिचालकता (super-conductivity) रक्खा गया है।

दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि कार्बन का टेम्परेचर गुणांक ऋण-चिह्नीय है। अर्थात् कार्बन का टेम्परेचर बढ़ाने से प्रतिरोध घट जाता है। प्रायः अधातु (non-metal) पदार्थों में ऐसा ही होता है। रबड़, अभ्रक, एबोनाइट आदि अचालकों का भी प्रतिरोध टेम्परेचर बढ़ाने से घट जाता है।

विशिष्ट प्रतिरोध ($0°C$ पर)

पदार्थ	विशिष्ट प्रतिरोध $\rho \times 10^6$ ओह्म	टेम्परेचर-गुणांक α
चाँदी (मृदुकृत)	1·521	·00377
चाँदी (तार खीचने पर)	1·652	—
ताँबा (मृदुकृत)	1·590	·00428
ताँबा (तार खीचने पर)	1·622	—
प्लाटिनम	11·0	·0034
लोह	9—15	·007
टिन	9·565	·004
सीसा	19·85	·00387
बिस्मथ	132·6	·0054
पारा	94·07	·00089
जर्मन-सिलवर	20·2	·00027
मैंगनिन	42—44	·00025
युरिका	49	·0004
कार्बन	7000	—·0005
आसुत जल (distilled water)	72	
गंधकाम्ल (घनत्व 1·07)	0·85	
गंधकाम्ल (घनत्व 1·17)	1·00	
गधकाम्ल (घनत्व 1·70)	4·25	
कापर सल्फेट (संतृप्त विलयन)	25	
ज़िंक सल्फेट (संतृप्त विलयन)	21	
सिलीनियम	60,000	

प्रतिरोध बक्सों में और पोस्ट-आफ़िस बक्सों के लिये और विशेषकर प्रमाण प्रतिरोधों के लिए जो प्रतिरोध कुंडलियाँ काम में लाई जाती हैं वे ऐसे पदार्थ की बनाई जानी चाहिए कि जिनका टेम्परेचर बदलने से प्रतिरोध कम से कम बदले। उपर्युक्त सारणी

में मैंगनिन ही ऐसा पदार्थ है जिसका टम्परेचर-गुणांक सब से कम है। अतः यही उपयुक्त पदार्थ है। किन्तु यह मंहगा होता है। अतः सस्ते बक्सों में बहुधा यूरिका का भी उपयोग किया जाता है।

18·31—**प्रतिरोध पर प्रकाश का प्रभाव**। सिलीनियम (selenium) नामक तत्व का विशिष्ट प्रतिरोध बहुत अधिक होता है। उसका परिमाण ताँबे से प्रायः 40 हजार गुणा अधिक होता है किन्तु उस पर प्रकाश के पड़ते ही यह प्रतिरोध बहुत घट जाता है। विशेषकर जब इसे प्राय. 200° के टेम्परेचर पर कई घंटे रख कर धीरे-धीरे ठंडा होने देते हैं और यह क्रिस्टल रूप धारण कर लेता है तब तो प्रकाश का प्रभाव इसके प्रतिरोध पर बहुत ही अधिक होने लगता है। इस सुग्राहिता को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि इसकी बहुत ही पतली पट्टिका बनाई जाय ताकि प्रकाश प्रायः सर्वत्र ही इस पर पड़कर अपना प्रभाव उत्पन्न कर सके। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि जिस सिलीनियम में से धारा चलाई जाय उसका प्रतिरोध भी बहुत अधिक न हो। इसलिए लम्बाई बहुत कम और अनुप्रस्थ काट बहुत अधिक रखना होता है। इन सब बातो को ध्यान मे रख कर जो सिलीनियम का प्रतिरोध बनाया जाता है उसे सिलीनियम सैल कहते हैं। ये कई तरह से बनाई जाती हैं।

बिडवल (Bidwell) की सिलीनियम सैल बनाने का तरीका यह है कि किसी अचालक (यथा अभ्रक या पोर्सिलेन) पर दो पतले तार समान्तर लपेट दिये जाते हैं। ये तार आपस मे जुड़े नही होते हैं और इन्ही को बैटरी के धन तथा ऋण ध्रुवों से जोड़ कर इस सैल में धारा चलाई जाती है। सिलीनियम को गलाकर एक पतली तह उस अचालक पर इस प्रकार लगा दी जाती है कि उन दो तारों के बीच में सर्वत्र सिलीनियम लग जाय। इस प्रकार धारा को एक तार से दूसरे तार मे जाने के लिये एक या दो मिलीमीटर से अधिक सिलीनियम में से नही चलना पड़ता किन्तु उसके इस मार्ग की चौड़ाई उन तारों की समस्त लम्बाई के बराबर होती है। इसके बाद सिलीनियम को गरम और ठंडा करके उसे क्रिस्टलित बना लिया जाता है।

इसके प्रतिरोध मे जो परिवर्तन होता है वह प्रकाश के रंग और उसकी तीव्रता दोनों पर निर्भर है। पीले और हरे प्रकाश का प्रभाव सबसे अधिक होता है और जिस अनुपात में प्रकाश की तीव्रता बढ़ती है उसके वर्गमूल के अनुपात में

प्रतिरोध घटता है। कहा जाता है कि प्रकाश के कारण सिलीनियम की क्रिस्टल अवस्था में कुछ परिवर्तन हो जाता है और इसी से प्रतिरोध घटता है।

सिलीनियम सैल के इस गुण का उपयोग सबसे पहिले प्रकाश के द्वारा बातचीत करने का यंत्र बनाने में किया गया था। इस यंत्र का नाम फ़ोटोफ़ोन (photophone) रखा गया था। किन्तु आजकल इसका उपयोग प्रकाश की तीव्रता नापने के लिए किया जाता है। दृष्य स्पैक्ट्रम में जो रेखाएँ होती हैं उनकी तीव्रता नापने का यह अच्छा साधन है।

टेल्यूरियम और कार्बन के प्रतिरोध पर भी प्रकाश का प्रभाव होता है किन्तु बहुत कम।

18·32—**प्रतिरोध पर चुम्बकीय क्षेत्र का प्रभाव**। सन् 1881 में यह देखा गया था कि बिस्मथ के तार को चुम्बकीय क्षेत्र में रखने से उसका प्रतिरोध बढ़ जाता है, और विशेषकर जब क्षेत्र की बल रेखाएँ तार से लम्ब रूप हों। प्रतिरोध की यह वृद्धि क्षेत्र की तीव्रता पर निर्भर है। यद्यपि इसका कोई सरल नियम नहीं ज्ञात हुआ है किन्तु निम्न अंकों से इस वृद्धि के परिमाण का कुछ अनुमान हो सकता है।

क्षेत्र की तीव्रता (गाउस)	प्रतिरोध (ओह्म)
0	1·00
12500	1·63
27450	2·54
38900	3·34

टेम्परेचर के घटाने से इस वृद्धि की दर और भी बढ़ जाती है। वायु के क्वथनाक —182°·5 पर 21000 गाउस के क्षेत्र में प्रतिरोध बढ़कर 150 गुणा हो सकता है।

आजकल चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता नापने के लिए इस गुण का उपयोग किया जाता है। बिस्मथ के तार की एक चपटी सर्पिल कुंडली बना ली जाती है

और एबोनाइट के दस्ते में यह लगा दी जाती है। इसके तल को क्षेत्र की दिशा से समकोणिक रखकर प्रतिरोध नापने से क्षेत्र की तीव्रता तुरन्त ज्ञात हो सकती है। चित्र (18·29)

चित्र 18·29

18·33—**ओह्म के नियम के अपवाद**। साधारणतया सब धातुओं तथा द्रवों के लिए ओह्म का नियम ठीक है अर्थात् इन सब पदार्थों का प्रतिरोध अचर होता है। विभवान्तर बढ़ाने से धारा की प्रबलता भी उसी अनुपात से बढ़ती जाती है परन्तु प्रतिरोध में कुछ भी अन्तर नहीं होने पाता। किन्तु कुछ पदार्थ ऐसे हैं कि जिन पर ओह्म का नियम लागू नहीं होता। इनमे विभवान्तर बढ़ाने से धारा उसी अनुपात से नहीं बढ़ती अथवा इनका प्रतिरोध विभवान्तर के परिवर्तन से बदल जाता है। ऐसे पदार्थ मुख्यत: दो प्रकार के होते हैं—एक क्रिस्टल (crystal) और दूसरे गैसीय (gas)।

18·34—**क्रिस्टलों का प्रतिरोध** (Resistance of Crystals)। यदि जिकाइट, गैलिना, कापर पाइराइट, कारबोरंडम इत्यादि किसी क्रिस्टल से धातु की नोक का या दूसरे क्रिस्टल की नोक का स्पर्श करा दिया जाय और तब इस स्पर्श स्थान में से क्रिस्टल में होकर विद्युत्-धारा चलाई जाय तो मालूम होगा कि उसका प्रतिरोध धारा की दिशा तथा विभवान्तर के परिमाण पर निर्भर होता है। इन क्रिस्टलों में धारा एक ही दिशा में चल सकती है। दूसरी दिशा में इनका प्रतिरोध इतना अधिक हो जाता है कि धारा प्रायः चल ही नहीं सकती। जिस दिशा में धारा चल सकती है उसमें भी विभवान्तर और धारा का संबंध निम्न लेखा-चित्र के समान होता है। जब तक विभवान्तर कम रहता है तब तक तो प्रतिरोध अधिक रहता है और धारा कम रहती है किन्तु ज्यों-ज्यों विभवान्तर बढ़ता जाता है त्यों-त्यों प्रतिरोध भी घटता जाता है और धारा बहुत बढ़ती जाती है (चित्र 18·30)। क्रिस्टलों के इस गुण का उपयोग बे-तार के टेलीफ़ोन में बड़ा लाभदायक सिद्ध हुआ है।
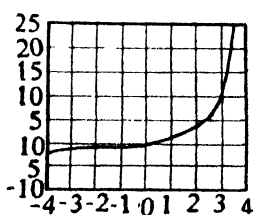
चित्र 18·30

18·35—**गैसों का प्रतिरोध** (Resistance of Gases) । वायु आदि प्रायः सभी गैसें अचालक होती हैं । किन्तु कभी-कभी किसी कारण से इनके अणु आयनित (ionised) हो जाते हैं । अर्थात् उनके दो भाग हो जाते हैं एक धनाविष्ट और दूसरा ऋणाविष्ट। ऐसी अवस्था में विभवान्तर के कारण धन-आयन एक ओर चलते हैं और ऋण-आयन दूसरी ओर, तथा इस गति के कारण गैस में से विद्युत्धारा प्रवाहित होती है । इस धारा की प्रबलता इन आयनों की संख्या पर तथा उनके वेग पर निर्भर है। ज्यों-ज्यों विभवान्तर बढ़ता है त्यों-त्यों इन आयनों का वेग भी बढ़ता जाता है और धारा भी प्रबल होती जाती है। किन्तु जब वेग इतना अधिक हो जाता है कि जितने आयन एक सैकंड में बनते हैं उतने ही एक सैकंड में धन तथा ऋण ध्रुवों में जा पहुँचते हैं तब स्पष्ट हो जाता है कि और अधिक वेग बढ़ाने से धारा की प्रबलता
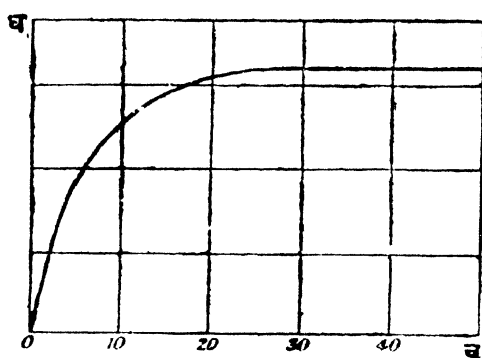
चित्र 18·31

नहीं बढ़ सकती । धारा संतृप्त (saturated) हो जाती है । विभवान्तर बढ़ाने से धारा में जो परिवर्तन होता है वह चित्र 18·31 में दिखलाया गया है । ओह्म के नियम वाली प्रतिरोध की परिभाषा के अनुसार प्रत्यक्ष है कि गैस का प्रतिरोध विभवान्तर की वृद्धि के कारण पहिले धीरे-धीरे और फिर अधिक तीव्रता से बढ़ जाता है ।

परिच्छेद 1

विद्युत्-धारा से ऊष्मा की उत्पत्ति

(Production of Heat by Electric Current)

19·01—**विद्युत्-धारा से ऊष्मा की उत्पत्ति**। यह बताया जा चुका है कि जिस तार में विद्युत्-धारा प्रवाहित हो रही हो उसमें ऊष्मा भी उत्पन्न हो जाती है। उस तार का टेम्परेचर बढ़ जाता है और यदि धारा अधिक प्रबल हो तथा तार पतला हो तो वह गर्मी के कारण लाल भी हो जाता है और कभी-कभी पिघल भी जाता है। इन प्रयोगों से प्रकट है कि धारा की वैद्युत ऊर्जा ऊष्मा के रूप में परिणत हो जाती है। इस परिच्छेद में हमें यह देखना है कि किन-किन अवस्थाओं में विद्युत्-धारा से ऊष्मा उत्पन्न होती है, इस ऊष्मा का परिमाण किन-किन बातों पर निर्भर है और इस का उपयोग हम कैसे कर सकते है।

19·02—**धारा की दिशा और ऊष्मा**। सबसे पहली बात जो धारा जनित ऊष्मा के संबंध में कही जा सकती है वह यह है कि यह ऊष्मा धारा की दिशा पर तनिक भी निर्भर नही है। चाहे धारा किसी भी दिशा में प्रवाहित हो, जिस तार में से वह चल रही हो उसमें ऊष्मा उत्पन्न होगी ही। यदि धारा की दिशा क्षण-क्षण मे बदलती रहे तब भी इस ऊष्मा की उत्पत्ति में कोई परिवर्तन नही होता।

19·03—**प्रतिरोध और ऊष्मा**। किन्तु विद्युत्-धारा से जो ऊष्मा उत्पन्न होती है उसका प्रतिरोध से बड़ा गहरा संबंध है। मोटे तार की अपेक्षा पतले तार में अधिक ऊष्मा उत्पन्न होती है। और ताँबे के तार की अपेक्षा जरमन सिलवर, यूरिका आदि मिश्र धातुओं के तारों में भी ऊष्मा अधिक मात्रा में उत्पन्न होती है।

19·04—**धारा-जनित ऊष्मा को नापने की विधि**। किसी ताँबे के पात्र (कलारी-मापी) में जल या तेल भर दीजिये। जिस तार में धारा चलाकर ऊष्मा उत्पन्न करना हो उसकी कुंडली बना कर इस द्रव में डुबा दीजिये। कुंडली के दोनों सिरों को ताँबे के तार से जोड़ कर बैटरी द्वारा इच्छानुसार विद्युत्-धारा उसमें प्रवाहित करने का प्रबंध कर दीजिये। कलारी-मापी के द्रव में एक थरमामीटर रख दीजिये

(चित्र 19·01)। घड़ी में देख कर किसी निश्चित समय तक उस तार में नियत परिमाण की धारा चलाइये। थरमामीटर का पारा ऊपर चढ़ने लगेगा। द्रव को हिला कर समस्त कलारी-मापी का टेम्परेचर एक-सा कर लीजिये। जितनी ऊष्मा विद्युत्धारा उत्पन्न करेगी वह सब जल या तेल में प्रवेश करेगी और इसी से उसका टेम्परेचर बढ़ेगा। अतः यदि हमें उस जल या तेल का तौल (m ग्राम) तथा आपेक्षिक ताप (specific heat) s मालूम हो और थरमामीटर से टेम्परेचर की वृद्धि $T'-T$ नाप ले तो स्पष्ट ही है कि

चित्र 19·01
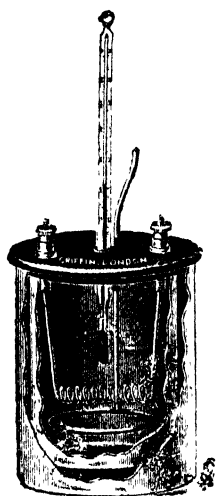
$$\text{ऊष्मा का परिमाण} = ms(T'-T) \text{ कलारी} \quad (1)$$

इस ऊष्मा को अधिक यथार्थता-पूर्वक नापने के लिए उक्त सूत्र में कई सुधार भी करने पड़ते हैं। धारा-जनित ऊष्मा का कुछ अंश कलारी-मापी, थरमामीटर और इनसे स्पर्श करने वाली अन्य वस्तुओं में भी जाता है और कुछ ऊष्मा कलारी-मापी के उत्तप्त पृष्ठ से चारों ओर विकीर्ण (radiate) हो जाती है। इस ऊष्मा का उक्त सूत्र में कुछ भी हिसाब नहीं लगाया गया है। अतः यथार्थ नाप के लिये पहले तो प्रबंध ऐसा करना होता है कि बहुत कम ऊष्मा इन कार्यों में खर्च हो और जो कुछ खर्च हो उसका भी हिसाब लगा कर उपर्युक्त सूत्र में जोड़ना पड़ता है। यहाँ उन सब बातों का ज़िक्र करने की आवश्यकता नहीं है। ऊष्मा-विज्ञान सम्बन्धी पुस्तकों से वे सब बातें जानी जा सकती हैं।

19·05—**जूल का नियम** (Joule's Law)। जूल (Joule) ने ही सबसे पहले उपर्युक्त विधि से धारा-जनित ऊष्मा का परिमाण नापा था और साथ ही धारा की प्रबलता तथा ऊष्मा-उत्पादक तार के सिरों का विभवान्तर भी अम्पीयरमापी तथा वोल्ट-मापी के द्वारा नापा था। इस नाप के परिणाम-स्वरूप उन्होंने निम्नलिखित नियम बना दिये हैं जिससे धारा-जनित ऊष्मा के परिमाण का परिकलन हो सकता है।

यदि स० ग० स० मात्रकों में धारा i हो, विभवान्तर V हो और धारा t सैकंड तक प्रवाहित हो तो ऊष्मा का परिमाण होगा

$$H = Vit \text{ अर्ग}$$
$$= \frac{Vit}{J} = \frac{Vit}{4{\cdot}2 \times 10^7} \text{ कलारी} \quad \ldots \quad (2)$$

इसी को ओह्म के नियमानुसार हम यों भी लिख सकते है कि

$$H = \frac{i^2Rt}{4{\cdot}2 \times 10^7} \text{ कलारी} \quad \ldots \quad (3)$$

जहाँ प्रतिरोध $R = \frac{V}{i}$ है।

यदि i तथा V का नाप अम्पीयरों तथा वोल्टों मे हो तो

$$H = \frac{Vit}{4{\cdot}2} = {\cdot}24Vit \text{ कलारी} \quad \ldots \quad (4)$$

क्योंकि V वोल्ट $= V \times 10^8$ और i अम्पीयर $= i \times 10^{-1}$ म०ग०स० मात्रक। इस नियम से ज्ञात होता है कि धारा से उत्पन्न ऊष्मा का मान (i) धारा की प्रबलता के वर्ग का अनुपाती होता है (ii) प्रतिरोध का भी अनुपाती होता है और (iii) जितनी देर तक धारा प्रवाहित हो उस समय का भी अनुपाती होता है। समीकरण (3) में i^2 की उपस्थिति से भी प्रकट है कि i का मूल्य चाहे धन हो या ऋण, ऊष्मा की मात्रा में कुछ भी अन्तर नहीं होता। अर्थात् धारा की दिशा पर ऊष्मा की उत्पत्ति निर्भर नहीं है।

19·06—**धारा से ऊष्मा की उत्पत्ति का कारण**। अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि विद्युत्-धारा से ऊष्मा की उत्पत्ति कैसे होती है। इसमें तो सन्देह है ही नहीं कि धारा उच्च विभव से निम्न विभव की ओर प्रवाहित होती है और इस कार्य में कुछ रासायनिक ऊर्जा का व्यय होता है। जिस प्रकार ढालू जमीन पर रखी हुई वस्तु पृथ्वी के आकर्षण के कारण ऊँची जगह से खिसक कर नीची जगह पर चली जाती है, ठीक उसी प्रकार विद्युत् भी उच्च विभव से निम्न विभव की ओर चला जाता है। वास्तव में हमें यों कहना चाहिए कि ऋण इलैक्ट्रानों का समुदाय निम्न विभव से उच्च विभव की ओर चला जाता है। किन्तु यह केवल भाषा का भेद मात्र है। ढालू जमीन पर खिसकने वाली वस्तु में कुछ ऊर्जा प्रकट होती है। यदि जमीन सुचिक्कण न हो तो उसके साथ रगड़ या घर्षण के कारण यह ऊर्जा ऊष्मा के रूप में दिखाई देती है। किन्तु चिकनी जमीन पर वस्तुओं का वेग बढ़ता जाता है और यह गतिज ऊर्जा के रूप में प्रगट होती है। और जब वह वस्तु किसी दूसरी वस्तु से टकराती है तब इस गतिज ऊर्जा का कार्य हमें दिखलाई देता है। ठीक

इसी प्रकार उच्च विभव से निम्न विभव की ओर जाने वाली विद्युत् में भी ऊर्जा प्रगट होती है। इस प्रवाह के विरुद्ध चालक में जो प्रतिरोध होता है उसकी तुलना हम घर्षण से कर सकते है। जिस प्रकार द्रव्य की गति घर्षण के कारण ऊष्मा उत्पन्न करती है ठीक उसी प्रकार धारा की वैद्युत ऊर्जा भी प्रतिरोध के कारण ऊष्मा के रूप मे परिणत हो जाती है। जितना प्रतिरोध कम हो उतनी ही कम ऊर्जा ऊष्मा का रूप धारण करेगी, उतनी ही अधिक प्रबलता धारा की होगी और उतना ही अधिक काम धारा की शेष ऊर्जा कर सकेगी।

यहाँ घर्षण की उपमा से उष्मा की उत्पत्ति समझाई गई है। किन्तु यह उपमा मात्र है। वास्तविक बात यह है कि प्रत्येक चालक में कुछ इलैक्ट्रान परमाणुओं से अलग होकर स्वतन्त्र हो जाते हैं और ये अनवरत गति से बराबर इधर-उधर घूमते रहते हैं। कोई भी इलैक्ट्रान अपने स्थान से हट कर बहुत दूर तो नही जा सकता क्योंकि उसकी टक्कर जल्दी ही किसी न किसी परमाणु से हो जाती है। परमाणु भी इसी प्रकार निरंतर दोलन करते रहते हैं। इस दोलन की गतिज ऊर्जा ही का नाम ऊष्मा है। जब इस गतिज ऊर्जा की वृद्धि होती है तो ऊष्मा की भी वृद्धि होती है और टेम्परेचर बढ जाता है। अतः जब चालक के इलैक्ट्रानों पर विभवान्तर के कारण बल लगता है तब उनमें एक दिशा विशेष मे अधिक गति उत्पन्न होती है और परमाणु से टकरा कर वे उसकी गतिज ऊर्जा को भी बढ़ा देते हैं। यही कारण चालक के टेम्परेचर के बढ़ने का है। इस बात से यह भी प्रकट है कि धारा किसी भी दिशा में चले ऊष्मा की उत्पत्ति में कोई फ़र्क नहीं होगा।

इसी बात को हम एक और भी प्रकार समझ सकते हैं। विभवान्तर की परिभाषा ही यह दी गई है कि एक मात्रक विद्युत् को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में यदि एक अर्ग ऊर्जा का व्यय हो तो उन स्थानों का विभवान्तर एक मात्रक विभवान्तर कहलाता है। इससे प्रगट है कि यदि स०ग०स० मात्रकों में दो विन्दुओं का विभवान्तर V हो और q मात्रक विद्युत् स्थानान्तरित हो तो qV अर्ग ऊर्जा का व्यय होगा। यदि विद्युत् निम्न विभव से उच्च विभव की ओर जाय तब तो हमें इतनी ऊर्जा उस पर लगानी होगी और विपरीत इसके यदि विद्युत् उच्च विभव से निम्न विभव की ओर स्थानान्तरित हो तो उसमें से इतनी ऊर्जा हमें मिल सकती है। यही ऊर्जा ऊष्मा के रूप में प्रगट होती है।

इस बात से जूल का नियम समझना कठिन नहीं। क्योंकि यदि विद्युत्चुम्बकीय (electromagnetic) मात्रकों में धारा i हो तो t सैकंड में प्रवाहित होने वाला विद्युत् $q=it$ ।

अतः ऊष्मा-रूप में परिणत ऊर्जा $=qV=Vit=i^2Rt$ अर्ग ।

19·07—**वैद्युत शक्ति** (Electric Power)। इंजन ऊष्मा से यांत्रिक ऊर्जा उत्पन्न करता है। किन्तु कोई इंजन यह ऊर्जा धीरे-धीरे उत्पन्न करता है और कोई जल्दी-जल्दी। जो काम पहिला इंजन बहुत देर में करेगा वही दूसरा थोड़े ही समय में कर सकेगा। इस भेद को व्यक्त करने के लिये ही शक्ति शब्द का प्रयोग किया जाता है। पहले इंजन की शक्ति कम है और दूसरे की अधिक। पहले को भी यदि पर्याप्त समय दिया जाय तो वह दूसरे इंजन के बराबर ही ऊर्जा उत्पन्न कर देगा किन्तु बराबर समय में पहले में ऊर्जा थोड़ी उत्पन्न होगी। इस प्रकार शक्ति $=1$ सैकंड में उत्पन्न ऊर्जा।

वैद्युत बैटरी या विद्युत्-धारा उत्पन्न करने वाला और कोई उपकरण भी यांत्रिक ऊर्जा उत्पन्न कर सकता है और यदि वि० वा० ब० $=E$ वोल्ट हो और धारा I अम्पीयर हो तो प्रति सैकंड उत्पन्न होने वाली ऊर्जा $=EI$ अर्ग होगी। यही उसकी शक्ति कहलाती है।

एक वोल्ट वि० वा० ब० से एक अम्पीयर धारा प्रवाहित करने के लिए जितनी शक्ति की आवश्यकता होती है वह शक्ति का व्यवहारिक मात्रक नियत कर दिया गया है। इसका नाम वाट (watt) रख दिया गया है। अतः E वोल्ट और i अम्पीयर की धारा की शक्ति Ei वाट हुई।

एक हजार वाट को एक किलोवाट (kilo-watt) कहते हैं।

इंजीनियर लोग बहुधा शक्ति का एक और मात्रक काम में लाते हैं। इसका नाम अश्व-शक्ति (horse-power) है।

एक अश्व-शक्ति $=746$ वाट $=\cdot746$ किलोवाट तथा एक किलोवाट $=1\frac{1}{3}$ अश्व-शक्ति (लगभग)।

19·08—**वैद्युत ऊर्जा का नाप**। शक्ति की परिभाषा से स्पष्ट है कि ऊर्जा=शक्ति × समय। अतः बिजली के व्यापार में ऊर्जा नापने का जो मात्रक नियत किया गया है उसका नाम किलोवाट-घंटा (kilo-watt-hour) रखा गया है। एक किलोवाट शक्ति की धारा एक घंटे तक प्रवाहित होने से इस मात्रक के बराबर ऊर्जा व्यय होती है। संक्षेप में इस मात्रक को एक यूनिट (unit) भी कहते हैं। बहुधा शहरों में रोशनी इत्यादि के लिए जो बिजली हमें मिलती है उसका विभवत्व 220 वोल्ट का होता है। यदि हम प्रायः 5 अम्पीयर की धारा काम में

लावें तो प्रत्यक्ष है कि लगभग 1 किलोवाट शक्ति की आवश्यकता होगी। एक घंटे तक यह धारा बराबर बहती रहे तो एक यूनिट ऊर्जा खर्च होगी। यह भी स्पष्ट है कि 5 अम्पीयर की धारा 1 घंटे में जितनी ऊर्जा खर्च करेगी ठीक उतनी ही ऊर्जा 1 अम्पीयर की धारा 5 घंटे में और $\frac{1}{4}$ अम्पीयर की धारा 20 घंटे में खर्च करेगी।

बम्बई कलकत्ते जैसे बहुत बड़े शहरों को छोड़ कर साधारणतया इस देश में बिजली का दाम चार आने से आठ आने तक प्रति यूनिट है।

19·09—**धारावाही तारों को गरम करने में ऊर्जा का व्यय।** किसी भी चालक में धारा प्रवाहित करने पर जो ऊर्जा व्यय होती है उसका परिमाण i^2Rt अर्ग होता है। अतः हम कह सकते है कि इस कार्य में i^2R वाट की शक्ति का व्यय होता है। जहाँ हमे ऊष्मा की कोई आवयकता नहीं होती वहाँ भी विद्युत्धारा जिन तारों में से जाती है उनमे प्रतिरोध होता है। अतः उनमें भी ऊर्जा का यह व्यय होता ही है। इस प्रकार बिना कुछ न कुछ व्यर्थ व्यय हुए वैद्युत-ऊर्जा तार में चल ही नही सकती। यह व्यय अनिवार्य है किन्तु इससे हमें कुछ लाभ नही।

किन्तु यदि चालक तार ऐसे हों कि उनका प्रतिरोध बहुत कम हो तो यह व्यर्थ हानि भी बहुत घट सकती है। इसी कारण ये तार सदैव शुद्ध तांबे के बनाये जाते हैं। और इन्हें मोटा भी काफी रखना पड़ता है। विशेषकर जहाँ बिजली के कारखाने से मीलों दूर तक विद्युत्-धारा ले जाना पड़ता है वहाँ तो इसका विशेष ध्यान रखना पड़ता है।

मान लीजिये की किसी धारा का विभवत्व E वोल्ट है और उसकी प्रबलता i अम्पीयर है। प्रकट है कि उसकी शक्ति Ei वाट है। इस धारा के पूरे परिपथ का प्रतिरोध यदि R ओह्म हो तो ऊष्मा के रूप में खर्च होने वाली शक्ति i^2R वाट है। अतः जो वैद्युत शक्ति अन्य लाभदायक काम के लिए उपलब्ध है उसका परिमाण हुआ $Ei-i^2R$ वाट। i^2R वाट की हानि का नाम ताम्र-हानि (copper loss) रख दिया गया है क्योंकि यह हानि तांबे के तारों में होती है।

उदाहरण के लिये मान लीजिए कि 220 वोल्ट वाली 100 अम्पीयर की धारा बिजलीघर से 1 मील की दूरी पर जा रही है। इसमें 220×100 वाट $=22$ किलोवाट की शक्ति है। किन्तु जो दो मील लम्बा तांबे का तार इस धारा को बिजलीघर से ले जा रहा है यदि उसका प्रतिरोध 1 ओह्म हो तो ताम्र-हानि $100^2 \times 1$ वाट $= 10$ किलोवाट होगी।

अर्थात् प्रायः आधी शक्ति व्यर्थ ही इन तारों में नष्ट हो जावेगी। अतः तार इतने मोटे होने चाहिए कि प्रतिरोध प्रायः $\frac{1}{10}$ ओह्म से अधिक न हो, ताकि हानि 1 किलोवाट (अर्थात 5%) से अधिक न हो।

19·10—उच्च विभवत्व का उपयोग। बिजलीघर से बहुत दूर विद्युत् धारा को ले जाने में सबसे बड़ी कठिनाई इन मोटे तारों की ही है। मोटाई के कारण इन तारों में बहुत रुपया खर्च हो जाता है और उनके लिए खम्भे इत्यादि भी बहुत मजबूत बनाने पड़ते हैं। इस खर्च को कम करने का एक उपाय यह है कि धारा का विभवत्व बढ़ा दिया जाय। उपर्युक्त उदाहरण में यदि 220 वोल्ट के स्थान में विभवत्व 550 वोल्ट हो तो 22 किलोवाट के लिए $\frac{22000}{550}=40$ अम्पीयर धारा की ही आवश्यकता होती। अतः 1 ओह्म के प्रतिरोध से भी ताम्र-हानि केवल $40^2 \times 1$ वाट $=1 \cdot 6$ किलोवाट ही होती। और यदि विभवत्व 2200 वोल्ट कर दिया जाता तब तो धारा केवल 10 अम्पीयर रह जाती और तब 1 किलोवाट की ताम्र हानि के लिए तारों का प्रतिरोध $\frac{1}{10}$ के स्थान में 10 ओह्म हो सकता था। अतः उतनी ही हानि के लिये 220 वोल्ट की अपेक्षा 2200 वोल्ट के विभवत्व में तारों का प्रतिरोध 100 गुणा अधिक होने से भी कोई हानि नहीं अर्थात् तारों का व्यास घटा कर दशमांश किया जा सकता है।

इस उपाय में दोष यही है कि इतने अधिक विभवत्व का उपयोग करना पड़ता है कि इस धारा को रहने के मकानों में ले जाना बड़ा भयंकर है। भूल से भी यदि कोई मनुष्य इसके तारों को स्पर्श कर ले तो तुरन्त मृत्यु हो जाय। अतः 220 वोल्ट से अधिक की धारा का उपयोग घरों में नहीं किया जाता और अधिक सुरक्षा की दृष्टि से तो 110 वोल्ट की धारा और भी अच्छी है। यूरोप, अमेरिका आदि में 110 वोल्ट ही की धारा का चलन है। इस दिक्कत को दूर करने का उपाय परिच्छेद 23 में बताया जायगा।

19·11—विद्युत्-धारा से उत्तप्त तार का टेम्परेचर। किसी तार में विद्युत्-धारा चलाने से उसमें उत्पन्न ऊष्मा उस तार का टेम्परेचर बढ़ाती है। यदि इस प्रकार उत्पन्न ऊष्मा सबकी सब उस तार ही में रह जाय तब तो टेम्परेचर बराबर बढ़ता ही जायगा। किन्तु ऐसा होता नही क्योंकि बहुत सी ऊष्मा तार में से निकल कर अन्य वस्तुओं में भी जाती रहती है। चालन (conduction) एवं संवहन (convection) और विकिरण (radiation) इन तीनों ही क्रियाओं के द्वारा ऊष्मा तार में से निकल जाती है। चालन से अधिक ऊष्मा नहीं जाती क्योंकि तार को

विलागित रखना होता है और विलागकों की ऊष्मा-चालकता भी बहुत ही कम होती है। वायु में अवलम्बित तारो का टेम्परेचर वायु के अणु-संवहन की क्रिया के द्वारा अवश्य बहुत कुछ घट जाता है। किन्तु सबसे मुख्य बात इस सम्बन्ध में विकिरण है। तार के उत्तप्त पृष्ठ से ऊष्मा की तरगें निकलती हैं और इसके द्वारा बहुत-सी ऊष्मा तार में से निकल जाती है। ज्यों-ज्यों टेम्परेचर बढ़ता जाता है त्यों-त्यों विकीर्ण ऊष्मा की मात्रा भी बढ़ती जाती है। अन्त मे यह मात्रा इतनी बढ़ जाती है कि धारा प्रति सैकंड जितनी ऊष्मा उत्पन्न करती है उतनी सभी विकीर्ण होने लगती है। अतः अब तार में ऊष्मा की मात्रा नहीं बढ सकती और उसका टेम्परेचर भी बढ़ना वन्द हो जाता है। जब तक यह सन्तुलन नही हो जाता तब तक टेम्परेचर वढ़ता ही जाता है और यदि धारा प्रबल हो तो यह तार की धातु के गलनांक (melting point) पर पहुँच कर तार को गला देता है।

विकीर्णन के सम्बन्ध में ऊष्मा-विज्ञान हमें बताता है कि यदि किसी वस्तु के पृष्ठ का क्षेत्रफल A हो और टेम्परेचर T हो तथा उसके चारों ओर की वायु का टेम्परेचर T_0 हो तो प्रति सैकंड विकीर्ण होने वाली ऊष्मा का परिमाण

$$H = EA(T - T_0)$$

इसमें गुणांक E का नाम विकीर्णकता (emissivity) है और यह इस बात पर निर्भर है कि पृष्ठ किस प्रकार का है, उसका रंग कैसा है, वह खुरदरा है कि चिकना।

यह हम देख चुके है कि प्रति सैकंड धारा से उत्पन्न ऊष्मा $= i^2R \times \cdot 24$। अतः $EA(T - T_0) = i^2R \times \cdot 24$ इस सूत्र से तार का टेम्परेचर मालूम हो सकता है, यदि तार सीधा हो और विकिरण के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार ऊष्मा की हानि न होती हो।

19·12—**फ़्यूज़** (Fuse)। यदि हम यह चाहें कि किसी यंत्र या उपकरण में किसी नियत परिमाण से अधिक प्रबलता की धारा न जावे तो बहुधा यह उपाय किया जाता है कि धारा के मार्ग में कही पर पतला तार ऐसी धातु का लगा दिया जाता है जिसका गलनांक बहुत ऊँचा न हो। इस कार्य के लिये सीसा (lead) या रांगा (tin) उत्तम समझे जाते है क्योंकि यह क्रमशः 327° और 232° पर ही पिघल जाते हैं। तार की मोटाई धारा की प्रबलता के हिसाब से कम या ज्यादा रखी जाती है। ऐसे तार को फ्यूज़ (fuse) कहते है। ज्योंही धारा की प्रबलता अधिक होने लगती है, त्योंही यह फ़्यूज़ गल जाता है और धारा का परिपथ उन्मीलित हो

जाता है। अतः धारा का प्रवाह बिलकुल बन्द हो जाता है। जब पुनः नया फ़्यूज़ लगाया जाता है तभी धारा प्रवाहित हो सकती है। इस उपाय से बड़ा लाभ होता है। घरों में जो बिजली के तार लगे होते हैं उनमे भी स्थान-स्थान पर ऐसे फ़्यूज़ लगे रहते हैं ताकि गलती से या अकस्मात् यदि किसी तरह धारा के मार्ग का प्रतिरोध घट जाय तो भी अधिक प्रबल धारा चल कर कुछ नुकसान नही कर सकती।

जिस समय फ़्यूज़ गलता है तो बड़े जोर से चमक पैदा होती है। वस्तुतः धातु केवल पिघलती ही नही उसका वाष्प बन कर जल भी जाता है और इस ज्वाला के कारण आग लगने का भी डर रहता है। अतः फ़्यूज का तार सदैव चीनी की एक डिबिया में बन्द रहता है।

19·13—धारा से उत्पन्न ऊष्मा के उपयोग। निक्रोम (nichrome) नामक निकल तथा क्रोमियम के मिश्र-धातु के तार की कुंडली में विद्युत्-धारा प्रवाहित करा कर जो ऊष्मा उत्पन्न होती है उसका आजकल घरों में बहुत उपयोग होता है। बिजली के चूल्हों के रूप में यह भोजन पकाने के काम आता है। चित्र 19·02 में ऐसा ही एक चूल्हा दिखाया गया है। इसी प्रकार धातु की नली में निक्रोम की कुंडली बंद करके उसे पानी में डुबा कर धारा प्रवाहित करने से पानी गर्म हो जाता है और
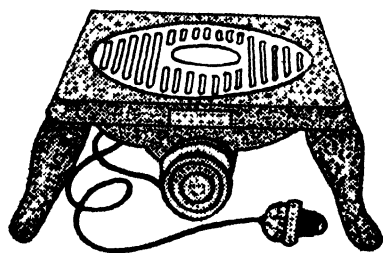
चित्र 19·02

चाय बन जाती है। सर्दी के मौसम में कमरे को गरम रखने या तापने के लिये बिजली की अंगीठी भी ऐसे ही बनती है। निक्रोम की कुंडली में इतनी धारा चलाई जाती है कि वह गरम होकर लाल हो जाय। इस कार्य के लिये निक्रोम पसंद इसलिये किया जाता है कि न तो उसका तार जल्दी गलता है और न उस पर वायु का अधिक असर होता है।

इसी प्रकार तार लपेट कर कई प्रकार की भट्टियाँ भी तैयार की जाती हैं। जिन्हें प्रतिरोध-भट्टियाँ (resistance furnaces) कहते हैं। इनमें 1000° तक

का टेम्परेचर आसानी से उत्पन्न हो जाता है और अनेक प्रकार की रासायनिक क्रियाएँ सुविधापूर्वक हो सकती हैं। इन बिजली के चूल्हों और भट्टियों में आराम यह है कि न तो धुंआ होता है न कमरे की वायु में विशाक्त कार्बन डाइआक्साइड मिलती है। बड़ी सफ़ाई और सुविधा के साथ काम हो जाता है।

19·14—**बिजली के तापदीप्त लैम्प** (Incandescent Lamp)। जगद्विख्यात एडिसन (Edison) ने ही सबसे पहले विद्युत-धारा से तार को उत्तप्त करके प्रकाश उत्पन्न करने का विचार किया और सन् 1878 में प्लाटिनम नामक बहुमूल्य धातु के पतले तार का लैम्प उन्होंने तैयार किया। किन्तु इसका प्रचार न हो सका क्योंकि यह तार बड़ी जल्दी गल जाता था। बड़ी खोज के बाद उन्होंने कार्बन के पतले तन्तु से लैम्प तैयार किया। बांस इत्यादि के तन्तुओं को विशेष प्रकार से दग्ध करके ये तन्तु तैयार किये जाते थे और इन्हें कांच के गोले में रख कर, उसके अन्दर की वायु को पम्प के द्वारा निकालने के बाद कांच पिघलाकर गोला बन्द कर दिया जाता था। वायु निकालने की आवश्यकता यों थी कि वायु में ये तन्तु जल कर नष्ट हो जाते थे। चित्र 19·03 में ऐसा लैम्प दिखाया गया है।
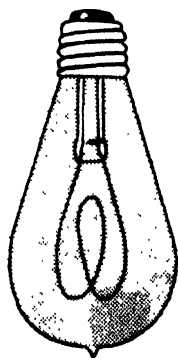
कार्बन-तन्तु में धारा के प्रवाह से टेम्परेचर बढ कर प्राय: 1600° तक हो जाता है। इससे अधिक प्रबल धारा उसमें नही चलाई जा सकती क्योंकि यद्यपि कार्बन का गलनांक बहुत ऊँचा होता है और वह पिघलता नहीं तथापि उसमें से छोटे-छोटे कण निकल निकल कर तन्तु नष्ट होने लगता है और थोडे ही समय में लैम्प निकम्मा हो जाता है।

चित्र 19·03

यह तो प्रत्यक्ष ही है कि जितनी ऊर्जा का व्यय कार्बन-तन्तु को उत्तप्त करने में किया जाता है वह सब प्रकाश रूप में परिणत नहीं होती। उसका अधिकांश तो ऊष्मा ही के रूप में रहता है। प्राय: 1% से अधिक ऊर्जा प्रकाश का रूप धारण नहीं करती। यही हाल बिजली के दीपकों के अतिरिक्त दूसरे दीपकों का है। जब तक टेम्परेचर प्राय: 800°-900° नहीं हो जाता तब तक तो उसमें से कुछ प्रकाश निकलता ही नही। लाल रंग का कुछ थोड़ा सा प्रकाश तब निकलने लगता है जिससे तन्तु स्वयं दिखने लगता है। किन्तु यह प्रकाश इतना नहीं होता कि अन्य वस्तुओं को

प्रदीप्त कर सके। ज्यों-ज्यों टेम्परेचर अधिक बढ़ाया जाता है त्यों-त्यों पीले, हरे, नीले रंग का भी प्रकाश उसमे से निकलने लगता है। किन्तु तब भी प्रायः 99% ऊर्जा अदृष्ट ऊष्मा की तरंगों के रूप में निकल जाती है और उससे दीपक के कार्य में सहायता नही मिलती।

लैम्प में विद्युत्-धारा कितनी ऊर्जा व्यय करती है यह तो उसके सिरों पर के विभवान्तर (E वोल्ट) तथा धारा की प्रबलता (i अम्पीयर) से ज्ञात हो जाता है।

व्यय हुई शक्ति $= Ei$ वाट

लैम्प की ज्योति या प्रदीपन शक्ति ज्योति-मापी (photometer) से नापी जा सकती है। ज्योति का मात्रक मानक-मोमबत्ती (standard candle) की ज्योति है। जिस लैम्प की ज्योति 20 मानक-मोमबत्तियों की ज्योति के बराबर हो वह 20 बत्ती-शक्ति का लैम्प कहलाता है।

लैम्प मे जितनी ऊर्जा खर्च होती है और उससे जितनी बत्ती-शक्ति का प्रकाश उत्पन्न होता है दोनों को नाप कर हम यह पता लगा सकते है कि प्रति बत्ती-शक्ति के लिये कितने वाट की शक्ति आवश्यक होती है। यह लैम्प की दक्षता (efficiency) कहलाती है।

एडिसन के कार्बन-तन्तु लैम्प की दक्षता प्रायः 4 वाट प्रति बत्ती-शक्ति होती है। यदि तन्तु का टेम्परेचर कुछ और बढा दिया जाय तो दक्षता बढ़ जाती है और प्रायः 3 वाट प्रति बत्ती-शक्ति भी हो सकती है। किन्तु जैसा कि ऊपर कह आये है इस अवस्था में लैम्प की आयु बहुत घट जाती है।

बिजली के लैम्पो की दक्षता बढाने के लिये सबसे आवश्यक बात यही है कि उसका तार ऐसी धातु का बनाया जाय कि जिसका गलनांक बहुत ही ऊँचा हो ताकि उसका टेम्परेचर प्रायः 2000° C तक बढ़ाया जा सके। ऐसी धातुएँ निम्न लिखित है:—

धातु	गलनांक
प्लाटिनम	1755°
टिटेनियम	1900°
इरीडियम	2300°
ओसमियम	2700°
टंटलम	2850°
टंगस्टन	3000°

इनमें से अधिकांश इतनी सख्त होती हैं कि उनके पतले तार बनाना कठिन होता है। अन्तिम दो धातुएँ ही सबसे अधिक लाभदायक प्रमाणित हुई हैं और इनके तार बनाने के तरीकों का भी आविष्कार हो गया है।

सन् 1905 में जर्मनी के बोल्टन नामक विद्वान ने टंटलम नामक धातु के तार का लैम्प तैयार किया। इस लैम्प के तार का टेम्परेचर 1850° हो जाता था। अतः इसकी दक्षता भी प्रायः 1·5 वाट प्रति बत्ती-शक्ति थी। स्पष्ट है कि इसके द्वारा उत्पन्न प्रकाश में कार्बन तन्तु-लैम्प की अपेक्षा आधे से भी कम खर्च होता था। टंटलम का विशिष्ट प्रतिरोध बहुत कम होता है। अतः लैम्प में तार बहुत पतला और लम्बा लगाना पड़ता था। साधारण लैम्प में प्रायः 65 सम० लम्बा और $\frac{1}{20}$ मम० मोटा तार लगाया जाता था।

टंगस्टन नामक धातु इस कार्य के लिये और भी लाभदायक सिद्ध हुई है और आजकल प्रायः समस्त लैम्प टंगस्टन ही के बनाये जाते हैं। इसका तार मजबूत भी बहुत होता है और इसका गलनांक भी बहुत ऊँचा है। अतः यह आसानी से 2000° तक गरम किया जा सकता है। इस ऊँचे टेम्परेचर पर इसे बराबर गरम रखने पर भी इसका तार जल्दी बिगड़ता नहीं। इसकी दक्षता प्रायः 1·2 वाट प्रति बत्ती-शक्ति होती है और अधिक बत्ती-शक्ति के लैम्पों में तो दक्षता और भी अच्छी हो जाती है। इसकी आयु भी 1000 घंटे के लगभग होती है।

पिछले कई वर्षों में टंगस्टन के लैम्प में और भी उन्नति कर ली गयी है। अब जिस कांच के गोले में टंगस्टन का तार लगाया जाता है उसे वायु-रिक्त करके शून्य नहीं रखते किन्तु वायु के स्थान में उस लैम्प में नाइट्रोजन या आर्गन (argon) जैसी गैस भर दी जाती है। यह गैस रासायनिक दृष्टि से अक्रिय होती है। और उत्तप्त टंगस्टन पर भी उसका कोई असर नहीं होता। किन्तु इससे लाभ यह होता है कि तार का टेम्परेचर प्रायः 2400° तक बढ़ाया जा सकता है। इससे लैम्प की दक्षता और भी बढ़ जाती है। ऐसे लैम्पों को गैस-पूर्ण (gas-filled) लैम्प कहते हैं और इनमें प्रति बत्ती-शक्ति ·5—·8 वाट ही खर्च होता है। इस प्रकार के लैम्प आजकल 3000-4000 बत्ती शक्ति के भी बनते हैं और इन अधिक बत्ती-शक्ति वाले लम्पों में तो दक्षता प्रायः $\frac{1}{2}$ वाट प्रति बत्ती-शक्ति की हो जाती है। अतः गैस-पूर्ण लैम्पों को बहुधा अर्ध-वाट (half-watt) लैम्प भी कहते हैं। कम खर्च होने के कारण इनका प्रचार बढ़ता जाता है।

जब बहुत से ऐसे लैम्प जलाना होता है तो सुविधा के लिये उन्हें पार्श्वबद्ध ही रखते

हैं। इससे किसी एक लैम्प को जलाने या बुझाने से अन्य लैम्पों पर असर नहीं होता। प्रत्येक लैम्प स्वतन्त्र रह सकता है।

19·15—**आर्क लैम्प** (Arc-Lamp) उपर्युक्त ताप-दीप्त लैम्प के समान ही इस लैम्प में भी विद्युत्-धारा की ऊष्मा से प्रकाश उत्पन्न होता है किन्तु यह ऊष्मा किसी तार में उत्पन्न नहीं होती। कार्बन की दो छड़ें बैटरी अथवा अन्य विद्युत्जनित्र से जोड़ दीजाती है जिससे कि इनमें कम से कम 40 वोल्ट का विभवान्तर हो जाय। पेच घुमा कर इन छड़ों के सिरों को क्षण भर के लिये परस्पर स्पर्श करा कर तुरन्त ही उन्हें थोड़ा अलग कर देते हैं। स्पर्श होते ही प्रबल धारा प्रवाहित होती है किन्तु स्पर्श-स्थान
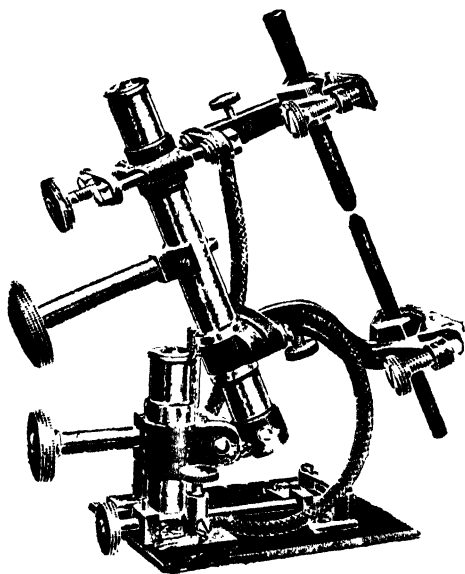
चित्र 19·04

पर प्रतिरोध अधिक होने के कारण इतनी ऊष्मा उत्पन्न होती है कि कार्बन का वाष्प बन जाता है। कार्बन की छड़ों को अब थोड़ा दूर हटा लेने पर इस कार्बन-वाष्प में से विद्युत्-धारा बहती रहती है और वहाँ के अत्यधिक प्रतिरोध के कारण ऊष्मा भी यथेष्ट मात्रा में उत्पन्न होती रहती है जिससे दोनों कार्बन छड़ों की नोकों से और उनके मध्यवर्ती कार्बन-वाष्प से तीव्र प्रकाश निकलता है। इस प्रकार के लैम्प का नाम आर्क-लैम्प है।

जो छड बैटरी के धन-ध्रुव से सम्बद्ध रहती है उसके सिरे पर कुछ गहरा गढ़ा बन जाता है और ऋण-छड पर नोक-सी बन जाती है (चित्र 19·05)। सबसे अधिक टेम्परेचर धन छड के गढ़े में होता है और यह प्रायः 3500° तक पहुँच जाता है। अतः इसी गढ़े से प्रकाश भी अधिक मात्रा में निकलता है। यही कारण है कि जब ऐसे लैम्पों को ऊँचे लटका कर जमीन पर प्रकाश करना होता है तब धन-छड ऊपर की ओर रखी जाती है ताकि इस गढे का प्रकाश नीचे की ओर आवे। धारा की प्रबलता बढ़ाने से टेम्परेचर 3500° से अधिक नही बढता किन्तु इस गढे का क्षेत्रफल बढ़ जाता है और प्रकाश की मात्रा भी बढ़ जाती है। इस गढे में हीरे जैसे कठिन पदार्थ भी पिघल जाते हैं।

चित्र 19·05

टेम्परेचर की अधिकता के कारण आर्क-लैम्प की दक्षता भी बहुत अधिक होती है। प्रति बत्ती-शक्ति के लिये $\frac{1}{4}$ वाट से कम शक्ति की आवश्यकता होती है और विद्युत्-धारा की जितनी ऊर्जा व्यय होती है उसमें से 10% से भी अधिक ऊर्जा प्रकाश के रूप में परिणत हो जाती है। धन-छड़ के गढ़े के प्रत्येक वर्ग मिलीमीटर से प्रायः 175 बत्ती-शक्ति का प्रकाश निकलता है।

साधारण आर्क-लैम्पों में तो प्रायः 5–10 अम्पीयर की धारा काफ़ी होती है। और उसमे लगभग 600-800 बत्ती-शक्ति का प्रकाश प्राप्त हो जाता है। किन्तु सिनेमा की तस्वीरों को दिखाने के लिये अथवा समुद्रों के प्रकाश-स्तम्भों (light-house) के सर्च लाइटों (search light) के लिये 100-200 अम्पीयर तक की धारा आर्क-लेम्पों में चला दी जाती है।

किन्तु इन लैम्पों में एक बड़ा दोष है। यद्यपि कार्बन 3500° के टेम्परेचर पर पिघल नही सकता किन्तु कुछ तो वायु के स्पर्श के कारण जल जाता है और कुछ छोटे-छोटे कणों के रूप में छड़ों में से निकल जाता है। दोनों कारणों से छड़ें धीरे-धीरे नष्ट होती जाती हैं। आर्क को वायु-रिक्त कांच के हंडों में रखने से कार्बन का जलना प्रायः बन्द हो जाता है तथापि छड़ों की लबाई धीरे-धीरे घटती ही रहती है। धन-छड़ अधिक शीघ्रता से नष्ट होती है। यही कारण है कि धन-छड़ सदा ऋण-छड़ की अपेक्षा मोटाई में अधिक रखी जाती है। छड़ों के इस प्रकार नष्ट होने के कारण

यह आवश्यक होता है कि उन्हें थोड़ी-थोड़ी देर में कुछ नजदीक खिसका दिया जाय। अन्यथा दोनों छड़ों के बीच की दूरी अधिक हो जाने पर प्रतिरोध बहुत बढ़ जाता है और धारा की प्रबलता घट जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि कार्बन-वाष्प की मात्रा घट जाती है जिससे प्रतिरोध और भी बढ़ता है। फलतः आर्क बुझ जाता है। बुझ जाने पर छड़ों को पुनः स्पर्श कराना आवश्यक होता है। इस कारण ऐसा प्रबन्ध रखना होता है कि ज्यों-ज्यों छड़ें नष्ट होती जायँ त्यों-त्यों वे नज़दीक भी खिसकाई जा सकें।

चित्र-दर्शक लालटेन (projection lantern) या सिनेमा के आर्क लैम्पों में तो यह कार्य हाथ ही से पेंच घुमा-घुमा कर कर दिया जा सकता है किन्तु यह काम है बड़े बखेड़े का। विद्युत्-चुम्बक की सहायता से अब अनेक ऐसी युक्तियाँ निकाल ली गई हैं कि छड़ों के बीच की दूरी स्वयमेव ही ठीक रहती है। यहाँ तक कि प्रारम्भ में भी छड़ें स्पर्श करके स्वयमेव ही हट कर आर्क को प्रज्वलित कर देती हैं। ऐसे आर्क लैम्पों को स्वतःचालित (automatic) आर्क लैम्प कहते हैं।

19·16—**आर्क-भट्टी** (Arc Furnace)। अनेक औद्योगिक कार्यों के लिये ऊँचे टेम्परेचरों की भट्टियों की आवश्यकता होती है। कोयला जला कर अथवा अन्य रासायनिक क्रियाओं से इतना ऊँचा टेम्परेचर उत्पन्न नहीं हो सकता। आर्क लैम्पों की तरह ही आर्क-भट्टी के द्वारा विद्युत्-धारा से यह कार्य भी लिया जाता है। चित्र 19·06 में ऐसी भट्टी का एक प्रारम्भिक रूप दिखलाया गया है। ईंट चूने की
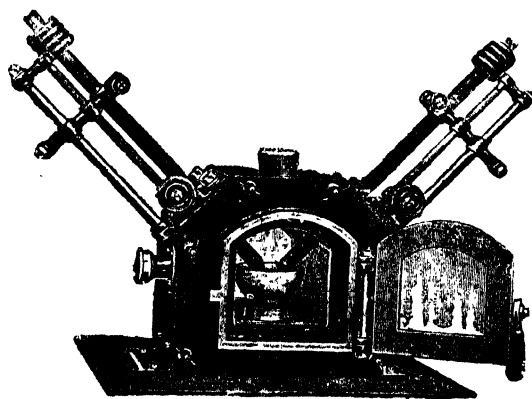
चित्र 19·06

बनी हुई भट्टी में कार्बन की दो छड़ें लगी हैं। विद्युत्-धारा के द्वारा इन छड़ों के बीच

में आर्क उत्पन्न किया जाता है। इसकी ऊष्मा भट्टी की दीवारों से परावर्तित होकर घड़िया मे रखी हुई वस्तु में लगती है जिससे उसका टेम्परेचर बहुत बढ़ जाता है। भट्टी की दीवार के चूने पर इस अधिक टेम्परेचर के कारण कार्बन की रासायनिक क्रिया न हो जाय इस कारण मैगनीशिया आदि वस्तुओं का पलस्तर कर दिया जाता है। इस प्रकार की भट्टी मे आर्थिक व्यय अधिक होता है। अतः आजकल इसका प्रचार नही है।

कई रासायनिक क्रियाओ के लिए कार्बन की छड़ें घडिया के द्रवों के बीच ही में घुसा दी जाती है। उदाहरण के लिए कार्बाइड (carbide) ही लीजिये। बाइ-सिकलो के लैम्पों मे पानी मिला कर जिस द्रव्य से गैस उत्पन्न की जाती है उसे कार्बाइड कहते है। इसके निर्माण में चूने और पत्थर के कोयले के टुकडे एक भट्टी में भर दिये जाते है और इसी के बीच में कार्बन की मोटी छड़ें घुमा कर उनके बीच में आर्क उत्पन्न किया जाता है। इससे टेम्परेचर इतना बढ जाता है कि चूने का कैलसियम कार्बन से मिलकर कार्बाइड बना देता है।

19·17—**उत्तप्त-तार-अम्पीयर-मापी** (Hot-wire Ammeter)। विद्युत्-धारा मे ऊष्मा की जो उत्पत्ति होती है उसका उपयोग धारा के मापने के लिए भी किया गया है। चित्र 19·07 में **क ख** एक तना हुआ तार है जिसमें से धारा चलाई जाती है। इसके मध्य बिन्दु **म** मे एक पतला तार **म ग** लगा हुआ है जो एक घिरनी पर लपेट कर लगाया गया है, और उसके दूसरे सिरे पर कमानी लगी है जो इस तार को तना हुआ रखती है। घिरनी पर एक संकेतक लगा है जो वृत्ताकार स्केल पर घूमता है। विद्युत्-धारा के कारण जब **क ख** उत्तप्त होता है तब उसकी लम्बाई बढ़ जाती है और बिन्दु **म** को कमानी खीच लेती है। इससे घिरनी घूम जाती है और स्केल पर संकेतक का स्थान परि-वर्तन हो जाता है। स्पष्ट है कि धारा जितनी प्रबल होगी उतना ही तार **क ख** का प्रसार भी अधिक होगा और संकेतक का विक्षेप भी उतना ही अधिक होगा। दूसरे मानक अम्पीयरमापी से धारा का माप करके वृत्ताकार स्केल का अंशांकन करने से यह भी अम्पीयरमापी का कार्य
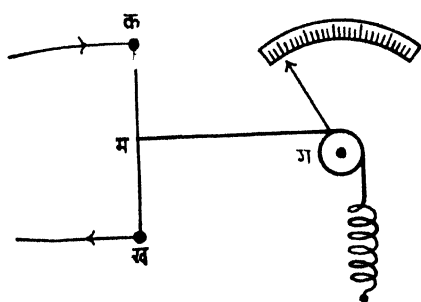
चित्र 19·07

तरह कर सकता है। इसमें धारा चाहे जिस दिशा में चलाई जा सकती है। अतः यह प्रत्यावर्ती-धारा के नापने के लिए भी काम में आ सकता है।

19·18—ऊष्मा का यांत्रिक तुल्यांक (Mechanical Equivalent of Heat)। अनु० 19·04 में धारा से उत्पन्न ऊष्मा को नापने की जो विधि दी हुई है उसी से ऊष्मा का यांत्रिक तुल्यांक भी नापा जा सकता है। एक अम्पीयर-मापी से तो चित्र 19·01 की कुंडली की धारा i नाप ली जाती है और वोल्ट-मापी से उस कुंडली के दोनों सिरों का विभवान्तर V नाप लिया जाता है। तब समीकरण (1) और (2) के अनुसार

$$\frac{Vit}{J}=ms(T'-T)$$

$$\therefore \qquad J=\frac{Vit}{ms(T'-T)}$$

इस नाप में ऊष्मा की जो हानि विकिरण आदि के द्वारा होती है उसके कारण J के मान में यथेष्ट यथार्थता प्राप्त नहीं हो सकती इसलिए कैलेन्डर और बार्न्स (Callendar and Barnes) ने ऊष्मा के नापने के लिए दूसरी युक्ति का उपयोग किया है। चित्र 19·08 में इस विधि का उपकरण दिखाया गया है। अब कुंडली एक
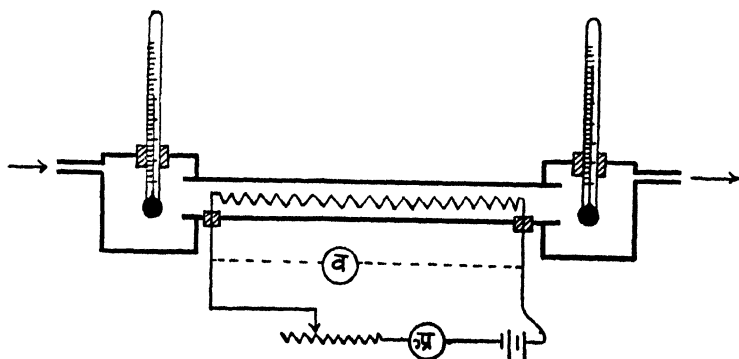
चित्र 19·08

पतली कांच की नली में लगाई गई है। इस नली के दोनों सिरों पर दो छोटे-छोटे कोष्ठ हैं जिनमें एक-एक थर्मामीटर भी रखा है। नलियों के द्वारा जल एक कोष्ठ में प्रविष्ट होकर कांच की पतली नली में होकर दूसरे कोष्ठ में पहुँच कर निकल जाता

है। इस जल-धारा के प्रवाह का वेग अचर रखा जाता है अर्थात् प्रति सैकंड जितना जल इसमें से निकलता है उसका वजन बदलता नहीं। कुंडली में विद्युत्-धारा के प्रवाह से जो उष्मा उत्पन्न होती है उसके कारण जल का टेम्परेचर बढ़ जाता है और दूसरे कोष्ठ के थर्मामीटर का पाठ बढ़ जाता है। मान लीजिये कि प्रति सैकंड m ग्राम जल नली में से बहता है और उसका टेम्परेचर $T°_1$ से $T°_2$ हो जाता है तो स्पष्ट है कि प्रति सैकंड जल में प्रविष्ट होने वाली ऊष्मा $= m(T_2 - T_1)$

$$\therefore \quad \frac{Vi}{J} = m(T_2 - T_1)$$

$$\therefore \quad J = \frac{Vi}{m(T_2 - T_1)}$$

V और i का नाप अम्पीयर-मापी तथा वोल्ट-मापी के द्वारा किया जाता है और घड़ी से देखकर ज्ञात समय में बहने वाले जल को एक पात्र में भर कर तौल लिया जाता है या उसका आयतन ब्यूरेट द्वारा नाप लिया जाता है। इससे m ज्ञात हो जाता है।

इसमें विकिरण द्वारा ताप की हानि नही होती क्योंकि पतली नली के चारों ओर अचालक रुई या ऐस्बस्टास (asbastos) भरा रहता है। आरम्भ में तो कुछ ऊष्मा इस आवरण का टेम्परेचर बढ़ाने में खर्च होती है किन्तु थोड़ी देर में सर्वत्र टेम्परेचर का ऐसा सन्तुलन हो जाता है कि नली में से ऊष्मा इस आवरण में नहीं जा सकती और धारा से उत्पन्न ऊष्मा पूरी का पूरी जल का टेम्परेचर बढ़ाने में ही खर्च होती है।

परिच्छेद 20

ताप-विद्युत्

(Thermo-electricity)

20·01—**सीबेक प्रभाव** (Seebeck Effect)। यह हमें अच्छी तरह ज्ञात हो चुका है कि जब तक किसी चालक परिपथ में कोई वैद्युत सैल या डायनमो न हो तब तक उसमें विद्युत्-धारा का प्रवाह नहीं हो सकता। किन्तु 1821 में सीबेक (Seebeck) ने देखा कि यह बात तभी तक ठीक है जब तक कि परिपथ में सर्वत्र टेम्परेचर बराबर हो। यदि परिपथ में किसी जगह दो भिन्न धातुओं की संधि (junction) हो और उस संधि का टेम्परेचर दूसरे भागों के टेम्परेचर से भिन्न हो तब भी विद्युत्-धारा चलने लगती है। उदाहरण के लिए मान लीजिये कि तांबे तथा लोहे के दो तार हैं और उनके दोनों सिरे परस्पर जोड़ दिये गये हैं। अब यदि इन दो संधियों में से एक को गरम किया जाय और दूसरी ठंडी रहे तो उस परिपथ में से धारा प्रवाहित होगी। सीबेक ने चित्र 20·01 के उपकरण के द्वारा इस प्रभाव को प्रदर्शित किया था। इसमें तांबे की मोटी पत्ती को मोड़ कर बिस्मथ की पत्ती पर रख दिया है और दोनों संधियों को अच्छी तरह जोड़ दिया है। बीच में चुम्बकीय सूची लगा दी गई है। एक संधि को गरम करते ही यह सूची घूम जाती है।
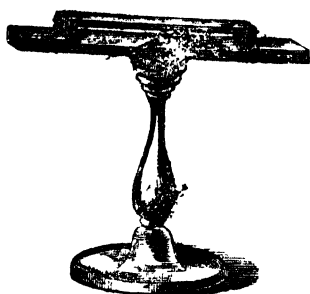
चित्र 20·01

इस प्रकार उत्पन्न विद्युत्-धारा को ताप-वैद्युत धारा (thermo-electric current) कहते हैं और उसे उत्पन्न करने वाली संधि को ताप-वैद्युत संधि (thermo-electric junction) या ताप वैद्युत-युग्म (thermo-couple) कहते हैं। इस धारा की दिशा संधि की धातुओं तथा उनके टेम्परेचर पर निर्भर है। लोह-ताम्र परिपथ में धारा ताँबे से लोहे की ओर अधिक टेम्परेचर वाली संधि में से बहती है। ठंडी

संधि में से धारा की दिशा लोहे से ताँबे की ओर होती है। इसी प्रकार बिस्मथ-ताम्र परिपथ में गरम संधि में से धारा विस्मथ से ताँबे की ओर प्रवाहित होती है। सीबेक ने अपने अनुभव द्वारा विविध धातुओं का एक ऐसा क्रम निर्धारित किया था जिससे तुरन्त यह ज्ञात हो सकता था कि अमुक धातुओं की संधि में से ताप-वैद्युत धारा अमुक दिशा में चलेगी। यह ताप-वैद्युत क्रम निम्नलिखित है:—

अन्टीमनी, लोहा, टिन, चाँदी, सोना, जस्त, सीसा, ताँबा, पारा, प्लाटिनम, निकल, कान्सन्टन, बिस्मथ। जिन दो धातुओं की संधि हो उनमें से जो इस श्रेणी में पहिले लिखी है उसी से दूसरी की ओर धारा ठंडी संधि में से प्रवाहित होगी।

20·02–ताप-वैद्युत विद्युद्वाहक बल (Thermo-electric E.M.F.)। ताप-वैद्युत धारा के अस्तित्व ही से प्रगट है कि ताप-वैद्युत संधि में कुछ विद्युत्-वाहक बल होता है। इस दृष्टि से यह संधि भी एक प्रकार की सैल ही होती है जिसमें धारा की ऊर्जा ऊष्मा द्वारा प्राप्त होती है। इसका वि० वा० ब० इतना कम होता है कि साधारणतया धारा उत्पन्न करने के काम में यह सैल नहीं आ सकती। इसका उपयोग नीचे के प्रकरणों से ज्ञात होगा।

इसका वि० वा० ब० 1 वोल्ट के कुछ सहस्रांशों (मिलीवोल्टों) के बराबर ही होता है। अतः अत्यन्त सुग्राही धारामापी अथवा विभवमापी के द्वारा ही यह नापा जा सकता है। नापते समय चित्र 20·02 के समान एक संधि को तो बर्फ में 0° पर
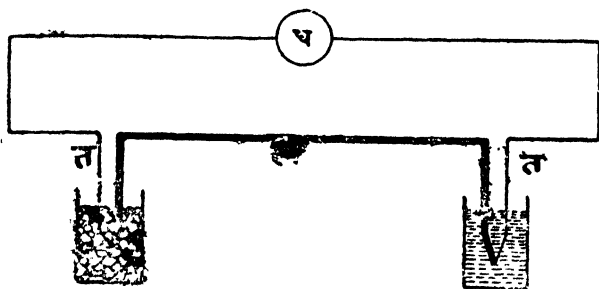
चित्र 20·02

रखते हैं और दूसरी संधि का टेम्परेचर इच्छानुसार बढ़ा दिया जाता है। परिपथ का प्रतिरोध ज्ञात होने पर धारामापी के विक्षेप से वि० वा० ब० ज्ञात हो जाता है। धारामापी के स्थान में विभवमापी के उपयोग से तो यह और भी अच्छी तरह नापा जा सकता है।

इलैक्ट्रान सिद्धान्त से इस वि०वा० ब० का रहस्य सरलता से समझ में आ सकता है। प्रत्येक धातु में कुछ संख्या मुक्त इलेक्ट्रानों की विद्यमान रहती है। इन इलैक्ट्रानों का घनत्व भिन्न-भिन्न धातुओं में भिन्न-भिन्न परिमाण का होता है। अतः दो विभिन्न धातुओं की संधि पर इलैक्ट्रानों की प्रवृत्ति अधिक घनत्व वाली धातु से दूसरी में जाने की होती है। इस इलैक्ट्रान प्रवाह के कारण पहली धातु धनाविष्ट होती जाती है और उस का विभव दूसरी से अधिक हो जाता है। यह विभवान्तर इलैक्ट्रान प्रवाह को घटाता है और अन्त मे बिलकुल रोक देता है। इस सन्तुलन की अवस्था का विभवान्तर ही उस संधि का तापवैद्युत वि० वा० ब० है। लोह-ताम्र संधि पर इलैक्ट्रान लोहे से ताँबे की ओर जाते हैं। अतः लोहे का विभव धनात्मक हो जाता है।

यह वि० वा० ब० टेम्परेचर पर भी निर्भर होता है और साधारणतः ज्यों-ज्यों टेम्परेचर बढता है त्यो-त्यो यह भी बढता है। उपर्युक्त प्रयोगों में जब तक दोनों संधियों के टेम्परेचर बराबर रहते हैं तब तक तो दोनों विरोधी वि० वा० बलों का सन्तुलन होने से धारा का प्रवाह नही होता किन्तु एक संधि का टेम्परेचर बढ़ने पर सन्तुलन बिगड़ जाता है और धारा का प्रवाह प्रत्यक्ष हो जाता है।
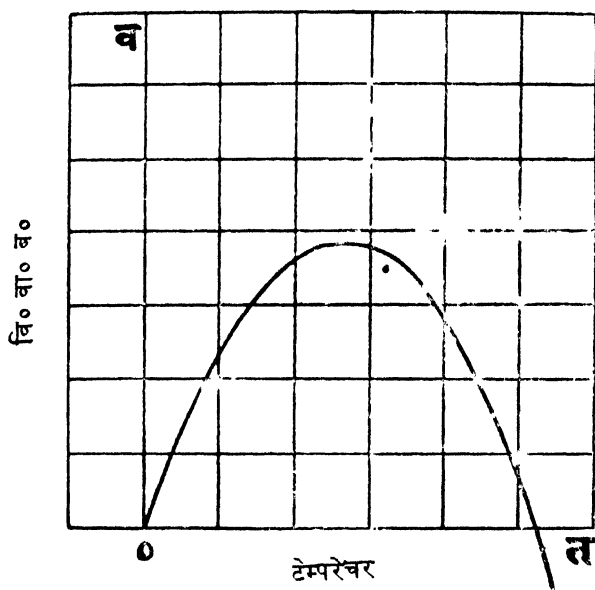
चित्र 20·03

20·03—**ताप-वैद्युत वक्र** (Thermo-electric Curve)। चित्र 20·03

के लेखाचित्र में इस वि० वा० ब० तथा टेम्परेचर का सम्बंध दिखलाया गया है। इससे मालूम होता है कि एक संधि का टेम्परेचर स्थिर रखकर दूसरी का टेम्परेचर ज्यो-ज्यों बढाया जाता है त्यों-त्यों वि०वा० ब० भी बढ़ता जाता है। किन्तु एक सीमा विशेष तक पहुँचने के बाद वि० वा० ब० घटने लगता है और धीरे-धीरे शून्य होकर अन्त में ऋण-चिह्नीय हो जाता है। गरम संधि के जिस टेम्परेचर T_n पर वि० वा० ब० अधिकतम होता है वह उदासीन टेम्परेचर (neutral temperature) कहलाता है और जिस टेम्परेचर T_i पर वि० वा० ब० की दिशा बदल जाती है वह व्युत्क्रमण टेम्परेचर (temperature of inversion) कहलाता है। लोह-ताम्र युग्म के लिए $T_n = 270^\circ$ और $T_i = 570^\circ$ हैं।

इस लेखाचित्र के वक्र को तापवैद्युत वक्र (thermo-electric curve) कहते हैं और यह प्रमाणित हो गया है कि यह परवलय (Parabola) होता है। यदि वि० वा० ब० को E_0^T लिखा जाय तो इस वक्र का समीकरण होगा

$$E_0^T = aT + bT^2 \quad \dots \quad \dots \quad (1)$$

इसमे ठंडी संधि का टेम्परेचर 0° है और गरम संधि का T° और a, b नियतांक हैं जिनके मान भिन्न-भिन्न युग्मों के लिये भिन्न-भिन्न होते हैं।

20·04—**मध्यवर्ती धातुओं का नियम** (Law of Intermediate Metals)। मान लीजिये कि **च** तथा **छ** दो धातुएँ हैं और हमने उनका एक निमीलित परिपथ बना लिया है। यदि इसकी दोनों संधियों का टेम्परेचर बराबर हो तो स्पष्ट है कि इस परिपथ में कोई विद्युत्-धारा प्रवाहित नहीं होगी क्योंकि दोनो संधियाँ पर वि० वा० ब० बराबर किन्तु विपरीत दिशाओं मे होंगे। अर्थात्
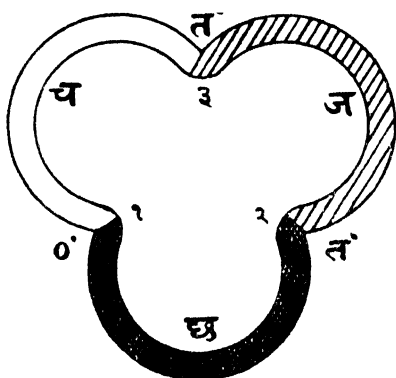
$$E(\text{च}/\text{छ}) = -E(\text{छ}/\text{च})$$

चित्र 20·04

अब यदि इनमें से एक संधि को खोलकर वहाँ एक तीसरी धातु **ज** का तार घुसा दिया जाय तो हमें चित्र 20·04 का सा परिपथ प्राप्त हो जायगा। इसमें तीन संधियों हैं—**च/छ, छ/ज, ज/च**। यदि तीनों के टेम्परेचर बराबर हों तो इन पर वि० वा० ब० होंगे E (**च/छ**), E (**छ/ज**), E (**ज/च**)। यह प्रयोग-सिद्ध है कि इस परिपथ में कोई धारा प्रवाहित नहीं होती

और यह बात ऊष्मा-गतिकी (thermodynamics) के नियमों के द्वारा भी प्रमाणित हो सकती है। अतः

$$E\,(\text{च}/\text{छ}) + E\,(\text{छ}/\text{ज}) + E\,(\text{ज}/\text{च}) = 0$$

या
$$E\,(\text{च}/\text{छ}) = -E\,(\text{छ}/\text{ज}) - E\,(\text{ज}/\text{च})$$
$$= E(\text{च}/\text{ज}) + E\,(\text{ज}/\text{छ}) \qquad \ldots \qquad (2)$$

अर्थात् जितना वि० वा० ब० संधि **च**/**छ** पर होता है ठीक उतना ही उन दोनों सधियों का सम्मिलित वि० वा० ब० होगा जो **च** और **छ** के बीच में **ज** के घुमा देने पर बनेंगी।

यह भी प्रगट है कि यदि **च**/**छ** युग्म की एक संधि का टेम्परेचर $0°$ हो और दूसरी का $T°$ हो तो परिपथ का पूर्ण वि० वा० ब० होगा $E\,(\text{च}/\text{छ})_T - E\,(\text{च}|\text{छ})_0$। अब यदि $T°$ वाली संधि को खोल कर वहाँ धातु **ज** का प्रवेश करा दिया जाय और दोनों नई सधियों का टेम्परेचर भी $T°$ ही रहे तो पूर्ण परिपथ का वि० वा० ब० होगा $E\,(\text{च}/\text{ज})_T + E\,(\text{ज}/\text{छ})_T - E\,(\text{च}/\text{छ})_0 = E\,(\text{च}/\text{छ})_T - E\,(\text{च}/\text{छ})_0$ अर्थात् **ज** को बीच में घुसा देने से पूर्ण परिपथ के वि० वा० ब० में कोई अन्तर नही पड़ेगा। अतः दो धातुओं के बीच में एक तीसरी वा अनेक अन्य धातुओं की उपस्थिति के कारण परिपथ का वि० वा० ब० ज़रा भी नही बदलता यदि सब नवीन संधियों का टेम्परेचर बराबर रहे।

यही कारण है कि विभिन्न धातुओं से निर्मित धारामापी आदि को परिपथ में लगाकर भी हम किसी ताप-वैद्युत संधि का वि० वा० ब० नाप सकते हैं। किन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि सब नवीन संधियों का टेम्परेचर बराबर रहे।

इस नियम से यह बड़ा लाभ है कि किसी एक धातु को मानक धातु मान कर उसी के साथ अन्य धातुओं के युग्म बनाकर यदि हम एक बार वि० वा० ब० नाप लें तो फिर कोई-सी दो धातुओं के युग्म का वि० वा० ब० हमें ज्ञात हो सकता है। कई कारणों से इस कार्य के लिए सीसा (lead) मानक धातु मान लिया गया है। यदि सीसे के साथ **च** तथा **छ** के युग्मों के वि० वा० ब० क्रमशः $E_{\text{च}} = E(\text{च}/\text{स})$ तथा $E_{\text{छ}} = E(\text{छ}/\text{स})$ हों तो **च** और **छ** के युग्म का वि० वा० ब०

$$E(\text{च}/\text{छ}) = E(\text{च}/\text{स}) + E(\text{स}/\text{छ}) = E(\text{च}/\text{स}) - E(\text{छ}/\text{स})$$
$$= E_{\text{च}} - E_{\text{छ}} \qquad \ldots \qquad (3)$$

20·05—**उत्तरोत्तर टेम्परेचरों का नियम** (Law of Successive Temperatures)। मान लीजिए कि किसी परिपथ में युग्म की संधियों के टेम्परेचर T_1 और T_3 हैं और पूर्ण वि० वा० ब० E_1^3 है। यदि ये टेम्परेचर T_1 और T_2 होते या T_2, T_3 होते तो वि० वा० ब० होते E_1^2 और E_2^3। यह प्रयोग सिद्ध है कि यदि $T_1 < T_2 < T_3$ हो तो

$$E_1^3 = E_1^2 + E_2^3 \quad \ldots \quad (4)$$

इस नियम से यह भी परिणाम निकलता है कि

$$E_2^3 = E_1^3 - E_1^2$$

चित्र 20·03 में जो ताप-वैद्युत वक्र दिया हुआ है उसमें युग्म की एक संधि 0°परथी। उस वक्र के द्वारा दूसरी संधि का टेम्परेचर T_1 या T_2 होने से हमें $E_\circ^1$ या $E_\circ^2$ ज्ञात होते हैं। उपर्युक्त नियम की सहायता से अब हम इसी वक्र से उस युग्म का वि० वा० ब० भी मालूम कर सकते हैं जिसकी संधियों के टेम्परेचर T_1 तथा T_2 हों। क्योंकि

$$E_1^2 = E_\circ^2 - E_\circ^1 \quad \ldots \quad (5)$$

यदि इस समीकरण में $E_\circ^1$ और $E_\circ^2$ का मान समीकरण (1) के अनुसार रखा जावे तो हम एक और भी महत्वपूर्ण परिणाम पर पहुँचते हैं।

$$\begin{aligned} E_1^2 &= (aT_2 + bT_2^2) - (aT_1 + bT_1^2) \\ &= a(T_2 - T_1) + b(T_2^2 - T_1^2) \\ &= (T_2 - T_1)\left\{a + 2b\left(\frac{T_1 + T_2}{2}\right)\right\} \end{aligned} \quad (6)$$

इससे प्रगट है कि $E_1^2 = 0$ तब होगा जब या तो $T_1 = T_2$ हो (जोकि प्रत्यक्ष है) या जब

$$\frac{T_1 + T_2}{2} = -\frac{a}{2b} \text{ हो} \quad \ldots \quad (7)$$

किन्तु ताप-वैद्युत वक्र से यह भी प्रगट है कि $E_\circ^2 = E_\circ^1$ तभी होगा जब T_1 और T_2 का T_n से अन्तर बराबर हो। अर्थात् जब

$$T_n - T_1 = T_2 - T_n$$

या

$$T_n = \frac{T_1 + T_2}{2}$$

अतः

$$T_n = -\frac{a}{2b} \quad \ldots \quad (8)$$

a तथा b का मान गरम संधि को दो भिन्न टेम्परेचरों पर रख कर वि० वा० ब० नाप कर आसानी से मालूम किया जा सकता है और तब उदासीन टेम्परेचर का भी तुरन्त पता लग सकता है।
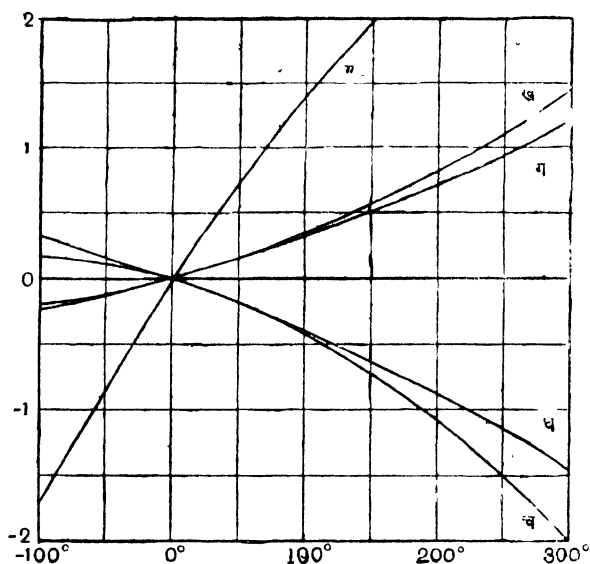
चित्र 20·05

चित्र 20·05 में सीसे को मानक मानकर तथा एक संधि को 0° पर रख कर कई धातुओं के ताप-वैद्युत वक्र दिये हुए हैं। इनके द्वारा किसी भी धातु-युग्म के लिए और किन्ही भी टेम्परेचरों के लिए वि० वा० ब० जाना जा सकता है।

20·06—**ताप-वैद्युत शक्ति** (Thermo-electric Power)। समीकरण (1) से स्पष्ट है कि

$$dE/dT = a + 2bT \tag{9}$$

dE/dT का नाम ताप-वैद्युत शक्ति है। अर्थात् गरम संधि का टेम्परेचर बढ़ाने से वि० वा० ब० में वृद्धि होने की दर को ताप-वैद्युत शक्ति कहते हैं। उदासीन टेम्परेचर T_n पर $dE/dT=0$ होगा क्योंकि वहाँ ताप-वैद्युत वक्र पर स्पर्श-रेखा टेम्परेचर-अक्ष से समान्तर होगी।

20·07—ताप-वैद्युत रेखा-चित्र (Thermo-electric Diagram)। यदि किसी युग्म की ताप-वैद्युत शक्ति $P=dE/d\mathrm{T}$ और टेम्परेचर T का लेखा-चित्र खींचा जाय तो वह सरल रेखा के रूप में प्राप्त होगा क्योंकि समीकरण (9) के अनुसार

$$P=dE/d\mathrm{T}=a+2b\mathrm{T}$$

यदि युग्म में एक धातु सीसा हो तो ऐसी रेखा को युग्म की दूसरी धातु की ताप-वैद्युत-रेखा (thermo-electric line) कहते हैं। चित्र 20·06 में ताँबे और लोहे की ताप-वैद्युत रेखाएँ दिखाई गई है। OT सीसे की रेखा है। स्पष्ट है कि ताँबे के लिए
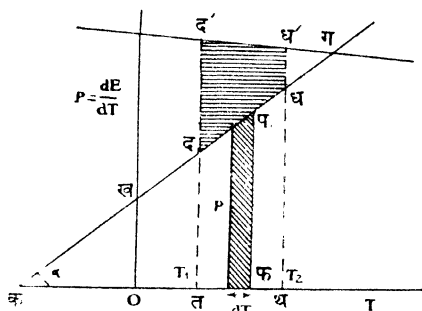
चित्र 20·06

$$a=O\,\text{ख};\ 2b=\tan\alpha$$

तथा $\mathrm{T}_n=-a/2b$

$=-O\,$**ख**$/\tan\alpha=O\,$**क**

यदि $2b$ ऋणात्मक हो तो रेखा दाहिनी ओर झुकी हुई होगी यथा लोहे की रेखा।

इस रेखाचित्र से भी ताँबे-सीसे के युग्म का वि० वा० ब० मालूम किया जा सकता है। मान लीजिये कि संधियों के टेम्परेचर क्रमशः T_1 और T_2 है। चित्र में T_1 पर $P_1=$**तद** और T_2 पर $P_2=$ **थध** है।

यदि टेम्परेचर T पर $P=$**फप** हो तो T और T$+d$T वाली युग्म का वि० वा० ब०

$$dE=\frac{dE}{d\mathrm{T}}\cdot d\mathrm{T}=P\cdot d\mathrm{T}$$

=पट्टी **फप** का क्षेत्रफल

त और **थ** के अन्तर को ऐसे ही अत्यन्त छोटी पट्टियों में विभाजित करने से समी० (4) के अनुसार

$$E_1^{\,2}\,(\text{त})=\int_1^2 dE=\text{क्षेत्रफल } \textbf{तथधद}$$

$$=\textbf{तथ}\times\frac{\textbf{तद}+\textbf{थध}}{2}$$

$$=(\mathrm{T}_2-\mathrm{T}_1)\times\frac{P_1+P_2}{2}\quad\ldots\quad(10)$$

इसी प्रकार लोहे-सीसे के युग्म का वि० वा० ब०

$$E_1^2(\text{ल}) = \text{क्षेत्रफल } \textbf{त थ ध}'\textbf{द}'$$

अतः लोह-ताम्र युग्म का वि० वा० ब०

$$E_1^2(\text{ल/त}) = E_1^2(\text{ल}) - E_1^2(\text{त})$$
$$= \textbf{त थ ध}'\textbf{द}' - \textbf{त थ ध द}$$
$$= \textbf{द ध ध}'\textbf{द}'$$

यह वि० वा० ब० ठंडी संधि में लोहे से तांबें की दिशा मे होगा।

यदि T_1 को स्थिर रखकर T_2 को बढ़ाया जाय तो यह वि०वा०ब० भी बढ़ता जायगा। जब T_2 वह टेम्परेचर हो जायगा जहाँ लोहे और ताँबे की रेखाएँ परस्पर काटती हैं (बिन्दु **ग**) तब E_1^2(ल/त) महत्तम हो जायगा। इसके बाद E_1^2(ल/त) का मान घटने लगेगा क्योंकि अब **ग** के दाहिनी ओर का क्षेत्रफल विपरीत चिह्न वाला होगा। अतः **ग** बिन्दु उदासीन टेम्परेचर का द्योतक है।

20·08—**पेल्टीयर-प्रभाव** (Peltier Effect)। 1834 में पेल्टीयर (Peltier) ने देखा कि यदि बैटरी के द्वारा दो भिन्न धातुओं की संधि में से विद्युत्-धारा चलाई जाय तो उस संधि पर या तो ऊष्मा उत्पन्न होती है या वहाँ ऊष्मा का शोषण होकर संधि ठंडी हो जाती है। धारा की दिशा बदल देने पर यह प्रभाव भी उलट जाता है अर्थात् जहाँ पहिले ऊष्मा की उत्पत्ति होती थी वहाँ अब शोषण होने लगता है और जहाँ शोषण होता था वहाँ अब ऊष्मा की उत्पत्ति होने लगती है। इसे पेल्टीयर-प्रभाव कहते है।
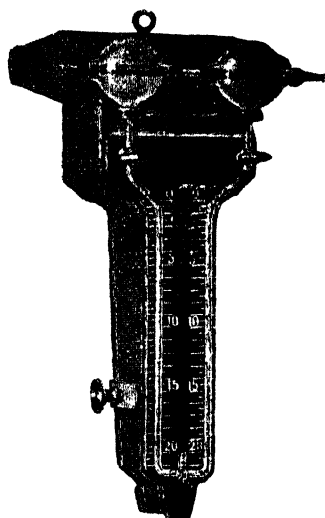
चित्र 20·07

इस प्रभाव को प्रदर्शित करने का सबसे अच्छा उपाय चित्र 20·07 में दिखलाया गया है। इसमें भेद-दर्शक वायु-थर्मामीटर (differential air thermometer) के दोनों बल्बों में एक-एक ऐन्टीमनी-बिस्मथ संधि लगी है और बैटरी के द्वारा धारा इस प्रकार चलाई जाती है कि एक संधि में धारा ऐन्टीमनी से बिस्मथ की ओर चले और दूसरी संधि में बिस्मथ से ऐन्टीमनी की ओर। यह धारा चलाते ही आप देखेंगे कि पहिली संधि का टेम्परेचर बढ़ रहा

है और दूसरी का घट रहा है। धारा की दिशा बदलते ही टेम्परेचर का परिवर्तन भी उलट जायगा।
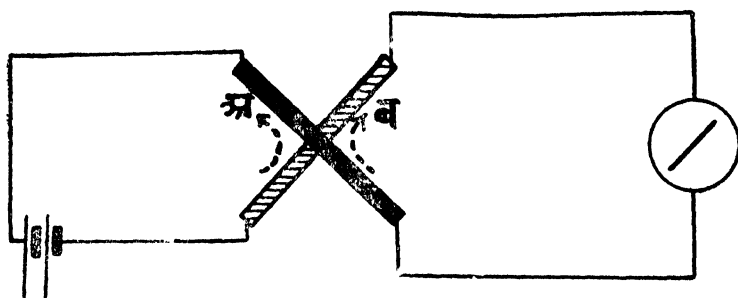
चित्र 20·08

पेल्टीयर ने जिस उपाय से यह प्रभाव देखा था वह चित्र 20·08 से प्रगट है। इसमें ऐन्टीमनी (अ) तथा बिस्मथ (ब) की दो मोटी छड़ों के द्वारा एक स्वस्तिका (cross) बनाई गई है। वाणांकित दिशा में बैटरी के द्वारा धारा चलाने पर धारा-मापी में भी वाणांकित दिशा में धारा उत्पन्न हो जाती है। यह तो प्रत्यक्ष ही है कि धारामापी की यह धारा बैटरी से नहीं आ सकती। अतः इसका कारण संधि का ठंडा होना ही हो सकता है क्योंकि संधि के ठंडे होने ही पर धारा ऐन्टीमनी से बिस्मथ की ओर प्रवाहित होगी। बैटरीवाली धारा को उलट देने पर संधि का गरम होना भी इसी प्रकार प्रमाणित हो जायगा।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि पेल्टीयर-प्रभाव एक प्रकार से सीबेक-प्रभाव से ठीक उलटा है। सीबेक-प्रभाव में ऐन्टीमनी-बिस्मथ संधि को गरम करने से विद्युत्-धारा उत्पन्न होती है जो बिस्मथ से ऐन्टीमनी की ओर प्रवाहित होती है। इस संधि को जो ऊष्मा दी जाती है वही शोषित होकर धारा को चलाती है। संधि पर ऊष्मा का शोषण होने से धारा उत्पन्न होती है। पेल्टीयर प्रभाव में उसी दिशा में धारा चलाने से संधि पर ऊष्मा की उत्पत्ति होती है और संधि गरम हो जाती है। अर्थात् वैद्युत ऊर्जा अब वहाँ ऊष्मा के रूप में परिणत हो जाती है।

भिन्न धातुओं की संधि पर होने वाले विभवान्तर के द्वारा पेल्टीयर-प्रभाव का रहस्य हमारी समझ में आ सकता है। मान लीजिये कि ऐन्टीमनी-बिस्मथ संधि पर ऐन्टीमनी का विभव बिस्मथ के विभव से अधिक होता है। ऐसी दशा में बैटरी

के द्वारा यदि विद्युत्धारा ऐन्टीमनी से बिस्मथ की ओर चलाई जावे तो संधि पर विद्युत् सहसा अधिक विभव से कम विभव पर पहुंच जाता है अर्थात् विद्युत् की स्थितिज ऊर्जा वहाँ सहसा घट जाती है। इस कमी का कारण यही हो सकता है कि उस ऊर्जा का परिणमन होकर वह ऊष्मा के रूप में प्रगट होती है। विपरीत इसके यदि धारा बिस्मथ से ऐन्टीमनी की ओर चलाई जाय तो विद्युत् को नीचे विभव से ऊँचे विभव पर जाना पड़ता है। अत. उसे कुछ ऊर्जा का शोषण करना पड़ता है। यह ऊर्जा वहाँ का टेम्परेचर घटने ही से प्राप्त हो सकती है।

मान लीजिये कि ऐन्टीमनी-विस्मथ परिपथ की एक संधि को हमने गरम कोष्ठ में रख दिया और एक को ठंढे कोष्ठ में। हम देख चुके है कि इस अवस्था में विद्युत् धारा प्रवाहित होगी और उसके कारण गरम-कोष्ठ में से एक संधि के द्वारा ऊष्मा का शोषण होगा और ठडे कोष्ट को दूसरी संधि से ऊष्मा प्राप्त होगी। अर्थात् हम यों समझ सकते है कि जिस प्रकार इंजन उच्च टेम्परेचर के स्थान से ऊष्मा Q_1 लेता है और निम्न टेम्परेचर के स्थान में उसका कुछ अंश Q_2 दे देता है तथा इन दोनों के अन्तर $Q_1 - Q_2$ को यांत्रिक ऊर्जा में परिणत कर देता है ठीक उसी प्रकार यहाँ भी गरम सधि पर ऊष्मा का शोषण होता है और उस ऊष्मा का कुछ अंश ठंडी संधि पर प्रगट हो जाता है तथा शेष ऊष्मा विद्युत्धारा के रूप में परिणत हो जाती है। विपरीत इसके यदि किसी सैल के द्वारा धारा इस परिपथ में उलटी दिशा में चलाई जाय तो ऊष्मा का ठढे कोष्ठ में शोषण होगा और गरम कोष्ठ में ऊष्मा की उत्पत्ति होगी। इस ऊष्मा के लिए ऊर्जा सैल में से विद्युत्-रूप में प्राप्त होगी। इंजन को भी विपरीत दिशा मे चलाने से ऐसा ही होता है। यह प्रमाणित कर दिया गया है कि संधि पर प्रति सेकंड जो ऊष्मा Q शोषित होती है या प्रगट होती है उसका परिमाण धारा की प्रबलता i का अनुपाती होता है। अर्थात्

$$Q \propto i$$

या $$Q = \pi i$$

और t सैकंड में उत्पन्न ताप $= \pi i t$ अर्ग (11)

इस समीकरण के नियतांक π को पेल्टीयर-गुणांक (Peltier coefficient) कहते हैं।

प्रत्येक संधि का पेल्टीयर-गुणांक उस ऊर्जा के बराबर होता है जो एक मात्रक धारा के द्वारा एक सैकंड में वहाँ शोषित या उत्पन्न होती है। किन्तु हम यह जानते

हैं कि यदि संधि पर वि० वा० ब० E हो तो एक मात्रक धारा वहाँ प्रति सैकंड Ei अर्ग कार्य करेगी। अतः $\pi i = Ei$

या $$\pi = E \qquad \ldots \qquad (12)$$

इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि पेल्टियर गुणांक संधि पर विद्यमान विभवान्तर के बराबर होता है।

यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि पेल्टियर प्रभाव में ऊर्जा की जो उत्पत्ति होती है वह उस ऊष्मा से सर्वथा भिन्न है जो प्रतिरोधों में जूल के नियमानुसार उत्पन्न होती है। प्रथम भेद तो यह है कि जूल-ऊष्मा प्रतिरोध वाले चालक की पूरी लम्बाई में उत्पन्न होती है किन्तु पेल्टियर प्रभाव में ऊष्मा की उत्पत्ति केवल संधि-स्थान पर होती है। दूसरा और अधिक महत्वपूर्ण भेद यह है कि जूल-प्रभाव में सदा ऊष्मा की उत्पत्ति होती है। उसका शोषण कभी नहीं होता। विपरीत इसके पेल्टियर प्रभाव में एक संधि पर ऊष्मा उत्पन्न होती है तो दूसरी संधि पर इस का शोषण होता है। तीसरे विद्युत्-धारा की दिशा बदलने से भी जूल-प्रभाव में ऊष्मा उत्पन्न होती है क्योंकि उसका परिमाण i^2 का अनुपाती होता है। किन्तु पेल्टियर-प्रभाव में धारा की दिशा बदलने पर जहाँ ऊष्मा की उत्पत्ति होती थी वहाँ शोषण होने लगता है। पेल्टियर-प्रभाव उत्क्रमणीय (reversible) होता है किन्तु जूल-प्रभाव अनुत्क्रमणीय (irreversible)।

20·09—**पेल्टियर गुणांक नापने की विधि**। जिस युग्म-संधि का पेल्टियर गुणांक नापना हो उसे एक कलारी-मापी के पानी में डुबोकर रखिये और उसमें i मात्रक की धारा t सैकंड तक प्रवाहित करिये। यदि कलारी-मापी में डूबे भाग का प्रतिरोध R हो, पेल्टियर गुणांक π हो, जूल का तुल्यांक J हो तो इस धारा से कलारी-मापी में जितनी ऊष्मा H_1 उत्पन्न होगी वह निम्नलिखित समीकरण से प्राप्त होगी $$JH_1 = i^2Rt + \pi it$$

इसी प्रकार विद्युत्-धारा विपरीत दिशा में भेजने से उत्पन्न ऊष्मा H_2 होगी

और
$$JH_2 = i^2Rt - \pi it$$
$$J(H_1 - H_2) = 2\pi it$$
$$\pi = \frac{J(H_1 - H_2)}{2it} \qquad \ldots \qquad (13)$$

यदि कलारी-मापी में जल की मात्रा तथा कलारी-मापी के जलतुल्यांक का सम्मिलित मान m ग्राम हो और जल के टेम्परेचर में वृद्धि पहिली बार dT_1 और दूसरी बार dT_2 हुई हो तो

$$\pi = \frac{J\,m(dT_1 - dT_2)}{2it}$$

20·10—**टामसन-प्रभाव** (Thomson Effect)। इंजन से समानता होने के कारण तथा पेल्टीयर-प्रभाव के उत्क्रमणीय होने के कारण विलियम टामसन (W. Thomson) ने, जो लार्ड केल्विन (Lord Kelvin) के नाम से विख्यात हैं, इस प्रभाव पर ऊष्मा-गतिकी के नियमों को लगाया। इन नियमों के अनुसार यदि T_1 और T_2 गरम तथा ठंडे कोष्ठों के परम टेम्परेचर (absolute temperature) हों और π_1 तथा π_2 इन टेम्परेचरों पर पेल्टीयर-गुणांक हों तो

$$\frac{\pi_1}{T_1} = \frac{\pi_2}{T_2} = \frac{\pi_1 - \pi_2}{T_1 - T_2} = \frac{E}{T_1 - T_2}$$

परिपथ में एक मात्रक विद्युत् के प्रवाहित होने के कारण π_1 और π_2 अर्ग ऊर्जा का शोषण तथा उत्पत्ति होते हैं। इस एक मात्रक विद्युत् के प्रवाह में जितना कार्य होता है वही इस परिपथ का वि० वा० ब० होता है। अतः

$$E = \pi_1 - \pi_2 = (T_1 - T_2)\ \pi_1/T_1 \qquad \ldots \qquad (14)$$

इस परिणाम से यह प्रगट है कि यदि ताप-वैद्युत-युग्म की एक संधि का टेम्परेचर स्थिर रखा जावे तो वि० वा० ब० $T_1 - T_2$ अर्थात् टेम्पेरेचरों के अन्तर का अनुपाती होगा। हम पहिले ही देख चुके हैं कि वास्तव में ऐसा नही होता क्योंकि ताप-वैद्युत वक्र परवलयकार होता है। इस बात से केल्विन ने यह परिणाम निकाला कि इस परिपथ में पेल्टियर-प्रभाव के अतिरिक्त कोई और भी उत्क्रमणीय प्रभाव ऐसा है जिसके कारण भी ऊष्मा का शोषण और उत्पत्ति होते हैं। इसके बाद बड़े परिश्रम से उन्होंने इस प्रभाव को खोज निकाला। अब यह टामसन प्रभाव (Thomson effect) के नाम से प्रसिद्ध है। यह प्रभाव निम्नलिखित है:—

चित्र 20·09 में **कखग** ताँबे का तार है। बिन्दु **ख** का टेम्परेचर T_1 ऊँचा है और **क** तथा **ग** का T_2 नीचा है। यदि इस तार में **कख** दिशा में विद्युत्-धारा

प्रवाहित की जावे तो हम देखेंगे कि **क ख** भाग के प्रत्येक विन्दु का टेम्परेचर घट जायगा अर्थात् वहाँ ऊष्मा का शोषण हो जायगा। विपरीत इसके भाग **ख ग** में ऊष्मा की
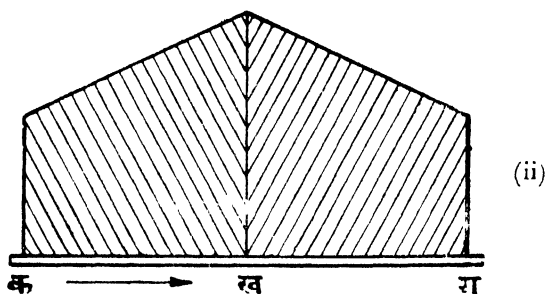
चित्र 20·09

उत्पत्ति होगी। यह हमें मालूम है कि ऊष्मा-चालकता के कारण ऊष्मा **ख** से **क** की ओर तथा **ख** से **ग** की ओर प्रवाहित होगा। अतः उपर्युक्त बात को हम यों भी कह सकते हैं :—

यदि किसी धातु में विद्युत्-धारा उस दिशा में चलाई जावे जिसमें टेम्परेचर के अन्तर के कारण ऊष्मा चलती है तो उस धातु में ऊष्मा की उत्पत्ति होती है। किन्तु जब ऊष्मा-गति की और धारा की दिशाएं विपरीत होती हैं तो ऊष्मा का शोषण होता है।

एन्टीमनी, चाँदी, केडमियम और जस्त में भी ऐसा ही होता है। यह टामसन प्रभाव धन-चिह्नीय कहलाता है। किन्तु लोह, प्लाटिनम, बिस्मथ, कोबल्ट, निकल और पारे में यह प्रभाव उल्टा होता है और ऋण-चिह्नीय कहलाता है। सीसे (lead) में यह प्रभाव बिलकुल नहीं होता। यही कारण है कि सीसा ताप-वैद्युत शक्ति के माप के लिए मानक धातु माना गया है (अनु० 20·04)।

धन-चिह्नीय प्रभाव में ऐसा जान पड़ता है मानो विद्युत्-धारा ही ऊष्मा का सवहन करती है। यदि किसी नली के एक सिरे को गरम कर दें और दूसरा सिरा ठंडा रहे तो उसमें बहने वाला जल गरम सिरे पर ऊष्मा का शोषण करेगा और उत्तप्त होकर वह ऊष्मा को ठंढे सिरे की तरफ ले जायगा। विद्युत्-धारा भी ठीक इस जल-धारा ही के समान कार्य करती हुई मालूम होती है। अतः हम यह कल्पना कर सकते हैं कि जल ही की तरह विद्युत् का टेम्परेचर भी ऊष्मा के शोषण से बढ़ जाता है। इस दृष्टि से विद्युत् की भी कुछ विशिष्ट ऊष्मा होती है। किन्तु तब लोहे आदि ऋण-

चिह्नीय टामसन प्रभाव वाली धातुओं में हमें यह मानना पड़ेगा कि इनमें ऊष्मा के शोषण से विद्युत् का टेम्परेचर घटता है, बढ़ता नहीं। अर्थात् इनमें विद्युत् की विशिष्ट ऊष्मा ऋण-चिह्नीय होती है। यह केवल उपमा मात्र ही है। वास्तव में विद्युत् के टेम्परेचर का अथवा उसकी विशिष्ट ऊष्मा का कुछ भी अर्थ नहीं है।

20·11—**टामसन प्रभाव की परिभाषा**। यदि किसी तार के दो बिन्दुओं के टेम्परेचरों का अन्तर $d\mathrm{T}$ अत्यन्त छोटा हो और यदि धारा i उस तार में t सेकंड तक प्रवाहित हो तो उन दोनों बिन्दुओं के बीच में जितनी ऊष्मा या ऊर्जा का शोषण या उत्पत्ति होगी उसका परिमाण होगा

$$Q=\sigma d\mathrm{T}\,.\,i\,.\,t \text{ अर्ग} \quad \ldots \quad (15)$$

इसमें σ को टामसन-गुणाक कहते हैं और इसी का नाम विद्युत् की विशिष्ट ऊष्मा भी है। इस सूत्र से स्पष्ट है कि $\sigma.d\mathrm{T}$ भी तार के उन दोनों बिन्दुओं के बीच का विभवान्तर है। अतः किसी धातु के टामसन-गुणाक को हम उस धातु में प्रति डिगरी टेम्परेचर के अन्तर के कारण उत्पन्न विभवान्तर भी समझ सकते हैं।

स्मरण रखना चाहिए कि σ का मान स्थिर नहीं रहता। वह टेम्परेचर के साथ बदल जाता है। अतः यदि किसी धातु के दो बिन्दुओं के टेम्परेचर T_1 और T_2 हों तो उन बिन्दुओं के बीच में जितनी ऊर्जा का शोषण या उत्पत्ति होगी उसका मान होगा

$$Q=it\int_{\mathrm{T}_1}^{T_2}\sigma\, d\mathrm{T} \quad \ldots \quad (16)$$

और उन दोनों बिन्दुओं के बीच का विभवान्तर होगा $\int_{\mathrm{T}_1}^{T_2}\sigma\, d\mathrm{T}$ ।

टामसन-प्रभाव भी पेल्टियर प्रभाव ही के समान उत्क्रमणीय होता है और जूल-प्रभाव से सर्वथा भिन्न होता है।
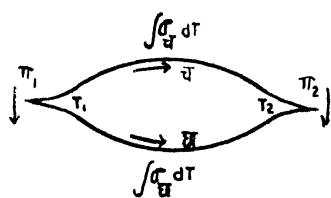
चि॰ 20·10

20·12—**तापवैद्युतयुग्म का पूर्ण वि॰ वा॰ ब॰**। चित्र 20·10 में **च** तथा **छ** धातुओं का युग्म दिखाया गया है। एक संधि का टेम्परेचर T_1 है और दूसरी का T_2। और इन

संधियों पर पेल्टियर वि० वा० ब० क्रमशः π_1 और π_2 है । **च** और **छ** धातुओं में टामसन वि० वा० ब० क्रमशः $\int_{T_1}^{T_2} \sigma_{च}\, dT$ तथा $\int_{T_1}^{T_2} \sigma_{छ}\, dT$ है । सब वि० वा० बलों की दिशाएँ बाणों द्वारा प्रदर्शित है । अतः पूर्ण वि० बा० ब० होगा $E = \pi_2 - \pi_1 + \int_{T_1}^{T_2} (\sigma_{च} - \sigma_{छ})\, dT$ । यदि **छ** धातु सीसा हो तो

$$E = \pi_2 - \pi_1 + \int_{T_1}^{T_2} \sigma_{च}\, dT \qquad \ldots \quad (17)$$

यदि $T_2 = T_1 + dT$ हो तथा $\pi_2 = \pi_1 + d\pi$ हो तो

$$dE = d\pi + \sigma dT \qquad \ldots \quad (18)$$

20·13—**ताप-वैद्युत युग्म पर ऊष्मा-गतिकी के नियमों का उपयोग** (Application of the Laws of Thermo-dynamics to a Thermo-couple)। अनु० 20·10 में यह उपयोग किया गया था। किन्तु उसमें टामसन प्रभाव को सम्मिलित नही किया गया था । अतः जो परिणाम निकला था वह भी सही नही था । अब हम दोनों टामसन तथा पेल्टियर प्रभावों को लेकर इस प्रश्न पर विचार करेंगे । दोनों ही प्रभाव उत्क्रमणीय होने से ऊष्मा-इंजन से ताप-वैद्युत युग्म की समानता प्रकट है । चित्र 20·10 के युग्म में एक मात्रक विद्युत्-धारा के एक सेकंड चलने से जो ऊष्मा की उत्पत्ति या शोषण होता है वह निम्न प्रकार है :–

(1) T_1 टेम्परेचर वाली संधि पर उत्पन्न ऊष्मा $= \pi_1$

(2) T_2 टेम्परेचर वाली संधि पर शोषित ऊष्मा $= \pi_2$

(3) धातु **च** में शोषित ऊष्मा $= \int_{T_1}^{T_2} \sigma_{च}\, dT$

(4) धातु **छ** में उत्पन्न ऊष्मा $= \int_{T_1}^{T_2} \sigma_{छ}\, dT$

यदि $T_2 = T_1 + dT$ हो और $\pi_2 = \pi_1 + d\pi$ हो तो ये ऊष्माएं क्रमशः होंगी $\pi_1; \pi_1 + d\pi; \sigma_{च}\, dT; \sigma_{छ}\, dT$ । यदि **छ** सीसा हो तो $\sigma_{छ}\, dT = 0$ होगा।

और अब मानक-धातु के अतिरिक्त एक ही धातु रहने से $\pi_2 = \pi + d\pi$ तथा $\sigma = \sigma_च$ लिखने में कोई हर्ज नहीं है। अतः ऊष्मा-गतिकी के द्वितीय नियमानुसार

$$\frac{\pi}{T} - \frac{\sigma dT}{T} = \frac{\pi + d\pi}{T + dT}$$ [जहाँ T तथा $T + dT$ परम टेम्परेचर हैं

$$= \frac{\pi + d\pi}{T\left(1 + \frac{dT}{T}\right)}$$

$$= \frac{\pi + d\pi}{T}\left(1 - \frac{dT}{T}\right)$$

$$= \frac{\pi}{T} - \frac{\pi dT}{T^2} + \frac{d\pi}{T}$$ [$d\pi . dT$ उपेक्षणीय है

$$\therefore \quad \frac{\pi dT}{T} = d\pi + \sigma dT$$

$$= dE \quad \ldots \quad \ldots \quad \text{(समी० 18 से)}$$

$$\therefore \quad \pi = T . \frac{dE}{dT} \quad \ldots \quad \ldots \quad (19)$$

अर्थात् पेल्टियर गुणांक = परम टेम्परेचर × उसी टेम्परेचर पर ताप-वैद्युत शक्ति।

इसी समीकरण (19) से $\quad \frac{d\pi}{dT} = T\frac{d^2E}{dT^2} + \frac{dE}{dT}$

किन्तु समीकरण (18) से $\quad \frac{dE}{dT} = \frac{d\pi}{dT} + \sigma$

$$\therefore \quad \frac{d\pi}{dT} = T\frac{d^2E}{dT^2} + \left(\frac{d\pi}{dT} + \sigma\right)$$

$$\therefore \quad \sigma = -T\frac{d^2E}{dT^2} \quad \ldots \quad (20)$$

20·14—पेल्टियर तथा टामसन गुणांकों का ताप-वैद्युत रेखाचित्र पर निदर्शन। चित्र 20·11 में **क ख ग** किसी धातु की ताप-वैद्युत रेखा है।

टेम्परेचर T_1 पर ताप-वैद्युत शक्ति **त द** है। अतः T_1 पर पेल्टियर गुणांक

चित्र 20·11

$$\pi_1 = T \times \text{त द} = 0\text{त} \times \text{त द}$$

$$= \text{क्षेत्रफल } 0 \text{ त द च}$$

इसी तरह T_2 पर $\pi_2 =$ क्षेत्रफल 0 **थ ध छ**

और $$\frac{d^2E}{dT^2} = \frac{d}{dT}\left(\frac{dE}{dT}\right) = \frac{dP}{dT} = \tan\alpha = \text{स्थिर}$$

अतः टेम्परेचर T के विन्दु **प** पर टामसन गुणांक

$$\sigma_T = -T\frac{d^2E}{dT^2} = -T\frac{dP}{dT} = -T\tan\alpha$$

∴ $\sigma_T dT = -T dP =$ पट्टी **प ज** का क्षेत्रफल

और T_1 तथा T_2 के बीच में

टामसन प्रभाव का वि० वा० ब० $= \int_1^2 \sigma_T\, dT = \sum_1^2$ **पज**

$= -$क्षेत्रफल **च द ध छ**

अतः उक्त धातु तथा सीसे के युग्म का पूरा वि० वा० ब०

$$E = \pi_2 - \pi_1 + \int_1^2 \sigma_T\, dT \quad \ldots$$ [समी० 17 से

$=$ क्षेत्रफल {0**थ ध छ** — 0**त द च** — **च द ध छ**}

$=$ क्षेत्रफल **त थ ध द**

यह बात ऊपर अनु० 20·07 में भी बताई जा चुकी है।

20·15—**टामसन प्रभाव का प्रदर्शन और नाप**। इस प्रभाव को प्रदर्शित करना ज़रा कठिन है। किन्तु टेम्परेचर परिवर्तन के कारण ताँबे के तार के प्रतिरोध में जो परिवर्तन होता है उसके द्वारा इस प्रभाव को आसानी से नापा जा सकता है।
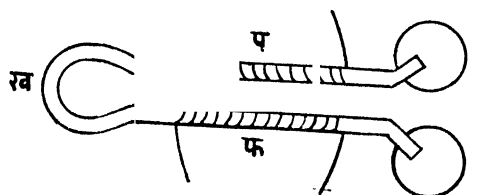
चित्र 20·12

एक लोहे की छड़ **क ख ग** को मोड़ कर चित्र 20·12 के समान बनाली जाती है और उस की दोनों भुजाओं पर ताँबे की प्रतिरोध कुंडलियाँ **प,फ** लपेट दी जाती हैं। छड़ का मध्य भाग **ख** बुन्सन ज्वालक के द्वारा गरम करके लाल कर दिया जाता है और दोनों सिरे **क, ख** पारा भरे प्यालों में डुबाकर कमरे के टेम्परेचर पर रखे जाते हैं। अब प्रायः 10 अम्पीयर की धारा छड़ में से चलाई जाती है। इससे एक भुजा का टेम्परेचर बढ़ता है और दूसरी का टेम्परेचर घटता है। इस कारण उन पर लिपटी हुई प्रतिरोध कुंडलियों का प्रतिरोध भी क्रमश. बढ़ता और घटता है। यदि प्रारम्भ में दोनों के प्रतिरोध बिल्कुल बराबर हों तो अब वे बराबर नहीं रहते। यह बात प्रतिरोध नापने के साधारण तरीकों से स्पष्ट देखी जा सकती है और नापी भी जा सकती है। इस प्रयोग में प्रतिरोध ताँबे के तार के इसलिए बनाये जाते हैं कि ताँबे के प्रतिरोध का टेम्परेचर-गुणांक बहुत अधिक होता है।

20·16—**तापवैद्युत थरमामीटर** (Thermo-electric Thermometer)। यह कहा जा चुका है कि ताप-वैद्युत वि० व० बा० इतना कम होता है कि धारा उत्पन्न करने के लिए ताप-वैद्युत युग्म उपयोगी नहीं है। किन्तु टेम्परेचर नापने के लिए यह बड़े काम का प्रमाणित हुआ है। एक संधि को 0° पर रखकर दूसरी संधि का टेम्परेचर क्रमशः बढ़ाने से जो वि० वा० ब० उत्पन्न होता है उसे एक बार नाप लेने पर बाद में किसी भी टेम्परेचर पर वि० वा० ब० नापने से टेम्परेचर ज्ञात हो सकता है। जहाँ पारे का साधारण थरमामीटर काम में नहीं आ सकता वहाँ यह उपाय बहुत ही अच्छा है। विशेष कर उच्च टेम्परेचरों के नापने में इसका उपयोग होता है, और तब दूसरी संधि को 0° पर रखने की भी कोई आवश्यकता नहीं होती। उसे कमरे की वायु में रखना ही काफ़ी होता है। क्योंकि दोनों संधियों के टेम्परेचरों का अन्तर इतना

अधिक होता है कि उसमें ठंडी संधि के टेम्परेचर के थोड़े से अन्तर से कुछ विशेष फर्क नहीं पड़ता ।

उच्च टेम्परेचर नापने के युग्म बनाने के लिए धातु ऐसी होनी चाहिए कि जो गल न जाय । इस दृष्टि से एक धातु प्लाटिनम (platinum) और दूसरी प्लाटिनम-रोडियम (platinum-rhodium) का मिश्रधातु (10% रोडियम) अच्छे समझे जाते हैं । प्रायः 1500° तक यह युग्म काम में आ सकता है और तब इसका वि० वा० ब० 16 मिलीवोल्ट के लगभग होता है । 0° के लगभग और उससे नीचे के टेम्परेचर नापने के लिए ताम्र-कान्सटन्टन (copper-constantan) युग्म अच्छा समझा जाता है । इसके द्वारा अत्यन्त निम्न टेम्परेचर भी नापे जा सकते हैं ।

जहाँ टेम्परेचर का परिवर्तन थोडा होता हो वहाँ भी ताप-वैद्युत युग्म काम में आता है किन्तु तब ऐन्टीमनी और बिस्मथ या लोह तथा कान्सटन्टन के युग्म बनाये जाते हैं ।

20·17—ताप वैद्युत पुंज (Thermopile) । ऐन्टीमनी-बिस्मथ की संधि भी प्रायः 100° के टेम्परेचर के अन्तर पर 8 मिलीवोल्ट से अधिक वि० वा० ब० उत्पन्न नहीं करती । किन्तु यदि कई युग्म श्रेणीवद्ध हों तो वि० वा० ब० बहुत बढाया जा सकता है (चित्र 20·13) । ऐसे श्रेणीबद्ध युग्म-समूह को ताप-वैद्युत पुंज (Thermopile) कहते हैं । नोबिली (Nobili) ने जो पुंज बनाया था उसमें ऐन्टीमनी तथा बिस्मथ की छड़ों को इस प्रकार जमाया था कि सब छड़ सिरों को छोड़ कर सर्वत्र विलागित थी और संधियाँ एकान्तरतः पुंज के एक ओर, तथा दूसरी ओर थीं ताकि पुँज का एक पृष्ठ गरम करने पर प्रत्येक युग्म की एक संधि गरम हो जाय किन्तु दूसरी ठंडी ही रहे । यह ताप वैद्युत-पुँज तापविकिरण सम्बन्धी प्रयोगों में बहुत काम में लिया गया है। इसी प्रकार का ताप-वैद्युत पुंज जिसमें सब उत्तप्त संधियाँ एक पतली रेखा के अकार में जमी होती हैं, आजकल स्पैक्ट्रम-रेखाओं की दीप्ति नापने के लिए भी काम में आता है और रैखिक पुँज (linear thermopile) कहलाता है।
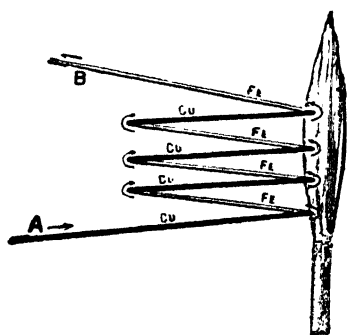
चित्र 20·13

20·18—सूक्ष्म विकिरणमापी (Radio-micrometer)। ऊष्मा-विकिरण के नाप के लिए अत्यन्त सुग्राही उपकरण भी ताप-वैद्युत युग्म की सहायता से बनाया गया है। इसका नाम सूक्ष्म-विकिरणमापी है। इसमें प्रबल चुम्बक के ध्रुवों के बीच में स्फटिक-तन्तु से एक ही फेरे की एक कुंडली लटकी होती है (चित्र 20·14)। इस कुंडली के नीचे के भाग में ऐन्टीमनी और बिस्मथ की ताप-वैद्युत संधि होती है और इस संधि पर पतले ताँबे का चौड़ा-सा पत्र चिपका रहता है। यह काला रंगा रहता है और इसका तथा संधि का भार इतना कम होता है कि इस पर अत्यन्त थोड़े परिमाण में ऊष्मा की किरणों के पड़ने से ही टेम्परेचर बहुत बढ़ जाता है। कुंडली का प्रतिरोध कम होने के कारण उसमें प्रबल ताप-वैद्युत धारा प्रवाहित होती है और चुम्बकीय क्षेत्र कुंडली को घुमा देता है। दर्पण और प्रकाश के द्वारा विक्षेप नापा जाता है। इसकी सुग्राहिता इतनी होती है कि साधारण मोमबत्ती को इस उपकरण से प्रायः 1500 फ़ुट दूर रखने पर जो किरणें इस पर पड़ती हैं उन्हीं से इसमें काफी विक्षेप हो
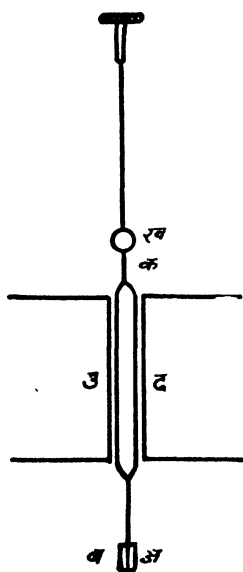
चित्र 20·14

20·19—ताप वैद्युत धारामापी (Thermo-galvanometer)। यही उपाय विद्युत्-धारा नापने के लिए भी काम में आता है। और सब प्रबंध तो ठीक सूक्ष्म-विकिरण-मापी के समान ही रहता है किन्तु संधि के निकट प्रतिरोधी तार या कुंडली लगी होती है जिसमें से विद्युत्-धारा प्रवाहित होती है (चित्र 20·15)। धारा इस तार या कुंडली में ऊष्मा उत्पन्न करती है और उस की ऊष्मा संधि को गरम करके अवलम्बित कुंडली का विक्षेप कर देती है।
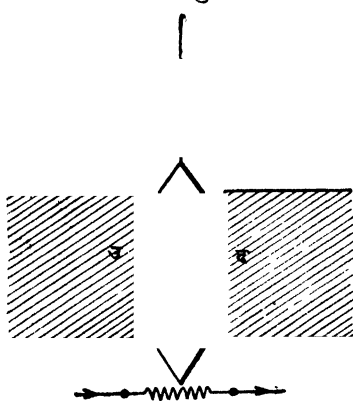
चित्र 20·15

एक दूसरी प्रकार के धारामापी में धारावाही प्रतिरोधी तार **क ख** से ताप-वैद्युत-संधि भी जुड़ी रहती है और इस संधि में उत्पन्न वि॰वा॰ ब॰ किसी उपयुक्त सरल धारामापी **ध** के द्वारा नापा जाता है (चित्र 20·16)। प्रतिरोधी तार तथा संधि बहुधा काच के गोले में लगे रहते हैं और गोले की वायु निकाल दी जाती है ताकि तार में या संधि में ऊष्मा और वायु के कारण कोई परिवर्तन न होने पावे। ऐसी संधि को निर्वात-संधि (vacuo-junction) कहते है।
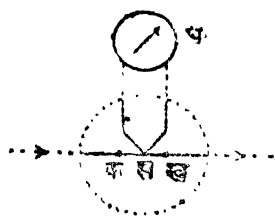
चित्र 20·16

परिच्छेद 21

विद्युत्-विश्लेषण

(Electrolysis)

21·01—**विद्युत् विश्लेषण** (Electrolysis)। विद्युत्-धारा के प्रभावों का वर्णन करते समय परिच्छेद 14 में बतलाया गया था कि कई पदार्थों के विलयनों में प्रवाहित होने पर धारा उन पदार्थों का रासायनिक विच्छेदन (decomposition) कर देती है। उदाहरण के लिए जल मे आक्सिजन तथा हाइड्रोजन की उत्पत्ति का भी वर्णन किया गया था। नीलाथोथा ($CuSO_4$), हाइड्रोक्लोरिक अम्ल (HCl) आदि अनेक पदार्थों के विलयनों का भी ठीक जल ही की भाँति विच्छेदन हो जाता है।

काँच के एक पात्र में नीले थोथे का विलयन भर दीजिये। इस द्रव में दो प्लाटिनम की पत्तियाँ लटका दीजिये और उन्हें बैटरी से जोड़ कर धारा प्रवाहित करिये। बैटरी के ऋण ध्रुव से जुड़ी हुई पत्ती पर विलयन में से निकल कर कुछ ताँबा जम जायगा तथा धन ध्रुव से जुड़ी हुई पत्ती पर आक्सिजन के बुलबुले निकलते नज़र आवेंगे। इस क्रिया में तूथिये के अणु के दो टुकड़े हो जाते हैं :—

$$CuSO_4 = Cu^{++} + SO''_4$$

इनमें से एक टुकड़ा तो धन-ध्रुव की ओर जाता है और दूसरा ऋण-ध्रुव की ओर। प्लाटिनम की पत्तियों पर जाकर ये द्रव से बाहर निकल जाते हैं। ऋण-ध्रुव वाली पत्ती पर ताँबा जम जाता है और दूसरी पत्ती के निकट SO_4 जल से मिल कर आक्सिजन उत्पन्न कर देता है।

$$SO_4 + H_2O = H_2SO_4 + O$$
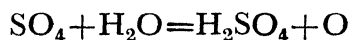
इस ही प्रकार हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का विच्छेदन होकर हमें हाइड्रोजन तथा क्लोरीन नामक गैसें उपलब्ध हो जाती हैं।

21·02—**कुछ पारिभाषिक शब्द**। धारा के प्रवाह की दृष्टि से समस्त द्रव पदार्थों के तीन वर्ग बनाये जा सकते हैं।

(1) वे द्रव जिनमें चालकता बिलकुल नही होती। तारपीन का तेल, पाराफ़िन तेल, और अन्य कई प्रकार के तेल इस वर्ग में सम्मिलित हैं। ये अच्छे विलागक होते हैं।

(2) वे द्रव जिनमे कम या अधिक चालकता होती है और ठीक ठोस धातुओं के समान ही जिन में विद्युत्-धारा प्रवाहित होती है। उनका विच्छेदन नहीं होता। पारा इसका अच्छा उदाहरण है। शुद्ध जल, शुद्ध गंधकाम्ल और अन्य शुद्ध द्रव भी इसी वर्ग में सम्मिलित है।

(3) वे द्रव जिन मे धारा के प्रवाह से विश्लेषण हो जाता है। ये बहुधा विलयन के रूप मे होते है। इनका नाम विद्युत्-विश्लेष्य (electrolyte) रख दिया गया है। गंधकाम्ल, नमक, तथा नीलाथोथा विद्युत्-विश्लेष्य हैं। किन्तु चीनी या शक्कर विद्युत्-विश्लेष्य नही है क्योंकि धारा से उस के विलयन का विच्छेदन नहीं होता।

विद्युत्-विश्लेष्य विलयन में धारा प्रवाहित करने के लिए जो तार, पट्टिका या पत्तियाँ द्रव में डुबाई जाती है वे विद्युदग्र (electrode) कहलाते है। जिस अग्र से धारा द्रव में प्रवेश करती है और जो बैटरी के धन-ध्रुव से जुड़ा रहता है वह धनाग्र या ऐनोड (anode) कहलाता है और जो बैटरी के ऋण-ध्रुव से जुड़ा रहता है और जिसके द्वारा धारा द्रव से बाहर निकल जाती है वह ऋणाग्र या कैथोड (cathode) कहलाता है।

विद्युत्-विश्लेष्य पदार्थ के अणु जिन दो भागों में विभक्त होते हैं वे आयन (ion) कहलाते हैं। जो आयन धारा की दिशा में चल कर ऋणाग्र पर प्रगट होता है वह धन-आयन(anion)कहलाता है। हाइड्रोजन तथा प्रायः सब ही धातुओं के आयन धन-आयन होते हैं। विपरीत दिशा में चलकर धनाग्र पर प्रगट होने वाले आयन ऋण-आयन (cation) कहलाते हैं। आक्सिजन, क्लोरीन, आदि के आयन ऋण-आयन होते है। ये आयन द्रव में जिस प्रकार विद्युदग्रों के विभवान्तर के कारण गमन करते हैं उसे देख कर यह जान पड़ता है कि आयन विद्युन्मय होते हैं। धन-आयन पर धन-आवेश होता है और ऋण-आयन पर ऋण-आवेश। बहुधा इन आवेशों को + या — चिह्न के द्वारा रासायनिक सूत्रों में भी व्यक्त कर देते हैं। यथा $H^+, Cl^-, Cu^{++}, SO_4^{--}$ इत्यादि।

इनमें से कुछ आयनों पर आवेश अधिक और कुछ पर कम होता है। यह बात कुछ उदाहरणों से प्रगट हो जायगी। गंधकाम्ल के विच्छेदन से हाइड्रोजन तथा आक्सिजन

प्राप्त होती हैं। इस क्रिया के रासायनिक समीकरण निम्नलिखित हैं :—

$$H_2SO_4 = 2H^+ + SO_4^{--}$$
$$SO_4^{--} + H_2O = H_2SO_4 + O^{--}$$
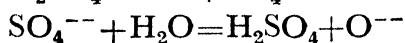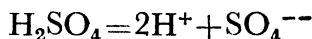
इनमें से प्रथम समीकरण के द्वारा प्रगट है कि अम्ल के एक अणु में से हाइड्रोजन के दो धन-आयन तथा SO_4 का एक ऋण-आयन प्राप्त होता है। अतः स्पष्ट है कि SO_4 आयन पर ऋण आवेश की मात्रा दो हाइड्रोजन आयनों के धन-आवेशों के बराबर होगी। अर्थात् परिमाण में SO_4 का आवेश हाइड्रोजन आयन के आवेश से दुगना होगा। इसी से इस आयन पर दो ऋण चिह्न लगाये जाते हैं। फिर $CuSO_4 = Cu^{++} + SO_4^{--}$ में भी SO_4 के आयन पर जितना आवेश है उतना ही ताम्र-आयन पर है। अतः इस आयन को भी Cu^{++} लिखना होगा।

वास्तव में यह प्रश्न संयोजकता (valency) का है। जिस आयन की जितनी संयोजकता होगी उस पर उतने ही ऋण अथवा धन चिह्न लगाने होंगे। इस सम्बंध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि ये आयन द्रव के मध्य में कही भी प्रगट नही होते। विद्युदग्र पर ही जा कर हमें इनके अस्तित्व का पता चलता है।

12·03—**फ़ैरेडे के नियम** (Faraday's Laws)। यद्यपि इस विद्युत्-विश्लेषण का पता कार्लाइल (Carlisle) तथा निकलसन (Nicholson) नामक व्यक्तियो ने 1800 ही मे लगा लिया था तथापि 1833 तक इसके नियमों का पता नही चला था। इस वर्ष फ़ैरेडे ने इस घटना का पूरा अध्ययन किया और निम्नलिखित नियमों को खोज निकाला।

विद्युत्-विश्लेषण में विद्युदग्र पर प्रगट होने वाले पदार्थ का परिमाण—

(i) धारा की प्रबलता का अनुपाती होता है।

(ii) समय का अनुपाती होता है।

(iii) अपने रासायनिक तुल्यांक (chemical epuivalent) का अनुपाती होता है।

रासायनिक तुल्यांक उस मात्रा को कहते है जिसका रासायनिक संयोजन एक ग्राम हाइड्रोजन से हो सके या जो किसी यौगिक (compound) में एक ग्राम हाइड्रोजन का स्थान ग्रहण कर सके। यथा जल (H_2O) में16 ग्राम आक्सिजन 2·016 ग्राम हाइड्रोजन से संयोजित है। सोडियम सल्फ़ेट (Na_2SO_4) और गंधकाम्ल (H_2SO_4) की तुलना करने से हम देखते है कि 23·05 ग्राम सोडियम ने 1·008 ग्राम हाइड्रोजन का स्थान ग्रहण कर लिया है। नीले थोथे $CuSO_4$

में 63·6 ग्राम ताँबे ने 2·016 ग्राम हाइड्रोजन का स्थान लिया है। अतः आक्सिजन, सोडियम और ताम्र के रासायनिक तुल्यांक क्रमशः

$$\frac{16}{2\cdot016}=7\cdot935,\ \frac{23\cdot05}{1\cdot008}=22\cdot87 \text{ और } \frac{63\cdot6}{2\cdot016}=31\cdot54 \text{ हुए।}$$

किसी तत्व का परमाणु हाइड्रोजन के परमाणुओं की जिस संख्या से संयोजित हो सकता है या उनका स्थान ग्रहण कर सकता है, उस संख्या को उस तत्व की संयोजकता (valcncy) कहते हैं। अतः स्पष्ट है कि

$$\text{रासायनिक तुल्यांक} = \frac{\text{पदार्थ का परमाणु भार}}{\text{हाइड्रोजन का परमाणुभार}} \div \text{संयोजकता}$$

उपर्युक्त तृतीय नियम का अर्थ यह है कि जितने समय में जितनी धारा से 1 ग्राम हाइड्रोजन विद्युत्-विश्लेषण के द्वारा निकलेगी, उतने ही समय में और उतनी ही धारा के द्वारा 7·935 ग्राम आक्सिजन, 22·87 ग्राम सोडियम और 31·54 ग्राम ताँबा भी विद्युदग्र पर प्रगट हो जावेंगे।

यदि रासायनिक तुल्यांक को C कहा जाय, और धारा और समय क्रमशः i अम्पीयर तथा t सेकंड हों तो विद्युत्-विश्लेषण के तीनों नियमों को इकट्ठा निम्न प्रकार लिखा जा सकता है:—

विश्लेषण-लब्ध मात्रा $m \propto Cit$

या $m = \mathrm{K}Cit$

$= zit$

यहाँ K विद्युत्-विश्लेषण का एक सार्व नियतांक है। और इसका मान प्रयोग के द्वारा ·00001044 निकला है।

21·04—**विद्युत्-रासायनिक तुल्यांक** (Electro-chemical Equivalent)। K और C के गुणनफल $z=\mathrm{K}C$ का नाम विद्युत्-रासायनिक तुल्यांक (वि० रा० तु०) रख दिया गया है। उपर्युक्त समीकरण से स्पष्ट है कि एक अम्पीयर की धारा एक सेकंड में z ग्राम पदार्थ को मुक्त करती है। अतः वि० रा० तु० की परिभाषा यह दी जा सकती है:—

विद्युत्-विश्लेषण में एक कूलम्ब विद्युत् के द्वारा जितने ग्राम भार किसी तत्व का मुक्त हो उसे उस तत्व का विद्युत्-रासायनिक तुल्यांक कहते हैं।

यह तो स्पष्ट ही है कि यदि किसी एक भी पदार्थ का वि० रा० तु० यथार्थतापूर्वक नाप लिया जाय तो अन्य सब पदार्थों का वि० रा० तु० तुरन्त मालूम हो सकता

है क्योंकि उनके रासायनिक तुल्यांक या परमाणु-भार रसायन विज्ञान के द्वारा ज्ञात है ही। स्वर्गवासी लार्ड रेले (Lord Rayleigh) और श्रीमती सिजविक (Mrs.Sidgwic) ने चाँदी का वि॰रा॰तु॰ बड़ी यथार्थता पूर्वक नाप कर उसका मूल्य $z = ·001118$ ग्राम प्रति कूलम्ब निश्चित किया था। चाँदी का रासायनिक तुल्यांक $\frac{107·93}{1·008} = 107·073$ है। अतः $K = \frac{·001118}{107·073} = ·00001044$ हुआ।

फ़ैरेडे के इस नियम का एक और भी अच्छा रूप है। किसी तत्व का परमाणु-भार जितना हो, उतने ही ग्राम वजन को उस तत्व का ग्राम-परमाणु (gram-atom) कहते हैं। इसी प्रकार किसी यौगिक के ग्राम-अणु (gram molecule) का अर्थ है उतने ग्राम वज़न जितना कि उस यौगिक का अणु-भार (molecular weight) हो और किसी आयन के ग्राम-आयन (gram-ion) का अर्थ है उतने ग्राम वज़न जितना कि उस आयन का भार हो। अणु-भार और आयन-भार क्रमशः अणु और आयन के घटक परमाणुओं के परमाणु-भारों के जोड़ के बराबर होते हैं। उपर्युक्त नियमानुसार चाँदी के ग्राम-परमाणु अर्थात् 107 93 ग्राम चाँदी को मुक्त करने के लिए आवश्यक विद्युत् का परिमाण $\frac{107·93}{·001118} = 96500$ कूलम्ब है। इतना ही विद्युत् प्रत्येक एक-संयोजक (mono-valent) पदार्थ के ग्राम-परमाणु अथवा ग्राम आयन को मुक्त करने के लिये आवश्यक है। द्वि-संयोजक (divalent) पदार्थ के ग्राम-आयन को मुक्त करने के लिए इससे द्विगुण विद्युत् की आवश्यकता होगी। अतः विद्युत्-विश्लेषण के द्वारा किसी एक-संयोजक, द्वि-संयोजक, त्रि-संयोजक, पदार्थ का एक ग्राम-आयन मुक्त करने के लिए क्रमशः 96500, 2×96500, 3×96500, कूलम्ब विद्युत् के प्रवाहित करने की आवश्यकता होगी।

ग्राम आयन को संयोजकता से विभाजित करने पर जो संख्या प्राप्त होती है वह उस आयन का ग्राम-तुल्यांक (gram equivalent) कहलाता है। अतः एक-संयोजक, द्वि-संयोजक, त्रि-संयोजक आदि सब ही प्रकार के आयनों के लिए हम कह सकते है कि विद्युत् विश्लेषण में प्रत्येक पदार्थ के ग्राम-तुल्यांक को मुक्त करने के लिए 96500 कूलम्ब विद्युत् की आवश्यकता होती है।

निम्न तालिका में मुख्य पदार्थों के वि० रा० तु० दिये गये हैं :—

पदार्थ	धन या ऋण	परमाणु भार	संयोजकता	रासायनिक तुल्यांक C	विद्युत् रासायनिक तुल्यांक z (ग्राम प्रति कूलम्ब)
ऐल्यूमिनियम	+	27·1	3	8·96	·00009355
आक्सिजन	—	16·0	2	7·935	·00008285
क्लोरीन	—	35·45	1	35 17	·0003672
चाँदी	+	107·93	1	107·073	·001118
जस्ता	+	65·4	2	32·44	·0003387
ताँबा	+	63·6	1 2	63·09 31·54	·0006587 ·0003293
निकल	+	58·7	2	29·12	·0003040
पोटासियम	+	39·15	1	38·84	·0004055
लोहा	+	55·6	2 3	27·73 18·485	·0002895 ·0001930
सुवर्ण	+	197·2	3	65·21	·0006808
सोडियम	+	23·05	1	22·87	·0002387
हाइड्रोजन	+	1·008	1	1	·0001044

21·05—**विद्युत्-धारा का नाप**। फ़ैरेडे का यह विद्युत्-विश्लेषण सम्बंधी नियम विद्युत्-धारा के नाप के लिये भी काम में आता है। वस्तुतः विद्युत्-धारा का नाप इससे अधिक यथार्थता-पूर्वक अन्य किसी भी उपाय से नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि इस नियम के उपयोग में रासायनिक तुला ही सब से मुख्य उपकरण है। इसके द्वारा वस्तुओं का भार कितनी यथार्थता पूर्वक नापा जा सकता है यह

सब को विदित है। इस तुला ही के द्वारा परमाणु-भार और रासायनिक-तुल्यांक नापे गये हैं और इसी के द्वारा चाँदी का वि० रा० तु० बड़े परिश्रम से लार्ड रेले और श्रीमती सिजविक ने नाप लिया था। उनके इस नाप के आधार पर अब हम धारा के मात्रक की परिभाषा यह दे सकते हैं :—

एक अम्पीयर की धारा वह है जो एक सैकंड में ·001118 ग्राम चाँदी विद्युत् विश्लेषण में मुक्त कर दे।

अतः जिस धारा को नापना हो उसे किसी विद्युत्-विश्लेष्य में से प्रवाहित कराकर किसी नियत समय में उसके द्वारा मुक्त हुए पदार्थ का तौल मालूम करने से ही हमें धारा की प्रबलता ज्ञात हो सकती है।

21·06—**विश्लेषण-धारामापी या वोल्टामीटर** (voltameter)। इस प्रकार धारा के नाप के लिए जिस उपकरण का उपयोग होता है उसे विश्लेषण-धारामापी कहते हैं। इसमें विद्युत्-विश्लेष्य जल या चाँदी अथवा ताँबे का लवण ही बहुधा काम में आता है।
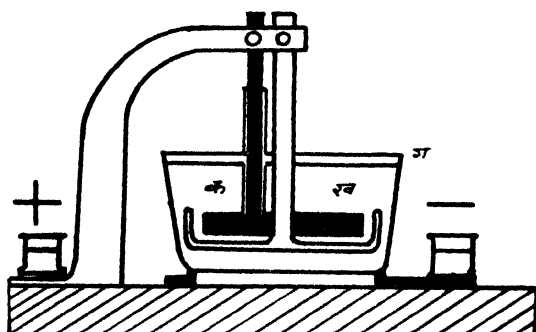
चित्र 21·01

(क) रजत विश्लेषण धारामापी। यह चित्र 21·01 में दिखाया गया है। ऋणाग्र प्लाटिनम का प्याला **ग** है और धनाग्र शुद्ध चाँदी की वृत्ताकार पट्टिका **क ख** है। प्याले में शुद्ध सिलवर-नाइट्रेट ($AgNO_3$) का 10% विलयन भरा जाता है। **क ख** को या तो छन्ने कागज से लपेट देते हैं या उसके नीचे काँच का बर्तन रख दिया जाता है ताकि इसमें से चाँदी का कोई कण प्याले में न गिर पड़े। प्रायः 1·5 अम्पीयर तक की धारा का नाप इस के द्वारा हो सकता है।

(ख) ताम्र विश्लेषण धारामापी । इसमें विद्युत्-विश्लेष्य कापर-सल्फ़ेट ($CuSO_4$) का 15% विलयन होता है और उसमें शुद्ध गंधकाम्ल 5 घन सम० प्रति लिटर के हिसाब से मिला दिया जाता है । ताँबे की दो पट्टिकाएँ आपस में जुडी होती है और यही धनाग्र का कार्य करती हैं । इन धनाग्र-पट्टिकाओं के बीच मे एक तीसरी ताम्र-पट्टिका लटका दी जाती है जो ऋणाग्र का काम करती है । इसके दोनों पृष्ठों पर ताँबा जम जाता है । ऋणाग्र की लम्बाई-चौड़ाई धनाग्र की दोनों पट्टिकाओ की अपेक्षा कम रखना चाहिए और उसके दोनों पृष्ठों का सम्मिलित क्षेत्रफल इतना होना चाहिए कि प्रति 50 वर्ग सम० के लिए धारा की प्रबलता 1 अम्पीयर से अधिक न हो ।

(ग) जल-विश्लेषण धारामापी । चित्र 21·02 मे इसका एक साधारण रूप है । धनाग्र तथा ऋणाग्र प्लाटिनम की पत्तियाँ है जो प्लाटिनम के तारो से जुडी है । विद्युत्-विश्लेष्य प्रायः 25% गधकाम्ल का विलयन है । कोई-कोई गधकाम्ल के स्थान में 15% कास्टिक पोटास (KOH) का विलयन अधिक पसद करते है क्योकि गधकाम्ल के विलयन मे आक्सिजन का कुछ भाग ओज़ोन (ozone) मे परिणत हो जाता है । आक्सिजन तथा हाइड्रोजन दोनो पृथक्-पृथक ब्यूरेटो मे एकत्रित हो जाता है । दोनों ही गैसें कुछ-कुछ जल मे घुल जाती है । अतः इन्हें ब्यूरेट मे एकत्रित करने के पहिले कुछ देर तक धारा को प्रवाहित कर देना चाहिए ताकि सारा जल इन गैसों से संतृप्त हो जाय। गैसों का आयतन नाप कर टेम्परेचर तथा दवाव के लिये संशोधन कर के दोनों गैसों का भार मालूम कर लिया जाता है । वहुधा दोनों गैसो को एक ही ब्यूरेट मे एकत्रित कर लेते है और दोनों के सम्मिलित आयतन के नाप से ही धारा का नाप कर लिया जाता है (चित्र 21·03) ।
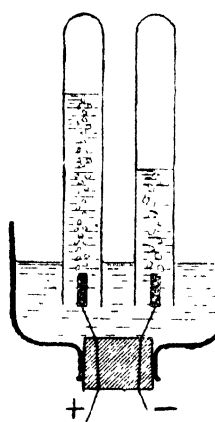
चित्र 21·02

0° टेम्परेचर तथा 76 सम० दबाव पर एक सैकंड में एक अम्पीयर की धारा हाइड्रोजन और आक्सिजन का क्रमशः ·1165 और ·0582 घन सम० आयतन मुक्त करती है । अतः दोनों का सम्मिलित आयतन जो एकत्रित होगा उसका परिमाण ·1747 घन० सम० होगा ।

21·07—विद्युत्-विश्लेषण के उपयोग । विद्युत्-विश्लेषण के मुख्य औद्योगिक उपयोग तीन है ।

(1) **धातु शोधन**—खनिज पदार्थो को पिघला कर या उनके विलयन बना कर उनमें विद्युत्-धारा प्रवाहित करने मे धातु ऋणाग्र पर एकत्रित हो जाती है ।
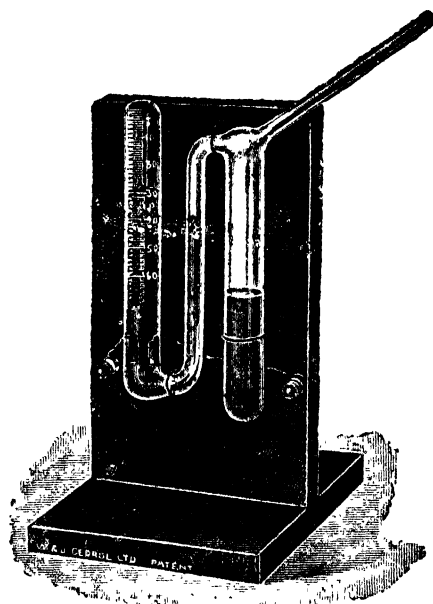
चित्र 21·03

इसी क्रिया से आजकल सोडियम, पोटासियम, एल्यूमिनियम आदि अनेक धातुएँ खनिज से पृथक् की जाती है ।

अशुद्ध धातु इसी क्रिया से शुद्ध भी की जाती है । अशुद्ध ताँबे को धनाग्र बनाकर नीले थोथे का विश्लेषण करने से ऋणाग्र पर शुद्ध ताँबा प्राप्त हो जाता है ।

(2) **विद्युत्-लेपन** (Electro-plating) । विद्युत्-विश्लेषण में ऋणाग्र पर जो ताँबा या चाँदी जमता है उसकी परीक्षा करने पर पता चलता है कि ऋणाग्र के समस्त पृष्ठ पर इन धातुओं की पतली तह जम जाती है और सूख जाने पर यह तह इतनी कड़ी हो जाती है कि आसानी से उतर नहीं सकती । रगड़ कर उसे पालिश भी किया जा सकता है और तब ऋणाग्र चाहे जिस धातु का बना हो उसका पृष्ठ ऐसा हो जाता है कि वह ताँबे या चाँदी का जान पड़ता है । इस प्रकार

बहुत ही पतली तह जमा कर किसी भी धातु की वस्तु का वाह्य रूप बदल दिया जा सकता है। इस क्रिया को विद्युत्-लेपन, विद्युत्-रंजन या मुलम्मा करना कहते हैं। ताँबे आदि सस्ती धातुओं के गहने बना कर उन पर सोने का मुलम्मा करने से उनका वाह्य रूप-रंग बिलकुल सोने का बन जाता है और बहुत काल तक वह रूप स्थायी भी रहता है। लोहे की वस्तुओं पर निकल का मुलम्मा कर देने से देखने में भी वे सुन्दर हो जाती हैं और उन पर ज़ंग भी लगने का डर नहीं रहता। इसी प्रकार आजकल क्रोमियम के मुलम्मे का भी बहुत प्रचार हो गया है जिससे न केवल लोहे की वस्तु चाँदी के समान सुन्दर हो जाती है किन्तु उसका पृष्ठ इतना कड़ा भी हो जाता है कि वह आसानी से घिसता भी नहीं।

मुलम्मा करने की क्रिया बड़ी सरल है। जिस वस्तु पर मुलम्मा करना हो उसे खूब साफ़ करके तार द्वारा विद्युत्-विश्लेष्य में लटका दिया जाता है। इस वस्तु को धारा का ऋणाग्र बना देते हैं। धनाग्र उस धातु का होता है जिसका मुलम्मा वस्तु पर करना हो। विद्युत्-विश्लेष्य उसी धातु के किसी उपयुक्त लवण का विलयन होता है। धारा को नाप कर कम या अधिक देर तक प्रवाहित
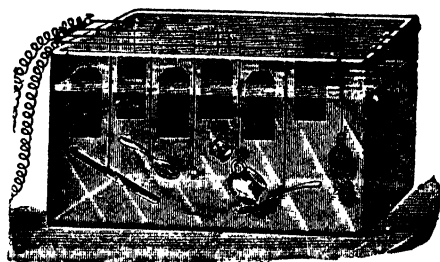
चित्र 21·04

करने से धातु की इच्छित मात्रा वस्तु पर चढ़ाई जा सकती है। चित्र 21·04 में यह क्रिया स्पष्ट समझ में आ जायगी। भिन्न-भिन्न धातुओं के मुलम्मे के लिए आवश्यक लवण नीचे लिखे जाते हैं—

ताँबा—नीला थोथा (कापर सल्फ़ेट $CuSO_4$)

चाँदी—चाँदी और पोटासियम का डबल साइनाइड $KAg(CN)_2$

सुवर्ण—सुवर्ण और पोटासियम का डबल साइनाइड $KAu(CN)_2$

निकल—निकल और अमोनियम का सल्फेट

विद्युत्-लेपन की क्रिया में अब बड़ी उन्नति हो गई है और उपर्युक्त मूल बातों के अतिरिक्त और भी अनेक बातों का इस सम्बंध में आविष्कार हो गया है जिससे अब

मुलम्मा बड़ा सुन्दर, बड़ा स्थायी, इच्छानुसार रंग और चमक वाला किया जा सकता है। इन सब बातों का वर्णन इस पुस्तक में करना असम्भव है।

(3) **विद्युत्-मुद्रण** (Electro-typing)। इस क्रिया के द्वारा खुदाई के काम की नकल की जा सकती है। सिक्कों पर जो चित्र या अक्षर बने होते हैं, धातु की वस्तुओं पर कारीगरों के द्वारा किया हुआ नक्काशी का काम और तस्वीरें छापने के लिए जो ब्लाक तैयार किये जाते हैं, उन सब की हू-बहू नकल इस क्रिया के द्वारा आसानी से हो सकती है। मोम या प्लास्टर आफ पैरिस का पहिले एक सांचा तैयार किया जाता है जिस पर चित्र, बेल-बूटे या अक्षर उलटे उभर आते हैं। इसके पृष्ठ पर खूब बारीक कार्बन या काँसे का चूर्ण लगा देते हैं जिससे यह पृष्ठ विद्युत्-धारा के लिए चालक बन जाता है। तब इसे विद्युत्-विश्लेषण के पात्र में ऋणाग्र बना कर लटका दिया जाता है और जिस प्रकार मुलम्मा किया जाता है ठीक उसी प्रकार इस सांचे के पृष्ठ पर भी इच्छानुसार ताँबा, चाँदी, सोना, लोहा, क्रोमियम आदि धातुएँ जमा ली जाती हैं। काफी मोटाई जम जाने पर बाहर निकाल कर साचे से अलग कर देते हैं। छापाखाने वाले भी इस क्रिया का बहुत उपयोग करते हैं।

21·08—**ग्रोटस का सिद्धान्त** (Grotthus's Thoery)। इस परिच्छेद के प्रारम्भ में यह कहा गया था कि विद्युत्-विश्लेषण में विद्युत्-विश्लेष्य अणु के दो टुकड़े हो जाते है—एक धन-आयन जो ऋणाग्र पर प्रगट होता है और दूसरा ऋण-आयन जो धनाग्र पर प्रगट होता है। यह बात केवल प्रयोगात्मक दृष्टि से कही गई थी, सैद्धान्तिक दृष्टि से नही। इसमें तो सन्देह नही कि विद्युत्-विश्लेष्य अणु दो भागों में विभक्त होता है क्योंकि यह हम प्रत्यक्ष ही देखते हैं। किन्तु अब हमें विचार करना है कि यह विभाजन कब होता है, कैसे होता है और कहाँ होता है तथा विभक्त अणु के टुकड़े विद्युदग्रों पर ही क्यों प्रगट होते है।
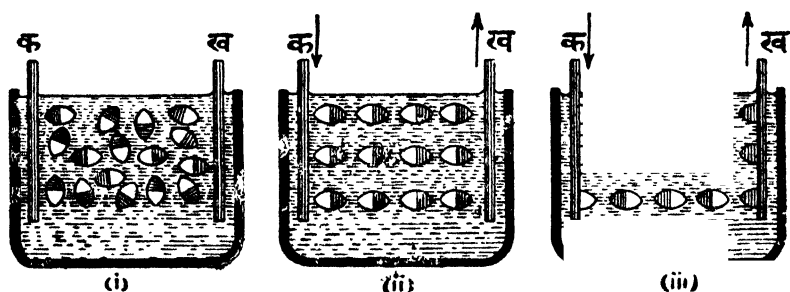
चित्र 21·05

इस सम्बंध में सबसे पहिला सिद्धान्त ग्रोटस (Grotthus) ने 1806

मे स्थिर किया था। चित्र 21·05 में इस सिद्धान्त का रहस्य समझाया गया है। प्रत्येक दीर्घवृत्त विद्युत् -विश्लेष्य पदार्थ का अणु है। इस अणु के दो भाग, एक धनाविष्ट धन-आयन, तथा दूसरा ऋणाविष्ट ऋण-आयन जुड़े हुए दिखलाये गये हैं। जब तक **क ख** पट्टिकाओं का संबंध सैल से नहीं होता तब तक ये अणु अव्यवस्थित अवस्था में रहते हैं (चित्र i) अर्थात् इन के धन या ऋण भाग किसी दिशा विशेष में स्थित नहीं होते। किन्तु विद्युदग्रों को सैल से जोड़ते ही वैद्युत क्षेत्र इन्हें घुमाकर सुव्यवस्थित कर देता है (चित्र ii)। अब ये सब अणु इस प्रकार स्थित हो जाते हैं कि प्रत्येक अणु का धन-भाग ऋणाग्र की ओर हो जाता है और ऋण-भाग धनाग्र की ओर। इसके बाद यदि वैद्युत बल काफ़ी हो तो पंक्ति के प्रत्येक अणु के दो भाग हो जाते हैं। तब ऋणाग्र के समीप वाले अणु का धन-आयन ऋणाग्र पर चला जाता है। इसी अणु का ऋण-आयन समीपवर्ती दूसरे अणु के धन-आयन से मिलकर एक नवीन अणु बन जाता है और दूसरे अणु का ऋण आयन तीसरे अणु के धन-आयन से मिल जाता है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर होकर अंत में धनाग्र के निकटवर्ती अणु का ऋण-आयन धनाग्र पर चला जाता है (चित्र iii)। इसके बाद ये सब अणु फिर घूम कर (चित्र ii) के समान हो जाते है और अब फिर इन का विभाजन और पुनः संगठन होकर विद्युदग्रों पर और आयन प्रगट हो जाते हैं। इस सिद्धान्त के द्वारा यह भी समझ में आ जाता है कि आयन विद्युदग्रों पर ही क्यों प्रगट होते हैं। प्रत्येक आयन एक निश्चित मात्रा धन या ऋण-विद्युत् की विद्युदग्र पर पहुँचाता है। अतः विद्युत् की मात्रा का आयनों की संख्या से संबंध प्रगट ही है।

किन्तु इस सिद्धान्त में एक बड़ा दोष है। इसके अनुसार अणुओं को तोड़ने का कार्य विद्युत्-धारा को करना पड़ता है। रासायनिक आकषर्ण के विरुद्ध वैद्युत बल लगा कर अणु के दोनों भागों को पृथक् करने में कुछ ऊर्जा की आवश्यकता है। यह वैद्युत बल भी उस रासायनिक आकषर्ण से अधिक होना चाहिए। अतः जब तक विद्युदग्रों का विभवान्तर किसी नियत परिमाण से अधिक न हो जाय तब तक विद्युत्-विश्लेषण नहीं हो सकता। किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव इस परिणाम के विपरीत है। विभवान्तर कितना ही कम क्यों न हो, ताम्र पट्टिकाओं के विद्युदग्र बना कर नीले थोथे का विद्युत्-विश्लेषण थोड़े वि० वा० ब० के द्वारा भी बड़ी आसानी से किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त दोनों विद्युत्दग्रों के बीच में कोई भी दो विन्दुओं के बीच का विभवान्तर नाप कर यह प्रमाणित किया जा सकता है कि ओह्म का नियम विद्युत्-विश्लेष्य द्रव के लिए बिलकुल ठीक है। अतः यह भी सिद्ध है कि विद्युत्-धारा की समस्त ऊर्जा प्रतिरोध के विरुद्ध ही खर्च होती है और उससे जूल के नियमा-

नुसार ऊष्मा भी उत्पन्न होती है। फलतः धारा की ऊर्जा रासायनिक खर्च नही होती।

21·09—**आयनीकरण सिद्धान्त** (Ionisation Theory)। इसके अतिरिक्त विलयनों के वाष्पदाब (vapour pressure) रसाकषर्णदाब (osmtic pressure) तथा हिमांक (freezing point) के अध्ययन से यह भी प्रमाणित हो चुका है कि विलीन द्रव के अणुओं की भौतिक अवस्था विलयन में कुछ दूसरी ही हो जाती है और अणुओं के गति-सिद्धान्त (kinetic theory) के अनुसार विद्युत्-विश्लेष्य विलयनो मे खडित अणुओं की संख्या बहुत अधिक होती है। इससे यह परिणाम निकाला गया है कि विलयन की क्रिया ही में अणुओं के टुकडे हो जाते है। इस विभाजन में वैद्युत बल की आवश्यकता नही होती। द्रव्य को जल आदि विलायकों में घोलने ही से यह विभाजन हो जाता है। इन अणु-खडों की भौतिक अवस्था की विलक्षणता यह है कि ये भाग आविष्ट होते हैं। इनका नाम आयन (ion) रख दिया गया है। एक आयन धन-विद्युन्मय और दूसरा ऋण-विद्युन्मय होता है। इस विभाजन का नाम आयनीकरण (ionisation) रख दिया गया है।

इस आयनीकरण का परिमाण विलयन की सांद्रता (strength) पर निर्भर है। तनु विलयन मे विभाजन अधिक होता है और सांद्र विलयन मे कम। ऐसा अन्दाज़ा किया जाता है कि जल के अत्यन्त तनु विलयन में विद्युत्-विश्लेष्य पदार्थ के प्रायः सभी अणुओ का आयनीकरण हो जाता है।

इस सबध में यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि इस आयनीकरण का कारण क्या है। रासायनिक आकर्षण का निराकरण करके अणुओं को विभक्त करने का बल कहाँ से आता है। इस का समाधान अणु-गति-सिद्धान्त से अच्छी तरह हो जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार विलयन में सब अणु बड़े वेग से इधर-उधर दौड़ते रहते हैं। इस दोड़-धूप में बहुत से अणुओं की परस्पर टक्कर भी हो जाती है और इस टक्कर की चोट से अणु टूट भी जाते है। अतः विलयन में पूरे अणुओं के अतिरिक्त बहुत से टुकड़े (आयन) भी दौड़ते रहते हैं। कभी-कभी दो आयन मिल कर पुनः पूरा अणु भी बन जाता है। इस प्रकार प्रति सैंकड बहुत से अणु तो टूट-टूट कर आयनों को उत्पन्न करते रहते है और बहुत से आयन मिल-मिल कर पुनः अणुओं को उत्पन्न करते रहते हैं। जब इन दोनों क्रियाओं का सन्तुलन हो जाता है तब अणुओं और आयनों की संख्या स्थिर हो जाती है। अधिक तनु विलयन में एक बार विभक्त आयनों को पुनः मिल जाने का अवसर कम मिलता है। अतः ऐसे विलयनों में आयनीकरण भी अधिक हो जाता है। यह क्रिया शुद्ध जल में भी होती रहती है किन्तु वहाँ जल के अणु इतने पास-पास रहते हैं कि उनकी अवस्था अत्यधिक सांद्र विलयन

के अणुओं के समान समझना चाहिए। आयनों को पुनः मिल कर अणु बनाने का इतना अधिक अवसर मिलता है कि कभी भी आयनों की संख्या अधिक नही हो पाती। तब भी अन्दाजा है कि प्रति ग्राम जल में से प्रायः 10^{-9} ग्राम अणुओं का आयनीकरण शुद्ध जल मे भी हो जाता है।

आयनीकरण तथा रासायनिक विच्छेदन में बड़ा भेद है। रासायनिक विच्छेदन के द्वारा जल के अणु से हाइड्रोजन तथा आक्सिजन के अनाविष्ट परमाणु प्राप्त होगे, अमोनियम क्लोराइड (NH_4Cl) से अमोनिया NH_3 और हाइड्रोक्लोरिकाम्ल (HCl) प्राप्त होंगे। किन्तु आयनीकरण के द्वारा इन से क्रमशः H^+ तथा OH^- और NH_4^+ तथा Cl^- आयन प्राप्त होंगे।

21·10—**आयन-गति सिद्धान्त**। विलयन में इन आविष्ट आयनों का अस्तित्व मानकर आर्हीनियस (Arrhenius) ने 1884 मे विद्युत्-विश्लेषण का जो सिद्धान्त स्थिर किया था उसमे ग्रोटस के सिद्धान्त वाला दोष नही है और अब भी यही सिद्धान्त मान्य है। इसके अनुसार विद्युदग्रों के बीच में विभवान्तर उपस्थित करने का परिणाम यह होता है कि जो आयन अव्यवस्थित रूप से सभी दिशाओं में दौडते थे वे अब वैद्युत बल के कारण खास दिशा में चलने लगते हैं। धन-आयन विद्युत-धारा की दिशा में चलता है और अंत में ऋणाग्र पर पहुँच कर अपना विद्युत् उसे दे देता है। इससे उसकी विलक्षण भौतिक अवस्था का अंत हो जाता है और वह साधारण रासायनिक परमाणु का रूप धारण कर लेता है। इस ही प्रकार ऋण-आयन धारा से विपरीत दिशा में चल कर धनाग्र पर पहुँचता है। इन दोनों प्रकार के आयनों की गति के कारण विद्युत् की धारा प्रवाहित होती है। धारा का कुछ भाग धन-आयनों के सवहन का फल है और कुछ भाग ऋण-आयनों के विपरीत दैशिक संवहन का फल है। जो कुछ ऊर्जा खर्च होती है वह आयनों की उत्पत्ति में खर्च नही होती। उसका व्यय केवल उन्हें विद्युदग्रों की ओर प्रवाहित करने ही में होता है।

फ़ैरेडे के नियम से यह भी प्रगट है कि धन-आयन जितना धन-विद्युत् ऋणाग्र पर पहुँचाते हैं, ऋण-आयन उतना ही ऋण-विद्युत् धनाग्र पर पहुँचाते हैं। अतः हम यह समझ सकते हैं कि विद्युत्-धारा का आधा भाग धन-आयनों के द्वारा प्रवाहित होता है और आधा ऋण-आयनों के द्वारा।

इसके अतिरिक्त हमे यह भी मानना पडेगा कि सब एक-संयोजक आयनों पर विद्युत् की मात्रा बिलकुल बराबर रहती है। द्वि-संयोजक आयनों पर यह मात्रा दुगनी और त्रि-संयोजक आयनों पर तिगनी होती है। इस हिसाब से प्रत्येक एक-संयोजक आयन के विद्युत् की मात्रा का परिकलन निम्न प्रकार किया जा सकता है :—

एक ग्राम हाइड्रोजन आयन मुक्त करने के लिए आवश्यक विद्युत् = 96495 कूलम्ब होता है। यदि एक ग्राम हाइड्रोजन के परमाणुओं की संख्या N हो तथा प्रत्येक आयन पर आवेश की मात्रा e हो तो $Ne = 96495$ कूलम्ब होगा। तथा आधुनिक खोज से यह भी पता लग चुका है कि

हाइड्रोजन परमाणु का भार $= 1{\cdot}66 \times 10^{-24}$ ग्राम

अत: $N \times 1{\cdot}66 \times 10^{-24} = 1$ ग्राम

$$\therefore \quad N = \frac{1}{1{\cdot}66 \times 10^{-24}} = 6{\cdot}06 \times 10^{23}$$

$$\therefore \quad e = 96495 \times 1{\cdot}66 \times 10^{-24} = 1{\cdot}60 \times 10^{-19} \text{ कूलम्ब}$$

आगे के परिच्छेदों में हम देखेंगे कि यही एक इलैक्ट्रान के आवेश की मात्रा भी है। अत: हम कह सकते हैं कि एक-संयोजक ऋण-आयन वह परमाणु या परमाणु समूह है कि जिस पर एक इलैक्ट्रान चिपक गया है और एक-संयोजक धन-आयन वह है जिस मे से एक इलैक्ट्रान कम हो गया है। द्वि-संयोजक आयनों में दो इलैक्ट्रानों की वृद्धि या कमी होती है।

21·11–**आयनों का आपेक्षिक वेग** (Relative Velocity of Ions)। उपर्युक्त सिद्धान्त में इन आयनों के वेग के सम्बंध में कुछ भी नहीं कहा गया। इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं हुई। किन्तु इस सम्बन्ध में कुछ ऐसी बातें भी अब मालूम हुई हैं कि जिन के लिए आयनों का वेग जानना बड़ा ज़रूरी है। बिना इन बातों
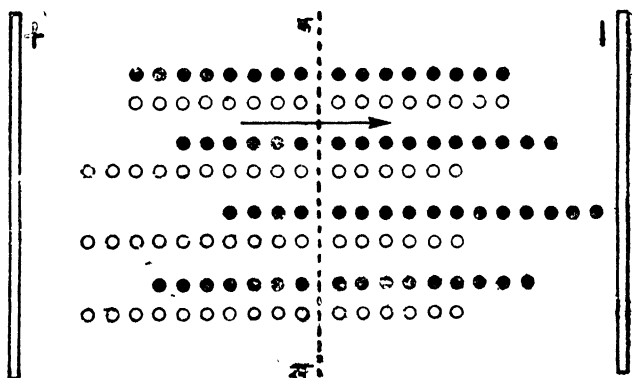
चित्र 21·06

को देखे ऐसा विचार होता है कि शायद धन तथा ऋण आयनों का वेग बराबर ही होता होगा क्योंकि दोनों बराबर संख्या में ही विद्युदग्रों पर प्रगट होते हैं।

किन्तु बात ऐसी नहीं है। चित्र 21·06 से स्पष्ट हो जायगा कि धन तथा ऋण

आयनों के वेग में चाहे जितनी विभिन्नता क्यों न हो, विद्युदग्रों पर मुक्त दोनों प्रकार के आयनों की संख्या बराबर ही रहेगी। इस चित्र में काली बिन्दियां धन आयनों की द्योतक हैं और श्वेत बिन्दियाँ ऋण आयनों की। प्रथम पंक्ति में गति उत्पन्न होने से पहिले की अवस्था बतलाई गई है। छिन्न रेखा **कख** विद्युदग्रों के मध्य में खींची गई है। इस रेखा के दोनों ओर आठ-आठ अणु हैं अर्थात् प्रत्येक प्रकार के आठ-आठ आयन हैं। दूसरी पंक्ति में इन्हीं आयनों की अवस्था गति उत्पन्न होने के कुछ देर बाद की दिखाई गई है। धन-आयन तथा ऋण-आयन दोनों ही का वेग बराबर समझा गया है। अतः दो धन-आयन छिन्न रेखा को पार कर दाहिनी ओर चले गये हैं और दो ही ऋण-आयन छिन्न रेखा के बाईं ओर निकल गये हैं। इस प्रकार विद्युदग्रो के निकट चार-चार आयन मुक्त हुए हैं। दोनों प्रकार के छै-छै आयन छिन्न रेखा के दोनों ओर बच रहे हैं। एक धन-आयन तथा एक ऋण-आयन का मिलकर एक अणु होता है। अतः यह भी कह सकते हैं कि दोनो ओर छः-छः अणु बच रहे हैं। तीसरी पंक्ति में धन-आयनों का वेग ऋण-आयनों के वेग से दो गुणा माना गया है। छिन्न-रेखा को चार धन-आयनो ने तथा दो ऋण-आयनो ने पार किया है। प्रत्येक विद्युदग्र पर मुक्त आयनो की संख्या अब 6 है। चौथी पंक्ति में यह समझा गया है कि ऋण-आयन का वेग धन आयन के वेग से दो गुणा है। अतः इसमें दो ऋण-आयन छिन्न-रेखा को पार कर गये हैं किन्तु धन-आयन एक ही इस रेखा को पार कर सका है। मुक्त धन-आयनों की संख्या अब तीन है और ऋण आयनों की संख्या भी तीन ही है।

अतः इन आयनों के वेग में जो चाहे सम्बध हो, यह अनिवार्य है कि मुक्त धन-आयनो की संख्या मुक्त ऋण-आयनों की संख्या के बराबर होगी। तब भी वेगों की विभिन्नता के कारण चित्र 21·06 की पंक्तियों में कुछ भेद हो गया है। द्वितीय पंक्ति में छिन्न-रेखा के दोनों ओर जो अवशिष्ट अणु हैं उनकी संख्या बराबर है। तृतीय पंक्ति में अवशिष्ट अणुओं की संख्या छिन्न-रेखा से धनाग्र की ओर 4 तथा दूसरी ओर 6 हो गई है। चतुर्थ पंक्ति में इन्हीं अवशिष्ट अणुओं की संख्या धनाग्र की ओर 7 है और दूसरी ओर 6 हो गई है। इसी बात को दूसरी प्रकार हम यों कह सकते हैं कि धनाग्र की तरफ़ अणुओं की कमी इन पंक्तियों में क्रमशः 2,4 और 1 हुई है। किन्तु ऋणाग्र की ओर के भाग में अणुओं की कमी प्रत्येक पंक्ति में 2 हुई है। प्रत्येक पंक्ति में

$$\frac{\text{धनाग्र के निकट अणुओं की हानि}}{\text{ऋणाग्र के निकट अणुओं की हानि}} = \frac{\text{धन-आयन का वेग}}{\text{ऋण-आयन का वेग}} = \frac{v}{u}$$

इससे ज्ञात हुआ है कि यदि हम किसी विद्युत्-विश्लेष्य में प्लाटिनम के विद्युदग्र

लगाकर दोनों विद्युदग्रों के निकट विलयन की सांद्रता को नापें तो हमें धन तथा ऋण आयनों के वेग का अनुपात ज्ञात हो सकता है। यदि विश्लेषण के बाद भी दोनों ओर विलयन की सांद्रता बराबर ही निकले तब तो यह समझना होगा कि दोनों प्रकार के आयनों का वेग बराबर ही है। किन्तु यदि धनाग्र की ओर का विलयन कम सांद्र निकले तो अवश्य ही समझना होगा कि धन-आयनों का वेग अधिक है।

इस प्रयोग को करने की एक सरल विधि यह है। काच के पात्र में तांबे की दो पट्टिकाएं इस प्रकार रखिये कि उनके पृष्ठ क्षैतिज रहें। एक पात्र के पेंदे पर रखी हो और दूसरी उससे समान्तर कुछ ऊँची रहे। पात्र में नीले थोथे का अम्लीकृत विलयन भर दीजिये जिसमें पट्टिकाएं डूबी रहें। ऊपर की पट्टिका को ऋणाग्र बनाइये और नीचे वाली को धनाग्र। अर्थात् नीचे से ऊपर की ओर विद्युत्-धारा प्रवाहित करिये। धारा की प्रबलता इतनी अधिक नहीं होना चाहिए कि गैस के बुलबुले निकल कर सारे द्रव को हिला दें। थोड़ी देर तक धारा चलने के बाद आप देखेंगे कि ऊपर की पट्टिका के निकट विलयन का रंग फीका होने लगेगा और धीरे-धीरे वह प्रायः वर्णहीन हो जायगा। नीचे के विलयन का रंग पहिले के समान ही गहरा नीला रहेगा। यदि धारा बराबर चलती रहे तो ऊपर वाले वर्णहीन द्रव तथा नीचे के नीले द्रव का पार्थक्य-तल धीरे-धीरे नीचे उतरता जायगा।

यदि विद्युत्-धारा की दिशा ऊपर से नीचे की ओर हो तो यह बात न दिखलाई देगी क्योंकि तब नीला द्रव ऊपर रहेगा। किन्तु नीला द्रव भारी होने के कारण नीचे आकर वर्णहीन द्रव से मिल जायगा।

ऊपर की ओर विलयन का रंग उड़ जाने का कारण यही है कि उसमें से नीले थोथे के अणुओं की संख्या घट जाती है। यदि समय-समय पर दोनों पट्टिकाओं के समीप से थोड़ा-थोड़ा द्रव निकाल कर उसकी सान्द्रता नाप ली जाय तो उपर्युक्त समीकरण के द्वारा ताम्र-आयन Cu^{++} और SO_4^{--} आयन के वेगों का अनुपात मालूम हो सकता है। यथार्थतापूर्ण नाप करने के लिए विद्युत्-विश्लेष्य दो बरतनों में भर दिया जाता है और एक कांच की नली में भी वही विलयन भर कर उसके द्वारा दोनों बरतनों के विलयनों में विद्युत्-धारा के लिए चालक मार्ग प्रस्तुत कर दिया जाता है। धनाग्र एक बरतन में रखा जाता है और ऋणाग्र दूसरे बरतन में। निश्चित समय तक धारा चलाने के बाद दोनों बरतनों के विलयनों की सांद्रता नाप ली जाती है। इस व्यवस्था में दोनों विद्युदग्रों के निकट के द्रव परस्पर मिल कर सांद्रता नापने में कठिनाई नहीं उपस्थित कर सकते।

21·12—आयनों का निरपेक्ष प्रवाह-वेग (Absolute Velocity of Ions)। पिछले प्रकरण की रीति से धन तथा ऋण आयनों का आपेक्षिक वेग तो

ज्ञात हो सकता है किन्तु यह नही मालूम हो सकता कि वास्तव में प्रत्येक आयन का वेग कितना है। किन्तु कोहलराश (Kohlraush)ने निरपेक्ष वेग नापने की विधि भी 1879 में मालूम कर ली थी।

इस सम्बंध में यह स्मरण रखना चाहिए कि आयनों का उपर्युक्त वेग u अथवा v उनका पूरा वेग नहीं है। अणु-गति-सिद्धान्त के अनुसार विलयन में ये आयन बड़े वेग से इधर-उधर दौड़ते रहते हैं। जिस प्रकार गैस के अणुओं में कोई इधर दौड़ता है और कोई उधर और उनकी टक्करों के कारण पात्र की दीवार पर दाब पड़ता है उसी प्रकार और प्रायः उतने ही वेग से ये आयन भी कोई इधर और कोई उधर दौड़ते रहते हैं। यही क्रिया रसाकर्षण दाब(osmotic pressure)का कारण है। इस वेग का परिमाण हाइड्रोजन आयनों के लिए $1 \cdot 84 \times 10^5$ सम० प्रति सैकंड होता है। जब विद्युदग्रों को सैल से जोड़ कर उनके बीच में विभवान्तर उत्पन्न कर दिया जाता है तो इस ताप-गतिक स्वतंत्र वेग के अतिरिक्त वैद्युत बल भी धन-आयनों को एक ओर तथा ऋण-आयनों को दूसरी ओर चलाता है। आयनों के इस वैद्युत प्रवाह का जो वेग होगा वही ऊपर u तथा v से व्यक्त किया गया है। इसे हम प्रवाह-वेग कह सकते हैं। इस का परिमाण भी अपेक्षाकृत बहुत कम (यानी प्रायः दस करोड गुणा काम) होता है। H^+ आयनों का प्रवाह वेग प्रायः $3 \cdot 25 \times 10^{-3}$ सम० प्रति सैकंड होता है।

कोहलराश की विधि में आयन का वेग परोक्ष रीति से मालूम होता है। किन्तु कई विद्वानों ने ऐसे भी प्रयोग किये है जिनके द्वारा हम आयन की गति को प्रत्यक्ष देख सकते है और घड़ी के द्वारा उस का वेग नाप सकते है। इन प्रयोगों के परिणाम में तथा कोहलराश विधि के परिणाम में कुछ अधिक अन्तर नहीं पाया गया है।

परिच्छेद 22

प्रेरित धारा

(Induced Current)

22·01—**फ़ैरैडे का आविष्कार** (Faraday's Discovery)। सन् 1831 में फ़ैरेडे को विद्युत्धारा उत्पन्न करने की एक नवीन युक्ति का पता चला। अब तक सैल की रासायनिक क्रिया के बिना अथवा वैद्युत मशीन की सहायता के बिना विद्युत्-धारा उत्पन्न करना संभव नही समझा जाता था। किन्तु इस वर्ष फ़ैरेडे ने देखा कि चुम्बक को तार की कुंडली के निकट हिलाने से भी उस कुंडली में धारा प्रवाहित हो जाती है। इस आश्चर्यजनक आविष्कार का आधुनिक सभ्यता पर कितना प्रभाव पड़ा है यह आगे चल कर मालूम होगा। इस आविष्कार का

वास्तविक स्वरूप समझने के लिए जो मूल प्रयोग फ़ैरेडे ने किये थे वे निम्नलिखित है :—
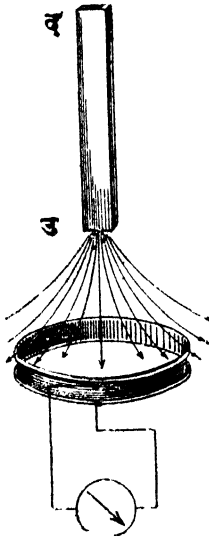
चित्र 22·01

(1) तांबे के विलगित तार की कुंडली के दोनों छोर एक सुग्राही धारामापी से जुड़े है (चित्र 22·01)। एक दंड चुम्बक का उत्तर-ध्रुव सहसा कुंडली में प्रविष्ट कराते ही धारामापी की सुई ज़ोर से घूम जाती है। इससे ज्ञात होता है कि चुम्बक-ध्रुव के प्रवेश से कुंडली में धारा प्रवाहित होने लगती है। किन्तु यह धारा क्षणिक ही होती है। कुंडली में घुस कर चुम्बक जब निश्चल हो जाता है तब धारा का प्रवाह भी बंद हो जाता है और धारामापी की सुई भी अपने पूर्व स्थान पर लौट आती है। जितनी देर तक चुम्बक वहाँ निश्चल पड़ा रहे, उतनी देर तक धारा का भी कोई चिह्न नहीं दिखाई देता। किन्तु यदि चुम्बक को पुनः खींच कर कुंडली से बाहर

निकाल लिया जाय तो फिर धारामापी की सुई घूम जाती है। किन्तु इस बार पहिले से विपरीत दिशा में।

यदि उत्तर-ध्रुव के स्थान में चुम्बक का दक्षिण-ध्रुव कुंडली में घुसाया जाय तब भी विद्युत्-धारा उत्पन्न होती है किन्तु उसकी दिशा उलटी होती है। अर्थात् उत्तर-ध्रुव को बाहर खींचते समय जिस दिशा में धारा प्रवाहित हुई थी ठीक उसी दिशा में दक्षिण-ध्रुव को अन्दर घुमाते समय धारा का प्रवाह होता है।

यदि चुम्बक को स्थिर रखकर कुंडली ही को चुम्बक की तरफ जल्दी से ले जावें तब भी उसमें ठीक उसी प्रकार की धारा उत्पन्न हो जाती है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नही क्योंकि दोनों दशाओं में चुम्बक तथा कुंडली के बीच की दूरी में परिवर्तन एक ही प्रकार का होता है।

इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखने की बात है कि चुम्बक की अथवा कुंडली की गति जितनी ही ज़ोर की होगी उतनी ही प्रबल विद्युत्-धारा भी उत्पन्न होगी। यदि चुम्बक बहुत ही धीरे-धीरे कुंडली मे प्रवेश करे तो धारामापी की सुई पर कुछ भी असर होता हुआ दिखाई न देगा।
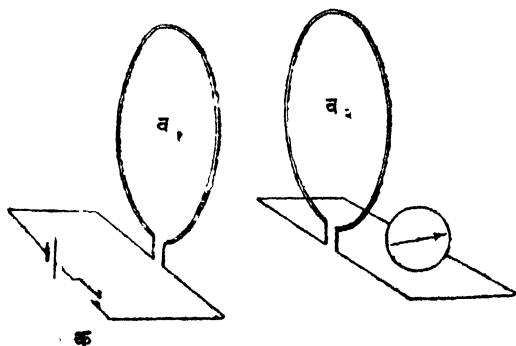
चित्र 22·02

(2) उपर्युक्त प्रयोग में चुम्बक के स्थान में एक कुंडली **व**$_1$ (चित्र 22·02) लीजिये। इसमें सैल के द्वारा धारा प्रवाहित करिये। अब इस कुंडली को वेग से हटा कर दूसरी कुंडलो **व**$_2$ के निकट ले आइये। इस क्रिया से भी **व**$_2$ में धारा उत्पन्न हो जायगी। इसी प्रकार **व**$_1$को **व**$_2$ से दूर हटाते समय भी **व**$_2$ में धारा उत्पन्न होगी किन्तु विपरीत दिशा में।

इस प्रयोग में तथा पहिले प्रयोग में वास्तविक भेद कुछ भी नहीं है क्योंकि जब **व**$_1$ में धारा प्रवाहति होती है तब वह भी तो चुम्बक ही बन जाती है। उसका भी एक पार्श्व उत्तर-ध्रुव और एक दक्षिण-ध्रुव बन जाता है। अतः इस विद्युत्-चुम्बक

को **व**$_2$ के निकट लाने में तथा लोहे के स्थायी चुम्बक को लाने में कुछ भी अन्तर नहीं हो सकता ।

(3) **व**$_1$ और **व**$_2$ दोनों कुंडलियों को पास-पास रख दीजिये और **व**$_1$ कुंडली में एक कुंजी भी जोड़ दीजिये ताकि उसमें विद्युत्-धारा तभी प्रवाहित हो जब कुंजी को दबाया जाय । आप देखेंगे कि कुंजी को दबाते ही **व**$_2$ मे ठीक उसी प्रकार की धारा उत्पन्न हो जायगी जैसी कि **व**$_1$ को दूर से **व**$_2$ के निकट लाने पर हुई थी । **व**$_2$ में यह धारा क्षण भर ही रहेगी और जब तक कुंजी दबी रहेगी तब तक यद्यपि **व**$_1$ मे कितनी ही प्रबल धारा क्यो न हो, **व**$_2$ में धारा का कोई चिह्न नही दिखलाई देगा । किन्तु तब यदि कुंजी पर का दबाव हटा दिया जाय और **व**$_1$ की धारा बन्द कर दी जाय, तो पुनः **व**$_2$ मे पहिले से विपरीत दिशा मे धारा उत्पन्न हो जायगी ।

22·02—**कुछ पारिभाषिक शब्द** । उपर्युक्त तीनों ही प्रयोगो मे कुंडली में विद्युत्-धारा की उत्पत्ति का कारण यह है कि जिस स्थान पर इस कुंडली का तार स्थित है वहाँ चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता बदलती है । यह चुम्बकीय क्षेत्र प्रयोग (1) मे लोहे के चुम्बक के कारण है और प्रयोग (2) तथा (3) में कुडली में धारा के प्रवाह के कारण है । जब तक इस क्षेत्र की तीव्रता में परिवर्तन नही होता तब तक **व**$_2$ मे कोई धारा उत्पन्न नही होती किन्तु उसमे परिवर्तन होते ही धारा भी उत्पन्न हो जाती है । क्षेत्र की तीव्रता पहिले तथा दूसरे प्रयोग मे दूरी को बदलने से बदलती है और तीसरे प्रयोग में धारा के प्रारम्भ होने तथा समाप्त होने के कारण बदलती है । किन्तु वास्तव मे बात वही है । किसी न किसी प्रकार चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता में परिवर्तन होता है । इस परिवर्तन के कारण जो विद्युत्-धारा किसी कुडली में उत्पन्न होती है उसे प्रेरित (induced) धारा कहते है । इस क्रिया का नाम विद्युत्-चुम्बकीय प्रेरण (electromagnetic induction) रख दिया गया है । दूसरे तथा तीसरे प्रयोग में दो कुंडलियों का उपयोग हुआ है । एक में सैल के द्वारा धारा प्रवाहित की गई है और दूसरी में प्रेरित धारा का प्रवाह होता है । पहिली को प्राथमिक कुंडली (primary coil) कहते हैं और दूसरी को द्वैतीयिक कुंडली (secondary coil)। इसी दृष्टि से पहिली कुडली मे प्रवाहित होने वाली धारा को प्राथमिक धारा तथा दूसरी में प्रवाहित होने वाली धारा को द्वैतीयिक धारा कहते हैं ।

22·03—**प्रेरित धारा की दिशा**। जो धारा द्वैतीयिक कुंडली में प्रेरित होती है उसके कारण भी क्षण भर के लिए चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न होता है । जब इस प्रेरित चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा तथा प्रेरक चुम्बक या प्राथमिक कुंडली के क्षेत्र की दिशा एक ही होती है तब प्रेरित धारा को अनुलोम धारा (direct current)

कहते हैं और जब प्रेरित क्षेत्र की दिशा उलटी होती है तब प्रेरित धारा विलोम धारा (inverse current) कहलाती है।

ऊपर दिये हुए प्रयोगों पर विचार करने से तुरन्त ज्ञात हो जायगा कि अनुलोम धारा उन सब अवस्थाओं में प्रेरित होती है जिनमें प्रेरक क्षेत्र की तीव्रता घटती है। जिस क्रिया में प्रेरक क्षेत्र की तीव्रता बढ़ती है उससे विलोम धारा उत्पन्न होती है।

22·04—**लैंज़ का नियम** (Lenz's Law)। लैंज़ (Lenz) ने इस विषय पर एक दूसरी ही दृष्टि से विचार किया। मान लीजिये कि हम चुम्बक का उत्तर-ध्रुव द्वैतीयिक कुंडली के निकट ला रहे हैं। इससे जो धारा प्रेरित होगी उसका चुम्बकीय क्षेत्र हमारे चुम्बक के क्षेत्र से उलटी दिशा में होगा। अर्थात् कुंडली का वह पृष्ठ जिसके निकट चुम्बक का उत्तर-ध्रुव आ रहा है स्वयं भी उत्तर-ध्रुव बन जायगा। यह प्रेरित-ध्रुव चुम्बक के उत्तर-ध्रुव पर प्रतिकर्षक बल लगाकर उसकी गति का विरोध करेगा। इसी प्रकार विचार करने से ज्ञात हो जायगा कि प्रत्येक अवस्था में प्रेरित धारा ऐसी दिशा में प्रवाहित होगी कि वह प्रेरण के कारण का विरोध करेगी।

चुम्बकीय क्षेत्र की बल-रेखाओं पर दृष्टि रखने से यह नियम और भी स्पष्ट हो जाता है। हम देख चुके हैं कि जब कभी प्रेरक चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता बढ़ती है तब विलोम धारा प्रेरित होती है। क्षेत्र की तीव्रता बल-रेखाओं की संख्या के द्वारा नापी जाती है। अतः हम कह सकते हैं कि जब कभी किसी चुम्बकीय क्षेत्र की बल रेखाओं की संख्या बढ़ रही हो तो उस क्षेत्र में स्थित कुंडली में विलोम धारा प्रेरित होती है अर्थात वहाँ विपरीत दिशा में बल-रेखाएं उत्पन्न हो जाती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि बल-रेखाओं की संख्या जितनी हम बढ़ाना चाहते हैं उतनी नहीं बढ़ सकती। अतः हम लैंज़ के नियम को निम्नलिखित शब्दों में भी प्रगट कर सकते हैं :—

किसी भी स्थान पर चुम्बकीय बल-रेखाओं की संख्या में परिवर्तन करने का प्रयत्न करने से वहाँ पर स्थित चालकों में ऐसी धारा प्रेरित होती है जो उस परिवर्तन का विरोध करती है।

22·05—**फ़्लेमिंग का दक्षिण-हस्त-नियम** (Fleming's Right Hand Rule)। अनुच्छेद 16·24 में चुम्बकीय क्षेत्र में स्थित विद्युत्-धारा पर जो बल लगता है और जिसके कारण उस धारावाही तार में गति उत्पन्न होती है उस बल की दिशा जानने के लिए फ़्लेमिंग का वाम-हस्त-नियम दिया गया था। चुम्बकीय क्षेत्र में स्थित तार में गति उत्पन्न करने के कारण उस तार में जो धारा प्रेरित

होती है उसकी दिशा जानने के लिए भी ठीक वैसा ही फ्लेमिंग का दक्षिण-हस्त-नियम है।

दाहिने हाथ के अंगूठे को तथा तर्जनी और मध्यमा इन दो उंगलियों को परस्पर समकोणिक कर लो (चित्र 22·03)। तर्जनी को चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा में रखकर अंगूठे को तार की आपेक्षिक गति की दिशा में कर लो। तब मध्यमा प्रेरित धारा की दिशा को प्रदर्शित करेगी।
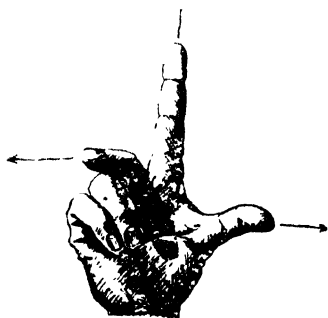
चित्र 22·03

इस नियम की विशेषता यह है कि इससे द्वैतीयिक कुंडली के प्रत्येक विन्दु पर धारा की दिशा जानी जा सकती है और इस कार्य में उस कुंडली के अन्य भागों की स्थिति जानने की कुछ भी आवश्यकता नहीं होती।

22·06—**प्रेरित विद्युद्वाहक बल का परिमाण** (Magnitude of Induced E.M.F.)। यदि उपर्युक्त प्रयोगों में प्रेरित धारा की प्रबलता नापी जाय तो निम्नलिखित बातें प्रगट होंगी:—

(1) धारा की प्रबलता बल-रेखाओं के संख्या-परिवर्तन के वेग पर निर्भर है। जितने ही अधिक वेग से कुंडली के निकट चुम्बक लाया जायगा अथवा दूर हटाया जायगा, और जितनी ही शीघ्रता से प्राथमिक कुंडली की धारा का प्रारम्भ या अन्त किया जायगा उतनी ही अधिक प्रबल धारा प्रेरित होगी।

(2) प्रेरित धारा की प्रबलता द्वैतीयिक कुंडली के प्रतिरोध पर भी निर्भर है। जितना ही अधिक यह प्रतिरोध होगा उतनी ही प्रबलता भी कम होगी। यदि उसकी कुंडली उन्मीलित करके प्रतिरोध अनन्त कर दिया जाय, तो प्रेरित धारा सर्वथा लुप्त हो जायगी। किन्तु वास्तव में हमें इस धारा को प्रवाहित करने वाले विद्युद्वाहक बल पर दृष्टि रखना चाहिए। चुम्बकीय क्षेत्र के परिवर्तन से तो यह विद्युद्वाहक बल ही प्रेरित होता है। यदि कुंडली उन्मीलत हो तब तो इस प्रेरित वि० वा० ब० के कारण धारा प्रवाहित नहीं हो सकती, किन्तु यदि कुंडली निमीलित या पूर्ण हो तो प्रतिरोध के अनुसार यही वि० वा० ब० कुंडली में धारा प्रवाहित कर देगा।

यद्यपि प्रेरित धारा-सम्बन्धी उपर्युक्त बातों को फ़ैरेडे ने स्पष्ट कर दिया था

किन्तु इस वि० वा० ब० के परिमाण की गणना करने की युक्ति सबसे पहिले न्यूमान (Newman) ने सन् 1845 में मालूम की थी।
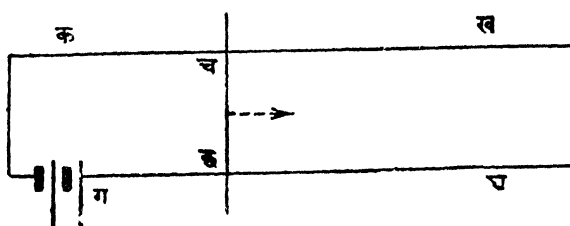
चित्र 22·04

मान लीजिये कि चित्र 22·04 में **क ख** और **ग घ** दो समान्तर तार हैं और उन पर **च छ** तार लम्ब-रूप पड़ा है। सैल लगाकर **क च छ ग क** परिपथ पूर्ण करने पर **च छ** में धारा i प्रवाहित होगी और उसकी दिशा **च** से **छ** की ओर होगी। अब मान लीजिये कि एक चुम्बकीय क्षेत्र H चित्र-तल पर अभिलम्बत: लग रहा है और उसकी दिशा चित्र-तल के सामने से पीछे की ओर है। अत: फ़्लेमिंग के वाम-हस्त-नियम के अनुसार **च छ** पर ऐसा बल लगेगा जो उसे वाणांकित दिशा में सरका देगा। यदि **च छ** की लम्बाई l हो तो **च छ** पर बल $=Hil$ (अनु० 16·23)

यदि **च छ** के सरकने का वेग $\frac{dx}{dt}$ हो तो समय dt में इस बल द्वारा किया हुआ

$$\text{कार्य} = Hildx$$

किन्तु $\quad l\cdot dx=$ परिपथ के क्षेत्रफल की वृद्धि

$\therefore$ परिपथ में प्रवेश करने वाली चुम्बकीय बल-रेखाओं की संख्या में वृद्धि $\quad dN=H\cdot ldx$

$$\therefore \text{ एक सैकंड में सम्पन्न कार्य} = iHl\frac{dx}{dt} = i\frac{dN}{dt}.$$

इस कार्य के करने के लिए ऊर्जा बैटरी ही में से प्राप्त होती है। यदि बैटरी का वि० वा० ब० E हो तो बैटरी प्रति सैकंड Ei अर्ग ऊर्जा परिपथ में खर्च करती है। इसमें से कुछ ऊर्जा तो परिपथ के प्रतिरोध R को गरम करने में खर्च होती है। यह i^2R के बराबर होती है और शेष अंश **च छ** को सरकाने में खर्च होता है।

अत: $$Ei = i^2R + i\frac{dN}{dt}$$

$$\therefore \qquad i = \frac{E - \frac{dN}{dt}}{R} \qquad . \quad . \quad . \qquad (1)$$

अर्थात् **च छ** के सरकाने से परिपथ में एक विरोधी वि०वा०ब० उत्पन्न हो जाता है। यही प्रेरित वि० वा० ब० है और इसका परिमाण है

$$e = -\frac{dN}{dt} \text{ स०ग०स० विद्युत्-चुम्बकीय मात्रक} \qquad . \; . \; . \qquad (2)$$

उपर्युक्त वि० वा० ब० द्वैतीयिक कुंडली के एक फेरे में प्रेरित होता है। यदि इस कुंडली में कई फेरे हों और उनकी संख्या n हो तो प्रत्येक फेरे में इतना ही वि० वा० ब० प्रेरित हो जायगा और इन सब वि० वा० बलों की दिशा एक ही होने के कारण श्रेणी-बद्ध सैलों के समान उन सबका सम्मिलित वि० वा० ब० ne हो जायगा।

यदि हम परिपथ के भिन्न-भिन्न भागों पर विचार करें तो स्पष्ट ही है कि **क च**, **छ ग** तथा **ग क** में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ है। किन्तु **च छ** ने अपनी गति के कारण प्रति सैकंड $\frac{dN}{dt}$ बल-रेखाओं को काटा है। अतः हम कह सकते हैं कि प्रेरित वि० वा० ब० का वास्तविक स्थान **च छ** ही है और उसका परिमाण बराबर है बल-रेखाओं की उस संख्या के जिसे **च छ** प्रति सैकंड काटता है। इससे प्रगट है कि कुंडली के प्रत्येक छोटे से भाग के द्वारा प्रति सैकंड कटने वाली बल-रेखाओं की संख्या जान कर हम उस भाग मे प्रेरित वि० वा० ब० का परिमाण जान सकते हैं और तब समस्त भागों के पृथक-पृथक वि० वा० बलों को जोड़ कर पूर्ण कुंडली का वि० वा० ब० भी मालूम कर सकते हैं।

ऊपर दिये हुए प्रयोगों के अध्ययन से यह तो स्पष्ट ही है कि बल-रेखाओं को काटने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि तार स्वयं अपने स्थान से हटे। चुम्बकीय क्षेत्र में परिवर्तन होने से भी तार के द्वारा बल रेखाएँ कट सकती हैं। केवल तार और बल रेखाओं मे आपेक्षिक गति की आवश्यकता है। क्षेत्र की तीव्रता के घटने या बढ़ने से भी यह आपेक्षिक गति उत्पन्न हो सकती है और उस दशा में भी तार में वि० वा० ब० प्रेरित हो सकता है।

22·07—**स्व-प्रेरण** (Self-induction)। ऊपर लिखा गया है कि किसी कुंडली मे प्रेरित धारा उत्पन्न करने के लिए आवश्यक यह है कि उसमें प्रवेश करने वाली चुम्बकीय बल-रेखाओं की संख्या में परिवर्तन किया जाय और इन बल-रेखाओं

की उत्पत्ति का कारण या तो कोई चुम्बक होता है या किसी अन्य कुंडली में प्रवाहित धारा। किन्तु यदि स्वयं इसी कुंडली में सैल के द्वारा धारा प्रवाहित की जाय तो यह धारा भी अपना चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न करेगी। अतः इस कुंडली में प्रवेश करने वाली चुम्बकीय बल-रेखाओं की संख्या भी इसमें धारा का प्रारम्भ करने पर सहसा शून्य से बढ़ कर धारा के परिमाण के अनुसार किसी नियत परिमाण को प्राप्त कर लेगी। बल-रेखाओ के इस संख्या-परिवर्तन से भी कुंडली में ठीक उसी प्रकार का प्रेरण होना चाहिए जैसा कि किसी अन्य कुंडली की बल-रेखाओं की संख्या-परिवर्तन के कारण होता है। क्योंकि बल-रेखाओ की उत्पत्ति का कारण चाहे जो भी हो, किन्तु कुंडली-गत रेखाओं का परिवर्तन तो दोनों ही अवस्थाओं में बिलकुल एक-सा है। अतः किसी भी कुंडली में धारा के प्रारम्भ होते समय विलोम वि० वा० ब० प्रेरित होगा। परिणाम यह होगा कि सैल-जनित धारा का परिमाण इस प्रेरित वि० वा० ब० के विरोध के कारण एक-दम अपने महत्तम मान को प्राप्त नहीं कर सकेगा। वह धीरे-धीरे ही बढ़ सकेगा। जब वह महत्तम मान को प्राप्त कर लेगा तब चुम्बकीय क्षेत्र का परिवर्तन भी बंद हो जायगा और प्रेरण भी न होगा। तभी ओह्म के नियमानुसार स्थिर प्रबलता से कुंडली में धारा बहने लगेगी।

विपरीत इसके जब हम इस कुंडली के परिपथ को उन्मीलित करके सैल-जनित धारा को बंद करना चाहेंगे तब इसमें अनुलोम वि० वा० ब० प्रेरित होगा जिसके कारण उन्मीलन हो जाने के कुछ देर बाद तक भी धारा उस ही दिशा में बहती रहेगी।

इन बातों की सत्यता निम्नलिखित प्रयोगों के द्वारा बिना कठिनाई के प्रगट हो जायगी :—

(1) चित्र 22·05 में दो बिजली के एक-से लैम्प पार्श्व-बद्ध हैं और उन्हें 220 वोल्ट के प्रमुख-तारों (mains) से जोड़ दिया गया है। एक लैम्प के साथ विद्युत् चुम्बक की कुंडली श्रेणीबद्ध है किन्तु दूसरे लैम्प के साथ इस कुंडली के बराबर ही

चित्र 22·05

प्रतिरोध वाला साधारण नियंत्रक-प्रतिरोध श्रेणीबद्ध है। स्विच दबाने पर पहले यह दूसरा लैम्प जल जाता है तब धीरे-धीरे पहिला लैम्प भी जल जाता है। कुछ देर के बाद

दोनों ही लैम्प समान ज्योति से जलने लगते हैं। इस बात का कारण लैम्पों का भेद नहीं हो सकता क्योंकि यदि लैम्पों का स्थान परिवर्तन कर दिया जाय तब भी विद्युत्-चुम्बक से संलग्न लैम्प ही देर में जलेगा। उसमें धारा बहुत धीरे-धीरे बढ़ेगी। विद्युत्-चुम्बक की कुंडली में तार के फेरे बहुत हैं और उसके गर्भ में लोहा होने के कारण उसमें प्रवेश करने वाली बल-रेखाओं की संख्या भी बहुत है। अतः उसमें स्व-प्रेरित वि० वा० ब० भी अधिक होगा। यही कारण है कि उसमें धारा को पूर्ण प्रबलता प्राप्त करने में बहुत समय लगता है।
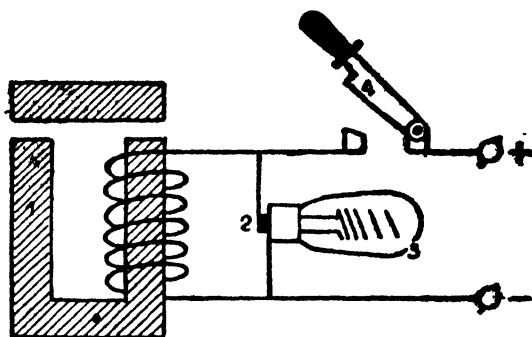
चित्र 22·06

(2) एक 6 वोल्ट के लैम्प को विद्युत्-चुम्बक की कुंडली तथा स्विच से चित्र 22·06 के समान जोड़ दो और 2 वोल्ट की बैटरी से इस परिपथ में धारा प्रवाहित करो। लैम्प तथा विद्युत्-चुम्बक पार्श्वबद्ध हैं। अतः जब अपरिवर्ती धारा इस परिपथ मे बहेगी तब लैम्प पर केवल 2 वोल्ट लगने के कारण वह प्रज्वलित नहीं हो सकेगा।

किन्तु हम देखेगें कि जिस समय स्विच दबाया जायगा उस समय लैम्प क्षण मात्र के लिए चमक उठेगा और फिर थोड़ी देर बाद जिस समय स्विच खोल दिया जायगा तब तो और भी अधिक ज्योति लैम्प में प्रगट हो जायगी।

इसका कारण यह है कि स्विच दबाते समय चुम्बक-कुंडली में स्वप्रेरण के कारण वि० वा० ब० प्रेरित होता है और वह लैम्प में से धारा प्रवाहित कर देता है। इसी प्रकार जब स्विच खोला जाता है तब भी चुम्बक कुंडली में अनुलोम वि० वा० ब० प्रेरित होता है और यह स्विच खोल देने पर भी लैम्प में से धारा वाहित करता रहता है।

यह प्रेरित वि० वा० ब० चुम्बक-कुंडली के फेरों की अधिक संख्या के तथा उनके बीच में लोहे की उपस्थिति के कारण 2 वोल्ट से बहुत अधिक हो जाता है। स्विच बंद करते समय कुंडली के चुम्बकीय क्षेत्र का परिवर्तन धीरे-धीरे होता है किन्तु स्विच खोलते समय इस परिवर्तन का वेग बहुत अधिक होता है। यही कारण है कि स्विच खोलते समय लैम्प में अधिक प्रबल धारा प्रवाहित होती है।

इस प्रकार स्वयं अपनी ही धारा के कारण चालकों अथवा कुंडलियों में जो प्रेरण होता है उसे स्व-प्रेरण कहते हैं। किसी दूसरे चालक की धारा के कारण जो प्रेरण होता है उसका नाम अन्योन्य प्रेरण (mutual induction) रखा गया है।

22·08—**स्व-प्रेरकत्व** (Self-inductance)। किसी कुंडली की विद्युत्-धारा के परिमाण में एक स० ग० स० मात्रक प्रति सैकंड का परिवर्तन होने से जितने मात्रक वि० वा० ब० प्रेरित हो वह उस कुंडली का स्व-प्रेरण-गुणांक (coefficient of self-induction) अथवा स्व-प्रेरकत्व (self-inductance) कहलाता है। संक्षेप में इसे कुंडली का प्रेरकत्व (inductance) भी कहते हैं।

मान लीजिये कि उक्त कुंडली में एक मात्रक धारा के कारण जो समस्त चुम्बकीय बल-रेखाएँ उत्पन्न होकर उस कुंडली के बीच में प्रवेश करती हैं उनकी संख्या ϕ है। यदि धारा का परिमाण i हो तो बल-रेखाओं की संख्या होगी $N=\phi i$

अतः कुंडली के प्रत्येक फेरे में प्रेरित वि० वा० ब०

$$e=-\frac{dN}{dt}=-\phi\frac{di}{dt}$$

और यदि फेरों की संख्या n हो तो संपूर्ण वि० वा० ब०

$$=n\phi\frac{di}{dt}=-L\frac{di}{dt} \quad . \quad . \quad . \quad (3)$$

इससे स्पष्ट है कि जब $\frac{di}{dt}$=एक मात्रक प्रति सैकंड हो, तो

$$\text{प्रेरित वि० वा० ब०}=-L=-n\phi. \quad . \quad . \quad . \quad (4)$$

इस दृष्टि से स्व-प्रेरकत्व की परिभाषा यह भी हो सकती है :—

एक स० ग० स० मात्रक की धारा के कारण जितनी चुम्बकीय बल-रेखाएँ किसी कुंडली के बीच में उत्पन्न हों उनकी संख्या तथा उस कुंडली के फेरों की संख्या के गुणन-फल को उस कुंडली का स्व-प्रेरकत्व कहते हैं।

उपर्युक्त समीकरण से स्पष्ट है कि धारा के परिवर्तन की दर को L से गुणा करने

पर स्व-प्रेरित वि० वा० ब० का परिमाण ज्ञात होता है। यही कारण है कि L को स्व-प्रेरण-गुणांक भी कहते हैं।

स्व-प्रेरकत्व के व्यावहारिक मात्रक का नाम हैनरी (Henry) रखा गया है। यदि किसी कुंडली की धारा के परिमाण में एक अम्पीयर प्रति सैकंड का परिवर्तन हो और उससे एक वोल्ट वि० वा० ब० प्रेरित हो जाय तो उस कुंडली का स्व-प्रेरकत्व एक हैनरी समझा जाता है। इसके सहस्रांश को मिली-हैनरी (milli-henry) तथा इसके दस लाखवें भाग को माइक्रो-हैनरी (micro-henry) कहते हैं। इस परिभाषा के अनुसार

$$1 \text{ हैनरी} = \frac{1 \text{वोल्ट}}{1 \text{अम्पीयर/सैकंड}} = \frac{10^8 \text{ स.ग.स. मात्रक}}{10^{-1} \text{स.ग.स.मात्रक}} = 10^9 \text{ स.ग.स. मात्रक}$$

ऊपर दी हुई परिभाषा से स्पष्ट है कि किसी कुंडली का स्व-प्रेरकत्व उसमें प्रवेश करने वाली बल-रेखाओं की संख्या पर निर्भर होता है। अतः यह भी स्पष्ट है कि उसका परिमाण कुंडली की आकृति, उसके विस्तार, फेरों की संख्या आदि से निर्धारित होगा। सीधे चालक की अपेक्षा कुंडली या परिनालिका (solenoid) का स्व-प्रेरकत्व अधिक होगा तथा परिनालिका के गर्भ में लोह-दंड रख देने पर यह और भी बढ़ जायगा।

22·09—**परिनालिका का स्व-प्रेरकत्व** (Self-inductance of a Solenoid)। मान लीजिये कि परिनालिका की लम्बाई l है और कुल फेरों की संख्या n है तथा प्रत्येक फेरे का क्षेत्रफल A है। तब यदि उसमें प्रवाहित धारा i हो तो उसके गर्भ में चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता

$$H = \frac{4\pi n i}{l} \qquad \text{... [अनु० 16·18}$$

तथा उसमें की समस्त बल-रेखाओं की संख्या $\mathrm{N} = AH = \frac{4\pi n A i}{l}$

$$\therefore \qquad \phi = \frac{\mathrm{N}}{i} = \frac{4\pi n A}{l}$$

$$\therefore \qquad L = n\phi = \frac{4\pi n^2 A}{l} \text{ स. ग. स. मात्रक}$$

$$= \frac{4\pi n^2 A}{l} \times 10^{-9} \text{ हैनरी} \quad \text{. . .} \quad (5)$$

यदि परिनालिका लोहे के दंड पर लपेटी हुई हो तो उसकी चुम्बक-शीलता μ के कारण

$$L=\frac{4\pi\mu n^2 A}{l} \quad \ldots . \quad (5क)$$

22·10—धारा की वृद्धि तथा क्षय (Growth and Decay of Current).

(1) **प्रेरकत्व युक्त परिपथ** (Circuit with Inductance)। समीकरण (1) और (3) के अनुसार

$$i=\frac{E-\frac{dN}{dt}}{R}=\frac{E-L\frac{di}{dt}}{R}$$

अर्थात्

$$L\frac{di}{dt}=E-Ri \quad \ldots \quad (6)$$

यहाँ L और R तो परिपथ के प्रेरकत्व तथा प्रतिरोध हैं और E वाह्य वि०वा० ब० है। i धारा का तात्कालिक मान है।

$$\therefore \qquad \frac{di}{\frac{E-Ri}{L}}=dt$$

अथवा

$$-\frac{L}{R}\frac{d\left(\frac{E-Ri}{L}\right)}{\frac{E-Ri}{L}}=dt$$

दोनों पक्षों का अनुकलन (integration) करने से

$$\frac{L}{R}\log_e\left(\frac{E-Ri}{L}\right)=-t+A.$$

यहाँ A अनुकलन का अचरांक है।

यह प्रगट है कि जब $t=0$ था तब $i=0$ था। अत:

$$A=\frac{L}{R}\log_e\frac{E}{L}$$

$$\therefore \qquad \frac{L}{R}\left\{\log_e\left(\frac{E-Ri}{L}\right)-\log_e\frac{E}{L}\right\}=-t$$

अथवा

$$\log_e\frac{E-Ri}{E}=-\frac{Rt}{L}$$

$$\frac{E-Ri}{E}=e^{-(R/L)t}$$

या

$$i=\frac{E}{R}\left(1-e^{-(R\quad)t}\right)$$

$$=\frac{E}{R}\left(1-e^{-t/\lambda}\right) \qquad (7)$$

धारा के प्रारम्भ होने के बहुत देर बाद (अर्थात् $t=\infty$ होने पर)

$$i=\frac{E}{R}=I$$

$$\therefore \qquad i=I\,(1-e^{-t/\lambda}) \qquad (7क)$$

स्पष्ट है कि i का महत्तम मूल्य $I=E/R$ है।
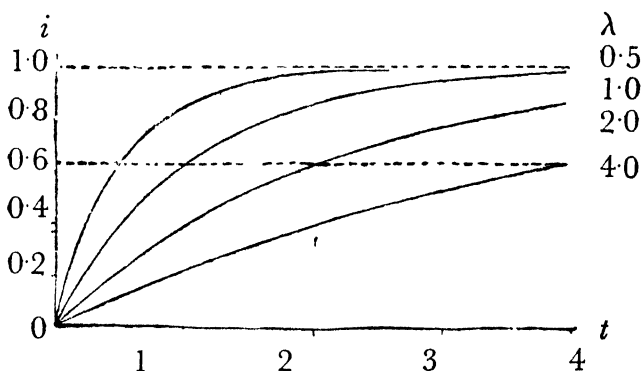
चित्र 22·07

इस समीकरण से ज्ञात होता है कि धारा प्रारम्भ से किस प्रकार बढ़ती है। चित्र 22·07 में $\lambda=L/R$ के विभिन्न मानों (0·5, 1·0, 2·0 आदि) के लिए यह धारा-वृद्धि लेखा-चित्र द्वारा दिखलाई गई है।

$\lambda=L/R$ को परिपथ का काल-अचर (time constant) कहते हैं।

$t=\lambda$ होने पर $\qquad i=I(1-e^{-1})$

$$=I\left(\frac{e-1}{e}\right)=I\times 0{\cdot}632 \quad [e=2{\cdot}718]$$

$$=\tfrac{2}{3}I \qquad \text{(लगभग)}$$

उपर्युक्त परिपथ में धारा का मान महत्तम हो जाने के बाद यदि बाह्य वि० वा० ब० हटा लिया जाय तो समीकरण (6) का रूप यह हो जायगा :—

$$L\frac{di}{dt} = -Ri$$

या
$$\frac{di}{i} = -\frac{R}{L}dt$$

$\therefore$
$$\log_e i = -\frac{R}{L}t + B.$$

किन्तु जब $t=0$ हो तब $i=I$ । अतः $B=\log I$

$$\log_e \frac{i}{I} = -\frac{R}{L}t$$

या
$$i = Ie^{-(R/L)t} = Ie^{-t/\lambda} \qquad (8)$$
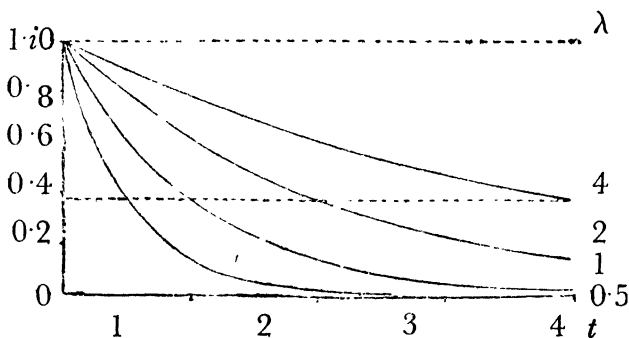
चित्र 22·08

धारा के इस क्षय का लेखाचित्र चित्र 22·08 में दिखाया गया है । जितना ही अधिक λ होगा अर्थात् जितना ही अधिक L होगा उतना ही अधिक समय धारा को समाप्त होने में लगेगा ।

(2) **धारिता युक्त परिपथ** (Circuit with Capacity)। यदि किसी परिपथ में कोई संधारित्र (condenser) हो जिसकी धारिता C हो और उस पर वि० वा० ब० E लगाया जाय तो ज्यों-ज्यों संधारित्र की पट्टिकाओं पर आवेश q बढ़ता जायगा त्यों-त्यों उनका विभवान्तर $V=q/C$ भी बढ़ता जायगा। यह E से विपरीत दिशा में होगा और धीरे-धीरे धारा i का परिमाण घटाता जायगा। अन्त म $V=E$ हो जायगा और धारा बिलकुल ही रुक जायगी ।

ओह्म के नियमानुसार $$E-\frac{q}{C}=Ri=R\frac{dq}{dt} \quad . \quad (9)$$
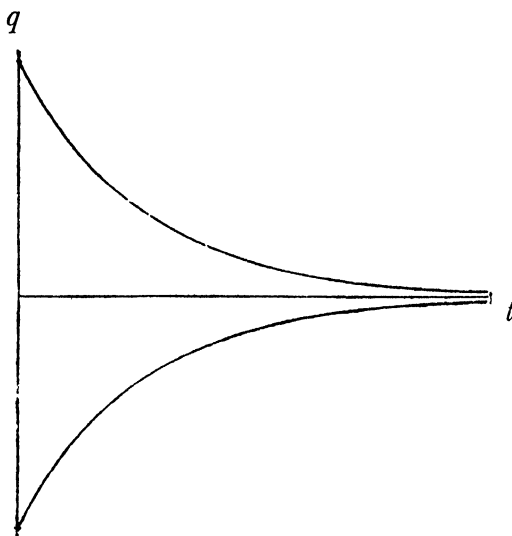
चित्र 22·C9

यह समीकरण भी समी० (6) के समान ही है और उसी विधि से इसका फल भी निकलेगा।

$$q=EC(1-e^{-tc/r})=EC(1-e^{-t/\lambda})$$

यदि संधारित्र का महत्तम आवेश q_0 हो तो $q_0/C=E$

$$\therefore \quad q=q_0\left(1-e^{-t/\lambda}\right) \quad . \quad . \quad (10)$$

ऐसे ही संधारित्र के विसर्जन के समय $E=O$ होगा और

$$R\frac{dq}{dt}=-\frac{q}{C}$$ [समी० 9

और $$q=q_0e^{-t/\lambda} \quad . \quad (11)$$

अतः संधारित्र के आवेशन में

$$\left.\begin{aligned} i&=\frac{dq}{dt}=\frac{q_0}{\lambda}e^{-t/\lambda} \\ i&=-\frac{q_0}{\lambda}\epsilon^{-t/\lambda} \end{aligned}\right\} \quad \ldots \quad (12)$$

तथा विसर्जन में

दोनों ही अवस्थाओं में धारा अधिकतम मान से प्रारम्भ होकर धीरे-धीरे बिलकुल रुक जाती है। यह बात लेखाचित्र 22·09 में प्रदर्शित है। ऐसे परिपथ का काल-अचर $\lambda=CR$ होता है।

(3) **प्रेरकत्व तथा धारिता युक्त परिपथ** (Circuit with Inductance and Capacity)। इस परिपथ का समीकरण होगा

$$L\frac{di}{dt}=E-\frac{q}{C}-Ri$$

या $$L\frac{di}{dt}+Ri+\frac{q}{C}=E \quad \ldots\ldots \quad (13)$$

किन्तु $$i=\frac{dq}{dt}$$

अतः $$\frac{d^2q}{dt^2}+\frac{R}{L}\frac{dq}{dt}+\frac{q}{LC}=\frac{E}{L}.$$

सुविधा के लिए मान लीजिये कि $R/L=2b$ और $1/LC=k^2$

$$\therefore \quad \frac{d^2q}{dt^2}+2b\frac{dq}{dt}+k^2q=\frac{E}{L}.$$

इसमें $x=q-E/Lk^2$ का निवेशन करने से

$$\frac{d^2x}{dt^2}+2b\frac{dx}{dt}+k^2x=0 \quad \ldots \quad (14)$$

इस समीकरण को हल करने के लिए मान लीजिये कि $x=e^{\alpha t}$

तब $$\frac{dx}{dt}=\alpha e^{\alpha t}=\alpha x \text{ और } \frac{d^2x}{dt^2}=\alpha^2e^{\alpha t}=\alpha^2x$$

$\therefore$ समी० (14) हो जायगा $a^2+2ba+k^2=0$

इस के दो हल है—

$$\therefore \quad a=-b\pm\sqrt{b^2-k^2}=-b\pm p.$$

अतः $$q-\frac{E}{Lk^2}=x=e^{\alpha t}=Ae^{(-b+p)t}+Be^{(-b-p)t}$$
$$=e^{-bt}(Ae^{pt}+Be^{-pt}) \quad \ldots \quad (15)$$

जहाँ A और B दो अनिश्चित अचर हैं। इनका मान मालूम करने के लिए हम जानते हैं कि $t=0$ पर $q=0$ होगा

अतः $$A+B=-E/Lk^2=-q_o$$

इसके अतिरिक्त $t=0$ पर $i=0$। अतः $dq/dt=0$।

$$\therefore \quad A-B=\frac{-q_o b}{\sqrt{(b^2-k^2)}}$$

इन से A और B का मान ज्ञात हो जायगा और समी० 15 मे हमें किसी भी समय t पर q का मान मालूम हो जायगा।

जब तक $b^2>k^2$ अर्थात् $R^2/4L^2>1/LC$ हो तब तक तो q के मान में कोई विशेषता नहीं होती और q धीरे-धीरे बढ़ कर महत्तम मूल्य q_o प्राप्त कर लेगा (चित्र 22·10 विन्दुमय वक्र)। किन्तु जब $b^2<k^2$ हो अर्थात् $R^2/4L^2<1/LC$ हो तब $\sqrt{b^2-k^2}$ काल्पनिक (imaginary) हो जायगा और तब यदि हम $k^2-b^2=p^2$ रखदें तो $\sqrt{b^2-k^2}=jp$ हो जायगा

अतः $$q=q_o\left[1-e^{-bt}\left\{\frac{e^{jpt}+e^{-jpt}}{2}+\frac{b}{p}\frac{e^{jpt}-e^{-jpt}}{2j}\right\}\right]$$

किन्तु $$\frac{e^{jpt}+e^{-jpt}}{2}=\cos pt \text{ तथा } \frac{e^{jpt}-e^{-jpt}}{2j}=\sin pt.$$

$$\therefore \quad q=q_o\left\{1-\frac{e^{-bt}}{p}\Big(p\cos pt+b\sin pt\Big)\right\}$$
$$=q_o\left\{1-\frac{k\iota^{-bt}}{p}\cos\Big(pt-\theta\Big)\right\} \quad \ldots \quad (16)$$

जहाँ $$\sin\theta=\frac{p}{\sqrt{(b^2+p^2)}}=\frac{p}{k}$$

और $$\cos\theta=\frac{b}{k}$$

चित्र 22·10 में अविछिन्न वक्र q की इस वृद्धि का लेखाचित्र है। संधारित्र का यह आवेशन दोलित होता है अर्थात् अपना अंतिम मान q_o प्राप्त करने से पहले

q एकान्तरतः q_0 से अधिक और कम मान प्राप्त करता है। इस समीकरण में e^{-bt} गुणक की उपस्थिति के कारण दोलन का आयाम घटता जाता है अर्थात् दोलन अवमन्दित होते हैं। किन्तु यदि R बहुत कम हो और L अधिक हो तो $b=R^2/2L$ बहुत छोटा होगा और अवमन्दन भी बहुत कम होगा।
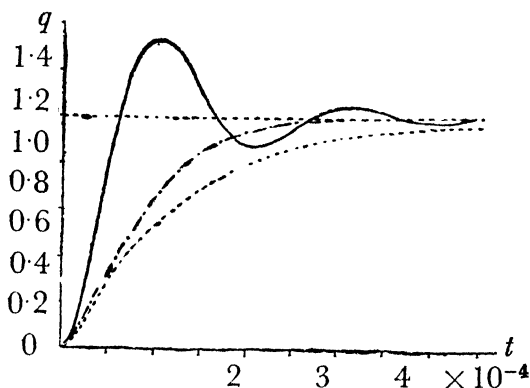
चित्र 22·10

इसी तरह जब $E=0$ हो तो इस परिपथ का विसर्जन भी दोलित होगा यदि $b^2<k^2$ हो। तब इसी विधि से

$$q=\frac{q_0 k e^{-bt}}{p}\cos(pt-\theta) \tag{17}$$
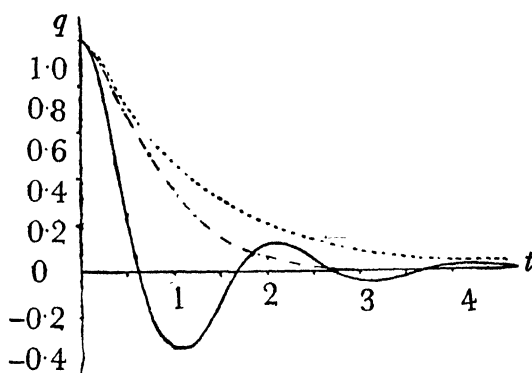
चित्र 22·11

चित्र 22·11 में इसके लेखाचित्र हैं।

समी० 16 और 17 से प्रगट है कि इन दोलनों का आवर्तकाल

$$T=\frac{2\pi}{p}=\frac{2\pi}{\sqrt{k^2-b^2}}=\frac{2\pi}{\sqrt{\frac{1}{LC}-\frac{R^2}{4L^2}}} \quad .. \quad (18)$$

यदि R उपेक्षणीय हो तो $T=\frac{2\pi}{\sqrt{1/LC}}=2\pi\sqrt{LC} \quad .. \quad (19)$

तथा आवृत्ति $N=\frac{1}{2\pi\sqrt{LC}} \quad ... \quad (20)$

समीकरण 16 और 17 का अवकलन करने से $i=dq/dt$ ज्ञात हो जायगा। और वह $\sin(pt-\theta)$ का समानुपाती होगा अर्थात् जब q का मान अधिकतम होगा तब $i=0$ होगा और जब i अधिकतम होगा तब $q=0$ होगा। प्रथम अवस्था में समस्त ऊर्जा संधारित्र में स्थित होगी और द्वितीय अवस्था में वह समस्त धारा के रूप में परिणत हो जायगी अर्थात् चुम्बकीय हो जायगी। इससे कहा जा सकता है कि ऊर्जा इन दोलनों में एकान्तरतः स्थितिज और गतिज अथवा वैद्युत और चुम्बकीय रूप धारण करती है।

22·11—**स्व-प्रेरित धारा की ऊर्जा** (Energy of Self-induced Current)। यदि किसी परिपथ में सैल जोड़ कर हम स्विच बंद करें तो यह बताया जा चुका है कि धारा धीरे-धीरे 0 से बढ़कर कुछ समय t में अपनी अंतिम प्रबलता i प्राप्त करती है। और प्रेरित वि० वा० ब०

$$e=-\frac{dN}{dt}=-L\frac{di}{dt}$$

अतः इस वि० वा० ब० द्वारा सम्पन्न

$$\text{कार्य} =\int_0^t eidt= -L\int_0^i idi=\tfrac{1}{2}Li^2 \quad ... \quad (21)$$

यही ऊर्जा परिपथ के चारों ओर के आकाश में चुम्बकीय क्षेत्र की ऊर्जा के रूप में संचित हो जाती है। धारा का प्रवाह आरम्भ होने से पहले चुम्बकीय क्षेत्र का अभाव था किन्तु जब धारा का प्रवाह पूर्णरूप से होने लगा तब यह क्षेत्र उत्पन्न हो गया। इसी को उत्पन्न करने में यह ऊर्जा व्यय हुई। इसके बाद जब तक धारा के

परिमाण में परिवर्तन नहीं होता तब तक चुम्बकीय क्षेत्र भी बदलता नहीं और इसलिये सैल की जो भी ऊर्जा खर्च होती है वह प्रतिरोध को गर्म करने में या अन्य किसी मशीन आदि को चलाने में व्यय होती है। किन्तु उससे नया चुम्बकीय क्षेत्र नहीं बनता। जब स्विच खोलकर धारा को हम बन्द कर देते हैं तब यह चुम्बकीय क्षेत्र नष्ट हो जाता है। अर्थात् जो ऊर्जा माध्यम मे पहिले संचित हुई थी वही और उतने ही परिमाण में वह पुनः प्रगट हो जाती है और यही स्विच खोलने के बाद मे भी कुछ देर तक धारा को चलाती रहती है।

यहाँ इस प्रश्न पर भी विचार करने की आवश्यकता है कि चुम्बक की आपेक्षिक गति के कारण प्रेरित धारा की ऊर्जा कहाँ से आती है। जब चुम्बक तथा कुंडली की आपेक्षिक गति के कारण धारा का प्रेरण होता है तब चुम्बक के चुम्बकत्व में किसी तरह की कमी नहीं होती। किन्तु हम देख चुके है कि प्रेरित धारा की दिशा ऐसी होती है कि वह चुम्बक तथा कुंडली की आपेक्षिक गति का विरोध करती है। अर्थात् हमें यह गति उत्पन्न करने में लैंज के नियम के अनुसार कुछ ऊर्जा का व्यय करना पड़ता है। यही ऊर्जा प्रेरित धारा के रूप में प्रगट होती है।

ठीक इसी प्रकार विचार करने से प्रगट हो जायगा कि जब प्राथमिक कुंडली में धारा का प्रारम्भ या अन्त किया जाता है अथवा धारा की प्रबलता घटाई-बढ़ाई जाती है तब प्रेरित धारा की ऊर्जा उस सैल से प्राप्त होती है जो प्राथमिक कुंडली में धारा प्रवाहित कर रही है।

22·12—**प्रेरकत्व-हीन प्रतिरोधक (Resistance without Inductance)**। धारा की प्रबलता का नियंत्रण करने के लिए कई प्रकार के नापों में प्रतिरोध-कुंडलियों का प्रयोग किया जाता है। यदि ये कुंडलियाँ साधारण सर्पिल के रूप में बनाई जायँ तो उनमें काफ़ी स्व-प्रेरकत्व होता है और इससे बहुधा बड़ी दिक्कत होती है। अतः इन प्रतिरोध-कुंडलियों को लपेटने की एक विशेष विधि का उपयोग किया जाता है। इसमें तार को पहिले दोहरा कर लेते हैं और तब उसकी कुंडली बनाई जाती है। इससे लाभ यह होता है कि आधे तार में धारा दक्षिणावर्ती (clock-wise) होती है और आधे में वामावर्ती (anti-clockwise)। परिणाम यह होता है कि जो चुम्बकीय बल-रेखाएँ कुंडली का एक भाग उत्पन्न करता है उन्हें दूसरा भाग विपरीत-दैशिक रेखाएँ उत्पन्न करके नष्ट कर देता है। चित्र 18·15 से यह विधि स्पष्ट हो जायगी। अतः पूरी कुंडली में स्व-प्रेरकत्व का सर्वथा अभाव रहेगा।

22·13—अन्योन्य प्रेरकत्व (Mutual Inductance)। ठीक स्व-प्रेरकत्व ही के समान अन्योन्य प्रेरकत्व का दूसरा नाम अन्योन्य-प्रेरण-गुणाक है और उसकी परिभाषाएँ भी निम्नलिखित है :—

(1) प्राथमिक कुंडली की धारा के परिमाण मे एक स० ग० स० मात्रक प्रति सैकड का परिवर्तन होने से जितने मात्रक वि० वा० ब० द्वैतीयिक कुंडली में प्रेरित हो वह उन कुंडलियों का अन्योन्य-प्रेरकत्व है।

(2) प्राथमिक कुंडली में एक स० ग० स० मात्रक की धारा के प्रवाह के कारण जितनी चुम्बकीय रेखाएं ϕ_1 द्वैतीयिक कुडली के बीच मे प्रवेश करे, उनकी संख्या तथा द्वैतीयिक कुंडली के फेरों की संख्या n_2 के गुणनफल को उन कुंडलियों का अन्योन्य-प्रेरकत्व कहते है।

$$M=n_2\phi_1 \qquad \ldots \quad (22)$$

अन्योन्य प्रेरकत्व का व्यावहारिक मात्रक भी हैनरी ही है। प्राथमिक कुंडली की धारा में एक अम्पीयर प्रति सैकंड का परिवर्तन होने से यदि द्वैतीयिक कुंडली में एक वोल्ट का वि० वा० ब० प्रेरित हो तो उन कुंडलियों का अन्योन्य-प्रेरकत्व एक हैनरी समझा जाता है।

ऊपर के समीकरण (2) और (3) के समान ही यहाँ भी प्रेरित वि०वा०ब०

$$e=-\frac{dN}{dt}=-n_2\phi_1\frac{di}{dt}=-M\frac{di}{dt} \qquad \ldots \quad (23)$$

यहाँ M अन्योन्य-प्रेरकत्व है।

यह अन्योन्य-प्रेरकत्व प्राथमिक तथा द्वैतीयिक कुंडलियों की आपेक्षिक स्थिति पर निर्भर है। जब दोनों कुडलियाँ बहुत नजदीक हों या एक दूसरे के ऊपर ही लपेटी हुई हों तब तो इसका परिमाण बहुत अधिक होता है। जब वे पृथक्-पृथक् हों और उनके बीच में दूरी भी अधिक हो तब अन्योन्य-प्रेरकत्व भी कम होता है। किन्तु जब तक इनकी आपेक्षिक स्थिति में परिवर्तन न हो तब तक प्राथमिक धारा की घट-बढ़ के कारण अन्योन्य-प्रेरकत्व में कोई परिवर्तन नहीं होता। यदि कुंडलियों के बीच में लोहा उपस्थित हो तो अन्योन्य-प्रेरकत्व का परिमाण μ गुणा बढ़ जाता है।

22·14—दो समाक्षीय परिनालिकाओं का अन्योन्य-प्रेरकत्व (Mutual Inductance of Two Coaxial Coils)। मान लीजिये कि प्राथमिक कुंडली की लम्बाई l_1 क्षेत्रफल A_1 तथा फेरों की संख्या n_1, है और द्वैतीयिक के फेरों

की संख्या n_2 है। और मान लीजिये कि द्वैतीयिक प्राथमिक कुंडली के मध्य भाग पर ऐसे लपेटी गई है कि प्राथमिक की सभी चुम्बकीय बल-रेखाएँ द्वैतीयिक में प्रवेश कर सकें। तब पूर्ववत् प्राथमिक कुंडली की बल-रेखाओं की पूर्ण संख्या होगी

$$\phi_1 = \frac{4\pi n_1 A_1}{l_1} \text{ प्रति मात्रक धारा}$$

यही द्वैतीयिक के प्रत्येक फेरे में प्रविष्ट होने वाली बल-रेखाओं की संख्या है।

अतः $$M = n_2\phi_1 = \frac{4\pi n_1 n_2 A_1}{l} \quad \ldots \quad (24)$$

यदि गर्भ में लोहा हो तो $$M = \frac{4\pi\mu n_1 n_2 A_1}{l} \quad \ldots \quad (24\text{-क})$$

यदि प्राथमिक तथा द्वैतीयिक कुंडलियों की लम्बाइयाँ तथा क्षेत्रफल बराबर ही हों तो इस परिणाम को निम्न प्रकार भी लिख सकते हैं —

प्राथमिक का स्व-प्रेरकत्व $$L_1 = \frac{4\pi n_1^2 A}{l}$$

द्वैतीयिक का स्व-प्रेरकत्व $$L_2 = \frac{4\pi n_2^2 A}{l}$$

दोनों का अन्योन्य-प्रेरकत्व $$M = \frac{4\pi n_1 n_2 A}{l} = \sqrt{L_1 L_2} \quad . . (25)$$

इसमें यह मान लिया गया है कि प्रत्येक कुंडली का समस्त चुम्बकीय क्षेत्र दूसरी में प्रविष्ट हो जाता है।

किन्तु जब ऐसा नहीं होता तो M का मान $\sqrt{L_1 L_2}$ से कम होता है। यदि हम कहें कि तब $M = k\sqrt{L_1 L_2}$ होता है तो k उन युग्मित कुंडलियों का युग्मन-गुणाक (coefficient of coupling) कहलाता है और उसका मान 1 से कम होता है।

जितना ही k का मान अधिक होता है उतनाही युग्मन कड़ा (tight) कहलाता है। k का मान कम होने से युग्मन ढीला (loose) कहलाता है।

स्पष्ट है कि कड़े युग्मन में एक कुंडली में प्रवेश करने वाली दूसरी कुंडली की चुम्बकीय बल-रेखाओं की संख्या अधिक होती है और ढीले युग्मन में कम। यह संख्या दोनों कुंडलियों की स्थिति पर अवलम्बित होती है।

यदि **क** तथा **ख** दो कुंडलियाँ हैं तो इनके युग्मन में अन्योन्य-प्रेरकत्व दो प्रकार से समझा जा सकता है (1) **क** प्राथमिक है और **ख** द्वैतीयिक, (2) **ख**

प्राथमिक है तथा **क** द्वैतीयिक। यदि पहिली दशा में अन्योन्य-प्रेरकत्व M_1 हो और दूसरी में M_2, तो यह सरलता से प्रमाणित हो सकता है कि

$$M_1 = M_2 \quad \ldots \quad (26)$$

अतः जितना वि० वा० ब० **क** की धारा में एक मात्रक प्रति सैकंड के परिवर्तन से **ख** मे प्रेरित होगा उतना ही **ख** की धारा में एक मात्रक प्रति सैकंड के परिवर्तन से **क** में भी प्रेरित होगा। इसी कारण से इस प्रेरकत्व का नाम अन्योन्य-प्रेरकत्व सार्थक है।

22·15—**विद्युत्धारा का अवस्थितित्व** (Inertia of Electric Current)। विद्युत्-धारा के प्रेरण संबंधी घटनाओं पर विचार करने से ऐसा जान पड़ता है मानो जड़ द्रव्य के समान ही विद्युत्-धारा में भी अवस्थितित्व है। जिस प्रकार जड़ द्रव्य पर बल लगाने से उसका वेग सहसा नहीं बढ़ जाता किन्तु धीरे-धीरे बढ़ता है ठीक उसी प्रकार विद्युत्-धारा की प्रबलता भी धीरे-धीरे ही बढ़ती है। जिस प्रकार घर्षण जड़ पदार्थ के वेग को बहुत नहीं बढने देता उसी प्रकार प्रतिरोध भी धारा को विशेष सीमा से अधिक नहीं बढ़ने देता। जैसे बल हटा लेने पर भी जड़-पदार्थ का वेग सहसा नष्ट नहीं हो जाता और जब तक घर्षण आदि के कारण उसकी गतिज ऊर्जा नष्ट नहीं हो जाती तब तक वह चलता ही रहता है ठीक उसी प्रकार परिपथ के खुल जाने पर भी विद्युत-धारा कुछ देर तक चलती ही रहती है। जिस प्रकार जड़ पदार्थ की गतिज ऊर्जा $\frac{1}{2}mv^2$ होती है उसी प्रकार विद्युत्-धारा की ऊर्जा भी $\frac{1}{2}Li^2$ होती है। अर्थात् m के समान L भी अवस्थितित्व का द्योतक है। अतः यदि विद्युत् को भी एक प्रकार का जड़ द्रव्य समझा जाय तो विद्युत्-धारा की प्रबलता को उसका वेग और स्व-प्रेरण को उसके अवस्थितित्व का परिमाण समझा जा सकता है।

22·16—**प्रेरण के उपयोग**। (1) **विद्युत्-धारा का उत्पादन**। प्रेरण के द्वारा यांत्रिक ऊर्जा से विद्युत्-धारा की उत्पत्ति का आविष्कार करते ही फ़ैरेडे के मन में यह विचार उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था कि एक यंत्र ऐसा बनाया जाय कि जिसे हाथ से या इंजन से चलाने पर विद्युत्-धारा उत्पन्न हो जाय। अद्यपि उन्हें इस प्रकार का बहुत अच्छा यंत्र बनाने में सफलता नहीं मिली किन्तु जो यंत्र उन्होंने बनाया उससे यह बात निर्विवाद सिद्ध हो गई कि ऐसी मशीन अवश्य ही बन सकती है। आज समस्त संसार में बिजली के द्वारा जो अनेक आश्चर्यजनक कार्य हो रहे हैं वे सब फ़ैरेडे की इस छोटी-सी मशीन के द्वारा ही संभव हुए हैं। इस दृष्टि से प्रेरण का

आविष्कार मनुष्य के लिये अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुआ है और इस ही कारण फ़ैरेडे वैद्युत इंजिनियरी के जन्मदाता माने जाते हैं। प्रेरण के द्वारा विद्युत्-धारा उत्पन्न करने की जो मशीनें बनी हैं उनका वर्णन परिच्छेद 24 में किया गया है।

(2) **स्विच**। स्व-प्रेरणयुक्त परिपथ को उन्मीलित करने पर जो अनुलोम वि० वा० ब० प्रेरित होता है उसका परिमाण बहुधा बहुत बड़ा होता है क्योंकि उन्मीलित करते समय धारा की प्रबलता के परिवर्तन का वेग बहुत ही ज्यादा होता है। जो बैटरी उस परिपथ में धारा प्रवाहित कर रही हो यद्यपि उसका वि० वा० ब० 10 या 15 वोल्ट ही हो तब भी उन्मीलित करने पर प्रेरित वि० वा० ब० का परिमाण 200 वोल्ट से भी अधिक हो सकता है। ऐसी दशा में जिस स्विच से परिपथ उन्मीलित किया जाय उस में आर्क (arc) उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। इस आर्क से स्विच के स्पर्श-स्थान जल कर जल्दी ही नष्ट हो जाते हैं और कभी-कभी इस उच्च विभवत्व से जान का भी ख़तरा रहता है। इस कारण इन स्विचों का निर्माण बड़े विचार पूर्वक करना पड़ता है। और जहाँ बहुत प्रबल धाराओं का प्रयोग किया जाता है वहाँ तो बहुधा ऐसा प्रबंध भी करना पड़ता है कि स्विच के निकट किसी मनुष्य को जाना न पड़े और दूर ही से स्विच खोला या बन्द किया जा सके।

आर्क से स्पर्श-स्थान की रक्षा करने के लिये तो साधारण से साधारण स्विच मेंभी कमानी लगाई जाती है जिससे स्विच इतनी शीघ्रता से खुल जाता है कि आर्क तुरन्त बुझ जाय।

(3) **धारामापी की कुंडली के दोलनों का नियंत्रण**। चल-कुंडली धारामापी में कुंडली चुम्बक ध्रुवों के बीच में लटकी रहती है। एक बार विक्षेप होने पर यह बहुत देर तक दोलन करती रहती है। इसे जल्दी ठहराने के लिये प्रेरण का उपयोग किया जाता है। यह तो प्रगट ही है कि कुंडली का दोलन चुम्बकीय क्षेत्र में होने के कारण उसमें प्रवेश करने वाली बल-रेखाओं की संख्या में परिवर्तन होगा और उसमें वि० वा० ब० प्रेरित होगा। किन्तु जब तक परिपथ निमीलित न हो तब तक उसमें कोई धारा प्रवाहित नहीं होगी। यदि कुंजी के द्वारा कुंडली का परिपथ निमीलित कर दिया जाय तो उसमें प्रेरित धारा प्रवाहित होगी और लैंज के नियमानुसार इस धारा की दिशा ऐसी होगी जो कुंडली की गति का विरोध करेगी और उसे शीघ्र ही स्थिर कर देगी।

धारामापी के विक्षेप नापने में भी कुंडली के इन दोलनों से बड़ी असुविधा होती है क्यों कि जब तक कुंडली ठहर न जाय तब तक विक्षेप का पाठ नहीं लिया जा सकता।

अतः ऐसी युक्ति की आवश्यकता है कि कुंडली के दोलन बिलकुल न हों और एक ही बार में वह अपने पूरे विक्षेप को प्राप्त कर ले। इसके लिये धारामापी की कुंडली को ताँबे या अल्यूमिनियम के चौखटे पर लपेटा जाता है। इससे कुंडली की गति के साथ साथ यह चौखटा भी चुम्बकीय क्षेत्र में घूमेगा और उसका प्रतिरोध कम होने के कारण उसमें गति को रोकने वाली प्रबल धारा प्रेरित होगी। यही धारामापी के दोलनों को रोक देगी।

प्रक्षेप-धारा-मापी में कुंडली अचालक चौखटे पर लपेटी जाती है क्यों कि उसमें अवमन्दन को कम रखना आवश्यक होता है। जब एक ही धारामापी से प्रक्षेप तथा विक्षेप नापने के दोनों काम ले सकना अभीष्ट हो तब चौखटा तो अचालक रखते हैं किन्तु उस पर धारा मापी की कुंडली के अतिरिक्त और उससे विलागित मोटे तार के एक फेरे की कुंडली और लगा दी जाती है। इस कुंडली की प्रेरित धारा दोलनों को रोक देती है। विक्षेप नापने के लिये यह कुंडली हटा दी जाती है।

(4) **फ़ोको धारा** (Focault Current) **या भंवर-धारा** (Eddy Current)। जब कभी किसी धातु की चद्दर या अन्य ठोस खंड के भीतर चुम्ब-

चित्र 22·12
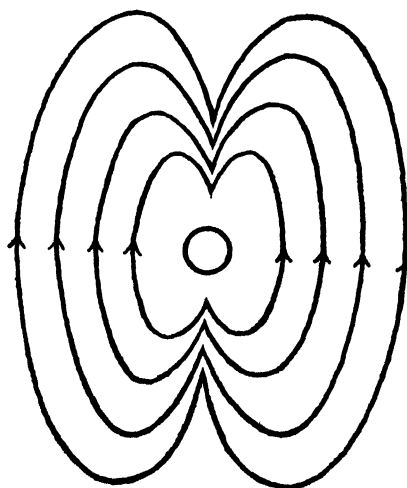
कीय क्षेत्र का परिवर्तन होता है तब उस धातु में विद्युत्-धाराएँ उत्पन्न होती है जिनके परिपथ उसी धातु में भिन्न-भिन्न मार्गों से पूर्ण हो जाते हैं। इन परिपथों

की लम्बाई अधिक नही होती अतः प्रतिरोध कम होता है और धाराओं की प्रबलता अधिक होती है। उदाहरण के लिये यदि धातु की चद्दर के निकट चुम्बक-ध्रुव वेग पूर्वक लम्बतः लाया जाय तो चद्दर में चित्र 22·12 के समान वाणांकित चक्रों में धाराएँ प्रवाहित होंगी। इन्हीं को भंवर-धारा या फ़ोको-धारा कहते हैं। ऐसी धाराओं से ऊष्मा पैदा होकर धातु गरम हो जाती है। और बहुत सी ऊर्जा व्यर्थ नष्ट हो जाती है। अतः जहाँ कहीं चुम्बकीय क्षेत्र में लोह आदि धातुओं के भाग घूमते हों उन्हें ठोस नही बनाते। पतली-पतली विलागित पत्तियों को मिला कर वे बनाये जाते हैं जिससे उन मे भंवर-धाराएँ न चल सकें।

(5) **अरैगो का मंडलक** (Arago's Disc)। इसमें एक क्षैतिज चुम्बक डोरे से लटका रहता है, अथवा पिन पर रखा होता है। उसके नीचे ताँबे की चद्दर का ठोस क्षैतिज पहिया वेग से घुमाया जाता है। परिणाम यह होता है कि चुम्बक भी पहिये के घूमने की दिशा ही में घूमने लगता है। बात यह है कि पहिये की जो त्रिज्या उत्तर-ध्रुव के नीचे से चलती है उसमें वि० वा० ब० प्रेरित हो कर केन्द्र से परिधि की ओर धारा प्रवाहित करता है। यह धारा घूम कर दक्षिण ध्रुव के नीचे परिधि से केन्द्र की ओर जा कर अपना परिपथ पूरा करती है। लैंज़ के नियम के अनुसार यह धारा चुम्बक और पहिये की आपेक्षिक गति को घटाती है। यदि पहिये मे जगह-जगह त्रिज्यीय खांचें कटी हों तो पहिया नही घूमता, क्योंकि तब धारा का परिपथ पूरा नहीं हो पाता।

(6) **प्रेरण-मोटर**। ऊपर लिखे प्रयोग में यदि पहिये को न घुमाकर हम चुम्बक को वेग से घुमावें तो पहिया भी उसी दिशा में घूमने लगेगा। यही एक प्रकार की प्रेरण-मोटर (induction motor) का मूल रूप है जिसका वर्णन परि० 24 में किया गया है।

22·17—**भू-चुम्बकी-प्रेरक** (Earth Inductor)। मान लीजिये कि एक चपटी वृत्ताकार कुंडली का तल ऊध्वार्धर है और वह ऊर्ध्वाधर अक्ष पर घूम सकती है। मान लीजिये कि इसका क्षेत्रफल A है और फेरों की संख्या n है तथा उसका चपटा तल **क ख** पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा **गघ** से कोण ϕ बनाता है (चित्र22·13)। तब यदि इस चुम्बकीय क्षेत्र का क्षैतिज अवयव H हो तो कुंडलीगत क्षैतिज बल-रेखाओं की संख्या $N = AH \sin \phi$ होगी। अब यदि इस कुंडली को चित्र तल से अभिलम्ब अक्ष पर वेग से घुमाया जावे तो इसमें प्रेरित वि० वा० ब० का तात्कालिक मान होगा

$$e=-n\frac{dN}{dt}=-nAH\frac{d}{dt}(\sin\phi)$$

$$=-nAH\cos\phi\frac{d\phi}{dt}$$
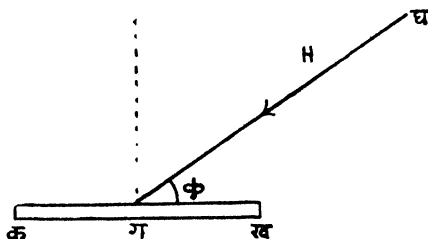
चित्र 22·13

यदि कुंडली के तार के सिरों से एक प्रक्षेप-धारामापी जोड़ दिया जाय और परिपथ का प्रतिरोध R हो तो प्रेरित धारा का तात्कालिक मान

$$i=\frac{e}{R}=-\frac{nAH}{R}\cos\phi\frac{d\phi}{dt}$$

अतः यदि कुंडली को इतना घुमाया जाय कि $\phi=\pi/2$ से बदल कर $\phi=-\pi/2$ हो जाय अर्थात् प्रारम्भ में तो क्षेत्र कख में एक पार्श्व से अभिलम्बतः प्रवेश करे और अन्त में दूसरे पार्श्व से भी अभिलम्बतः ही प्रवेश करे तो धारामापी में प्रवाहित समस्त विद्युत् का परिमाण

$$Q=\int_0^t i\,dt=-\frac{nAH}{R}\int_{+\pi/2}^{-\pi/2}d(\sin\phi)$$

$$=-\frac{nAH}{R}\Big[\sin\phi\Big]_{+\pi/2}^{-\pi/2}=\frac{2nAH}{R}\quad\ldots\quad(27)$$

अतः धारामापी के प्रक्षेप θ के द्वारा Q का नाप कर लेने से H का भी नाप हो सकता है।

इसी प्रकार यदि यही कुंडली क्षैतिज अक्ष पर घुमाई जाय और इसका तल

प्रारंभ और अन्त में क्षैतिज रहे तो H के स्थान में पृथ्वी के क्षेत्र का ऊर्ध्वाधर अवयव V काम करेगा। और तब

$$Q' = 2nAV/R \quad . \quad . \quad . \quad (28)$$

हो जायगा और प्रक्षेप θ' होगा।

इन दोनों नापों से नमनकोण (dip) δ नापा जा सकता है :—

$$\tan \delta = \frac{V}{H} = \frac{Q'}{Q} = \frac{\theta'}{\theta} \quad . \quad . \quad . \quad (29)$$

चित्र 22·14

इस उपकरण का नाम भू-चुम्बकी-प्रेरक है।
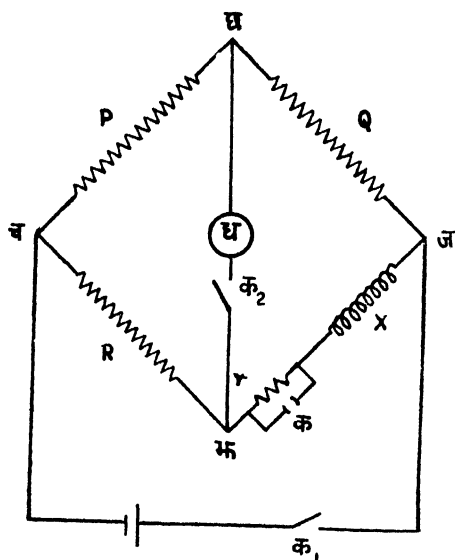
22·18—स्व-प्रेरकत्व को नापने की विधि। जिस कुडली X का स्व-प्रेरकत्व नापना हो उसे ह्वीट-स्टोन सेतु के परिपथ में ठीक उसी प्रकार लगाते हैं जिस प्रकार प्रतिरोध नापने के लिए लगाई जाती है। चित्र 22·14 में यह संबंधन दिखाया गया है। विशेष बात एक तो यह है कि X के साथ एक अत्यन्त छोटा प्रतिरोधक r भी श्रेणी-बद्ध कर दिया गया है और r को एक कुंजी **क** के द्वारा लघु-परिपथित करने का भी प्रबंध है। दूसरी बात यह है कि साधारण धारामापी के स्थान में प्रक्षेप धारामापी (ballistic galvanometer) लगाया गया है।

पहिले **क** बंद रहती है। और X का प्रतिरोध नापा जाता है। इसमें पहिले कुंजी **क**$_1$ दबाई जाती है और तब कुंजी **क**$_2$। सन्तुलन होने पर $P/Q = R/X$ इसके बाद पहिले धारामापी की कुंजी **क**$_2$ बंद करके तब **क**$_1$ बंद करते ही धारामापी में प्रक्षेप θ प्राप्त होगा। थोड़ी देर ठहरने पर धारामापी पुनः 0 पर आ जायगा। अब यदि बैटरी की कुंजी **क**$_1$ खोल दी जाय तो फिर धारामापी में उतना ही प्रक्षेप θ प्राप्त होगा। किन्तु यह होगा विपरीत दिशा में। बात यह है कि X के

स्व-प्रेरकत्व L के कारण सेतु की इस भुजा में वि० वा० ब० $L\,di/dt$ प्रेरित होता है जहाँ i इस भुजा में धारा है। इस वि० वा ० ब० के कारण धारामापी में प्रवाहित धारा होगी $kL\,di/dt$ (जहाँ k एक नियतांक है)।

अतः धारामापी में से प्रवाहित विद्युत्

$$Q=\int_0^t k\,L\,\frac{di}{dt}\,dt=k\,L\int_0^i di=kLI \quad . \; . \; . \quad (30)$$

जहाँ I वह धारा है जो X में से सेतु-सन्तुलन की अवस्था में प्रवाहित होती है। इस Q के कारण ही धारामापी में प्रक्षेप θ होता है और

$$Q=kLI=\frac{\mathrm{KT}}{2\pi}\,\theta\left(1+\frac{\lambda}{2}\right) \quad . \quad (31)$$

जहाँ K धारामापी का गुणांक है, λ उसका लघुगणकीय अवमन्दन (logarithmic decrement) और T उसका आवर्त काल है (अनु० 17·15, 17·16)। K का मान मालूम करने के लिये X वाली भुजा में जो छोटा प्रतिरोधक r है उसकी कुंजी क खोल दी जाती है जिससे वह X से श्रेणीबद्ध हो जाता है। इससे संतुलन बिगड़ जाता है और धारामापी में विक्षेप θ_1 हो जाता है। r इतना छोटा होता है (प्राय: ·01 ओह्म) कि हम यह मान सकते है कि उससे X की धारा I में परिवर्तन नहीं होता। केवल X वाली भुजा में rI का नया वि० वा० ब० लग जाता है। अतः इस कारण धारामापी में प्रवाहित धारा$=\mathrm{K}rI$

अतः
$$krI=\mathrm{K}\theta_1 \quad . \; . \; . \quad (32)$$

समीकरण (31) तथा (32) से

$$\frac{L}{r}=\frac{\mathrm{T}}{2\pi}\,\frac{\theta}{\theta_1}\left(1+\frac{\lambda}{2}\right)$$

$$L=r.\frac{\mathrm{T}}{2\pi}\,\frac{\theta}{\theta_1}\left(1+\frac{\lambda}{2}\right) \quad . \; . \; . \quad (33)$$

यदि r का मात्रक ओह्म हो तो L हैनरी मात्रकों में प्राप्त होगा।

22·19—**अन्योन्य-प्रेरकत्व को नापने की विधि**। चित्र 22·15 में **प** प्राथमिक कुंडली है और **फ** द्वैतीयिक। प्राथमिक परिपथ में सैल, अम्पीयरमापी तथा एक कुंजी **क** है। और द्वैतीयिक परिपथ में प्रक्षेप धारामापी **घ** है। यदि दोनों
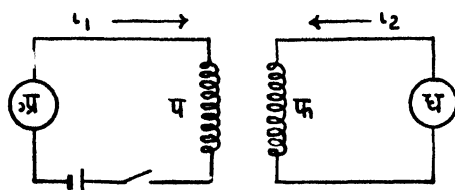
चित्र 22·15

कुंडलियों का अन्योन्य-प्रेरकत्व M हो तो कुंजी **क** को बंद करते ही द्वैतीयिक में वि० वा० ब० $e = -Mdi_1/dt$ प्रेरित होगा, जहाँ i_1 प्राथमिक परिपथ की धारा है।

यदि द्वैतीयिक परिपथ का प्रतिरोध R हो तो उसमें प्रवाहित धारा

$$i_2 = e/R = -\frac{M}{R} \cdot \frac{di_1}{dt}$$

अतः धारामापी में प्रवाहित विद्युत् का परिमाण

$$Q = \int i_2 dt = \frac{M}{R}\int_0^{I_1} \frac{di_1}{dt} dt = \frac{M}{R} I_1$$

यदि इससे उत्पन्न प्रक्षेप θ हो तो

$$Q = \frac{M}{R} I_1 = \frac{\text{KT}}{2\pi}\, \theta \left(1 + \frac{\lambda}{2}\right)$$

$$\therefore \qquad M = \frac{\text{K}R\text{T}}{2\pi}\theta \left(1 + \frac{\lambda}{2}\right)$$

जहाँ K और T पिछले अनुच्छेद में बताये हुए धारामापी के नियतांक हैं।

22·20—**प्रेरण-कुंडली** (Induction Coil)। बहुत से कार्यों के लिये दिष्ट धारा ही के द्वारा उच्च विभवत्व उत्पन्न करना होता है। विसर्जक नलों में गैस को प्रदीप्त करने के लिये तथा ऐक्स-किरणों की उत्पत्ति के लिये सहस्रों वोल्ट के वि० वा० ब० की आवश्यकता होती है। यद्यपि यह कार्य ट्रान्सफ़ार्मर के द्वारा प्रत्यावर्ती

धारा भी कर सकती है किन्तु बहुधा दिष्ट धारा ही से यह काम करना पड़ता है। इस दशा में प्रेरण-कुंडली काम में आती है।

चित्र 22·16 में यह प्रेरण-कुंडली दिखलाई गई है और चित्र 22·17 में उसका मर्म-चित्र है। इसके मुख्य भाग तीन हैं :—
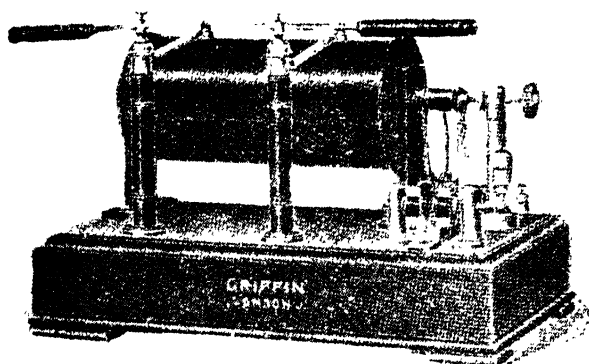
चित्र 22·16

(1) लोहे के पतले-पतले विलागित तारों का एक लम्बा मुठ्ठा। यह कुंडली के क्रोड का काम देता है। ठोस लोहा न लगाने का कारण भंवर-धाराओं का निराकरण है।

(2) प्राथमिक कुंडली इस लौह-क्रोड पर ही लपेटी हुई मोटे तार की होती है।

(3) इस प्राथमिक कुंडली पर एबोनाइट जैसे अच्छे विलागक की नली चढ़ाकर उस पर अत्यन्त पतले तार के सहस्रों फेरों की द्वैतीयिक कुंडली लपेटी जाती है। इसे लपेटने में कुल लम्बाई के कई हिस्से कर दिये जाते हैं और इनके बीच में एबोनाइट की पट्टिकाएँ लगा दी जाती हैं। प्रत्येक हिस्से में पृथक्-पृथक् कुंडलियाँ लपेट कर उन सबको श्रेणीबद्ध कर दिया जाता है। इसमें कई मील लम्बा तार होता है और इसका प्रतिरोध भी हजारों ओह्म होता है। द्वैतीयिक और प्राथमिक कुंडलियों के फेरों की संख्याओं का अनुपात भी 400—500 होता है। इससे द्वैतीयिक कुंडली में सहस्रों वोल्ट का द्वैतीयिक विभवत्व उत्पन्न हो सकता है।

किन्तु दिष्ट धारा यह कार्य कैसे कर सकती है इस प्रश्न का उत्तर चित्र 22·17के दाहिने भाग में है। बैटरी के धन-ध्रुव से चल कर धारा पीतल के स्तंभ में जाती है।

इसके ऊपर के भाग में लगे हुए पेच क द्वारा यह धारा कमानी में जाती है। और यहाँ से प्राथमिक कुंडली में जाकर ऋण-ध्रुव पर लौट आती है। इस धारा का मार्ग वाणों से दिखलाया गया है। इसका परिणाम यह होता है कि कुंडली और उसके क्रोड में
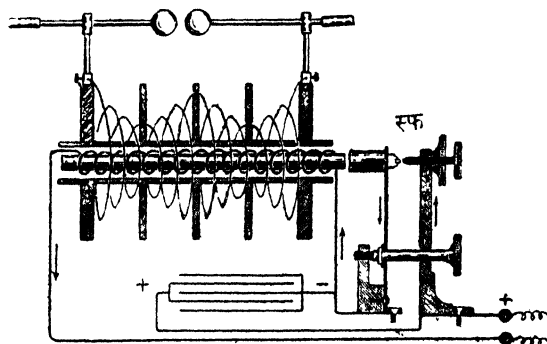
चित्र 22 17

स्थित लोहा कमानी पर लगे हुए लोहे को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। फलतः पेच और कमानी का स्पर्श (स्प) भग हो जाता है और धारा का प्रवाह रुक जाता है। इससे लोह-क्रोड का आकर्षण भी नष्ट हो जाता है और कमानी लोहे को पुनः अपने पूर्व स्थान पर खीच लाती है यहाँ आते ही कमानी और पेच का पुनः स्पर्श होता है। पुनः धारा प्रवाहित होती है और पुनः थोड़ी देर में बंद हो जाती है। इसी प्रकार ठीक बिजली की घटी के समान कमानी के कम्पन होते रहते हैं और धारा भी रुक-रुक कर चलती रहती है। ऐसी धारा को आन्तरायिक धारा (intermittent current) कहते हैं। और चित्र 22·17 के जिस भाग से प्राथमिक परिपथ का उन्मीलन और निमीलन होता है उसे आन्तरायित्र (interrupter) कहते हैं।

जिस समय प्राथमिक में धारा चलना प्रारम्भ होता है उस समय द्वैतीयिक में विलोम वि० वा० ब० प्रेरित होता है और जिस समय धारा रुकती है उस समय वि० वा० ब० अनुलोम होता है। अतः द्वैतीयिक कुंडली में उच्च विभव का वि० वा० ब० कभी एक दिशा में और कभी विपरीत दिशा में उत्पन्न होता रहता है। इस द्वैतीयिक वि० वा० ब० के दिशा परिवर्तन की आवृत्ति कमानी के कम्पनों की आवृत्ति पर निर्भर है।

चित्र में एक संधारित्र भी दिखाया गया है। यह कमानी और पेच के स्पर्श स्थान से पार्श्व-बद्ध है और प्रेरण-कुंडली के लिये यह बहुत ही उपयोगी प्रमाणित हुआ है।

22·21—**प्रेरण कुंडली की कार्य प्रणाली।** पेच और कमानी के सम्बन्ध होने को निमीलन (make) और उनके विच्छेद को उन्मीलन (break) कहते हैं। निमीलन के समय प्राथमिक धारा धीरे-धीरे बढ़ती है क्योंकि प्रेरकत्व से उत्पन्न वि० वा० ब० इस धारा का विरोध करता है। इससे द्वैतीयिक में अधिक उच्च वि० वा० ब० प्रेरित नही हो पाता।

उन्मीलन के ममय स्व-प्रेरित वि० वा० ब० प्राथमिक धारा ही की दिशा में होता है और यह धारा को जल्दी नष्ट नही होने देता। यदि संधारित्र न लगाया जाय तब तो इसके कारण कमानी और पेच के बीच में आर्क उत्पन्न हो जायगा और ऊष्मा के रूप में विद्युत्-चुम्बकीय ऊर्जा नष्ट हो जायगी। साथ ही पेच की नोक भी पिघल कर बिगड़ जायगी। द्वैतीयिक में अब भी प्रायः निमीलन के समय के प्रेरित वि०वा०ब०
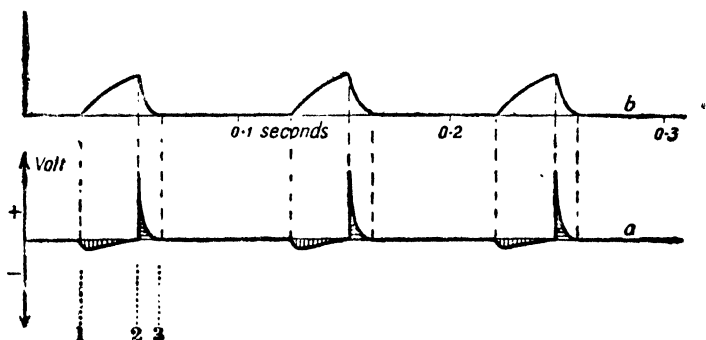
चित्र 22·18

के बराबर ही विभवत्व उत्पन्न होगा। किन्तु संधारित्र के लगाने से परिस्थिति बदल जाती है। अब उन्मीलन के समय प्रेरित धारा संधारित्र को आविष्ट करने में खर्च होती है। आर्क उत्पन्न तो होता है किन्तु उन्मीलन का कार्य बहुत शीघ्र समाप्त हो जाता है। इससे न केवल पेच की नोक की बिगड़ने से रक्षा हो जाती है किन्तु उन्मीलन का काल कम होने से प्राथमिक का चुम्बकीय क्षेत्र बड़ी शीघ्रता से नष्ट हो जाता है। इस कारण इस समय प्रेरित द्वैतीयिक विभवत्व बहुत ही अधिक हो जाता है और किसी-किसी प्रेरण-कुंडली में तो प्रायः 100,000 से भी अधिक तक पहुँच जाता है।

संधारित्र वास्तव में प्राथमिक धारा को शीघ्रता पूर्व केवल नष्ट ही नहीं कर देता। नष्ट हो जाने पर संधारित्र-पट्टिकाओं का आवेश विपरीत दिशा में प्रवाहित

होने लगता है और संधारित्र का विसर्जन भी होता है। वस्तुतः प्राथमिक कुंडली संधारित्र के द्वारा एक दोलक कुंडली बन जाती है। इसमें संधारित्र का दोलित विसर्जन होता है। फलतः चुम्बकीय क्षेत्र का परिवर्तन महत्तम मान से शून्य ही तक नही होता। दोलन की विपरीत-दैशिक धारा के कारण वह शून्य से भी घट कर ऋण चिह्नीय हो जाता है। अत बल-रेखाओं की संख्या में परिवर्तन अधिक होता है और प्रेरित वि० वा० ब० और भी अधिक हो जाता है।

चित्र 22·18 में ऊपर प्राथमिक की धारा का लेखा-चित्र है जिससे प्रगट है कि निमीलन पर समय 1 से 2 तक धारा धीरे-धीरे बढ़ती है किन्तु उन्मीलन के समय यह धारा अत्यन्त शीघ्रता से घटती है (2 से 3 तक) वास्तव में वह शून्य ही नही हो जाती किन्तु विपरीत दिशा में भी बहने लगती है, यद्यपि यह बात चित्र में स्पष्टतः नहीं दिखाई गई है। नीचे की पंक्ति में प्रेरित द्वैतीयिक वि०वा०ब० का लेखाचित्र भी है। निमीलन पर थोड़ा-सा वि०वा०ब० उत्पन्न होता है किन्तु उन्मीलन के समय इसका परिमाण बहुत बढ़ जाता है।

उन्मीलन के समय का विभवत्व ही प्रेरण-कुंडली का उपयोगी विभवत्व है। इसकी अपेक्षा निमीलन वाला विभवत्व उपेक्षणीय होने के कारण एक दृष्टि से यह विभवत्व एक-दैशिक अथवा दिष्ट भी कहा जा सकता है।

बहुधा प्रेरण-कुंडली की प्राथमिक में 10-12 वोल्ट की बैटरी ही से धारा चलाई जाती है। यदि प्राथमिक तथा द्वैतीयिक के फेरों का अनुपात 300 हो तो यह न समझना चाहिये कि द्वैतीयिक विभवत्व $10 \times 300 = 3000$ वोल्ट ही होगा। वस्तुतः यह अनुपात प्राथमिक में प्रेरकत्व-जनित विभवत्व से सम्बन्ध रखता है। उन्मीलन के समय यह स्व-प्रेरित विभवत्व प्रायः 300 वोल्ट हो सकता है। अतः द्वैतीयिक विभवत्व $300 \times 300 = 90000$ वोल्ट हो जायगा।

22·22—**आन्तरायित्र** (Interrupter)। ऊपर जिस आन्तरायित्र का वर्णन किया गया है वह प्लाटिनम आन्तरायित्र कहलाता है। क्योंकि इसमें कमानी पर तथा पेच की नोक पर प्लाटिनम लगा रहता है ताकि आर्क के कारण गल कर वे जल्दी नष्ट न हो जायें। किन्तु इसमें निमीलन और उन्मीलन प्रति सैकंड प्रायः 50 से अधिक नही हो सकते। उन्मीलन का कार्य प्रायः 1/1000 सैकंड के भीतर ही समाप्त हो चुकता है और शेष समय प्रेरण-कुंडली कुछ कार्य नहीं करती। इसलिये यह आवश्यक है कि अन्य आन्तरायित्र ऐसे बनाये जावें जिनमें निमीलन और उन्मीलन जल्दी-जल्दी हो सके। इससे द्वैतीयिक द्वारा जो धारा प्राप्त होगी उसकी प्रबलता बहुत बढ़ सकेगी। दो प्रकार के आन्तरायित्र बहुधा काम में आते हैं।

(1) **पारद-आन्तरायित्र** (Mercury Interrupter)। इसमें लोहे के एक पात्र में कुछ पारा डाल दिया जाता है और इसमें लोहे का एक पिंड **ब** किसी मोटर के द्वारा वेग से घुमाया जाता है। लोह-पिंड में दो सर्पिलाकार सूराख रहते हैं जिनके द्वारा पारा ऊपर चढ़कर पतली नली **न** (चित्र 22·19) के द्वारा वेग से निकल कर पट्टिका **प** से टकराता है। इससे **ब** और **प** के बीच में पारे का चालक मार्ग स्थापित हो जाता है और धारा **ब** से **प** में जा सकती है। **ब** के पूरे चक्कर में यह सम्बन्ध उतनी ही देर तक रहेगा जितनी देर पारे की धार **प** से टकराती रहे। यदि **प** से जुड़ी हुई चार पट्टिकाएँ 90° के अन्तर पर लगा दी जावें तो प्रत्येक चक्कर मे 4 बार निमीलन और उन्मीलन हो सकता है। यह उपकरण प्राथमिक परिपथ में कही भी लगाया जा सकता है। संधारित्र इसके साथ भी **ब** और **प** से पार्श्व-बद्ध लगाना ही पड़ेगा।
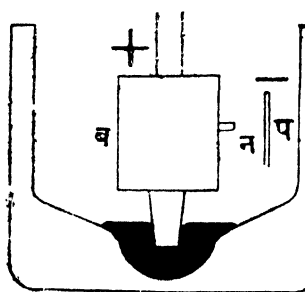
चित्र 22·19

(2) **वेह्नेल्ट आन्तरायित्र** (Wehnelt Interrupter)। इसका आविष्कार वेह्नेल्ट (Wehnelt) ने 1899 में किया था। यह विद्युत्-विश्लेषण के द्वारा कार्य करता है। इसलिये इसे विद्युत्-विश्लेषण-आन्तरायित्र (electrolytic interrupter) भी कहते हैं। इसमें एक कांच के पात्र में गंधकाम्ल का तनु घोल (प्रायः एक भाग अम्ल और 7-8 भाग जल) भरा रहता है। इसमें ऋणाग्र सीसे की बड़ी-सी पट्टिका रहती है। और धनाग्र प्लाटिनम का तार रहता है। यह तार चीनी की एक नली में होकर इस प्रकार लगाया जाता है कि केवल उसकी थोड़ी-सी नोक ही नली के बाहिर निकली रहे और अम्ल को स्पर्श करे। जब प्रायः 40 वोल्ट से अधिक विभवत्व वाले परिपथ में यह रखा हो और उसमें प्रेरकत्व भी काफी हो तो धारा आन्तरायिक हो जाती है। 50 से 100 वोल्ट तक के विभवत्व से इसके अन्तरायों की संख्या कई हजार प्रति सैकंड हो जाती है। किन्तु 20 वोल्ट से कम पर या 120 वोल्ट से अधिक पर अन्तराय नही होते। प्रेरण-कुंडली के साथ इसका उपयोग करने पर संधारित्र को भी हटा लेना पड़ता है। यद्यपि इसके द्वारा द्वैतीयिक विभवत्व कुछ

अधिक नहीं बढ़ता तथापि द्वैतीयिक धारा बहुत प्रबल हो जाती है क्योंकि उतना ही उच्च विभव एक सैकंड में हज़ारों बार कार्य करता है।

इसका रहस्य ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है। यह अवश्य है कि धारा से अम्ल का विश्लेषण होकर प्लाटिनम की नोक पर हाइड्रोजन के बुलबुले निकलते हैं। जब बुलबुला नोक को ढक लेता है तब धारा बन्द हो जाती है और जब बुलबुला हट जाता है तब वह चलने लगती है। किन्तु इस क्रिया की आवृत्ति कई सहस्रों प्रति सैकंड क्यों हो जाती है यह समझ में आना कठिन है।

आजकल एक और आन्तरायित्र भी इसी प्रकार का बनाया जाता है। इसमें गंधकाम्ल के स्थान में अल्यूमिनियम हाइड्रेट के विलयन का उपयोग किया जाता है। यह भी अच्छा कार्य करता है। इसमें एक लाभ और है कि वेहनेल्ट आन्तरायित्र के समान गंधकाम्ल का वाष्प निकल-निकल कर कमरे की अन्य वस्तुओं को नष्ट नहीं करता।

परिच्छेद 23

प्रत्यावर्ती-धारा

(Alternating Current)

23·01—**प्रत्यावर्ती धारा** (Alternating Current) । अब तक हमने ऐसी ही विद्युत्-धारा का वर्णन किया है जो सदा एक ही दिशा में प्रवाहित होती है। किन्तु कुछ धाराएं ऐसी भी होती हैं जिनकी दिशा एक सैकंड में कई बार पलटती रहती है। ऐसी धारा को प्रत्यावर्ती धारा (प्र० धा० या A. C.) कहते हैं। यह निम्नलिखित यंत्र में उत्पन्न हो सकती है जिसे प्रत्यावर्तित्र कहते हैं।
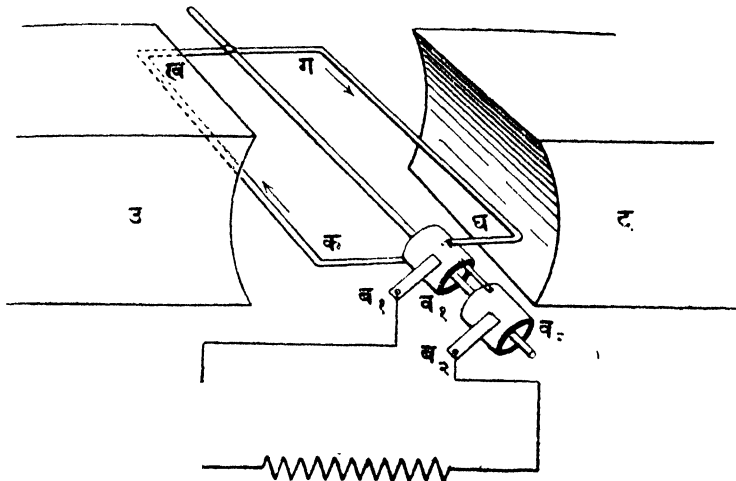
चित्र 23·01

चित्र 23·01 में **उ** तथा **द** चुम्बक के ध्रुव हैं। इनके बीच में तांबे के तार की एक कुंडली **क ख ग घ** रखी है। कुंडली के दोनों सिरों को तांबे के दो छल्लों $ब_1$, $ब_2$ से जोड़ दिया गया है। कार्बन की पट्टिकायें $ब_1$ और $ब_2$ इन छल्लों को स्पर्श करती

है। इन्हें बुरुश (brushes) कहते हैं। कुंडली को घुमाने पर छल्ले भी उसी के साथ बराबर घूमते रहते हैं। बुरुश स्थिर रहते हैं किन्तु **ब**$_1$ का **व**$_1$ से और **ब**$_2$ का **व**$_2$ से स्पर्श बराबर बना रहता है। इस प्रकार कुंडली के घूमते रहने पर भी इसमे उत्पन्न विद्युत्-धारा इन छल्लो और बुरुशों के द्वारा किसी भी वाह्य कुडली मे पहुँचाई जा सकती है। इन छल्लो का नाम स्खलन-वलय (slip-rings) है।

मान लो कि प्रारम्भ में कुडली-तल मे **उ द** की चुम्बकीय बल-रेखाएँ अभिलम्बतः प्रवेश करती हैं। अब यदि बल-रेखाओ से समकोण बनाने वाली अक्ष पर कुंडली को घुमावे तो उसमे प्रवेश करने वाली बल-रेखाओं की सख्या क्रमशः घटती जायगी और 90° घूमने पर जब कुंडली-तल बल-रेखाओं से समान्तर हो जायगा तब तो उसमे एक भी रेखा प्रवेश न करेगी। इसके बाद वे कुंडली में दूसरे पार्श्व से प्रवेश करने लगेंगी और उनकी संख्या फिर धीरे-धीरे बढ़ेगी। जब तक कुडली पुनः बल-रेखाओं से सम-कोणिक न हो जायगी तब तक यह वृद्धि होती ही रहेगी।

चित्र 23·02 में **प फ** कुंडली है और उसकी उत्तरोत्तर दस स्थितियां दिखलाई गई हैं। इन स्थितियों पर गौर करने से बल-रेखाओ की सख्या का उपर्युक्त परिवर्तन स्पष्ट समझ मे आ जायगा। 90° के बाद बल रेखाओ की वृद्धि विपरीत दिशा में होती है। इसे हम यों भी समझ सकते है कि बल-रेखाएँ अब भी कुडली में उसी ओर से प्रवेश करती हैं जिससे पहले करती थी किन्तु अब उनकी संख्या ऋण-चिह्नीय हो

चित्र 23·02

गई है। इस दृष्टि से 90° से 180° तक भी बल रेखाओं की संख्या बराबर घटती जाती है क्योंकि ऋणचिह्नीय संख्या में वृद्धि वास्तव मे घटी ही है। अतः 0° से 180° तक घूमने में कुंडली-गत बल-रेखाओं की संख्या बराबर घटती है। इसके कारण कुंडली में जो वि० वा० ब० प्रेरित होता है उसकी दिशा 0° से 180° तक एक ही रहती है। इसके बाद यह दिशा बदल जाती है और तब 360° तक यह विपरीत ही रहती है।

यदि कुंडली एक-समान वेग से घूमे तो इस प्रेरित वि० वा० ब० का परिमाण भी क्षण-क्षण में बदलता जायगा। 0° और 180° पर बल-रेखाओं की संख्या परि-वर्तन की दर बहुत कम होती है किन्तु यह दर धीरे-धीरे बढ़कर 90° तथा 270° पर

महत्तम मान को प्राप्त कर लेती है। अतः वि० वा० ब० भी $0°$ तथा $180°$ पर बहुत कम होता है (चित्र 23·03 में **क** और **ग** पर) और $90°$ तथा $270°$ पर अधिकतम (**ख** और **घ** पर)। यदि इस कुंडली को बराबर इसी प्रकार घुमाते रहें और बुरुश **ब**$_1$
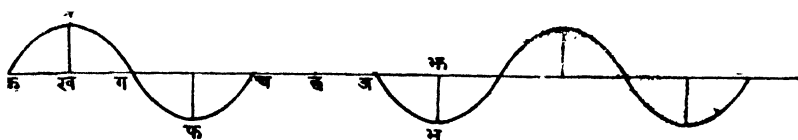
चित्र 23·03

और **ब**$_2$ को किसी परिपथ में जोड़ दें तो इस परिपथ में उक्त वि० वा० ब० के अनुरूप ही धारा की प्रबलता तथा दिशा भी बदलती रहेगी। ऐसी धारा को प्रत्यावर्ती धारा (प्र० धा०) कहते हैं। इसका उपयोग ऊष्मा या प्रकाश उत्पन्न करने में तो बिना कठिनाई के हो सकता है किन्तु विद्युत्-विश्लेषण आदि कार्यों के लिये यह उपयुक्त नहीं है।

यह पहिले बताया जा चुका है कि किसी चालक मे विद्युत्-धारा प्रवाहित होने का अर्थ यह है कि उसमें स्वतंत्र इलेक्ट्रानों के समुदाय का प्रवाह होता है। अतः प्रत्यावर्ती धारा में हमें यह समझना होगा कि ये इलेक्ट्रान लगातार एक ही दिशा में प्रवाहित नही होते किन्तु घड़ी के लोलक के समान उनके आवर्तन होते हैं। वे थोडी देर एक दिशा में फिर विपरीत दिशा में बारम्बार इधर से उधर दोलन करते रहते हैं। उनका वेग भी स्थिर नही रहता। वे कभी बिलकुल ठहर जाते हैं और कभी बड़े वेग से दौड़ते हैं।

यदि कुंडली का क्षेत्रफल A हो तथा कुंडली पर चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता H हो तो जब कुंडली-तल अभिलम्ब बल-रेखाओं से कोण θ बनावेगा तब कुंडलीगत बल-रेखाओं की संख्या होगी

$$\mathrm{N}=AH\cos\theta$$

और कुंडली के घूमने से जो वि० वा० ब० इसमें प्रेरित होगा वह होगा

$$e=-\frac{d\mathrm{N}}{dt}=AH\sin\theta\,\frac{d\theta}{dt}$$

यदि घूमने का वेग $\omega=\frac{d\theta}{dt}$ नियत मान का रहे तो $\theta=\omega t$

अतः
$$e=\omega AH\sin\omega t$$

यदि कुंडली में फेरों की संख्या n हो तो वि० वा० ब०

$$E=ne=n\omega\, AH\sin\omega t$$
$$=E_0\sin\omega t \qquad \ldots \quad (1)$$

चित्र 23·03 में E का लेखा-चित्र है। यह वक्र ज्या-वक्र (sine curve) होगा।

यदि आवर्त-काल T हो तो आवृत्ति $n=\frac{1}{T}$ और $\omega=\frac{2\pi}{T}=2\pi n$

अतः समीकरण (1) के दूसरे रूप हैं :—

$$E=E_o \sin \frac{2\pi t}{T} \quad \ldots \quad (2)$$

और

$$E=E_o \sin 2\pi nt \quad \ldots \quad (3)$$

23·02—**कुछ पारिभाषिक शब्द**। पिछले अनुच्छेद में बतलाया जा चुका है कि प्रत्यावर्ती धारा अपनी दिशा बार-बार निश्चित समय के अन्तर से बदलती रहती है और प्रत्येक आवर्तन में यह धीरे-धीरे अपनी प्रबलता को बदल कर तथा दो बार दिशा का परिवर्तन करके अपनी पूर्व अवस्था को प्राप्त कर लेती है। द्रव्य-कण की सरल-आवर्त-गति में भी ठीक ऐसा ही होता है और उसके विस्थापन का लेखा-चित्र भी ज्या-वक्र ही होता है। इस समानता के कारण इस धारा के लिये भी उन्ही पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया जाता है जो लोलक के अथवा सरल-आवर्त गति के सम्बन्ध में प्रचलित हैं। किसी अवस्था से प्रारम्भ करके दो बार दिशा परिवर्तन करके पुनः उसी अवस्था को प्राप्त कर लेने की क्रिया को एक आवर्तन कहते हैं और इस आवर्तन में जितना समय T लगता है उसे आवर्त-काल (periodic time) कहते हैं। एक सैकंड में होने वाले पूरे आवर्तनों की संख्या को उस धारा की आवृत्ति (frequency) कहते हैं। दोनों में से किसी भी दिशा में धारा की अधिकतम प्रबलता **ख प**—**घ फ** को उसका आयाम (amplitude) कहते हैं। उपर्युक्त लेखा-चित्र उस धारा का तरंग-चित्र (wave-form) कहलाता है क्योंकि उसकी आकृति तरंग के समान है।

इन शब्दों के अतिरिक्त एक और पारिभाषिक शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह शब्द कला (phase) है। इसके द्वारा धारा की तात्कालिक स्थिति व्यक्त होती है। एक आवर्तकाल के पश्चात् यह स्थिति पूर्ववत् हो जाती है। अतः कहा जाता है कि चित्र 23·03 में **क** तथा **च** पर कला समान (same) हैं। विपरीत इसके आधे आवर्तकाल के बाद स्थिति उलटी होती है। धारा की प्रबलता तो पूर्ववत् ही रहती है किन्तु दिशा विपरीत होती है। इसलिये कहा जाता है कि आधे आवर्त-काल के बाद कला विपरीत (opposite) हो जाती है, यथा **ख** और **घ** पर कलाएँ विपरीत हैं।

कला का परिमाणिक नाप समीकरण (1) के कोण $\theta=\omega t$ के द्वारा किया जाता है।

कला नापने का प्रारम्भ जिस स्थिति से किया जाय उस समय ($t=0$) की कला को 0° की कला कहते हैं। इस स्थिति से t सैकंड के बाद की कला को ωt या $360t/T$ डिगरी की अथवा $2\pi t/T$ की कला कहते हैं। इस दृष्टि से जब $t=T$ हो तो प्रारम्भ से कला का अन्तर हुआ 360° या 2π। अतः इस परिमाण का कलान्तर समान कला का द्योतक समझा जाता है। 180° या π का कलान्तर विपरीत कला का द्योतक है। यदि T की अपेक्षा t अधिक हो तो कलान्तर 360° या 2π से अधिक हो जायगा किन्तु इसमें से जितनी बार 360° या 2π घटाया जा सके उतनी बार घटा देने के बाद जो बाकी बचे वही वास्तविक कलान्तर समझा जायगा क्योंकि प्रत्येक 360° या 2π के बाद कला पुनः 0° हो जाती है।

23·03—**प्रत्यावर्ती धारा का नाप**। ऊपर बताया जा चुका है कि प्रत्यावर्ती धारा की प्रबलता क्षण-क्षण बदलती रहती है। यह परिवर्तन सबसे सरल प्रकार का तब समझा जाता है जब वह उपर्युक्त ज्या-नियम (sine law) के द्वारा व्यक्त किया जा सके। किन्तु जिस प्रकार प्रत्येक आवर्तगति सरल नहीं होती उसी प्रकार प्रत्यावर्ती धाराएँ ऐसी भी होती हैं जिनमें परिवर्तन इस सरल प्रकार का नहीं होता। तब तरंग-चित्र भी अधिक जटिल होता है और वि० वा० ब० का तात्कालिक परिमाण निम्नलिखित फ़ूरियर श्रेणी (Fourier series) के द्वारा व्यक्त होता है

$$E=E_1 \sin \omega t+E_2 \sin (2\omega t+\alpha)+E_3 \sin (3\omega t+\beta)+\ldots \quad (4)$$

साधारण प्रत्यावर्ती मशीनों से जो धारा उत्पन्न होती है वह इतनी जटिल नहीं होती और उसे उपर्युक्त एक पद वाले सूत्र (1) से अथवा ज्या-नियम से व्यक्त करने में अधिक ग़लती नहीं होती। अतः हम भी यहाँ सरल प्रत्यावर्ती धारा ही पर अपना वक्तव्य परिमित रखेंगे।

क्षण-क्षण पर बदलने वाली धारा की प्रबलता को कैसे नापा जाय? साधारण विद्युत्-चुम्बकीय धारामापी या अम्पीयर-मापी जिनका वर्णन पिछले परिच्छेदों में किया गया है इस कार्य के लिये सर्वथा अनुपयुक्त हैं क्योंकि उनकी सुई या तो इतनी शीघ्रता से आवर्तन कर सकने में असमर्थ होने के कारण अपने प्रकृत स्थान से हिलेगी हो नहीं और यदि किसी प्रकार कोई धारामापी ऐसा बना भी दिया गया कि उसका संकेतक (pointer) एक सैकंड में 50-60 बार कम्पन कर सके तो वह इतनी शीघ्रता से हिलता रहेगा कि उसके द्वारा केवल महत्तम प्रबलता ही नापना सम्भव है।

अतः प्रत्यावर्ती धारा नापने के लिये धारा के ऐसे प्रभाव का उपयोग किया जाता है जो धारा की दिशा पर निर्भर न हो। जैसे प्रतिरोध में से धारा I के प्रवाहित होने

से जो ऊष्मा उत्पन्न होती है उसका परिमाण I^2R होता है चाहे धारा की दिशा कुछ भी हो। यह सच है कि प्रत्यावर्ती धारा से उत्पन्न ऊष्मा का मान भी क्षण-क्षण पर बदलता रहेगा, किन्तु तब भी प्रत्येक आवर्तन में जो ऊष्मा उत्पन्न होगी उसका परिमाण तो स्थिर ही रहेगा। ऊष्मा की इस मात्रा के द्वारा धारा की प्रबलता नापी जा सकती है। इसके लिये उत्तप्त-तार-धारामापी या ताप-वैद्युत धारामापी का उपयोग किया जाता है। इस उपाय से हमें उस दिष्ट धारा (direct current) का परिमाण ज्ञात हो सकता है जिससे प्रति सैकंड ठीक उतनी ही ऊष्मा उत्पन्न हो जितनी कि प्रत्यावर्ती धारा से होती है। इस दिष्ट धारा के परिमाण ही के द्वारा प्रत्यावर्ती धारा नापी जाती है। यदि हम कहें कि अमुक प्रत्यावर्ती धारा 5 अम्पीयर की है तो उसका अर्थ केवल यही है कि वह प्रत्यावर्ती धारा किसी प्रतिरोध में प्रवाहित होकर प्रति सैकंड ठीक उतनी ही ऊष्मा उत्पन्न करेगी जितनी कि 5 अम्पीयर की दिष्ट धारा।

यह प्रमाणित किया जा चुका है कि दिष्ट धारा से उत्पन्न ऊष्मा धारा की प्रबलता के वर्ग की अनुपाती होती है। अतः प्रत्यावर्ती-धारामापी वास्तव में धारा की प्रबलता $I=E_0 \sin \omega t/R=I_0 \sin \omega t$ को नही नापता। वह नापता है I^2 के माध्य मान को अर्थात् $I_0^2 \sin^2\omega t$ के औसत मान को। प्रगट है कि यह

औसत मान
$$\bar{I}^2=\frac{\int_0^t I_0^2 \sin^2 \omega t dt}{T}$$

यदि $\omega t=\theta$ हो तो $d\theta=\omega dt$। तथा $T=2\pi/\omega$

अतः
$$\bar{I}^2=I_0^2 \frac{\int_0^{2\pi} \sin^2 \theta d\theta}{2\pi}$$
$$=\frac{I_0^2}{2}$$
$$\therefore \quad \sqrt{\bar{I}^2}=\frac{I_0}{\sqrt{2}} \quad \ldots \ldots (5)$$

किन्तु अम्पीयर-मापी पर जो अंक लिखे रहते हैं वे (अम्पीयर)^2 नहीं होते। उसका पाठ $I_0/\sqrt{2}$ व्यक्त करता है। यह उस धारा के वर्ग के मध्यमान परिमाण का वर्गमूल है। अतः इसे धारा का वर्ग-माध्य-मूल (root mean square) परिमाण कहते हैं। इसे व० मा० मू० (r.m.s.) मान भी कहते हैं। 5 अम्पीयर की प्रत्यावर्ती धारा का अर्थ यही है कि उसका व० मा० मू० परिमाण 5 अम्पीयर है।

प्रत्यक्ष ही है कि इस धारा का महत्तम मान $I_0 = 5\sqrt{2} = 7 \cdot 07$ अम्पीयर होगा और किसी भी क्षण पर उसका वास्तविक परिमाण 0 से लेकर $\pm 7 \cdot 07$ अम्पीयर के बीच में होगा।

इसी प्रकार प्रत्यावर्ती धारा का विभवत्व या उसका उत्पादक वि० वा० ब० भी ज्या-नियम के अनुसार क्षण-क्षण बदलता रहता है। अतः वोल्ट-मापी भी विभवत्व का व० मा० मू० परिमाण नापते हैं। 220 वोल्ट की प्रत्यावर्ती धारा में विभवान्तर $220\sqrt{2} = 310$ वोल्ट तक बढ़ता है। अतः ऐसी धारा के प्रयोग में यह ध्यान रखना पड़ता है कि यद्यपि धारा 220 वोल्ट (प्र० धा०) वाली ही हो तब भी विलागक ऐसे होने चाहिये जो कम से कम 310 वोल्ट के विभवान्तर को बरदाश्त कर सकें।

इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि प्र० धा० वोल्टमापी तथा अम्पीयर मापी दिष्ट धारा (दि० धा०) के नाप में भी काम आ सकते हैं। वस्तुतः उनका अंशांकन दिष्ट धारा ही के द्वारा किया जाता है।

प्रत्यावर्ती धारा के व० मा० मू० परिमाण को आभासी अम्पीयर (virtual ampere) तथा विभवत्व के व० मा० मू० परिमाण को आभासी वोल्ट (virtual volts) भी कहते हैं। प्र० धा० अम्पीयर-मापी तथा वोल्ट-मापी इन आभासी अम्पीयरों तथा वोल्टों ही को नापते हैं।

23·04—**प्रत्यावर्ती धारा का विद्युद्वाहक बल के साथ सम्बंध**। धारा तथा वाह्य वि० वा० ब० का जो सम्बन्ध ओह्म के नियम के द्वारा नियत है वह उन धाराओं के लिये ही ठीक है जिनकी न तो दिशा बदलती है और न जिनकी प्रबलता में परिवर्तन होता है। अपरिवर्ती दिष्ट धारा ही पर वे नियम लागू हैं। किन्तु दिष्ट-धारा का भी जिस समय प्रारम्भ होता है उस समय विरोधी प्रेरित वि० वा० ब० e के कारण धारा का परिमाण बाहर से लगाये हुए वि० वा० ब० E तथा प्रतिरोध R के अनुपात से कम होता है क्योंकि $I = (E - e)/R$

अतः जब धारा बढ़ती रहती है तब $I < \frac{E}{R}$

, किन्तु जब धारा घटती है तब $I > \frac{E}{R}$ क्योंकि तब e की दिशा और E की दिशा एक ही होती है और $I = (E + e)/R$ होता है

अतः इन अवस्थाओं में ओह्म का नियम लागू नहीं होता। प्रत्यावर्ती धारा एक ही सैकंड मे कई बार चलना प्रारम्भ करती है और कई बार बंद हो जाती है। अतः यह स्पष्ट है कि ऐसी धारा के लिये वि० वा० ब० तथा धारा का सम्बन्ध ओह्म के नियम से भिन्न होगा।

इसमे सन्देह नही कि प्रत्यावर्ती धारा के तात्कालिक परिमाण और तात्कालिक पूर्ण वि० वा० ब० (वाह्य+अतरंग) के परिमाण ओह्म के नियम का पालन अवश्य करेगे। किन्तु प्रेरित वि० वा० ब० को जानना कठिन है क्योंकि हमारे मापक यंत्र तात्कालिक धारा तथा तात्कालिक वि० वा० ब० को नापते ही नही। जिस चीज को हम नापते हैं वह है आभासी वोल्ट तथा आभासी अम्पीयर। अतः हम आशा नहीं कर सकते कि ये आभासी वोल्ट तथा अम्पीयर ओह्म के नियम का पालन करेगे।

23·05—**प्रेरकत्वहीन परिपथ** (Circuit without Inductance) यदि प्रत्यावर्ती धारा के परिपथ मे प्रेरकत्व बिल्कुल ही न हो तब तो कोई दिक्कत ही न होगी। यदि उसका प्रतिरोध R हो तो प्रत्येक क्षण पर तात्कालिक वि० वा० ब०

$$E=RI=RI_0 \sin \omega t=E_0 \sin \omega t$$

अतः E और I मे कोई कलान्तर नही होगा।

वोल्ट-मापी आभासी मान $E_v=\dfrac{E_0}{\sqrt{2}}=\dfrac{RI_0}{\sqrt{2}}$ वोल्ट बतावेगा

और अम्पीयरमापी आभासी मान $I_v=\dfrac{I_0}{\sqrt{2}}$ अम्पीयर बतावेगा।

अतः $$\frac{E_v}{I_v}=\frac{RI_0}{\sqrt{2}}\div\frac{I_0}{\sqrt{2}}=R \qquad . \quad . \quad . \quad (6)$$

होगा। इस दशा मे ओह्म का नियम आभासी वोल्टों तथा अम्पीयरों के लिये भी ठीक रहेगा। इस प्रतिरोध में ऊष्मा उत्पन्न करने के लिये जितनी शक्ति (power) खर्च होती है उसका तात्कालिक मान है

$$EI=E_0 \sin \omega t \times I_0 \sin \omega t$$
$$=E_0 I_0 \sin^2 \omega t$$

अतः $\sin^2 \omega t$ का औसतमान $\frac{1}{2}$ होने के कारण इस शक्ति का माध्य मान हुआ

$$\frac{E_0 I_0}{2} = \frac{E_0}{\sqrt{2}} \times \frac{I_0}{\sqrt{2}} = E_v \times I_v \quad \ldots \quad (7)$$

अतः प्रेरकत्व-हीन परिपथ में शक्ति का परिमाण भी आभासी वोल्टों तथा अम्पीयरों के गुणन फल के बराबर होता है।

23·06—**परिपथ में प्रेरकत्व का प्रभाव**। इस प्रभाव को अच्छी तरह समझने के लिये मान लीजिये कि प्रतिरोध इतना कम है कि हम उसे उपेक्षणीय समझ सकते हैं। इस अवस्था में प्रेरित वि० वा० ब० सदा ही धारा के परिवर्तन का विरोध करेगा। धारा को चलाने के लिये इस वि० वा० ब० से कुछ ही अधिक वाह्य वि० वा० ब० की आवश्यकता होगी। यदि $I = I_0 \sin \omega t$ हो तथा कुंडली का स्व-प्रेरकत्व L हो तो तात्कालिक प्रेरित वि० वा० ब० होगा

$$\begin{aligned} E &= -L di/dt = -L\omega I_0 \cos \omega t \\ &= L\omega I_0 \sin (\omega t + \pi/2) \\ &= E_0 \sin (\omega t + \pi/2) \quad \ldots \quad (8) \end{aligned}$$

इसे यदि हम तरंग-वक्र के द्वारा व्यक्त करें तो चित्र 23·04 के वक्र प्राप्त होंगे। इस चित्र में अविच्छिन्न वक्र धारा का द्योतक है और विन्दुमय वक्र वि० वा० ब० का। स्पष्ट है कि धारा की कला ऐसी अवस्था में वि०वा०ब० से पीछे रह जाती है। अर्थात् जब वि० वा० ब० का परिमाण अधिकतम होता है ठीक उसी समय धारा का
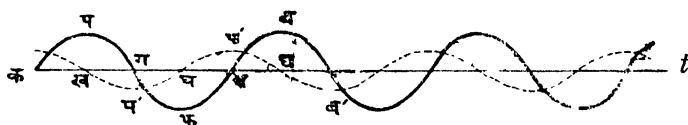
चित्र 23·04

परिमाण अधिकतम नहीं होता। उसके कुछ देर बाद होता है। इसी प्रकार वि० वा० ब० का मान 0 हो जाने के कुछ देर बाद धारा का मान 0 होता है। दिशा परिवर्तन में भी धारा वि०वा०ब० से पीछे रह जाती है। यदि इस पश्चता (lag) को हम कलान्तर के द्वारा व्यक्त करें तो यह कलान्तर $90°$ या $\pi/2$ का है। इस कलान्तर को समझना कुछ कठिन नहीं। **ख** पर धारा का मूल्य अधिकतम है और धारा के परिमाण में परिवर्तन कुछ भी नहीं होता। अतः उस समय प्रेरित वि० वा० ब० का परिमाण शून्य होगा। इसी प्रकार **ग** पर धारा के परिवर्तन की दर अधिकतम है। अतः वहाँ प्रेरित वि० वा० ब० भी अधिकतम होगा।

E का जो मान ऊपर दिया हुआ है उससे स्पष्ट है कि

$$E_0 = L\omega I_0 = 2\pi nLI_0$$

अर्थात् $$E_0/I_0 = 2\pi nL$$

$$\therefore \quad E_v/I_v = E_0/I_0 = L\omega = 2\pi nL = \text{अचर} \quad \ldots \quad (9)$$

इसलिये यदि हम केवल इन आभासी E_v तथा I_v पर ध्यान रखें, तो इनके अनुपात का मान अचर होने के कारण हम कह सकते हैं कि इस अवस्था में भी ओह्म का नियम ठीक है किन्तु अब हमें $2\pi nL$ को उस कुंडली का प्रतिरोध मानना पड़ेगा। यह प्रतिरोध साधारण प्रतिरोध से भिन्न प्रकार का है क्योंकि इसका कारण प्रेरण है। इस भेद को दिखलाने के लिये इस का नाम प्रतिबाधा (reactance) रख दिया गया है। अब हम कह सकते हैं कि जिस कुंडली का स्व-प्रेरकत्व L हैनरी हो उसकी प्रतिबाधा n आवृत्ति की धारा के लिये $2\pi nL$ = ओह्म होती है, तथा प्रेरकत्व-युक्त कुंडली के लिये ओह्म का नियम यह है E_v/I_v = प्रतिबाधा = $L\omega = 2\pi nL$ . . . (9)

23·07—**प्रेरकत्व तथा प्रतिरोध युक्त परिपथ** (Circuit with Inductance and Resistance) पिछले प्रकरण में परिपथ का प्रतिरोध उपेक्षणीय समझा गया था। किन्तु यदि प्रतिरोध इतना कम न हो तो जो वाह्य वि० वा० ब० परिपथ पर लगाया जायगा उसे दो काम करने पड़ेंगे। एक तो उसे प्रेरित वि० वा० ब० का विरोध करना पड़ेगा और दूसरे प्रतिरोध को अतिक्रम करना पड़ेगा। यदि धारा $I = I_0 \sin \omega t$ हो तो प्रेरित वि० वा० ब० होगा

$$e_1 = -L\frac{dI}{dt} = -L\omega I_0 \cos \omega t$$

और प्रतिरोध की अतिक्रान्ति के लिए आवश्यक वि० वा० ब०

$$e_2 = RI = RI_0 \sin \omega t$$

इस पिछले वि० वा० ब० में तथा धारा में कला का अन्तर कुछ भी नहीं हो सकता (अनु० 23·05)।

स्पष्ट है कि आवश्यक वाह्य वि० वा० ब० का पूर्ण परिमाण e_1 और e_2 के संयोजन से प्राप्त होगा। और दोनों ही सरल-आवर्ती हैं और इनका कलान्तर $\pi/2$ है। अतः इन का संयोजन इनके आयामों को सदिश राशियाँ (vector) मानकर समान्तर चतुर्भुज नियम के अनुसार होगा। अथवा संयोजित वि० वा० ब० होगा

$$E = e_1 + e_2 = -L\omega I_0 \cos \omega t + RI_0 \sin \omega t = E_0 \sin (\omega t + \phi)$$

अतः $E_o \sin\phi = -L\omega I_0''$ है $L\omega I_o$ और $E_o \cos\phi = RI_o$

$$\therefore \quad E_o^2 = (\omega^2 L^2 + R^2) I_o^2 \qquad \ldots \quad (10)$$

या $$E_o = I_o \sqrt{(\omega^2 L^2 + R^2)}$$

और $$\tan\phi = -\frac{L\omega}{R}$$

$$\therefore \quad \frac{E_v}{I_v} = \frac{E_0}{I_0} = \sqrt{\omega^2 L^2 + R^2}$$

$$= \sqrt{4\pi^2 n^2 L^2 + R^2}$$

यदि इस परिपथ के वि० वा० ब० तथा धारा के तरंग-चित्र खीचे जावें तो वे चित्र 23·04 के ही समान होंगे। भेद केवल यह होगा कि पश्चता का मान $\phi < \pi/2$ होगा (चित्र 23·05)।
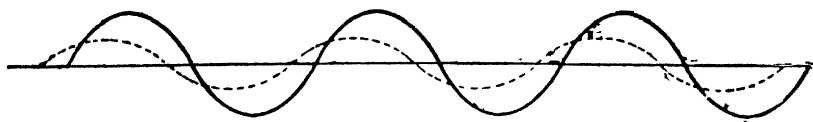
चित्र 23·05

इस अवस्था में भी आभासी वोल्टों तथा अम्पीयरों के लिये ओह्म का नियम लागू हो सकता है यदि प्रतिरोध का स्थान $\sqrt{\omega^2 L^2 + R^2}$ को दे दिया जाय। इस परिमाण का नाम अवबाधा (impedance) रख दिया गया है और यह प्रतिरोध तथा प्रतिबाधा दोनों के संयुक्त प्रभाव का माप है। इसका मात्रक भी ओह्म ही है।

एक उदाहरण के द्वारा इस विषय को स्पष्ट कर देना आवश्यक जान पड़ता है। मान लीजिये कि एक परिपथ का प्रतिरोध 2 ओह्म है और उसका स्व-प्रेरकत्व ·01 हैनरी है। यदि उसमें 40 अम्पीयर की धारा प्रवाहित करना हो तो वि० वा० ब० कितना होना चाहिये ? यदि धारा दिष्ट हो तब तो स्पष्ट ही $2 \times 40 = 80$ वोल्ट के वि० वा० ब० की आवश्यकता होगी। किन्तु यदि धारा 50 आवर्तन प्रति सैकंड की हो तब इस 80 वोल्ट से काम न चलेगा। उस समय आवश्यक आभासी वोल्ट

$$E_v = 40\sqrt{4\pi^2 \times 50^2 \times (\cdot 01)^2 + 2^2}$$

$$= 149{\cdot}6 \text{ वोल्ट}$$

अवबाधा के व्युत्क्रम (reciprocal) का नाम प्रवेशत्व (admittance) है।

$$\text{प्रवेशत्व} = \frac{1}{\text{अवबाधा}}$$

ऊपर अवबाधा के लिये जो सूत्र $\sqrt{\omega^2 L^2 + R^2}$ दिया गया है उसको ज्यामितीय रूप से यों समझ सकते है कि प्रतिरोध R और प्रतिबाधा ωL भी सदिश राशियाँ हैं जिनकी दिशाओं में 90° का कोण है। अतः यदि एक सम-कोणिक त्रिभुज बनाया जाय जिसकी एक भुजा R हो तथा दूसरी ωL, तो उसका कर्ण (hypotenuse) $= \sqrt{\omega^2 L^2 + R^2}$ होगा। अतः कर्ण ही अवबाधा का द्योतक होगा।

23·08—**संधारित्र युक्त परिपथ** (Circuit with Condenser)। यदि चित्र 23·06 के समान अम्पीयर-मापी तथा संधारित्र श्रेणीबद्ध कर दिये जावे और तब इन्हें दिष्ट वि० वा० ब० से जोड़ दिया जाय तो स्पष्ट है कि धारा का क्षणिक प्रवाह होकर संधारित्र की पट्टिकाये आविष्ट हो जायेंगी और तब धारा भी बंद हो जायगी। अम्पीयर-मापी में कोई स्थायी विक्षेप न होगा। हम कह सकते हैं कि यह परिपथ निमीलित ही नहीं है। अतः प्रारम्भिक क्षण को छोड़कर दिष्ट धारा संधारित्र मे से प्रवाहित नहीं हो सकती।
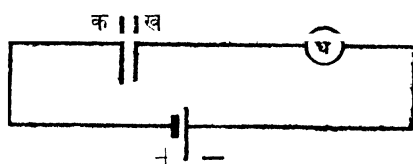
चित्र 23·06

किन्तु यदि इसी संधारित्र में से प्रत्यावर्ती धारा चलाई जाय तो संधारित्र-पट्टिकाओं का आवेश क्षण-क्षण बदलेगा और एक सैकंड में कई बार इनके आवेशों का चिह्न भी बदल जायगा। अतः दिष्ट धारा के प्रारम्भ या उसकी समाप्ति पर जैसी क्षणिक धारा संधारित्र में चलती है वैसी ही धाराएँ उसमें अब बराबर चलती रहेंगी और इसलिए अम्पीयर-मापी सर्वथा अविक्षिप्त न रहेगा। उसके विक्षेप से ज्ञात होगा कि इस परिपथ में और इसलिये संधारित्र में भी धारा चल रही है। प्रत्यावर्ती धारा के लिये संधारित्र भी एक प्रकार का चालक ही है। उसमें से ऐसी धारा प्रवाहित हो सकती है।

यदि संधारित्र की धारिता C फ़ैरड हो तथा उस पर जो वाह्य वि० वा० ब० लगाया जाय उसका परिमाण

$$E = E_0 \sin \omega t$$

हो और यदि किसी क्षण पर संधारित्र पर संग्रहीत आवेश q हो तो संधारित्र पट्टिकाओं का विभवान्तर $\frac{q}{C}$ होगा।

$$\therefore \quad \frac{q}{C} = E_0 \sin \omega t \quad \text{तथा} \quad q = CE_0 \sin \omega t$$

अतः उस क्षण पर प्रवाहित होने वाली धारा का परिमाण

$$I = \frac{dq}{dt} = \omega CE_0 \cos \omega t = \frac{E_0}{\frac{1}{\omega C}} \sin(\omega t - \pi/2)$$

$$= I_0 \sin(\omega t - \pi/2) \qquad \ldots \quad (11)$$

होगा। अतः आभासी वोल्टों तथा अम्पीयरों का अनुपात

$$\frac{E_v}{I_v} = \frac{E_0}{I_0} = \frac{1}{\omega C} = \frac{1}{2\pi nC} \qquad \ldots \quad (12)$$

यदि संधारित्र के लिये $\frac{1}{\omega C}$ को एक प्रकार का प्रतिरोध समझा जाय तब यहाँ भी हम कह सकते हैं कि ओह्म का नियम लागू है। $\frac{1}{\omega C}$ को भी प्रतिबाधा कहते हैं।

E तथा I के तरंग-चित्रों से (चित्र 23·07) भी पता लग जायगा कि धारा और वि० वा० ब० में $\pi/2$ का कलान्तर है किन्तु अब धारा आगे है। प्रेरकत्व-युक्त परिपथ में धारा वि० वा० ब० से कला में पीछे रहती है तो संधारित्र-युक्त परिपथ
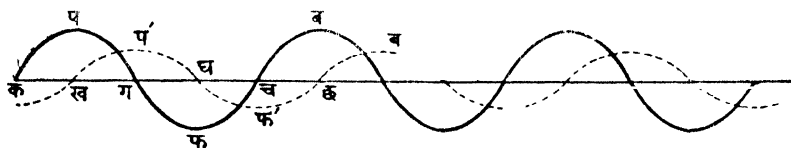
चित्र 23·07

में धारा आगे रहती है। इसका कारण स्थूल रूप से समझने के लिये मान लीजिये कि चित्र 23·06 के संधारित्र को हम किसी बैटरी से जोड़ दें। तो बैटरी से धारा चलकर संधारित्र को आविष्ट करेगी। संधारित्र की धारिता के कारण पट्टिका क का विभव

तुरन्त ही सैल के धन ध्रुव के बराबर न हो सकेगा। अतः प्रारम्भ में धारा अधिक प्रबल चलेगी और जब संधारित्र-पट्टिका पूर्ण रूप से आविष्ट हो जायगी तब यह धारा बिलकुल बंद हो जायगी। इसके बाद जब सैल से इसका सम्बन्ध विछिन्न किया जायगा तब संधारित्र पट्टिकाओं का विभवान्तर विपरीत दिशा में धारा प्रवाहित करेगा। इससे प्रगट है कि संधारित्र का प्रभाव प्रेरकत्व से ठीक उलटा होता है। यदि इस प्रभाव को भी प्रेरित वि० वा० ब० के द्वारा व्यक्त करें तो कहना होगा कि धारा के प्रारम्भ में संधारित्र का प्रेरित वि० वा० ब० अनुलोम होता है और उसकी समाप्ति पर विलोम।

मान लीजिये कि किसी सधारित्र की धारिता 20 माइक्रोफ़ैरड $=20\times10^{-6}$ फ़ैरड है। अतः 50 आवर्तन की धारा के लिये इसकी प्रतिबाधा का मान हुआ

$$\frac{1}{\omega C}=\frac{1}{2\pi nC}=\frac{1}{2\pi\times50\times20\times10^{-6}}=159 \text{ ओह्म}।$$

सधारित्र की प्रतिबाधा $\frac{1}{2\pi nC}$ का मान आवृत्ति n पर अवलम्बित है। जब n बहुत बड़ा होता है तो प्रतिबाधा छोटी होती है। अत उच्च आवृत्ति की प्रत्यावर्ती धारा सधारित्र मे से सुगमता से प्रवाहित हो सकती है। वह ऐसी धारा के लिये सुचालक है। ऐसे संधारित्र को सुचालक सधारित्र (by-pass condenser) कहते हैं। किन्तु यदि n का मान कम होता है तो प्रतिबाधा बहुत बड़ी हो जाती है और वही सधारित्र अल्प आवृत्ति की धारा का प्रबल विरोध करता है। यहाँ तक कि यदि $n=0$ हो जाय तो यह विरोध अनन्त हो जायगा। अतः अपरिवर्ती दिष्ट-धारा संधारित्र में से प्रवाहित हो ही नही सकेगी। तब संधारित्र को निरोधी सधारित्र (blocking condenser) कहते है।

23·09—संधारित्र और प्रतिरोध युक्त परिपथ (Circuit with Condenser and Resistance)। अब यह समझने मे कठिनाई न होगी कि यदि परिपथ में संधारित्र भी हो और प्रतिरोध भी हो तो उस परिपथ की

$$\text{अवबाधा}=\sqrt{\left(\frac{1}{\omega C}\right)^2+R^2} \qquad \dots \quad (13)$$

तथा इस परिपथ में धारा वि०वा०ब० से कला में आगे रहेगी और कलान्तर 0 तथा $\frac{\pi}{2}$ के बीच में रहेगा। कलान्तर का परिमाण होगा

$$\phi=\tan^{-1}\frac{1}{\omega CR}=\tan^{-1}\frac{1}{2\pi nCR}$$

23·10—संधारित्र, प्रेरकत्व तथा प्रतिरोध युक्त परिपथ (Circuit with Inudctance, Condenser and Resistanace)। मान लीजिये कि किसी परिपथ का प्रतिरोध R है, प्रेरकत्व L है तथा धारिता C है। ये सब श्रेणीबद्ध है और वाह्य वि० वा० ब० है

$$E=E_{\circ}\sin\omega t.$$

तब स्पष्ट है कि तात्कालिक पूर्ण वि० वा० ब० होगा

$$E_{\circ}\sin\omega t-L\frac{dI}{dt}-\frac{q}{C}$$

अतः
$$E_{\circ}\sin\omega t-L\frac{dI}{dt}-\frac{q}{C}=RI$$

किन्तु
$$I=\frac{dq}{dt}\text{ और }\frac{dI}{dt}=\frac{d^2q}{dt^2}$$

$\therefore$
$$L\frac{d^2q}{dt^2}+R\frac{dq}{dt}+\frac{q}{C}=E_{\circ}\sin\omega t. \quad \ldots \quad (14)$$

इस समीकरण का पूरा हल तो यहाँ नहीं दिया जा सकता। हमें तो केवल उसी अश से प्रयोजन है जिसमें धारा प्रत्यावर्ती होती है। अत यदि हम मान लें कि

$$q=A\sin\omega t+B\cos\omega t$$

तो
$$\frac{dq}{dt}=A\omega\cos\omega t-B\omega\sin\omega t$$

और
$$\frac{d^2q}{dt^2}=-A\omega^2\sin\omega t-B\omega^2\cos\omega t$$

अतः समीकरण का रूप हो जायगा

$$-L\omega^2(A\sin\omega t+B\cos\omega t)+R\omega(A\cos\omega t-B\sin\omega t)$$
$$+\frac{1}{C}(A\sin\omega t+B\cos\omega t)=E_{\circ}\sin\omega t.$$

जब $t=0$ हो तब $\sin\omega t=0$ और $\cos\omega t=1$ होगा।

अतः
$$AR\omega+B\left(\frac{1}{C}-L^2\omega\right)=0 \quad \ldots \quad (15)$$

और जब $\omega t = \frac{\pi}{2}$ हो तब $\sin \omega t = 1$ और $\cos \omega t = 0$ होगा ।

अतः $$A\left\{\frac{1}{C} - L\omega^2\right\} - BR\omega = E_\circ \quad \ldots \quad (16)$$

समी० (15) और (16) से

$$A = \frac{\left(\frac{1}{C\omega} - L\omega\right)}{\omega\left[\left(\frac{1}{C\omega} - L\omega\right)^2 + R^2\right]} E_\circ$$

$$B = -\frac{R}{\omega\left[\left(\frac{1}{C\omega} - L\omega\right)^2 + R^2\right]} E_\circ$$

$$\therefore \quad q = \frac{E_\circ}{\omega\left[\left(\frac{1}{C\omega} - L\omega\right)^2 + R^2\right]}\left[\left(\frac{1}{C\omega} - L\omega\right)\sin\omega t - R\cos\omega t\right]$$

और

$$I = \frac{dq}{dt} = \frac{E_\circ}{\left[\left(\frac{1}{C\omega} - L\omega\right)^2 + R^2\right]}\left[\left(\frac{1}{C\omega} - L\omega\right)\cos\omega t + R\sin\omega t\right]$$

इसमें यदि $$\frac{\left(\frac{1}{C\omega} - L\omega\right)}{R} = \tan\phi$$ रख दिया जाय तो

$$\sin\phi = \frac{\left(\frac{1}{C\omega} - L\omega\right)}{\left[\left(\frac{1}{C\omega} - L\omega\right)^2 + R^2\right]^{\frac{1}{2}}}$$

और $$\cos\phi = \frac{R}{\left[\left(\frac{1}{C\omega} - L\omega\right)^2 + R^2\right]^{\frac{1}{2}}}$$

$$\therefore \quad I=\frac{E_0}{\left[\left(\frac{1}{C\omega}-L\omega\right)^2+R^2\right]^{\frac{1}{2}}}\left[\sin\omega t\cos\phi+\cos\omega t\sin\phi\right]$$

$$=\frac{E_0}{\left[\left(\frac{1}{C\omega}-L\omega\right)^2+R^2\right]^{\frac{1}{2}}}\sin(\omega t+\phi) \qquad \ldots (17)$$

$$=I_0 \quad \sin\ (\omega t+\phi) \qquad \ldots \qquad \ldots (18)$$

और अवबाधा $=\frac{E_0}{I_0}=\left[\left(\frac{1}{C\omega}-L\omega\right)^2+R^2\right]^{\frac{1}{2}}$ ... (19)

समीकरण (17) ऊपर वर्णित सभी प्रकार के परिपथों के लिए सही है। यथा

(क) जब $L=0$ और $C=\infty$ हो तो

$$I=\frac{E_0}{R}\sin\omega t. \qquad \ldots \qquad [\text{अनु० } 23\cdot05]$$

(ख) जब $C=\infty$ हो तो

$$I=\frac{E_0}{\sqrt{(L^2\omega^2+R^2)}}\sin(\omega t-\phi) \qquad [\text{अनु० } 23\cdot07]$$

और $\tan\phi=\frac{L\omega}{R}$

(ग) जब $L=0$ हो तो

$$I=\frac{E_0}{\left(\frac{1}{C\omega^2}+R^2\right)^{\frac{1}{2}}}\sin(\omega t+\phi) \qquad [\text{अनु० } 23\cdot09]$$

और $\tan\phi=\frac{1}{\omega CR}$

(घ) जब $\frac{1}{C\omega}=L\omega$ हो तो

$$I=\frac{E_0}{R}\sin\omega t$$

और $\phi=0.$

23·11—शक्ति (Power)। अभी तक वि० वा० ब० और धारा के बीच में जो कलान्तर होता है उसके लाभ या हानि के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है। हमने ऊपर जिस परिवर्तित ओह्म के नियम को सब अवस्थाओं में ठीक पाया है उसमें यह कलान्तर किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता। किन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि इसका कुछ प्रभाव होता ही नहीं। वास्तव में यदि हम उस शक्ति पर दृष्टि डालें जो प्रत्यावर्ती मशीन इस परिपथ में खर्च करती है तो हम देखेंगे कि यह कलान्तर बहुत ही बड़े महत्व की वस्तु है।

मान लीजिये कि वि० वा० ब० तथा धारा में ϕ का कलान्तर है। तब इनके तात्कालिक परिमाण निम्नलिखित होंगे :—

$$E = E_0 \sin \omega t$$
$$I = I_0 \sin(\omega t + \phi)$$

अतः धारा के प्रवाह के लिए जिस तात्कालिक शक्ति की आवश्यकता है वह होगी

$$\begin{aligned} EI &= E_o I_o \sin\omega t \sin(\omega t + \phi) \\ &= E_o I_o \sin\omega t[\sin\omega t \cos\phi + \cos\omega t \sin\phi] \\ &= E_o I_o \sin^2\omega t \cos\phi + \tfrac{1}{2} E_o I_o \sin\phi \sin 2\omega t \end{aligned}$$

इसमें $\sin 2\omega t$ का औसत मान तो शून्य होगा और $\sin^2\omega t$ का $\frac{1}{2}$ होगा।

अतः EI का औसत मान $= \frac{1}{2} E_o I_o \cos\phi$

$$= \frac{E_o}{\sqrt{2}} \cdot \frac{I_o}{\sqrt{2}} \cdot \cos\phi$$

$$= E_v \cdot I_v \cos\phi \qquad \ldots \qquad \ldots \qquad (20)$$

इससे स्पष्ट है कि इस शक्ति का परिमाण कलान्तर ϕ की कोज्या (cosine) पर निर्भर है। यदि कलान्तर $\phi = \pi/2$ का हुआ तो $\cos\phi = 0$ हो जायगा और तब इस परिपथ में शक्ति की बिलकुल भी आवश्यकता न होगी अर्थात् प्रत्यावर्तक की कुछ भी शक्ति इस कुंडली में धारा प्रवाहित करने के लिये खर्च न होगी। तब धारा को वाट-हीन धारा (wattless current) कहेंगे और व्यवहार में कलान्तर को $\pi/2$ का बनाने से शक्ति की बड़ी बचत हो जायगी। इस दृष्टि से कलान्तर पर दृष्टि रखना परम आवश्यक है। $\cos\phi$ को शक्ति-गुणांक (power factor) कहते हैं।

यह विषय इतने महत्व का है कि इसको और भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है। चित्र 23·08 में वि० वा० ब० तथा धारा के तरंग-चित्र दिये गये हैं। मोटी रेखा वाला वक्र धारा-वक्र है तथा पतली रेखा वाला वि० वा० ब० का वक्र है। प्रत्येक क्षण पर इनके परिमाणों को गुणा करके एक और तरंग-चित्र (विच्छिन्न रेखा वाला)
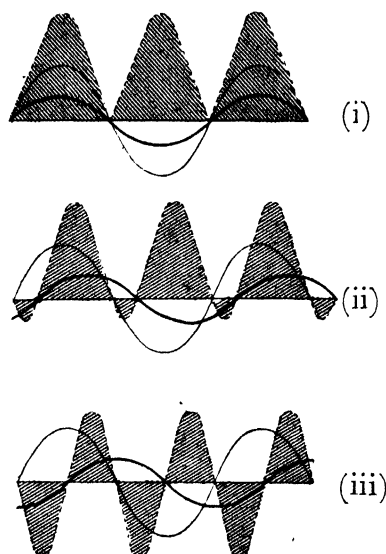
चित्र 23·08

खींचा गया है जिसे हम शक्ति वक्र कह सकते हैं। जब वि० वा० ब० तथा धारा दोनों एक ही दिशा में चलती हैं तब तो यह वक्र क्षैतिज अक्ष से ऊपर की ओर है। इस दशा में परिपथ में ऊर्जा का व्यय होता है। किन्तु जब वि० वा० ब० तथा धारा विपरीत दिशा में हों तब यह शक्ति वक्र नीचे की ओर रहता है। इस दशा में ऊर्जा की उत्पत्ति होती है। चित्र में छायादार भाग का क्षेत्रफल इन ऊर्जाओं का द्योतक है क्योंकि यदि तात्कालिक ऊर्जा w हो तो t समय में ऊर्जा $W = \int_{o}^{t} w\, dt =$ क्षेत्रफल। क्षैतिज अक्ष के ऊपर वाले धन-चिह्नीय क्षेत्रफलों तथा नीचे वाले ऋण-चिह्नीय क्षेत्रफलों का संयुक्त परिमाण बहुधा धन-चिह्नीय होता है (चित्र ii)और वह प्रत्यावर्तित्र की जो शक्ति इस परिपथ में खर्च होती है उसका परिमाण बतलाता है। जब वि० वा० ब० तथा धारा में कलान्तर $\pi/2$ का हो तो यह शक्ति-वक्र

चित्र (iii) के समान हो जाता है और तब धन तथा ऋण क्षेत्रफलों का परिमाण बराबर होकर धारा वाट-हीन हो जाती है।

यह प्रश्न हो सकता है कि वाट-हीन-धारा मे जितने समय तक शक्ति का व्यय होता है वह किस रूप में होता है। यह तो बताया जा चुका है कि धारा वाट-हीन तब ही होती है जब कलान्तर $\pi/2$ हो और यह तब होगा जब प्रतिरोध बिलकुल ही न हो। ऐसी अवस्था में ऊर्जा का व्यय ऊष्मा की उत्पत्ति मे नही हो सकता। यह व्यय या तो चुम्बकत्व उत्पन्न करने में होता है या संधारित्र मे वैद्युत ऊर्जा के संचयन में होता है। जितनी ऊर्जा का व्यय होता है ठीक उतनी ही ऊर्जा आधे आवर्तन के बाद पुनः प्रगट हो जाती है। ऊर्जा के इस परिणमन मे पूरे आवर्तन पर दृष्टि रखकर हम कह सकते हैं कि ऊर्जा स्थायी रूप से विद्युत्-चुम्बकीय अवस्था को छोड़कर ऊष्मा आदि अन्य रूपों को ग्रहण नही कर लेती।

यह सच है कि व्यवहार मे प्रतिरोध का सर्वथा अभाव नही हो सकता किन्तु यदि किसी परिपथ का प्रेरकत्व बहुत अधिक हो तो प्रत्यक्ष ही उसकी प्रतिबाधा इतनी अधिक हो जायगी कि उसकी तुलना में प्रतिरोध उपेक्षणीय हो सकता है। ऐसी दशा में यद्यपि कलान्तर ठीक $\pi/2$ का नही हो सकता तथापि उसमे और $\pi/2$ में अधिक अन्तर भी नही हो सकता।

23·12—**शक्ति का नाप**। दिष्ट-धारा परिपथ में शक्ति को नापने की साधारण विधि यह है कि अम्पीयर-मापी के द्वारा धारा नाप ली जाय और वोल्ट-मापी के द्वारा वोल्ट नाप लिये जावे और तब उन दोनों को गुणा करने से शक्ति ज्ञात हो जाती है। किन्तु प्रत्यावर्ती धारा के लिये यह तरीका ठीक नही क्योंकि इस गुणन-फल को शक्ति-गुणाक $\cos\phi$ से और भी गुणा करना होगा। तभी वास्तविक शक्ति ज्ञात होगी। बिना शक्ति-गुणांक से गुणा किये जो वोल्टों और अम्पीयरों का गुणनफल होगा वह आभासी शक्ति (apparent power) कहलाती है।

बहुधा कलान्तर ϕ नापना कठिन होता है अतः प्रत्यावर्तक मशीनों की वास्तविक शक्ति साधारणतया ज्ञात नहीं हो सकती। उनकी शक्ति को आभासी शक्ति के द्वारा ही प्रदर्शित करने का रिवाज प्रचलित है और इस बात को स्मरण दिलाने के लिए यह शक्ति वाटों में भी व्यक्त नही की जाती। इसे वोल्ट-अम्पीयरों (v. lt-amperes) अथवा किलोवोल्ट-अम्पीयरों (कि० वो० अ० या KVA) में ही प्रगट करने का रिवाज है। यदि यह कहा जाय कि अमुक मशीन 4 KVA की है तो यह समझना चाहिये कि यदि समुचित उपायों से वि० वा० ब० ओर धारा को समकलीय

कर दिया जाय तो वह मशीन अधिक से अधिक 4 किलोवाट शक्ति दे सकती है। किन्तु साधारण अवस्थाओं में हमें उससे इतनी शक्ति न मिलेगी।

इस बात से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यदि हम किसी मशीन की पूरी शक्ति का उपयोग करना चाहें तो हमें ऐसा उपाय करना चाहिये कि वि० वा० ब० और धारा में कलान्तर न रहे। यह बात संधारित्र के उपयोग से हो सकती है क्योंकि संधारित्र धारा की कला को आगे बढ़ाता है और प्रेरकत्व उसे पीछे हटाता है।

$$\tan\phi = \frac{\frac{1}{C\omega} - L\omega}{R}$$

$\therefore$ $\theta = 0$ होने के लिए $\frac{1}{C\omega} - L\omega = 0$ या $C = \frac{1}{L\omega^2}$

समुचित धारिता के संधारित्र को मशीन के साथ लगा कर यह कलान्तर घटाया अथवा नष्ट किया जा सकता है।

23·13—**अवबाधा-कुंडली** (Choke Coil)। अब समझ में आ गया होगा कि यद्यपि प्रेरकत्व और प्रतिरोध दोनों ही प्रत्यावर्ती धारा की प्रबलता को घटाते हैं तथापि दोनों की कार्य प्रणाली में बड़ा भेद है। प्रतिरोध तो ऊर्जा को ऊष्मा के रूप में परिणत करके खर्च कर देता है किन्तु प्रेरकत्व केवल विरोधी वि० वा० ब० प्रेरित करके धारा को बढ़ने से रोकता है। इसलिये प्रेरकत्व विद्युत्-चुम्बकीय ऊर्जा को नष्ट नहीं करता। जिस ऊर्जा को वह धारा के रूप में परिणत होने से रोकता है उसे वह चुम्बकत्व के रूप में परिणत कर देता है और जब धारा की दिशा वि० वा० ब० से विपरीत हो जाती है तब यह चुम्बकीय ऊर्जा पुनः धारा के प्रवाह के लिए उपलब्ध हो जाती है। अतः जब प्रत्यावर्ती धारा का परिमाण घटाना होता है तब प्रतिरोध के स्थान में बड़े प्रेरकत्व का उपयोग अधिक लाभदायक है। इसे अवबाधा-कुंडली (choke coil) या अवबाधक (choke) कहते हैं। यह खूब मोटे तांबे के तार की कुंडली होती है ताकि प्रतिरोध बहुत कम रहे। इस कुंडली के मध्य में नरम लोहे के पतले विलागित तारों का मुट्ठा अथवा लोहे की विलागित पतली पत्तियों का क्रोड (core) रहता है ताकि प्रेरकत्व बहुत अधिक हो जाय। यह क्रोड ठोस लोहे का नहीं बनाया जाता इसका कारण अनुच्छेद 22·16 (4) में बताया जा चुका है।

इस अवबाधक के व्यवहार से जो लाभ होता है उसके समझने के लिए निम्नलिखित उदाहरण काफ़ी होगा :—

मान लीजिये कि हमें 100 वोल्ट की प्र० धा० से 60 वोल्ट और 20 अम्पीयर का आर्क-लैम्प जलाना है। इस लैम्प में $60 \times 20 = 1200$ वाट की शक्ति खर्च

होती है। किन्तु यदि प्रतिरोध ही का इसमें उपयोग किया जाय तो कुल शक्ति $100 \times 20 = 2000$ वाट खर्च होगी। अतः प्रतिरोध में ऊष्मा उत्पन्न करने में 800 वाट नष्ट हो जायंगे।

किन्तु यदि इस प्रतिरोध के स्थान में अवबाधक का प्रयोग किया जाय तो प्रत्यक्ष है कि हमें कुल $\frac{100}{20} = 5$ ओह्म का अवबाधक चाहिये। आर्क का प्रतिरोध है $\frac{60}{20} = 3$ ओह्म। अतः यदि अवबाधक की प्रतिबाधा 4 ओह्म हो तो अवबाधा $\sqrt{4^2 + 3^2} = 5$ ओह्म के बराबर हो जायगी। यदि धारा की आवृत्ति 50 प्रति सैकंड हो तो

प्रतिबाधा $= 2\pi \times 50 \times L = 4$

$$\therefore \qquad L = \frac{4}{2\pi \times 50} = \cdot 0127 \text{ हैनरी}$$

इस परिपथ में कलान्तर होगा $\phi = \tan^{-1} \frac{2\pi \times 50 \times L}{R} = \tan^{-1} \frac{4}{3}$

$$\therefore \qquad \text{शक्ति-गुणांक} = \cos\phi = \frac{3}{5}$$

इसलिए पूरे परिपथ में जो शक्ति खर्च होगी उसका परिमाण हुआ

$$100 \times 20 \times \frac{3}{5} = 1200 \text{ वाट}$$

और यह सब आर्क लैम्प में काम आ जायगी। तनिक भी नष्ट नहीं होगी।

इसी बात को दूसरी प्रकार यों भी समझ सकते हैं कि इस अवबाधा कुंडली में प्रतिरोध तो है नही। अतः केवल प्रेरकत्व की उपस्थिति के कारण उसमें की धारा का वि० वा० ब० से कलान्तर $\pi/2$ होगा और वह धारा वाट-हीन होगी। इस कुंडली में ऊर्जा का व्यय कुछ भी न होगा। जो कुछ व्यय होगा वह केवल आर्क-लैम्प ही में होगा।

जिस प्रकार नियंत्रक प्रतिरोधक ऐसा बनाया जाता है कि इच्छानुसार उसका प्रतिरोध आसानी से बदला जा सके उसी प्रकार अवबाधक भी बहुधा ऐसे बनाये जाते हैं कि उनका प्रेरकत्व आसानी से बदला जा सके। चित्र 23·09 में दो प्रकार के अवबाधक दिखलाये गये हैं। एक में कुंडली के क्रोड के लोहे को भीतर घुसाने से या बाहर

निकालने से प्रेरकत्व बदला जाता है और दूसरे में लोहे के कुंडलार्ध **ख** को **क** से दूर हटाकर या पास लाकर यह प्रेरकत्व घटाया या बढ़ाया जाता है।

23·14—**श्रेणीबंधन और पार्श्वबंधन** (Series and Parallel Connection)। यह भी ध्यान रखने के योग्य बात है कि श्रेणीबंधन तथा पार्श्व-

चित्र 23·09
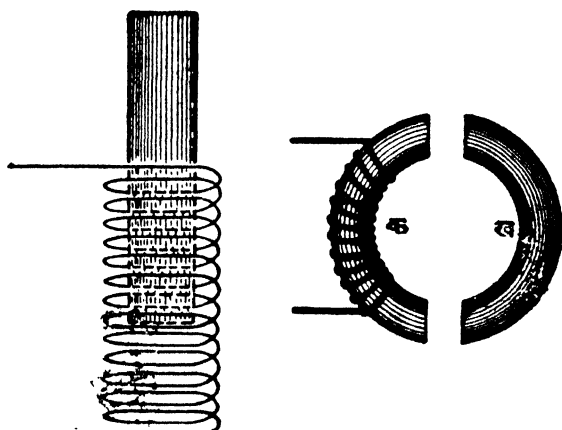
बंधन सम्बन्धी दिष्ट-धारा वाले नियम भी प्र० धा० परिपथों में लागू नहीं होते। इसके दो मुख्य कारण हैं :—

(1) धारा का तात्कालिक परिमाण किसी भी परिपथ में सर्वत्र एक सा नहीं होता। संधारित्रों तथा प्रेरकत्वों के कारण धारा अपने अधिकतम मान को सर्वत्र एक ही साथ नहीं प्राप्त करती। अथवा यों कहिये कि परिपथ के भिन्न-भिन्न भागों की धारा सम-कलीय नहीं होती। यह दूसरी बात है कि उसका व० मा० मू० मान जो अम्पीयर-मापी नापता है वह सर्वत्र एक ही होता है।

(2) परिपथ में कोई-से दो बिन्दुओं के आभासी विभवान्तर में और उनके मध्यवर्ती धारा में जो कलान्तर होता है वह परिपथ के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न होता है।

इन बातों से दो परिणाम विशेष महत्व के निकलते हैं। प्रथम तो यह कि यदि **कख** तथा **खग** (चित्र 23·10-i) श्रेणीबद्ध हों तो वोल्टमापी से नापने पर **कख** और **खग** के विभवान्तर V_1 और V_2 मिलकर **कग** के विभवान्तर V_3 के बराबर

नहीं होंगे। ($V_1+V_2 \neq V_3$)। दूसरे यदि **कखघ** तथा **कगघ** पार्श्वबद्ध हों [चित्र 23.10(ii)] तो अम्पीयर-मापी के द्वारा नापने पर **कखघ** की और
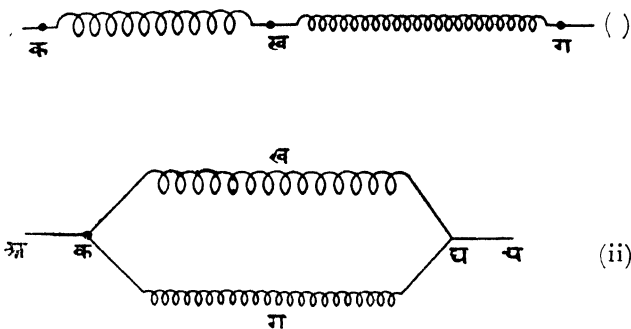
चित्र 23·10

कगघ की धाराएं मिलकर **अक** अथवा **घच** की धारा के बराबर नहीं होगी ($I_1+I_2 \neq I_3$)। किन्तु यदि तात्कालिक परिमाणों पर दृष्टि रखी जाय तो अवश्य ही

$$V_1+V_2=V_3$$

और $$I_1+I_2=I_3.$$

23·15—**वैद्युत अनुनाद** (Electrical Resonance)। पार्श्वबंधन के सम्बंध में जो बात पिछले प्रकरण में कही गई है उसका एक उदाहरण विशेष उपयोगी है। मान लीजिये कि चित्र 23·11 के समान एक संधारित्र तथा एक प्रेरकत्व पार्श्वबद्ध हैं तथा इन दोनों ही शाखाओं में प्रतिरोध अत्यन्त उपेक्षणीय है। यदि संधारित्र की धारिता C फैरड हो, कुंडली का प्रेरकत्व L हैनरी हो, विभवत्व E
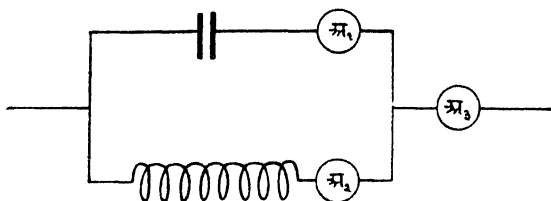
चित्र 23·11

वोल्ट हो तथा धारा की आवृत्ति n हो तो हम देख चुके हैं कि संधारित्र की धारा I_c तथा प्रेरकत्व की धारा I_L के परिमाण होंगे

$$I_c = \omega C E_0 = 2\pi n C E_0 \text{ अम्पीयर}$$

$$I_L = \frac{E_0}{\omega L} = \frac{E_0}{2\pi n L} \text{ अम्पीयर}$$

प्रथम धारा E से $\pi/2$ आगे रहेगी और द्वितीय धारा $\pi/2$ पीछे। अतः इन दोनों धाराओं में π का कलान्तर होगा। अर्थात् जब प्रथम की प्रबलता एक दिशा में अधिकतम होगी तब दूसरी की विपरीत दिशा में अधिकतम होगी। दोनों का परिमाण शून्य एक ही साथ होगा। यदि $2\pi nC = \frac{1}{2\pi nL}$ हो तो प्रत्येक क्षण पर दोनों धाराओं का परिमाण बिलकुल बराबर किन्तु विपरीत दैशिक होगा। अतः दोनों का सम्मिलित परिमाण भी प्रत्येक क्षण पर शून्य ही रहेगा। अर्थात् चित्र 23.11 के अम्पीयर मापी **अ**$_3$ में धारा शून्य ही रहेगी किन्तु परिपथ की दोनों शाखाओं में काफ़ी प्रबल धाराएँ बहती रहेंगी। वस्तुतः प्रतिरोध का सर्वथा अभाव नहीं हो सकता इसलिये अम्पीयर-मापी **अ**$_3$ का पाठ बिलकुल शून्य तो न रहेगा किन्तु बहुत ही कम होगा। यदि प्रतिरोध में नष्ट हुई ऊर्जा को छोड़ दें तो स्पष्ट है कि परिपथ **कखगघ** में प्रबल धाराओं को प्रवाहित करने के लिये बाह्य ऊर्जा खर्च नहीं करना पड़ता। एक बार किसी प्रकार इसमें धारा का प्रवाह प्रारम्भ कर देने पर वह स्वयं ही बराबर चलती रहती है। ऊर्जा कभी प्रेरकत्व में चुम्बकीय रूप धारण करती है और कभी संधारित्र में वैद्युत रूप। उसका इधर से उधर दोलन होता ही रहता है।

ऐसा होने की शर्त यह है कि

$$2\pi nC = \frac{1}{2\pi nL}$$

अर्थात्
$$n^2 = \frac{1}{4\pi^2 LC}$$

या
$$n = \frac{1}{2\pi\sqrt{LC}}$$

अतः यदि हम किसी भी संधारित्र तथा प्रेरकत्व को पार्श्वबद्ध करके एक निमीलित परिपथ बना दें तो उसमें उपर्युक्त प्रकार के दोलन बिना अधिक शक्ति का व्यय किये तभी उत्पन्न हो सकते हैं जब धारा की आवृत्ति $n = \frac{1}{2\pi\sqrt{LC}}$ हो। यदि यह आवृत्ति इससे कम या ज्यादा होगी तब ऐसे दोलन न हो सकेंगे।

ध्वनि-विज्ञान से हमें ज्ञात है कि यदि किसी कम्पन-शील वस्तु पर कोई प्रत्यावर्ती बल लगाया जाय तो उसके कम्पन तब ही प्रबल होते हैं जब प्रत्यावर्ती बल की आवृत्ति उक्त वस्तु के स्वाभाविक कम्पनों की आवृत्ति के बराबर हो। तब कहा जाता है कि उक्त वस्तु अनुनाद (resonance) कर रही है। ठीक इसी प्रकार उपर्युक्त सधारित्र-प्रेरकत्व परिपथ में भी दोलन प्रबल तभी होते हैं जब कि वाह्य वि० वा०ब० की आवृत्ति $\frac{1}{2\pi\sqrt{LC}}$ के बराबर हो। अतः इस घटना को भी अनुनाद कह सकते हैं और तब $\frac{1}{2\pi\sqrt{LC}}$ उक्त परिपथ की स्वाभाविक आवृत्ति समझी जा सकती है। वाह्य वि० वा० ब० की आवृत्ति कम या ज्यादा होने पर भी परिपथ में धारा का दोलन तो अवश्य होगा किन्तु बहुत हल्का होगा और उसमें भी शक्ति का व्यय बहुत करना होगा। तब वह प्रणोदित दोलन(forced oscillation) कहलाता है।

इसी प्रकार यदि L तथा C का परिपथ द्वैतीयिक हो और उस पर किसी दूसरे प्राथमिक परिपथ की धारा के अन्योन्य प्रेरण के द्वारा वि० वा० ब० लगाया जाय तब भी अनुनाद होने लगेगा, यदि प्राथमिक धारा की आवृत्ति $n = \frac{1}{2\pi\sqrt{LC}}$ हो।

23·16—**त्वाचिक प्रभाव** (Skin Effect)। यह तो ऊपर के प्रकरणों से प्रगट ही है कि संधारित्र या प्रेरकत्व के कारण जो प्रतिबाधा होती है उसका परिमाण धारा की आवृत्ति पर निर्भर है। जितनी ही अधिक यह आवृत्ति होगी उतनी ही अधिक यह प्रतिबाधा भी होगी। किन्तु आवृत्ति के बढ़ने पर प्रतिरोध भी बढ़ जाता है। इसका कारण यह है कि चालक तार की पूरी मोटाई में प्रत्यावर्ती धारा समान रूप से नही बहती। तार के पृष्ठ के निकट के भाग में धारा का परिमाण अधिक होता है और मध्य के भाग में कम। चित्र 23·12 में तार के बीच में जो रेखाएँ खीची गई हैं उनके घनत्व से धारा का यह वितरण समझ में आ जायगा। दिष्ट-धारा का जितना घनत्व मध्य में होता है उतना ही पृष्ठ पर (चित्र (i)। यदि चालक की मोटाई के कई बराबर बराबर अनुदैर्ध्य भागों की कल्पना की जाय तो प्रत्येक भाग में से एक ही परिमाण की धारा प्रवाहित होगी। किन्तु प्रत्यावर्ती धारा में ऐसा नहीं होता। तार के मध्य भाग में धारा का परिमाण बहुत थोड़ा होता है और पृष्ठ की ओर उसका परिमाण बढ़ता जाता है (चित्र ii)। विशेषकर जब आवृत्ति बहुत अधिक हो जाती है तब तो धारा प्रायः पृष्ठवर्ती पतली सी त्वचा

ही में से बहती है (चित्र iii) । बीच का चालक उसके प्रवाह में कुछ भी सहायता नहीं करता । इस घटना को त्वाचिक प्रभाव (skin effect) कहते हैं ।
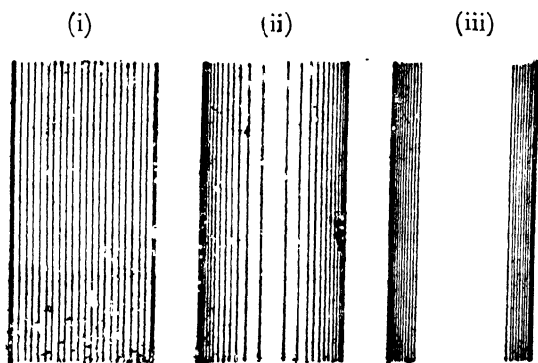
चित्र 23·12

धारा के इस असमान वितरण का कारण स्थूल-रूप से यह है कि जब किसी तार में से दिष्ट धारा प्रवाहित होती है तब उसके द्वारा जो चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न होता है उसकी तीव्रता तार की अक्ष से चारों ओर धीरे-धीरे घटती जाती है(अनु० 16·19)। मान लीजिए कि चित्र 23·13 में तार के केन्द्रीय भाग का छोटा-सा अनुप्रस्थकाट
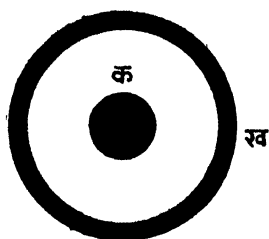
चित्र 23·13

क है और तार की पृष्ठ-देशीय नलिका का काट **ख** है जिस की दीवार बहुत पतली है। तथा यह भी मान लीजिये कि **क** और **ख** में धारा का परिमाण बराबर है। तब **ख** के बाहर तो **ख** की धारा का चुम्ब-कीय क्षेत्र ठीक ऐसा ही होगा जैसा कि **क** की धारा के कारण। तथा **क** और **ख** के बीच में **ख** के कारण तो कोई क्षेत्र होगा नहीं किन्तु **क** के कारण यहाँ काफ़ी प्रबल क्षेत्र विद्यमान रहेगा। इसलिये यदि **क** और **ख** की धाराओं में एक-समान परिवर्तन हो तो स्पष्ट है कि उनसे सम्बंधित चुम्बकीय बल-रेखाओं की संख्या में भी परिवर्तन **क** के कारण अधिक होगा तथा **ख** के कारण कम। अतः **क** का स्व-प्रेरकत्व अधिक होगा और ख का कम। फलतः बराबर वाह्य वि० वा० ब० लगाने पर भी तार के केन्द्रीय भाग **क** में प्रत्यावर्ती धारा की प्रबलता कम

होगी और ख में अधिक यद्यपि दोनों भागों का क्षेत्रफल और प्रतिरोध बराबर है। यही त्वाचिक प्रभाव का कारण है। अतः स्पष्ट है कि ऐसी धारा का अधिक भाग पृष्ठवर्ती स्तरों में से प्रवाहित होगा। यह प्रभाव धारा की आवृत्ति बढ़ने पर और भी अधिक हो जायगा और जब विशेष अवस्थाओं में आवृत्ति कई लाख प्रति सैकंड हो जाती है तब तो तार की यह चालक त्वचा एक मिलीमीटर के शतांश से अधिक नही रहती। ऐसी दशा में मोटे तार का व्यवहार व्यर्थ ही है। उतने ही व्यास की पतली दीवार की नली मे भी उतनी ही अच्छी चालकता होगी। और गोल तार की अपेक्षा चपटी पत्ती मे भी अच्छी चालकता होगी। तड़ित् की धारा भी अत्यन्त उच्च आवृत्ति वाली प्रत्यावर्ती धारा होती है। यही कारण है कि तड़ित्-चालकों के लिए चपटी पत्ती का प्रयोग किया जाता है।

23·17—प्रत्यावर्ती धारा का विद्युत्-चुम्बक। विद्युत्-चुम्बक में यदि प्रत्यावर्ती धारा से काम लेना हो तो यह आवश्यक है कि उसके बीच का लोहा ठोस न हो। उसे पतले पतले विलागित तारों या पत्तियों को एकत्रित करके बनाना चाहिए। अन्यथा इस लोहे में जो प्रेरित धाराएँ उत्पन्न होंगी उन्ही में बहुत सी शक्ति नष्ट हो जायगी। इसके अतिरिक्त इन चुम्बकों की कुंडली का प्रेरकत्व भी कम रखना होगा नही तो धारा की प्रबलता बहुत कम रह जायगी। इसलिये इस कुंडली के फेरो की सख्या कम रखना चाहिये।
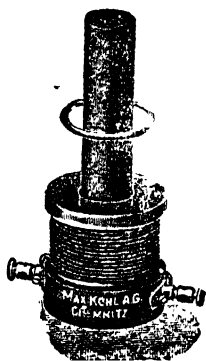
चित्र 23·14

ऐसे प्रा० धा० विद्युत्-चुम्बक के निकट यदि तांबे या अल्यूमिनियम की चादर का टुकड़ा रख दिया जाय या छल्ला चुम्बक के लोह-क्रोड पर पहिना दिया जाय तो धारा के प्रवाहित होते ही वह बड़े ज़ोर से प्रतिकर्षित हो जायगा। इलीहू टामसन (Elihu Thomson) ने यह प्रतिकर्षण सबसे पहिले दिखलाया था। इस प्रतिकर्षण का कारण यह है कि उस चालक छल्ले में जो प्रेरित धारा प्रवाहित होती है उसकी दिशा चुम्बक की कुंडली में प्रवाहित होने वाली धारा से विपरीत होती है। यह हम अनु० 16·27 में देख ही चुके हैं कि विपरीत-दैशिक धाराओं में प्रतिकर्षण होता है। इस प्रयोग में यह प्रतिकर्षण काफ़ी जोर का इसलिये होता है

कि मोटी चादर के चक्के या छल्ले का प्रतिरोध इतना कम होता है कि प्रेरित धारा खूब प्रबल हो जाती है। इस धारा का अस्तित्व इस बात से भी प्रगट होता है कि यदि वाह्य बल लगाकर इस छल्ले को चुम्बक से दूर न हटने दें तो थोड़ी ही देर में वह खूब गरम हो जायगा। इसी तरह यदि किसी वलयाकार पात्र में जल भर कर उसे इस चुम्बक के लोह-क्रोड पर पहिना दें तो थोड़ी ही देर में पानी उबलने लगेगा।

23·18—परिणामित्र या ट्रान्सफ़ार्मर (Transformer)। दिष्ट धारा का विभवत्व उस धारा के उत्पादक बैटरी या डायनमो के वि० वा० ब० के बराबर होता है। इसके परिपथ मे श्रेणीबद्ध प्रतिरोधक के द्वारा कम विभवत्व की धारा प्राप्त हो तो सकती है किन्तु इसमें बहुत ऊर्जा नष्ट हो जाती है। परन्तु अधिक विभवत्व की दिष्ट धारा तो प्राप्त हो ही नही सकती। विपरीत इसके प्रत्यावर्ती धारा का विभवत्व इच्छानुसार घटाया या बढ़ाया जा सकता है। जिस यत्र से यह कार्य होता है उसे परिणामित्र या ट्रान्सफ़ार्मर कहते है।

इसमें दो कुडलियाँ होती है—एक प्राथमिक (primary) और दूसरी द्वैतीयिक (secondary)। दोनो लोहे के एक ही क्रोड पर लिपटी रहती है। चित्र 23·15 में इनका सबसे सादा रूप दिखाया गया है। जैसा पहिले बताया जा चुका है यह लोहे का क्रोड ठोस नही होता किन्तु पतली पतली विलागित अनेक पत्तियों को मिलाकर बनाया जाता है। अच्छे ट्रान्सफार्मर में प्राथमिक की प्राय: समस्त बल-रेखाएँ द्वैतीयिक मे प्रवेश करती है।

मान लीजिये कि प्राथमिक कुंडली में फेरों की संख्या n_1 है और द्वैतीयिक में n_2
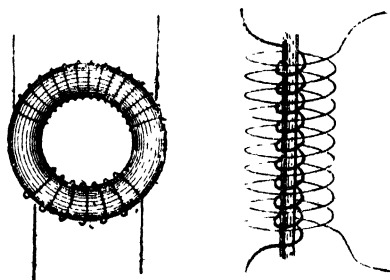
चित्र 23·15

और प्राथमिक में किसी प्रत्यावर्ती वि० वा० ब० E_1 के द्वारा धारा प्रवाहित की जाती है। इससे लोहे में उपस्थित बल-रेखाओं की संख्या N में धारा की

तात्कालिक प्रबलता के अनुपात ही परिवर्तन बराबर होता रहेगा। यदि इस परिवर्तन की दर $\frac{dN}{dt}$ हो तो प्रेरित वि० वा० ब० प्राथमिक के प्रत्येक फेरे में $-\frac{dN}{dt}$ होगा और पूरी प्राथमिक में होगा $e_1 = -n_1 \frac{dN}{dt}$

यदि प्राथमिक का प्रतिरोध उपेक्षणीय हो तो प्रत्येक क्षण पर

$$E_1 = -e_1 = n_1 \frac{dN}{dt}$$

इसी प्रकार द्वैतीयिक में प्रेरित वि० वा० ब० $e_2 = n_2 \frac{dN}{dt}$ क्योंकि जो बल-रेखाएँ प्राथमिक में जाती हैं वही द्वैतीयिक में भी जाती हैं और यदि इसका परिपथ उन्मीलित हो अथवा उसका प्रतिरोध बहुत अधिक हो तो जो वि० वा० ब० E_2 द्वैतीयिक कुंडली के सिरों पर हमें प्राप्त हो सकेगा वह भी e_2 के बराबर ही होगा। अर्थात्

$$E_2 = e_2 = n_2 \frac{dN}{dt}$$

$$\therefore \quad \frac{E_2}{E_1} = \frac{e_2}{e_1} = \frac{n_2}{n_1} = k$$

k नियतांक है जो द्वैतीयिक तथा प्राथमिक कुंडलियों के फेरों के अनुपात के बराबर है। इसको परिणमन-अनुपात (transformation ratio) कहते हैं और इस प्रकार एक वि० वा० ब० E_1 से दूसरा भिन्न वि० वा० ब० E_2 उत्पन्न करने को विभव-परिणमन कहते हैं। जिस यंत्र से यह कार्य होता है उसे परिणामित्र या ट्रान्सफ़ार्मर कहते हैं।

स्पष्ट है कि यदि $n_2 > n_1$ हो तो $E_2 > E_1$ होगा अर्थात् हमें छोटे विभवत्व से बड़ा विभवत्व प्राप्त हो जायगा। तब ट्रान्सफार्मर उच्चायी (step-up) कहलाता है। यदि $n_2 < n_1$ हो तो ट्रान्सफ़ार्मर अपचायी (step-down) कहलाता है। इस प्रकार प्र० धा० का विभवत्व इच्छानुसार सरलतापूर्वक घटाया-बढ़ाया जा सकता है।

यदि प्राथमिक कुंडली में प्रवाहित धारा I_1 हो और द्वैतीयिक का परिपथ पूर्ण करने पर धारा I_2 हो तो यह प्रकट है कि यदि ऊर्जा की हानि न हो तो

$$E_1 I_1 = E_2 I_2$$

क्योंकि प्रति सैकंड जितनी ऊर्जा प्राथमिक कुंडली में विद्युत्-जनित्र से प्रवेश करती है वही तो द्वैतीयिक से प्राप्त हो सकती है। किन्तु इसमें शर्त यह है कि ऊर्जा किसी अन्य रूप में नष्ट न हो। नीचे बताया गया है कि कई कारणों से कुछ न कुछ ऊर्जा नष्ट होती ही है। किन्तु यदि इसका परिमाण उपेक्षणीय हो तो

$$\frac{I_2}{I_1}=\frac{E_1}{E_2}=\frac{n_1}{n_2}$$

23·19—**ट्रान्सफ़ार्मर में ऊर्जा की हानि**। यह निम्न कारणों से होती है:—

(1) चुम्बकीय क्षरण (magnetic leakage)। जब प्राथमिक धारा से उत्पन्न चुम्बकीय रेखाएँ सबकी सब द्वैतीयिक में से प्रवाहित नहीं होती तब उसमें प्रेरित वि० वा० ब० कम होगा और कुछ ऊर्जा व्यर्थ नष्ट हो जायगी।

(2) लोह-क्रोड़ में यदि भंवर-धाराएँ उत्पन्न हो जावें तो उनसे लोहे में ऊष्मा उत्पन्न होगी और कुछ ऊर्जा इस रूप में नष्ट हो जायगी। इस हानि को कम करने का उपाय ऊपर बताया जा चुका है। इसे लौहिक-हानि (iron loss) कहते है।

(3) ताम्रिक-हानि (copper loss)। प्राथमिक तथा द्वैतीयिक दोनों ही कुंडलियों के ताँबे के तार में जो प्रतिरोध होता है उसमें भी ऊष्मा उत्पन्न होती है और ऊर्जा नष्ट होती है। इसे ताम्रिक हानि कहते हैं।

(4) शैथिल्य हानि (hysterisis loss)। प्र० धा० के कारण लोह-क्रोड़ मे जो चुम्बकीय चक्र (magnetic cycle) उत्पन्न होता है अर्थात् उसके चुम्बकत्व मे जो परिवर्तन होता है उसके कारण भी ऊर्जा ऊष्मा के रूप में परिणत होकर नष्ट हो जाती है (अनु० 4·10)।

अतः अच्छे ट्रान्सफ़ार्मरों के निर्माण में इन हानियों को बहुत घटाने का प्रयत्न किया जाता है।

23·20—**ट्रान्सफ़ार्मरों का स्वतः नियंत्रण** (Self-regulation of Transformer)। प्रत्यावर्ती धारा के व्यवहार में ट्रान्सफ़ार्मरों का महत्व बतलाया जा चुका है। किन्तु इनके सम्बंध में एक और भी बात का जानना आवश्यक है। ट्रान्सफ़ार्मर की प्राथमिक कुंडली में किसी वाह्य जनित्र मशीन द्वारा उत्पन्न धारा प्रवाहित करने से द्वैतीयिक में जो धारा प्रेरित होती है उस ही को हम काम में लाते हैं। मान लीजिये कि इस धारा से हम लैम्प जलाते हैं। यदि कभी तो एक भी लैम्प न जले और कभी बहुत से लैम्प जलाने की आवश्यकता हो अर्थात् यदि कभी हम द्वैतीयिक से थोड़ी धारा लें और कभी प्रबल धारा, तो प्राथमिक में कितनी शक्ति का व्यय होगा ? यह खयाल हो सकता है कि प्राथमिक कुंडली का प्रतिरोध और प्रेरकत्व

निश्चित होने के कारण उसमे प्रवाहित होने वाली धारा की प्रबलता नियत रहेगी चाहे द्वैतीयिक में से कितनी ही धारा क्यों न ली जाय। किन्तु ऐसी बात नही है। द्वैतीयिक की धारा जितनी कम होगी उतनी ही प्राथमिक की भी कम हो जायगी और ज्यों-ज्यो द्वैतीयिक की धारा बढ़ती जायगी त्यों-त्यों प्राथमिक की भी धारा स्वयमेव बढ़ती जायगी। वह स्वयं ही अपना नियत्रण कर लेती है और ट्रान्सफ़ार्मर मे उतनी ही शक्ति का व्यय होगा जितनी की द्वैतीयिक में आवश्यक हो। जब द्वैतीयिक कुंडली उन्मीलित होगी तब तो प्राथमिक कुंडली केवल अवबाधा-कुंडली ही का कार्य करेगी और उसमें न केवल धारा का परिमाण कम रहेगा किन्तु यह धारा प्राय: वाट-हीन भी होगी। जब द्वैतीयिक कुडली निमीलित होगी और उसमें भी कुछ विलोम धारा प्रवाहित होगी तब यह द्वैतीयिक धारा पुन: प्राथमिक में अनुलोम धारा प्रेरित करेगी। परिणाम वही होगा मानो इस प्राथमिक कुंडली का प्रेरकत्व घट गया है। अत: धारा भी बढ़ जायगी और उसका शक्ति-गुणांक भी बढ़ जायगा। इस प्रकार ट्रान्सफ़ार्मर बड़ी मितव्ययिता के साथ धारा का नियंत्रण स्वयमेव कर लेता है।

23·21—**स्वत:-परिणामित्र या आटोट्रान्सफार्मर** (Auto-Transformer)। कभी-कभी ट्रान्स फ़ार्मर में दो कुंडलियाँ पृथक्-पृथक् नही लगाई जातीं। एक ही
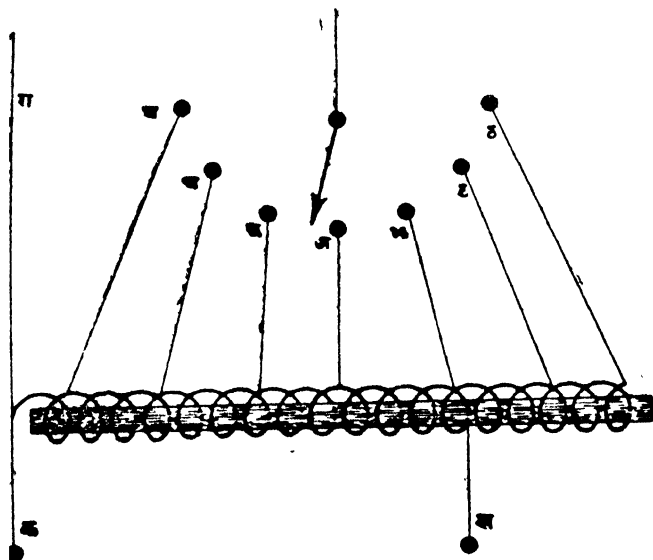
चित्र 23·16

कुंडली के एक भाग मे प्राथमिक का तथा दूसरे भाग से द्वैतीयिक का काम लिया जाता है। फेरों की संख्या इच्छानुसार दोनों कार्यों के लिए चुन ली जाती है।

चित्र 23·16 से इसका कार्य समझ में आ जायगा। प्राथमिक धारा **क ख** भाग में से चलती है। द्वैतीयिक धारा **ग** से **घ च छ ज झ** आदि तक कुंडली के किसी भी भाग से इच्छानुसार ली जा सकती है। द्वैतीयिक धारा स्व-प्रेरकत्व ही के द्वारा उत्पन्न होती है। यह प्रेरकत्व द्वैतीयिक परिपथ में सम्मिलित फेरों की संख्या पर निर्भर है यदि द्वैतीयिक में फेरों की संख्या प्राथमिक की अपेक्षा कम हो तो द्वैतीयिक विभत्व भी प्राथमिक से कम हो जायगा। किन्तु यदि फेरों की संख्या प्राथमिक के फेरों की अपेक्षा अधिक हो तो द्वैतीयिक विभवत्व भी अधिक हो जायगा। इस प्रकार 220 वोल्ट की प्र०धारा से इसके द्वारा 5, 10, 110, 200, 1000, 2000 इत्यादि वोल्ट की धारा बिना शक्ति के व्यर्थ व्यय के प्राप्त हो सकती है। प्रत्यावर्ती धारा के लिए समंजक प्रतिरोध के स्थान में बहुधा आॅटोट्रान्सफार्मर ही काम मे लाये जाते है।

23·22—**प्रत्यावर्ती धारा के लाभ**। पिछले परिच्छेद में बतलाया जा चुका है कि ट्रान्सफार्मरों के द्वारा प्रत्यावर्ती धारा का विभवत्व इच्छानुसार घटाया या बढ़ाया जा सकता है। दिष्ट धारा का विभवत्व बढ़ नही सकता। प्रत्यावर्ती धारा की इस विशेपता के कारण बड़ा लाभ होता है विशेष कर उन अवस्थाओ में जब धारा को उसकी जनित्र मशीनों से बहुत दूर ले जाकर काम में लाना होता है।

मान लीजिये कि हमे 220 वोल्ट की धारा 5 मील दूर ले जाकर काम में लाना है और वहाँ पर 110 किलोवाट की शक्ति खर्च करना है। तब प्रत्यक्ष ही है कि 500 अम्पीयर की धारा प्रवाहित होगी। इस धारा को जिन ताँबे के तारों के द्वारा 5 मील ले जाना होगा उन्हें बहुत ही मोटा बनाना पड़ेगा अन्यथा उनका प्रतिरोध इतना अधिक हो जायगा कि बहुत सी शक्ति रास्ते में नष्ट हो जायगी। यदि इन तारों का प्रतिरोध $\frac{1}{10}$ ओह्म भी हुआ तब भी $Ri^2 = \frac{1}{10} \times 500^2 = 25000$ वाट $=25$ किलोवाट का नुकसान हो जायगा। यह तो नित्य प्रति का नुकसान हुआ। तारों के लगाने में जो रुपया पहिले खर्च करना होगा वह भी बहुत अधिक होगा क्योंकि यदि हम गणना करे तो मालूम होगा कि 10 मील लम्बे तार का प्रतिरोध $\frac{1}{10}$ तब हो सकता है जबकि तार का व्यास लगभग 4 सम० हो। इतने मोटे तार में ताँबे का भार ही इतना होगा कि उसके ताँबे की कीमत ही बहुत हो जायगी और फिर उसे खींच कर खंभों पर लगाने के लिए खंभे भी बड़े मजबूत लगाने होंगे।

किन्तु यदि किसी प्रकार हम धारा की प्रबलता घटा सकते तो तार को मोटा रखने की आवश्यकता नहीं होती। यह तभी हो सकता है जब विभव व बढ़ा दिया जाय। यदि 220 वोल्ट के स्थान में विभवत्व 22000 वोल्ट कर दिया जाय तो

110 किलोवाट के लिए आवश्यक धारा 5 अम्पीयर मात्र रह जायगी। इस अवस्था में यदि 25 किलोवाट की विद्युत शक्ति का नुकसान उठाने को हम तैयार हों तो तारों का प्रतिरोध 1000 ओह्म हो सकता है क्यों कि $1000 \times 5^2 = 25000$ वाट। अर्थात् अब तारों का प्रतिरोध पहिले की अपेक्षा 10000 गुणा अधिक हो सकता है। इसलिए तार का व्यास 100 गुणा कम हो सकता है।
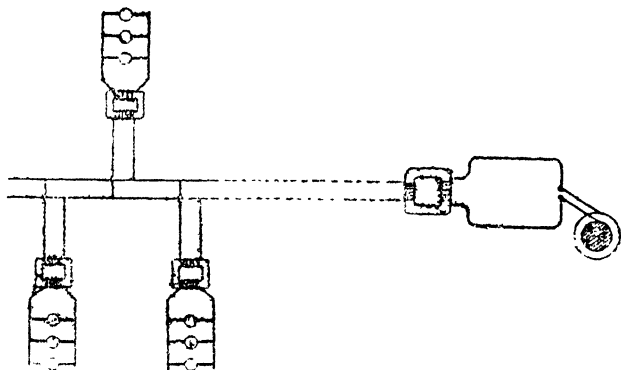
चित्र 23·17

इन बातों से प्रगट है कि उच्च विभवत्व के उपयोग से तार लगाने का प्रथम व्यय बहुत ही कम किया जा सकता है और यदि तार के व्यास में इतनी अधिक कमी न की जाय तो प्रतिरोध में नष्ट होने वाली शक्ति बहुत कम की जा सकती है।

दिष्ट धारा में विभवत्व नहीं बढ़ाया जा सकता। यद्यपि डायनमो के द्वारा 22000 वोल्ट की धारा उत्पन्न करना असंभव नहीं है किन्तु इस उच्च विभवत्व की धारा को मकानों में ले जाना अत्यन्त भयानक है। इस धारा से मनुष्यों की मृत्यु का बहुत ही अधिक डर रहेगा।

किन्तु प्रत्यावर्ती धारा के लिए यह काम बड़ा आसान है। मान लीजिये कि हमने 220 वोल्ट ही की धारा मशीन से उत्पन्न की (चित्र 23·17)। ट्रान्सफ़ार्मर के द्वारा इसका विभवत्व 22000 कर के इसे हम 5 मील आसानी से ले जा सकते हैं। वहाँ पहुँचकर पुनः ट्रान्सफ़ार्मर के द्वारा उसका विभवत्व घटाकर 220 कर दिया जा सकता है। तब यह बिना किसी तरह के डर के घरों में ले जाई जा सकती है। इस उपाय से आजकल 5 मील ही नहीं, सैकड़ों मील दूर तक धारा को ले जाना संभव हो

गया है। जल प्रपातों की शक्ति से विद्युत्-धारा उत्पन्न करने में कितना लाभ है यह बताना आवश्यक नही। यद्यपि जल-प्रपात सर्वत्र नहीं प्राप्त हो सकते तथापि अब इससे कुछ कठिनाई नही उपस्थित होती। एक स्थान पर उत्पन्न करके धारा देश भर मे फैलाई जा सकती है। इसी कारण अब प्रत्यावर्ती धारा का प्रचार बढ़ता जाता है।

23·23—**त्रिकलीय प्रणाली** (Three-phase System)। उच्च विभवत्व के द्वारा वैद्युत शक्ति को बहुत दूर ले जाने मे मोटे तारों की आवश्यकता नही होती और इस प्रकार ताँबे की बहुत बचत हो जाती है। किन्तु तारो को अधिक पतला करने पर उनका प्रतिरोध भी अधिक बढ़ जाता है और इसलिए ऊष्मा के रूप में
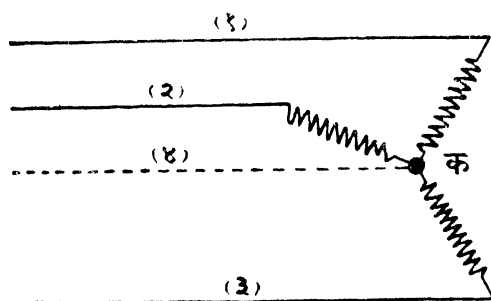
चित्र 23·18

जो Ri^2 वाट का नुकसान होता है वह भी अधिक हो सकता है। नीचे लिखी हुई युक्ति के द्वारा तार की भी बचत हो जाती है और Ri^2 की हानि भी अधिक नही होती।

इस युक्ति में प्रत्यावर्ती मशीन इस प्रकार की बनाई जाती है कि उससे तीन पृथक् धाराएँ प्रवाहित हों। ये धाराएँ तीन पृथक् तारों में चलाई जाती हैं। मान लीजिये कि तीनों को मशीन पर वापिस लाने के लिये एक ही तार लगा दिया गया है (चित्र 23·18)। तीनों धाराओं के व० मा० मू० परिमाण बराबर होने हैं किन्तु उनमें परस्पर $120°$ का कलान्तर रहता है। तार (4) में इन तीनों की संयुक्त धारा ही प्रवाहित होगी। चित्र 23·19 में इन धाराओं के तरंग-चित्र दिये गये हैं। किसी भी क्षण पर इस चित्र में तीनों धाराओं का तात्कालिक परिमाण जोड़ने से मालूम हो जायगा कि संयुक्त धारा का परिमाण सर्वदा बिलकुल 0 ही है। अतः तार (4) में कुछ भी धारा प्रवाहित न होगी। इसलिए इस तार की आवश्यकता ही नहीं है। केवल तीन ही तार से सारा काम हो जायगा।

मान लीजिये कि हमें 30 अम्पीयर की धारा की आवश्यकता है। इसे मशीन से **क** पर लाने के लिए यदि हम तीन पृथक् पृथक् तार लगादें ताकि प्रत्येक में 10 अम्पीयर की धारा प्रवाहित हो तो स्पष्ट है कि हमें कुछ अधिक ताँबे की जरूरत न होगी। जितने क्षेत्रफल की अनुप्रस्थकाट का एक तार 30 अम्पीयर के लिए ठीक
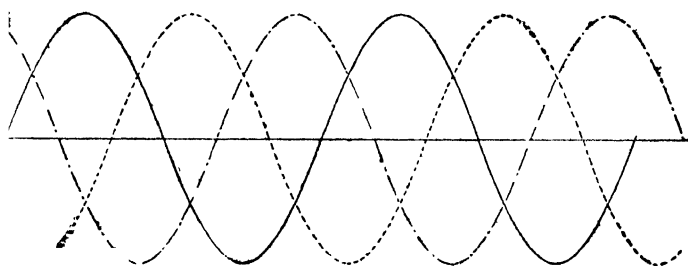
चित्र 23·19

होता उतना ही तीनों तारों के काट का सम्मिलित क्षेत्रफल होगा। वस्तुतः क्षेत्रफल बराबर होने पर भी प्रतिरोध कुछ कम ही रहेगा क्यों कि प्रत्यावर्ती धारा के लिए अब त्वचा का क्षेत्रफल अपेक्षाकृत अधिक हो जायगा। एक ही तार से 30 अम्पीयर की धारा मशीन से **क** तक लाने पर एक उतना ही मोटा तार धारा को लौटाकर ले जाने के लिए भी आवश्यक होता। परन्तु अब $120°$ के कलान्तर वाली 10 अम्पीयर की तीन धाराएँ तीन पृथक् तारों से **क** पर पहुँचाई गई हैं तो इन्हें लौटाने वाले तार की आवश्यकता ही न रही। इस प्रकार त्रिकलीय पद्धति के द्वारा स्पष्ट रूप से आधे ताँबे की बचत हो जाती है और साथ ही प्रतिरोध भी आधा ही रह जाता है जिससे Ri^2 की हानि भी बहुत कम हो जाती है।

परिच्छेद 24

विद्युत्-जनित्र तथा मोटर

(Electric Generators and Motors)

24·01—**विद्युत्-धारा जनित्र** (Generators of Electric Current)—धारा उत्पन्न करने वाली मशीनें दो प्रकार की होती हैं। जो प्रत्यावर्ती धारा उत्पन्न करती हैं उन्हें प्रत्यावर्तित्र (alternator) कहते हैं तथा जो दिष्ट धारा उत्पन्न करती हैं उन्हें डायनमो (dynamo) कहते हैं।

24·02—**प्रत्यावर्तित्र** (Alternator)। अनुच्छेद 23·01 में बताया जा चुका है कि यदि कोई कुंडली चुम्बकीय क्षेत्र में घुमाई जाय तो उसमें धारा प्रेरित होती है। चित्र 23·03 में इस प्रेरित प्रत्यावर्ती धारा का तरंग-चित्र भी दिखाया गया था। जिस मशीन के द्वारा इस प्रकार की धारा उत्पन्न होती है उसे प्रत्यावर्तित्र कहते हैं।

इस धारा की प्रबलता बढ़ाने के लिए चित्र 23·01 के प्रत्यावर्तित्र में परिवर्तन करने की आवश्यकता है।:—

(1) विद्युत्चुम्बक का उपयोग करके चुम्बकीय क्षेत्र प्रबल बनाया जाय।

(2) कुंडली के बीच में लोहा रखकर क्षेत्र की तीव्रता और भी बढ़ा दी जाय।

(3) कुंडली के फेरों की संख्या खूब बढ़ा दी जाय ताकि प्रत्येक फेरे में वि०वा० ब० प्रेरित हो और सब फेरे श्रेणीबद्ध होने के कारण सब का सम्मिलित वि० वा० ब० अधिक हो सके।

(4) कुंडली को अधिक वेग से घुमाया जाय क्योंकि प्रेरित वि० वा० ब० का परिमाण इस बात पर निर्भर है कि बल-रेखाओं को कुंडली किस वेग से काटती है।

इतना कर देने पर इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसी मशीन की धारा बिजली के लैम्प जला सकेगी। किन्तु उसकी रोशनी धारा की आवृत्ति से ही घटती बढ़ती रहेगी। जितनी बार धारा अधिकतम होगी उतनी ही बार प्रकाश भी तीव्र उत्पन्न होगा और जितनी बार वि० वा० ब० शून्य होगा उतनी ही बार लैम्प बुझ भी जावेंगे। हाँ, यदि प्रति सैकंड 25 बार से अधिक यह घट-बढ़ होगी तो हमारे नेत्रों को दृष्टि-निर्बंध के कारण उस का पता न चल सकेगा। कुंडली के प्रत्येक घूर्णन में एक बार धारा की दिशा बदलती है। अतः कम से कम कुंडली की आवृत्ति 25 प्रति सेकंड होनी चाहिए। साधारण व्यवहार में इससे भी अधिक आवृत्ति का उपयोग किया जाता है

और धारा में कम से कम 50 आवर्तन प्रति सैकंड उत्पन्न किये जाते हैं। अर्थात् कुंडली को 3000 घूर्णन प्रति मिनट के वेग से घुमाना पड़ेगा। यह वेग इतना अधिक है कि कोई भी कुंडली इसे सहन न कर सकेगी।

इस दिक्कत को मिटाने के लिए आजकल जितने प्रत्यावर्तित्र बनाये जाते हैं उनमें कई उत्तर और दक्षिण चुम्बक-ध्रुव एकान्तरतः लगे होते है और जितने ध्रुव होते हैं उतनी ही कुडलियाँ होती हैं। इन सब कुंडलियों के समुदाय को आर्मेचर (armature) कहते है। आर्मेचर के एक ही चक्कर में प्रत्येक कुंडली कई बार उत्तर-ध्रुव से दक्षिण-ध्रुव के सामने जाती है। अतः उसमें प्रेरित वि० वा० ब० की दिशा भी कई बार बदलती है। यदि ध्रुवों की संख्या 6 हो तो एक चक्कर में तीन आवर्तन होंगे। अतः 50 प्रति सैकंड के आवर्तन के लिए 3000 के स्थान में केवल 1000 घूर्णन प्रति मिनट से ही काम चल जायगा। किसी किसी मशीन में तो ध्रुवों की संख्या 64 तक होती है। अतः एक ही चक्कर मे 32 आवर्तन हो जाते हैं।

प्रत्यावर्तित्र दो प्रकार के होते हैं। एक तरह की मशीनो मे आर्मेचर घूमता है और दूसरे प्रकार की मशीनों में ध्रुव-समूह घूमता है। आर्मेचर मे विलागन अच्छा होना चाहिए। अतः आर्मेचर को स्थिर रखने में बड़ी सुविधा है। इसी कारण दूसरे प्रकार के प्रत्यावर्तित्र ही अधिक प्रचलित हैं।

चित्र 24·01 में कुडली-समह स्थिर है। लोहे की पतली विलागित पत्तियों के द्वारा एक बडा फ्रेम तैयार किया जाता है और इसी में खांचे काट काट कर कुंडलियाँ लपेटने का स्थान बनाया जाता है। चित्र में 12 कुंडलियाँ लिपटी हुई हैं। इनके लपेटने की दिशा एकान्तरतः उलटी होती है।
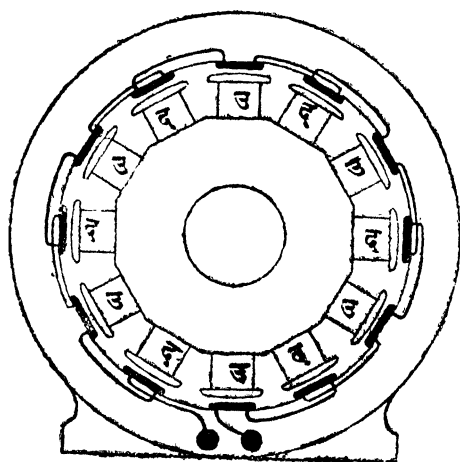
चित्र 24·01

ध्रुवों-वाला पहिया उपर्युक्त कुंडली समूह के मध्य में घूमता है। इसमें भी 12 विद्युत्चुम्बकीय ध्रुव हैं और ये एकान्तरतः उत्तर तथा दक्षिण हैं। इन विद्युत्-चुम्बकों की कुंडलियों में दिष्ट धारा चलाई जाती है। इस के लिए एक डायनमो अलग रहता है।

24·03—**द्विकलीय** (Two-phase) **और त्रिकलीय** (Three-phase) **प्रत्यावर्तित्र**। यदि प्रत्यावर्तित्र के स्थिर भाग में दो कुंडली-समूह पृथक्-पृथक् हों और दूसरे कुंडली-समूह की कुंडलियाँ पहले समूह की कुंडलियों के बीच में एकान्तरतः लगी हों तथा दोनों समूह परस्पर बिलकुल विलागित हों तो स्पष्ट है कि इन दोनों समूहों में प्रत्यावर्ती धाराएँ उत्पन्न होंगी किन्तु उन दोनों में 180° का कलान्तर होगा।

इसी प्रकार तीन कुंडली-समूह लगाकर त्रिकलीय प्रत्यावर्तित्र बनता है। इसमें प्रथम कुंडली समूह की कुंडलियों के बीच-बीच में दो-दो कुंडलियाँ और होती हैं। इन तीन पृथक् धाराओं का कलान्तर 120° होता है।

24·04—**डायनमो** (Dynamo)। हम देख चुके हैं कि चित्र 23·01 के प्रत्यावर्तित्र की कुंडली के प्रत्येक चक्कर घूमने में आधी देर धारा एक दिशा में चलती है और आधी देर विपरीत दिशा में। यदि कोई ऐसा उपाय किया जाय कि जिस समय धारा की दिशा बदले ठीक उसी समय बुरुश **ब**$_1$ और **ब**$_2$ भी अपना स्पर्श-स्थान परिवर्तन करदे अर्थात् जिस छल्ले को ब$_2$ स्पर्श कर रहा था उसे अब ब$_1$ स्पर्श
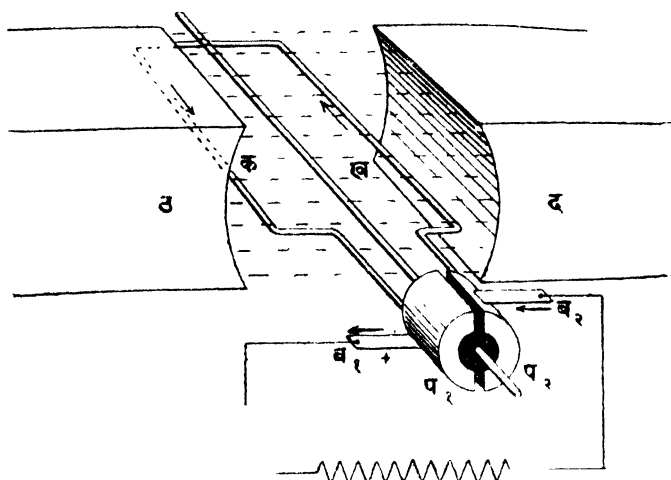
चित्र 24·02

करने लगे और जिसे ब$_1$ स्पर्श कर रहा था उसे अब ब$_2$ स्पर्श करने लगे तो स्पष्ट है कि बाह्य कुंडली में धारा की दिशा न बदलेगी। इस उपाय का नाम दिक्-परिवर्ती (commutator) है। चित्र 24·02 में इसका कार्य समझाया गया है। प्रत्यावर्तित्र

के छल्लों को काट कर आधे आधे कर दिये गये हैं और इन आधे भागों (प$_1$ और प$_2$) को मिलाकर इस प्रकार रख दिया गया है कि दोनों का एक ही छल्ला बन गया है। किन्तु दोनों के बीच मे विलागक लगा दिया गया है ताकि दोनों का आपस में स्पर्श न हो सके। बुरुश **ब$_1$** और **ब$_2$** इस दिक्-परिवर्ती के व्यास के दोनों सिरों पर स्पर्श करते हैं। कुंडली के आधे चक्कर में **ब$_1$** का स्पर्श **प$_1$** से रहता है और **ब$_2$** का **प$_2$** से, और फिर आधे चक्कर में **ब$_1$** का स्पर्श **प$_2$** से हो जाता है **ब$_2$** का प$_1$ से।

चित्र 24·03

इस दिक्-परिवर्ती के उपयोग से धारा का रूप लेखाचित्र 24·03 के समान हो जाता है। यह धारा सर्वदा एक ही दिशा में तो अवश्य बहती है किन्तु उसकी प्रबलता स्थिर नही है। इस दोष को दूर करने के लिए कई कुंडलियों का एक ही साथ प्रयोग किया जाता है। ये कुंडलियाँ एक बेलन पर भिन्न-भिन्न दिशाओं में लपेटी जाती हैं (चित्र 24·04)। दिक्-परिवर्ती भी कुंडलियों की संख्या के अनुरूप
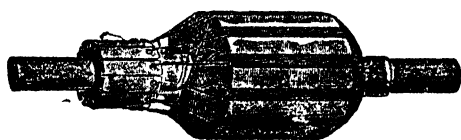
चित्र 24·04

ही बहुत से भागों में विभक्त रहता है। परिणाम यह होता है कि चुम्बकीय बल-रेखाएँ जब एक कुंडली से लम्बरूप होती हैं तो दूसरी कुंडलियों से वे कुछ दूसरे ही परिमाण का कोण बनाती हैं। यदि कुंडलियां 5 हों तो स्पष्ट है कि ये कोण क्रमशः 0°, 36°, 72°, 72°, 144° होंगे। अतः एक ही समय पर इन कुंडलियों में प्रेरित वि० वा० ब० भी भिन्न-भिन्न होंगे। चित्र (24·05) में प्रत्येक कुंडली के वि० वा० ब० के लेखाचित्र दिखाये गये हैं। यदि ये सब कुंडलियाँ श्रेणीबद्ध हों तो किसी भी क्षण पर सम्पूर्ण वि० वा० ब० सब कुंडलियों के तात्कालिक वि० वा० बलों की जोड़ के बराबर होगा। इस जोड़ का भी लेखाचित्र चित्र 24·05 में ऊपर की ओर दिखलाया गया है। इस से प्रगट है कि सब के सम्मिलित वि० वा० ब० के परिमाण में बहुत ही थोड़ा परिवर्तन होता है। वह प्रायः स्थिर है। अतः बाह्य कुंडली में धारा भी प्रायः स्थिर प्रबलता वाली ही प्रवाहित होगी। जितनी अधिक संख्या इन कुंडलियों की होगी उतना ही अधिक स्थिर उनका सम्मिलित वि० वा० ब० भी होगा।

ऐसी दिष्ट धारा उत्पन्न करने वाली मशीन को डायनमो (dynamo) कहते हैं। सब बिजली के कारखानों में प्रत्यावर्तित्र या डायनमो ही के द्वारा बिजली उत्पन्न की
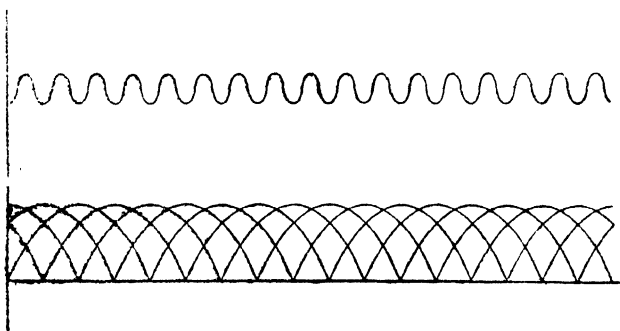
चित्र 24·05

जाती है। इन मशीनों के द्वारा जो ऊर्जा विद्युत्-धारा का रूप धारण करती है वह वास्तव में उस कोयले से या जल-प्रपात से प्राप्त होती है जिसकी सहायता से इंजन (engine) या टरबाइन (turbine) इन मशीनों की कुंडलियों को घुमाते हैं।

24·05—**डायनमो का चुम्बक।** छोटी-छोटी डायनमो में तो कृत्रिम स्थायी
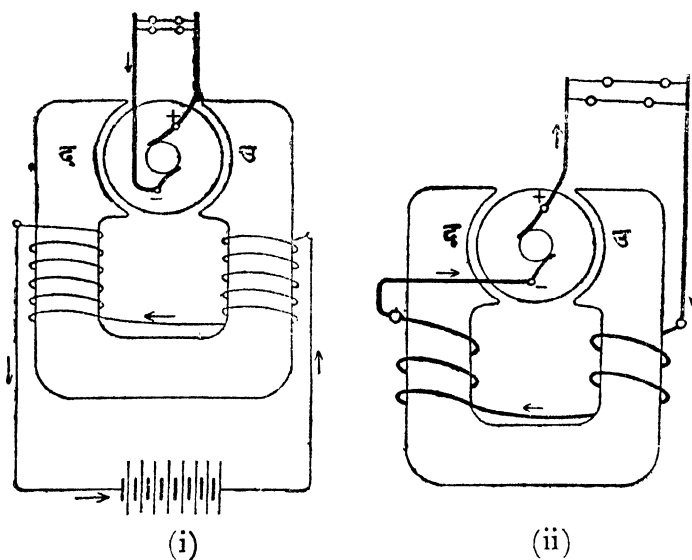
चित्र 24·06

चुम्बक-ध्रुवों ही से डायनमो का काम चल जाता है किन्तु जब प्रबल धारा उत्पन्न करना होता है तब विद्युत्-चुम्बकों का उपयोग अनिवार्य है। इन विद्युत्-चुम्बकों में धारा किसी बैटरी (चित्र 24·06-i) या दूसरी डायनमो के द्वारा भी चलाई जा सकती है किन्तु आजकल अधिकतर यह धारा उसी डायनमो से प्राप्त हो जाती है। नीचे के चित्रों से ज्ञात होगा कि विद्युत्-चुम्बक में यह धारा तीन प्रकार से चलाई जा सकती है।
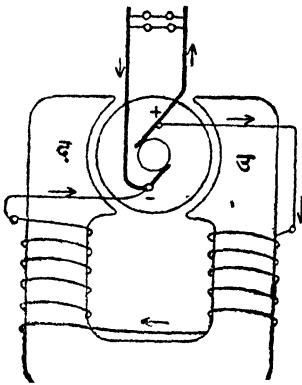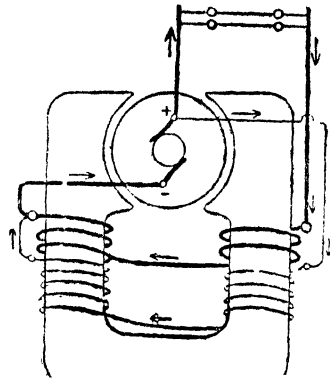
चित्र 24·06

(1) विद्युत्-चुम्बक की कुंडली आर्मेचर से श्रेणीबद्ध रहती है (चित्र ii)। आर्मेचर में प्रेरित धारा ज्यों-ज्यों अधिक प्रबल होती जाती है त्यों-त्यों विद्युत्-चुम्बक भी अधिक प्रबल होते जाते हैं और इस कारण प्रेरित धारा और भी प्रबल होती जाती है। यह वृद्धि उत्तरोत्तर होती ही जाती है। अंत में विद्युत्-चुम्बक का लोहा चुम्बकत्व से संतृप्त हो जाता है और तब यह वृद्धि रुक जाती है। स्पष्ट है कि इस प्रकार के डायनमो में विद्युत्-चुम्बक की कुंडली खूब मोटे तार की लगाई जाती है क्योंकि डायनमो की समस्त धारा उसमें से प्रवाहित होती है। इसे श्रेणी कुंडलित (series-wound) डायनमो कहते हैं।

(2) जब विद्युत्-चुम्बक की कुंडली आर्मेचर से पार्श्व-बद्ध होती है (चित्र iii) तो डायनमो पार्श्व-कुंडलित (shunt-wound) कहलाती है। इसमें कुंडली पतले तार की बनाई जाती है और फेरों की संख्या बढ़ाकर ही विद्युत्-चुम्बक की

प्रबलता बढ़ाई जाती है। इस तार के पतले तथा लम्ब होने के कारण इस कुंडली का प्रतिरोध अधिक होता है और बहुत ही थोड़ी धारा उसमें से बहती है।

(3) कभी कभी इन दोनों उपायों का एक ही साथ भी उपयोग किया जाता है। (चित्र iv) । विद्युत्-चुम्बक में दो कुंडलियाँ लगाई जाती हैं । एक श्रेणीबद्ध और दूसरी पार्श्वबद्ध । ऐसी डायनमो मिश्र-कुंडलित (compound-wound कहलाती है ।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि इन विद्युत्-चुम्बकों में प्रारम्भ मे चुम्बकत्व कहां से आता है । यदि प्रारम्भ में थोड़ा भी चुम्बकत्व हो तब तो प्रेरण के कारण आर्मेचर में उत्पन्न हुई क्षीण धारा भी क्रमशः उस चुम्बकत्व को प्रबल बना देगी । बात यह है कि यदि प्रारम्भ मे किसी भी उपाय से इन विद्युत्-चुम्बकों को चुम्बकित कर दिया जाय तो बाद मे इनमें कुछ न कुछ चुम्बकत्व अवशिष्ट रह ही जाता है । अतः जब भी डायनमो का चलाना प्रारम्भ किया जाता है तभी यह अवशिष्ट चुम्बकत्व प्रेरण का कार्य प्रारम्भ कर देता है ।

इन तीनों प्रकार की डायनमो के अलग-अलग लाभ हैं । भिन्न-भिन्न अवस्थाओं मे भिन्न-भिन्न प्रकार की डायनमो काम मे लाई जाती है ।

24·06—**डायनमो के लाक्षणिक वक्र** (Characteristic Curves)।
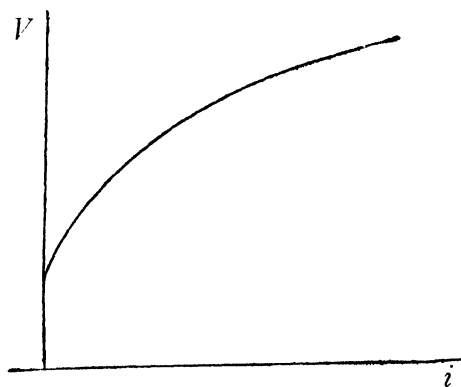
चित्र 24·07

चित्र 24·07, 24·08 और 24·09 में तीनों प्रकार की डायनमो के लाक्षणिक-वक्र (characteristic curve) दिये गये हैं । इनमें क्षैतिज-अक्ष पर डायनमो से उत्पन्न बाह्य परिपथ की धारा i अंकित है और ऊर्ध्वाधर अक्ष पर दिक्परिवर्ती के बुरुशों का विभवान्तर V अंकित हैं । ये यथास्थान अम्पीयरमापी तथा वोल्ट-मापी

रख कर नापे जा सकते हैं। वाह्य परिपथ में प्रतिरोध को घटा-बढ़ाकर धारा का परिमाण बदला जाता है। श्रेणी-कुंडलित डायनमो के चित्र 24·07 में ज्यों-ज्यों
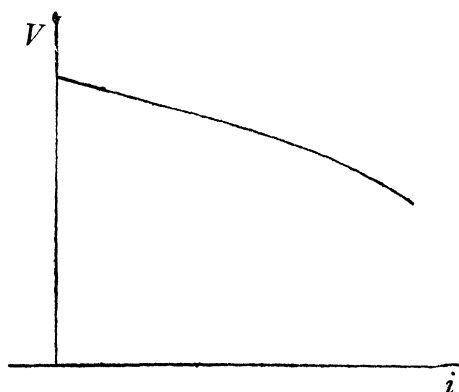
चित्र 24·08

वाह्य प्रतिरोध घटाया जाता है त्यों-त्यों धारा बढ़ती है और वैसे ही विभवत्व भी बढ़ता जाता है। किन्तु संतृप्ति के बाद विभवत्व की वृद्धि रुक जाती है और कई कारणों से वह धीरे-धीरे घटने भी लगती है। इस वक्र से यह भी स्पष्ट है कि यदि वाह्य प्रतिरोध बहुत अधिक हो तो विभवत्व इतना घट जायगा कि प्रायः डायनमो का सारा कार्य ही रुक जायगा। पार्श्वकुंडलित डायनमो के चित्र 24·08 में बात दूसरी
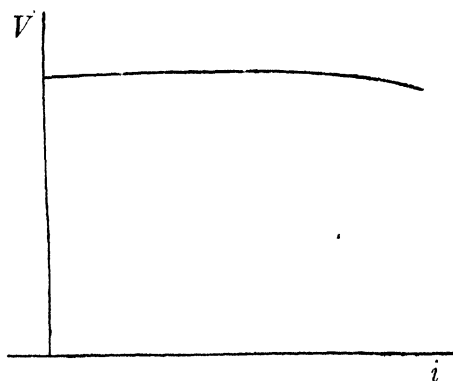
चित्र 24·09

ही है। वाह्य प्रतिरोध अनन्त होने पर विभवत्व अधिकतम है। अर्थात् जब वाह्य परिपथ बिलकुल उन्मीलित रहता है तभी विभवत्व सबसे अधिक रहता है। इसी

समय विद्युत्चुम्बक में धारा सबसे प्रबल होती है। ज्यों-ज्यों प्रतिरोध घटाया जाता है त्यों-त्यों धारा तो बढ़ती है किन्तु बुरुशों का विभवान्तर घटता जाता है। इससे चुम्बकीय कुंडली में धारा और भी कम होती जाती है।

चित्र 24·09 मिश्र-कुंडलित डायनमो का है। इसमें श्रेणी-कुंडलित और पार्श्व-कुंडलित के विरोधी परिणामों को संयुक्त करके विभवत्व स्थिर कर लिया गया है। वाह्य परिपथ का प्रतिरोध चाहे कितना भी हो और उसमें चाहे कितनी भी धारा प्रवाहित हो, डायनमो का विभवत्व नही बदलता।

एक उदाहरण के द्वारा इन तीन प्रकार की डायनमो का भेद समझ में आ जायगा। घरों में जो बिजली के लैम्प जलाये जाते हैं उनके लिए विभवत्व के स्थिर रहने की आवश्यकता है क्योंकि इसके घटने-बढ़ने से लैम्प की रोशनी में भी घट-बढ़ होगी। ये लैम्प सदैव पार्श्व-बद्ध रहते हैं। अतः अधिक संख्या में लैम्प जलाने से वाह्य परिपथ का प्रतिरोध घटता है और लैम्पो की संख्या कम करने से यह प्रतिरोध बढ़ जाता है। यदि ये लैम्प श्रेणी-कुंडलित डायनमो के द्वारा जलाये जावें तो ज्यों-ज्यों लैम्पों की संख्या बढ़ती जायगी त्यों-त्यों विभवत्व भी बढ़ेगा और रोशनी भी बढ़ती जायगी। किन्तु पार्श्व-कुंडलित डायनमो इससे उलटा कार्य करेगी। ज्यों-ज्यों लैम्पों की संख्या बढ़ेगी त्यों-त्यों प्रत्येक लैम्प की रोशनी क्षीण होती जायगी। मिश्र-कुडलित डायनमो के द्वारा ही रोशनी स्थिर परिमाण की प्राप्त हो सकती है।

24·07—**चुम्बक-ध्रुवों की संख्या**। प्रत्यावर्त्तित्र के सम्बन्ध में जिस कारण से चुम्बक-ध्रुवों की संख्या बढ़ाने की आवश्यकता बतलाई गई थी, उसी कारण से डायनमो में भी ध्रुवों की संख्या बढ़ा दी जाती है। किन्तु आर्मेचर की कुंडलियों की संख्या अधिक होने के कारण तथा उनके संयुक्त विभवत्व का चित्र 24·05 के समान प्रायः स्थिर परिमाण का होने के कारण ध्रुवों की संख्या अधिक नहीं बढाना पड़ता। तब भी आर्मेचर के घूर्णन-वेग को कम करने के लिए ध्रुवों की संख्या कुछ न कुछ बढ़ानी ही पड़ती है।

24·08—**दिष्ट-धारा मोटर** (D. C. Motor)। अनुच्छेद 16·25 में यह बतलाया गया था कि यदि कोई कुंडली चुम्बकीय क्षेत्र में रखी हो और उसमें विद्युत्-धारा प्रवाहित की जाय तो चल-कुंडली-धारामापी के समान ही यह कुंडली भी घूम जाती है। धारामापी में तो कुंडली के आलम्बन की ऐंठन या उससे लगी हुई बालकमानी की प्रत्यास्थता (elasticity) इस गति का विरोध करती है और कुंडली थोड़ा-सा घूम कर ठहर जाती है। किन्तु यदि कोई ऐसा विरोधी बल न हो और कुंडली घूमने के लिए स्वतंत्र हो तो जब तक चुम्बकीय क्षेत्र कुंडली पर बल लगाता

रहेगा तब तक कुंडली का विक्षेप भी बढ़ता जायगा। किन्तु जब कुंडली इतनी घूम जायगी कि चुम्बकीय बल-रेखाएँ कुंडली-तल पर अभिलम्बित हो जावें तब उस पर बल का अभाव हो जायगा। यदि कुंडली कुछ और घूमे तो चुम्बकीय क्षेत्र उस पर उलटा बल लगाने लगेगा और कुंडली विपरीत दिशा मे घूमने का प्रयत्न करेगी।

किन्तु यदि इमी समय कुंडली-गत धारा की दिशा भी उलट दी जाय तो उसके घूमने की दिशा न बदलेगी। अतः यह स्पष्ट है कि यदि ऐसा प्रबन्ध कर दिया जाय कि प्रत्येक घूर्णन में दो बार कुंडली-गत धारा की दिशा बदलती रहे तो वह बराबर घूमती ही रहेगी।

डायनमो की कुंडली में दिक्परिवर्तन का जो प्रबन्ध चित्र 24·02 में दिखलाया गया था वही इस कार्य के लिए भी सर्वथा उपयुक्त है। वस्तुतः यदि उस चित्र की कुंडली ही मे किसी प्रकार धारा प्रवाहित की जाय तो वह उपर्युक्त रीति से घूमने लगेगी। इस उपकरण का नाम मोटर (motor) रखा गया है। प्रत्यक्ष है कि मोटर ठीक डायनमो से उलटा कार्य करती है। डायनमो में किसी प्रकार यांत्रिक शक्ति के द्वारा कुंडली घुमाई जाती है और उससे विद्युत्-धारा उत्पन्न होती है। मोटर में विद्युत्-धारा कुंडली में चलाई जाती है और उससे वह घूमने लगती है और इस घूर्णन की यांत्रिक शक्ति से अन्य मशीनें भी चलाई जा सकती हैं। अर्थात मोटर विद्युत्-धारा से यांत्रिक शक्ति उत्पन्न कर देती है।

इस विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि निर्माण तथा रचना की दृष्टि से डायनमो तथा दिष्ट-धारा-मोटर में कोई विशेष भेद नही है। जिन-जिन उपायों से डायनमो की शक्ति बढ़ाई जाती है उन्ही उपायों से मोटर भी प्रबल बनाई जाती है। वही विद्युत्-चुम्बकों का उपयोग, वही आर्मेचर की कुंडलियों की संख्या-वृद्धि, और वही कुंडली-क्रोड़ में लोहे की पत्तियों का स्थापन मोटर की शक्ति में वृद्धि कर देते हैं। वस्तुतः किसी भी अच्छे डायनमो में उपयुक्त परिमाण की धारा प्रवाहित करके हम मोटर का काम ले सकते हैं। डायनमो ही की भांति ये मोटरें भी श्रेणी-कुंडलित, पार्श्व-कुंडलित तथा मिश्र-कुंडलित होती है।

24·09—दिष्ट-धारा मोटर का स्वतः नियंत्रण (Self-Regulation)। इस मोटर में यह बड़ा गुण है कि यद्यपि इसे स्थिर विभवत्व से जोड़ दिया जाय तब भी इसमें से केवल उतनी ही धारा प्रवाहित होती है जितनी की उसके द्वारा सम्पन्न यांत्रिक कार्य के लिए आवश्यक हो। यदि यह कार्य थोड़ा हो तो मोटर में थोड़ी धारा चलती है। किन्तु यदि उसे अधिक यांत्रिक कार्य करना पड़े तो उसकी धारा का परिमाण स्वयमेव बढ़ जाता है। इस धारा के नियंत्रण के लिए हमें किसी वाह्य प्रतिरोध की आवश्यकता नहीं होती।

इस का कारण यह है कि जिस समय मोटर का आर्मेचर घूमता है उस समय उसमें डायनमो ही की भांति वि० वा० ब० प्रेरित होता है और यह उसमें प्रवाहित होने वाली धारा का विरोध करता है। मान लीजिये कि आपने मोटर के बुरुशों को जिस बैटरी या डायनमो से सम्बद्ध किया उसका विभवत्व E है। यदि आर्मेचर का प्रतिरोध R हो तो जब मोटर घूम न रही हो तब आर्मेचर की धारा $i=\frac{E}{R}$ होगी। किन्तु आर्मेचर के घूर्णन से प्रेरित वि० वा० ब० e इसका विरोध करेगा और कार्यकारी विभवत्व केवल $E-e$ मात्र रह जावेगा। अतः धारा $i'=\frac{E-e}{R}$ होगी। e मोटर का विरोधी वि० वा० ब० (back e. m. f.) कहलाता है। जितने अधिक वेग से मोटर चलेगी उतना ही अधिक परिमाण इस विरोधी वि० वा० ब० का भी होगा। यदि किसी समय मोटर किसी नियत वेग से चल रही हो और आप सहसा उस बल को बढ़ा दें जिसके विरुद्ध मोटर काम कर रही हो तो स्पष्ट है कि उसका वेग घटने लगेगा। ज्यों-ज्यों वेग घटेगा त्यों-त्यों e भी घटता जायगा और $E-e$ का परिमाण बढ़ता जायगा। यह तब तक होता रहेगा जब तक कि आर्मेचर को घुमाने वाला विद्युत्-चुम्बकीय बल-युग्म उसके विरोधी यांत्रिक बल-युग्म के बराबर न हो जाय। इस सन्तुलन के बाद मोटर का वेग स्थिर रहेगा। इसी प्रकार वेग का परिवर्तन सदैव धारा का नियंत्रण करता रहेगा। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि मोटर का वेग बहुत अधिक बदलता रहता है। आर्मेचर का प्रतिरोध इतना कम रखा जाता है कि वेग घटने पर $E-e$ के मूल्य में जो थोड़ा-सा परिवर्तन होता है वही धारा में बहुत बड़ा परिवर्तन कर देता है और वेग पुनः बढ़ जाता है। अतः वेग मे अधिक परिवर्तन होने ही नही पाता।

यह न समझना चाहिए कि यह विरोधी वि० वा० ब० हानिकारक है। विपरीत इसके सच तो यह है कि जितना ही अधिक यह वि० वा० ब० होगा उतना ही अच्छा। मोटर पर जो वाह्य विभवत्व E लगाया जाता है वह दो कार्य करता है। उसका एक भाग e तो इस विरोधी वि० वा० ब० के विरुद्ध कार्य करता है और दूसरा भाग $E-e$ प्रतिरोध के विरुद्ध। इस दूसरे भाग की शक्ति $(E-e)i$ तो सब ऊष्मा के रूप में परिणत होकर नष्ट हो जाती है। पहिला ही भाग $e \cdot i$ यांत्रिक कार्य करता है। अतः जितना ही e अधिक होगा उतना ही $(E-e)i$ कम होगा और लाभदायक शक्ति $e \cdot i$ अधिक होगी।

24·10—**मोटर का यांत्रिक बल-युग्म** (Mechanical Couple)। जो यांत्रिक बल मोटर किसी मशीन को घुमाने में लगाती है उसका कारण वह विद्युत्-

चुम्बकीय बल है जो चुम्बकीय क्षेत्र आर्मेचर की धारा पर लगाता है। यह बल आर्मेचर की धारा का भी अनुपाती होता है और चुम्बकीय क्षेत्र का भी। अतः आर्मेचर की धारा या विद्युत्-चुम्बकों की कुंडलियों की धारा इन दोनों में से किसी को भी बढ़ाने से यह बलयुग्म बढ़ सकता है। पार्श्व-कुंडलित मोटर में आर्मेचर की धारा को बदलने से चुम्बक-क्षेत्र में अधिक परिवर्त्तन नही होता क्योंकि बुरुशों पर जो विभवत्व लगाया जाता है वह स्थिर रहता है। किन्तु वेग घटने पर आर्मेचर की धारा बढ़ जाती है। अतः उसी अनुपात से बल-युग्म भी बढ़ता है। अर्थात् यदि आर्मेचर-धारा द्विगुण कर दी जाय तो बल-युग्म भी लगभग दुगना हो जाता है। श्रेणी-कुंडलित मोटर में जो धारा आर्मेचर में जाती है वही विद्युत्-चुम्बक की कुंडली में भी जाती है। अतः इस धारा को द्विगुण करने से चुम्बकीय क्षेत्र भी द्विगुण हो जाता है (यदि लोहा संतृप्त न हो गया हो)। परिणाम यह होता है कि बल-युग्म चार गुणा हो जाता है। अतः श्रेणी-कुंडलित मोटर का बल-युग्म लगभग धारा के वर्ग का अनुपाती होता है।

24·11—**मोटर के वेग पर चुम्बकीय क्षेत्र का प्रभाव**। स्थूल दृष्टि से देखने पर ऐसा जान पड़ता है कि यदि किसी भी उपाय से मोटर के विद्युत्-चुम्बकों की प्रबलता घटा दी जाय तो मोटर का बल-युग्म भी घट जायगा और उसका वेग भी घट जायगा। किन्तु वास्तव में होता इससे उलटा ही है। क्षेत्र को क्षीण बनाने से वेग बढ़ता है और उसे तीव्र करने पर वेग कम हो जाता है।। इसका कारण समझने के लिए मान लीजिये कि पार्श्व-कुंडलित मोटर किसी नियत वेग से चल रही है और कुछ यांत्रिक कार्य कर रही है। अब यदि चुम्बक कुंडली मे प्रतिरोध बढ़ाकर चुम्बकीय क्षेत्र थोड़ा सा घटा दिया जाय तो इसका प्रभाव सबसे प्रथम तो यही होगा कि विरोधी वि० वा० ब० भी उसी अनुपात से घट जायगा। इससे $E-e$ बढ़ जायगा और आर्मेचर की धारा $i'=\frac{E-e}{R}$ भी बढ़ जायगी। विशेष ध्यान देने की बात यही है कि $E-e$ इतना छोटा होता है कि e की थोड़ी कमी से $E-e$ के मूल्य में अपेक्षाकृत कई गुणी वृद्धि हो सकती है। इसलिए i' का परिमाण बहुत ही अधिक बढ़ जाता है। मान लीजिये कि $E=100$ वोल्ट और $e=98$ वोल्ट तथा आर्मेचर प्रतिरोध 1 ओह्म। इस समय आर्मेचर में धारा $i'=\frac{100-98}{1}=2$ अम्पीयर है। अब यदि चुम्बकीय क्षेत्र में 4% कमी हो जाय तो e में भी 4% ही की कमी होगी (यदि संतृप्ति न हो गई हो)। अतः $e=94·1$ वोल्ट रह जायगा। और $i'=\frac{100-94·1}{1}=5·9$ अम्पीयर हो जायगी। अर्थात् इस धारा का परिमाण

प्रायः तिगुना (300%) हो जायगा। फलतः बल-युग्म भी प्रायः तिगुना हो जायगा। और मोटर के वेग में बहुत वृद्धि होने लगेगी। इस वेग-वृद्धि के कारण e का परिमाण बढ़ने लगेगा और आर्मेचर की धारा पुनः कम होने लगेगी। जब यह धारा इतनी कम हो जायगी कि बल-युग्म फिर पहिले जितना ही यांत्रिक कार्य कर सके तब सन्तुलन हो जायगा। इस समय प्रत्यक्ष ही आर्मेचर की धारा का परिमाण पहिले से थोड़ा अधिक होगा किन्तु मोटर का वेग तो अपेक्षाकृत बहुत ही बढ़ जायगा। आर्मेचर के साथ एक अम्पीयर-मापी लगाकर यह बात प्रत्यक्ष देखी जा सकती है। क्षेत्र को घटाने पर जब वेग बढ़ने लगता है तब अम्पीयर-मापी का विक्षेप पहले बहुत बढ़ जाता है और तब पुनः कम होकर अपने पूर्व के परिमाण से थोड़ा अधिक होकर स्थिर हो जाता है। इसी प्रकार चुम्बकीय क्षेत्र को बढ़ाने से वेग घट जाता है।

इस कारण पार्श्व-कुंडलित मोटर के वेग के नियंत्रण का सरल उपाय यह है कि उसके विद्युत्-चुम्बक की कुंडली मे एक समंजक प्रतिरोध लगा दिया जाय। इस प्रतिरोध को बढ़ाने से वेग बढ़ जायगा और घटाने से कम हो जायगा। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि यह प्रतिरोध किसी भी कारण बहुत अधिक न हो जाय अन्यथा आर्मेचर में धारा इतनी अधिक हो जायगी कि उसके जल जाने का डर है।

श्रेणी-कुंडलित मोटर में ऐसा नियंत्रण नही हो सकता क्योंकि इसका वेग बढ़ाने के लिए आर्मेचर और चुम्बक दोनों में ही अधिक धारा प्रवाहित करना पड़ेगा। अर्थात् उस पर अधिक विभवत्व लगाना पड़ेगा।

24·12—**मोटर चलाने के लिए प्रारम्भिक परिस्थिति।** बहुत छोटी मोटर को चलाते समय तो कुछ विशेष होशियारी की आवश्यकता नही होती किन्तु बड़ी मोटरों को चलाना प्रारम्भ करते समय दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है।

(1) यह कहा जा चुका है कि मोटर के आर्मेचर का प्रतिरोध बहुत कम होता है। जब मोटर चलती रहती है तब तो विरोधी वि० वा० ब० आर्मेचर में अधिक प्रबल धारा नही जाने देता। किन्तु चलना प्रारम्भ करते समय उसमें बहुत ही अधिक प्रबल धारा प्रवाहित होती है, और इसका परिणाम आर्मेचर के लिये भयंकर हो सकता है। इसलिए प्रारम्भ में समंजक प्रतिरोध के द्वारा इस आर्मेचर-धारा को प्रबल होने से रोकना नितांत आवश्यक है। जब मोटर का वेग काफी हो जाय तब धीरे-धीरे यह प्रतिरोध हटा दिया जा सकता है क्योंकि तब विरोधी वि० वा० ब० धारा को अधिक नही बढ़ने देगा। इस कार्य के लिए जिस प्रतिरोध का उपयोग होता है उसे मोटर-प्रवर्तक-प्रतिरोध (motor starting resistance) या सक्षेप में प्रवर्तक-प्रतिरोध (starting resistance) कहते हैं।

(2) दूसरे यह स्मरण रखना चाहिए कि पार्श्व-कुंडलित मोटर को पहिले चलाकर तब उसे भार-ग्रस्त (load) करना चाहिए। पहिले ही से भार-ग्रस्त कर देने पर वह न चलेगी। इस का कारण यह है कि अधिक भार के साथ चलने के लिए आर्मेचर में प्रबल धारा की आवश्यकता होगी। इसके कारण बुरुशों पर विभवत्व कुछ कम हो जायगा और विद्युत्-चुम्बक अच्छी तरह चुम्बकित न हो सकेंगे और मोटर का बल-युग्म अधिक न हो सकेगा। विपरीत इसके श्रेणी-कुंडलित मोटर को भार-ग्रस्त किये बिना कभी न चलाना चाहिए। क्योंकि बिना भार के इस मोटर का वेग बहुत अधिक हो जायगा। भार के कारण इसमें गति उत्पन्न होने में कोई दिक्कत न होगी क्योंकि जितनी अधिक धारा आर्मेचर में प्रवाहित होगी उतनी ही विद्युत्-चुम्बक में भी जायगी और बल-युग्म भी उतना ही अधिक होगा। यही कारण है कि ट्राम (tram) तथा बिजली की रेल में श्रेणी-कुंडलित मोटर ही काम में आती हैं क्योंकि ये मोटरें सदा भार-ग्रस्त ही रहती हैं। कारखानों में जहाँ कभी मशीन को चलाना होता है और कभी ठहराना पड़ता है वहाँ पार्श्व कुंडलित मोटर अच्छी रहती है। इसे पहिले चलाकर तब मशीन को इसके साथ सम्बद्ध करना होता है।

24·13—**प्रवर्तक प्रतिरोध** (Starting Resistance)। पार्श्व-कुंडलित मोटर का प्रवर्तक प्रतिरोध चित्र 24·10 में दिखलाया गया है। धारा दस्ते **द** में प्रवेश
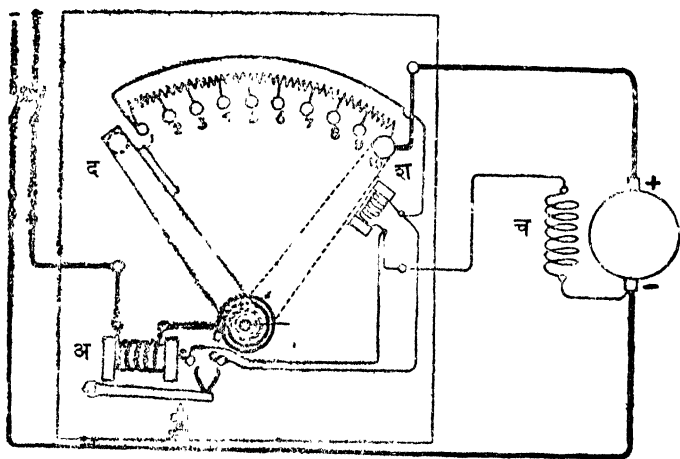
चित्र 24·10

करके दो भागों में विभक्त होती है। एक भाग तो प्रतिरोध कुंडलियों में होकर आर्मेचर

में चला जाता है और दूसरा भाग विद्युत्-चुम्बक **श** में होकर मोटर के चुम्बक की कुंडली **च** में चला जाता है। जब दस्ता **द** पहले बटन को स्पर्श करता है तब **च** के मार्ग में कुछ भी प्रतिरोध नहीं होता और उसमें पूरी धारा प्रवाहित होती है। किन्तु आर्मेचर की धारा पूरे प्रतिरोध में होकर जाती है। अतः आर्मेचर की धारा कम रहती है किन्तु चुम्बकीय क्षेत्र प्रबल रहता है। दोनों कारणों से मोटर का वेग कम रहता है। ज्यों-ज्यों दस्ता दाहिनी ओर हटाया जाता है, आर्मेचर परिपथ का प्रतिरोध घटता जाता है और चुम्बकीय कुंडली के मार्ग में प्रतिरोध बढ़ता जाता है। इस प्रकार मोटर का वेग धीरे-धीरे बढ़ता है। अन्तिम बटन पर पहुँचने पर आर्मेचर पर पूरा विभवत्व लग जाता है और सारा प्रतिरोध चुम्बकीय क्षेत्र को क्षीण बनाने का कार्य करता है।

इस प्रवर्तक-प्रतिरोध में दो विद्युत्-चुम्बक (**श** और **अ**) बहुधा लगे रहते हैं। **अ** को अति-भार मोचक (overload release) कहते हैं और **श** को शून्य-भार मोचक (no-load release)। दस्ते **द** में एक प्रबल कमानी लगी होती है जो सदा दस्ते को खींचकर बांई ओर रखती है। जब हाथ से दस्ते को हटाकर दाहिनी ओर अन्तिम बटन तक पहुँचा देते हैं तब **श** दस्ते के लोहे को खींच रखता है। इस आकर्षण के कारण दस्ता वहीं ठहर जाता है और मोटर चलती रहती है। किन्तु यदि किसी कारण विभवत्व बहुत घट जाय या धारा का प्रवाह बन्द हो जाय तो **श** लोहे को छोड़ देता है और कमानी दस्ते को खींच कर बांई ओर ले जाती है। इससे लाभ यह है कि बिना प्रतिरोध के मोटर का चलना कभी प्रारम्भ हो ही नहीं सकता। एक बार धारा बन्द होते ही दस्ता हट जाता है और पुनः जब तक हम अपने हाथ से उसे खींचकर दाहिनी ओर न हटावें तब तक मोटर नहीं चल सकती।

अ का काम है मोटर में से अत्यन्त प्रबल धारा को न जाने देना। यदि मोटर पर भार अधिक हो जाय तो आर्मेचर धारा बहुत प्रबल हो जायगी। जब यह निश्चित सीमा को अतिक्रान्त कर दे तो **अ** उसके नीचे वाले लोह-दंड को खींच लेता है। परिणाम यह होता है कि विद्युत्-चुम्बक **श** लघु-पथित हो जाता है और उसकी कुंडली में धारा प्रवाहित नहीं हो सकती। फलतः दस्ता **द** उससे अलग होकर धारा को बन्द कर देता है।

श्रेणी-कुंडलित मोटर का प्रवर्तक-प्रतिरोध भी बिलकुल ऐसा ही होता है (चित्र 24·11)। अन्तर केवल यह होता है कि धारा दो भागों में विभक्त नहीं होती

और अ, श तथा च में एक ही धारा बहती है। अ और श का कार्य भी ठीक चित्र 24.10 के समान ही है।
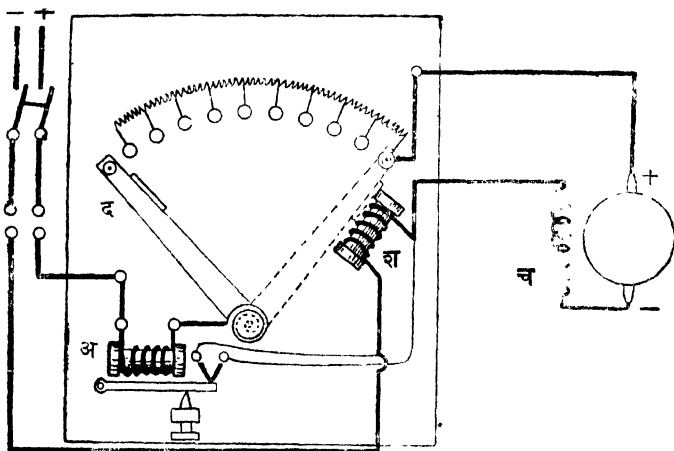
चित्र 24·11

24·14—**प्र० धा० मोटर** (A. C. Motor) । **एक-कलीय मोटर** (Single-phase Motor) । प्रत्यावर्तित्र में चुम्बक के ध्रुवों के बीच में एक कुंडली को घुमाने से उस कुंडली में प्रत्यावर्ती धारा उत्पन्न होती है और उसके घूमने के वेग पर अथवा प्रति सैकंड उसके घूर्णनों की संख्या पर प्रत्यावर्ती धारा की आवृत्ति निर्भर है। अत: यह समझना कठिन नहीं कि यदि उस कुंडली में प्रत्यावर्ती धारा प्रवाहित की जाय तो वह कुंडली घूमने लगेगी और उसके घूर्णनों की संख्या भी प्रति सैकंड प्रत्यावर्ती धारा की आवृत्ति के बराबर होगी। इसलिए प्रत्यावर्ती जनित्र ही से मोटर का भी काम लिया जा सकता है। किन्तु इसके सम्बन्ध में दो बातें स्मरण रखना चाहिए।

(1) जनित्र के चुम्बक या तो स्थायी होने चाहिए या यदि विद्युत्-चुम्बकों का प्रयोग करना हो तो उनकी कुंडलियों में दिष्ट-धारा प्रवाहित करना चाहिए। क्योंकि चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा स्थिर रहना आवश्यक है। अधिक शक्ति के लिए विद्युत्-चुम्बकों का व्यवहार अनिवार्य है। अत: इनके लिए पृथक् दिष्ट धारा की आवश्यकता है।

(2) चुम्बकीय क्षेत्र कुंडली की गति में सहायता तब ही कर सकेगा जब कुंडली-गत धारा की दिशा का परिवर्तन ठीक उस समय हो जब कुंडली का तल चुम्बकीय बल-रेखाओं से अभिलम्बित हो। यह तभी हो सकता है जब कुंडली के घूर्णन का वेग इतना हो जाय कि प्रति सैकंड घूर्णनों की संख्या प्रत्यावर्ती धारा की आवृत्ति के

बराबर हो। अतः मोटर जब स्थिर हो या उक्त वेग से कम या अधिक वेग से चल रही हो तब उस पर बल ठीक समय पर और ठीक दिशा में नही लग सकता। इस कारण वह चल भी नहीं सकती। हां, यदि उसे पहिले अन्य किसी उपाय से ठीक वेग से घुमा दें तब अवश्य ही प्रत्यावर्ती धारा उसे बराबर चला सकती है।

इन दोनों बातों के कारण ऐसी मोटर अधिक काम की नही। इस का नाम सकालिक-मोटर (synchronous motor) है। इसके घूर्णन की दिशा भी निश्चित नहीं है। पहिले जिधर घुमा दे उधर ही यह घूमती रहेगी।

साधारण दि० धा० मोटर भी प्रत्यावर्ती धारा से चलाई जा सकती है परन्तु बहुत अच्छी तरह नही। विशेष कर यदि उसके विद्युत्-चुम्बक का लोहा ठोस हो तब तो इस लोहे में जो भंवर-धारायें (eddy currents) प्रेरित होती है उनके कारण बहुत सी ऊर्जा व्यर्थ ही नष्ट हो जाती है। हा यदि यह लोहा पतली-पतली विलागित पत्तियों का बना हो तब मोटर चल जायगी किन्तु उसका वेग और उसकी शक्ति अधिक न हो सकेगी।

दि० धा० मोटर ही के समान दिक्परिवर्तक लगाकर भी कुछ मोटरे तैयार की गई है जो अपने आप प्रत्यावर्ती धारा से भी चल लेती है।

24·15—**द्वि-कलीय मोटर** (Two-phase Motor)। किन्तु 90° के कलान्तर वाली दो पृथक् धाराओं के द्वारा बड़ी आसानी से मोटर तैयार हो सकती है। चित्र 24·12 में विद्युत्-चुम्बक **क** तथा **ख** में एक धारा $ध_1$ चलाई जाती है जिसके
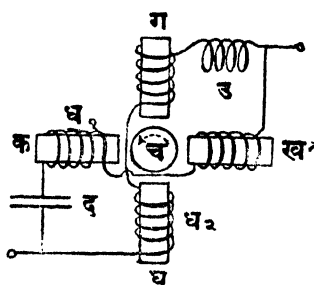
चित्र 24·12

चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा क्षैतिज होती है। किन्तु उसकी तीव्रता प्र० धारा की आवृत्ति से आवर्तन करती रहती है। **ग** तथा **घ** में दूसरी धारा $ध_2$ चलाई जाती है। इनका चुम्बकीय क्षेत्र ऊर्ध्वाधर होता है और यह भी उसी आवृत्ति से आवर्तन करता रहता है। किन्तु जब ऊर्ध्वाधर क्षेत्र की तीव्रता अधिकतम होती है तब क्षैतिज क्षेत्र की तीव्रता शून्य हो जाती है। इस 90° के कलान्तर का परिणाम यह होता

है कि दोनों के संयुक्त क्षेत्र की तीव्रता तो स्थिर परिमाण की होती है किन्तु उसकी दिशा बराबर बदलती रहती है। यदि चित्र 24·13 में किसी क्षण पर तात्कालिक
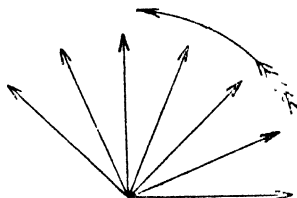
चित्र 24·13

तीव्रता की दिशा क्षैतिज हो तो उसकी दिशा बदल कर क्रमशः अन्य बाणों से प्रदर्शित होवेगी। अर्थात् यह संयुक्त चुम्बकीय क्षेत्र धारा ही की आवृत्ति से चारों ओर घूमता रहेगा। इसे हम घूर्ण-क्षेत्र (rotatng field) कह सकते हैं।

यदि इस घूर्णित चुम्बकीय-क्षेत्र में कोई निमीलित परिपथ की कुंडली रख दी जाय तो यह चुम्बकीय क्षेत्र उस कुंडली को अपने साथ घसीट ले जायगा। क्योंकि कुंडली और इस क्षेत्र की आपेक्षिक गति के कारण कुंडली में धारा प्रेरित होगी और यह धारा लैन्ज़ के नियमानुसार आपेक्षिक गति का विरोध करेगी। यदि इस कुंडली के घूर्णन का वेग चुम्बकीय क्षेत्र के घूर्णन के वेग के बराबर हो जाय तो आपेक्षिक गति कुछ भी न रहेगी और इसलिए कुंडली में प्रेरित धारा का भी सर्वथा अभाव हो जायगा। किन्तु जब कुंडली स्थिर हो तब यह धारा बड़ी प्रबल होगी और मोटर भारग्रस्त होने पर भी तुरन्त ही चलने लगेगी। अपरिवर्ती वेग से चलते समय इस मोटर का घूर्णन-वेग क्षेत्र के घूर्णन-वेग से थोड़ा कम रहेगा। वेग के इस अन्तर का नाम स्खलन (slip) है।

ऐसी मोटर को प्रेरण-मोटर (induction motor) कहते हैं और प्रत्यावर्तक धाराएँ केवल इसके विद्युत्-चुम्बकों में प्रवाहित होती हैं। घूमने वाली कुंडली में बाहर से कोई धारा नहीं चलाई जाती। केवल प्रेरित धारा ही उसमें चलती है।

इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसमें 90° कलान्तर वाली दो प्रत्यावर्ती धाराएँ पृथक्-पृथक् पहुँचाई जावें। एक ही प्रत्यावर्ती धारा से दोनों विद्युत्-चुम्बकों की धाराओं में 90° का कलान्तर उत्पन्न किया जा सकता है। आवश्यकता केवल यह है कि एक चुम्बक की कुंडली के साथ प्रेरकत्व (inductance) और दूसरे की के साथ संधारित्र (condenser) जोड़ दिये जावें। इनके कारण कलान्तर उपस्थित हो जायगा और प्रेरकत्व अथवा धारिता का परिमाण यथेष्ट करके यह कलान्तर 90° का बनाया जा सकता है। दोनों चुम्बकों में से केवल एक ही के साथ प्रेरकत्व या संधारित्र जोड़ने से भी यह काम हो सकता है।

संकालिक मोटर में भी बहुधा ऐसा ही प्रबंध कर दिया जाता है ताकि वह चलना प्रारम्भ कर सके। ठीक वेग हो जाने पर वह आप ही चलती रहती है।

24·16—**त्रिकलीय मोटर** (Three-phase Motor)। ठीक इसी सद्धान्त पर त्रिकलीय धाराओं के द्वारा भी मोटर चलाई जाती है। इसमें तीनों धाराओं का पारस्परिक कलान्तर 120° होता है और ये तीन विद्युत्-चुम्बकों में चलाई जाती हैं। ये विद्युत चुम्बक भी 120° के अन्तर पर स्थित रहते हैं।

24·17—**परिवर्तित्र** (Converter)। बहुधा यह आवश्यक होता है कि किसी एक प्रकार की धारा (दिष्ट या प्रत्यावर्ती) को दूसरी प्रकार की धारा में परिवर्तित किया जाय। विद्युद्विश्लेषण आदि कई कार्यों के लिए दिष्ट धारा की आवश्यकता होती है। प्रत्यावर्ती धारा से ये कार्य नहीं हो सकते। अतः ऐसी मशीनों की आवश्यकता होती है जो प्रत्यावर्ती धारा को दिष्ट धारा मे परिवर्तन कर दे। ऐसे ही एक-कलीय प्र० धारा को द्वि-कलीय या त्रिकलीय में परिवर्तित करने की अथवा उसे किसी भिन्न आवृत्ति की बनाने की भी कभी-कभी जरूरत हो जाती है। इन सब कार्यों को करने वाली मशीनों को परिवर्तित्र (converter) कहते हैं।

इन सब का मूल सिद्धान्त एक ही है। पहिले प्रस्तुत धारा से एक मोटर चलाई जाती है और इस मोटर से दूसरा जनित्र (generator) चलाकर जिस प्रकार की धारा प्राप्त करना हो वही उत्पन्न की जा सकती है। बहुधा मोटर और जनित्र के घूमने वाले भाग एक ही लम्बी धुरी पर लगा दिये जाते हैं। तब इन्हें मोटर जनित्र (motor-generator) कहते हैं। कभी-कभी मोटर तथा जनित्र दोनों की घूमने वाली कुंडली भी (जिसे आर्मेचर कहते हैं) एक ही होती है। केवल इसका सम्बन्ध वाह्य परिपथ से भिन्न-भिन्न स्थानों पर कर दिया जाता है। तब इस मशीन को घूर्ण-परिवर्तित्र (rotary converter) कहते हैं। आर्मेचर कुंडली के दोनों सिरे स्खलन-वलयों से भी जुड़े रहते हैं और दिक्-परिवर्ती के वलयार्धों से भी। प्रत्यावर्ती धारा स्खलन-वलयों के द्वारा प्रवेश करती है और दिष्ट-धारा वलयार्धों से। इसमें यदि दिष्ट-धारा चलाई जाय तो हमें प्र० धारा प्राप्त हो सकती है और प्र० धारा चलाई जाय तो दिष्ट-धारा।

इसी प्रकार एक ही धुरी पर दो भिन्न आर्मेचर लगाकर दिष्ट धारा का विभवत्व भी बदला जा सकता है। एक विभवत्व की धारा आर्मेचर को घुमाती है और दूसरे आर्मेचर से भिन्न विभवत्व की दिष्ट धारा उत्पन्न हो जाती है। ऐसी मशीनों को दष्ट-धारा परिवर्तित्र (D. C. converter) कहते हैं।

परिच्छेद 25

वैद्युत दोलन

(Electric Oscillations)

25·01—**वैद्युत दोलन** (Electric Oscillation) दोलक का अथवा सितार के तार को थोड़ा सा एक तरफ खींच कर छोड़ देने पर वह बराबर इधर से उधर दोलन करता रहता है। इन दोलनों का मुख्य कारण है अवस्थितित्व (inertia)। हम देख चुके हैं कि विद्युत्-धारा मे भी प्रेरकत्व के रूप में अवस्थितित्व होता है। अत: चित्र 25·01 के समान एक प्रेरकत्व तथा एक संधारित्र को जोड़कर यदि एक परिपथ बना दिया जाय और उसका संधारित्र एक बार आविष्ट कर दिया जाय तो इस परिपथ में भी दोलन होने लगेंगे। अनु० 22·10 में ऐसे दोलनों का ज़िकर किया गया है। अब हम इन्हीं का कुछ विस्तार पूर्वक अध्ययन करेंगे।
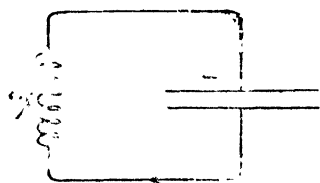
चित्र 25·01

ऊर्जा की दृष्टि से आविष्ट संधारित्र में ऊर्जा वैद्युत होती है और वह स्थितिज रूप में रहती है। धारा प्रवाहित होने पर ऊर्जा चुम्बकीय रूप धारण करती है और वह गतिज होती है क्योंकि अब इलेक्ट्रान वेग से दौड़ते हैं। उपर्युक्त परिपथ मे आविष्ट संधारित्र धारा प्रवाहित करेगा और ज्यों-ज्यों धारा चलती जायगी त्यों-त्यों संधारित्र का आवेश घटता जायगा। अंत में जब यह आवेश सर्बथा लुप्त हो जायगा तब धारा भी अपना महत्तम मान प्राप्त कर लेगी। इस समय समस्त ऊर्जा चुम्बकीय होगी। प्रेरकत्व के कारण अब धारा सहसा बद नही हो जायगी। वह थोड़ो देर तक चलती रहेगी जिससे संधारित्र पुन: आविष्ट हो जायगा किन्तु विपरीत दिशा में। फलत: ऊर्जा पुन: वैद्युत रूप में परिणत हो जायगी। धारा पुन: चलने लगेगी किन्तु विपरीत दिशा में। इसी प्रकार बारम्बार धारा इधर से उधर चलती रहेगी। इस घटना को वैद्युत दोलन कहते हैं।

किन्तु परिपथ में यदि थोड़ा भी प्रतिरोध विद्यमान हो तो प्रत्येक दोलन में धारा कुछ ऊष्मा उत्पन्न करेगी। अत: दोलनोंकी ऊर्जा घटती जायगी और धारा का परि-

माण भी उत्तरोत्तर कम होता जायगा और अंत में दोलनों का अंत हो जायगा। जितना ही प्रतिरोध कम होगा उतने ही अधिक समय तक दोलन होते रहेंगे। दोलनों के
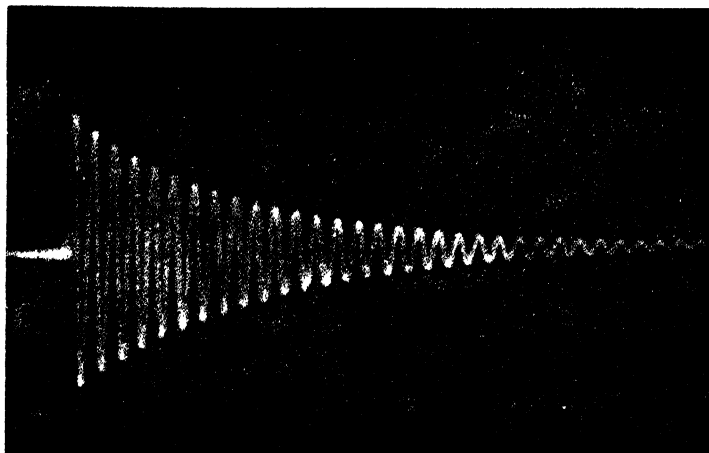
चित्र 25·02

आयाम के इस प्रकार घटने को अवमन्दन (damping) कहते हैं। चित्र 25.02 में अवमंदित दोलनों का तरंग चित्र दिखाया गया है। जब परिपथ में प्रतिरोध का बिलकुल अभाव हो तब दोलनों का आयाम घटता नहीं क्योंकि अब ऊर्जा ऊष्मा के रूप में नष्ट नहीं होती।

आवर्तकाल (Periodic Time)। अनु० 22·10 में यह प्रमाणित हो चुका है कि ये दोलन तुल्य-कालिक होते हैं अर्थात् प्रत्येक दोलन या आवर्तन में बराबर समय लगता है और यह समय

$$T = 2\pi\sqrt{LC}$$

होता है जहाँ L और C परिपथ के प्रेरकत्व तथा धारिता स० ग० स० मात्रकों में हैं। यदि L और C व्यावहारिक मात्रकों (हैनरी तथा फ़ैरड) में नापे जावें तब भी इस सूत्र में कुछ अन्तर नहीं होता क्योंकि L हैनरी $= L \times 10^9$ स० ग० स० मात्रक तथा C फ़ैरड $= C \times 10^{-9}$ स० ग० स० मात्रक।

किन्तु इस सूत्र की सत्यता के लिए यह आवश्यक है कि परिपथ का प्रतिरोध अत्यन्त उपेक्षणीय हो। प्रतिरोध की उपस्थिति मे

$$T = \frac{2\pi}{\sqrt{\frac{1}{LC} - \frac{R^2}{4L^2}}}$$

और यदि $\frac{R^2}{4L^2} > \frac{1}{LC}$ या $R^2 > \frac{4L}{C}$ हो तो दोलन हो ही नही सकते। व्यवहार में जहाँ वैद्युत दोलनों का उपयोग किया जाता है वहाँ बहुधा प्रतिरोध बहुत ही कम होता है अत: आवर्तकाल के लिए सरलतर सूत्र $T = 2\pi\sqrt{LC}$ ही काफ़ी होता है। इस सूत्र से प्रगट है कि L और C जितने ही कम होंगे उतना ही आवर्तकाल भी कम होगा और आवृत्ति उतनी ही अधिक होगी। L और C के परिमाणों को घटा-बढाकर यह आवृत्ति कई लाख प्रति सैकड भी हो सकती है और इतनी कम भी हो सकती है कि दो चार मिनट मे केवल एक ही आवर्तन हो।

25·03—**स्फुलिंग का उपयोग** (Use of Spark)। पिछले प्रकरण के संधारित्र-प्रेरकत्व परिपथ मे संधारित्र को आविष्ट करने पर जो दोलन उत्पन्न होते है वे क्रमश. नष्ट हो जाते है। अत यदि दोलनों को बराबर जारी रखना अभीष्ट हो तो ऐसे उपाय की आवश्यकता है जिसमे संधारित्र स्वयमेव ही पुन पुन. आविष्ट होता रहे। इसका सबसे सरल उपाय स्फुल्लिग है। उक्त परिपथ मे किसी भी स्थान पर
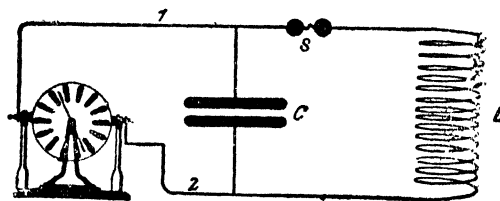
चित्र 25·03

चित्र 25·03 के समान पीतल की दो गोलियाँ (s) पास पास लगा दीजिये। इनके बीच की दूरी प्रायः 1 मम० होना चाहिए। तथा संधारित्र-पट्टों को वैद्युत मशीन से जोड़ दीजिये। पहिले संधारित्र आविष्ट हो जायगा और उसकी पट्टिकाओं का विभवान्तर बढ़ेगा। जब विभवान्तर प्रायः 3000 वोल्ट हो जायगा तब गोलियों के बीच की वायु आयनित हो जायगी और स्फुल्लिग के द्वारा विद्युत् को चालक मार्ग मिल जायगा और अवमन्दित दोलन होने लगेंगे। इससे विभवान्तर भी क्रमशः घटेगा। जब यह घट

कर प्रायः 200 वोल्ट तक पहुँच जायगा तब स्फुल्लिग बंद हो जायगा। यह सब काम प्रायः बहुत ही थोड़ी देर में समाप्त हो जायगा। तब पुनः संधारित्र आविष्ट होने लगेगा और पुनः स्फुल्लिग पैदा होगा और पुनः पहिले ही की तरह कई अवमन्दित दोलन होने लगेंगे। यही क्रम बराबर जारी रहेगा। इसमें स्फुल्लिग एक प्रकार के स्विच का काम करता है जो बार बार स्वयमेव खुलता और बन्द होता रहता है। एक बार बंद होने ही में हज़ारों दोलन हो सकते हैं।

25·04—**वैद्युत दोलनों का प्रत्यक्ष दर्शन**। निम्नलिखित उपाय से हम इन दोलनों को प्रत्यक्ष भी देख सकते हैं। दोलन परिपथ के स्फुल्लिग के प्रतिबिम्ब को एक घूमने वाले दर्पण में देखिये (चित्र 25·04)। तब समय के साथ उत्तरोत्तर परिवर्तन होने वाली स्फुल्लिग की स्थितियाँ दृष्टि-निर्बंध (persistence of vision) के कारण हमें एक ही साथ दिखाई देंगी। इससे हम देख सकेंगे कि स्फुल्लिग कभी एक दिशा में और कभी दूसरी दिशा में जाता हुआ दिखाई देता है। कभी उसकी लम्बाई अधिक मालूम होती है और कभी कम और कभी-कभी वह बिलकुल नष्ट हो जाता है। उचित उपाय से इस प्रतिबिम्ब को फ़ोटो के प्लेट पर भी अंकित किया जा सकता है।

चित्र 25·04

25·05—**आर्क दोलक** (Arc Oscillator)। सन् 1900 में डडल (Duddel) ने आर्कलैम्प के द्वारा वैद्युत दोलन पैदा करने की युक्ति निकाली
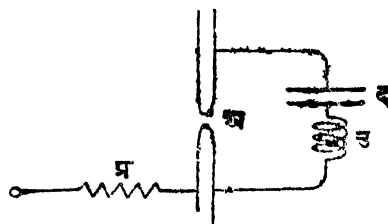
चित्र 25·05

थी। इस युक्ति के द्वारा अवमन्दनहीन दोलन उत्पन्न होते हैं। चित्र 25·05 में यह युक्ति प्रदर्शित है। आर्कलैम्प से पार्श्वबद्ध प्रेरकत्व उ तथा संधारित्र द हैं।

इन दोलनों का मुख्य कारण आर्क की एक विलक्षणता है। जब कार्बन छड़ों को पहिले स्पर्श कराया जाता है उस समय इन छड़ों का विभवान्तर अधिक होता है। किन्तु ज्यों ही आर्क जलने लगता है और उसमें से धारा बहने लगती है त्यों ही यह विभवान्तर घट जाता है। इसका कारण यह होता है कि छड़ों के बीच में जो ज्वाला उत्पन्न होती है उसका प्रतिरोध कम होता है। यदि धारा और भी प्रबल कर दी जाय तो यह ज्वाला और भी मोटी हो जाती है और उसका प्रतिरोध और भी घट जाता है। इस प्रकार ज्यों-ज्यों आर्क में धारा बढ़ती जाती है त्यों-त्यों छड़ों का विभवान्तर घटता जाता है। साधारण ठोस चालकों में धारा की वृद्धि के साथ विभवान्तर भी बढ़ता है। किन्तु आर्क-लैम्प में ठीक इसका उलटा होता है।

जब आर्क जलना प्रारम्भ करता है तब पहिले तो संधारित्र को आविष्ट होने में प्रेरकत्व रोकता है। किन्तु धीरे-धीरे यह आविष्ट होने लगता है जिसके कारण आर्क में जाने वाली धारा घटने लगती है क्योंकि अब कुछ धारा पार्श्व-परिपथ में भी चली जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि आर्क का विभवान्तर बढ़ता है और संधारित्र का आवेश और भी बढ़ता है। अंत में संधारित्र का विभवान्तर प्रमुख तारों (mains) के विभवत्व के बराबर हो जाता है। किन्तु तब भी संधारित्र को आविष्ट करने वाली इस धारा को प्रेरकत्व सहसा रुकने नहीं देता और उस पर कुछ और अधिक आवेश आ जाता है और विभवान्तर प्रमुख तारों के विभवत्व से भी अधिक बढ़ जाता है। जब उ तथा द में धारा रुक जाती है तब संधारित्र का आवेश आर्क में होकर विसर्जित होने लगता है जिससे आर्क में की धारा पुनः बढ़ती है और उसका विभवान्तर घटता है। प्रेरकत्व के कारण यह विसर्जन भी इतना अधिक हो जाता है कि संधारित्र पर उलटा आवेश आ जाता है। यह उलटा आवेश पुनः आर्क में से विसर्जित होता है और फिर आर्क की धारा घटने लगती है। इसी प्रकार बारम्बार होने से इस परिपथ में दोलन होते रहते हैं।

जब डडल ने पहिले इस प्रयोग को किया था तब इन दोलनों की आवृत्ति साधारण शब्द की आवृत्ति से अधिक नहीं थी। इन दोलनों के कारण आर्क की ज्वाला के घटने-बढ़ने के कारण वायु में भी उतनी ही आवृत्ति की तरंगें उत्पन्न होने लगती थीं। अतः डडल को इस आर्क में से मधुर शब्द भी सुनाई पड़ा। कार्बन की छड़ों के साधारण आर्क में से ऐसा ही शब्द सुनाई पड़ता है। इस कारण उसे गायक-आर्क (singing arc) भी कहते हैं। इसके दोलनों की आवृत्ति प्रायः 10000 से अधिक नहीं होती।

पूलसन (Poulson) ने 1903 में ऐसी युक्ति निकाली जिससे बहुत उच्च आवृत्ति के दोलन उत्पन्न हो सकें। कार्बन की धन छड़ के स्थान में तो ताँबे की नली

का प्रयोग किया गया। इस नली में पानी बहाने से उसका टेम्परेचर अधिक नही बढ़ने पाता। इसके अतिरिक्त आर्क के चारों ओर वायु के स्थान मे हाइड्रोजन गैस भर दिया गया। टेम्परेचर की कमी से तो धारा-वाही आयनों की आर्क में कमी हो जाती है और हाइड्रोजन से लाभ यह होता है कि उसके आयन अधिक वेग से दौड़ने वाले होते हैं और इस कारण आर्क की धारा को घटने मे अधिक समय नहीं लगता। हाइड्रोजन के कारण आर्क की छड़ों की भी जलने से रक्षा हो जाती है। आर्क को शीघ्रता से बुझाने के लिये एक विद्युत्चुम्बक भी लगा दिया गया जो ज्वाला को छड़ों के बीच मे से विस्थापित कर देता है। इन उपायों से दोलनों की आवृत्ति लाखों तक बढ़ाई जा सकती है। आजकल यह उपाय काम में नही आता क्योंकि अब दूसरी अति उत्तम विधियाँ उच्च-आवृत्ति वाले अवमन्दनहीन दोलनों को उत्पन्न करने की ज्ञात हो गई हैं।

25·06—**वाल्व** (Valve)। चित्र 25·06 में जो उपकरण दिखलाया गया है उसे तापायनिक वाल्व (thermionic valve) अथवा संक्षेप में वाल्व कहते हैं।
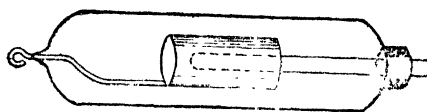
चित्र 25·06

इसका अविष्कार फ्लेमिंग (Fleming) ने 1904 में किया था। इसके मध्य में साधारण बिजली के लैम्प के समान ही एक टंगस्टन के तार का तन्तु है। 2-6 वोल्ट की बैटरी से धारा प्रवाहित करने पर यह टंगस्टन-तन्तु उत्तप्त होकर प्रकाश उत्पन्न करने लगता है। इस तन्तु से कुछ दूर हट कर एक धातु-पट्टिका लगी है जिसका इस तन्तु से कोई वैद्युत सम्पर्क नही है। किन्तु इस पट्टिका को इच्छानुसार किसी बैटरी के धन-ध्रुव से जोड़ने के लिये विद्युदग्र लगा है। अतः इस पट्टिका को वाल्व का धनाग्र (anode) कहते हैं। तन्तु और धनाग्र दोनों काँच की नली मे बन्द है और उसमें से वायु भी पम्प के द्वारा निकाल ली गई है।

इस वाल्व की क्रिया इस बात पर निर्भर है कि किसी धातु का टेम्परेचर बढ़ाने पर उसमें से इलैक्ट्रान निकलने लगते है। जितना ही अधिक टेम्परेचर होता है उतनी ही अधिक संख्या में ये इलैक्ट्रान निकलते हैं। इन इलैक्ट्रानों को तापायन (thermion) भी कहते हैं।

वाल्व में जब टंगस्टन-तन्तु गरम कर दिया जाता है तब ये तापायन निकल कर तन्तु के चारों ओर फैल जाते हैं। चारों ओर के आकाश में इस ऋण-आवेश की उपस्थिति के कारण तन्तु में से नये तापायनों को निकलने मे कठिनाई होती है क्योंकि वह ऋण-आवेश इन इलैक्ट्रानों को प्रतिकर्षित करके पुनः तन्तु में घुसा देता है। किन्तु यदि वाल्व के धनाग्र को काफी उच्च धन विभवत्व दे दिया जाय तो वह इन्हे अपनी ओर आकर्षित कर लेता है (चित्र 25·07)। फल यह होता है कि नये नये इलैक्ट्रान तन्तु में से निकल कर धनाग्र मे प्रवेश करते रहते है। इस प्रकार इलैक्ट्रानों की धारा तन्तु से धनाग्र की ओर प्रवाहित होती रहती है, अर्थात् प्रचलित भाषा में विद्युत्-धारा धनाग्र से तन्तु की ओर चलने लगती है। ज्यों-ज्यों धनाग्र का विभव बढ़ाया जाता है त्यों-त्यों अधिक अधिक इलैक्ट्रान उस पर पहुँचने लगते हैं और धनाग्र-धारा बढती जाती है। किन्तु जब तन्तु के टेम्परेचर के कारण अधिक से अधिक जितने इलैक्ट्रान निकल सकते हैं वे सब ही धनाग्र पर पहुंच जाते हैं तब प्रत्यक्ष ही है कि धनाग्र-धारा और अधिक नही बढ़ सकती। इसे संतृप्ति-धारा (saturation
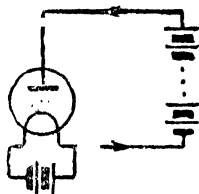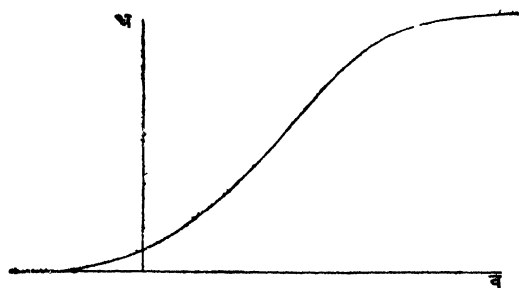
चित्र 25·07

चित्र 25·08

current) कहते हैं। लेखाचित्र 25·08 में धनाग्र-धारा और धनाग्र-विभव का संबंध दिखलाया गया है। विभव-अक्ष क्षैतिज है और धारा-अक्ष ऊर्ध्वाधर।

गायक-आर्क वाले प्रयोग म आर्क के स्थान में इस वाल्व को लगाने से भी ठीक उसी प्रकार के दोलन उसी कारण से होने लगेंगे। चित्र 25·09 में इसका परिपथ दिखलाया गया है। वाल्व के द्वारा जो वैद्युत दोलन उत्पन्न होते हैं वे आर्क के दोलनों

को अपेक्षा अधिक आवृत्ति वाले बड़ी आसानी से हो सकते हैं क्योंकि इलैक्ट्रानों अथवा
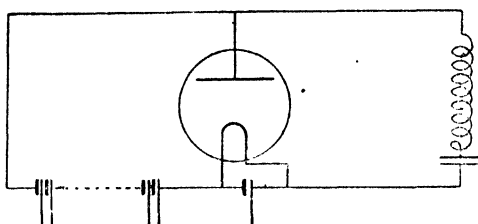
चित्र 25·09

आयनों के द्वारा जो क्षीण धारा इस में प्रवाहित होती है उस से विद्युदग्र खराब नहीं होते हैं और धारिता तथा प्रेरकत्व का परिमाण भी यथेष्ठ घटाया जा सकता है।

25·07—**त्रि-अग्रीय वाल्व** (Triode valve)। 1907 में अमरीका के डाक्टर डि फारेस्ट (De Forest) ने इस वाल्व की बनावट में एक परिवर्तन किया जिससे इसका कार्य और भी अच्छा हो गया। इन्होंने टंगस्टन-तन्तु तथा धनाग्र के बीच में इन दोनों से विलागित एक धातु की बनी जाली या ग्रिड (grid) लगादी और इससे सम्बन्ध करने के लिए भी वाल्व के बाहर एक और विद्युदग्र लगा दिया। इस प्रकार इस में दो विद्युदग्रों के स्थान में तीन विद्युदग्र हो गये (चित्र
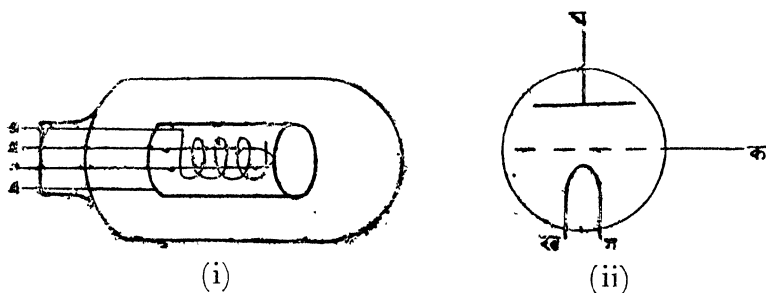
चित्र 25·10

25·10 (i)। चित्र 25·10 (ii) इसी का संकेतात्मक चित्र है। अतः इसका नाम त्रि-अग्रीय या त्रयोड (triode) वाल्व पड़ गया और फ्लैमिंग का वाल्व द्वि-अग्रीय या द्वयोड (diode) कहलाने लगा। इसमें जो जाली लगाई गई है उससे लाभ यह होता है कि इस जाली का विभवत्व थोड़ा भी धन या ऋण कर देने से धनाग्र पर जाने वाली इलैक्ट्रान धारा की प्रबलता में बहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है,

क्योंकि इस जाली के विभवत्व मे जो वैद्युत क्षेत्र उत्पन्न होता है वह
वेग बढा या घटा देता है।

25·08—**त्रि-अग्रीय वाल्व से दोलनों की उत्पत्ति**। इस वाल्व से दोलन करने का परिपथ चित्र 25·11 में दिखलाया गया है। संधारित्र तथा प्रेरकत्व कुंडली के दोलक परिपथ का एक सिरा वाल्व की जाली मे लगा है और एक टंगस्टन तन्तु से।
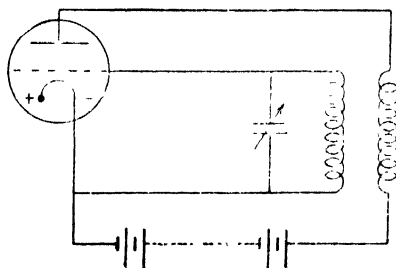
चित्र 25·11

उत्पन्न इस दोलक परिपथ की प्रेरकत्व-कुंडली एक दूसरी कुंडली से युग्मित (couplde) है जो वाल्व के धनाग्र मे संबधित है। तन्तु-धनाग्र परिपथ मे प्रवाहित होने वाली
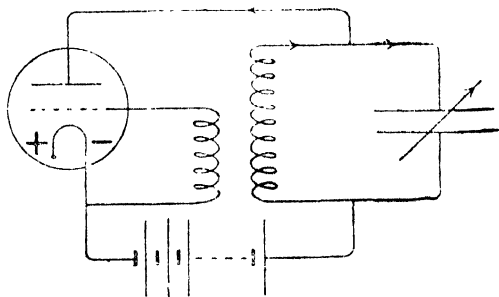
चित्र· 25. 12

धारा इस कुंडली के द्वारा ग्रिड से संबंधित कुंडली में कुछ वि० वा० ब० प्रेरित करती है जिससे उसमें दोलन उत्पन्न होते हैं। ये दोलन ग्रिड का विभवत्व भी घटाते-बढ़ाते रहते हैं जिसके कारण दूसरी कुंडली में भी धारा उतनी ही आवृत्ति से घटती बढ़ती है। परिणाम यह होता है कि दोलक परिपथ के दोलनों की जितनी ऊर्जा नष्ट होती है उतनी ही यह कुंडली उसमे उच्च विभवत्व बैटरी में से पहुँचा देती है।

चित्र 25·12 में दोलक परिपथ धनाग्र तथा तन्तु से जुड़ा है। इसमें भी दोलन ठीक उपर्युक्त रीति से ही पैदा होते हैं।

अवमन्दन-हीन अत्यन्त उच्च-आवृत्ति के दोलन उत्पन्न करने का यह त्रिअग्रीय वाल्व ही सर्वोत्कृष्ट उपाय प्रमाणित हुआ है।

दोलक परिपथ के संधारित्र की धारिता को अथवा कुंडली के प्रेरकत्व को बदल-बदल कर इस उपाय से 1-2 प्रति सैकंड से लेकर करोड़ों प्रति सैकंड की आवृत्ति के दोलन उत्पन्न हो सकते हैं।

25·09—**त्रयोड वाल्व के लाक्षणिक गुण**। त्रयोड वाल्व का व्यवहार आजकल इतना अधिक बढ़ गया है कि इसी स्थान पर उसकी कुछ विशेषताओं का वर्णन कर देना भी आवश्यक जान पड़ता है। चित्र 25·13 में इन लाक्षणिक गुणों के
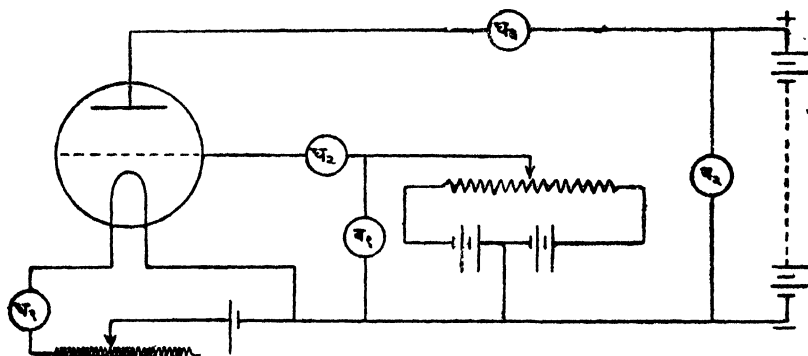
चित्र 25·13

अध्ययन का उपाय बतलाया गया है। तन्तु, धनाग्र और ग्रिड़ से संबंधित तीन अलग-अलग बैटरियाँ हैं। एक बैटरी वाल्व के तन्तु को उत्तप्त करती है, दूसरी वाल्व के धनाग्र पर उच्च धन-विभवत्व लगाती है और तीसरी विभवत्व-विभाजक के द्वारा ग्रिड पर धन या ऋण विभवत्व लगाती है। ये बैटरियाँ क्रमशः *A*, *B* और *C* बैटरी कहलाती हैं। ध$_2$, और ध$_3$ ग्रिड़ धारा (grid-current) तथा धनाग्र धारा (anode current) नापने के लिए मिली-अम्पीयर-मापी हैं। इस प्रकार संबंध करने पर निम्नलिखित प्रयोग किये जा सकते हैं। ग्रिड़ तथा उत्तप्त तन्तु के विभवान्तर को तथा धनाग्र तथा तन्तु के विभवान्तर को नापने के लिए वोल्ट-मापी व$_1$ और व$_2$ भी यथा-स्थान जोड़ दिये गये हैं।

(1) ग्रिड का विभव व$_1$ $=0$ कर दीजिये और तन्तु-धारा ध$_1$ का परिमाण स्थिर रखकर धनाग्र-विभव को धीरे-धीरे बढ़ाते जाइये। ध$_3$ बतलायेगा कि धनाग्र

धारा भी धीरे-धीरे बढ़ती जायगी किन्तु अन्त में उसका परिमाण स्थिर हो जायगा। 1, 2, 3, 4 चिह्नीय वक्र तन्तु-धारा को उत्तरोत्तर बढ़ाने से प्राप्त होते हैं। अब धनाग्र-विभव कितना ही क्यों न बढ़ाइये यह धारा तनिक भी न बढ़ेगी। इसे संतृप्ति-धारा कहते हैं। चित्र 25·14 के लेखाचित्र में धनाग्र-धारा का यह परिवर्तन दिखाया गया है इसे वाल्व का धनाग्र-लाक्षणिक (anode characteristic) वक्र कहते हैं। इससे यह भी ज्ञात हो जाता है कि जितनी ही अधिक धारा वाल्व-तन्तु में प्रवाहित होगी और जितना ही अधिक तन्तु का टेम्परेचर होगा उतना ही धनाग्र-धारा का संतृप्ति-परिमाण भी अधिक होगा। इसका कारण द्वि-अग्रीय वाल्व के सम्बन्ध में बताया जा चुका है कि तन्तु का टेम्परेचर जितना ही अधिक होगा उतनी ही अधिक तन्तु में से निकलने वाले इलैक्ट्रानों की संख्या भी होगी।
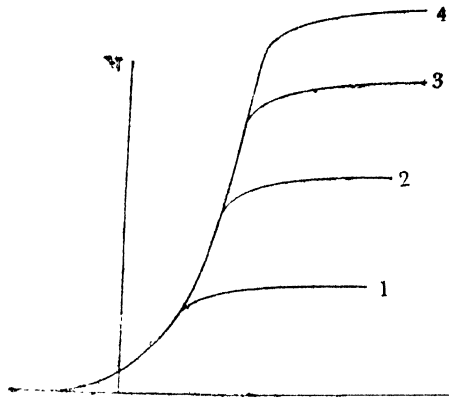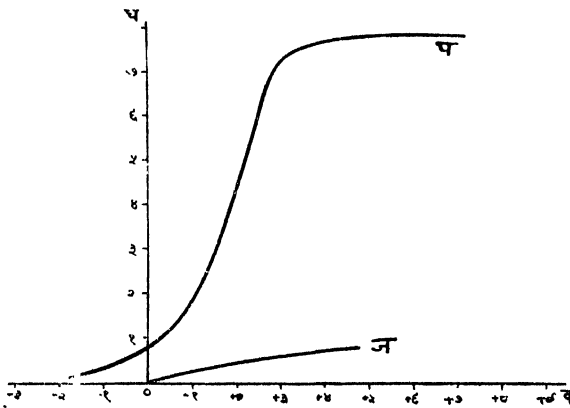
चित्र 25·14

चित्र 25·15

(2) तन्तु की धारा तथा धनाग्र का विभव स्थिर रखकर यदि ग्रिड का विभव किसी ऋण मान से प्रारम्भ कर धीरे-धीरे पर्याप्त धन मान तक बढ़ाया जाय

तो धनाग्र-धारा का परिमाण लेखाचित्र 25·15 के ऊपर वाले वक्र के अनुसार बढ़ेगा। यह वक्र वाल्व का ग्रिड-धनाग्र लाक्षणिक वक्र (grid-anode-characteristic curve) कहलाता है। इन लाक्षणिक वक्रों के द्वारा वाल्व संबंधी बहुत सी बातें समझ में आ जाती हैं।

(3) यदि तन्तु की धारा को अपरिवर्तित रखकर धनाग्रविभव P कुछ बढ़ा दिया जाय और तब उपर्युक्त रीति से लाक्षणिक वक्र खीचा जाय तो आप देखेंगे कि यह वक्र ठीक प्रयोग (2) के वक्र के समान ही है केवल वह कुछ बाईं ओर खिसक गया है। सतृप्ति-धारा का परिमाण पहिले के बराबर ही रहेगा। भिन्न-भिन्न
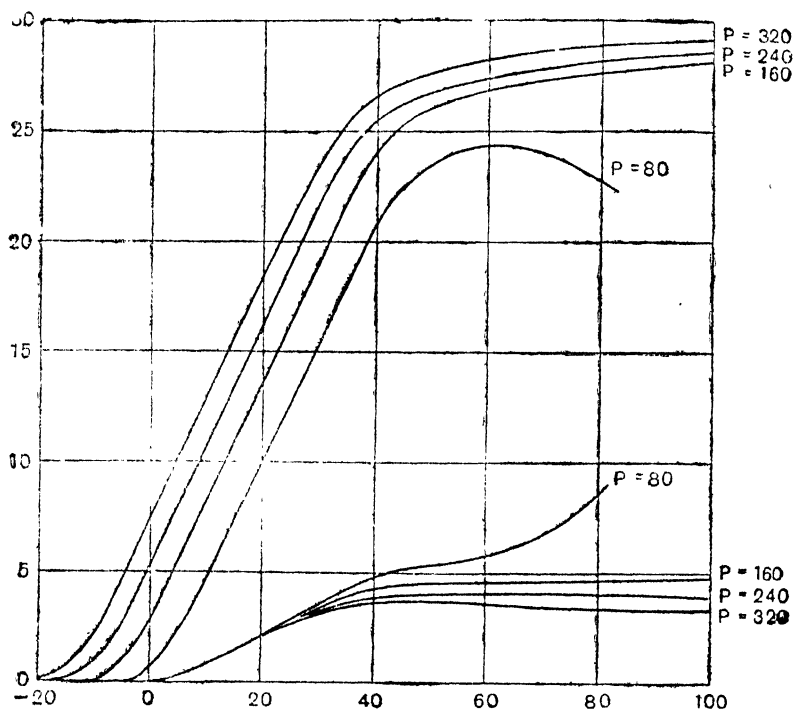
चित्र 25·16

धनाग्र विभवों पर लेखाचित्र में कई लाक्षणिक वक्र दिखाये गये हैं (चित्र 25·15)। ये सब वक्र दाहिनी ओर कुछ दूर जा कर परस्पर मिलकर एक हो जायेंगे।

प्रयोग (2) और (3) में आप यह भी देखेंगे कि जब ग्रिड का विभव धन-चिह्नीय होगा तब ग्रिड-तन्तु परिपथ में भी कुछ धारा प्रवाहित होगी। यह ग्रिड-

धारा (grid-current) भी लेखा-चित्रों में नीचे की ओर दिखलाई गई है। इसका परिमाण धनाग्र-धारा की अपेक्षा बहुत ही कम होता है क्योंकि जाली के छिद्र इतने मोटे होते हैं कि बहुत ही कम इलैक्ट्रान उस के तार में प्रवेश कर सकते हैं। ग्रिड़ का मुख्य कार्य वैद्युत क्षेत्र उत्पन्न करके इलैक्ट्रानों के वेग को घटाना-बढ़ाना ही है।

25·10—**आवृत्ति-मापी** (Frequency Meter)। उच्च आवृत्ति के दोलनों की आवृत्ति नापने का एक सरल उपाय यह है कि एक प्रेरकत्व-कुंडली, एक संधारित्र और एक छोटे लैम्प का एक निमीलित परिपथ बना लिया जाय। संधारित्र ऐसा होना चाहिए जिसकी धारिता बदली जा सके। तब इस परिपथ की कुंडली को जिस दोलक-कुंडली के दोलनों की आवृत्ति नापना हो उस के निकट इस प्रकार रखा जाय कि अन्योन्य प्रेरकत्व के द्वारा इस कुंडली में भी दोलन हो सकें। यह तभी होगा जब कि दोलक-कुंडली की चुम्बकीय बल-रेखाएँ इस कुंडली मे प्रवेश कर सकें। तब संधारित्र की धारिता को धीरे-धीरे बदलते जाने से लैम्प जलने लगेगा। यह तभी होगा जब संधारित्र की धारिता C इतनी हो जाय कि इस परिपथ में अनुनाद होने लगे। एसी अवस्था में माप्य दोलनों की आवृत्ति इस परिपथ के दोलनों की आवृत्ति के बराबर होगी। अतः

$$N = \frac{1}{2\pi\sqrt{(LC)}}$$
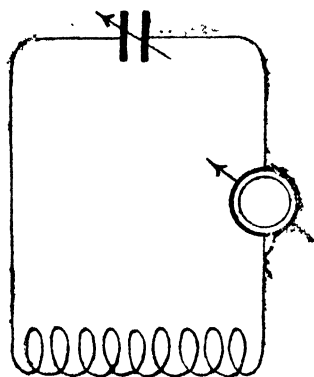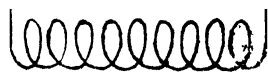
चित्र 25·17 चित्र 25·18

आवृत्ति-मापी को अधिक सुग्राही बनाने के लिए लैम्प के स्थान में निर्वात ताप-संधि (vacuum thermo-junction) का उपयोग किया जाता है। इसका वर्णन अनु० 20·19 में किया जा चुका है। (चित्र 25·17)।

चित्र 25·18 के समान टेलीफ़ोन तथा क्रिस्टल-परिचायक (crystal detector) लगा देन से भी आवृत्ति-मापी अधिक सुग्राही बन जाता है। क्रिस्टल-परिचायक का वर्णन अनु० 26·16 में किया गया है।

25·11—**युग्मित परिपथ** (Coupled Circuits)। जब दो कुंडलियाँ पास पास रखी हों तो उन्हें युग्मित कुंडलियाँ कहते हैं। यह समझने में कुछ कठिनाई नहीं कि इस दशा में एक कुंडली के दोलन दूसरी कुंडली में भी दोलन उत्पन्न करेंगे। किन्तु इससे प्रत्येक के स्वाभाविक दोलनों में गड़बड़ी हो जायगी। गणित के द्वारा इस प्रश्न पर विचार करने से ज्ञात होता है कि ऐसी अवस्था में जो दोलन होंगे उनकी आवृत्ति दोनों कुंडलियों की स्वाभाविक आवृत्तियों के बराबर न होगी और इससे भी विलक्षण बात यह होगी कि प्रत्येक कुंडली में एक ही साथ दो आवृत्तियाँ काम करेंगी।

ध्वनि विज्ञान के द्वारा हमें ज्ञात है कि जब दो भिन्न आवृत्ति के सुर एक ही साथ उत्पन्न होते हैं तब स्वर में कम्पन होता है जिसे विष्पन्दन (beats) कहते हैं। अर्थात् ध्वनि की तीव्रता स्थिर नहीं रहती। वह एक विशेष आवृत्ति के साथ घटती और बढ़ती है। इस घट-बढ़ की आवृत्ति दोनों सुरों की आवृत्तियों के अन्तर के बराबर होती है। $n = N_1 - N_2$। युग्मित-कुंडलियों में भी इसी प्रकार का विष्पन्दन उत्पन्न होता है। चित्र 25·19 में यह विष्पन्दन दिखलाया गया है।
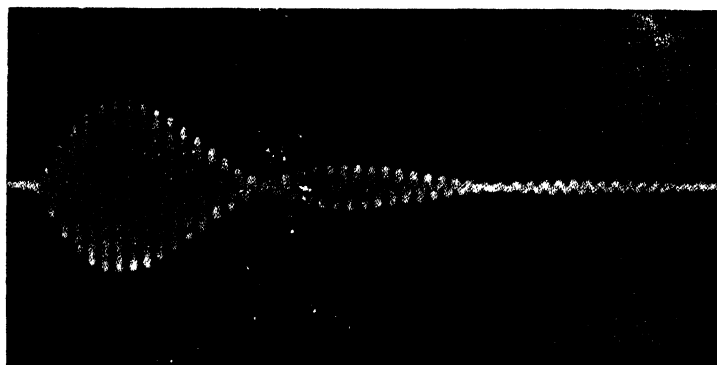
चित्र 25·19

स्वाभाविक आवृत्ति का यह परिवर्तन कुंडलियों के अन्योन्य-प्रेरकत्व पर निर्भर है। जितने ही अधिक निकट दोनों परिपथ अथवा उनकी प्रेरकत्व-कुंडलियाँ स्थित होंगी उतना ही अधिक अन्योन्य-प्रेरकत्व होगा और उतना ही अधिक परिवर्त्तन

आवृत्तियों में होगा। यदि इन परिपथों में प्रेरकत्व क्रमशः L_1 और L_2 हो और दोनों का अन्योन्य-प्रेरकत्व M हो तो

$$M = k \cdot \sqrt{(L_1 L_2)} \quad \text{[अनु॰ 22·14]}$$

k दोनों कुंडलियों का युग्मन-गुणांक (coupling coefficient) कहलाता है। जब k का परिमाण अधिक होता है तब युग्मन प्रबल या गाढ़ा (tight) कहलाता है और जब k का परिमाण कम होता है तब युग्मन भी क्षीण या ढीला (loose) कहलाता है।

यदि दोनों ही परिपथों का स्वाभाविक आवर्त-काल T_0 हो तो युग्मन के कारण बदल कर यह आवर्त-काल दो परिमाण T_1 और T_2 प्राप्त कर लेगा, जहाँ $T_1 = T_0\sqrt{(1+k)}$ तथा $T_2 = T_0\sqrt{(1-k)}$। आवृत्ति-मापी के द्वारा ये दोनों आवृत्तियाँ आसानी से नापी जा सकती हैं तथा T_1 और T_2 के उपर्युक्त सूत्रों की परीक्षा हो सकती है। उदाहरणार्थ मान लीजिये कि $L_1 = 1{\cdot}18$ मिली-हैनरी, $L_2 = 1{\cdot}23$ मिली-हैनरी है। संधारित्रों की धारिता का समंजन करके मान लीजिये कि प्रत्येक परिपथ की आवृत्ति 2×10^5 प्रति सैकंड कर दी गई। अब यदि इन्हें इस **प्रकार रखा जावे** कि $M = {\cdot}42$ मिली-हैनरी हो जाय तो

$$k = \frac{{\cdot}42}{\sqrt{(1{\cdot}18 \times 1{\cdot}23)}} = {\cdot}349 \text{ होगा।}$$

अतः $T_1 = 2 \times 10^5 \sqrt{1{\cdot}349} = 2 \times 10^5 \times 1{\cdot}16 = 2{\cdot}32 \times 10^5$

तथा $T_2 = 2 \times 10^5 \sqrt{{\cdot}651} = 2 \times 10^5 \times {\cdot}81 = 1{\cdot}62 \times 10^5$.

आवृत्ति-मापी काम में लाते समय युग्मन के इस परिणाम को स्मरणरखने की बड़ी आवश्यकता है। यदि आवृत्ति-मापी का दोलक-परिपथ से गाढ़ा युग्मन कर दिया जाय तो जो आवृत्ति हम नापेंगे वह T_1 होगी या T_2। किन्तु T_0 को हम न नाप सकेंगे। इसलिये आवश्यक है कि आवृत्ति-मापी को दोलक-परिपथ से जितनी दूर हो सके उतनी दूर रखना चाहिए। किन्तु ऐसा करने से उसमें दोलन भी बहुत क्षीण होंगे और उसका लैम्प न जल सकेगा। अतः ऊपर बताये हुए अन्य उपायों से दोलनों का अस्तित्व देखना चाहिए।

25·12—**टेसला की कुंडली** (Tesla's Coil)। यह हम देख चुके हैं कि दोलन-परिपथ में धारिता तथा प्रेरकत्व के घटाने से दोलनों की आवृत्ति बहुत बढ़ाई जा सकती है। ऐसे करोड़ों की आवृत्ति वाले दोलनों से अनेक अत्यन्त मनोहर तथा आश्चर्य-जनक प्रयोग किये जा सकते हैं। इलीहू टामसन (Elihu

Thomson) तथा निकोला टेसला (Nicola Tesla) ने सबसे पहिले ऐसे दोलनों को उत्पन्न किया था।

चित्र 25·20 में टेसला की कुंडली दिखलाई गई है। इस में मोटे तार की थोड़े फेरों वाली प्राथमिक कुंडली है और प्राथमिक के बीच में रखी हुई अधिक फेरों वाली और छोटे व्यास वाली द्वैतीयिक कुंडली है। प्राथमिक के परिपथ में संधारित्र (लीडन जार) तथा स्फुल्लिग-विसर्जक गोलियाँ लगी हैं। किसी उच्च विभव-उत्पादक (प्रेरण-कुंडली) को इन गोलियों से जोड़ देने पर स्फुल्लिग पैदा होती है
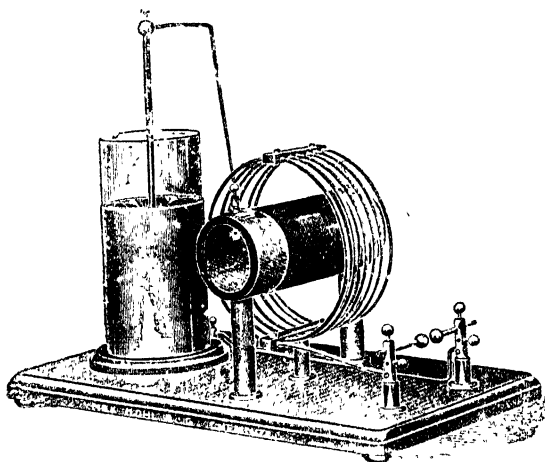
चित्र 25·20

और उपर्युक्त प्राथमिक परिपथ में अत्यन्त उच्च आवृत्ति के दोलन होने लगते हैं। ठीक वैसे ही दोलन द्वैतीयिक में भी होने लगते हैं। इस द्वैतीयिक में फेरों की संख्या अधिक होने से उसमें प्रेरित विभवत्व बहुत अधिक होता है और उसके दोनों सिरों के बीच में बहुत ही लम्बे स्फुल्लिग पैदा हो जाते हैं। इस द्वैतीयिक की अत्यन्त उच्च आवृत्ति वाली धारा से निम्नलिखित प्रयोग किये जा सकते हैं।

(1) यदि द्वैतीयिक के एक सिरे को पृथ्वी से जोड़ दें तो दूसरे सिरे से बड़ी सुन्दर ज्योति निकलेगी।

(2) यदि दोनों सिरों को तार के दो प्रायः 10-12 सम० व्यास वाले छल्लों से जोड़ दें और इन छल्लों को प्रायः 10 सम० के फ़ासले पर समान्तर रख दें तो बहुत ही सुन्दर प्रभा दोनों छल्लों के बीच में दिखलाई देगी।

(3) उच्च आवृत्ति की धारा के परिपथ में बिजली का लैम्प भी जोड़ दीजिये और इस लैम्प के दोनों सिरों से एक मोटा गोल मुड़ा हुआ तार भी जोड़ दीजिये (चित्र 25·21)। तब आप देखेंगे कि लैम्प खूब अच्छी तरह जलता रहेगा। अर्थात् यह उच्च आवृत्ति की दोलित धारा मोटे और प्रतिरोध हीन पार्श्व-बद्ध तार में से न जाकर लैम्प में प्रवाहित होगी। इसका कारण यह है कि त्वाचिक प्रभाव के कारण इस तार का प्रतिरोध भी अधिक होगा और बड़े क्षेत्रफल के कारण इस पथ का प्रेरकत्व भी अधिक होगा। इस प्रकार लघु-परिपथित लैम्प का जलना अवश्य ही आश्चर्य-जनक मालूम होगा। ऐसा लघुपरिपथित लैम्प दिष्ट-धारा या निम्न आवृत्ति की प्र० धा० के द्वारा कभी नही जल सकता।
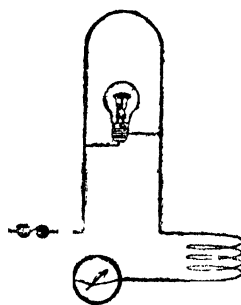
चित्र 25·21

(4) इससे भी अधिक आश्चर्यजनक बात यह है कि द्वैतीयिक में से जो लम्बे-लम्बे स्फुल्लिंग निकलते हैं उनके बीच में यदि हम अपना हाथ रख दें और स्फुल्लिंग हाथ में होकर निकल जाय तब भी हमें कोई झटका (shock) नही मालूम होगा। साधारण 200 वोल्ट की दिष्ट या प्रत्यावर्ती -धारा के तार को स्पर्श करने पर हमारी पेशियों में बहुत अधिक ऐंठन होती है और कभी-कभी तो मृत्यु भी हो जाती है। किन्तु इस एक लाख वोल्ट की धारा से हमारे शरीर को कुछ भी कष्ट नहीं होता।

(5) छोटे बिजली के लैम्प के एक विद्युदग्र को एक हाथ से छूकर दूसरे हाथ से द्वैतीयिक के किसी सिरे को छूने से लैम्प फ़ौरन जल जायगा। तब भी हमारे शरीर को कुछ तकलीफ न होगी। इसका कारण भी यही है कि अत्यन्त उच्च आवृत्ति के कारण यह धारा शरीर की चमड़ी ही में से प्रवाहित होती है। त्वाचिक प्रभाव इसे शरीर के भीतरी अवयवों में प्रवेश नहीं करने देता।

(6) काँच की नली में बहुत कम दबाव पर वायु या अन्य गैस भर दीजिये और तब नली के दोनों मुँह काँच को गला कर बंद कर दीजिये। यद्यपि इस नली में विद्युत्-धारा के प्रवेश करने का कोई मार्ग नहीं है तथापि नली को द्वैतीयिक के निकट लाते ही उसके भीतर की गैस में प्रकाश उत्पन्न हो जायगा। इसका कारण यह है कि उस गैस के आयनों में भी प्रेरित दोलन होने लगते हैं।

परिच्छेद 26

विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें

(Electro-magnetic Waves)

26·01—**वैद्युत-तरंगें** (Electric Waves)। पिछले परिच्छेदों में बतलाया गया है कि अन्योन्य-प्रेरण के द्वारा एक कुंडली की धारा निकटवर्ती दूसरी कुंडली में भी धारा उत्पन्न कर देती है और यह भी बताया गया है कि इसका कारण पहिली कुंडली का चुम्बकीय क्षेत्र है। अतः यह भी स्पष्ट हो जाता है कि दोनों कुंडलियों के बीच के माध्यम का भी इस प्रेरण में कुछ न कुछ भाग अवश्य है। अब तक हमारा ध्यान केवल प्रेरित वि० वा० ब० तथा धारा ही पर रहा है किन्तु अब आवश्यक है कि माध्यम में होने वाले परिवर्तनों पर भी कुछ विचार किया जाय।

मैक्सवैल (Maxwell) ने 1863 में इस प्रश्न का गणित की सहायता से अध्ययन किया था और वे इस परिणाम पर पहुंचे थे कि जब किसी चालक में उच्च आवृत्ति के वैद्युत दोलन होते हैं तब उसके चारों ओर के ईथर समुद्र में एक प्रकार की वैद्युत तरंगें उत्पन्न होती हैं। ये तरंगें नियत वेग से चारों ओर फैलती हैं और जब ये किसी दूसरी कुंडली पर पहुँचती हैं तब उसमें भी वैसे ही दोलन उत्पन्न करती हैं।

इस बात को समझने में ध्वनि-विज्ञान से हमें बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। ध्वनि-जनक वस्तु के कम्पन वायु में तरंगें उत्पन्न करते हैं और जब ये तरंगें किसी अन्य वस्तु अथवा हमारे कान पर पड़ती हैं तब उसमें भी उतनी ही आवृत्ति के कम्पन उत्पन्न कर देती हैं। ये कम्पन शक्तिशाली तभी होते हैं जब इस दूसरी वस्तु का प्रकृत आवर्तकाल तरंगों के आवर्त-काल के बराबर हो। इसे अनुनाद (resonance) कहते हैं। ठीक यही दशा वैद्युत दोलनों की भी है। जिस प्रकार ध्वनि-तरंगों को स्थानान्तरित होने में समय लगता है ठीक उसी प्रकार वैद्युत तरंगें भी माध्यम के कणों में उत्तरोत्तर दोलन उत्पन्न करती हुई अग्रसर होती हैं और उन्हें भी इस कार्य में समय लगता है। किसी कुंडली पर दूसरी कुंडली की धारा का प्रभाव तात्क्षणिक नहीं होता।

26·02—**प्रकाश तथा वैद्युत तरंगें**। इस सम्बंध में मैक्सवैल की एक बात बहुत ही महत्वपूर्ण प्रमाणित हुई है। उनके सिद्धान्त के अनुसार इन वैद्युत तरंगों

का वेग वायु में अथवा निर्वात आकाश में 3×10^{10} सम० या 186000 मील प्रति सैकंड निकलता है। वस्तुतः यह वेग $v=c/\sqrt{k\mu}$ होता है जहाँ k माध्यम का पार-वैद्युत नियतांक (dielectric constant) है, μ उसकी चुम्बकशीलता (permeability) है और c एक नियत संख्या है जिसका मान 3×10^{10} है। निर्वात आकाश में $k=1$ तथा $\mu=1$ होता है। अतः $v_0 = c$

वैद्युत तरंगों का यह वेग ठीक प्रकाश तरंगों के वेग के बराबर होने से मैक्सवैल ने यह परिकल्पना बनाई कि प्रकाश तरंगें भी वैद्युत तरंगे ही हैं। अन्तर है तो केवल तरंग-दैर्ध्य का। यह मैक्सवैल का विद्युत्-चुम्बकीय सिद्धान्त (electro-magnetic theory) कहलाता है।

जिन पारदर्शक पदार्थों में से प्रकाश चल सकता है वे विद्युत् के लिये अचालक होते हैं और μ का मान तो लोह, निकल और कोबल्ट को छोड़कर अन्य सब पदार्थों के लिये सन्निकटतः 1 ही होता है। अतः ऐसे पदार्थों के लिये भी शुद्ध वैद्युत माप के द्वारा ही हम वैद्युत तरंगों का वर्तनांक (refractive index) n मालूम कर सकते हैं। क्योंकि $n=v_0/v=\sqrt{k}$। कई पदार्थों के लिए इस प्रकार परिकलित मान ठीक प्रकाश सम्बंधी वर्तनांक के बराबर पाया गया है। इससे मैक्सवैल के सिद्धान्त की और भी पुष्टि हो जाती है। यही क्यों। अब तो इस सिद्धान्त के द्वारा प्रकाश-सम्बंधी जटिल से जटिल घटनाओं की बहुत यथार्थता पूर्ण व्याख्या संभव हो गयी है और प्रकाश का यह विद्युत्-चुम्बकीय सिद्धान्त सर्वमान्य हो गया है।

26·03—**वैद्युत बल-रेखाएँ और तरंगों की उत्पत्ति**। मान लीजिये कि चित्र 26·01 में **क** कोई इलैट्रान है और **क ख** उसकी एक बल-रेखा है जो **क** से अनन्त दूरी तक विस्तृत है। अब यदि **क** वेग से हट कर **क'** पर पहुँच जाय तो बल-रेखा मुड़कर **क'ग₁ख** का रूप ले लेगी। क्योंकि जितनी देर इलैक्ट्रान को क से क' तक पहुँचने में लगेगी उतनी ही देर में बल-रेखा का केवल **क ग** भाग ही स्थानान्तरित हो सकेगा। इसके बाद बल-रेखा का यह मोड़ **ग₁** उपर्युक्त वेग c से **ख** की ओर अग्रसर होगा और अन्त में बल-रेखा पुनः सीधी **क' ख'** बन जावेगी। यदि इलैक्ट्रान इधर-उधर दोलन करता रहे तो बल-रेखा में भी कई मोड़ पड़ जावेंगे और जिस प्रकार रस्सी का एक सिरा पकड़ कर हिलाने से रस्सी में तरंगें चलती हैं उसी प्रकार बल-रेखा भी तरंगित हो जायगी।

ख ख'
ग₂
ग₁
क क'

चित्र 26·01

कुछ दूसरी प्रकार समझने के लिए मान लीजिये कि चित्र 26·02-**क** में एक सीधे तार का दोलक है जिस के मध्य में दो छोटी गोलियों का स्फुल्लिग-विच्छेद लगा है। ऊपर वाला तार **ट च क** ऋणाविष्ट है और नीचे वाला **ग ज ड** धनाविष्ट। इसकी कुछ
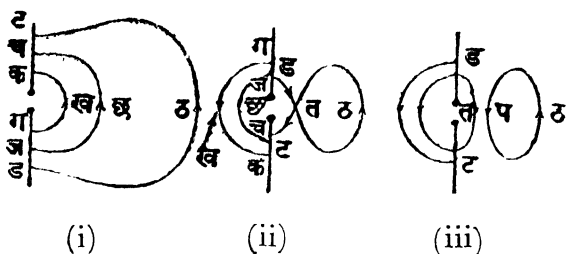
चित्र 26·02(क)

बल-रेखाएं भी चित्र (i) में प्रदर्शित हैं। यदि स्फुल्लिग-विच्छेद में किसी कारण से थोड़ी चालकता पैदा हो जाय तो इलैक्ट्रान **क** से **ग** की तरफ धीरे-धीरे प्रवाहित होंगे और बल-रेखाएँ भी धीरे-धीरे संकुचित होवेंगी। उनके दोनों सिरे तो गोलियों
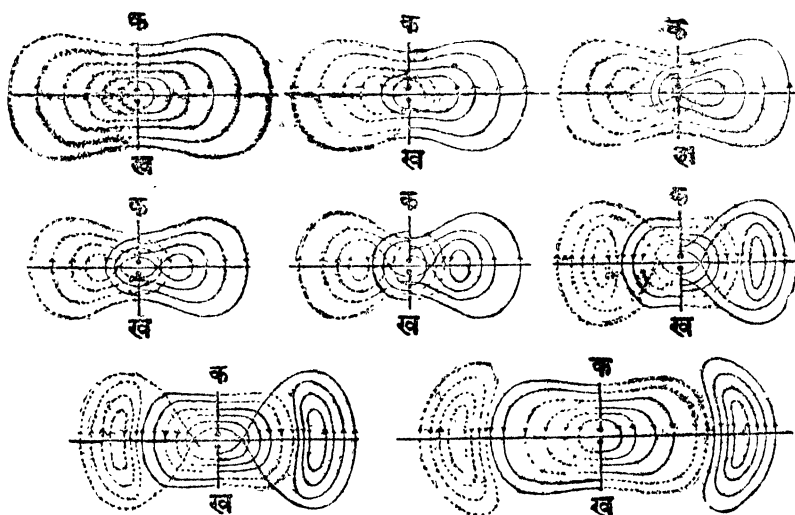
चित्र 26·02(ख)

की तरफ खिसकेंगे और उनके वक्र-भाग बाईं ओर खिसक कर दोलक के तारों में मिल कर लुप्त हो जावेंगे। इस प्रकार तारों के आवेशों का विसर्जन हो जावेगा।

किन्तु यदि दोलनों के कारण तारों में इलैक्ट्रान अधिक वेग से दौड़ें तो जब किसी बल-रेखा के दोनों सिरे परस्पर मिल जावेंगे या जब जो सिरा **ट च क** पर था वह **ग ज ड** पर पहुँच जावेगा और **ग ज ड** वाला सिरा **ट च क** पर पहुँच जावेगा तब भी उसका मध्य भाग कम वेग होने के कारण तारों से काफी दूर रह जावेगा। फलतः चित्र (ii) (iii) के समान बल-रेखा दो भागों में विभाजित हो जायगी। एक भाग तो अन्तहीन वलयाकार बल-रेखा का रूप धारण कर लेगा और दूसरा भाग ऊपर से नीचे की ओर जाने वाली बल-रेखा बन जायगी और ज्यों-ज्यों इसके सिरे तारों पर गोलियों से दूर हटते जायेंगे त्यों-त्यों यह दूसरा भाग अधिक फैलता जायगा और वलयाकार बल-रेखाएँ तारों से दूर हटती जावेंगी। इसके बाद इलैक्ट्रान पुनः नीचे से ऊपर की ओर चलना प्रारम्भ करेंगे और पुनः उपर्युक्त रीति से बल-रेखाओं का विभाजन होकर नई वलयाकार बल-रेखाएँ बनेंगी और वे भी तारों से दूर हटती जावेंगी। इन बल-रेखाओं की उत्तरोत्तर जो स्थिति होगी वह चित्र 26·02 **ख** में प्रदर्शित है। अनेक निमीलित वलय बन-बन कर क्रमशः **क ख** से दूर हटते जावेंगे और **क ख** के पास नई बल-रेखाएँ बनती जावेंगी। इलैक्ट्रानों के दोलनों के कारण यही क्रम बराबर जारी रहेगा।

इनमें से अंतिम चित्र में **क ख** से जो समकोणिक आड़ी रेखा है उसके विभिन्न बिन्दुओं पर वैद्युत-बल की दिशा तथा बल-रेखाओं के घनत्व पर गौर करने से मालूम
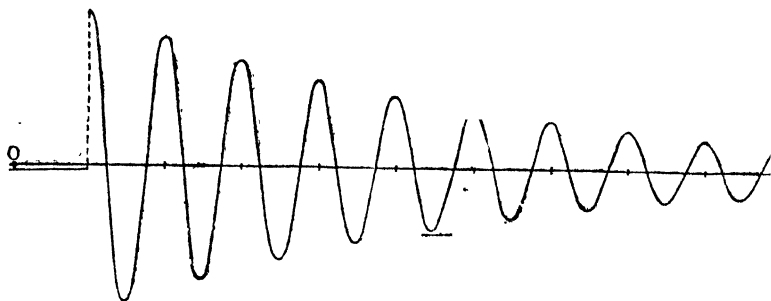
चित्र 26·03

होगा कि दाहिनी ओर से बाईं ओर अग्रसर होने पर तो यह बल पहिले क्रमशः घटकर शून्य हो जाता है। और तब दिशा बदल कर पुनः बढ़ता है। इसका लेखा-चित्र यदि खींचा जाय तो चित्र 26·03 के समान प्राप्त होगा। चित्र 26·02 में केवल एक ही आवर्तन दिखाया गया है किन्तु 26·03 में कई आवर्तन दिखाये गये हैं, क्योंकि ज्यों-ज्यों बल-रेखाएँ आगे बढ़ती जावेंगी त्यों-त्यों अन्य आवर्तन भी प्रगट होते जावेंगे। इस लेखा-चित्र से स्पष्ट हो जायगा कि इस क्रिया को हम विद्युत्-तरंग क्यों कहते हैं।

26·04—**चुम्बकीय बल-रेखाओं की तरंग।** चित्र 26·02 के दोलक के तार में इलैक्ट्रानों के दौडने से विद्युत्-धारा प्रवाहित होती है। अतः इस तार
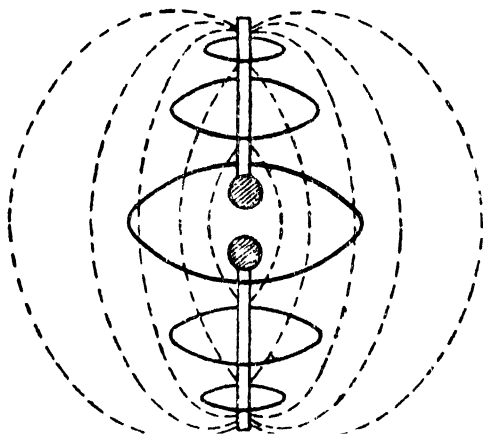
चित्र 26·04

के चारों ओर वृत्ताकार चुम्बकीय बल-रेखाएँ भी बन जाती है (चित्र 26·04 में अविच्छिन्न रेखाएँ)। यह धारा प्रत्यावर्ती धारा होती है। अतः ये चुम्बकीय बल-रेखाएँ भी उसी तरह फैलती और संकुचित होती हैं जिस प्रकार उपर्युक्त वैद्युत बल-रेखाएँ। और ठीक उन्हीं की भांति चुम्बकीय तरंग भी बन कर **क ख** से प्रसारित होती है। ये दोनों प्रकार की तरंगें सदा एक ही साथ उत्पन्न होंगी। ऐसा हो ही नहीं सकता कि एक विद्यमान हो और दूसरी न हो। इसलिए यह कहना अधिक यथार्थता पूर्ण होगा कि वास्तव में तरंग एक ही है किन्तु वह ऐसी है कि जिसमें वैद्युत बल का भी दोलन होता है और चुम्बकीय बल का भी। अतः इस तरंग को विद्युत्-चुम्बकीय (electro-magnetic) तरंग कहना अधिक उचित है।

मैक्सवैल ने अपने गणितीय अध्ययन के द्वारा इन तरंगों के विषय में यह भी मालूम कर लिया कि इनमें चुम्बकीय बल, वैद्युत बल और तरंग-गति की दिशाएँ तीनों परस्पर समकोणिक होती हैं। जिस प्रकार प्रकाश तरंग जब ध्रुवित (polarised) होती है तब उसमें विस्थापन की दिशा और तरंग-गति की दिशा परस्पर समकोणिक होती हैं उसी तरह इन विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों में भी होता है। हम यों कह सकते हैं कि वैद्युत-तरंग भी ध्रुवित है और चुम्बकीय तरंग भी ध्रुवित है और इन दोनों तरंगों के ध्रुवन-तल परस्पर समकोणिक होते हैं। इस तरंग में आधी ऊर्जा वैद्युत रूप में रहती है और आधी चुम्बकीय रूप में।

26·05—**दोलक से बहुत दूर पर चुम्बकीय बल की उत्पत्ति।** अब तक चुम्बकीय बल-रेखाओं की उत्पत्ति के हम दो ही कारण जानते हैं। एक चुम्बकीय ध्रुव और दूसरा विद्युत्-धारा। किन्तु इन तरंगों में दोलक-तार से जितनी अधिक दूरी पर चुम्बकीय बल का अस्तित्व हमें मानना पड़ता है वह उस तरंगोत्पादक तार की विद्युत्-धारा के कारण नही हो सकता क्योंकि उतनी दूर पर तो वह बल अत्यन्त क्षीण हो जाता। इस कठिनाई को दूर करने के लिए मैक्सवल ने यह परिकल्पना बनाई कि वैद्युत बल-रेखाओं के स्थानान्तरित होने से भी चुम्बकीय बल उत्पन्न होता है। वस्तुतः तार में प्रवाहित धारा के चुम्बकीय बल का भी यही कारण है। तार के प्रत्येक इलैक्ट्रान से सम्बधित वैद्युत बल-रेखाएँ तार से समकोणिक दिशा मे होती हैं और जब ये इलैक्ट्रान तार में गतिवान होते हैं तो ये वैद्युत बल-रेखाएँ भी अपनी लम्बाई से समकोणिक दिशा में अर्थात् तार की लम्बाई की दिशा में वेग से स्थानान्तरित होती हैं और जो चुम्बकीय बल पैदा होता है उसका कारण इन बल-रेखाओ का स्थानान्तरण ही है।

यह परिकल्पना इतनी महत्वपूर्ण है कि इसे कुछ और स्पष्ट कर देना आवश्यक जान पड़ता है। मान लीजिये कि चित्र 26·05 में **क** और **ग** किसी आविष्ट संधारित्र की दो पट्टिकाएँ हैं। इनके बीच में वैद्युत बल-रेखाएँ भी दिखाई गई हैं।
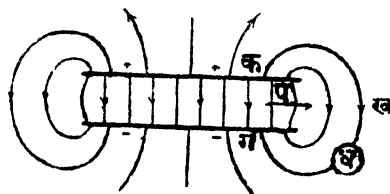
चित्र 26·05

अब यदि तार **क ख ग** के द्वारा **क** और **ग** को धारा-मापी **घ** में होकर जोड़ दिया जाय तो स्पष्ट है कि **घ** में धारा प्रवाहित होगी और उसके चारों ओर चुम्बकीय क्षेत्र भी बनेगा। किन्तु यदि हम धारा पर से अपना ध्यान हटा कर जरा वैद्युत बल-रेखाओं पर गौर करें तो हम देखेंगे कि ज्यों-ज्यों **क** और **ग** के आवेश कम होते जावेंगे, उनके बीच की बल-रेखाओं की संख्या घटती जायगी। इस क्रिया में बल-रेखाएँ दाहिनी ओर स्थानान्तरित होती जावेंगी और तार **क ख ग** में प्रविष्ट होकर लुप्त होती जावेंगी। यही स्थानान्तरण पट्टिकाओं के बीच वाले चुम्बकीय बल का कारण समझा जा सकता है।

इस विषय में मैक्सवैल ने एक और भी महत्वपूर्ण परिकल्पना का प्रतिपादन किया था। हम जानते हैं कि विद्युत्-धारा निमीलित परिपथ ही में प्रवाहित होती है। किन्तु जब चित्र 26·05 का संधारित्र अनाविष्ट होता है तब जो क्षणिक धारा धारामापी में से प्रवाहित होती है उसका परिपथ तो निमीलित नहीं है। तब यह धारा कसे चलती है? मैक्सवैल ने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया वह यह है कि संधारित्र-पट्टिकाओं के बीच वाले अचालक माध्यम में भी धारा का प्रवाह होता है और वास्तव में परिपथ निमीलित ही है। बात यह है कि **क** और **ग** के आवेश के कारण माध्यम में कुछ विकृति उत्पन्न होती है और इस विकृति के परिवर्तन से माध्यम में जो क्रिया होती है वही धारा के चलने में जो रुकावट थी उसे दूर कर देती है अर्थात् परिपथ को निमीलित-सा कर देती है। मान लीजिये कि चित्र 26·06 में **कघ** एक नली है जिस में जल भरा हुआ है किन्तु बीच मे **ख** पर एक रबड़ का परदा

चित्र 26·06

लगा हुआ है जिस में होकर जल इधर से उधर नही जा सकता। अब यदि **क** पर दबाव लगाकर जल को वाणांकित दिशा में चलाने का प्रयत्न किया जाय तो रबड़ वक्र-रूप धारण कर लेगा और जल का थोड़ा सा प्रवाह हो जायगा। यह प्रवाह नली में सर्वत्र एक सा होगा। रबड़ की विकृति के कारण ही जल में प्रवाह संभव हुआ है। इसी तरह माध्यम की विकृति के द्वारा संधारित्र-पट्टिकाओं के बीच में भी विद्युत् की धारा के प्रवाह की कल्पना की जा सकती है। मैक्सवैल ने इस धारा का नाम विस्थापन-धारा (displacement current) रख दिया। विद्युत्-तरंगों में भी माध्यम की विकृति का परिवर्तन होता रहता है। अतः वहाँ भी विस्थापन-धारा चलती रहती है और इसी धारा से चुम्बकीय-बल उत्पन्न होता है।

26·06—**हर्ट्ज़ के प्रयोग** (Experiments of Hertz)। मैक्सवैल के इस सैद्धान्तिक आविष्कार के 25 वर्ष बाद तक इन विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों का प्रयोगात्मक कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं था। केवल प्रकाश-तरंगों ही के द्वारा उस सिद्धान्त की सत्यता प्रदर्शित होती थी। किन्तु सन् 1888 में हर्ट्ज़ (Hertz) ने अपने सुप्रसिद्ध प्रयोगों के द्वारा प्रकाश से सर्वथा भिन्न शुद्ध विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों का अस्तित्व प्रमाणित कर दिया।

इन प्रयोगों में हर्ट्ज़ ने चित्र 26·07 में प्रदर्शित वैद्युत दोलक का उपयोग किया था। क और ख पीतल की दो वर्गाकार पट्टिकाएँ 40 सम० लम्बी-चौड़ी थीं और उनके बीच में 60 सम० लम्बा तार लगा था। इस तार को बीच में से काट कर दो
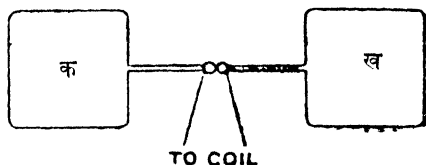
चित्र 26·07

छोटी-छोटी गोलियाँ प्रायः 1 सम० की दूरी पर लगादी गई थी, और इन्हें एक बड़ी सी प्रेरण-कुंडली की द्वैतीयिक से जोड़ दिया गया था। इस के द्वारा अत्यन्त उच्च आवृत्ति के दोलन उत्पन्न हो जाते हैं।

इस उपकरण के द्वारा जो तरंगें उत्पन्न होती हैं उनका पता चलाने के लिए हर्ट्ज़ ने तांबे के मोटे तार को मोड़ कर प्रायः 70 सम० व्यास का एक वृत्त बनाया और उसमें भी दोलक के समान ही छोटी छोटी गोलियों का एक स्फुल्लिंग-विच्छेद (spark-gap) लगा दिया (चित्र 26·08)। जब उपर्युक्त दोलक की तरंगें इस संग्राही (receiver) पर पड़ती हैं तब गोलियों के बीच में छोटी-छोटी चिनगारियाँ प्रगट होती हैं।
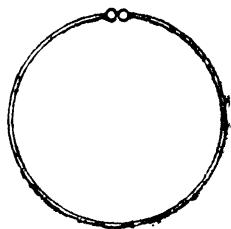
चित्र 26·08

प्रायः 50 या 60 फुट लम्बे कमरे में हर्ट्ज़ ने सबसे पहिले यह प्रयोग किया था। उसने देखा कि दोलक से बहुत दूर होने पर भी इस संग्राही में चिनगारियां प्रगट होती थीं। इतनी दूर पर चिनगारी निकलने लायक 2000 या 3000 वोल्ट का विभवान्तर गोलियों के बीच में उत्पन्न होना साधारण प्रेरण के नियमों के अनुसार संभव नहीं। अतः हर्ट्ज़ ने यह परिणाम निकाला कि अवश्य ही यह तरंगों का काम है।

इस सम्बंध में यह स्मरण रखना चाहिए कि संग्राही में चिनगारी तभी निकलती थी जब उसका स्फुल्लिंग-विच्छेद दोलक के स्फुल्लिंग-विच्छेद से समान्तर रखा जाता था। अर्थात् जब दोलक के द्वारा उत्पन्न वैद्युत बल-रेखाओं की दिशा और संग्राही की गोलियों के निकट-वर्ती तार की दिशा एक ही हो। किन्तु ऐसी स्थिति के अतिरिक्त

भी जब दोलक-जन्य चुम्बकीय रेखाओं की दिशा संग्राही-वृत्त के तल को अभिलम्बत: काटती हों तब यद्यपि स्फुलिंग-विच्छेद समान्तर न भी हो तो भी संग्राही में स्फुल्लिंग पैदा हो जाते हैं। इसका कारण संग्राही-गत चुम्बकीय बल-रेखाओं द्वारा प्रेरित विद्युद्वाहक बल है। चित्र 26·09 में संग्राही की चार स्थितियां दिखाई गई हैं।

चित्र 26·09
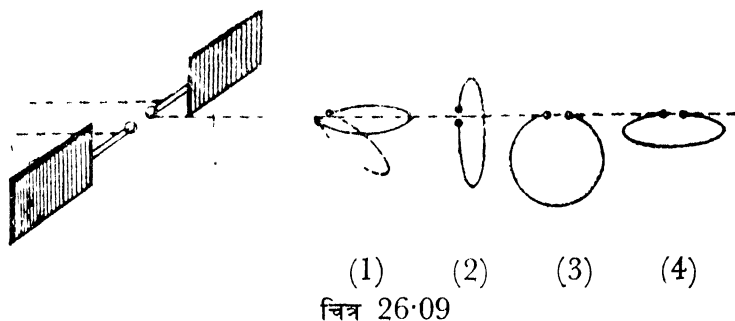
स्थिति 2 और 4 में चुम्बकीय रेखाओं के कारण तथा 1 में दोनों प्रकार की रेखाओं-वैद्युत तथा चुम्बकीय के कारण चिनगारियां उत्पन्न होंगी। किन्तु 3 में चिनगारी उत्पन्न नही होगी।

संग्राही को दोलक के निकट ही रखने पर तो 7-8 मम० लम्बी चिनगारियां निकलीं किन्तु उसे दूर ले जाने पर यह लम्बाई घट कर $\frac{1}{20}$ मम० या इससे भी कम हो गई। किन्तु तब भी वे स्पष्ट दिखलाई देती थी। बीच में किसी अचालक पदार्थ का आवरण आ जाने से भी इस प्रयोग में कोई बाधा नहीं पड़ती। ऐसे पदार्थ इन तरंगों के लिये बिलकुल पारदर्शक प्रमाणित हुए। किन्तु धातु की लम्बी-चौड़ी चद्दर बीच में रख देने से ये तरंगें रुक जाती हैं। धातु-पत्र इनके लिए अपारदर्शक है। हम आगे चलकर देखेंगे कि ऐसा धातु-पत्र इन तरंगों को परावर्त्तित भी कर देता है।

यह प्रमाणित करने के लिए कि ये वास्तव में तरंगें ही थीं सबसे आवश्यक प्रश्न यह था कि इस प्रभाव को स्थानान्तरित होने में कुछ समय लगता है अथवा नहीं। दूसरे शब्दों में इस प्रभाव का वेग अनन्त है अथवा परिमित। परिमित वेग का प्रभाव तरंगों में यह होता है कि विस्थापन सर्वत्र एक सा नहीं होता। तरंगशृंग (wave-crest) पर विस्थापन अधिकतम होता है। इसके दोनों ओर यह घटता जाता है और चौथाई तरंग-दैर्घ्य (wave-length) के अन्तर पर यह बिलकुल ही

शून्य हो जाता है। इसके बाद विपरीत दिशा में बढ़कर आधे तरंग-दैर्ध्य की दूरी पर पुनः अधिकतम हो जाता है। एक तरंग-दैर्ध्य के बाद फिर पहिली दिशा में ही अधिकतम विस्थापन हो जाता है। इसे कला-भेद (phase-difference) कहते हैं। अतः हर्ट्ज के लिए यह आवश्यक हुआ कि इन तरंगों में भी इस प्रकार के कला-भेद का पता लगावे। किन्तु आवर्त्त-काल की अत्यन्त स्वल्पता के कारण यह काम आसान नहीं है। इसलिए हर्ट्ज ने इनका परावर्तन कराकर अप्रगामी तरंगें (stationary waves) उत्पन्न कर उनके निष्पन्दों (nodes) और प्रस्पन्दों (antinodes) के द्वारा इस कलाभेद को प्रत्यक्ष करने का विचार किया। इसके लिए उसने अपने दोलक को कमरे की दीवार से प्रायः 12 मीटर दूर रखा और दीवार को 4 मीटर लम्बी और 4 मीटर चौड़ी जस्त की चद्दर से ढक दिया। इस चद्दर के निकट संग्राही को भिन्न-भिन्न दूरियों पर रखने पर मालूम हुआ कि चिनगारियों की प्रबलता सर्वत्र एक सी नहीं थी। जिन स्थानों पर यह प्रबलता अधिकतम थी अथवा जिन-जिन स्थानों पर चिनगारी बिलकुल ही नहीं निकलती थी उन के बीच की दूरी 4·8 मीटर निकली। इससे स्पष्ट हो गया कि वास्तव में दोलक से तरंगे ही उत्पन्न होती हैं और उनका तरंगदैर्ध्य 9·6 मीटर है।

किन्तु जब सारासिन (Sarasin) और डिलाराइव (De la Rive) ने इन प्रयोगों की पुनरावृत्ति की तब उन्हें मालूम हो गया कि इस प्रकार अप्रगामी तरंगों की जो लम्बाई मालूम होती है वह केवल संग्राही के व्यास और उसके तार की मोटाई आदि पर ही निर्भर है। दोलक के माप से उसका कुछ भी सम्बंध नहीं। इसका कारण यह है कि दोलक की तरंगे तो इतनी अवमन्दित (damped) होती हैं कि प्रत्येक स्फुल्लिंग से उत्पन्न तरंग-श्रेणी बहुत जल्दी ही नष्ट हो जाती है। किन्तु संग्राही-कुंडली निमीलित होने के कारण उसमें दोलन होने पर भी उसमें से तरंगें नहीं निकलतीं। अतः इन दोलनों का अवमन्दन नहीं होता और बड़ी देर तक ये दोलन होते ही रहते हैं। जब संग्राही में दोलन उत्पन्न करके यह तरंगें दीवार की ओर चली जाती हैं और वहां से परावर्तित होकर पुनः संग्राही पर पहुँचती है उस समय भी संग्राही में वे दोलन मौजूद रहते हैं। यदि तरंग को दीवार तक जाकर आने में संग्राही के आवर्त-काल का पूर्ण समापवर्त्य (integral multiple) समय लगे तब तो परावर्त्तित तरंग दोलनों को और भी बढ़ा देगी। अन्यथा विपरीत कला होने के कारण वह उन्हें नष्ट कर देगी। अतः इस विधि से हम वास्तव में प्रस्पंद और निष्पन्द नहीं नापते। यदि संग्राही तरंगें उत्पन्न करता तो उसकी तरंगों की जो लम्बाई होती वही इस उपाय से ज्ञात होती है।

इसके बाद तो हर्ट्ज़ ने और भी तरंगें उत्पन्न करलीं जिनकी लम्बाई 65 सम० से अधिक न थी। चित्र 26·10 में यह उपकरण दिखलाया गया है। दोलक ने
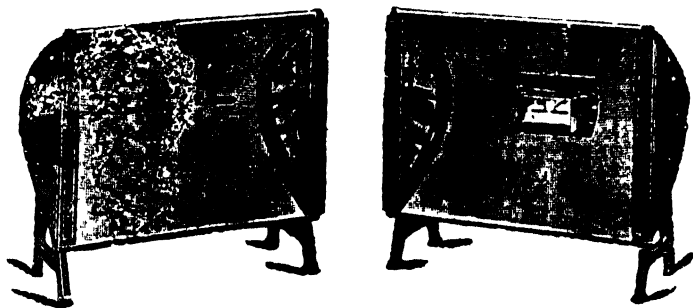
चित्र 26·10

अब केवल एक पीतल की छड़ का रूप ले लिया है जो 3 मम० मोटी और 26 सम० लम्बी थी और इसके बीच में भी स्फुल्लिंग के लिए गोलियां लगी थीं। इसे धातु के परवलयाकार दर्पण की फ़ोकस-रेखा पर लगा दिया ताकि इससे उत्पन्न तरंगें चारों ओर न फैल कर परवलय की अक्षीय दिशा ही में चलें। इस दर्पण की ऊँचाई 2 मीटर थी और फोकस-दैर्ध्य 12·5 सम० था। ठीक ऐसे ही दूसरे दर्पण की फोकस-रेखा पर संग्राही लगा दिया गया। इस संग्राही में भी दो तार 50 सम० लम्बे और 5 मम० मोटे लगे थे और इनके भीतरी सिरों का सम्बंध दर्पण के पीछे एक स्फुल्लिंग-विच्छेद से था। इस प्रकार हर्ट्ज़ ने प्रायः 20 मीटर दूर तक इन तरंगों का अस्तित्व प्रमाणित कर दिया।

यही नहीं। इसके द्वारा इन तरंगों का सरल-रेखा-गमन (rectilinear propagation), परावर्तन (reflection), वर्तन (refraction), ध्रुवन (polarisation) इत्यादि भी प्रमाणित कर दिया गया।

(1) **सरल-रेखा-गमन**

2 मीटर लम्बी और 1 मीटर चौड़ी जस्त की चद्दर को दर्पणों के बीच में रखते ही ग्राहक की चिनगारियाँ बंद हो जाती थीं। चद्दर को एक तरफ हटाकर दर्पणों के बीच की सरल रेखा को अनावृत करते ही पुनः चिनगारियाँ निकलने लगती थीं।

(2) **परावर्तन**

दोनों परवलयाकार दर्पणों को घुमाकर इस प्रकार रख दिया कि उन की अक्षों के बीच में कुछ कोण बन गया। इस दशा में संग्राही में कोई चिनगारी नहीं

निकली। किन्तु वही उपर्युक्त जस्त की चद्दर जब इस प्रकार रखी गई कि उस पर आपतन-कोण और परावर्त्तन-कोण लगभग बराबर हों तब संग्राही में खूब अच्छी चिनगारियाँ निकलने लगीं। यह सच है कि चद्दर को प्रायः 15° इधर-उधर घुमाने पर भी चिनगारियाँ निकलती थीं किन्तु ऐसा होना स्वाभाविक ही है क्योंकि तरंगों की लम्बाई इतनी अधिक थी कि इतने छोटे परावर्त्तक से अधिक यथार्थता पूर्वक परावर्त्तन हो ही नहीं सकता।

(3) वर्तन

किसी अचालक पदार्थ यथा पिच (pitch) का एक प्रिज़्म (prism) 30° कोण और 60 सम० आधार वाले त्रिकोण पर 1·5 मीटर ऊँचा बनाया गया। स्पैक्ट्रम-मापी (spectrometer) के समान इसे दोलक और संग्राही के बीच में रखकर तरंगों का अल्पतम विचलन (deviation) नाप लिया गया। इससे न केवल वर्तन ही प्रमाणित हुआ किन्तु पिच का वर्तनांक भी नाप लिया गया। इसका मान 1·69 निकला।

(4) ध्रुवन

बहुत से तांबे के तारों को प्रायः 3 सम० की दूरी पर समान्तर लगाकर एक जाली तैयार की गई। इसे दोलक तथा संग्राही के बीच में रखने पर मालूम हुआ कि यदि इसके तारों की दिशा और दोलनों की दिशा एक ही हो तब तो तरंगें संग्राही पर पहुँच जाती हैं। किन्तु यदि जाली को घुमाकर तारों को उस दिशा से लम्ब-रूप कर दें तो तरंग उस के पार नहीं निकल सकती। जिस प्रकार ध्रुवित प्रकाश टूरमलीन (tourmaline) क्रिस्टल में से एक स्थिति में तो निकल जाता है और क्रिस्टल को एक समकोण घुमा देने पर रुक जाता है ठीक उसी प्रकार इस तरंग की भी हालत है।

26·07—**छोटी वैद्युत तरंगों को उत्पन्न करने की विधि**। हर्ट्ज़ के उपर्युक्त उपकरण से जो तरंगें उत्पन्न होती हैं वे इतनी लम्बी होती हैं कि एक तो उन्हें वर्तित या परावर्तित करने के लिए बड़े बड़े दर्पणों और प्रिज़्मों की आवश्यकता होती है। दूसरे कमरे की दीवारें और फर्श भी उन्हें परावर्तित करके गड़बड़ी मचाते हैं। अतः प्रयोग-शाला में काम में लाने के लिए हर्ट्ज़ के उपकरण में बहुत से परिवर्तन किये गये हैं। उन सबका यहाँ वर्णन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। केवल दो प्रकार के दोलकों का वर्णन ही काफ़ी होगा। ये दोनों ही बहुत उपयोगी सिद्ध हुए थे।

(1) लेबेड्यू (Lebedew) का दोलक चित्र 26·11 में दिखलाया गया है। 7 सम० लम्बे तार के बीच में प्लैटिनम तार का स्फुल्लिंग-विच्छेद है और यह काँच की एक नली में तारपीन का तेल भर कर उसमें रख दिया जाता है। इसे प्रेरण-कुंडली से भी सीधा नहीं जोड़ते। दोलक के दोनों सिरों और प्रेरण-कुंडली के तारों के बीच में भी प्रायः 1 सम० लम्बे स्फुल्लिंग-विच्छेद रहते हैं। इससे लाभ यह होता है कि प्रेरण-कुंडली इसके दोलनों को विकृत नहीं कर सकती। इससे प्राय. 15 सम० लम्बी तरंगें उत्पन्न होती है और उनके लिए 40 सम० लम्बा परवलयदर्पण और प्राय. 20 सम० लम्बे प्रिज़्म ही काफ़ी होते हैं। सग्राही 15 सम० लम्बा होता है और उसमें स्फुल्लिग देखने के स्थान में ताप-संधि (thermo-junction) लगा कर धारामापी के द्वारा तरंगों का अस्तित्व देखा जा सकता है।

चित्र 26·11

(2) **बसु का दोलक**—हमारे देश के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बसु ने जो दोलक बनाया था वह चित्र 26·12 में दिखलाया गया है। इसमें प्लैटिनम

चित्र 26·12

की तीन गोलियाँ हैं। बीच की गोली बड़ी है और दोनों ओर की गोलियाँ छोटी हैं। ये छोटी गोलियाँ प्रेरण-कुंडली से सम्बद्ध रहती हैं और बीच की गोली में दोलन होते हैं। इस प्रकार बसु महाशय ने प्रायः 1 सम० लम्बी तरंगें उत्पन्न कर ली थीं।

निकल्स (Nichols) और टियर (Tier) ने अब प्रायः 1·8 मम० लम्बी विद्युत्-तरंगें भी उत्पन्न कर ली हैं। ये तरंगें ऊष्मा-तरंगों से केवल 10-12 गुणी ही बड़ी हैं।

26·08—**लेचर की तरंगें** (Lecher's Waves)। हर्ट्ज़ के दोलक की तरंगों के अध्ययन की एक और विधि यह है कि उनके द्वारा दो समान्तर लम्बे

तारों मे अप्रगामी तरंगें उत्पन्न की जावें। लेचर ने इसकी जो युक्ति निकाली थी वह चित्र 26·13 में प्रदर्शित है।
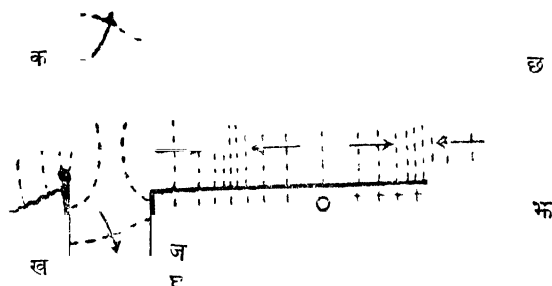
चित्र 26·13

ग तथा **घ** धातु के दो पत्र हैं जो हर्ट्ज के दोलक के पत्रों (**क**, **ख**) के ही आकार के हैं और जो उन्हीं के निकट तथा समान्तर रखे हैं। **ग**, **घ** से दो समान्तर तार **च छ** और **ज झ** जुड़े हैं जिनके बीच की दूरी प्राय : 10 सम० है। इन तारों की लम्बाई कम से कम 30-40 फ़ुट होना चाहिए। दोलक की बल-रेखाओं को **ग** और **घ** ग्रहण कर लेते हैं और ये बल-रेखाएँ तब इन तारों के बीच में तरंग-रूप में दौड़ जाती हैं। दूसरे सिरे पर पहुँच कर इनका परावर्तन हो जाता है और तब मूल तरंग और परावर्तित तरंग दोनों के व्यतिकरण (interference) के कारण अप्रगामी-दोलन उत्पन्न हो जाते हैं और तारों पर प्रस्पन्द तथा निष्पन्द बन जाते हैं।

अप्रगामी तरंगों का निर्माण ठीक उसी प्रकार का है जैसा कि ध्वनि-विज्ञान में हम तारों के कम्पन में पाते हैं। उसकी व्याख्या करने की आवश्यकता यहाँ नहीं है। केवल यही कह देना पर्याप्त है कि एक निष्पन्द से दूसरे निष्पन्द के बीच की दूरी आधे तरंग-दैर्घ्य के बराबर होती है। यदि तारों के दूरस्थ सिरे मुक्त हों अर्थात् आपस में जुड़े हुए न हों तो वहाँ प्रस्पन्द होता है। किन्तु यदि वहाँ इन्हें किसी तार के सेतु (bridge) के द्वारा जोड़ दें तो उस जगह निष्पन्द हो जाता है क्योंकि तार से जुड़े होने पर दोनों तारों में वहाँ कोई विभवान्तर नहीं रह सकता।

इन लेचर-तरंगों को प्रत्यक्ष करने के लिए बहुधा एक कांच की नली का प्रयोग किया जाता है जिसमें नियन (neon) अथवा अन्य कोई गैस बहुत ही थोड़े दबाव

पर भरी हो। ऐसी नली को विसर्जन-नली (discharge tube) कहते हैं। जब यह प्रस्पन्द पर रखी जाती है तब वहाँ का अधिक विभवान्तर इसमें धारा प्रेरित कर देता है जिससे इसमें की गैस प्रदीप्त हो उठती है। निष्पन्द पर इस नली में प्रकाश उत्पन्न नही होता क्योंकि वहाँ उस में धारा चलाने के लिए विभवान्तर है ही नहीं। अतः इस नली को हटा-हटा कर हम प्रस्पन्दों अथवा निष्पन्दों की दूरी नाप सकते हैं और इस प्रकार तरंग-दैर्घ्य नाप लिया जाता है।

26·09—**लेचर-तारों में अवमन्दन-हीन तरंगें**। त्रयोड वाल्व के द्वारा जो अवमन्दन हीन दोलन उत्पन्न होते हैं उनके द्वारा भी लेचर-तारों में तरंगें उत्पन्न की जा सकती हैं। इस दशा में तारों में जो प्रेरित दोलन होते हैं उनकी आवृत्ति वाल्व-दोलनों के बराबर होती है और तारों के प्रकृत दोलन दब जाते हैं। यदि प्रकृत दोलनों की आवृत्ति भी वाल्व-जानित आवृत्ति के बराबर हो तब अनुनाद होने के कारण इन दोलनों में प्रबलता अधिक हो जाती है। किन्तु अनुनाद न होने पर भी आवृत्ति वाल्व-जनित दोलनों की आवृत्ति के बराबर ही होती है। अतः इन तारों की सहायता से वाल्व के दोलनों की आवृत्ति नापी जा सकती है, क्योंकि यदि तरंगदैर्घ्य λ सम० हो तो

$$c = N.\lambda$$

जहाँ c = तरंगों का वेग और N = आवृत्ति। तरंग-वेग प्रकाश के वेग के बराबर अर्थात् 3×10^{10} सम० होता है। यह प्रयोगात्मक रीति से भी अच्छी तरह प्रमाणित कर दिया गया है। अतः

$$N = \frac{3 \times 10^{10}}{\lambda}.$$

26·10–**एरियल** (Aerial)। यह तो हम देख चुके हैं कि यदि किसी परिपथ के प्रेरकत्व तथा धारिता बहुत कम हों तो उसमें उच्च आवृत्ति के दोलन उत्पन्न हो सकते हैं और ये अत्यन्त उच्च-आवृत्ति के दोलन ही ईथर में विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें उत्पन्न कर सकते हैं। किन्तु एक बात और भी विचारणीय है। यदि यह दोलक परिपथ हर्ट्ज़ के संग्राही की कुंडली के समान निमीलित या पूर्ण हों तो उस में से ये तरंगें अधिक नहीं निकल सकतीं।

इसलिए जब हमें प्रबल विद्युत्-तरंगें उत्पन्न करना हो तो उन्मीलित दोलकों का व्यवहार करना चाहिए। हर्ट्ज़ का दोलक भी ऐसा ही उन्मीलित दोलक है। इसमें कुछ ऊर्जा तो तरंग के रूप में परिणत होकर निकल जाती है और कुछ उसके तारों में ऊष्मा-रूप में परिणत होकर नष्ट हो जाती है। अच्छा तरंग-प्रेषित्र (transmitter)

वह दोलक होगा जिसमें अधिक ऊर्जा तरंग का रूप धारण करे और बहुत ही थोड़ी ऊर्जा प्रतिरोध के विरुद्ध खर्च हो। इस दृष्टि से हर्ट्ज़ का दोलक बहुत अच्छा नहीं है क्योंकि उसमें स्फुल्लिंग-विच्छेद का प्रतिरोध बहुत अधिक होता है। तथापि वैद्युत-तरंगों के संचारण के लिए कुछ वर्ष पहिले तक इसी प्रकार का दोलक काम में आता था।

किन्तु जब विद्युत्-तरंगों को बहुत दूर तक भेजने का प्रयत्न किया जाने लगा तब इस दोलक में परिवर्तन भी आवश्यक हो गया। ऐसे परिवर्तनों में मारकोनी (Marconi) का उद्योग विशेष उल्लेखनीय है। इस विद्वान के प्रयत्नों ही से आज हम को इन तरंगो के द्वारा बिना तार के समाचार भेजने में इतनी सफलता प्राप्त हुई है।

मारकोनी ने तरंग-प्रेषित्र दोलक को जो रूप दिया वह चित्र 26·14 से समझ में आ जायगा। चित्र (1) में हर्ट्ज़ का दोलक ही ऊर्ध्वाधर रखा है। अन्तर यह
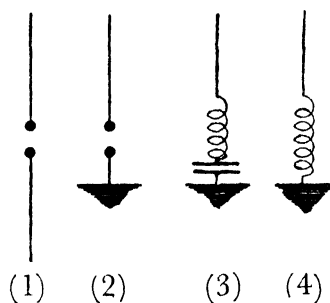
चित्र 26·14

है कि स्फुल्लिंग-विच्छेद के दोनों ओर बहुत लम्बे तार हैं। चित्र (2) में नीचे वाले तार को छोटा करके पृथ्वी से जोड़ दिया है। अतः अब नीचे वाले तार का स्थान पृथ्वी ने ले लिया है। किन्तु अब भी स्फुल्लिंग-विच्छेद के कारण प्रतिरोध बहुत अधिक है। चित्र (3) में यह स्फुलिंग-विच्छेद हटा दिया गया है और उसके स्थान में एक प्रेरकत्व तथा संघारित्र लगा दिये गये हैं। सघारित्र तो इन उच्च आवृति वाले दोलकों के लिए सुचालक हैं (अनु० 23·08)। चित्र (4) में संघारित्र भी हटा दिया गया है। अब इस दोलक का प्रतिरोध बहुत कम है। अतः इसमें से खूब प्रबल तरंगें उत्पन्न हो सकती हैं। इस प्रकार पृथ्वी से बहुत ऊँचे तक लम्बे तार को लगाकर जो तरंग-प्रेषित्र बनाया जाता है उसे एरियल (aerial) कहते हैं। इसका दूसरा नाम ऐन्टीना (antenna) भी है।

26·11—**एरियल की तरंगें**। जब यह एरियल हर्ट्ज़ के दोलक का ऊपर वाला अर्धांश है तो यह समझना कठिन नहीं कि इससे उत्पन्न तरंगों का आकार भी हर्ट्ज़ीय तरगों के अर्धांश के जैसा ही होगा। चित्र 26·02 मे आड़ी रेखा के ऊपर की ओर जो बल-रेखाओं का भाग है वही अब बच रहेगा। नीचे का भाग पृथ्वी मे लुप्त हो जायगा। वैद्युत रेखाएँ प्रायः ऊर्ध्वाधर होंगीं और उनके सिरे पृथ्वी से लगे हुए होंगे। जब ये अर्ध-वलय प्रकाश के वेग से गमन करते है तो ये सिरे भी पथ्वी के पृष्ठ पर उसी वेग से चलते हैं। जैसे लेचर-तरंगों में चालक तार वैद्युत-रेखाओं को अपनी दिशा में चलाते हैं ठीक उसी प्रकार पृथ्वी भी इन्हे अपने पृष्ठ पर चलाती है और इस कारण ये तरंगें पृथ्वी के वक्रतल के साथ-साथ मुड़ कर पृथ्वी की प्रदक्षिणा कर सकती है। यदि पृथ्वी से सम्बंध न होता तो दोलक से सीधी रैखा में चलकर थोड़ी ही दूर पर वे पृथ्वी के पृष्ठ से अलग हो जाती और तब अधिक दूर पर हम इन तरंगों से लाभ न उठा सकते। जल में चालकता पृथ्वी से अधिक होती है इस कारण यह भी स्पष्ट है कि समुद्र-पृष्ठ पर ये तरंगें अधिक अच्छी तरह चल सकती है।

साधारणतया एरियल का तार प्रायः 100 फ़ुट लम्बा होता है। किन्तु बहुधा यह चित्र 26·14 के समान ठीक ऊर्ध्वाधर नही लगाया जाता। इस प्रकार लगाने में हानि यह है कि सीधे एरियल से तरंगें चारों ओर समान भाव से फैलती है। यदि हमें किसी विशेष दिशा में तरंगें भेजना हो तो इसमें व्यर्थ ही बहुत सी ऊर्जा का व्यय होता है। अतः एरियल के अन्य भी कई रूप प्रचालित हो गये है। यद्यपि इन की विलक्षणताओं पर यहाँ विचार नहीं किया जा सकता किन्तु चित्र 26·15 में
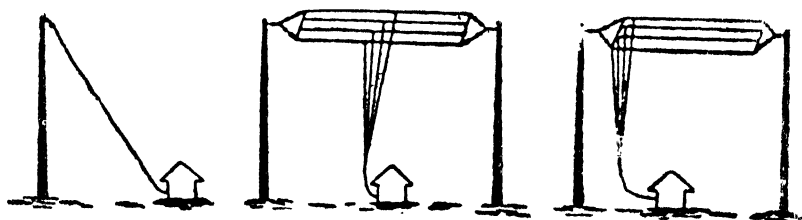
चित्र 26·15

इनके कुछ रूप दिखाये गये हैं। इनमें से तृतीय प्रकार का एरियल बहुत प्रचलित है किन्तु साधारणतया चार तारों के स्थान में केवल एक ही तार लगाया जाता है। इसकी तरंगें ऊपर वाले क्षैतिज तार की दिशा में दाहिनी से बांई ओर अधिक प्रबल होती हैं। ये एरियल ऊँचे खंभों से विलागित अवस्था में बंधे रहते हैं।

26·12—**एरियल और तरंगदैर्ध्य का सम्बंध**। एरियल के तार में कुछ धारिता होती है और कुछ प्रेरकत्व भी। ये उसकी लम्बाई, मोटाई तथा ऊँचाई पर निर्भर हैं। अतः समीकरण $N = \frac{1}{2\pi\sqrt{LC}}$ के अनुसार उसके दोलनों की भी कुछ निश्चित प्रकृत आवृत्ति होती है और उससे निकलने वाली तरंगों की लम्बाई भी निश्चित होती है। किन्तु प्रबल दोलक से युग्मित होने पर इसी एरियल में प्रणोदित दोलन (forced oscillations) भी उत्पन्न हो सकते हैं और अन्य लम्बाई की तरंगें भी प्रसारित हो सकती हैं।

26·13—**एरियल में दोलन उत्पन्न करने की सरल विधि**। एरियल में दोलन उत्पन्न करने के लिए उस विधि से काम नहीं चल सकता जिसका उपयोग हर्ट्ज़ीय दोलक के लिए किया गया था क्योंकि स्फुल्लिंग-विच्छेद के अभाव में प्रेरण-कुंडली की द्वैतीयिक के दोनों सिरों को अब हम एरियल से सम्बद्ध नहीं कर सकते। ऐसा करने से द्वैतीयिक लघुपथित हो जायगी। अतः चित्र 26·16 में प्रदर्शित विधि काम में आती है। इसमें प्रेरण कुंडली की द्वैतीयिक पहले एक स्फुल्लिंगमय दोलक परिपथ से सम्बद्ध होती है। इस परिपथ में एक संधारित्र **द** तथा एक प्रेरकत्व **ग घ** होता है। इसके साथ युग्मित करके एरियल में दोलन प्रेरित किये जाते हैं। युग्मन की भी दो विधियां हैं। एक स्वपरिणामित्र युग्मन (auto-transformer coupling) कहलाती है और दूसरी विद्युत्-चुम्बकीय अथवा ट्रान्सफ़ार्मर युग्मन (transformer coupling) (चित्र 26·17)।
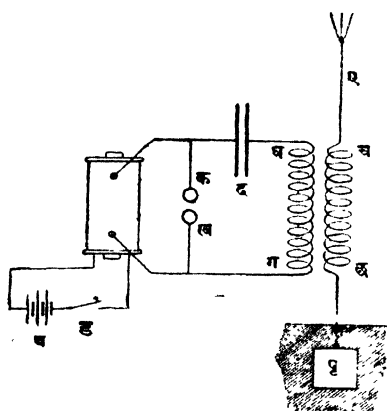
चित्र 26·16

स्वपरिणामित्र युग्मन में एक ही कुंडली के साथ एरियल का और दोलक कुंडली का सम्बंध रहता है। इस कुंडली का एक भाग दोलक परिपथ को प्रेरकत्व देता है और एक भाग एरियल को।

चित्र 26·17

ट्रान्सफार्मर-युग्मन में दो कुंडलियाँ लगाई जाती हैं। एक एरियल में और एक दोलक परिपथ में। इनका भी प्रेरकत्व ऐसा रखना पड़ता है कि अनुनाद हो सके। इस विधि में दो लाभ हैं। प्रथम तो दोनों कुंडलियों की दूरी या दोनों के बीच का कोण बदल कर युग्मन की प्रगाढ़ता बदली जा सकती है। दूसरे इस विधि में एरियल के दोलनों की ऊर्जा पुनः लौट कर दोलक परिपथ में अधिक नहीं प्रवेश कर सकती।

26·14—**एरियल में अवमन्दन-हीन अविरत तरंगों** (continuous waves) **की उत्पत्ति**। स्फुल्लिंग-मय परिपथ से युग्मित करने पर एरियल में अवमन्दित तरंगें उत्पन्न होती हैं जैसा चित्र 26·03 के दोलनों से स्पष्ट है। प्रत्येक स्फुल्लिंग से ऐसा ही एक अवमन्दित तरंग-समूह उत्पन्न होगा और प्रति सैकंड जितने स्फुल्लिंग पैदा होंगे उतने ही तरंग-समूह भी उत्पन्न होंगे। किन्तु यदि परिपथ में स्फुल्लिंग न हो और इसमें त्रयोड वाल्व की विधि से उच्च आवृत्ति के दोलन उत्पन्न किये जावें तो स्पष्ट है कि एरियल में से अविरत तरंगें उत्पन्न होंगी। चित्र 26·18 में यह विधि दिखलाई गई है। इसमें वाल्व के धनाग्र-परिपथ में
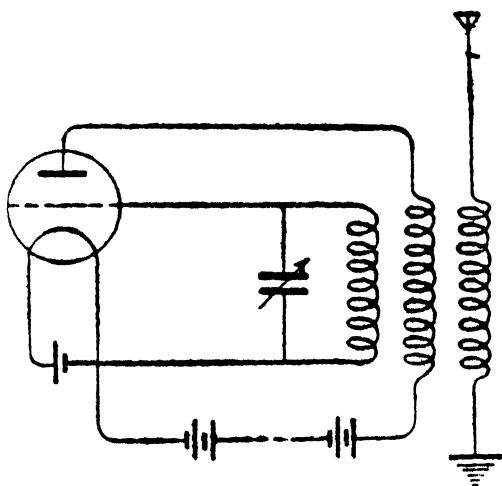
चित्र 26·18

चित्र 25·12 के समान ही दोलन उत्पन्न होते हैं। यही दोलन तीसरी कुंडली के द्वारा एरियल में पहुँचाये जाते हैं। अविरत तरंगों के उत्पन्न करने का यही सबसे अच्छा उपाय प्रमाणित हुआ है।

26·15—तरंग-संग्राही (Receiver) या परिचायक (Detector)। जब तक विद्युत्-तरंगें दोलक से बहुत दूर नही जातीं तब तक तो उनके अस्तित्व का पता लगाना अधिक कठिन नहीं है। हर्ट्ज़ ने जिस विधि का उपयोग किया था वही यथेष्ट है। किन्तु जब अधिक दूर पर इन तरगों को ग्रहण करना हो तब विशेष प्रकार से सुग्राही उपकरणों की आवश्यकता होती है। ऐसे उपकरणों को संग्राही कहते हैं।

इनमें से एक पुराना उपाय कोहियरर (coherer) के नाम से प्रसिद्ध है (चित्र 26·19)। कोहियरर में दो निकल के विद्युदग्र एक काँच की नली में लगा दिय जाते हैं और उनके बीच में निकल या अन्य धातु का बुरादा भर दिया जाता है। इसको सैल तथा धारामापी अथवा बिजली की घंटी से श्रेणीबद्ध कर देते हैं। बुरादे का प्रतिरोध इतना अधिक होता है कि उसमे से धारा साधारणतया नहीं चलती। जब वैद्युत तरंग प्रेषित्र एरियल के समान ही किसी दूसरे संग्राही एरियल पर पहुँचकर उसमें दोलन उत्पन्न करती है तब यदि यह कोहियरर उस एरियल परिपथ में श्रेणीबद्ध हो तो इस का प्रतिरोध बहुत घट जाता है और सैल इसमे से धारा अच्छी तरह प्रवाहित करके घंटी बजा देती है अथवा धारामापी की सुई को घुमा देती है। इसी उपाय से 1854 में सर आलिवर लाज (Oliver Lodge) ने तथा 1896 में रदरफ़ोर्ड (Rutherford) ने तथा उसके बाद मारकोनी ने कई मीलों तक इन तरंगों का प्रभाव देख लिया था।

चित्र 26·19

इस सम्बंध में यह बात स्मरण रखना चाहिए कि संग्राही एरियल या उससे युग्मित किसी दूसरे अनुनादी दोलक परिपथ में सुग्राही दिष्ट-धारामापी लगा कर उसके दोलनों का पता नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि दोलनों की धारा प्रत्यावर्ती होती है। ताप-संधि (thermo-junction) वाले धारामापी अवश्य काम में आ सकते हैं।

यद्यपि प्रत्यावर्ती धारा के लिए टेलीफ़ोन भी अत्यन्त सुग्राही यंत्र है किन्तु वह भी इन तरंगों के काम का नहीं, क्योंकि प्रथम तो उसके विद्युत्-चुम्बक का चुम्बकत्व इतनी उच्च आवृत्ति के साथ दोलन नहीं कर सकता, दूसरे उसका लोह-पत्र इतनी आवृत्ति से कम्पन करने में असमर्थ है और तीसरे यदि यह भी किसी उपाय से सम्भव हो सके तो हमारा कान उससे उत्पन्न शब्द को सुन नहीं सकेगा। हाँ यदि कोई ऐसा उपाय हो कि इन दोलनों की प्रत्यावर्त्ती धारा का एक-दैशिक भाग ही टेलीफ़ोन में से जाय तो अवश्य वह काम कर सकता है। ऐसे दिष्ट-कारी (rectifying) उपायों का

वर्णन करने के पहिले यह बात ठीक-ठीक समझ लेना आवश्यक है कि टेलीफ़ोन इतनी आवृत्ति की धारा से शब्द कैसे उत्पन्न कर सकता है।

मान लीजिये कि तरंग-जनित दोलन चित्र 26·20 (i) के समान हैं। दिष्ट-कारी उपाय के द्वारा जो धारा टेलीफ़ोन मे से जायगी वह चित्र (ii) में प्रदर्शित है। यह धारा दिष्ट होने पर भी आन्तरयिक है किन्तु टेलीफ़ोन इसकी आवृत्ति का अनुसरण नही कर सकता। जितनी देर यह धारा उसमे से चलेगी उतनी देर तक धारा
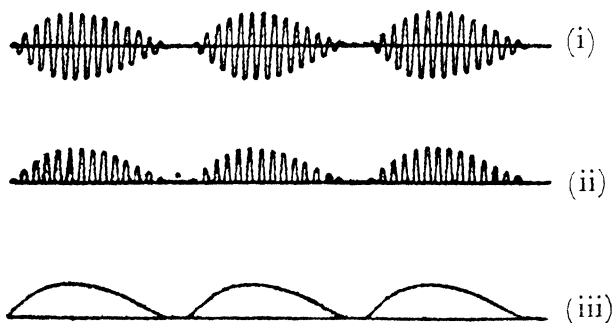
चित्र 26·20

का जो औसत परिमाण होगा उसी के अनुसार उसका लोह-पत्र खिच जायगा और उस खिची हुई अवस्था ही में वह स्थित रहेगा। चित्र (iii) में इस औसत धारा का लेखाचित्र है। अब यदि प्रति सैकड 500 तरंग-समूह (wave-groups) संग्राही एरियल पर पहुँचे तो टेलीफोन का लोहपत्र भी 500 बार खिचेगा जिससे 500 की आवृत्ति का सुर उसमें से निकल कर हमें सुनाई देने लगेगा। यह स्पष्ट है कि इस सुर का तरंगों की आवृत्ति से कुछ भी सम्बंध नहीं है। इसका सम्बंध है तरंगसमूहों की संख्या से। यह संख्या प्रेपित्र की प्रेरणा कुंडली के प्राथमिक परिपथ के उन्मीलनों की संख्या पर निर्भर है क्योंकि जितनी बार इस प्राथमिक धारा का उन्मीलन होगा उतनी ही बार द्वैतीयिक मे स्फुल्लिंग पैदा होगा और उतने ही तरंग-समूह प्रेपित्र से चलेंगे।

यदि प्रेषित्र से अविरत तरंग चले तो टेलीफोन में कोई शब्द नहीं सुनाई देगा क्योंकि ऐसी दशा में धारा का औसत परिमाण सर्वथा स्थिर रहेगा और टेलीफ़ोन का लोह-पत्र कम्पन न कर सकेगा। हाँ, जब-जब तरंगों को रोक दिया जायगा, या उन्हें पुनः चलाया जायगा तब-तब टेलीफ़ोन में एक खटका अवश्य सुनाई देगा।

26·16—**क्रिस्टल परिचायक** (Crystal Detector)। दोलित धारा को दिष्ट करने के लिए एक प्रसिद्ध उपाय क्रिस्टल दिष्ट-कारी (crystal rectifier) कहलाता है। इसमें किसी क्रिस्टल को धातु की नोक से स्पर्श करा देते हैं और इस संधि में से दोलित धारा चलाई जाती है। यह संधि उस धारा के एक दिशा वाले भाग को तो निकल जाने देती है किन्तु दूसरी दिशा वाले भाग को रोक लेती है। इसका कार्य समझने के लिए पहले यह जानना आवश्यक है कि इस संधि के प्रतिरोध का मान अन्य चालकों के समान स्थिर नहीं रहता अर्थात् इस में चलने वाली धारा ओह्म के नियम का पालन नहीं करती। इसका कारण सम्भवतः यह है कि धारा के चलने पर संधि कुछ गरम हो जाती है और वहाँ कुछ ताप-वैद्युत विभवान्तर उत्पन्न होता है। जो भी हो परिणाम यह होता है कि यदि इस संधि पर लगने वाला वि०वा०ब० क्रमशः बढ़ाया जाय तो धारा जिस प्रकार बढ़ती है वह लेखा-चित्र 26·21 में
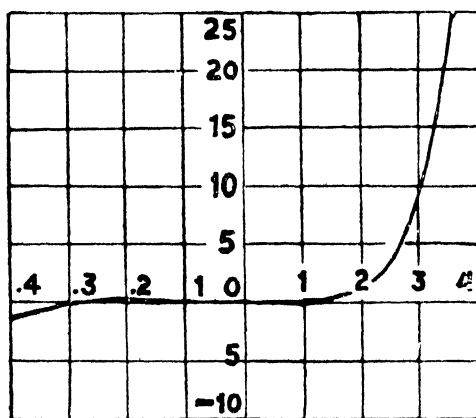
चित्र 26·21

दिखलाया गया है। यह चित्र कारबोरंडम (carborundum) क्रिस्टल और इस्पात की नोक की संधि के लिए है। किसी समय यही संधि इस काम के लिए अधिक काम में आती थी।

अब मान लीजिये कि इस क्रिस्टल-संधि पर हमने किसी सैल के द्वारा 2·0 वोल्ट का वि० वा० ब० लगा दिया। तरंग-जनित दोलन के कारण मान लीजिये कि विभवान्तर +1·5 वोल्ट और −1·5 वोल्ट के बीच में दोलन करता है। अतः दोनों का सम्मिलित विभवत्व इस संधि पर 0·5 से 3·5 के बीच में दोलन करेगा।

0·5 से 2·0 वोल्ट तक तो धारा में प्रायः कुछ भी परिवर्त्तन न होगा किन्तु 2·0 से 3·5 वोल्ट तक उसमें बहुत अधिक परिवर्त्तन हो जायगा। अतः स्पष्ट है कि तरंग-दोलनों के एक ही भाग का इस की धारा पर असर होगा।

चित्र 26·22 में क्रिस्टल-संधि लगाकर जो संग्राही बनाया जाता है उसके सम्बंधन दिखलाये गये हैं। संधारित्र इस चित्र में समंजनीय है ताकि एरियल तथा दोलक
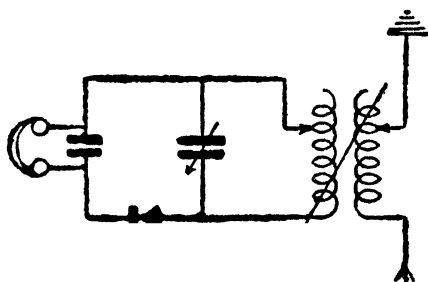
चित्र 26·22

परिपथ की प्रकृत आवृत्ति को आने वाली तरंगों की आवृत्ति के बराबर कर ली जाय और अनुनाद हो सके।

26·17—**त्रयोड-संग्राही** (Triode Receiver) त्रयोड वाल्व के द्वारा यह कार्य और भी अच्छी तरह संपन्न होता है। अनु० 25·06 में यह बताया गया था कि इस वाल्व के धनाग्र-परिपथ (anode-circuit) में धारा एक ही दिशा में
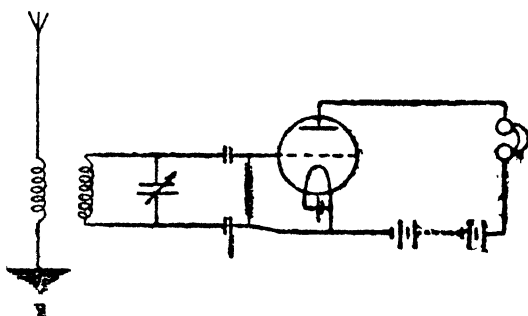
चित्र 26·23

चलती है. क्योंकि उसके उत्तप्त तन्तु में से इलैक्ट्रान निकल कर धनाग्र पर पहुँच सकते हैं किन्तु विपरीत दिशा में वे नहीं चल सकते। चित्र 25·15 में इसका लाक्षणिक वक्र (characteristic curve) भी दिखाया जा चुका है।

चित्र 26·23 में इस संग्राही के संबंधन दिखलाये गये हैं। वाल्व की जाली या ग्रिड (grid) एक संधारित्र के द्वारा दोलक-परिपथ से जोड़ दिया गया है और धनाग्र-तन्तु परिपथ में टेलीफ़ोन लगा दिया गया है। ग्रिड को भी एक अत्यन्त
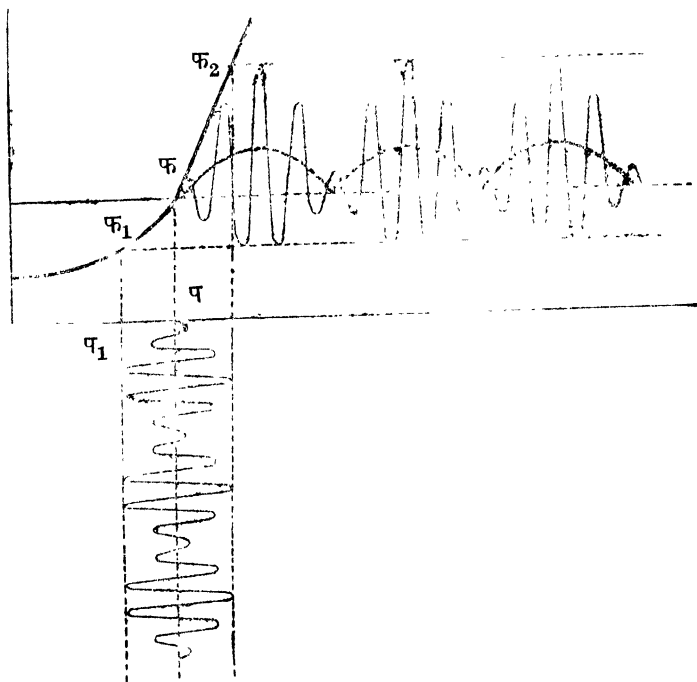
चित्र 26·24

उच्च-प्रतिरोध के द्वारा तन्तु से जोड़ दिया गया है। ग्रिड-बैटरी से ग्रिड पर इतना विभव V_g लगाया गया है कि चित्र 26·24 के चित्र में वह विन्दु **प** के द्वारा व्यक्त हो। चित्र में क्षैतिज दिशा में V_g-अक्ष है और दूसरी अक्ष धनाग्र-धारा i_p की है। ग्रिड-विभव **प** पर i_p=**पफ** है।

जो तरंगें चित्र 26·23 के एरियल पर पड़ती हैं वे उससे युग्मित दोलन-परिपथ में दोलन करती हैं। इससे ग्रिड-विभव भी दोलन करता है। लेखा-चित्र में ये दोलन **प**$_1$ और **प**$_2$ के बीच में होते हैं और नीचे की तरफ दिखाये हुए हैं। अतः जब V_g=**प**$_1$ हो तब i_p=**प**$_1$**फ**$_1$ होगा और जब V_g=प$_2$ हो तब i_p=**प**$_2$**फ**$_2$ होगा। स्पष्ट है कि जब V_g घटता है तब i_p में कमी **पफ**—**प**$_1$**फ**$_1$ थोड़ी होती है किन्तु जब

V_g बढ़ता है तब i_p में वृद्धि **प$_2$फ$_2$—पफ** बहुत अधिक होती है। अतः अब i_p का औसत मान **पफ** की अपेक्षा बढ जाता है और दोलनों के कारण उस का औसत मान विन्दुमय वक्र के द्वारा व्यक्त होगा। यह टेलीफ़ोन में भी कम्पन पैदा कर देगा। ध्यान देने की बात यह है कि यह क्रिया तभी हो सकेगी जब विन्दु **फ** लाक्षणिक वक्र के मोड़ के पास होगा। यदि वह लाक्षणिक-वक्र के सरल-रेखात्मक भाग पर हो तो i_p की कमी और वृद्धि बराबर होगी और औसत मान अपरिवर्तित ही रहेगा। इस दशा में टेलीफ़ोन मे कोई शब्द सुनाई न देगा।

ग्रिड से जो उच्च-प्रतिरोध संबंधित है उसका कार्य यह है कि वाल्व-तन्तु के जो इलैक्ट्रान ग्रिड मे प्रवेश कर जाते हैं वे उस प्रतिरोध में होकर पुनः तन्तु में पहुँच जावें और ग्रिड-विभव को स्थायी रूप से बदल न सकें।
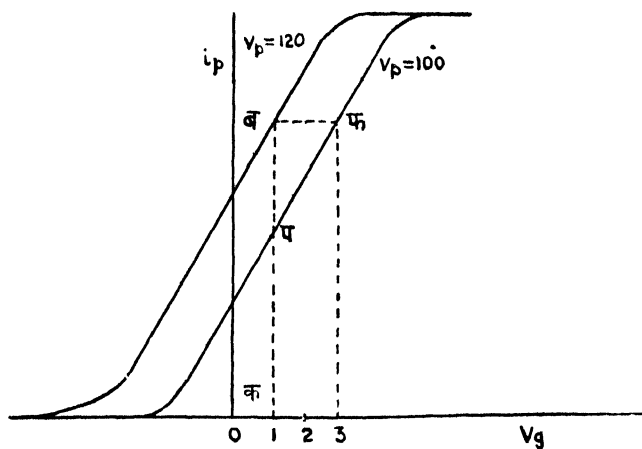
चित्र 26·25

26·18–प्रवर्धन (Amplification)। त्रयोड-वाल्व में एक और महत्वपूर्ण गुण यह है कि इसके द्वारा ग्रिड में होने वाले क्षीण दोलन प्रवर्धित होकर धनाग्र-परिपथ में प्रबल रूप में प्रगट होते हैं।

यह कार्य समझने के लिए चित्र 26·25 के लाक्षणिक-वक्रों को देखिये। ये दो वक्र ऐसे खीचे गये हैं कि इन में धनाग्र-विभव क्रमशः 100 और 120 वोल्ट हैं। अब मान लीजिये कि किसी समय ग्रिड-विभव 1 वोल्ट है और धनाग्र-विभव 100 वोल्ट तथा i_p=**कप** है। यह अवस्था विन्दु **प** द्वारा व्यक्त की गई है। अब यदि V_g को स्थिर रखकर धनाग्र-विभव बढ़ाकर 120 वोल्ट कर दें तो i_p बढ़कर **कब** हो जायगी

किन्तु धनाग्र-विभव को 100 वोल्ट ही रखकर भी i_p को हम उतना ही बढ़ा सकते हैं। इसके लिए V_g को बढ़ाकर 3 वोल्ट करना पड़ेगा (बिन्दु **फ**)। अर्थात् V_g को 2 वोल्ट बढाने का धनाग्र-धारा i_p पर ठीक उतना ही असर होता है जितना कि V_p को 20 वोल्ट बढाने का। अत: हम कह सकते है कि V_g में 2 वोल्ट की वृद्धि V_p मे 20 वोल्ट की वृद्धि के बराबर है। ग्रिड में होने वाले दोलनों का आयाम (amplitude) यदि 2 वोल्ट हो तो धनाग्र-परिपथ में 20 वोल्ट आयाम के दोलन उत्पन्न हो जावेंगे। इस प्रकार i_p में बराबर वृद्धि करने के लिए आवश्यक dV_p और dV_g के अनुपात को प्रवर्धन-गुणांक (amplification factor) μ कहते हैं।

$$\mu = \frac{dV_p}{dV_g}$$

उपर्युक्त उदाहरण म $$\mu = \frac{20}{2} = 10$$

दोलनों का आयाम बढाने के कारण यह वाल्व प्रवर्धक (amplifier) कहलाता है।

यह प्रवर्धन उत्तरोत्तर कई बार किया जा सकता है। यदि पहिले वाल्व से प्रवर्धन 10 गुणा होता हो तो उसके धनाग्र-परिपथ के दोलनों को ऐसे ही दूसरे वाल्व के द्वारा और 10 गुणा प्रवर्धित किया जा सकता है। अर्थात् अब वे मूल दोलनों से 100 गुणे प्रवर्धित हो जावेंगे। तीन वाल्व से 1000 गुणा प्रवर्धन प्राप्त हो सकेगा।

26·19—**प्रवर्धनकारी वाल्वों के युग्मन** (coupling) **की विधि।** जब एक से अधिक वाल्व प्रवर्धन के लिए काम में लाना हो तो उन्हे परस्पर युग्मित करना पड़ता है। इसकी दो मुख्य विधियाँ है :—

(1) **ट्रान्सफ़ार्मर-युग्मन** (Transformer Coupling)।

यह चित्र 26·26 में प्रदर्शित है। **प्रथम वाल्व** के धनाग्र-परिपथ में ट्रान्सफ़ार्मर
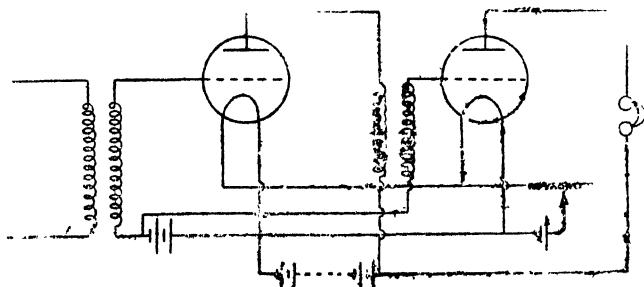
चित्र 26·26

की प्राथमिक कुंडली है। द्वैतीयिक कुंडली दूसरे वाल्व के ग्रिड से जोड़ दी गई है।

अतः प्रथम वाल्व के धनाग्र के प्रवर्धित दोलन ट्रान्सफ़ार्मर द्वारा द्वितीय वाल्व के ग्रिड में दोलन उत्पन्न कर देते है और उसके धनाग्र-परिपथ में और भी अधिक प्रवर्धित रूप में प्रगट होते हैं।

यदि दोलनों की आवृत्ति प्रायः 10000 से अधिक न हो तब तो इस युग्मक ट्रान्सफार्मर का क्रोड़ लोहे का होता है किन्तु यदि दोलनों की आवृत्ति अत्यन्त उच्च हो तो वायु-क्रोड़ ट्रान्सफार्मर ही काम में आ सकते हैं। ट्रान्सफ़ार्मर की द्वैतीयिक कुंडली के फेरों की संख्या प्राथमिक की अपेक्षा अधिक करके भी कुछ प्रवर्धन बढ़ाया जा सकता है।

(2) **संधारित्र-युग्मन** (Condenser Coupling)।

चित्र 26·27 में युग्मन की दूसरी विधि प्रदर्शित है। इसमें प्रथम-वाल्व का धनाग्र-परिपथ एक संधारित्र के द्वारा दूसरे वाल्व के ग्रिड से जुड़ा है। उच्च
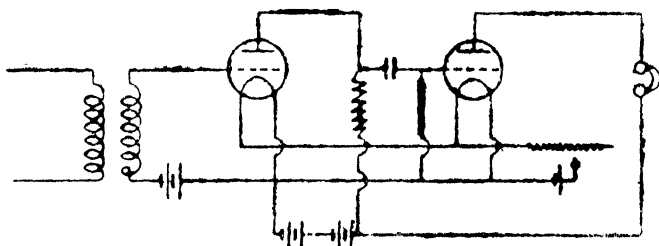
चित्र 26·27

आवृत्ति वाले दोलनों के लिए इस संधारित्र का प्रतिरोध बहुत कम होता है। अतः वे दोलन तो दूसरे वाल्व के ग्रिड में प्रवेश कर जाते हैं। किन्तु प्रथम वाल्व के धनाग्र पर जो धनाग्र-बैटरी का विभव होता है वह उस ग्रिड पर नहीं पहुँच पाता।

26·20—**प्रवर्धन के लिए आवश्यक ऊर्जा** (Energy for Amplification)। यह तो प्रगट है कि दूर से आने वाली तरंग से तो प्रवर्धक को बहुत ही थोड़ी ऊर्जा प्राप्त हो सकती है और उससे ग्रिड में अत्यन्त क्षीण दोलन ही उत्पन्न हो सकते हैं। धनाग्र-परिपथ के प्रवर्धित दोलनों की ऊर्जा तरंग से नहीं प्राप्त हो सकती। वह धनाग्र से संलग्न बैटरी में से प्राप्त होती है क्योंकि इसी बैटरी में से प्रवाहित होने वाली धारा की प्रबलता बढ़ जाती है। जितना अधिक प्रवर्धन होगा उतनी ही अधिक ऊर्जा इस बैटरी में से खर्च होगी।

26·21—**प्रबल संग्राही** (Powerful Receiver)। उपर्युक्त प्रवर्धन तथा दिष्ट-कारी क्रियाओं का उपयोग कर तथा वाल्वों की संख्या बढ़ाकर अनेक प्रकार

के प्रबल संग्राही बनाये गये हैं। उन सबका वर्णन यहाँ असम्भव है। केवल एक सरल प्रकार के संग्राही का परिपथ-चित्र यहाँ दिया जाता है (चित्र 26·28)। इसमें
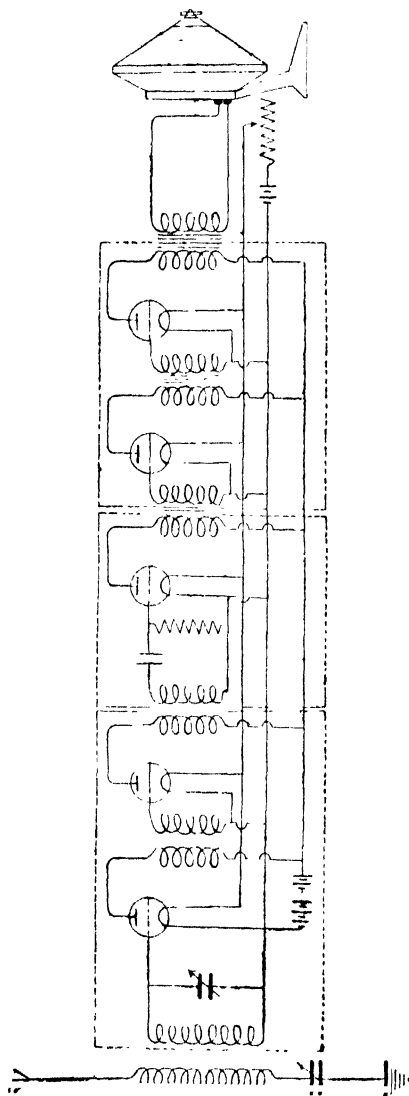
चित्र 26·28

पहिले दो वाल्व तो आपतित तरंग के उच्च-आवृत्ति वाले दोलनों का प्रवर्धन करते हैं। तीसरा वाल्व दिष्ट-कारी है। अंतिम दो वाल्व तीसरे वाल्व के धनाग्र की औसत

दिष्ट-धारा में जो श्रव्य-आवृत्ति (audio-frequency) की घट-बढ़ होती है उसका प्रवर्धन करते हैं। टेलीफ़ोन की जगह लाउडस्पीकर (loudspeaker) लगा दिया गया है ताकि बहुत से मनुष्य एक ही साथ सुन सकें। इस संग्राही के द्वारा सहस्रों मील दूर से आई हुई तरंगों का संग्रहण अच्छी तरह हो सकता है।

26·22—**चतुरोड** (Tetrode) **तथा पंचोड** (Pentode) **वाल्व।** त्रयोड वाल्व में केवल एक ग्रिड होता है। किन्तु अब दो और तीन ग्रिड लगाकर भी वाल्व बनाये गये हैं। इन्हें क्रम से चतुरोड तथा पंचोड कहते हैं क्योंकि इनमें विद्युदग्रों की संख्या तीन के स्थान में चार तथा पाँच होती है। इनका प्रवर्धन-गुणांक बहुत अधिक 100-150 तथा इससे भी अधिक होता है। अतः एक ही वाल्व से कई त्रयोड वाल्वों का काम लिया जा सकता है और संग्राही का विस्तार बहुत कम हो जाता है। इसके अतिरिक्त अब ऐसे भी वाल्व बनाये जाते हैं जिनमें एक ही काँच के गोले में दो या अधिक वाल्वों के ग्रिड तथा धनाग्र लगा दिये जाते हैं। इससे जगह की और भी बचत हो जाती है।

26·23—**हैटेरोडाइन-संग्राही** (Heterodyne Receiver)। अत्यन्त क्षीण तरगों के संग्रहण के लिए एक और प्रकार का संग्राही बनाया गया है जो और भी अधिक प्रबल होता है। उसे हैटेरोडाइन संग्राही कहते हैं। इसमें पहिले तो आपतित तरंगों की उच्च आवृत्ति को बदल कर कुछ कम आवृत्ति वाले दोलन उत्पन्न किये जाते हैं। यह आवृत्ति भी श्रव्य-आवृत्ति से बहुत ऊँची होती है। इसे मध्यम आवृत्ति (intermediate frequency) कहते हैं। इसकी आवश्यकता यों होती है कि उच्च-आवृत्ति वाले दोलनों का प्रवर्धन बहुत नही किया जा सकता। अतः पहिले यथा संभव प्रवर्धन करके उन्हें मध्यम-आवृत्ति वाले दोलनों में परिवर्तित कर लिया जाता है और तब उनका पुनः प्रवर्धन किया जाता है। यही कारण था कि चित्र 26·28 के संग्राही में भी सब प्रवर्धन उच्च आवृत्ति वाले दोलनों में नहीं किया गया था और थोड़ा प्रवर्धन इनमें तथा थोड़ा श्रव्य-आवृत्ति वाले दोलनों में किया गया था।

आवृत्ति बदलने की विधि यह है कि इस संग्राही में भी एक उच्च-आवृत्ति-दोलक लगा दिया जाता है। इसके दोलनों और आपतित तरंगों के दोलनों की आवृत्ति में बहुत थोड़ा अन्तर होता है। जिस प्रकार लगभग बराबर आवृत्ति वाली दो ध्वनि-तरंगों के द्वारा विष्पन्दन (beat) उत्पन्न होता है और हमें ध्वनि की तीव्रता में घट-बढ़ सुनाई देती है ठीक उसी प्रकार इन दो वैद्युत दोलनों के कारण भी वैद्युत विष्पन्दन उत्पन्न हो जाता है। इस विष्पन्दन की आवृत्ति दोनों दोलनों की आवृत्तियों के अन्तर के बराबर होती है। यदि तरंग की आवृत्ति 10^6 हो और संग्राही के स्थानीय दोलनों

की आवृत्ति 9×10^5 या $1 \cdot 1 \times 10^6$ हो तो प्रत्यक्ष है कि विष्पन्दन की आवृत्ति केवल 10^5 ही होगी। यही मध्यम-आवृत्ति है जो यह संग्राही उत्पन्न कर देता है।

इस स्थानीय दोलक की आवृत्ति उसके संधारित्र का समंजन करने से इच्छानुसार बदली जा सकती है। अतः आपतित तरंग की आवृत्ति चाहे जो हो हम विष्पन्दन सदा किसी नियत आवृत्ति का उत्पन्न कर सकते हैं। यह मध्यम-आवृत्ति नियत रहने के कारण इसका प्रवर्धन बहुत अधिक तथा विकार रहित किया जा सकता है। अतः इस उपाय से संग्राही इतने प्रबल बन सकते हैं कि हजारों मील दूर से आने वाली क्षीण तरंगो को ग्रहण करने के लिये लम्बे और ऊँचे एरियल की भी आवश्यकता नही रहती और कमरे के अन्दर ही 8-10 फुट लम्बे छोटे से एरियल से काम चल जाता है। आजकल बाजार में जो अच्छे रेडियो-संग्राही बिकते हैं उन सब में हैटेरोडाइन विधि ही का प्रयोग होता है।

26·24—**तरंग-दैर्घ्य** (Wave-length)। वैद्युत तरगों में भी ध्वनि-तरंगों तथा अन्य सभी प्रकार की तरगों के समान तरग-दैर्घ्य λ और तरंग-वेग c तथा आवृत्ति N मे निम्न सम्बन्ध होता है।

$$c = N\lambda$$

ऊपर बताया जा चुका है कि $c = 3 \times 10^{10}$ सम० प्रति सैकंड और जिन दोलनों से वैद्युत तरंगे उत्पन्न होती हैं उनकी आवृत्ति साधारणतः 2×10^4 से 10^7 तक होती है। अतः तरंग-दैर्घ्य 15 से 30000 मीटर तक होता है। प्राय. 100 मीटर से कम दैर्घ्य वाली तरंगे छोटी तरंगें (short waves) कहलाती हैं। प्राय· 500 मीटर दैर्घ्य तक उन्हे माध्यमिक तरंगें (medium waves) तथा इससे अधिक दैर्घ्य वाली तरंगों को लम्बी तरंगें (long waves) कहते हैं।

किन्तु उपर्युक्त दैर्घ्यों से अधिक और कम लम्बाई की तरंगे भी बनाई जा सकती हैं। अब तो कई कामों के लिए 1 सम० दैर्घ्य वाली तथा इससे भी छोटी अत्युच्च-आवृत्ति (ultra-high frequency) वाली अतिक्षुद्र तरंगें (ultra-short waves or micro-waves) भी उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त हो गई है।

26·25—**तरंगों का आयाम** (Amplitude of Waves)। सीधे ऊर्ध्वाधर तार के एरियल से तरंगें चारो ओर फैलती हैं। ज्यों-ज्यों वे एरियल से दूर होती जाती है त्यों-त्यों उनका आयाम घटता जाता है। अतः 10 किलोवाट की शक्ति के दोलनों से भी पृथ्वी पर 100-200 मील से अधिक दूरी पर इन का आयाम साधारण संग्राही से संग्रहण के लायक नहीं रहता। यह आयाम और भी अधिक शक्तिशाली दोलनों के द्वारा बढ़ाया जा सकता है।

एरियल की आकृति बदल कर तरंगे किसी दिशा विशेष में भी भेजी जा सकती है और तब वे और भी अधिक दूर तक संग्राही पर अपना प्रभाव उत्पन्न कर सकती है। यह बताया जा चुका है कि ये सीधी रेखा मे नही चलती और पृथ्वी की चालकता के कारण ये उसके वक्र पृष्ठ का अनुसरण कर सकती है।

किन्तु छोटी तरंगे सीधी रेखा मे ही चलती है। प्रारम्भ मे जब इन्हें उत्पन्न करने की विधि मालूम हुई थी तब तो ये पृथ्वी-तल पर बहुत थोड़ी ही दूर तक पहुँच पाती थी। पृथ्वी की वक्रता के कारण वे पृथ्वी-तल को छोड़कर आकाश में चली जाती थी। बाद मे पता चला कि वे माध्यमिक तरंगों की अपेक्षा बहुत अधिक दूरी तक भी पहुँच जाती हैं किन्तु बीच मे बहुत सा पृथ्वी का ऐसा भाग छूट जाता है जहा ये नही पहुँच पाती। इसका कारण अगले अनुच्छेद में बताया जायगा।

अति-सूक्ष्म तरंगे तो बहुत ही सीधी रेखा में गमन करती है। अतः वे तो पृथ्वी तल पर 30-40 मील से अधिक पहुँच ही नही सकती।

26·26—**आयन-मंडल** (Ionosphere)। कई प्रयोगों के द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि पृथ्वी से बहुत ऊँचे पर वायु के अणु आयनित हो जाते है। कम दबाव तथा सूर्य की परा-बैंगनी (ultra-violet) किरणो के कारण ये अणु टूटकर आविष्ट आयनो (ions) का रूप ले लेते है। अतः उस ऊचाई पर वायु विद्युत् के लिए सुचालक हो जाती है। वायु के इस आयनित स्तर का नाम हैवीसाइड-स्तर (Heaviside layer) है। वस्तुतः इस स्तर के भी कई भाग है जो विभिन्न ऊँचाइयों पर स्थित हैं। किन्तु उन सबका वर्णन करने का यहाँ कुछ प्रयोजन नही है। हमे तो केवल यह देखना है कि इन स्तरों का वैद्युत तरंगों पर क्या असर होता है।

यह पहले बताया जा चुका है कि सुचालक पट्टिका पर आपतित होने से ये तरंगें परावर्तित हो जाती है। अतः जब ये तरंगे पृथ्वी तल से ऊपर उठ कर आकाश में जाती हैं तो हैवीसाइड स्तर पर पहुँच कर ये परावर्तित हो जाती हैं और पुनः पृथ्वी की ओर लौट आती है। लम्बी तरंगों का तो परावर्तन इतना नही होता किन्तु सरल-रेखा-गामी छोटी तरंगों का अच्छा परावर्तन हो जाता है। चित्र 26·29 में यह स्तर और तरगों का परावर्तन दिखाया गया है। यही कारण है कि छोटी तरंगें बहुत दूर पर पृथ्वी-तल पर पुनः प्रगट हो जाती हैं। कई बार परावर्तित होकर ये पूरी पृथ्वी की परिक्रमा भी कर सकती है।

अब यह समझना भी कठिन नहीं कि पृथ्वी पर कई स्थान ऐसे भी होंगे जहाँ पृथ्वी-तल से संलग्न चलने वाली भौम-तरंग (ground wave) तथा परावर्तित आकाशी-तरंग (sky-wave) एक ही साथ पहुँच जावें। यहां इन दोनों तरंगों में

कुछ कलान्तर (phase-difference) भी होगा क्योंकि दोनों तरंगों के पथों की लम्बाइयाँ भिन्न-भिन्न होंगी। यदि यह कलान्तर π का हो तो व्यतिकरण के द्वारा वहां तरंग-आयाम का लोप हो जायगा और संग्राही को तरंगों के अस्तित्व का कुछ भी पता न चल सकेगा। पृथ्वी पर जितनी दूर तरंगों का ऐसा अभाव मालूम होता है उसे (skip distance) कहते हैं।
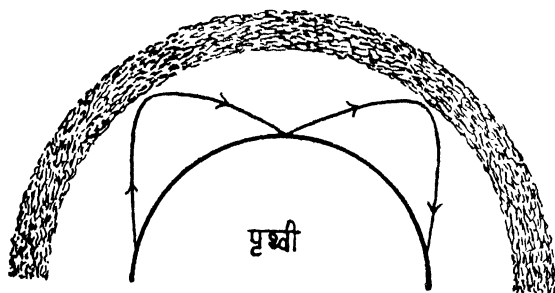
चित्र 26·29

26·27—**रेडार** (Radar)। पिछले कुछ वर्षो में अति-सूक्ष्म तरंगों के आविष्कार ने मनुष्य के हाथ मे बड़ी आश्चर्यजनक शक्ति प्रदान कर दी है। प्रकाश किरणों ही की भांति ये 1 सम० तरंग-दैर्घ्य वाली तरंगे सरल-रेखा मे गमन करती हैं और बहुत छोटी-छोटी चालक वस्तुओं से भी इनका नियमित परावर्तन हो सकता है। ये इच्छानुसार दिशा मे यथार्थता पूर्वक ठीक उसी प्रकार चलाई भी जा सकती है जिस प्रकार प्रकाश की किरणे। और जिस प्रकार टार्च से फेंका हुआ प्रकाश रात्रि में किसी वस्तु पर पड़कर और वहाँ से परावर्तित होकर हमारे नेत्रों मे पहुँचकर हमें उस वस्तु की उपस्थिति का ज्ञान करा देता है उसी प्रकार हम इन अति-सूक्ष्म तरंगों के द्वारा अंधकार मे भी दूरस्थ वस्तु की उपस्थिति का ज्ञान प्राप्त कर सकते है। इसके अतिरिक्त ऐसे भी उपाय अब मालूम हो गये है कि तरंग को प्रेपित्र से चलकर उस वस्तु से परा-वर्तित होकर पुनः हमारे पास पहुँचने में जितना समय लगता है उसका भी यथार्थता पूर्वक नाप किया जा सकता है। अतः उस वस्तु की दूरी भी ठीक-ठीक मालूम हो जाती है। यही क्यों। एक चित्र-पट पर उस वस्तु की स्थिति और गति आदि का हमें प्रत्यक्ष दर्शन भी हो सकता है। युद्ध में शत्रु के वायुयानों को इस प्रकार अंधकार में भी बहुत दूर ही से देखकर उनके हमले का निवारण करने का उपाय किया जा सकता है। यहाँ तक कि उन वायुयानों को नष्ट करने के लिये तोपें भी इन तरंगों के

द्वारा स्वतः ठीक निशाने पर गोले फेंक सकती हैं। जिस यंत्र से अति-सूक्ष्म तरंगों के द्वारा वस्तुओं के अस्तित्व, उनकी दिशा तथा उनकी दूरी का ज्ञान होता है उसे रेडार (radar) कहते हैं। इन्हीं की सहायता से अब बादल वर्षा आदि का भी ज्ञान हमारे मौसम के विशेषज्ञ प्राप्त कर लेते हैं।

परिच्छेद 27

संदेश-सचार

(Tele-Communication)

(क) संकेतिक तार-संचार (Telegraphy)

27·01—**ऐतिहासिक**। जब से विद्युत् का आविष्कार हुआ है तभी से बराबर यह प्रयत्न भी होता आया है कि इसकी सहायता से संदेश एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजे जावें। किन्तु इस विषय की वास्तविक उन्नति उस समय हुई जब 1821 में अम्पीयर ने धारामापी की चुम्बकीय सूची के विक्षेप का इस कार्य के लिये उपयोग करने का प्रस्ताव किया। 1833 में जर्मनी के स्किलिंग (Schilling) और वेबर (Weber) ने धारामापी की सुई के दाहिने और बाये विक्षेप से वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर के संकेत नियत करके अम्पीयर के प्रस्ताव को व्यवहारोपयोगी सिद्ध कर दिया, और 1837 में इस विधि से कार्य भी होने लगा। दूसरी ओर 1831 मे न्यूयार्क के हेनरी (Henry) ने विद्युत्-चुम्बक का उपयोग किया और उसके आकर्षण से खिंचकर लोहा जब चुम्बक ध्रुवों से टकराता है और खटके की आवाज पैदा करता है उसी के द्वारा समाचार भेजने का निश्चय किया। न्यूयार्क ही मे 1837 में सुप्रसिद्ध मार्स (Morse) ने एक ऐसी युक्ति निकाली कि जिससे कागज पर विद्युत्-चुम्बक इच्छानुसार छोटी और बड़ी लकीरें लिख देता था। इन रेखाओं के द्वारा वर्णमाला के जो संकेत मार्स ने नियत किये थे वे आज भी समस्त संसार मे काम आते हैं और मार्स-संकेत (Morse Code) के नाम से प्रसिद्ध है। मार्स की पद्धति ही सबसे अधिक व्यवहारोपयोगी प्रमाणित हुई है और वास्तव में तार-द्वारा संदेश भेजने का आजकल जो इतना प्रचार है उसके लिये बहुत सा श्रेय मार्स को दिया जा सकता है।

इसके बाद क्रमशः इस विधि में उन्नति होती गई है। विद्युत्-धारा को ले जाने और ले आने के लिए पहिले दो तार लगाये जाते थे। उनके स्थान में एक ही तार से काम लेने की युक्ति 1837 में ज्ञात हुई। इस एक ही तार में दोनों ओर से समाचार एक साथ भेजने की, दो तथा चार समाचार एक साथ भेजने की, समाचारों को अत्यन्त शीघ्रता पूर्वक भेजने की, उन्हें कागज पर लिख देने की, टाइप के द्वारा छाप देने की, इत्यादि अनेक युक्तियों का आविष्कार 1837 से 1876 के बीच में हुआ है। समुद्र

में तार का केबल (cable) लगाने की युक्ति लार्ड केलविन (Kelvin) ने निकाली थी।

27·02—**मार्स का यंत्र।** आजकल मार्स ही की विधि सर्वत्र काम में आती है। अत: हम उसी का वर्णन यहाँ करेंगे। चित्र 27·01 में इस विधि का परिपथ दिखाया गया है। प्रेषण-स्थान पर **क** दाब-कुंजी (key) है जिस के द्वारा इच्छा-

चित्र 27·01
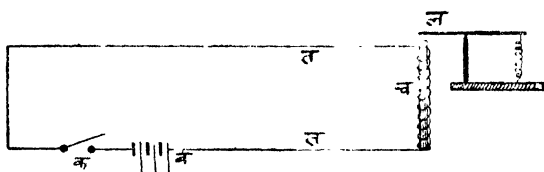
नुसार बैटरी **ब** की धारा तार **त त** में होकर सुदूर-स्थित विद्युत्-चुम्बक **च** की कुंडली में प्रवाहित की जा सकती है। इस चुम्बक के ध्रुवों के निकट एक लोहे का टुकड़ा

मार्स संकेत					
E	.	T	—		
I	. .	M	— —		
S	. . .	O	— — —		
H	. . . .	CH	— — — —	1	. — — — —
				2	. . — — —
				3	. . . — —
A	. —	N	— .	4	. . . . —
U	. . —	G	— — .	5	. . . . .
V	. . . —			6	— . . . .
W	. — —	D	— . .	7	— — . . .
J	. — — —	B	— . . .	8	— — — . .
Y	— . — —	L	. — . .	9	— — — —
F	. . — .	Q	— — . —	0	— — — — —
P	. — — .	X	— . . —		
R	. — .	K	— . —		
C	— . — .				
Z	— — . .				

चित्र 27·02

ल इस प्रकार लगा है कि उसे सर्पिल कमानी खींच कर ध्रुवों से कुछ दूर पर रखती है। जब-जब कुंजी **क** दबाई जाती है तब-तब लोहा खिंच कर चुम्बक ध्रुवों से टकराता है और एक खटका होता है। कुंजी **क** से दबाव हटा लेने पर लोहा कमानी के द्वारा

खिंच कर पुनः दूर हट जाता है। यदि कुंजी थोड़ी सी देर तक दबी रहे तो लोहा भी थोड़ी ही देर तक चुम्बक से लगा रहता है और यदि कुंजी को अधिक देर तक दबा रखें तो यह लोहा भी अधिक देर तक खिंचा रहता है। इन दोनों अवस्थाओं में आवाज़ भी भिन्न-भिन्न प्रकार की निकलती है। इन्हें चित्र में क्रमशः बिन्दु (.) और रेखा (—) के द्वारा व्यक्त कर सकते हैं। मार्स ने इन बिन्दु और रेखाओं के द्वारा जो संकेत अँग्रेजी वर्णमाला के अक्षरों के लिये नियत किए थे वे चित्र 27·02 में दिये गये है।

चित्र 27·01 की विधि में कई सुधार कर लिये गये है। इनमें सबसे प्रथम उल्लेखनीय बात तो यह है कि प्रेषण-स्थान और संग्रहण-स्थान के बीच में दो तारों के स्थान में केवल एक ही तार लगाया जाता है। दूसरे तार के स्थान में पृथ्वी में कुछ गहरा गड्ढा खोद कर उसमें धातु की एक बड़ी पट्टिका गाड दी जाती है और इसको तार से जोड़ कर प्रेपित्र की बैटरी के ध्रुव से सम्बद्ध कर देते है। ठीक इसी प्रकार की धातु-पट्टिका संग्रहण-स्थान पर भी जमीन में गाड़ दी जाती है। पृथ्वी की चालकता ही से इन दोनों पट्टिकाओं के बीच में धारा का प्रवाह हो जाता है। चित्र 27·03 में यह विधि दिखलाई गई है।

दूसरा सुधार यह किया गया है कि **क** और **ख** दोनों स्थानो पर कुजी और विद्युत्-चुम्बक दोनों लगाये जाते हैं जिससे मध्यवर्ती एक ही तार के द्वारा दोनो ओर से समाचार भेजे जा सकें। इस कार्य के लिए कुंजी एक विशेष प्रकार की बनाई जाती है जिसे मार्स-कुंजी (morse-key) कहते हैं। इसका कार्य भी चित्र 27·03 से समझ में आ जायगा। इस कुंजी के द्वारा प्रेषण और संग्रहण स्थानों के मध्यवर्ती तार या 'लाइन' (line) को इच्छानुसार बैटरी से या विद्युत्-चुम्बक से जोड़ सकते हैं।
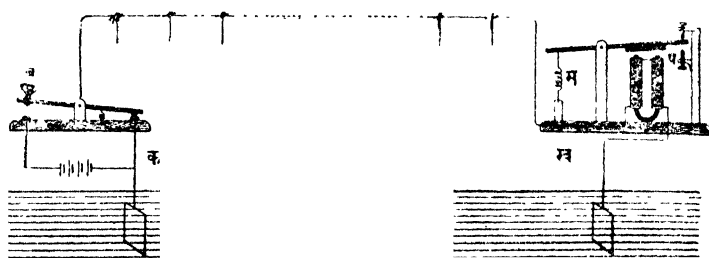
चित्र 27·03

जब बटन **ब** दबाया जाता है तब तो लाइन का बैटरी से सम्बन्ध हो जाता है और बैटरी की धारा लाइन में से संग्रहण-स्थान **ख** के विद्युत्-चुम्बक में पहुँच जाती है और जब बटन नहीं दबाया जाता तब लाइन का सम्बन्ध सीधा पृथ्वी से हो जाता

है। यहीं कुंजी और पृथ्वी के बीच में विद्युत्-चुम्बक रहता है। अतः **ख** से लाइन में आने वाली धारा **क** के विद्युत्-चुम्बक में प्रवाहित हो जाती है।

चित्र 27·04 में मार्स की कुंजी तथा 27·05 में विद्युत्-चुम्बक या मार्स-संग्राही
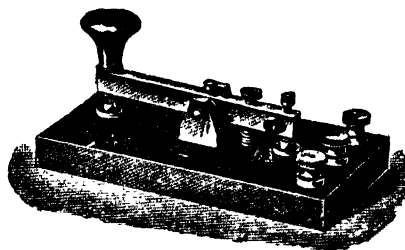
चित्र 27·04

(Morse reciever) का वास्तविक रूप दिखाया गया मार्स की कुंजी को डेमी (demy) भी कहते हैं।
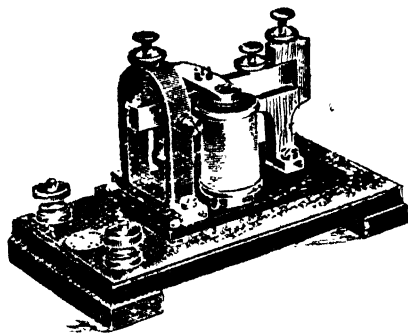
चित्र 27·05

27·03—**पुनर्योजित्र** (Relay)। जब समाचार बहुत दूर भेजना होता है तो कभी-कभी लाइन के तार का प्रतिरोध इतना अधिक होता है कि प्रेषक-स्थानीय
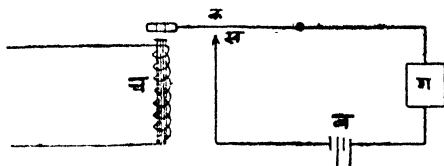
चित्र 27·06

बैटरी दूरवर्ती मार्स-संग्राही में इतनी प्रबल धारा नहीं चला सकती कि वह अपना

कार्य अच्छी तरह कर सके। इस दशा में एक उपकरण का उपयोग किया जाता है जिसे पुनर्योजित्र कहते हैं। इसका मर्म-चित्र 27·06 में समझाया गया है। लाइन की धारा एक विद्युत्-चुम्बक **च** में चलती है। इसके समक्ष एक बहुत ही हलकी लोहे की पत्ती इस प्रकार लगी रहती है कि थोड़ा ही सा आकर्षण उस पत्ती के विन्दु **क** का स्पर्श **ख** से करा देता है। इस स्पर्श के कारण बैटरी **ब** की धारा मार्स-संग्राही **ग** में चलने लगती है। इस प्रकार लाइन की धारा दूरस्थ दूसरी बैटरी की धारा को मार्स-संग्राही में चलाने के लिये एक कुंजी को दबाने मात्र का कार्य करती है। ऐसे कई पुनर्योजित्र लगाकर सैकड़ों मील तक संकेत पहुँचाये जा सकते हैं।

27·04—**द्वि-मुखी तार-संचार** (Duplex Telegraphy)। चित्र 27·07 में एसी युक्ति दिखाई गई है कि एक ही तार में से एक ही साथ दोनों ओर से समाचार भेजे जा सकें। अनु० 27·02 में जो युक्ति बताई गई है उसमें दोनों ओर से
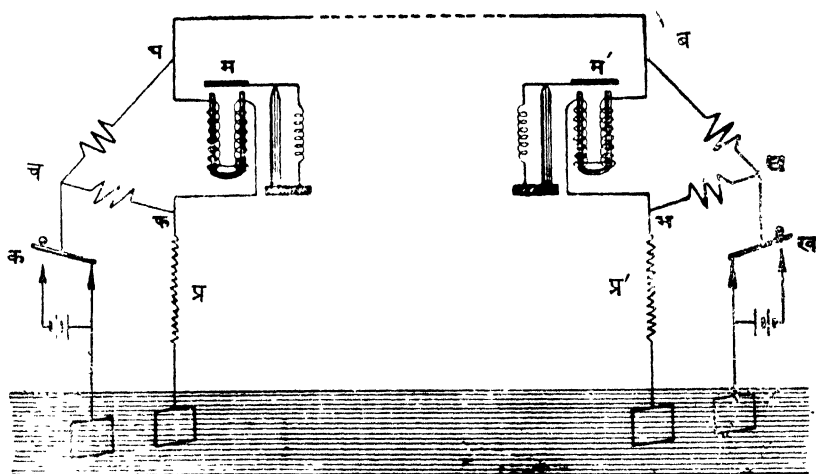
चित्र 27·07

समाचार तो भेजे जाते हैं किन्तु एक-साथ नहीं। जब **क** समाचार भेजता है तब **ख** नहीं भेज सकता क्योंकि यदि वहाँ कि कुजी दबाई भी जाय तो किसी भी संग्राही में धारा प्रवाहित न होगी। किन्तु चित्र 27·07 में ऐसा नहीं होता। **क** और **ख** कुंजियां हैं और **म**, **म′** मार्स संग्राही हैं। **क** को दबाने से **म′** पर असर होगा किन्तु **म** पर नहीं चाहे **ख** दबी हो या न दबी हो और **ख** को दबाने से **म** पर असर होगा **म′** पर नहीं, चाहे **क** दबी हो या न दबी हो।

इस युक्ति में बात यह है कि **क** को दबाने से जो धारा लाइन की ओर जाना चाहती है वह **च** पर पहुँच कर दो भागों में विभक्त हो जाती है। एक भाग **च प** मार्ग से लाइन में पहुँचता है और दूसरा **च फ** में होकर प्रतिरोध **प्र** में से पृथ्वी में चला जाता है और पृथ्वी से बैटरी में लौट आता है। अब यदि **च प** का प्रतिरोध **च फ** के बराबर हो और लाइन **प ब** तथा **ब** से **छ** तक का प्रतिरोध **प्र** के प्रतिरोध के बराबर हो तो स्पष्ट है कि धारा के ये दोनों भाग बिलकुल बराबर होंगे। जितनी धारा **च प** और लाइन में बहेगी ठीक उतनी ही **च फ** और **प्र** में जायगी। यदि इन धाराओं का परिमाण i हो तथा **च प** और **च फ** का प्रतिरोध R हो तो ओह्म के नियमानुसार **च** और **प** का विभवान्तर iR होगा। **च** और **फ** का विभवान्तर भी iR होगा। अतः **प** और **फ** के विभव बिलकुल बराबर रहेंगे। फलतः **म** में इन धाराओं का कोई भी भाग न जा सकेगा। सग्रहण स्थान पर भी ठीक ऐसा ही प्रबंध है जिससे **ख** को दबाने से **म′** में धारा प्रवाहित नहीं हो सकती।

किन्तु **क** से प्रेषित लाइन की धारा **ब** पर जाकर दो भागों में विभक्त हो जायगी। एक **ब म′ भ छ** मार्ग से और दूसरी **ब छ** मार्ग से पृथ्वी में चली जायगी। अतः इस धारा का **म′** पर प्रभाव अवश्य पड़ेगा। इसी प्रकार **ख** के द्वारा प्रेषित धारा का प्रभाव **म** पर पड़ेगा।

अब मान लीजिये कि जिस समय **क** दबाई गई ठीक उसी समय **ख** भी दबाई गई। परिणाम यह होगा कि लाइन में दो विरोधी धाराएँ प्रवाहित होने का यत्न करेंगी। फलतः उसमें धारा का प्रवाह रुक जायगा। किन्तु ऐसा होते ही **प** और **फ** में विभवान्तर उपस्थित हो जायगा और **ब** और **भ** में भी। इस कारण अब **क** की बैटरी की धारा ही **म** में चली जायगी और **ख** की बैटरी की धारा **म′** में चली जायगी। दोनों ही संग्राही संकेत ग्रहण कर लेंगे। इस अवस्था में विशेषता केवल यह हुई कि जब साधारणतया **म** पर **ख** की बैटरी का असर होता है और **म′** पर **क** की बैटरी का तो इस समय **म** पर **क** की ओर **म′** पर **ख** की बैटरी का असर होने लगेगा। किन्तु इस से समाचार भेजने या ग्रहण करने में कुछ भी दिक्कत न होने पावेगी।

ऐसी ही कुछ और युक्तियों से अब एक ही तार में एक ही साथ दो-दो या चार-चार समाचार एक ओर से और उतने ही दूसरी ओर से एक ही साथ भेजे जा सकते हैं।

27·05—**समुद्र में तार-संचार।** पृथ्वी पर तो लाइन का तार लोहे के खंभों पर चीनी के विलागकों से बांध कर लगा दिया जाता है। किन्तु समुद्र में ऐसे खंभे नहीं लगाये जा सकते। इसलिए यह तार रबड़ इत्यादि के द्वारा अच्छी

तरह आवृत करके पानी में डाल दिया जाता है। बहुधा कई लाइन-तार इकट्ठे लगाये जाते हैं। चित्र 27·08 में केन्द्र में स्थित श्वेत विन्दु तांबे के तारों के द्योतक हैं। इन पर गटापरचा (guttaparcha) का मोटा आवरण लगा रहता है। इस विलागक आवरण के ऊपर पटसन (jute) आदि पदार्थो का आवरण रहता है जिसमें मोटे-मोटे इस्पात के तार भी लगे रहते हैं। चित्र में बड़े-बड़े श्वेत विन्दु इस्पात के तार हैं। इन तारों का प्रयोजन यह है कि यह तार-समूह टूटने न पावे। इस प्रकार तैयार किये हुए तार-समूह को केवल (cable) कहते हैं। चित्र 27·08 केबल का अनुप्रस्थ काट मात्र है। यही कारण है कि समुद्र पार से आये हुए तार को केबल या केबलग्राम (cablegram) कहते हैं।
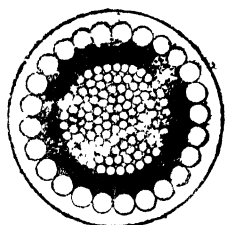
चित्र 27·08

27·06—**बिजली की घंटी** (Electric Bell)। जब कोई विशेष समाचार न भेजना हो और केवल किसी मनुष्य का ध्यान ही अपनी ओर आकर्षित करना हो तब घंटी बजाई जाती है। यों तो मार्स-ग्राहक भी मार्स-कुंजी को दबाने से शब्द
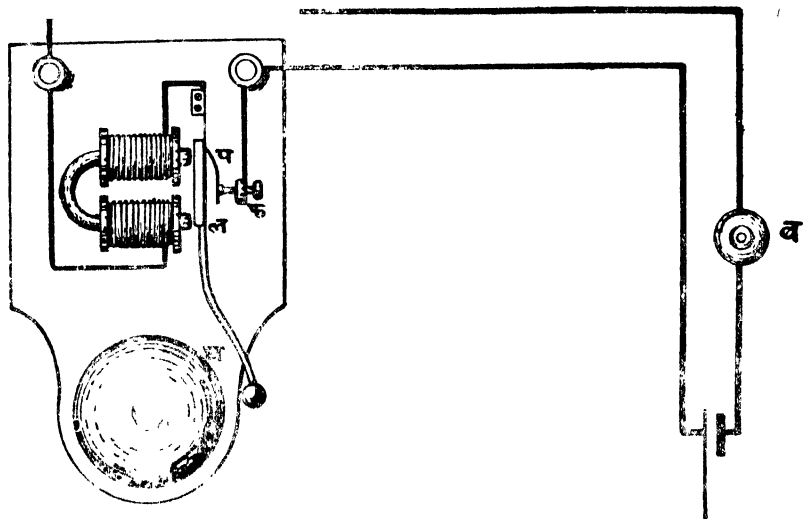
चित्र 27·09

उत्पन्न करता है किन्तु एक बार दबाने से एक ही खटका होता है। अतः यदि कुछ देर तक बराबर शब्द उत्पन्न करना हो तो बारबार कुंजी को दबाना पड़ेगा। फिर इस प्रकार

शब्द भी बहुत तीव्र नहीं होता। बिजली की घंटी कुंजी दबाते ही बजने लगती है और जब तक कुंजी दबी रहे तब तक बराबर बजती ही रहती है।

चित्र 27·09 में इसका कार्य समझाया गया है; बटन **ब** को दबाते ही धारा विद्युत्-चुम्बक में प्रवाहित होती है। इससे लोहा **ल** खिंचता है और घंटी **घ** पर चोट लगती है। किन्तु इस क्रिया में **प** और **फ** का सम्बन्ध टूट जाता है और धारा बन्द हो जाती है। लोहा चुम्बक से छूटकर पुनः अपने पूर्व स्थान को प्राप्त करता है। इससे **प** और **फ** का फिर स्पर्श हो जाता है और फिर चुम्बक **ल** को खींचकर घंटी पर चोट मारता है। यह क्रिया ठीक वैसी ही है जैसी कि प्रेरण-कुंडली के सम्बन्ध में प्लाटिनम आन्तरायित्र की बताई गई थी। इस घंटी में भी आन्तरायिक धारा प्रवाहित होती है और वह बराबर बजती रहती है।

(ख) टेलीफ़ोन (Telephone)।

27·07—**ग्राहम बैल का टेलीफ़ोन** (Grahm Bell's Telephone)। यद्यपि 1861 से ही मनुष्य की बोली को बिजली के द्वारा सुदूर स्थान पर पहुँचाने के प्रयत्न होने लगे थे और कुछ अंशों में सफलता भी प्राप्त हुई थी किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि 1876 में ग्राहम बैल (Grahm Bell) ने जो युक्ति निकाली थी वही आधुनिक टेलीफ़ोन की जन्मदाता है।

चित्र 27·10 में इस प्रथम टेलीफ़ोन यंत्र का मर्मचित्र है। **च** स्थायी दंड-चुम्बक है। इसके एक ध्रुव पर विलागित तार की कुंडली लपेटी हुई है। इसके दोनों सिरों का सम्बन्ध पेच **प प′** से है। चुम्बक-ध्रुव के सामने लोहे की बहुत पतली पत्ती
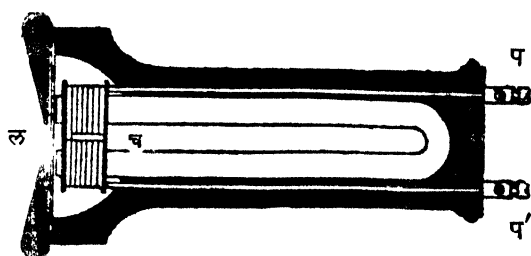
चित्र 27·10

ल लगी है। यह गोल होती है और परिधि के पास यह अच्छी तरह कसी रहती है। इसके सामने कीप (funnel) के समान लकड़ी का एक अवयव लगा है जिसके मध्य में छेद है।

मान लीजिये कि हमारे पास ऐसे ही दो यंत्र हैं और हमने दो तारों के द्वारा दोनों यंत्रों की कुंडलियों को श्रेणीबद्ध कर दिया है। दोनों को मिला कर एक निमीलित परिपथ बन गया। अब यदि एक यंत्र की कीप के सामने मुँह रख कर हम कुछ बोलें तो शब्द-तरंगें लोहे की पत्ती ल में अपने अनुरूप ही कम्पन उत्पन्न करेंगी। इस लोह-खंड के कम्पनों के कारण चुम्बकीय बल-रेखाओं में भी उसके अनुरूप ही परिवर्तन होगा क्योंकि लोहा कभी चुम्बक के निकट आयगा और कभी दूर हटेगा। इस कारण कुंडली में कुछ वि० वा० ब० प्रेरित होगा और यह दूसरे यंत्र की कुंडली में धारा को चलावेगा। फलतः वहाँ के चुम्बकीय क्षेत्र मे भी परिवर्तन होगा और वहाँ की लोहे वाली पत्ती में भी कम्पन उत्पन्न हो जायेंगे। इन कम्पनों से वायु मे शब्द-तरंगे उत्पन्न होंगी जिन्हें कीप के समीप कान रख कर मनुष्य सुन सकेगा। यह समझना कठिन नही कि इस दूसरी पत्ती के कम्पन ठीक वैसे ही होंगे जैसे कि पहिले यंत्र की पत्ती में हमने शब्द के द्वारा उत्पन्न किये थे क्योंकि उन्ही कम्पनों के कारण ये कम्पन भी उत्पन्न हुए हैं। अतः दूसरे यंत्र द्वारा उत्पन्न शब्द ठीक वैसा ही होगा जैसा पहिले के सामने बोला गया था।

इस प्रकार इस यंत्र के द्वारा जो बात एक स्थान पर बोली जाय वही दूसरे स्थान पर सुनी जा सकती है। किन्तु यह ऊर्जा शब्द-तरंगों के रूप में स्थानान्तरित नही होती। शब्द-तरंगों से प्रेरित विद्युत्-धारा उत्पन्न होती है और यह विद्युत्-चुम्बकीय ऊर्जा तारों के द्वारा दूसरी ओर पहुँच कर पुनः शब्द-तरंगों का रूप धारण करती है। इसमें बैटरी की कुछ भी आवश्यकता नही है।

किन्तु इस युक्ति के द्वारा अधिक दूर तक बातचीत करना सम्भव नही क्योंकि दूरी अधिक होने पर मध्यवर्ती तारों का प्रतिरोध इतना हो जाता है कि प्रेरित धारा अत्यन्त क्षीण हो जाती है और उसके द्वारा संग्राही टेलीफ़ोन की लोहे की पत्ती में कम्पन इतने प्रबल नहीं हो सकते कि शब्द सुन पड़ें। इस कारण यद्यपि उपर्युक्त टेलीफ़ोन से संग्राही का काम तो अब भी लिया जाता है किन्तु प्रेपित्र आजकल दूसरी प्रकार से बनाया जाता है। संग्राही में भी अब नाल-चुम्बक लगाया जाता है ताकि उसके दोनों ध्रुव कार्य कर सकें। स्थायी चुम्बक के स्थान में विद्युत्-चुम्बक भी लगाया जाता है ताकि चुम्बकीय क्षेत्र की प्रबलता बढ़ाई जा सके।

27·08—**टेलीफ़ोन प्रेषित्र** (Telephone Transmitter) **या माइक्रोफ़ोन** (Microphone)। कहा जाता है कि 1861 में राइज (Reis) ने ही सबसे प्रथम प्रतिरोध के परिवर्तन से शब्द स्थानान्तरित करने की युक्ति को कार्य-रूप में परिणत करने में सफलता प्राप्त की थी। इस युक्ति में बैटरी की धारा

एक ऐसे उपकरण में से चलाई जाती है जिसमें एक स्थान पर तारों का स्पर्श ढीला रहता है। जब शब्द-तरंगें इस पर पड़ती हैं तब कम्पनों के कारण यह स्पर्श कभी अधिक गाढ़ा हो जाता है और कभी अधिक ढीला। अतः इसका प्रतिरोध शब्द-तरंगों के कारण घटता और बढ़ता है और इससे बैटरी की धारा की प्रबलता भी घटती बढ़ती रहती है। यदि यह धारा बैल-टेलीफ़ोन की कुंडली में से चलाई जाय तो इसकी घट-बढ़ के अनुसार ही उस की लोहे की पत्ती में कम्पन होकर शब्द उत्पन्न हो जाता है।

चित्र 27·11 में इसी सिद्धान्त पर बनाया हुआ माइक्रोफ़ोन (microphone) दिखलाया गया है। लकड़ी के उपस्तम्भ (stand) में दो कार्बन की पट्टिकाएँ
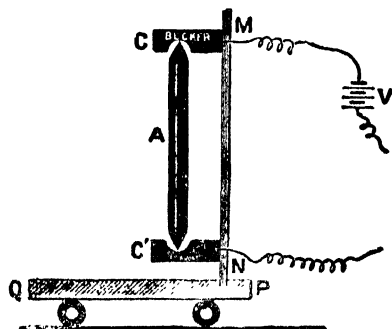
चित्र 27·11

cc' लगी हैं और उनके बीच में कार्बन की एक नोकदार छड़ A ऊर्ध्वाधर खड़ी है। यह इतनी ढीली है कि थोड़े ही कम्पन से नोक पर का प्रतिरोध बदल जाता है। बैटरी की धारा इस छड़ में होकर टेलीफ़ोन में जाती है। एक हाथ की घड़ी उपस्तम्भ की लकड़ी पर रखने से उसका टिक्-टिक् शब्द टेलीफोन में बड़ा तीव्र सुनाई देता है। यही क्यों, यह तो इतना सुग्राही है कि छोटे-छोटे कीड़ों के लकड़ी पर चलने से उनकी टांगे जो शब्द उत्पन्न करती हैं वह भी टेलीफ़ोन में सुनाई दे सकता है।

इसी का परिवर्तित और समुन्नत रूप आजकल के टेलीफ़ोन का प्रेषित्र है। इसे कार्बन-माइक्रोफोन कहते हैं। इसमें कार्बन के दो स्पर्श के स्थान में अनेक स्पर्श होते

हैं जिससे प्रतिरोध में परिवर्तन बहुत अधिक हो जाता है। चित्र 27·12 में इसका मर्म-चित्र है। एक छोटी सी डिबिया का पेंदा कार्बन पट्टिका का बना है और ढक्कन कार्बन के एक अत्यन्त पतले पटल (disc) का बना है। यह पटल ठीक
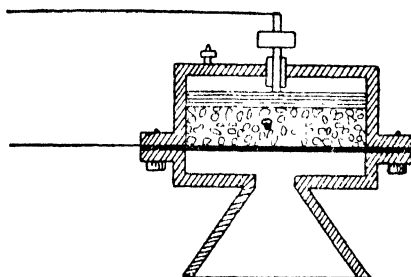
चित्र 27·12

उतना ही पतला होता है जितनी कि टेलीफ़ोन-संग्राही की लोहे की पत्ती। इन दोनों के बीच में कार्बन के छोटे-छोटे दाने भरे हैं। विद्युत्-धारा कार्बन-पट्टिका से कार्बन पटल में इन दानों के द्वारा ही पहुँचती है। कार्बन-पटल के सामने कीप लगी है। इस कीप में बोलने से कार्बन-पटल कम्पन करता है जिससे कार्बन के दानों पर कम या अधिक दबाव पड़ता है और उनका प्रतिरोध कम या ज़्यादा हो जाता है। यही धारा टेलीफ़ोन संग्राही में पहुँच कर शब्द उत्पन्न कर देती है (चित्र 27·13)। यदि शब्द-तरंगों के कारण कार्बन-पटल प्रति सैकंड 300 की आवृत्ति से कम्पन करे तो विद्युत्-धारा में भी प्रति सैकंड 300 ही बार घट-बढ़ होगी और 300 ही बार टेलीफोन का लोह-पटल कम्पन करेगा। अतः हमें शब्द भी 300 की आवृत्ति वाला ही सुनाई देगा।
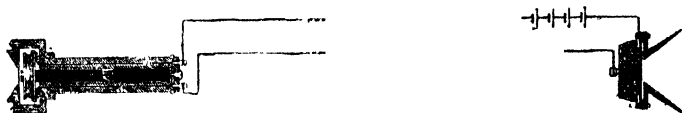
चित्र 27·13

27·09—**ट्रान्सफ़ार्मर का उपयोग**। टेलीफ़ोन प्रेषित्र में कार्बन के दानों से जो प्रतिरोध में परिवर्तन होता है वह इतना कम होता है कि यदि परिपथ का प्रतिरोध बहुत अधिक हो तो उसके कारण धारा की प्रबलता में अधिक परिवर्तन नहीं हो सकता। इसलिए यह आवश्यक हुआ कि ऐसी युक्ति निकाली जाय कि समाचार बहुत दूर तक भी पहुँच जाय और प्रेषित्र-परिपथ का प्रतिरोध भी अधिक न हो।

यह युक्ति चित्र 27·14 से प्रगट है। प्रेषित्र-परिपथ लाइन के तारों से पृथक् है। माइक्रोफ़ोन की धारा एक ट्रान्सफ़ार्मर की प्राथमिक कुंडली में प्रवाहित होती है। इस लोह-क्रोड ट्रान्सफ़ार्मर की द्वैतीयिक कुंडली का लाइन के तारों से सम्बन्ध है और इसी परिपथ में संग्राही टेलीफ़ोन लगा है। प्रेषित्र-परिपथ का प्रतिरोध थोड़ा
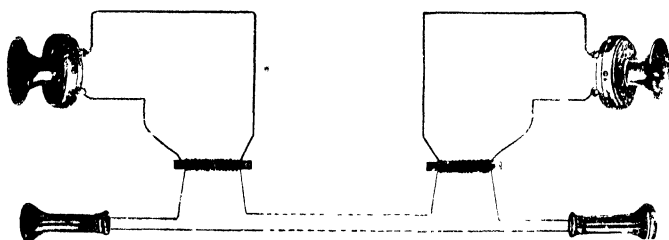
चित्र 27·14

है। अतः माइक्रोफ़ोन के प्रतिरोध के थोड़े परिवर्तन से भी ट्रान्सफ़ार्मर की प्राथमिक में धारा की घट-बढ़ बहुत होती है। यही द्वैतीयिक कुंडली में प्रेरित धारा उत्पन्न करती है। ट्रान्सफ़ार्मर उच्चायी है अर्थात् द्वैतीयिक कुंडली में फेरों की संख्या प्राथमिक की अपेक्षा बहुत अधिक है। अतः प्रेरित धारा का विभवत्व अधिक होता है और यह दूरस्थ टेलीफ़ोन में शब्द उत्पन्न कर सकता है। चित्र 27·15 में टेलीफ़ोन का एक आधुनिक रूप दिखाया गया है। इसके अन्दर माइक्रोफ़ोन, संग्राही तथा ट्रान्स-फ़ार्मर सब एकत्र हैं।
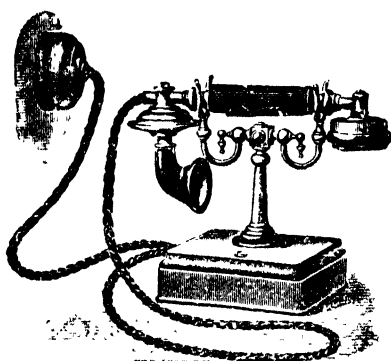
चित्र 27·15

27·10—**टेलीफ़ोन ऐक्सचेंज** (Telephone Exchange)। बड़े-बड़े शहरों में जहाँ सहस्रों मकानों और दूकानों में टेलीफ़ोन लगे रहते हैं, प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक दूसरे मनुष्य से बातचीत करने की स्वतन्त्रता चाहता है। किन्तु यह असम्भव है कि इन सब मनुष्यों का परस्पर स्वतंत्र लाइन के द्वारा सम्बंध हो। अतः एक ऐसा दफ़्तर होता है जिसका सम्बंध प्रत्येक टेलीफ़ोन से होता है। जब किसी को बात करना होता है तब वह पहले इस दफ़्तर से कहता है कि हम अमुक मनुष्य से बात

करना चाहते हैं। इस कार्य के लिए प्रत्येक टेलीफ़ोन का एक नम्बर नियत होता है। इस नम्बर ही के द्वारा अपनी इच्छा प्रगट की जाती है। दफ़्तर के कर्मचारी तब उन दोनों मनुष्यों की लाइनों को जोड़ देते हैं और तब बातचीत हो सकती है। इन दफ़्तरों को विनिमय-केन्द्र अथवा ऐक्सचेन्ज (exchange) कहते हैं। बैटरी इस ऐक्सचेज में रहती है।

अब ऐसी युक्ति भी निकाल ली गई है कि प्रत्येक मनुष्य अपने टेलीफ़ोन के साथ लगे हुए उपकरण ही के द्वारा जिस नम्बर से चाहे अपना सम्बध स्वयं जोड़ सकता है। इसे स्वचालित (automatic) विधि कहते हैं।

(ग) बेतार या रेडियो (Wireless or Radio)

27·11—**विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों के द्वारा समाचार प्रेषण।** अब यह समझने में कुछ कठिनाई नहीं कि विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान तक सहस्रों मील की दूरी पर समाचार किस प्रकार भेजा जा सकता है। जहाँ से समाचार भेजना हो वहाँ हमें एक एरियल लगाकर उसके द्वारा परिच्छेद 26 में वर्णित किसी उपाय से तरंगें उत्पन्न करना होगा। इस एरियल में तार भेजने
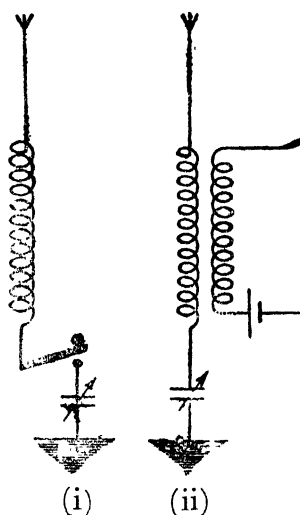
चित्र 27·16

की एक कुंजी लगानी होगी। चित्र 27·16 में इसकी दो विधियाँ दिखाई गई हैं। प्रथम विधि में कुंजी एरियल और पृथ्वी के बीच में लगी है (चित्र-i)। कुंजी को

दबाते ही एक तरंग-समूह एरियल से रवाना होगा। जितनी बार और जितने समयान्तर से कुंजी दबाई जायगी उतने ही समयान्तर से उतने ही तरंग-समूह एरियल आकाश में भेजेगा। जहाँ यह समाचार ग्रहण करना हो वहां एरियल-युक्त एक तरंग-संग्राही रखना होगा। प्रत्येक तरंग-समूह उसमें पहुँच कर टेलीफ़ोन या लाउड-स्पीकर (loudspeaker) में एक खटका पैदा करेगा। इस प्रकार साधारण तार-प्रेषण की रीति से मार्स संकेत के द्वारा समाचार जहाँ चाहें वहीं पहुँचाया जा सकता है और उन स्थानों के बीच में तार लगाने की आवश्यकता नहीं होती। इसी से इसे बे-तार (wireless) संदेश-संचारण प्रणाली कहते हैं।

एरियल में कुंजी लगाने की द्वितीय विधि में कुंजी का परिपथ पृथक् है और उसका एरियल से ट्रान्सफ़ार्मर युग्मन किया गया है (चित्र (ii))। यह विधि अविरत तरंगों के प्रेषण के लिए विशेष उपयोगी है। इनमें जब तक कुंजी नहीं दबाई जाती तब तक तो तरंगें एरियल में से निकलकर नियत आयाम से चलती रहती हैं। किन्तु ज्यों ही कुंजी दबाई जाती है त्योंही इनका आयाम घट या बढ़ जाता है। इससे अविरत तरंग की आकृति बदल जाती है और उसका आयाम सर्वत्र एक-सा नहीं रहता।

यह तरंग जब संग्राही के टेलीफ़ोन में पहुँचती है तब आयाम की घट-बढ़ के अनुसार ही उसमें भी खटका होता है।

इस सम्बन्ध में एक तो यह ध्यान रखना आवश्यक है कि तरंग-संग्राही समाचार तभी ग्रहण करेगा जब उसके दोलक परिपथों की आवृत्ति ठीक तरंगों की आवृत्ति के बराबर कर ली जाय। इस क्रिया को ध्वनि-विज्ञान की भाषा में सुर मिलाना (tuning) कहते हैं। यह कार्य चित्र 26·22 या 26·23 के संग्राही में लगे हुए संधारित्रों के समंजन से किया जाता है।

दूसरी बात यह है कि एरियल से तरंगे चारों ओर फैलती हैं। यदि एरियल विशेष प्रकार का बनाया जाय तो ये तरंगें यद्यपि चारों ओर नही फैलती तब भी बड़े विस्तृत क्षेत्र में फैल जाती हैं। अतः उस क्षेत्र में जितने भी संग्राही-यंत्र हों वे सभी सुर-मिलाकर समाचार ग्रहण कर सकते है और समाचार गुप्त नहीं रह सकते।

यदि दो जगहों से एक ही साथ समाचार भेजे जायँ और दोनों प्रेषित्रों का तरंग-दैर्घ्य एक ही हो तो संग्राही यंत्र में दोनों की तरंगों का प्रभाव भी एक ही साथ उत्पन्न होगा। इस से दोनों के खटके मिलकर समाचार बिलकुल विकृत हो जायगा और कुछ भी समझ में न आ सकेगा। अतः यह आवश्यक है कि प्रत्येक प्रेषित्र भिन्न-भिन्न तरंग-दैर्घ्य वाली तरंगें भेजे। यद्यपि अब भी ये सब तरंगें साथ ही संग्राही पर पहुँचेगी किन्तु संग्राही केवल उसी तरंग को ग्रहण करेगा जिससे उसका सुर मिला हो।

27·12–बेतार की टेलीफ़ोनी (Wireless or Radio Telephony) । मार्स-संकेत के स्थान में टेलीफ़ोन के समान ही तरंगों के द्वारा भी बातचीत करने के
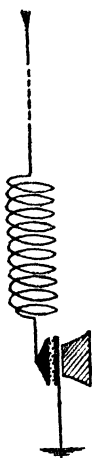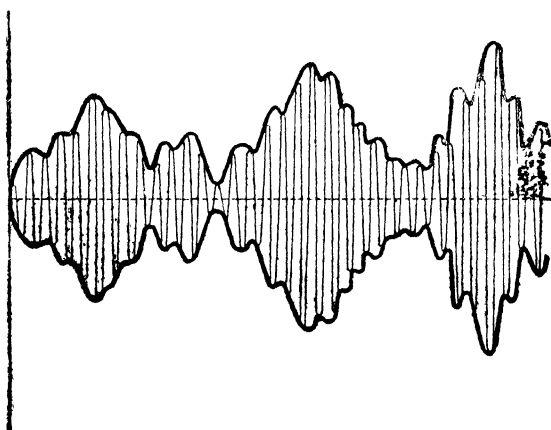
चित्र 27·17 चित्र 27·18(i)

लिए अवमन्दन-हीन अविरत तरंगों की आवश्यकता होती है। चित्र 27·16 की कुंजी

चित्र 27·18(ii)

के स्थान में माइक्रोफ़ोन लगाया जाता है। (चित्र 27·17)। इस माइक्रोफ़ोन के कार्बन के पतले पटल पर शब्द-तरंगों के पड़ने से उसका वैद्युत प्रतिरोध बदल जाता

है । शब्द-तरंगों के आयाम के अनुरूप ही इस प्रतिरोध का परिवर्तन होता है और उसके अनुरूप ही एरियल-जनित तरग के आयाम में भी परिवर्तन होता है । इसे हम दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि माइक्रोफोन के द्वारा एरियल में शब्द-तरंग के अनुरूप ही वैद्युत-दोलन उत्पन्न होते हैं । ये दोलन उसके उच्च-आवृत्ति-वाले दोलनों में विकार उत्पन्न करते हैं और इस कारण एरियल में से निकलने वाली तरंग की आकृति भी विशेष प्रकार की हो जाती है। यह आकृति लेखा-चित्र 27·18 (i) में
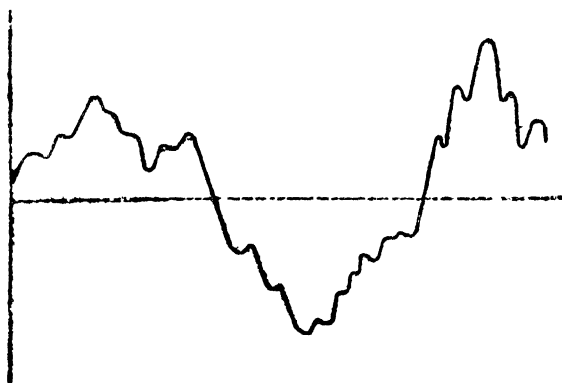
चित्र 27·18(iii)

दिखलाई गई है । यदि इस तरंग का विश्लेषण किया जाय तो मालूम होगा कि यह चित्र 27·18 (ii) और (iii) में दिखलाई हुई दो तरंगों का संयुक्तपरिणाम है । चित्र (ii) की उच्च-आवृत्ति वाली अविरत तरंग वाहक-तरंग (carrier wave) कहलाती है और चित्र (iii) की तरंग शब्द-तरंग की प्रतिरूप वैद्युत तरंग है । यह वाहक तरंग पर सवार होकर ही ईथर में चलती है । बिना वाहक-तरंग के इतनी कम आवृत्ति वाली तरंग ईथर में नहीं चल सकती ।

अविरत वाहक तरंग के साथ शब्द तरंग के संयोजन की क्रिया को आरोपण (modulation) कहते हैं और चित्र 27·18 (i) वाली वैद्युत तरंग को आरोपित तरंग (modulated wave) कहते हैं ।

बे-तार की टेलीफ़ोनी में आजकल अविरत तरंगें त्रयोड वाल्व के द्वारा ही उत्पन्न की जाती हैं और उनका आरोपण भी त्रयोड वाल्व के द्वारा ही होता है । चित्र 27·19 में एक अत्यन्त सरल शब्द-प्रेषित्र दिखलाया गया है । माइक्रोफ़ोन लोह-क्रोड ट्रान्स-फ़ार्मर के द्वारा दाहिनी ओर के वाल्व के ग्रिड में विभवत्व के दोलन उत्पन्न करता है ।

इन से इस वाल्व के धनाग्र-परिपथ में जो प्रवर्धित दोलन होते हैं वे एरियल में पहुँचा दिये जाते हैं। दूसरा वाल्व एरियल में उच्च-आवृत्ति के अविरत दोलन उत्पन्न करता है। प्रथम वाल्व आरोपी वाल्व (modulating valve) कहलाता है और दूसरा जनित्र-वाल्व (generator valve)।
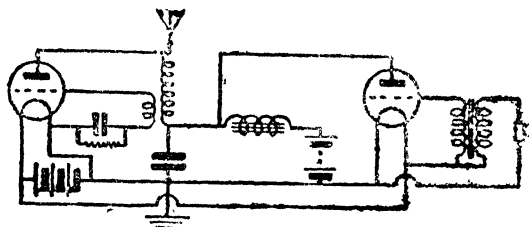
चित्र 27·19

साधारण टेलीफ़ोनी के संग्राही यंत्र में और ऊपर वर्णित संग्राही यंत्र में कोई विशेष भेद नहीं होता। आरोपित तरंग संग्राही एरियल पर पहुँच कर जो दोलन उत्पन्न करती है वे प्रवर्धित होकर क्रमशः टेलीफोन या लाउडस्पीकर में पहुँचते हैं। यहाँ वाहक तरंग वाले दोलन तो शब्द उत्पन्न कर ही नहीं सकते किन्तु उस पर चढ़ कर जो शब्दानुरूपी विद्युत्-तरंग आई थी उसके द्वारा टेलीफ़ोन में चित्र 27·18 (iii) की आकृति के कम्पन उत्पन्न होकर हमें सुनाई देते हैं। इस प्रकार अब सहस्रों मील की बात चीत ऐसी अच्छी तरह सुनाई देती है मानो बोलने वाला हमारे सम्मुख ही बैठा हो।

27·13—**प्रसारण** (Broadcasting)। बेतार के टेलीफ़ोन में साधारण टेलीफोन से जो अन्तर है वह मुख्यतः यही है कि एक बोलने वाले की बात सैकड़ों मील दूर तक एक ही साथ लाखों आदमी सुन सकते हैं। जिस-जिस के पास संग्राही यंत्र हो वह बिना कठिनाई के सब बात सुन सकता है। इस बात का उपयोग आजकल संगीत सुनाकर मनोरंजन करने के लिए किया जाने लगा है। पहले ऐसे मनोरंजन के लिए नाटक घरों में जाना पड़ता था। अब अपने ही घर में छोटा-सा संग्राही यंत्र लगाकर हम प्रायः दुनियाभर के गाने सुन सकते हैं क्योंकि सभी देशों के बड़े-बड़े शहरों में प्रसार-केन्द्र शक्तिशाली ईथर तरंगों के द्वारा अच्छे गवैयों के गाने अपने प्रेषण-एरियल से चारों ओर प्रसारित करते हैं। प्रत्येक प्रसारण-केन्द्र ने अपनी वाहक तरंग का तरंग-दैर्घ्य नियत कर लिया है और जहाँ तक संभव होता है नये केन्द्र अपना तरंग-दैर्घ्य अन्य केन्द्रों से भिन्न ही रखते हैं ताकि किसी सुनने वाले को दो जगह के गाने एक ही साथ न सुनाई दें।

गाने के अतिरिक्त इस प्रसारण से शिक्षा का भी कार्य लिया जाता है। अच्छे-अच्छे व्याख्यान, बच्चों के लिए मनोहर कहानियाँ और शिक्षाप्रद उपदेश, ताजे समाचार और व्यापारियों के लिए बाजार भाव आदि सभी बातें प्रसारित होती हैं।

27·14—**लम्बी और छोटी तरंगें**। कुछ वर्ष पहिले तक प्रायः 300 मीटर से अधिक लम्बी तरंगें ही बेतार के टेलीफोन में काम आती थी और मार्स-संकेत भेजने के लिये तो 1000 से 10000 मीटर तक की तरंगों का उपयोग होता था। किन्तु अब 15 मीटर से 100 मीटर तक की छोटी तरंगों का प्रचार बढ गया है। यद्यपि इस पुस्तक में इस विषय का सविस्तार विवेचन नहीं किया जा सकता तथापि इतना कह देना आवश्यक जान पड़ता है कि इस प्रचार के मुख्य दो कारण हैं। प्रथम तो यह कि वायु में बादल और बिजली अथवा अन्य कारणों से जो प्रबल वैद्युत दोलन उत्पन्न होते है वे संग्राही यंत्रों मे बड़ा कर्णकटु शब्द उत्पन्न करते हैं। यहाँ तक कि वर्षा ऋतु मे तो प्राय इस गड़-बड़ के कारण लम्बी तरंगों वाले प्रसारों की बात सुनना 100 मील दूर वाले लोगों के लिए भी असम्भव हो जाता है। इन वायवीय विकारों (atmospherics) के तरंग-दैर्ध्य से सुर मिला न होने पर भी उनका असर संग्राही यंत्रों पर हो जाता है क्योंकि ये विकार बहुत प्रबल होते है और अत्यन्त अवमन्दित होने के कारण उनका कोई निश्चित तरग-दैर्ध्य भी नहीं होता। किन्तु छोटी तरंगों के संग्राही यंत्र पर ये अपना प्रभाव अधिक नही डाल सकते क्योंकि इतनी उच्च आवृत्ति के अवयव इन वायवीय विकार-तरंगों में नही होते। दूसरे छोटी तरंगें प्रकाश के समान ही सरल-रेखा मे चलती हैं और चारों ओर बहुत विस्तृत क्षेत्र में फैल कर वे क्षीण नही होती। इन छोटी तरंगों से होने वाला लाभ और इनके व्यतिकरण जनित दोष का वर्णन अनु० 26·26 में कर दिया गया है।

(घ) चित्र-प्रेषण (Photo-Telegraphy)।

27·15—**हाफ़टोन चित्र** (Half-Tone Picture)। तार-द्वारा चित्र को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाने की क्रिया को समझने के लिए यह आवश्यक है कि पहले हम यह समझ लें कि हाफ़टोन चित्र किसे कहते हैं। पुस्तकों और समाचार पत्रों में जो चित्र छापे जाते है उन्हें गौर से देखने पर ज्ञात होगा कि वे अनेक छोटे छोटे विन्दुओं के समुदाय मात्र हैं। दूर से देखने पर ये विन्दु हमें पृथक् नहीं दिखलाई देते किन्तु नजदीक से इन विन्दुओं का अस्तित्व स्पष्ट हो जाता है। चित्र में जो स्थान अधिक काला होता है वहाँ के विन्दु बड़े-बड़े होते हैं और जहाँ चित्र श्वेत होता है वहाँ विन्दु अत्यन्त छोटे-छोटे होते हैं। इन्हीं के छोटे-बड़े होने के कारण चित्र में स्याही का हल्कापन या गहरा पन नजर आता है। इन चित्रों को

तैयार करने की विधि यह है कि कैमरा में फ़ोटो के प्लेट के सामने एक पर्दा रख दिया जाता है जिस पर समकोणिक तथा समान्तर रेखाओं के द्वारा एक जाली सी बनी रहती है। इन रेखाओं से बने हुए पारदर्शक वर्गों में से तो प्रकाश प्लेट पर पहुँच जाता है किन्तु रेखाओं में से प्रकाश नहीं पहुँचता। इस प्रकार चित्र विन्दुमय बन जाता है। तार द्वारा चित्र भेजने में भी चित्र को इसी प्रकार विन्दुओं में विभक्त करके प्रत्येक विन्दु को दूसरी ओर यथास्थान अंकित किया जाता है। छोटे विन्दु के स्थान में छोटे विन्दु और मोटे के स्थान में मोटे विन्दु अंकित हो जाने से वहाँ भी ठीक वैसा ही चित्र बन जाता है।

27·16—**चित्र-प्रेषण विधि** (Method of Transmitting Pictures) सन् 1842 से ही तार द्वारा चित्र-प्रेषण का कार्य प्रारम्भ हो गया था और अनेक प्रकार की युक्तियों से यह कार्य करने के प्रस्ताव किये गये थे। उन सब का संक्षिप्त विवरण भी इस स्थान पर सम्भव नहीं है। हम केवल एक ही युक्ति का वर्णन करके सतोष करेंगे। हमारा आशय केवल यह समझा देने का है कि विद्युत्-धारा से चित्र किस प्रकार भेजे जा सकते हैं न कि प्रचलित युक्ति का वर्णन करना।

चित्र 27·20 में **ब**$_1$ और **ब**$_2$ दो बेलन हैं। ये दोनों एक ही वेग से घूमते हैं और पेचदार अक्ष के कारण अक्ष की दिशा में भी धीरे-धीरे खिसकते जाते हैं। जिस
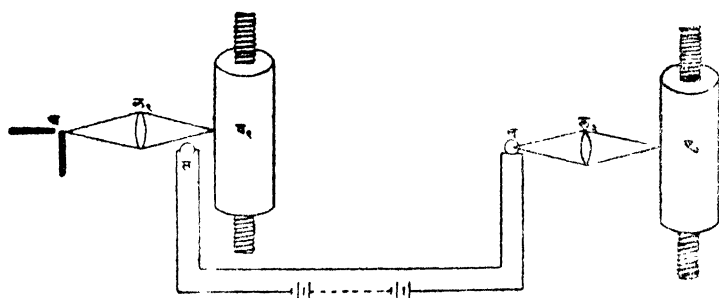
चित्र 27·20

चित्र को भेजना हो वह **ब**$_1$ पर लपेट दिया जाता है। **ब**$_2$ पर फोटो का सुग्राही कागज लिपटा रहता है। आर्क लम्प **अ** से लैन्स ल$_1$ के द्वारा फोकसित प्रकाश ब$_1$ पर के चित्र के एक विन्दु पर डाला जाता है। बाकी का चित्र अदीप्त रहता है। चित्र के इस विन्दु से परावर्तित प्रकाश एक प्रकाश-वैद्युत सैल (photo-electric cell) पर पड़ता है। इस सैल का वर्णन परिच्छेद 30 में किया गया है। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि इस सैल में यह गुण है कि इस पर प्रकाश पड़ने से विद्युत्-

धारा उत्पन्न होती है और जितना ही तीव्र प्रकाश पड़ेगा उतनी ही प्रबल धारा भी उससे उत्पन्न होगी। अतः यदि चित्र का दीप्त विन्दु काला हो तो विद्युत् धारा का परिमाण प्रायः शून्य होगा, किन्तु यदि वह श्वेत हो तो धारा प्रबल होगी। जैसे-जैसे वेलन के घूमने के कारण चित्र के भिन्न भिन्न विन्दु दीप्त होते जायेंगे वैसे ही वैसे इस सैल से उत्पन्न धारा की प्रबलता भी बदलती जायगी।

दूसरी ओर यह धारा एक नीयन लैम्प (neon lamp) **न** में प्रवाहित होती है। धारा की प्रबलता के अनुरूप ही इस लैम्प की ज्योति होती है। इसका प्रकाश लैन्स **ल**$_2$ के द्वारा फ़ोकसित होकर **ब**$_2$ के सुग्राही कागज़ पर फ़ोकस होता है और वहाँ उसका प्रभाव अंकित हो जाता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर **ब**$_1$ वाले चित्र का प्रत्येक विन्दु **ब**$_2$ पर यथास्थान अंकित हो जाता है। **न** के स्थान में साधारण बिजली के लैम्प काम में नहीं आ सकते क्योंकि उनमे तार गरम होकर प्रकाश उत्पन्न होता है और इस कार्य मे कुछ देर लगती है। अतः शीघ्रता पूर्वक उस की ज्योति धारा की प्रबलता के अनुपात से नही बदल सकती। नीयन लैम्प का वर्णन परिच्छेद 28 में है। उसे प्रदीप्त होने और बुझने मे इतना कम समय लगता है कि एक सैकंड में लाखों बार वह जलाया और बुझाया जा सकता है।

उपर्युक्त विधि मे जो मूल बाते बताई गई है वे चित्र-प्रेषण की सभी विधियों में समान रूप से काम मे आती है। ये मूल बाते निम्नलिखित है :—

(1) चित्र के प्रत्येक विन्दु को क्रमशः प्रदीप्त करना और शेष चित्र को अदीप्त रखना।

(2) प्रदीप्त विन्दु से परावर्तित प्रकाश से विद्युत-धारा की प्रबलता में घट-बढ़ उत्पन्न करना।

(3) धारा की इस घट-बढ़ के द्वारा दूर स्थित लैम्प की ज्योति में परिवर्तन करना।

(4) इस लैम्प के प्रकाश के द्वारा क्रमशः एक-एक विन्दु करके नवीन चित्र का निर्माण करना।

(5) प्रथम और चतुर्थ क्रिया की संकालत्व (synchronism)।

इन पांचों बातों के लिए भिन्न भिन्न आविष्कारकों ने भिन्न भिन्न उपायों का अवलम्बन किया है। इसी से अनेक प्रकार की विधियाँ प्रचलित हो गई हैं। अब यह काम रेडियो-तरंगों से भी लिया जाता है।

27·17—**टेलीविजन** (Television)। इसी उपाय में कुछ उन्नति करके अब यह भी सम्भव हो गया है कि हम न केवल चित्रों को तार या रेडियो द्वारा

भेज सकें किन्तु अब हम चलते फिरते सजीव दृश्य को अपनी आँख से देख भी सकते हैं। इस क्रिया को टेलीविज़न या दूरवीक्षण कहते हैं।

चलती फिरती चीजों को देखने के लिए हमारे नेत्रों का दृष्टि-निर्बंध (persistence of vision) हमें सहायता करता है। जो प्रकाश हमारे नेत्र में पहुँचता है उसका प्रभाव प्रायः $\frac{1}{10}$ सैकंड तक नेत्र पर बना ही रहता है। आकाश में बिजली की जो चमक $\frac{1}{1000}$ सैकंड से कम ही समय में समाप्त हो जाती है वह हमें $\frac{1}{10}$ सैकंड तक बराबर दिखलाई देती रहती है। नेत्र के इसी गुण के कारण सिनेमा में प्रति सैकंड 16 भिन्न चित्रों को देखकर भी हमें कुछ अस्वाभाविकता नहीं मालूम पड़ती। हमें ऐसा ही जान पड़ता है मानो हम वास्तविक दृश्य देख रहे हों। इससे प्रगट है कि टेलीविज़न के लिये उपर्युक्त चित्र-प्रेषण का कार्य इतने वेग से होना चाहिए कि पूरा चित्र $\frac{1}{16}$ सैकंड ही में बन जाय और यह कार्य बराबर इसी वेग से होता रहे।

इस की अब बड़ी अच्छी कई विधियों का आविष्कार हो गया है। उन सब का वर्णन यहाँ सम्भव नही है। हम केवल एक ही प्रारम्भिक विधि का वर्णन करेंगे क्योंकि उसी से मूल बात समझ में आ जायगी।

प्रेषक स्थान पर दृष्य के प्रत्येक बिन्दु के प्रकाश को क्रमशः किन्तु अत्यन्त शीघ्रता से प्रकाश वैद्युत सैल पर डालने का कार्य एक पहिये से लिया जाता है जिसे वीक्षण-चक्र (scanning disc) कहते हैं। चित्र 27·21 में यह दिखाया गया है। इसमें 32 छिद्र हैं जो एक सर्पिलाकार वक्र (spiral curve) पर स्थित हैं। अर्थात् छिद्रों की केन्द्र से दूरी क्रमशः बढ़ती जाती है और दो प्रतिवेशी छिद्रों की कोणीय दूरी बराबर रहती है।

जिस दृष्य का टेलीविज़न कराना हो पहिले तो उसका लैन्स की सहायता से साधारण कैमरे के समान ही एक वास्तविक प्रतिबिम्ब इस वीक्षण-चक्र पर बना लिया जाता है। इस चित्र की चौड़ाई दो प्रतिवेशी छिद्रों की पारस्परिक दूरी **कख** के बराबर होना चाहिए और लम्बाई प्रथम और अंतिम छिद्र की त्रिज्यीय दूरी **कप** के बराबर होना चाहिए। अतः जब यह पहिया घूमेगा तब पहिले तो प्रथम छिद्र प्रतिबिम्ब के सबसे ऊपर के भाग का प्रकाश क्रमशः छिद्र से पीछे की तरफ स्थित प्रकाश-वैद्युत सैल पर डालेगा। जब यह छिद्र प्रतिबिम्ब की प्रथम पंक्ति के अन्तिम बिन्दु पर पहुँच चुकेगा तब द्वितीय छिद्र ठीक उसी प्रकार प्रथम पंक्ति के नीचे वाली दूसरी पंक्ति के बिन्दुओं का प्रकाश क्रमशः प्रकाश-वैद्युत सैल पर पहुँचावेगा। इसी प्रकार 32 छिद्र क्रमशः समस्त चित्र की एक पंक्ति के बाद दूसरी पंक्ति के बिन्दुओं के प्रकाश को $\frac{1}{16}$ सैकंड में उत्तरोत्तर प्रकाश-वैद्युत सैल में पहुँचा देगा। एक समय

में एक ही विन्दु का प्रकाश उस सैल पर पहुँच सकेगा। इसके बाद पुनः प्रथम पंक्ति पर पहिला छिद्र अपना कार्य करने लगेगा। इसी प्रकार यह क्रिया बराबर होती रहेगी।

संग्रहण स्थान पर भी ठीक ऐसा ही वीक्षण-चक्र ठीक इतने ही वेग से घूमता रहता है और उस पर एक नीयन-लैम्प का प्रतिबिम्ब फ़ोकसित रहता है। इस
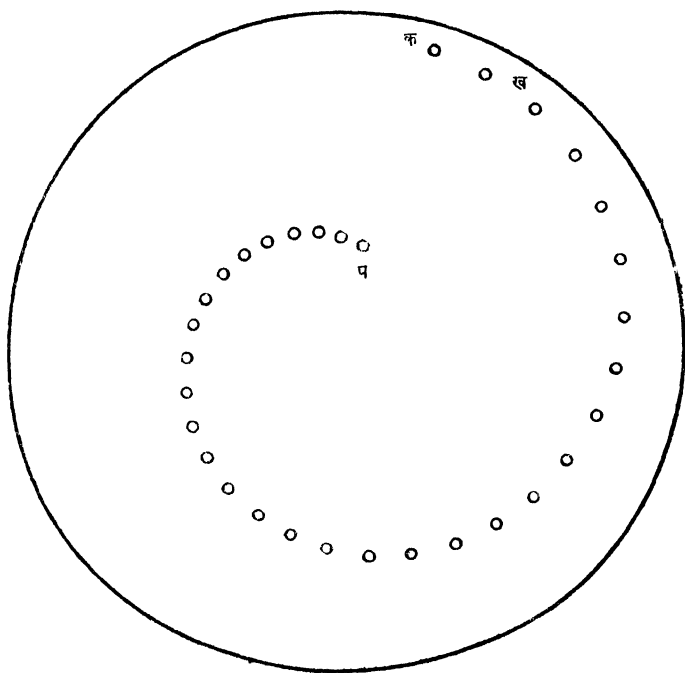
चित्र 27·21

प्रतिबिम्ब की लम्बाई चौड़ाई भी ठीक ऊपर वर्णित दृष्य-प्रतिबिम्ब के बराबर होती है। अतः चक्र के घूमने से इस के विभिन्न बिन्दुओं का प्रकाश भी क्रमशः छिद्रों में से निकल कर पीछे बैठे हुए मनुष्य के नेत्र में उत्तरोत्तर पहुँच जाता है और अपनी तीव्रता के अनुसार नेत्र-पटल पर तीव्र या मंद प्रकाश वाला विन्दु चित्रित कर देता है। दृष्टि निर्बंध के कारण उसे पूरा चित्र एक साथ ही दिखाई देता है, यद्यपि किसी एक क्षण पर केवल एक ही विन्दु का प्रकाश नेत्र में पहुँचता है।

इस नीयन-लैम्प में जो विद्युत्-धारा प्रवाहित होती है वह प्रेषक-स्थान की प्रकाश-वैद्युत सैल पर पड़ने वाले प्रकाश की तीव्रता के अनुरूप विभवत्व के जो परिवर्तन

उस सैल में होते हैं उनके द्वारा समंजित होती है। अर्थात् जब उस सैल पर अधिक तीव्र प्रकाश पड़ता है तब उसमे अधिक विभवत्व पैदा होता है और यह संग्रहण स्थान पर पहुँचकर नीयन लैम्प में अधिक तीव्र प्रकाश उत्पन्न कर देता है। अतः जो चित्र नेत्र को दिखाई देता है वह दृष्य का बिलकुल यथार्थ प्रतिरूप होता है।

प्रकाश-वैद्युत सैल के विभव-परिवर्तन बहुत क्षीण होते हैं। अतः पहिले उन्हें वाल्व-प्रवर्धकों के द्वारा बहुत प्रवर्धित कर लिया जाता है और तभी वे नीयन-लैम्प की धारा का समजन करने मे समर्थ हो सकते हैं।

इस विधि को व्यवहारोपयोगी बनाने का श्रेय लन्डन के बेयर्ड (Baird) को है जिन्होंने 1926 मे इसे जनता को सबसे पहिले दिखला दिया था। अमेरिका की बैल टेलीफोन कम्पनी (Bell Telephone Co.) ने भी इस सम्बंध मे बहुत कार्य किया है।

अब यह समझने में कुछ कठिनाई न होगी कि टेलीविजन में विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों का उपयोग किस प्रकार किया जा सकता है। जिस प्रकार शब्द के अनुरूप आरोपित तरंगे उत्पन्न की जाती है ठीक उसी प्रकार प्रकाश की तीव्रता के अनुरूप आरोपित तरंगें भी प्रेपक-स्थान पर उत्पन्न की जा सकती हैं। संग्रहण स्थान के एरियल द्वारा ग्रहण करके और प्रवर्धित करके उन्ही से संग्राही के नीयन लैम्प के प्रकाश मे परिवर्तन किया जा सकता है। इसी प्रकार प्रेषित्र और संग्राही वीक्षण-चक्र का वेग और उनकी कला के समंजन के लिए भी तरंगों ही के द्वारा प्र० धा० भेजी जाती है। साथ ही बातचीत के लिए भी तीसरी प्रकार की तरंगें भेजी जाती हैं। यद्यपि प्रचलित विधियों की क्रिया सिद्धान्ततः तो यही होती है किन्तु अब वीक्षण-चक्र का उपयोग नही होता। अब कैथोड-किरणों (cathode rays) के उपयोग से इसकी दक्षता बहुत बढ़ गई है और चित्र को 500-600 पंक्तियों में विभक्त करके वीक्षण करना सम्भव हो गया है जिससे चित्र की स्फुटता (definition) बहुत ही बढ़ गई है।

अब एक ही वाहक तरंग पर तीनों आरोपण साथ ही उत्पन्न कर दिये जाते हैं क्योंकि संग्रहण स्थान पर इन तीनों का विश्लेषण करके उन्हें पृथक्-पृथक् उपकरणों में ले जाने की युक्ति भी अब ज्ञात हो गई है।

वस्तुतः अब यह सारा कार्य इतना सरल हो गया है कि संगीत-प्रसारण ही के समान दृष्य-प्रसारण के केन्द्र भी कई देशों में कार्य करने लगे हैं जिनके द्वारा अब घर बैठे ही कई मील दूर के दृष्य को देखना और वहाँ के मनुष्यों की बोली सुनना बिलकुल सरल कार्य हो गया है। अभी इसमें कमी यह है कि इस कार्य के लिए बहुत छोटी

(प्राय: 3-4 मीटरलम्बी) तरंगों का व्यवहार करना पड़ता है जिनके सरल-रेखा-गमन के कारण ये पृथ्वी-तल पर बहुत दूर नहीं पहुँचाई जा सकतीं। प्रेषित्रों को बहुत ऊँचाई पर रखने से यह दूरी 40-50 मील तक बढ़ाई जा सकती है। इससे अधिक दूरी पर संग्रहण करने के लिए पुनर्नियोजित्र (relay) का उपयोग करना पड़ता है। इनमें पहिले दृष्य का संग्रहण किया जाता है और तत्काल ही उसका पुन: प्रसारण कर दिया जाता है। ऐसे कई पुनर्नियोजित्र-केन्द्रों को 40-50 मील व्यवधान से स्थापित कर के ही सैकड़ों मील से टेलीविज़न संभव हो सका है।

परिच्छेद 28

गैस में विद्युत्-धारा का प्रवाह

(Flow of Current through Gases)

28·01—**गैस की चालकता** (Conductivity of Gases) । साधारण अवस्था में सभी स्थायी गैसें अचालक होती हैं । उनकी अचालकता इतनी उत्कृष्ट होती है कि कई वर्षों तक यह निश्चित रूप से मालूम ही न हो सका कि उनमें कुछ चालकता होती भी है या नहीं । यह तो ज्ञात था कि किसी वस्तु को आविष्ट करके छोड़ देने पर शनैः शनैः उसका आवेश घटता जाता है किन्तु यह कहना कठिन काम था कि इस कार्य में चारों ओर की गैस का कितना हाथ है और उक्त वस्तु के विलागक आधार का कितना । सबसे पहिले सी० टी० आर० विलसन (C.T.R. Wilson) ने ही इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर दिया था ।

एक बिलकुल बन्द काँच की बोतल में पीतल की छड़ से दो सुवर्ण-पत्र लटका दिये गये (चित्र 28·01) । इस छड़ को एक दूसरी पीतल की छड़ से गंधक के द्वारा विलागित करके लटका दिया गया । यह दूसरी छड बोतल की अचालक डाट में से बाहर निकली थी और इसे 100 या 200 वोल्ट की बैटरी से जोड़ दिया गया था । एक पतले तार के द्वारा दोनो पीतल की छड़ों का सम्पर्क इच्छानुसार कराया जा सकता था । प्रारम्भ में क्षण भर के लिए इस सम्पर्क के द्वारा सुवर्णपत्र आविष्ट कर दिये गये । अब इन सुवर्णपत्रों का आवेश केवल बोतल की गैस ही के द्वारा उनमें से निकल सकता था क्योंकि गंधक के ऊपर वाली छड़ का विभव तो बैटरी के कारण बिलकुल बदल ही नहीं सकता था ।
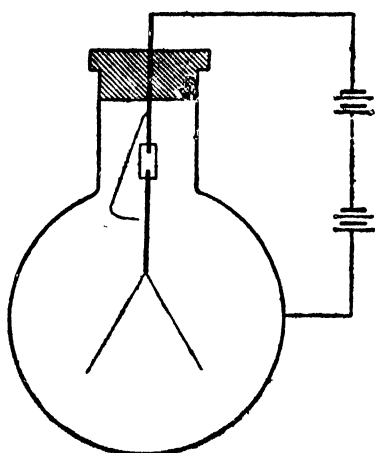
चित्र 28·01

यदि सुवर्णपत्रों का विभव किसी तरह थोड़ा सा भी घटता तो गंधक के द्वारा तो बैटरी से कुछ और आवेश सुवर्णपत्रों में पहुँच जाता। इस मार्ग से निकल कर अधिक विभव वाली छड़ में वह नहीं जा सकता था। इस अवस्था में भी सुवर्ण पत्रों का आवेश धीरे-धीरे घट गया। अतः सिद्ध हो गया कि गैस में भी थोड़ी बहुत चालकता अवश्य है। यह है इतनी थोड़ी कि प्रति सैकंड जो विद्युत् सुवर्णपत्रों से गैस हटा लेती है उसका परिमाण प्रायः 10^{-8} स्थिर-वैद्युत मात्रक प्रति घन सम० से अधिक नहीं होता।

किन्तु कुछ विशेष अवस्थाओं में गैस की चालकता बहुत ही बढ़ जाती है। यदि रेडियम, थोरियम इत्यादि पदार्थ गैस के समीप उपस्थित हों, अथवा इसमें एक्स-किरणें प्रवेश कर जायें तो यह चालकता बढ कर कई गुणी हो जाती है। इसी प्रकार अन्य भी कई कारण हैं जिनका यथा-स्थान वर्णन किया जायगा।

इस कृत्रिम चालकता के सम्बंध में कुछ बातें स्मरण रखने के योग्य हैं। प्रथम तो यह कि एक बार उत्पन्न होने पर यह चालकता गैस में कुछ देर तक बनी रहती है किन्तु बाद में स्वयमेव ही धीरे-धीरे नष्ट हो जाती है। दूसरे यदि ऐसी गैस को काँच-ऊर्णा (glass-wool) में से छान लिया जाय तो भी चालकता नष्ट हो जाती है। पानी में से इसके बुलबुले निकालने पर अथवा उसे तीव्र वैद्युत क्षेत्र में रखने से भी इस चालकता का नाश हो जाता है। ऐसी चालकता-युक्त गैस को आयनित गैस (ionised gas) कहते हैं।

28·02—**आयनीकरण सिद्धान्त** (Ionisation Theory)। परिच्छेद 21 में विलयनों की चालकता का कारण यह बतलाया जा चुका है कि विलयन में विलीन द्रव्य के अणुओं के टुकड़े हो जाते हैं जिनमें कुछ पर धन आवेश रहता है और कुछ पर ऋण आवेश। इन आविष्ट टुकड़ों का नाम आयन (ion) रखा गया है और इन्हीं आयनों की गति के कारण विलयनों में विद्युत्-धारा का प्रवाह होता है।

गैसों की चालकता का भी कारण ठीक ऐसा ही जान पड़ता है। रेडियम अथवा एक्स-किरणों के कारण गैस अणु आयनों में विभक्त हो जाते हैं और यह आयनीकरण ही उनकी चालकता का उत्पादक है। धन आयन एक दिशा में चलते हैं और ऋण आयन विपरीत दिशा में। इस धारणा के प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं जो आगे चलकर मालूम होंगे।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि आयनीकरण ही गैसों और विलयनों में चालकता का कारण है तो इन दोनों में विद्युत्-प्रवाह के नियमों में कुछ भी अन्तर

नही होना चाहिए। किन्तु वास्तव में ऐसा नही होता। इसके दो मुख्य कारण है। विलयन में तो आयनों की उत्पत्ति विलयन की क्रिया ही के द्वारा हो जाती है किन्तु गैसों में किसी न किसी बाह्य आयनोत्पादक वस्तु की आवश्यकता होती है। दूसरे, गैसों में आयनों की संख्या बहुत ही कम होती है। अत्यन्त तनु विलयन मे भी इतने अधिक आयन उपस्थित रहते है कि प्रबल से प्रबल आयनोत्पादक वस्तु भी गैस मे उस संख्या के बराबर तो क्या उसके अत्यन्त अल्पांश के बराबर भी आयन उत्पन्न नही कर सकती।

28·03 —**आयनीकरण-कोष्ठ** (Ionisation Chamber)। आयनित गैस की चालकता का अध्ययन करने के लिए सबसे आवश्यक उपकरण का नाम आयनीकरण-कोष्ठ है। यह भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न प्रकार का बनाया जाता है किन्तु चित्र 28·02 मे उस के आवश्यक भाग दिखलाये गये है।
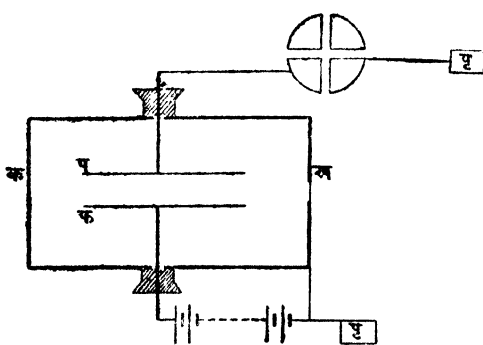
चित्र 28·02

क ख धातु से आवृत वायुरुद्ध (air-tight) कोष्ठ है। इस मे दो विलागक डाटों के द्वारा दो समान्तर धातु-पट्ट **प**, **फ** लगे है। यही विद्युत्-अग्रों (electrodes) का काम करते है। बैटरी का धन ध्रुव **फ** से जुड़ा है और ऋण ध्रुव कोष्ठ के आवरण मे तथा पृथ्वी से। प्रारम्भ में **प** भी पृथ्वी से जोड़ दिया जाता है और तब उसे विलागित कर देते है। ऐसी दशा में **प** और **फ** के बीच में वैद्युत क्षेत्र बन जाता है और गैस में उपस्थित धन आयन **प** की ओर दौड़ते है और उस पर पहुँच कर उनका धन-विभव धीरे-धीरे बढ़ा देते है। जितनी ही अधिक चालकता गैस में होगी उतनी ही शीघ्रता से **प** का धन-विभव बढ़ेगा। अतः यदि किसी उपाय से **प** की इस विभव-वृद्धि की दर नाप ली जाय तो चालकता का नाप हो सकता है। आयनोत्पादक वस्तु खिड़की **ख** में से प्रवेश करती है।

इस विभव-वृद्धि का नाप वास्तव में गैस में प्रवाहित होने वाली विद्युत्-धारा का ही नाप है। इस धारा को आयनीकरण-धारा (ionisation current)

कहते हैं। इसे नापने के लिए अच्छे से अच्छे धारामापी भी काम में नहीं आ सकते क्योंकि इस धारा का परिमाण प्रायः 10^{-14} अम्पीयर के अनुमान का होता है। धारामापी जितनी धारा को नाप सकते हैं उससे यह प्रायः दस हजार गुणी कम है। अतः इस नाप के लिए सुवर्णपत्र-विद्युद्दर्शी अथवा पाद-विद्युन्मापी (quadrant electrometer) का उपयोग किया जाता है।

28·04—**आयनीकरण-धारा और विभवान्तर का संबंध**। यदि उपर्युक्त कोष्ठ मे गैस भरकर **फ** का विभव क्रमशः बढ़ाया जाय और उसके प्रत्येक विभव के लिए आयनीकरण-धारा का परिमाण नाप लिया जाय तो क्या परिणाम निकलेगा? ठोस चालकों में तो ओह्म के नियमानुसार धारा का परिमाण **प** और
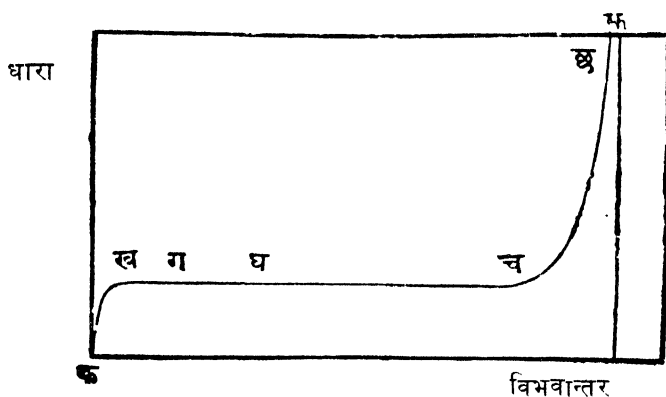
चित्र 28·03

फ के विभवान्तर का अनुपाती होता है किन्तु गैस मे यह बात नहीं पाई जाती। लेखा-चित्र 28·03 से यह सम्बध स्पष्ट हो जायगा।

जब विभवान्तर बहुत कम होता है तब तक तो धारा प्रायः ओह्म के नियम का पालन करती है अर्थात् उसका परिमाण विभवान्तर का अनुपाती होता है (**क ख**)। किन्तु ज्यों-ज्यों विभवान्तर बढ़ता जाता है त्यों-त्यों धारा के परिमाण की वृद्धि भी घटती जाती है (**ख**) और अन्त में तो यह दशा हो जाती है कि विभवान्तर की वृद्धि का धारा पर कुछ भी असर नही होता (**ग घ च**)। अर्थात् धारा एक नियत मान को प्राप्त कर लेने के बाद और नही बढ़ती। इस दशा में यह धारा संतृप्ति-धारा (saturation current) कहलाती है और जिस विभवान्तर पर धारा संतृप्त हो जाती है वह संतृप्ति-विभवत्व (saturation voltage) कहलाता

है। इसके बाद यदि विभवत्व बहुत अधिक बढ़ा दिया जाय तो धारा फिर सहसा बहुत ही अधिक बढ़ जाती है और अन्त मे बिलकुल रुक जाती है (**च छ ज**)। इसी को स्फुल्लिग कहते है।

इस विभवत्व का अथवा संतृप्ति-धारा का मान मुख्यत: निम्न बातों पर निर्भर है :—

(१) गैस की प्रकृति

(२) गैस का दबाव

(३) विद्युत्-अग्रों के बीच की दूरी

(४) आयनीकरण की प्रचुरता (degree of ionisation)

साधारणतया यदि आयनीकरण प्रचुर न हो तो विद्युत्-अग्रों के बीच में प्राय: 20-30 वोल्ट प्रति समः का विभवान्तर संतृप्ति के लिए पर्याप्त होता है।

आयनीकरण-कोष्ठ के विद्युत्-अग्र **प** को ऊपर-नीचे हटाकर, **प** और **फ** की दूरी का प्रभाव ज्ञात हो सकता है। यह प्रभाव ठोस चालकों से विपरीत होता है। यदि विभवान्तर स्थिर रख कर ठोस चालक की लम्बाई बढ़ा दी जाय तो धारा का परिमाण घट जाता है। विद्युत-विश्लेप्य विलयनों के लिये भी यही नियम है। किन्तु गैस मे विद्युत्-अग्रों की दूरी बढ़ाने से संतृप्ति-धारा का परिमाण भी उसी अनुपात से बढ़ जाता है, यदि आयनोत्पादक प्रभाव सर्वत्र एकसमान हो।

इसी प्रकार संतृप्ति-धारा इन विद्युत्-अग्रों के क्षेत्रफल की तथा गैस के दबाव की भी समानुपाती होती है। वस्तुत: हम यों कह सकते है कि संतृप्ति-धारा विद्युत्-अग्रों के मध्यवर्ती गैस की मात्रा पर अथवा, और भी स्पष्ट शब्दों में, मध्यवर्ती गैस के अणुओं की संख्या पर निर्भर है।

ये बातें आयनीकरण सिद्धान्त के द्वारा आसानी से समझ में आ जाती हैं। आयनोत्पादक वस्तु प्रति सैकंड कुछ नियत संख्या धन-आयनों की और उतनी ही ऋण-आयनों की उत्पन्न करती है और इन सब पर विद्युत् की मात्रा भी ठीक बराबर होती है। ये सब बराबर इधर उधर दौड़ते रहते हैं और इनकी टक्करें भी होती रहती हैं। विपरीत-चिह्नीय आयनों के परस्पर आकर्षण के कारण प्रति सैकंड कुछ आयन पुन: अनाविष्ट अणुओं का रूप भी धारण कर लेते हैं। विद्युत्-अग्रों के विभवान्तर के कारण ये आयन विपरीत दिशाओं में गमन करते हैं। अत: धारा का परिमाण उपस्थित आयनों की संख्या और उनके वेग पर निर्भर है और यह वेग विभवान्तर पर निर्भर है।

यदि विभवान्तर बहुत कम हुआ तब तो बहुत ही थोड़े आयन विद्युत्-अग्रों पर पहुँचेंगे और इस कारण उपस्थित आयनों की संख्या में अधिक कमी न होगी। अतः धारा ओह्म का नियम पालन कर सकेगी। किन्तु जब विभवान्तर बढ़ने पर अधिक आयन विद्युत्-अग्रों पर पहुँचने लगेंगे तब प्रति क्षण गैस में उपस्थित आयनों की संख्या घटने लगेगी। अतः धारा का परिमाण भी विभवान्तर के अनुपात से न बढ़ सकेगा और अन्त में जब विभवान्तर और उसके कारण आयनों का वेग इतना अधिक हो जाय कि प्रति सैकंड जितने आयन उत्पन्न हों वे सब के सब एक सैकंड से पहिले ही विद्युत्-अग्र पर जा पहुँचे तो स्पष्ट है कि धारा का परिमाण इससे अधिक नहीं बढ़ सकता। विभवान्तर को और अधिक बढ़ाने से इन आयनों का वेग तो अवश्य ही कुछ बढ़ेगा किन्तु प्रति सैकंड विद्युत्-अग्रों पर पहुँचने वाले आयनों की संख्या नहीं बढ़ सकती क्योंकि प्रति सैकंड उत्पन्न होने वाले आयनों की संख्या आयनीकरण की प्रचुरता के द्वारा नियत हो चुकी है। जब बहुत ही अधिक विभवान्तर के द्वारा इन आयनों का वेग भी बहुत बढ़ जाता है तब अवश्य ये आयन भी अन्य अणुओं से टकराकर नवीन आयन उत्पन्न कर देते हैं और तब धारा भी बहुत बढ़ जाती है। ऐसी दशा में गैस प्रज्वलित हो उठती है और उसमें से शब्द भी उत्पन्न होने लगता है। इस घटना को वैद्युत स्फुलिंग (spark) कहते हैं। इसका वर्णन आगे चलकर किया जायगा।

28·05—**आयनों का वेग** (Velocity of Ions)। गैस के आयन अन्य अणुओं के समान ही सर्वदा इधर-उधर दौड़ते रहते हैं। अणु-सिद्धान्त के अनुसार वायु के अणुओं का औसत वेग 0°C तथा 76 सम० दबाव पर प्रायः 48,500 सम० प्रति सैकंड होता है। किन्तु इस तापीय-गति (thermal velocity) के द्वारा विद्युत् का प्रवाह नहीं होता क्योंकि जितने आयन एक दिशा में इस वेग से चलते हैं उतने ही विपरीत दिशा में भी चलते हैं। इस वेग के अतिरिक्त जो दूसरा वेग इन आयनों में वैद्युत क्षेत्र के कारण उत्पन्न होता है वही आयनीकरण का कारण है। यह वैद्युत वेग अपेक्षाकृत बहुत ही कम होता है। किसी अणु से टकराने के बाद जब से आयन वैद्युत क्षेत्र की दिशा में चलना प्रारम्भ करता है तब से उसका वेग धीरे-धीरे बढ़ता जाता है। किन्तु जब वह पुनः दूसरे अणु से टकराता है तब फिर उसे शून्य वेग से गति प्रारम्भ करना पड़ता है। अतः उसका औसत वेग अणु के मध्यमान-मुक्त-पथ (mean free path) की लम्बाई पर निर्भर है। जितनी अधिक यह लम्बाई होगी उतना ही अधिक औसत वैद्युत वेग भी उसका हो सकेगा।

इस वैद्युत वेग को नापने की कई विधियाँ हैं जिनमें रदरफोर्ड (Rutherford) और लैन्गविन (Langevin) की विधियाँ मुख्य हैं।

इन विधियों के द्वारा नापकर आयनों का जो वैद्युत वेग ज्ञात हुआ है उस से दो बात प्रगट है। (1) हाइड्रोजन जैसी हलकी गैस के आयनों का वेग भारी गैसो के आयनों के वेग से अधिक होता है। हाइड्रोजन में एक वोल्ट प्रति सम० के वैद्युत क्षेत्र में यह वेग धन-आयन का 6·70 तथा ऋण-आयन का 7·95 सम० प्रति सैकंड होता है।

(2) ऋण-आयन का वेग धन-आयन की अपेक्षा अधिक होता है किन्तु अधिक अणुभार वाली गैसों में वेग का यह अन्तर कम होता है।

28·06—**गैस के दबाव का आयन के वैद्युत वेग पर प्रभाव।** लेखाचित्र 28·04 में भिन्न-भिन्न दबावों (द) पर धन तथा ऋण आयनों के वैद्युत वेग (व) दिखलाये गये है। भुज (abscissa) दबाव का व्युत्क्रान्त (reciprocal) है। धन आयनों का वेग दबाव का उत्क्रमानुपाती है जैसा कि उसके सरल-रेखात्मक लेखाचित्र से स्पष्ट है। किन्तु ऋण आयनो का वेग दबाव घटाने पर बहुत अधिक बढ़ने लगता है। इससे जान पड़ता है कि धन आयन मे तो गैस का दबाव घटाने से कोई परिवर्तन नही होता किन्तु ऋण आयन भार मे हलका होता जाता है। वस्तुतः
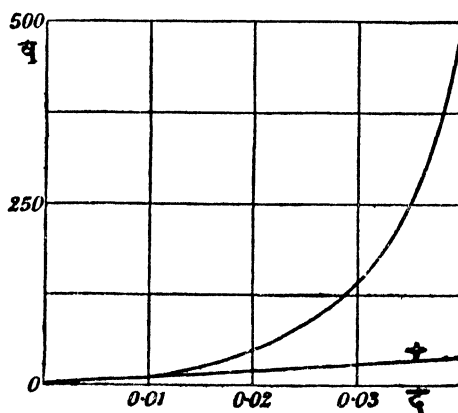
चित्र 28·04

बात यह है कि आयनीकरण में सबसे पहले तो अणुओं में से एक इलैक्ट्रान निकलता है जिससे शेष अणु धनाविष्ट होकर धन आयन बन जाता है। इस समय ऋण आयन निरा इलैक्ट्रान रहता है जिस का भार हाइड्रोजन परमाणु का भी $\frac{1}{1860}$ वां भाग होता है। साधारणतया यह मुक्त इलैक्ट्रान (free electron) शीघ्र ही किसी

अणु पर जा चिपकता है और वह अणु ऋणाविष्ट होकर ऋण आयन बन जाता है और उसका भार अणु के भार के बराबर ही रहता है। कम दबाव पर इलैक्ट्रान को अणु पर चिपकने का अवसर कम मिलता है। अतः वह अधिक देर तक मुक्त-अवस्था में बना रहता है। अतः ऋण आयनों का औसत भार बहुत कम हो जाता है।

28·07.—**आयनों का विसरण** (Diffusion of Ions)। जिस प्रकार दो गैसों के मिश्रण में यदि प्रारम्भ में दोनों के अणु पूरे आयतन में समानतः वितीर्ण न हो तो विसरण की क्रिया के द्वारा कुछ समय में ऐसी समता उत्पन्न हो जाती है, ठीक उसी प्रकार आयन भी विसरित होकर समस्त गैस में एक-समान फैल जाते हैं। वास्तव में आविष्ट होने के कारण आयन को हम एक भिन्न प्रकार का अणु ही समझ सकते हैं। इस विसरण का विस्तृत अध्ययन कर के टाउन्सेंड (Townsend) ने ऐसी युक्ति निकाल ली है जिसके द्वारा हमें यह ज्ञात हो सकता है कि यदि एक घन सम० गैस के समस्त अणु आयनित हो जावें तो आवेश की मात्रा कितनी होगी। इन प्रयोगों का वर्णन करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है किन्तु जिस परिणाम पर वे इनके द्वारा पहुँचे थे वे अवश्य ही जानने योग्य हैं। टाउन्सेंड के नाप के अनुसार प्रमाण दाब तथा टेम्परेचर पर एक घन सम० हाइड्रोजन के समस्त आयनित अणुओं का आवेश 0·44 विद्युत्-चुम्बकीय मात्रकों के बराबर होता है। यह हम जानते ही हैं कि प्रमाण दाब तथा टेम्परेचर पर प्रत्येक गैस के ग्राम-अणु (gram-molecule) अर्थात् M ग्राम का आयतन $2{\cdot}22 \times 10^4$ घन० सम० होता है जहाँ M उस गैस का अणु-भार है। अतः यह प्रमाणित हुआ कि एक ग्राम-अणु आयनों पर आवेश की मात्रा $0{\cdot}44 \times 2{\cdot}22 \times 10^4 = 9768$ वि० चु० मात्रक हुई। अर्थात् प्रत्येक आयन का $e/M = 9768$ वि० चु० मा० होता है।

विद्युत्-विश्लेषण के सम्बंध में हम पहिले ही देख चुके हैं कि 1 ग्राम हाइड्रोजन के आयनों पर 9650 मात्रक आवेश रहता है क्योंकि एक मात्रक विद्युत् के द्वारा $1{\cdot}04 \times 10^{-4}$ ग्राम हाइड्रोजन विद्युत्-विश्लेषण के द्वारा मुक्त होती है। वस्तुतः हाइड्रोजन के अतिरिक्त अन्य पदार्थों के आयनों के लिये भी हम देख चुके हैं कि एक ग्राम-अणु आयनों पर 9650 मात्रक आवेश रहता है। इस संख्या में तथा टाउन्सेंड की संख्या 9768 में इतना कम अन्तर है कि हम उसे प्रयोगिक भूल कह सकते हैं और तब यह परिणाम भी अनिवार्य है कि विद्युत्-विश्लेष्य विलयन के एक-संयोजक (monovalent) आयनों पर तथा गैस के आयनों पर बिलकुल एक ही मात्रा का आवेश रहता है। यह बात बड़े ही महत्व की है और इसी के द्वारा सबसे पहिले विद्युत् की परमाणुकता का पता चला था।

28·08—आयनों के द्वारा जल-वाष्प का द्रवण (Condensation)। यह बात बहुत काल से ज्ञात थी कि यदि शुद्ध वायु जलवाष्प से संतृप्त हो जाय तो उसका आयतन सहसा घटा देने से वह अति-तृप्त (super-saturated) हो जाती है। अर्थात् यद्यपि उसमें अब संतृप्ति से भी अधिक जल-वाष्प विद्यमान रहता है तब भी उसका द्रवण नही होता अर्थात वाष्प द्रवीभूत होकर जल की बूँदो का रूप धारण नही कर सकता। जब संतृप्ति-दाब की अपेक्षा जल-वाष्प का दाब 8 गुणा अधिक हो जाय तभी द्रवण प्रारम्भ होता है। किन्तु साथ ही यह भी ज्ञात था कि यदि वायु मे धूल के छोटे-छोटे कण विद्यमान हो तो द्रवण तुरन्त आरम्भ हो जाता है। इस बात का सम्बध जल के पृष्ठ-तनाव (surface tension) से है। जिस बूँद का व्यास एक नियत परिमाण से कम हो उसका अस्तित्व नही रह सकता। उसका वाष्प बन जाता है। यदि केन्द्र मे धूलकण हो तो प्रारम्भ ही से बूँद का व्यास बड़ा होगा और तब उस पर और अधिक वाष्प द्रवित होकर एकत्रित हो सकता है।

विल्सन (Wilson) ने 1897 में यह प्रमाणित किया कि धूलकण का काम गैस के आयन भी कर सकते हैं। आयन के आवेश के कारण भी छोटी बूँद के पृष्ठ से वाष्पन रुक जाता है और यह आवश्यकता नही रहती कि बूँद के केन्द्र में धूल का कण विद्यमान हो। यही क्यों, उन्होंने यह भी प्रमाणित कर दिया कि ऋण आयन इस कार्य के लिए अधिक अच्छे होते हैं। वस्तुत. ऋण आयनों की उपस्थिति में जब जल-वाष्प का दाब संतृप्ति-दाब से चार गुणा अधिक हो जाय तभी द्रवण प्रारम्भ हो जाता है किन्तु धन आयनों के द्वारा द्रवण तब होता है जब यह दाब 6-गुणा हो जाय।

इस दाब को संतृप्ति-दाब से 4-गुणा या 6- गुणा अधिक करने के लिए रुद्धोष्म (adiabatic) विधि से गैस का प्रसार कराया जाता है। इस से टेम्परेचर घट जाता है और संतृप्ति-दाब भी घट जाता है। जिस पात्र में गैस होती है उसका आयतन सहसा बढाकर 1·26 गुणा कर देने से ऋण आयनों पर जल की बूँदे बन जाती हैं और 1·30 गुणा कर देने से धन आयनों पर भी बूँदे बनने लगती है। किन्तु यदि आयनोत्पादक कारण उपस्थित न हो तो इस प्रकार आयतन को 1·375 गुणा बढ़ा देने पर भी बूँदो का कोई चिह्न दिखलाई नही देता।

वैद्युत क्षेत्र में इन बूँदों को रखने से यह भी प्रमाणित हो गया कि इन के गर्भ में ऋण या धन आवेश-युक्त आयन वास्तव में उपस्थित हैं।

28·09.—आयन पर आवेश की मात्रा (Charge of an Ion)। विलसन के इन प्रयोगों के द्वारा आयन पर के वैद्युत आवेश को नापने की बड़ी अच्छी

युक्ति निकल आई है। चित्र 28·05 में इस कार्य के लिए उपयुक्त उपकरण दिखलाया गया है। इसे अभ्र कोष्ठ (cloud chamber) कहते हैं। **ख** वह कोष्ठ है जहाँ गैस का प्रसार कराया जाता है। **प** पिस्टन है जो पहिले उसके नीचे की वायु के दाब के कारण ऊँचा रहता है किन्तु नीचे की वायु का दाब घटा देने पर तुरन्त नीचे
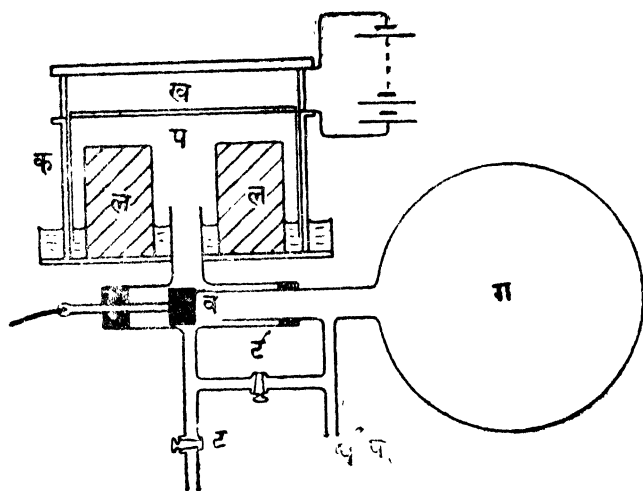
चित्र 28·05

खिसक कर गैस का प्रसार करा देता है। जल की संधि के द्वारा **ख** को वायु-रुद्ध कर दिया गया है। टोंटी **ट** के द्वारा कुछ वायु घुसा देने से **प** इच्छानुसार ऊपर उठाया जा सकता है। **ग** एक पात्र है जिसमें से पम्प के द्वारा वायु को निकाल कर उसे निर्वात (vacuum) बना दिया जाता है। इसका मुख डाट **व** के द्वारा बन्द है जिसे दस्ते के द्वारा हटाते ही **प** की वायु **ग** में प्रवेश करती है और **प** भी तुरन्त ही नीचे गिर पड़ता है। **ख** की गैस का प्रारम्भिक तथा अंतिम दबाव नापने के लिए एक दाब-मापी (manometer) भी लगा दिया जाता है।

प्रसार-कोष्ठ **ख** में कितना जल-वाष्प द्रवीभूत होता है यह जानना कुछ कठिन नहीं है। यदि **ख** का प्रारम्भिक आयतन v_1 और टेम्परेचर T_1 ज्ञात हो और अंतिम आयतन v_2 भी नाप लिया जाय तो रुद्धोष्म-प्रसार के द्वारा उसका टेम्परेचर कितना कम होगा यह आसानी से ज्ञात हो सकता है क्योंकि

$$T_1 v_1^{\gamma-1} = T_2 v_2^{\gamma-1}$$

अब यह भी परिकलन कर लेना सरल कार्य है कि T_1 टेम्परेचर पर ख की गैस को वाष्प-संतृप्त करने के लिए कितने जल की आवश्यकता है और T_2 पर कितने की। यदि ये परिमाण क्रमशः M_1 और M_2 ग्राम हों तो स्पष्ट है कि प्रसार के कारण द्रवीभूत होने वाले जल का भार $M_1 - M_2$ ग्राम होगा।

इस द्रवीभूत जल के वाष्प की अत्यन्त छोटी-छोटी बूंदे बन जावेंगी और वे सब कोष्ठ ख मे बादल के समान दिखलाई पड़ेगी। थोडी देर तक गौर करने से मालूम हो जायगा कि यह बादल धीरे-धीरे नीचे की ओर गिर रहा है। दूरबीन से देखकर इसके गिरने का वेग भी नापा जा सकता है। यह नाप बड़े काम का है क्योंकि इसके द्वारा बूँदों का व्यास मालूम हो सकता है। स्टोक्स (Stokes) ने अपनी विख्यात परीक्षाओं के द्वारा इस नियम का आविष्कार किया था कि यदि बूँद की त्रिज्या a हो, गैस का श्यानता-गुणांक (coefficient of viscosity) η हो, जल का घनत्व ρ हो और गुरुत्व-त्वरण g हो तो जल की बूँद गैस में एक-समान वेग v से गिरेगी क्योंकि बूँद के पृष्ठ पर वायु की श्यानता से जो बल लगेगा वह होगा $F = 6\pi a \eta v$ और यदि एक बूँद का भार m हो तो उस पर गुरुत्वबल होगा

$$mg = \tfrac{4}{3}\pi a^3 \rho g$$

जब $F = mg$ हो जायगा तब त्वरण कुछ भी न रहेगा। इन समीकरणों से

$$v = \frac{2}{9}\,\frac{a^2 g \rho}{\eta}$$

अतः v को नाप लेने से a ज्ञात हो जायगा और a ज्ञात हो जाने पर प्रत्येक बूँद का द्रव्यमान $m = \frac{4}{3}\pi a^3 \rho$ भी ज्ञात हो जायगा। यदि कुल बूँदों की संख्या N हो तो स्पष्ट है कि

$$m\mathrm{N} = \tfrac{4}{3}\pi a^3 \rho \times \mathrm{N} = M_1 - M_2$$

इस प्रकार कुल बूँदों की संख्या अथवा आयनों की संख्या N ज्ञात हो सकती है।

इन समस्त आयनों का आवेश भी आसानी से नापा जा सकता है क्योंकि यदि नीचे वाले जल को विद्युन्मापी से संबंधित कर दे और इस बादल को पूरा बैठ जाने दें तो यह सारा आवेश जल मे पहुँच कर विद्युन्मापी के द्वारा नापा जा सकेगा।

इस उपाय से टामसन (J. J. Thomson) ने 1898 में एक आयन के आवेश को सबसे पहिले नापा था।

इस विधि को एच० ए० विल्सन (H. A. Wilson) ने एक और परिवर्तित रूप दिया था। सब बातें तो वही थी और प्रत्येक बूंद का भार m भी स्टोक्स के नियम के द्वारा ही नापा गया था किन्तु अब बूंदों की संख्या तथा उनके सम्मिलित

आवेश को नापने की आवश्यकता न रही। विल्सन ने गुरुत्व के विपरीत वैद्युत बल लगाकर बूंदों का नीचे गिरना रोक दिया। इन दो विरोधी बलों के कारण जल की बूंदें निराधार गैस में स्थिर हो गई। यदि इस वैद्युत क्षेत्र की तीव्रता F हो और प्रत्येक बूंद पर आवेश की मात्रा e हो तो इस सन्तुलन के लिए आवश्यक है कि

$$eF = mg = \frac{4}{3}\pi a^3 \rho g$$

अतः F और a के नाप से ही e ज्ञात हो सकता है।

इन दोनों विधियो मे एक बड़ा दोष यह है कि जल की बूंदों के बन जाने पर गैस का टेम्परेचर पुनः बढ़ने लगता है जिसके कारण जल का वाष्पन होकर बूंदों का भार घटने लगता है। अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान मिलीकन (Millikan) ने इस त्रुटि को दूर करने का उपाय भी निकाल लिया।

28·10—**मिलीकन की विधि** (Millikan's Method)। इस विधि में और विल्सन की विधि मे मुख्य भेद तो यह है कि जल की बूंदों के स्थान में मिलीकन ने तेल की बूंदों का उपयोग किया है जिस से कि उसके वाष्पन का प्रश्न ही न उठे। ये तेल की बूंदें शीकर-पिचकारी (spray-pump) के द्वारा उत्पन्न की जाती हैं।

दूसरा भेद यह है कि मिलीकन ने सब बूंदों के समुदाय में से किसी अकेली एक बूंद का सूक्ष्म-दर्शक के द्वारा निरीक्षण किया। इसी बूंद की त्रिज्या स्टोक्स के नियम के द्वारा नापी और इसी पर विपरीत वैद्युत बल लगाकर और उसे निराधार स्थिर रखकर उसके आवेश को नापा।

चित्र 28·06 मे मिलीकन के उपकरण का रूप दिखलाया गया है। एक
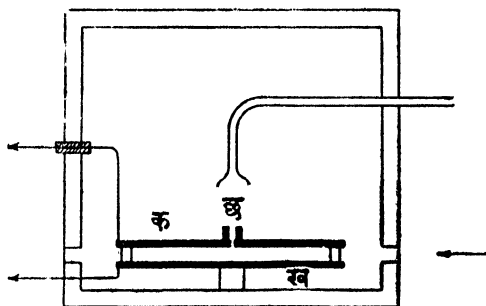
चित्र 28.06

बड़े से बक्स मे दो पीतल की पट्टिकाएँ **क** और **ख** समान्तर स्थित हैं और उनकी दूरी d है। इन दोनों के बीच में ही बूंदों का निरीक्षण किया जाता है और इन्हीं को

उच्च विभवत्व V की बैटरी से जोड़ कर बूँदों को स्थिर रखने वाला वैद्युत क्षेत्र $F=\frac{V}{d}$ उत्पन्न किया जाता है। ऊपर की पट्टिका में एक छोटा सा छिद्र **छ** है और उसके ऊपर पिचकारी के द्वारा अत्यन्त छोटी-छोटी तेल या पारे की बूंदों का शीकर (spray) उत्पन्न किया जाता है। ये बूंदे नीचे गिरती हैं और इनमें से कुछ **छ** में होकर **क** और **ख** के बीच में पहुँच जाती है। यहाँ की गैस या तो स्वंय ही आयनित होती है या किसी आयनोत्पादक (यथा एक्स-किरणों) के द्वारा आयनित कर दी जाती है। जब कोई आयन बूंद से टकराकर उसे आविष्ट कर देता है तभी वह बूँद इस प्रयोग के लिये उपयोगी हो जाती है। और तब वह वैद्युत क्षेत्र की दिशा बदल-बदल कर कई घंटो तक लगातार ऊपर-नीचे चलती हुई नज़र के सामने रखी जा सकती है।

वस्तुत: इस प्रयोग में बूंद को अब स्थिर नही रखा जाता। वैद्युत-क्षेत्र लगा कर तथा बिना वैद्युत क्षेत्र के बूँद के वेग v_2 और v_1 नाप लिये जाते है। पहिली अवस्था मे वैद्युत-क्षेत्र तथा गुरुत्व-बल दोनो एक साथ लगते है और दूसरी अवस्था मे केवल गुरुत्व-बल। अत:

$$Fe+mg=6\pi\eta av_2$$

तथा $$mg=6\pi\eta av_1$$

$$\therefore \quad Fe=6\pi\eta a\ (v_2-v_1)$$

$$\therefore \quad Fe=\frac{v_2-v_1}{v_1}\ mg$$

$$\therefore \quad e=\frac{v_2-v_1}{v_1}\times\frac{1}{F}\times 6\pi\eta v_1 a.$$

किन्तु $$F=\frac{V}{d} \text{ तथा } mg=\tfrac{4}{3}\pi a^3\rho g=6\pi\eta av_1$$

$$\therefore \quad a^2=\frac{6\pi\eta v_1}{\frac{4}{3}\pi\rho g}$$

$$\therefore \quad e=\frac{v_2-v_1}{v_1}\times\frac{d}{V}\times\frac{(6\pi\eta v_1)^{3/2}}{(\frac{4}{3}\pi\rho g)^{1/2}}$$

यथार्थता के लिए इस समीकरण में ρ के स्थान में $\rho-\rho'$ लिखना चाहिए (ρ' = वायु का घनत्व) क्योंकि वायु का उत्प्लावक बल भी तो बूँद पर लगता है।

इस सम्बंध में एक बात और भी स्मरण रखने के योग्य है। एक ही बूंद पर एक से अधिक आयन भी चिपक सकते है और उनमें धन और ऋण दोनों प्रकार के

आयन सम्मिलित हो सकते हैं। कभी कभी तो जिस बूंद का प्रेक्षण हो रहा हो उसी पर सहसा कोई नया धन अथवा ऋण आयन आकर चिपक जाता है और तब **क** और **ख** का विभवान्तर घटा-बढ़ा कर उस बूंद को स्थिर करना पड़ता है।

यह कठिनाई वास्तव में विज्ञान के लिए परम उपयोगी सिद्ध हुई है। क्योंकि यद्यपि मिलीकन को भिन्न-भिन्न बूँदो पर भिन्न-भिन्न परिमाण का आवेश मिला किन्तु वे सब आवेश थे एक विशेष परिमाण के अपवर्त्य (multiple)। यदि इस अल्पतम परिमाण को हम e कहें तो बूँदों पर जो आवेश मिला वह सदैव $n.e$ के बराबर था और n का मान सदा पूर्णांक पाया गया। इसके अतिरिक्त जब कभी किसी बूँद का आवेश प्रेक्षण करते ही करते सहसा बदल गया तब देखा गया कि वृद्धि या कमी सदा e के बराबर होती है।

विद्युत् की परमाणुकता का इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण और क्या मिल सकता था? इसके द्वारा निर्विवाद सिद्ध हो गया कि विद्युत् के भी अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु होते हैं जिनके आवेश की मात्रा e होती है। इस परमाणु ही को अब हम इलैक्ट्रान (electron) कहते हैं। इन्हीं इलैक्ट्रानो के चिपक जाने से कोई भी अणु ऋण-आयन बन जाता है।

मिलीकन की विधि से इस इलैक्ट्रानिक आवेश का परिमाण $4{\cdot}80 \times 10^{-10}$ स्थिर-वैद्युत-मात्रक $= 1{\cdot}60 \times 10^{-20}$ विद्युत-चुम्बकीय-मात्रक निकाला है और इस नाप की यथार्थता भी इतनी अधिक है कि संख्या में प्राय: 0·1 प्रतिशत से अधिक भूल नहीं समझी जाती।

28·11—**स्फुल्लिंग विसर्ग** (Spark Discharge)। अनु० 28·04 में यह बताया जा चुका है कि विभवान्तर अधिक होने पर आयनों का वेग बढ़ जाता है और इनकी टक्करों से अन्य अणु टूट जाते हैं और नवीन आयन प्रचुर मात्रा में बनने लगते हैं। तब प्रकाश और ध्वनि के साथ विद्युत्-अग्रों के बीच में स्फुल्लिंग के द्वारा विसर्ग होता है। इस स्फुल्लिंग-विसर्ग का प्रारम्भ करने के लिए जितने विभवान्तर V की आवश्यकता होती है वह निम्न समीकरण द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

$$V = a + bd$$

इसमें d विद्युत्-अग्रों के बीच की दूरी है और a तथा b नियतांक हैं जो प्रत्येक गैस के लिए भिन्न होते हैं। जब d बहुत छोटा होता है तब यह समीकरण ठीक नहीं होता। विद्युत्-अग्रों की धातु का स्फुल्लिंग-विभव पर कुछ भी असर नहीं होता। केवल ऐल्युमिनियम और मैगनीशियम के अग्रों से स्फुल्लिंग-विभव कुछ कम हो जाता है।

ज्यों-ज्यों d घटाया जाता है त्यों-त्यों V भी घटता जाता है। किन्तु जब d किसी निश्चित निम्नतम मान को प्राप्त कर लेता है तब V फिर बढ़ने लगता है। इस निम्नतम स्फुल्लिग-दैर्घ्य का मान d गैस के दबाव p का उत्क्रमानुपाती होता है। अर्थात्

$$p.d = \text{नियत}$$

वायु में साधारण वायुमंडलीय दबाव पर इस क्रान्तिक (critical) स्फुलिंग-दैर्घ्य का मान लगभग 0·1 मम० होता है किन्तु यदि दबाव घटाकर 1 मम० कर दिया जाय तो d प्राय· 8 मम० हो जाता है।

इसी प्रकार यदि d को नियत रखकर गैस का दबाव घटाया जाय तो विभवान्तर V भी घटता जाता है किन्तु एक अल्पतम क्रान्तिक मान प्राप्त करने के बाद फिर बढ़ने लगता है।

पाशन (Paschen) के नियमानुसार स्फुल्लिग-विभवान्तर V अग्रों के बीच की गैस की मात्रा का अनुपाती है। अर्थात्

$$V \propto pd$$

या

$$V \quad kpd$$

क्रान्तिक दबाव के ऊपर तथा नीचे k के मूल्य भिन्न होते हैं। स्फुलिंग विभवान्तर विद्युत्-अग्रो की आकृति पर भी निर्भर होता है। नोकदार अग्रो के लिए इसका मान कम होता है।

बहुत उच्च विभवान्तर बड़े बड़े प्रायः 10 सम० व्यास वाले पालिश किये हुए पीतल गोलों के बीच मे स्फुल्लिग उत्पन्न होने के लिए आवश्यक महत्तम दूरी के द्वारा नापे जाते हैं। इस काम के उपकरण को गोल-व्यवधान किलो-वोल्ट-मापी (spheregap kilovoltmeter) कहते हैं।

28·12—**बुरुश-विसर्ग** (Brush Discharge)। जब विद्युत्-अग्र छोटे आकार के होते हैं और उनके बीच की दूरी अधिक होती है तब दोनों के बीच में क्षेत्र की तीव्रता सर्वत्र एक-समान नहीं होती। इस दशा मे कोई एक चमकदार स्फुल्लिग नही नजर आती किन्तु विद्युत्-अग्रों के निकट जहाँ वैद्युत क्षेत्र सबसे अधिक तीव्र होता है, एक-एक प्रदीप्त बुरुश सा नजर आता है जिसमे अनेक दीप्त रेखाएँ देख पड़ती हैं। ये अंधेरे कमरे ही में दिखलाई दे सकती हैं और ग़ौर से देखने पर भी ये एक अग्र से दूसरे अग्र तक लगातार नही नजर आती। ऐसा मालूम होता है कि बीच की वायु ही में इनका अंत हो जाता है। हां, वायु का दबाव घटाने पर इनकी लम्बाई बढ़ जाती है और अंत मे दूसरे विद्युत्-अग्र तक ये फैल जाती है।

जिस अल्पतम विभव पर ये बुरुश प्रगट होते हैं वह उस विद्युत्-अग्र के विभव-चिह्न पर निर्भर है। ऋण-चिह्नीय अग्र पर ये कम विभव पर प्रगट हो जाते हैं और धन-चिह्नीय अग्र पर अधिक विभव की आवश्यकता होती है। बात यह है कि ऋण विद्युत्-अग्र के निकट धन-आयनों का वेग इतना बढ़ जाता है कि वे दूसरे अणुओं से टकराकर भी नवीन आयन बना सकते हैं और स्वयं विद्युत्-अग्र से टकरा कर भी आयन उत्पन्न कर सकते हैं। किन्तु धन-अग्र से टकरा कर ऋण-आयन अर्थात् हलके इलैक्ट्रान नवीन आयन उत्पन्न नहीं कर सकते।

28·13—**विसर्ग-नलिका की घटनाएँ** (Phenomena in the Discharge Tube)। यदि गैस को प्रायः 3-4 मम० व्यास वाली तथा प्रायः 50 मम० लम्बी नली में भर दिया जाय और इस नली के दोनों सिरों पर किसी धातु के विद्युत्-अग्र लगा दिये जावें और तब गैस का दबाव किसी वायु-पम्प के द्वारा धीरे-धीरे घटाकर गैस में से विद्युत्-धारा चलाई जाय तो बहुत ही सुन्दर घटनाएँ देखने में आती हैं। प्रायः 2000 वोल्ट का विभवत्व इस प्रयोग के लिए अच्छा होता है। यह या तो बैटरी के द्वारा लगाया जाता है अथवा उच्च-विभव की डायनमो के द्वारा भी उत्पन्न किया जा सकता है। साधारणतया तो प्रेरण-कुंडली (induction coil) का ही उपयोग इस कार्य के लिए किया जाता है

जब तक गैस का दबाव 10 मम० से अधिक होता है तब तक तो विसर्ग होता ही नहीं। 10 मम० के दबाव पर नलिका में कड़कड़ाहट के शब्द के साथ कुछ लाल-लाल-सा प्रकाश दिखाई देने लगता है। जब गैस का दबाव प्रायः 4 मम० हो जाता है तब कड़कड़ाहट बन्द हो जाती है और केवल दोनो विद्युत्-अग्रों ही पर थोड़ी सी ज्योति दिखलाई देती है जिसे धन-ज्योति अथवा ऋण-ज्योति (positive or negative glow) कहते हैं। शेष नलिका में अंधकार ही रहता है (चित्र 28·07 (i))। किन्तु जब दबाव घट कर प्रायः 1·5 मम० रह जाता है तब ये ज्योतियां समस्त नलिका में फैल जाती हैं। विशेष कर धन-अग्र वाली ज्योति बहुत लम्बी हो जाती है और उसे धन-स्तम्भ (positive column) कहते हैं (चित्र iii)। दोनों ज्योतियों के बीच का अदीप्त भाग ख फ़ैरेडे का अदीप्त प्रदेश (Faraday dark-space) कहलाता है। अब ज्यों-ज्यों दबाव घटाया जाता है त्यों-त्यों यह स्पष्ट होने लगता है कि ऋण-अग्र के निकट वाली ज्योति के दो भाग हैं। एक भाग तो ऋण-अग्र ही से संलग्न है और दूसरा उससे कुछ हट कर। पहिले भाग को ऋण-अग्र ज्योति (cathode glow) और दूसरे को ऋण-स्तम्भ (negative column) कहते हैं। दोनों के बीच में जो छोटा सा प्रकाश-हीन स्थान रहता है वह क्रुक का अदीप्त

प्रदेश (Crooke's dark space) कहलाता है। धन-स्तम्भ पहले तो अविच्छिन्न दिखलाई देता है (चित्र iii-iv)। किन्तु कुछ और भी दबाव घटाने पर प्रायः 0·4 मम० पर उसमें भी कई छोटे-छोटे स्तर नजर आने लगते हैं (चित्र v,vi,vii)।
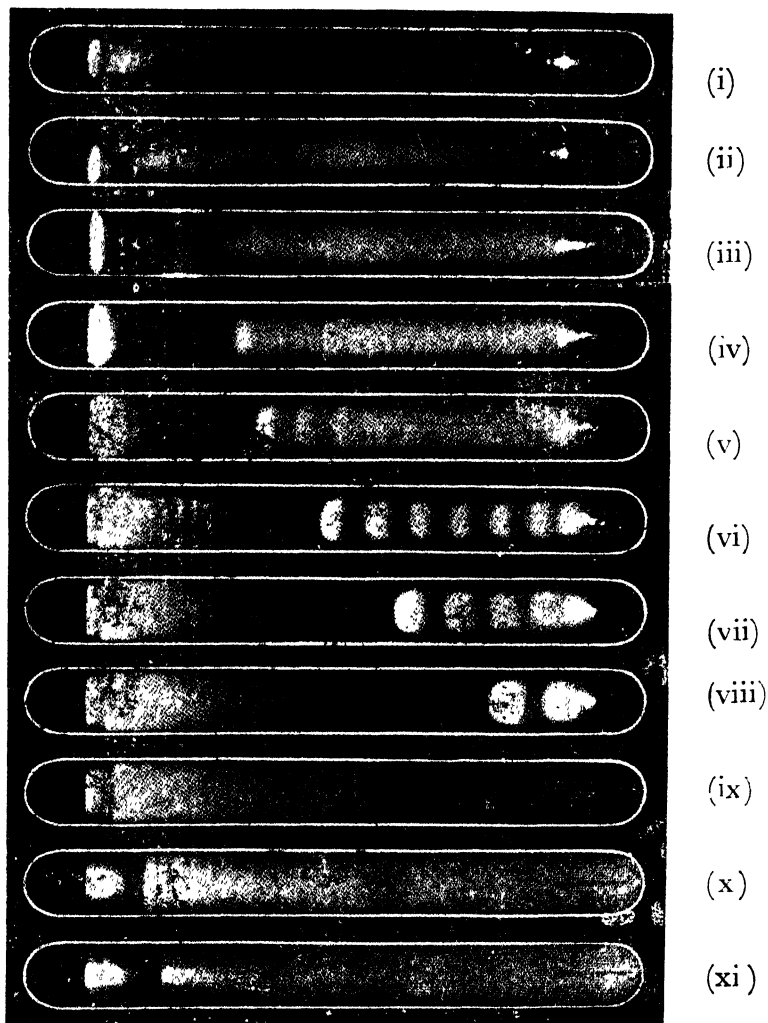
चित्र 28·07

इसके बाद ज्यों-ज्यों दबाव घटता जाता है ये स्तर मोटे होते जाते हैं और नली की

प्रत्येक ज्योति धन-अग्र की ओर खिसकती जाती है। दोनों अदीप्त प्रदेश भी बढ़ते जाते हैं। धीरे-धीरे प्रायः 0·1 मम० पर धन-ज्योति तथा फैरेडे के अदीप्त प्रदेश का सर्वथा लोप हो जाता है (चित्र x) और अन्त में 0·02 मम० पर ऋण-स्तम्भ ही समस्त नलिका को भर लेता है। धीरे-धीरे यह भी धन-अग्र की ओर खिसक कर लुप्त हो जाता है और तब क्रुक का अदीप्त प्रदेश ही समस्त नलिका में व्याप्त हो जाता है। यह अवस्था चित्र में नहीं दिखाई गई है। इस समय बड़े ही उच्च विभव की आवश्यकता होती है और नलिका के कांच में से नीला या हरा प्रकाश निकलने लगता है। यह रंग कांच के अवयव द्रव्यों पर निर्भर है।

28·14—**विसर्ग-नलिका में क्षेत्र की तीव्रता।** उपर्युक्त मनोहर घटनाओं की व्याख्या तब तक नहीं हो सकती जब तक कि हमे यह न ज्ञात हो जाय कि विसर्ग-नलिका के भिन्न-भिन्न भागों में वैद्युत क्षेत्र की तीव्रता कितनी है। इसका
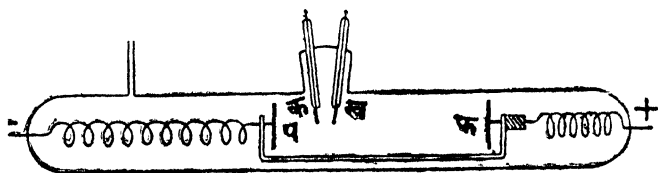
चित्र 28·08

सबसे सरल उपाय यह है कि चित्र 28·08 के समान नलिका में पतले तार के दो विद्युत्-अग्र **क, ख** लगा दिये जावे और साधारण विद्युत्-अग्र **प, फ** इस प्रकार लगाये जावें कि वे परस्पर विलागित रहे और उनके बीच की दूरी तो न बदल सके किन्तु वे दोनों एक ही साथ इधर-उधर हट सकें। इस प्रकार हम **क, ख** को **प, फ** के बीच में
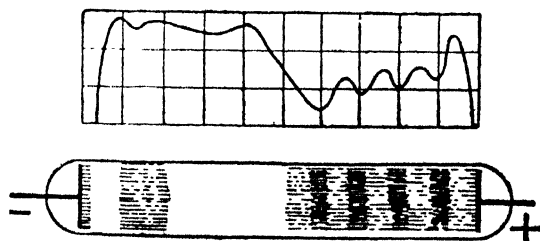
चित्र 28·09

भिन्न-भिन्न स्थानों पर रख सकते हैं। **क** और **ख** को विद्युन्मापी से संबंधित करके

उनका विभवान्तर नापने से उस स्थान के वैद्युत क्षेत्र का परिमाण भी तुरंत ज्ञात हो सकता है।

इस नाप का परिणाम चित्र 28·09 के दूरी-विभव वक्र मे अंकित है। क्षेत्र की प्रबलता इस वक्र की प्रवणता से प्रगट होती है। ऋण-अग्र के निकट बड़ा प्रबल क्षेत्र है किन्तु क्रूक के अदीप्त प्रदेश मे इसकी तीव्रता बहुत ही घट जाती है। फिर ऋण-स्तम्भ मे क्षेत्र की तीव्रता पुनः कुछ बढ़ती है किन्तु फ़ैरेडे के अदीप्त प्रदेश में फिर कम हो जाती है। धन-स्तम्भ के प्रारम्भ मे तीव्रता फिर बढ़ जाती है। यदि धन-स्तम्भ अविच्छिन्न हो तब तो उसमे यह तीव्रता प्रायः स्थिर रहती है किन्तु यदि धन-स्तम्भ स्तरित हो तो तीव्रता में भी उन स्तरों के अनुरूप ही घट-बढ़ होती है। प्रदीप्त भागो में इसका परिमाण अधिक और अदीप्त भागों मे कम रहता है। धन-अग्र के निकट पुनः तीव्रता का परिमाण बहुत बढ़ जाता है।

चित्र 28·08 के उपकरण ही में थोड़ा हेर-फेर करके एच० ए० विलसन (H. A. Wilson) ने नलिका के भिन्न-भिन्न भागों में आयनों की संख्या भी नाप ली है। 1919 में वैन डर पोल (Van der Pol) ने नली मे कोई नये विद्युत्-अग्र लगाये बिना ही आयनों की संख्या का नाप किया था। इन अन्वेषणों का परिणाम मोटे रूप से यह है कि जहाँ-जहाँ नलिका में ज्योति रहती है वही आयनों की संख्या भी अधिक होती है। वस्तुतः यह समझा जा सकता है कि आयनों की अधिकता ही प्रकाश का कारण है क्योंकि प्रकाश की उत्पत्ति के संम्बन्ध में हमें जो कुछ ज्ञात हुआ है उससे हम यह कह सकते है कि आयन अथवा अन्य अणु की टक्कर से अणु और परमाणु में जो विकार उत्पन्न होते हैं उन्हीं से प्रकाश-तरंगों का जन्म होता है। आयनों की सबसे अधिक संख्या ऋण-ज्योति में होती है।

28·15—**नलिका-विसर्ग की व्याख्या**। इस घटना का मूल कारण भी टक्कर या संघात-जनित आयनीकरण है। जो आयन गैस में उपस्थित हों वे ही अन्य अणुओं से टकरा-टकरा कर नवीन आयन उत्पन्न करते है और तब इन नवीन आयनों के द्वारा ही धारा प्रवाहित होती है।

सबसे प्रबल क्षेत्र इस नलिका में ऋण-अग्र के निकट होता है। अतः यही धन-आयनों का वेग भी खूब बढ़ जाता है और ये गैस के अणुओं से अथवा ऋण-अग्र की धातु से टकरा-टकरा कर ऋण-आयन अथवा इलैक्ट्रानों को उत्पन्न करते हैं। क्षेत्र की तीव्रता के कारण ये ऋण-आयन बड़े वेग से धन-अग्र की ओर दौड़ते हैं। फल यह होता है कि यद्यपि ऋण-आयनों का उत्पत्ति स्थान ऋण-अग्र का पृष्ठ ही है तो भी यहां बहुत ही कम ऋण-आयन उपस्थित रहते हैं। ऋण-अग्र का पृष्ठ ऋणाविष्ठ

होता है और उसके अत्यन्त निकट केवल धन-आयनों का समूह उपस्थित होता है। अतः स्पष्ट है कि यह वैद्युत क्षेत्र अति प्रबल होगा।

ऋण-अग्र से चलने वाले इलैक्ट्रान धन-अग्र की ओर बड़े वेग से दौड़ेंगे और जिस स्थान पर वे गैस के अणुओं से टकरायेंगे वहीं नवीन आयन उत्पन्न कर देंगे। वही क्रुक के अदीप्त प्रदेश का अन्त हो जायगा क्योंकि इस आयनीकरण के द्वारा अब प्रकाश की उत्पत्ति होने लगेगी। यदि यह बात ठीक हो तो स्पष्ट है कि क्रुक के अदीप्त प्रदेश की लम्बाई इलैक्ट्रानों के मध्यमान-मुक्त-पथ (mean free path) के बराबर होना चाहिए और ऐसा ही पाया भी गया है।

ऋण-स्तम्भ के इस प्रारम्भ-स्थान से कुछ दूर तक तो यह आयनीकरण होता रहेगा किन्तु क्रुक के अदीप्त प्रदेश मे स्थित धन-आयनों के समूह के कारण यहां वैद्युत क्षेत्र की तीव्रता इतनी घट जायगी कि इलैक्ट्रानों को आयनीकरण के उपयुक्त वेग प्राप्त करने का अवसर न मिल सकेगा। अतः थोड़ी ही दूर पर आयनीकरण बन्द हो जायगा और पुनः प्रकाश का अभाव देख पड़ेगा। यही फ़ैरेडे के अदीप्त प्रदेश का प्रारम्भ है।

इस अदीप्त प्रदेश मे धारा का प्रवाह केवल ऋण-आयनों के द्वारा ही हो सकता है क्योंकि ऋण-स्तम्भ मे उत्पन्न धन-आयन तो सब ऋण-अग्र की ओर दौड़ते है। अतः इस प्रदेश मे ऋण-आयनों के समूह की उपस्थिति के कारण वैद्युत क्षेत्र पुनः तीव्र हो उठेगा और पुनः इलैक्ट्रानो का वेग बढ़ाकर वह उनमे आयनीकरण की क्षमता उत्पन्न कर देगा। जहां यह आयनीकरण प्रारम्भ होगा वही अदीप्त प्रदेश का अन्त हो कर धन-स्तम्भ का प्रारम्भ हो जायगा।

उपर्युक्त क्रिया की आवृत्ति पुनः पुनः होने से धन-स्तम्भ में स्तरों की उत्पत्ति का होना भी स्वाभाविक ही है। नवीन आयनों की उत्पत्ति के कारण वैद्युत क्षेत्र कुछ कम तीव्र होने लगेगा जिससे ऋण-आयनों की आयनीकरण-क्षमता नष्ट होकर अदीप्त प्रदेश की सृष्टि होगी। इसके बाद पुनः ऋण-आयनों की अधिकता से क्षेत्र की तीव्रता बढ जायगी और पुनः आयनीकरण प्रारम्भ हो जायगा।

इस व्याख्या में मूल बात यह है कि धन-आयन ऋण-अग्र से जाकर टकरायें। इस बात की पुष्टि एक सरल प्रयोग के द्वारा हो सकती है। अभ्रक (mica) का एक छोटा सा परदा नलिका में इस प्रकार लगा दीजिये कि जब चाहें तब उसे ऋण-अग्र के सामने खड़ा कर सकें। विसर्ग प्रारम्भ करके अब यदि इसे सहसा खड़ा कर दें तो आप देखेंगे कि ऋण-अग्र पर इसकी एक छाया सी पड़ जायगी और उस छाया में ऋण-अग्र की ज्योति का सर्वथा अभाव दिखाई देगा। यदि यही परदा ऋण-अग्र

से कुछ दूर हटा कर क्रुक के अदीप्त प्रदेश में रखा जाय तो उसकी छाया दोनों ओर पड़ेगी। वह धन-आयनों को भी रोकता है और ऋण आयनों को भी।

इस सम्बन्ध मे एक और भी बात ध्यान देने के योग्य है। नलिका-विसर्ग की क्रिया चलती रहने के लिए यह आवश्यक नही है कि नलिका में औसत वैद्युत क्षेत्र इतना तीव्र हो जाय कि टक्कर के द्वारा ऋण-आयन आयनीकरण कर सके। इतने अधिक तीव्र क्षेत्र की आवश्यकता केवल ऋण-अग्र के निकट ही है। यह सच है कि जब विसर्ग प्रारम्भ किया जाता है उस समय ऋण-अग्र के निकट अधिक तीव्र क्षेत्र की उपस्थिति का कोई कारण नही होता। अतः उस समय अवश्य ही औसत-क्षेत्र भी अधिक होना चाहिए। किन्तु एक बार विसर्ग के प्रारम्भ हो जाने पर ऋण-अग्र के निकट धन-आयनो का जमघट हो ही जायगा और औसत क्षेत्र कम होने पर भी वहाँ इलेक्ट्रानो मे आयनीकरण की क्षमता उत्पन्न हो सकेगी। यह बात प्रत्यक्ष भी अनुभव मे आती है। 11·5 सम० लम्बी नली में एक सम० के दाब पर विसर्ग प्रारम्भ करने के लिए तो अवश्य प्रेरण-कुडली की आवश्यकता होती है किन्तु विसर्ग प्रारम्भ हो जाने के बाद केवल 470 वोल्ट का विभवत्व ही विसर्ग को चलाने के लिए काफी हो जाता है। यदि दबाव $\frac{1}{10}$ मम० हो जाय तब भी 1000 वोल्ट के द्वारा उक्त नली में विसर्ग अच्छी तरह चलता रहेगा।

28·16—**नलिका-विसर्ग के उपयोग**। इस प्रकार के नलिका-विसर्ग से अनेक उपयोगी लैम्प बनाये गये हैं, जिन्हें विसर्ग-लैम्प (discharge lamp) कहते हैं। उनमें से कुछ का संक्षिप्त वर्णन यहाँ दिया जायगा।

चित्र 28·10

(1) **नीयन लैम्प** (Neon Lamp)। इस लैम्प मे कांच के गोले को निर्वात करके नीयन गैस बहुत कम दबाव पर भर दी जाती है। ऋण विद्युत्-अग्र बहुधा मोटे तार की सर्पिल के रूप में होता है और इससे संलग्न ऋण-ज्योति ही इस लैम्प के लाल प्रकाश का उद्गम है। धन-अग्र इस सर्पिल के अत्यन्त निकट स्थित होता है। धन-स्तम्भ का इसमे बिलकुल अभाव होता है। विद्युत्-अग्रो का विभवान्तर 180 वोल्ट होने पर विसर्ग प्रारम्भ हो जाता है किन्तु यदि विभवान्तर 140 वोल्ट से कम

हो जाय तो लैम्प बुझ जाता है। इस लैम्प की पीतल की टोपी में ही एक प्रतिरोध लगा रहता है ताकि लैम्प 220 वोल्ट की प्रत्यावर्ती धारा से जलाया जा सके।

दिष्ट-धारा से जलने वाले नीयन लैम्प में कैथोड (ऋण-अग्र) लोहे की पट्टिका के रूप में होता है और इस पर पोटाशियम लगा दिया जाता है। धन-अग्र छोटा सा विन्दु-मात्र होता है। यह 70 वोल्ट से हो प्रज्वलित हो जाता है।

ये लैम्प शीत-कैथोड ऋण-ज्योति (cold-cathode negative glow) वाले लैम्प हैं। इनमें बहुत ही थोड़ी बिजली खर्च होती है—प्राय. 5 वाट—और अत्यन्त धीमा प्रकाश उत्पन्न होता है। अत. बहुधा ये शयनागार में रात्रि भर जलाने के काम में आते हैं। उच्च आवृत्ति प्र० धा० के लिए तथा दूरवीक्षण या टेलीविजन (television) में भी इनका उपयोग किया जाता है क्योंकि ये प्रति सैकंड में लाखों बार जल और बुझ सकते हैं।

(2) **नीयन-नलिका** (Neon Tube)। यह पतली और लम्बी नलिका के रूप में होता है और नलिका को यथेष्ट आकृतियों में मोड़कर साइन-बोर्ड के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के अक्षर आदि बना लिये जाते हैं जो प्रदीप्त होकर रात्रि में बड़े मनोहर दिखाई देते हैं। इस नलिका के दोनों सिरों पर विद्युत्-अग्र होते हैं जो तांबे, लोहे, निकल, अल्यूमिनियम आदि के बेलनाकार होते हैं। नीयन गैस का दबाव इसमें प्राय: 1 मम० होता है। इसका प्रकाश धन-स्तम्भ का प्रकाश होता है और यह धन-स्तम्भ पूरी नलिका में भरा रहता है।

बहुधा नली में कई गैसों का मिश्रण भर दिया जाता है जिससे प्रकाश का रंग कई प्रकार का उत्पन्न किया जा सकता है। थोड़ा पारद-वाष्प मिला देने पर नीले तथा हरे रंग का प्रकाश उत्पन्न हो जाता है। नली के कांच को रंगीन बनाकर भी रंग बदले जा सकते हैं।

ये लैम्प शीत-कैथोड धन-स्तम्भ (cold-cathode positive column) वाले लैम्प हैं। इनके लिए अधिक उच्च वोल्टेज की आवश्यकता होती है।

गैसों के स्पैक्ट्रम उत्पन्न करने के लिए भी ऐसी ही नलिकाओं का उपयोग किया जाता है जिन्हें जैसलर-नलिकायें (Geissler tube) कहते हैं और उनमें हाइड्रोजन, हीलियम, आरगन आदि गैसें इच्छानुसार भरी जा सकती हैं।

(3) **पारद-वाष्प-लैम्प** (Mercury-vapour Lamp)। इस लैम्प का प्रकाश भी धन-स्तम्भ से उत्पन्न होता है किन्तु इसमें कैथोड ठंडा नहीं होता। उसे उत्तप्त करना पड़ता है। इसकी नली में टंगस्टन के विद्युत्-अग्र होते हैं और आर्गन

गैस 10 मम० के दबाव पर भरी रहती है। कुछ बूँदे पारे की भी नली में पड़ी रहती हैं। पारे की मात्रा इतनी होती है कि नली का टैम्परेचर $600° C$ हो जाने पर पारद-वाष्प का दबाव एक वायु-मंडल (atmosphere) के बराबर हो जाय। वोल्टज लगाने पर पहले तो विसर्ग आर्गन गैस के द्वारा प्रारम्भ होता है। इससे टैम्परेचर बढ जाता है और पारे का वाष्प बन जाता है और तब विसर्ग पारे के वाष्प के द्वारा होने लगता है क्योंकि पारे का आयनीकरण विभव (ionisation potential) आर्गन की अपेक्षा कम होता है।

पारे में से परा-बैंगनी (ultra-violet) प्रकाश अधिक निकलता है। उसे दृष्य-प्रकाश मे परिवर्तित करने के लिए बहुधा नली के भीतरी पृष्ठ पर ज़िन्क आर्थो-सिलिकेट (zinc ortho-silicate) जैसे पदार्थो का प्रलेप कर दिया जाता है। ऐसे लैम्पों की दक्षता (efficiency) बहुत होती है और बिजली का खर्च बहुत कम होता है।

(4) **सोडियम-वाष्प-लैम्प** (Sodium-vapour Lamp)। यह लैम्प भी पारदवाष्प लैम्प ही की भांति कार्य करता है अर्थात् यह भी उत्तप्त-कैथोड धन-स्तम्भ जाति का लैम्प है। इसमें नीयन गैस प्रायः 10 मम० दबाव पर भरी रहती है और थोड़ा सा ठोस सोडियम भी नली की दीवार पर चिपका रहता है। इसमे भी पहिले विसर्ग नीयन गैस मे प्रारम्भ होता है और लाल रंग का होता है। बाद में जब गरमी के कारण सोडियम का वाष्प बन जाता है और उसका दबाव प्रायः 10 मम० हो जाता है तब धारा मुख्यतः सोडियम के आयनों के द्वारा चलने लगती है और प्रकाश पीले रंग का निकलता है। इसके लिए प्राय 400 वोल्ट की आवश्यकता होती है और यह एक ट्रान्सफ़ार्मर (transformer) के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

(5) **प्रतिदीप्त-नलिका** (Fluorescent tube)। यह भी पारद-वाष्प लैम्प ही है। इसकी नली काफ़ी मोटी होती है और लम्बी भी। नली के अन्दर प्रति-दीप्ति-शील पदार्थों का (यथा कैलशियम टंगस्टेट या जिक-आर्थो-सिलिकेट का) प्रलेप रहता है जिससे परा-बैंगनी प्रकाश दृष्य प्रकाश मे बदल जाता है। तरह-तरह के रंग भी उत्पन्न किये जा सकते हैं और ठीक सूर्य के प्रकाश के जैसा भी श्वेत प्रकाश उत्पन्न किया जा सकता है। इनकी दक्षता बहुत अच्छी होती है (प्रायः 3 कैंडल-शक्ति प्रति वाट (3 c.p. per watt)। यह टंगस्टन-तन्तु लैम्पों की अपेक्षा प्रायः 5-6 गुणी अधिक है। इनका आजकल बहुत प्रचार हो गया है।

परिच्छेद 29

कैथोड-किरणें और धन-किरणें

(Cathode Rays and Positive Rays)

29·01—**कैथोड-किरणें** (Cathode Rays)। जब विसर्ग-नलिका में गैस का दबाव बहुत ही कम कर दिया जाता है और क्रुक्स का अदीप्त प्रदेश फैल कर समस्त नलिका में व्याप्त हो जाता है तब एक नवीन और विलक्षण घटना का प्रारम्भ होता है। ऋण-अग्र के सामने नली के काँच में प्रतिदीप्ति (fluorescence) उत्पन्न हो जाती है। यदि काँच सोडे का हो तब तो इस प्रतिदीप्ति का प्रकाश नीले रंग का होता है और यदि काँच में कुछ मंगनीज आदि धातु भी मिली हो तो इस प्रकाश का रंग हरा होता है। इस समय स्पष्ट ऐसा मालूम होता है मानो ऋण-अग्र में से किसी प्रकार की किरणें निकल कर काँच को प्रतिदीप्त कर रही हों। इन किरणों का नाम गोल्डस्टाइन (Goldstein) ने कैथोड-किरण रख दिया क्योंकि ये कैथोड (cathode) अर्थात् ऋण-अग्र से निकलती हुई मालूम होती थी। किन्तु उस समय कोई यह नहीं कह सकता था कि ये किरणें किस प्रकार की है। साधारण प्रकाश के समान ही ये ईथर की तरंगें हैं या किसी प्रकार के सूक्ष्म कणों की बौछार? यह प्रश्न उस समय बड़ा कठिन था किन्तु क्रुक्स ने अपनी सम्मति सूक्ष्म-कणिकाओं के ही पक्ष में दी थी। नीचे कुछ प्रयोग दिये जाते है जिन के द्वारा इन किरणों के संबंध में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

29·02—कैथोड-किरणों के गुण (Properties of Cathode Rays)। (1) कैथोड-किरणें सरल रेखा में गमन करती हैं।

चित्र 29·01 की आकृति की विसर्ग-नलिका लीजिये जिस में कैथोड के सामने धातु का एक पर्दा इस प्रकार लगा हो कि जब चाहें वह किरणों के सामने आ जाय और जब चाहे वह उनके मार्ग में से हटा लिया जाय। पर्दे को हटा कर नली में विसर्ग कराने पर सामने का काँच प्रतिदीप्त हो जायगा किन्तु पर्दा सामने आते ही उस की छाया काँच पर स्पष्ट दिखलाई देगी। इस छाया की आकृति और उसकी बाह्य

रेखा की परिष्कृति को देखने ही से स्पष्ट हो जायगा कि किरणें सरल रेखा में गमन करती हैं।
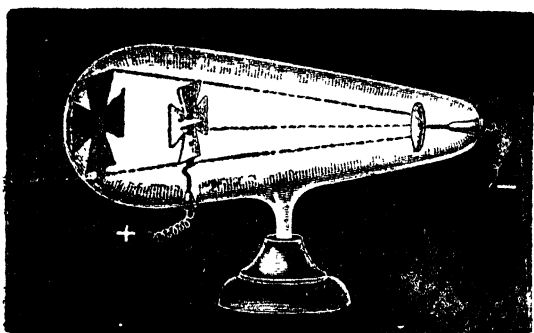
चित्र 29.01

(2) किरणें कैथोड-पृष्ठ से अभिलम्बतः चलती हैं।

उपर्युक्त नली में यदि कैथोड के निकट ही कोई बारीक सुई लगी हो तो उसकी भी छाया सामने के काँच पर बड़ी स्पष्ट पड़ेगी। इसमें प्रच्छाया (umbra) को छोड़ कर उपच्छाया (penumbra) का कहीं पता न लगेगा। यदि कैथोड से ये किरणें चारों ओर फैलती होतीं तो कभी ऐसी छाया नहीं बन सकती थी। इसके अतिरिक्त यदि कैथोड-पृष्ठ अवतल (concave) बना दिया जाय तो ये किरणें प्रकाश किरणों ही के समान एक फ़ोकस (focus) पर एकत्रित (converge) हो जाती हैं। यह सच है कि यह फ़ोकस उस अवतल पृष्ठ का वक्रता-केन्द्र नहीं होता किन्तु इसका कारण आगे चलकर ज्ञात होगा।
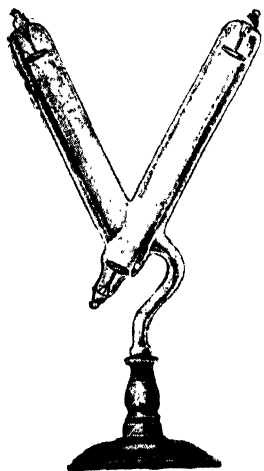
चित्र 29·02

इस संबंध में एक और भी बात ध्यान देने योग्य है। चित्र 29·02 की नलिका में कैथोड किरणें ऐनोड (anode) अर्थात् धनाग्र की ओर नहीं जातीं। वे कैथोड-पृष्ठ से निकल कर सीधी अभिलम्बतः (normally) जाती हैं।

(3) कैथोड-किरणें चुम्बक के द्वारा मुड़ जाती हैं।

यदि विसर्ग नलिका के निकट चुम्बक ले जावें तो आप देखेंगे कि सामने के काँच पर जो

प्रतिदीप्त प्रदेश है वह अपना स्थान परिवर्तन करेगा। उत्तर-ध्रुव ले जाने पर वह एक ओर हटेगा और दक्षिण-ध्रुव के द्वारा विपरीत दिशा में हट जायगा। प्रकाश किरणों अथवा ईथर-तरंगों मे ऐसी घटना का होना संभव नही है। किन्तु यदि इन किरणों को ऋण-विद्युत् से आविष्ट कणों की बौछार समझा जावे तब इनके मार्ग को हम विद्युत्-धारा भी समझ सकते है। ऐसी विद्युत्-धारा पर जो प्रभाव चुम्बक के ध्रुवों का होना चाहिए वही इन किरणों पर भी होता है।

(4) कैथोड-किरणें ऋण-आवेश वहन करती हैं।

चित्र 29·03 की आकृति की विसर्ग नलिका बना कर पैरां (Perrin) ने 1895 मे यह बात प्रमाणित की थी। पार्श्व की छोटी नली मे **क** ऋण-अग्र और **ख** धनाग्र है। कैथोड-किरणें छोटे से छिद्र छ मे से बडे गोले में प्रवेश करती हैं और वहाँ चुम्बक के द्वारा मोड कर इन्हे जब चाहे तभी पीतल की नली **न** के अन्दर घुसा सकते है। इस नली का संबंध विद्युद्दर्शी से रहता है। अन्य आवेशों से उस
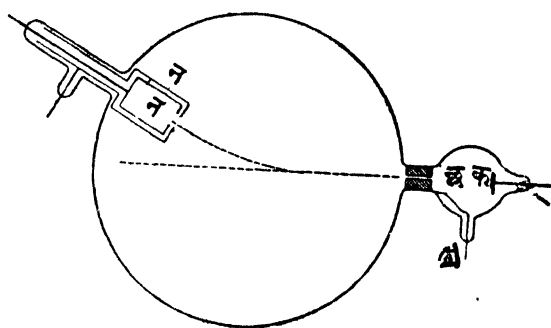
चित्र 29·03

की रक्षा करने के लिए **न** के चारों ओर एक और पीतल की नली का आवरण लगा है जो पृथ्वी से संपृक्त है। किरणों के **न** मे प्रवेश करते ही विद्युद्दर्शी मे ऋण-आवेश एकत्र होने लगता है। इस प्रयोग से यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि कैथोड किरणें अवश्य ही ऋणाविष्ट कणिकाओं का समुदाय है।

(5) कैथोड-किरणें वैद्युत क्षेत्र से भी मुड़ जाती हैं।

यदि कैथोड किरणों में ऋणाविष्ट कणिकाएँ होती है तो वैद्युत बल के द्वारा उनका विचलित होना स्वाभाविक ही है। किन्तु प्रारम्भ में कई वर्षों तक इस आवश्यक

प्रभाव का प्रयोगात्मक प्रमाण उपलब्ध न हो सका। इसका कारण यह था कि ये किरणें जिस स्थान से चलती हैं वहाँ की गैस आयनित हो जाती है। इस कारण इनके मार्ग के चारों ओर चालक गैस का आवरण उत्पन्न हो जाता है। यह आवरण कैथोड-किरणों की वैद्युत बल से पूर्ण-रूप से रक्षा करता है और ऋणाविष्ट होने पर भी इन की कणिकाओं पर वैद्युत बल का कुछ भी असर नहीं हो सकता। जे० जे० टामसन (J. J. Thomson) ने नलिका की गैस का दबाव इतना घटा दिया कि वहाँ आयनित होने के लिए बहुत गैस के अणु रही नहीं गये। ऐसी दशा में वैद्युत क्षेत्र का प्रभाव इन किरणों पर तुरन्त ही प्रत्यक्ष हो गया और उनके ऋण-आवेश में अब कोई भी सन्देह बाकी न बचा।

(6) **कैथोड-किरणें यांत्रिक दबाव** (mechanical pressure) **भी उत्पन्न करती हैं।**

चित्र 29·04 में एक विशेष प्रकार की विसर्ग-नलिका दिखलाई गई है। इसके बीच में काँच की घर्षण-हीन पटरी पर एक पहिया रखा है। यह पहिया अभ्रक के पतले पटलों से बना है और इस प्रकार रखा है कि कैथोड-किरणें पहिये के ऊपर के भाग के इन अभ्रक-पटलों पर अभिलम्बतः पड़ती हैं। इन किरणों के दबाव के कारण पहिया घूमने लगता है और इस प्रकार घूमता-घूमता वह नलिका के एक सिरे से दूसरे सिरे तक चला जाता है। अब यदि दूसरे सिरे को ऋण-अग्र बना दें तो पहिया दूसरी ओर चलने लगता है। बहुधा इस प्रयोग को अधिक मनोहर बनाने के लिए अभ्रक पर भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रति दीप्ति-शील लवण चिपका दिये जाते हैं जिन पर इन किरणों के पड़ने से अनेक प्रकार के रंग पैदा हो जाते हैं।
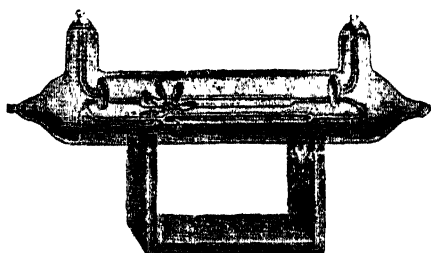
चित्र 29·04

(7) कैथोड-किरणों से ऊष्मा भी उत्पन्न होती है।

यदि कैथोड अवतल बना दिया जाय तो हम ऊपर कह आये हैं कि कैथोड-किरणें एक फ़ोकस पर एकत्रित हो जाती हैं। यदि यहाँ प्लैटिनम या अन्य किसी धातु का पतला पत्र रख दिया जाय तो वह तुरन्त ही गरम हो कर लाल हो जाता है।

(8) कैथोड-किरणें पतले ऐल्युमिनियम के पत्र के पार निकल जाती हैं।

विसर्ग-नलिका में जिस स्थान पर कैथोड-किरणें काँच से टकराती हैं वहाँ छोटी सी खिड़की बना कर उस पर पतला ऐल्यूमिनियम का पत्र चिपका कर इस बात की परीक्षा हो सकती है। इस खिड़की में से कैथोड-किरण-कणिकाएँ निकल कर जिस वायु में प्रवेश करती हैं उसका दबाव कुछ कम कर दिया जाय तो इन कणिकाओं से उत्पन्न प्रतिदीप्ति स्पष्ट देख पड़ेगी।

बिना छिद्र किये ही ऐल्यूमिनियम पत्र के पार निकल जाने से लोगों को इस बात में सन्देह होने लगा कि ये किसी प्रकार की कणिकाएँ हैं। किन्तु जब यह प्रमाणित हो गया कि ये कणिकाएँ साधारण द्रव्य के परमाणुओं से बहुत ही छोटी होती हैं तब यह शंका अधिक बलवती न रही। यह प्रमाण हम आगे चलकर देखेंगे। और जब यह भी देखा गया कि हीलियम के अणु भी पतले काँच की नली में से बिना छिद्र के ही बाहर निकल आते हैं तब तो इस शंका का कुछ मूल्य ही न रहा।

29·03—**कैथोड-कणिका का द्रव्यमान और आवेश** (Mass and Charge of Cathode Particles)। जब यह प्रमाणित हो गया कि कैथोड-किरणों की अत्यन्त सूक्ष्म कणिकाएँ होती हैं तब यह भी इच्छा स्वाभाविक थी कि यह जान लिया जाय कि इन कणिकाओं का द्रव्यमान कितना होता है, इन पर ऋण-आवेश की मात्रा कितनी होती है और ये कितने वेग से गमन करती हैं। जब द्रव्य के अणुओं और परमाणुओं ही के भार प्रत्यक्ष रीति से नहीं नापे जा सके हैं और उनका अनुमान अणुओं के गत्यात्मक सिद्धान्त (Kinetic Theory) के द्वारा परोक्ष रीति से किया गया है तब सहज ही समझ में आ सकता है कि परमाणु से प्रायः 2000 गुणी हलकी कैथोड-कणिका के भार का नाप कितना कठिन होगा। किन्तु आश्चर्य है कि यह नाप संभव ही नहीं, अपेक्षाकृत बहुत ही सरल निकला। इसका कारण यह है कि इन कणिकाओं पर विद्युत् का आवेश विद्यमान है। अनाविष्ट अणु और परमाणु तो हमारी पहुँच से परे अवश्य हैं किन्तु वैद्युत आवेश के कारण इन अत्यन्त सूक्ष्म कणिकाओं के नाप में कुछ अधिक कठिनाई नहीं है।

29·04—**आविष्ट कण की गति** (Motion of a Charged Particle)। आविष्ट कणों के भार तथा वेग के नापने की विधि समझने के लिए यह आवश्यक है कि पहले हम सिद्धान्ततः यह समझ लें कि वैद्युत या चुम्बकीय क्षेत्र में ये कण किस प्रकार गमन करते हैं।

मान लीजिये कि आविष्ट कण का भार m ग्राम, आवेश e स्थिर-वैद्युत मात्रक, तथा वेग v सम०/सैकंड है और वेग की दिशा x-अक्ष है।

(i) वैद्युत क्षेत्र y-अक्ष की दिशा में।

यदि क्षेत्र की तीव्रता F स्थि० वै० मा० हो तो स्पष्ट है कि कण पर बल$=e.F$ होगा और वह y-दिशा मे लगेगा जो v की दिशा से समकोण बनाती है। अतः इस कणिका की गति ठीक उस प्रकार की होगी जिस प्रकार पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र में द्रव्य-कण गमन करता है। उसके गति-समीकरण होंगे

$$m\frac{d^2x}{dt^2}=0;\ m\frac{d^2y}{dt^2}=eF;\ m\frac{d^2z}{dt^2}=0 \quad . \ . \ . \quad (1)$$

$$\left.\begin{aligned} \text{अतः}\quad \frac{dx}{dt}&=v=\text{नियत तथा } x=vt \ . \ . \ . \ . \ (\text{i})\\ \frac{dy}{dt}&=\frac{eF}{m}.t \quad \text{तथा } y=\frac{1}{2}\frac{eF}{m}.t^2 \ . \ (\text{ii})\\ \frac{dz}{dt}&=0 \qquad \text{तथा } z=0 \ . \ . \ . \ . \ (\text{iii}) \end{aligned}\right\} \quad . \ . \ . \quad (2)$$

स्पष्ट है कि गति xy समतल मे होगी और समी० 2(i) तथा 2(ii) मे से t का निरसन (elimination) करने से पथ का समीकरण होगा

$$y=\frac{1}{2}\frac{eF}{mv^2}.x^2$$

या
$$x^2=\frac{2mv^2}{eF}.y \quad . \ . \ . \quad (3)$$

यह परवलय का समीकरण है जिसकी अक्ष y-दिशा मे है।

यदि x-दिशा मे वैद्युत क्षेत्र का विस्तार $x=0$ से $x=a$ तक ही हो तो क्षेत्र के अंत तक पहुँचने मे कणिका का y-दिशा में विस्थापन होगा

$$y=\frac{1}{2}\frac{eF}{mv^2}.a^2$$

यदि इसके बाद भी कणिका आगे चलती ही रहे तो वह परवलय (3) के अंतिम विन्दु पर स्पर्श-रेखा (tangent) की दिशा में सरल रेखा पर गमन करेगी। तब यह प्रमाणित हो सकता है कि $x=l$ होने पर

$$y=\frac{eFa}{mv^2}\left(l-\frac{a}{2}\right)=\frac{eF}{mv^2}.A \quad . \ . \ . \quad (4)$$

यदि क्षेत्र F का परिमाण सर्वत्र बराबर न हो तो

$$y=\frac{e}{mv^2}\int_0^l\left[\int_0^x F\,dx\right]dx \quad . \quad . \quad . \quad (5)$$

(ii) चुम्बकीय क्षेत्र z-अक्ष की दिशा में।

गतिवान आविष्ट कणिका के द्वारा भी विद्युत्-धारा प्रवाहित होती है। मान लो कि कणिका का व्यास dl है और उसका वेग v है। तब उसके पथ के किसी भी विन्दु को पार करने मे उसे जो समय dt लगेगा वह होगा dl/v। इतने समय में आवेश e उस विन्दु मे होकर प्रवाहित हो जायगा। अतः इस विद्युत्-धारा का तात्क्षणिक परिमाण होगा

$$i=\frac{e}{dt}=\frac{ev}{dl} \text{ स्थि० वै० मा०}$$

विद्युत्-चुम्बकीय मात्रकों मे इस धारा का परिमाण होगा

$$i=\frac{ev}{cdl} \text{ वि० चु० मा०}$$

जहाँ c आवेश के विद्युत्-चुम्बकीय तथा स्थिर-वैद्युत मात्रकों का अनुपात है और उसका मान 3×10^{10} है।

लापलास के नियमानुसार किसी i वि० चु० मा० धारा वाले dl लम्बाई के तार पर चुम्बकीय क्षेत्र H जो बल लगाता है वह होता है

$$P=Hidl\sin\theta$$

या जब H और i समकोणिक हों तो

$$P=Hidl$$

और इस बल की दिशा H तथा i दोनों ही से समकोण बनाती है।

अतः उक्त गतिवान आविष्ट कणिका पर लगने वाला बल होगा

$$P=H.\frac{ev}{cdl}.dl=H\frac{ev}{c} \quad . \quad . \quad . \quad (7)$$

क्योंकि इस कणिका को हम dl लम्बाई की विद्युत्-धारा समझ सकते हैं।

और यह बल सदा कणिका के पथ से समकोणिक होगा।

यह तो विदित ही है कि जब बल किसी कणिका पर सदा नियत परिमाण का तथा उस की गति की दिशा से समकोणिक होता है तब कणिका-पथ वृत्ताकार हो

जाता है और यह बल अप-केन्द्र बल (centrifugal force) के बराबर होता है।

अतः
$$\frac{Hev}{c} = \frac{mv^2}{\rho} \quad . \quad . \quad . \quad (8)$$

अर्थात् वृत्ताकार पथ की त्रिज्या $\rho = \frac{mvc}{eH}$ सम० हो जायगी।

और
$$\frac{e}{m} = \frac{cv}{\rho H} \text{ वि० चु० मा० होगा} \quad . \quad . \quad . \quad (9)$$

यदि चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा z-अक्ष हो तो वृत्ताकार पथ x-y समतल में होगा और यदि H का परिमाण सर्वत्र एक समान हो तो $x=0$ से $x=l$ तक पहुँचने में उसका विस्थापन y-दिशा में होगा और सन्निकटतः

$$y = \frac{l^2}{2\rho} = \frac{cH}{2mvc} \cdot l^2 = \frac{eH}{mvc} B \quad . \quad . \quad . \quad (10)$$

किन्तु यदि H सर्वत्र बराबर न हो तो यह प्रमाणित किया जा सकता है कि

$$y = \frac{e}{mvc} \int_0^l \left[\int_0^x H dx \right] dx \quad . \quad . \quad . \quad (11)$$

(iii) **वैद्युत-क्षेत्र y-दिशा में तथा चुम्बकीय क्षेत्र z-दिशा में एक ही साथ।**

ऐसी दशा में आविष्ट कणिका पर वैद्युत बल तथा चुम्बकीय बल दोनों एक ही दिशा में लगेंगे और दोनों में से एक क्षेत्र का ऐसा समंजन किया जा सकता है कि दोनों बल बराबर किन्तु परस्पर विपरीत दिशा में हों। तब आविष्ट कणिका का बिलकुल विचलन न होगा और

$$eF = \frac{Hev}{C} \quad \text{समी० (7) से}$$

अर्थात्
$$v = c\frac{F}{H} \quad . \quad . \quad . \quad (12)$$

F तथा H के परिमाण ज्ञात होने पर इस समीकरण के द्वारा कणिका-वेग v मालूम हो जायगा। इस मान को समी० (8) में निविष्ट करने से

$$\frac{e}{m} = \frac{c^2F}{\rho H^2} \text{ वि० चु० मा०}$$

29·05. **टामसन की विधि** (Thomson's Method)।—1897 में ही जे० जे० टामसन ने इस अत्यन्त महत्वपूर्ण नाप में सफलता प्राप्त कर ली थी।

उनका उपकरण चित्र 29·05 मे दिखलाया गया है। विसर्ग नलिका में **क** कैथोड है और **ख** ऐनोड। गैस का दाब बहुत कम कर दिया गया है। **क** से चलने वाली
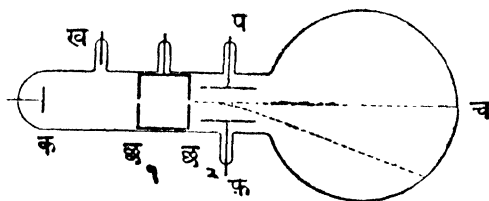
चित्र 29·05

कैथोड-किरणें छिद्र **छ१ छ२** में से निकल कर एक पतली सी सरल रेखा के रूप में चलकर सामने के काँच पर लगे हुए प्रतिदीप्तिशील प्रलेप पर पड़ती हैं और वहाँ एक चमकदार विन्दु **च** देख पड़ता है। इनके मार्ग में दो समान्तर धातुपट्टिकाएँ **प** और **फ** लगी है जिनके बीच मे होकर ये किरणे जाती हैं। **प** और **फ** को प्रायः $V=200$ वोल्ट की बैटरी के ध्रुवों से जोड़ने से उनके बीच में वैद्युत क्षेत्र उत्पन्न होता है और उसके कारण **च** ऊपर या नीचे खिसक जाता है। इसी प्रकार **प** और **फ** के निकट चुम्बक के ध्रुव रखने से अथवा किसी कुंडली में विद्युत्-धारा प्रवाहित करने से भी **च** अपने स्थान से हट जाता है। यदि चुम्बकीय बल उक्त चित्र में कागज पर अभिलम्बतः हो तो **च** ऊपर-नीचे हटेगा और यदि चुम्बकीय बल **प फ** की दिशा में हो तो **च** चित्रतल से अभिलम्ब दिशा में हटेगा। अर्थात् चुम्बकीय बल की दिशा से **च** के विचलन की दिशा समकोण बनावेगी।

इस उपकरण के द्वारा आविष्ट कणों का विचलन वैद्युत क्षेत्र के कारण या चुम्बकीय क्षेत्र के कारण आसानी से नापा जा सकता है। यदि **प** और **फ** की लम्बाई a हो और दोनों के बीच की दूरी b हो तो $F=\frac{V}{b}$ होगा। किन्तु H सर्वत्र एक समान नहीं होगा। अतः $x=0$ से $x=l$ तक प्रत्येक विन्दु पर H को किसी समुचित उपाय से नापना होगा और तब समीकरण (4) तथा (11) से

$$\left.\begin{aligned} \frac{e}{mv^2} &= \frac{y_1}{Fa(l-a/2)} \\ \frac{e}{mv} &= \frac{cy_2}{\int_0^l \left[\int_0^x H dx\right] dx} \end{aligned}\right\} \quad . \quad . \quad . \quad (13)$$

इन समीकरणों से e/m तथा v का परिकलन सरलता से हो जाता है। अथवा समीकरण (12) के उपयोग से पहिले v का मान मालूम कर लिया जाता है और तब
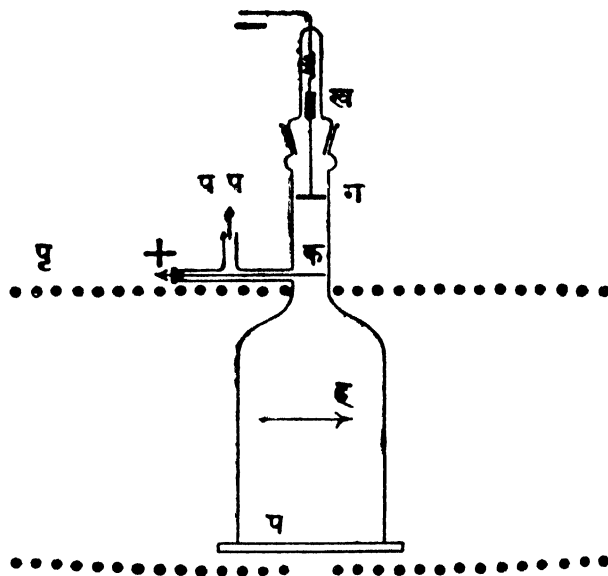
चित्र 29·06

v का मान समी० (4) मे निविष्ट करके e/m ज्ञात हो जाता है। किन्तु क्षेत्रों में समांगिता न होने के कारण टामसन के नापों में यथार्थता यथेष्ट नही थी।

29·06—**काफ़मान की विधि** (Kaufmann's Method)। काफ़मान का उपकरण चित्र 29·06 में दिखलाया गया है। इसमें कैथोड **ग** है और धन-अग्र तार का एक छल्ला **क** है। विसर्ग-नलिका का **क** के नीचे वाला भाग दो कुंडलियों के बीच में इस प्रकार रखा है कि कुंडलियों में विद्युत्धारा प्रवाहित करने से इस भाग में चुम्बकीय क्षेत्र **ह** बाणांकित दिशा में उत्पन्न हो जाता है और इस क्षेत्र की तीव्रता भी सर्वत्र बराबर रहती है। कैथोड-किरणे इस भाग में पहुँचते ही चुम्बकीय बल के कारण विचलित हो जाती हैं। क्षेत्र की एक-समानता के कारण इस विचलन का परिकलन समी० (10) से यथार्थता पूर्वक होने में बड़ी सुविधा होती है।

इसके अतिरिक्त कैथोड-किरणों का वेग जानने के लिए काफ़मान ने इस परिकल्पना से काम लिया कि कैथोड-कणिका जिस समय कैथोड में से निकलती है उस

समय उनका वेग कुछ भी नहीं होता । ऋण-अग्र तथा धन-अग्र के विभवान्तर के कारण जो वैद्युत क्षेत्र होता है उसी से इन कणिकाओं का त्वरण (acceleration) होता है और धन-अग्र में होकर निकल जाने के बाद उनका वेग नही बदलता । वे एक-समान वेग से चुम्बकीय क्षेत्र में दौड़ती रहती हैं । **ग** और **क** के विभवान्तर को अधिक अच्छी तरह स्थिर रखने के लिए विमशर्स्ट के वैद्युत यंत्र का प्रयोग किया गया था और उसे नापने के लिए स्थिर-वैद्युत वोल्टमापी का । इस परिकल्पना के अनुसार यदि **ग** और **क** का विभवान्तर V हो और e, m तथा v का वही मतलब हो जो ऊपर दिया गया है तो

$$\tfrac{1}{2}mv^2 = Ve. \qquad \ldots \quad (14)$$

समीकरण (10) तथा (14) के द्वारा v तथा e/m के मान यथार्थतापूर्वक मालूम हो सकते हैं ।

समीकरण (14) के संबंध में कुछ शंकाओं का होना अनिवार्य है । प्रारम्भिक वेग को शून्य मानना कहाँ तक उचित है ? गैस के अणुओं से कैथोड-कणिकाओं की टक्करों का अभाव जो उक्त समीकरण मे गर्भित है कैसे प्रमाणित हुआ ? इन प्रश्नों का समुचित उत्तर देने के लिए काफ़मान ने इस प्रयोग मे अनेक हेर-फेर किये । भिन्न-भिन्न दबाव पर गैस विसर्ग-नलिका मे भरी गई, विद्युत-अग्रों के बीच की दूरी भी भिन्न-भिन्न ली गई । किन्तु सभी दशाओं मे e/m के परिमाण में कोई अन्तर न निकला । इस बात से यह प्रमाणित हो गया कि जो-जो परिकल्पनाये काफ़मान ने की थी वे उचित ही थी ।

इस प्रकार काफ़मान ने e/m का जो मान निकाला वह $1{\cdot}76 \times 10^7$ विद्युत्-चुम्बकीय निरपेक्ष मात्रक (absolute e. m. units) प्रति ग्राम था । स्थि० वै० मात्रकों में $e/m = 5{\cdot}27 \times 10^{17}$ है ।

29·07—**इलैक्ट्रान** (Electron) । कैथोड-कणिकाओं का वेग तो भिन्न-भिन्न प्रयोगों में भिन्न-भिन्न अवश्य निकला क्योंकि वह तो समीकरण (14) के अनुसार विभवान्तर V पर निर्भर होता है। किन्तु विसर्ग-नलिका मे चाहे जो गैस भरी हो, विद्युत्अग्र चाहे जिस धातु के बने हों, गैस का दबाव कम हो या ज्यादा तथा विभवान्तर कितना ही क्यों न हो e/m के मान मे कुछ भी अन्तर न मिला ।

इस बात से यह स्पष्ट हो गया कि ये कैथोड-कणिकाएँ सब विसर्ग-नलिकाओं में एक ही प्रकार की होती हैं । ये वास्तव मे सूक्ष्म-कण होते है यह तो पहिले ही प्रमाणित हो चुका था । अब यह भी सिद्ध हो गया कि इनमे भार भी होता है । यही

क्यों ? अब तो इस मे भी कुछ सन्देह नही रह गया कि चाहे जिस प्रकार भी उत्पन्न हुई हों समस्त कैथोड-कणिकाएँ एक ही प्रकार की होती हैं । सब का भार और सब का आवेश भी अवश्य ही बराबर होता है । अब तक जो अणु और परमाणु रासायनिकों को ज्ञात थे उनसे सर्वथा भिन्न ये कैथोड कणिकाएँ प्रमाणित हो गई और यह भी प्रत्यक्ष हो गया कि ये कणिकाएँ सब पदार्थो में विद्यमान रहती हैं । क्रुक्स की राय में जिस प्रकार पिंड, द्रव और गैस ये तीन अवस्थाएँ द्रव्य की होती हैं उसी प्रकार कैथोड-किरण भी उसकी एक चौथी और अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था है । जो भी हो, अब यह निर्विवाद है कि इन कैथोड कणिकाओं में हमें ऋण-विद्युत् को वहन करने वाली एक नवीन सूक्ष्म कणिका प्राप्त हुई है । इसका नाम जान्सटन स्टोनी (J. Stoney) ने इलैक्ट्रान (electron) रख दिया और अब यह संसार भर मे इसी नाम से प्रसिद्ध है ।

आगे के पृष्ठों में हम देखेंगे कि विसर्ग-नलिका के अतिरिक्त और भी बहुत सी घटनाएँ हैं जिनमे ऐसी ही ऋणाविष्ट कणिकाओं का अस्तित्व हमारे अनुभव में आता है । उन सब कणिकाओं का e/m भी ठीक इन कैथोड-कणिकाओं के बराबर पाया जाता है । अतः हमें यह भी मानना पड़ता है कि वे सब कणिकाएँ भी इलैक्ट्रान ही हैं । इससे इलैक्ट्रानों की व्यापकता और भी स्पष्ट हो जाती है । वस्तुतः अब तो इस में भी सन्देह नही रहा है कि प्रकाश की उत्पत्ति का कारण, और अणु और परमाणुओं का निर्माता भी इलैक्ट्रान ही है ।

इलैक्ट्रान के संबंध में विचार करते समय सब से प्रथम जो बात हमारा ध्यान आकर्षित करती है वह यह है कि सबसे हलका परमाणु हाइड्रोजन का होता है । विद्युत्विश्लेषण में हाइड्रोजन का जो आयन पाया जाता है उस के e/M का मान होता है $0{\cdot}96 \times 10^4$ विद्युत्-चुम्बकीय मात्रक प्रति ग्राम । अर्थात् छोटे से छोटे परमाणु के e/M से भी इलैक्ट्रान का e/m प्राय. 1800 गुणा अधिक होता है । अनेक बातें हैं जिनके कारण हमें यह मानना ही पड़ता है कि विद्युत्-विश्लेषण के अथवा गैस के आयन पर जितना कम से कम आवेश होता है ठीक उतना ही आवेश इन इलैक्ट्रानों पर भी होता है । हम पहिले ही देख चुके हैं कि इस आवेश का परिमाण $1{\cdot}60 \times 10^{-20}$ वि० चु० मात्रक होता है (अनु० 28·10) । अतः

$$H\text{-परमाणु का भार } M = \frac{e}{e/M} = \frac{1{\cdot}60 \times 10^{-20}}{{\cdot}96 \times 10^4} = 1{\cdot}66 \times 10^{-24} \text{ ग्राम}$$

$$\text{और इलैक्ट्रान का भार } m = \frac{e}{e/m} = \frac{1{\cdot}60 \times 10^{-20}}{1{\cdot}76 \times 10^7} = 9{\cdot}1 \times 10^{-28} \text{ ग्राम}$$

अथवा यों कहिये कि इलैक्ट्रान हाइड्रोजन परमाणु से 1840 गुणा हलका होता है।

29·08—**कैथोड-कणिकाओं का वेग** (Velocity of Cathode Particles)। समीकरण (14) मे V तथा e दोनों स्थिर-वैद्युत मात्रकों मे व्यक्त है। किन्तु बहुधा V विद्युत्-चुम्बकीय मात्रक वोल्टों में नापा जाता है। तब समीकरण (14) का रूप हो जायगा

$$\tfrac{1}{2}mv^2 = \frac{eV\times 10^8}{c} = \frac{eV\times 10^8}{3\times 10^{10}} = \frac{eV}{300} \quad . \quad . \quad . \quad (15)$$

अर्थात्
$$v = \sqrt{\left(\frac{2}{300}\cdot\frac{e}{m}\right)}\cdot\sqrt{(V)}$$

अब भी e स्थि० वै० मा० में ही व्यक्त है। अतः $e/m = 5{\cdot}27\times 10^{17}$

$$\therefore \quad v = \sqrt{\left(\frac{5{\cdot}27\times 10^{17}}{150}\right)}\cdot\sqrt{(V)}$$
$$= 5{\cdot}93\times 10^7\times\sqrt{(V)} \quad . \quad . \quad . \quad (16)$$

यदि $V = 400$ वोल्ट हो तो इलैक्ट्रान का वेग $1{\cdot}20\times 10^9$ सम०/सैकंड हो जाता है। किन्तु यह न भूल जाना चाहिए कि यह वेग उन्ही इलैक्ट्रानों का होगा जो कैथोड-पृष्ठ ही से उत्पन्न हुए हों। कई इलैक्ट्रान कैथोड तथा ऐनोड के बीच में भी उत्पन्न होते हैं। उनका वेग इतना नही हो पाता। समी० (16) वह महत्तम वेग देता है जो V वोल्ट द्वारा संभव होता है।

29·09—**कैथोड-किरण दोलन-लेखी** (Cathode-Ray Oscillograph)। कैथोड-किरणों के द्वारा एक अत्यन्त महत्वपूर्ण यंत्र प्राप्त हुआ है जिसे कैथोड-किरण दोलन-लेखी कहते हैं। चित्र 29·05 मे टामसन की जो विसर्ग-नलिका दिखलाई गई है उसी का यह थोड़ा सा परिवर्तित रूप है (चित्र 29·07)। कैथोड क टंगस्टन के तार की छोटी सी सर्पिल कुंडली के रूप में होता है। इस को 4-6 वोल्ट की धारा से उत्तप्त कर दिया जाता है जिससे प्रचुर मात्रा में इलैक्ट्रान उत्सर्जित होते हैं। ऐनोड दो होते हैं और दोनों नलिका-रूपी होते हैं। इलैक्ट्रान-रश्मि उत्तरोत्तर इन नलिकाओं के बीच में होकर निकलती है। पहले ऐनोड का विभव V_1 कम होता है और दूसरे का V_2 बहुत ऊँचा (प्रायः 1000 वोल्ट) होता है। इस व्यवस्था से इलैक्ट्रान-रश्मि प्रतिदीप्तिशील परदे पर एक अत्यन्त बारीक विन्दु के रूप में फ़ोकस हो जाती है।

दूसरे ऐनोड में से निकलने के बाद इलैक्ट्रान रश्मि टामसन नलिका की ही भांति वैद्युत-क्षेत्र में होकर अत्वरित वेग से चलती है। किन्तु वैद्युत-क्षेत्र उत्पन्न करने वाली

पट्टिकाओं के भी इसमें दो जोड़े (**चच**, **छछ**) होते हैं जो परस्पर सम-कोणिक वैद्युत-क्षेत्र उत्पन्न करते हैं। एक जोड़े (**चच**) के क्षेत्र से फ़ोकस-विन्दु प्रतिदीप्ति परदे **प** पर दाहिने बायें विचलित होता है और दूसरे (**छछ**) से ऊपर-नीचे। इस विसर्ग नलिका की रचना चित्र 29·07 में दिखलाई गई है।
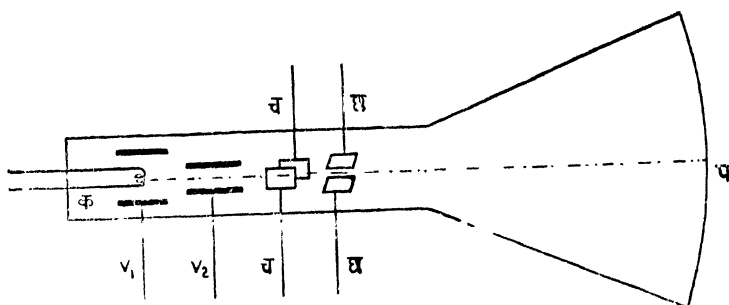
चित्र 29·07

यदि **चच** पर दोलनयुक्त और **छछ** पर समय का समानुपाती विभवत्व लगाया जाय तो फ़ोकस-विन्दु दोलन भी करेगा और समकोणिक दिशा में एक-समान वेग से विचलित भी होगा। फलतः उसका विस्थापन वक्र प्रत्यक्ष देखा भी जा सकता है और फ़ोटो के प्लेट पर अंकित भी किया जा सकता है। विशेषता यह है कि दोलन चाहे कितनी ही उच्च आवृत्ति के क्यों न हों इस यंत्र की इलैक्ट्रान-रश्मि भी उतनी ही उच्च आवृत्ति से दोलन कर सकती है क्योंकि उसमें भार प्रायः कुछ भी नहीं होता। इसके अतिरिक्त एक बार इसका अंशांकन (calibration) कर लेने पर इसके द्वारा धारा, विभव आदि के नाप भी हो सकते हैं और दूरवीक्षण (television) के उपकरण का भी अब यह अत्यन्त आवश्यक अंग हो गया है।

29·10—**इलेक्ट्रान-लेन्स** (Electron Lens)। कैथोड-किरण नलिका की इलैक्ट्रान-रश्मि वैद्युत अथवा चुम्बकीय क्षेत्रों के द्वारा विचलित हो जाती है यह तो हम देख ही चुके हैं। अतः यदि इन क्षेत्रों का उचित समंजन किया जाय तो इस रश्मि को किसी विन्दु विशेष पर फ़ोकस भी किया जा सकता है। जिस प्रकार प्रकाश-रश्मि लैन्स द्वारा फ़ोकस होती है ठीक उसी प्रकार यह इलैक्ट्रान रश्मि भी फ़ोकस हो जाती है। जिस व्यवस्था से यह परिणाम प्राप्त किया जा सकता है उसे इलैक्ट्रान-लैन्स कहते हैं। ये लैन्स दो प्रकार के होते हैं—(1) स्थिर-वैद्युत तथा (2) विद्युत्-चुम्बकीय।

(1) **स्थिर-वैद्युत लैन्स** (Electro-static Lens) ।

समी० 14 से प्रगट है कि जब कोई इलैक्ट्रान V स्थि० वै० मा० के विभवान्तर में गमन करता है तो उसका वेग हो जाता है

$$v=\sqrt{\frac{2Ve}{m}}$$

अतः जब यह इलैक्ट्रान एक वैद्युत-क्षेत्र में से निकल कर दूसरे परिमाण के वैद्युत क्षेत्र में प्रवेश करता है तो उसका वेग भी बदल जाता है। यह ठीक उसी प्रकार होता है जैसे प्रकाश का वेग एक माध्यम से दूसरे में जाने से बदल जाता है। अतः वैद्युत क्षेत्रों के परिमाण और उनकी दिशाओं का समंजन करने से इलैक्ट्रान रश्मि को किसी अभीष्ट विन्दु पर फोकस भी किया जा सकता है। कैथोड-किरण दोलन-लेखी में इसी उपाय का उपयोग किया जाता है (अनु० 29·09)।

(2) **विद्युत्-चुम्बकीय लैन्स** (Electro-magnetic Lens) ।

चुम्बकीय क्षेत्र के द्वारा भी इलैक्ट्रान-रश्मि का विचलन होता है। अतः यदि वृत्ताकार कुंडली में विद्युत्-धारा प्रवाहित करके चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न कर लिया जाय और इस कुंडली के बीच में से इलैक्ट्रान-रश्मि चलाई जाय तो धारा के उचित समंजन के द्वारा यह रश्मि भी फोकसित हो सकती है। इस दृष्टि से धारा-युक्त तार की कुंडली उत्तल लैन्स (convex lens) का जैसा काम करती है।

29·11—**इलैक्ट्रान-प्रतिबिम्ब** (Electron Image)। अब यह समझना कठिन नहीं कि यदि किसी छोटी सी वस्तु के कई विभिन्न विन्दुओं से इलैक्ट्रान-रश्मियाँ उत्पन्न होती हों तो इलैक्ट्रान लैन्स के द्वारा वे सामने के परदे पर विभिन्न विन्दुओं पर फ़ोकस हो जावेंगी। प्रत्येक विन्दु का एक-एक प्रतिबिम्ब बन जावेगा और पूरी वस्तु का भी ठीक उसी आकृति का प्रतिबिम्ब बन जायगा। इसे इलैक्ट्रान प्रतिबिम्ब कहते हैं।

ऐसा प्रतिबिम्ब उत्पन्न करने के लिए पहिले वस्तु की अत्यन्त पतली फ़िल्म काट ली जाती है। इसे कैथोड-किरण-नलिका में रखकर उस पर कैथोड-किरणें डाली जाती हैं। फलतः उसके विभिन्न-विन्दुओं से द्वैतीयिक (secondary) इलैक्ट्रान-रश्मियाँ निकलती हैं। इन्हीं को इलैक्ट्रान-लैन्स के द्वारा फ़ोकस करके फ़ोटो के प्लेट पर उस वस्तु का चित्र अंकित कर लिया जाता है।

आधुनिक मत के अनुसार इलैक्ट्रान भी प्रकाश की ही तरह तरंगमय होता है और उसके वेग (v) के अनुरूप ही इन तरंगों का दैर्घ्य (λ) भी होता है। जितना

वेग इनका कैथोड-किरण-नलिका में होता है उतने वेग के अनुरूप तरंग-दैर्घ्य प्रकाश की अपेक्षा बहुत छोटा होता है क्योंकि तरंग-गतिकी (wave-mechanics) के अनुसार

$$\lambda = \frac{h}{mv} \quad . \quad . \quad . \quad (17)$$

$$= \frac{h}{m}\sqrt{\frac{300m}{2Ve}} \quad . \quad . \quad [\text{समी० (15) से}$$

इस मे $h = 6 \cdot 55 \times 10^{-27}$ तथा e, m के मानों का निवेशन करने पर

$$\lambda = \frac{1 \cdot 227}{\sqrt{V}} \times 10^{-8} \text{ सम०}$$

इस दृष्टि से इलैक्ट्रान-रश्मि भी प्रकाश ही की रश्मि समझी जा सकती है और तब उसके द्वारा प्रतिबिम्ब बनना अधिक आसानी से समझ मे आ जाता है।

29·12—**इलैक्ट्रान सूक्ष्म-दर्शक** (Electron Microscope)। अब यह समझने में कोई कठिनाई नही कि जैसे कई लैन्सों को यथास्थान जमा कर साधारण यौगिक सूक्ष्म-दर्शक बनाये जाते हैं ठीक उमी प्रकार कई इलैक्ट्रान-लैन्सों के द्वारा भी सूक्ष्मदर्शक बनाया जा सकता है। साधारण सूक्ष्म-दर्शक में मुख्यतः तीन लैन्स-समूह होते हैं—(i) संग्राहक (condenser) (ii) अभिदृष्य (objective) (iii) नेत्रिका (eye-piece)। ठीक उमी तरह इलैक्ट्रान सूक्ष्म-दर्शक में भी तीन इलक्ट्रान-लैन्सों का उपयोग होता है। संग्राहक लैन्स आपतित इलैक्ट्रान-रश्मि को वस्तु पर अभिसरित करता है। फिर वस्तु से उत्सर्जित द्वैतीयिक-रश्मियों के द्वारा अभिदृष्य एक आवर्धित (magnified) प्रतिबिम्ब बनाता है और तब नेत्रिका इस प्रतिबिम्ब का और भी अधिक आवर्धित प्रतिबिम्ब बना देता है। यह अंतिम प्रतिबिम्ब फ़ोटो के प्लेट पर बनाया जाता है और प्लेट पर अंकित हो जाता है।

इलैक्ट्रान सूक्ष्म-दर्शक की आवर्धकता (magnifying power) बहुत अधिक बनाई जा सकती है। साधारण सूक्ष्म-दर्शक की आवर्धकता प्रायः 1000 से अधिक नही होती। किन्तु इलैक्ट्रान सूक्ष्मदर्शक की आवर्धकता प्रायः इस से 100 गुणी अधिक अर्थात् 50,000 से 100,000 तक बढ़ाई जा सकती है। इस प्रकार जो सूक्ष्म वस्तुएँ साधारण प्रकाश के सूक्ष्म-दर्शक की मीमा के बाहर थी उनका प्रेक्षण अब आसानी से हो सकता है। रोग के कई कीटाणु जो अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण देखे और पहिचाने नही जा सकते थे अब आसानी से पहिचाने जा सकते हैं। संभव है कि आगे चलकर हम द्रव्य के अणुओं को भी प्रत्यक्ष देखने में सफलता प्राप्त कर लें।

इस अत्यधिक आवर्धकता का कारण यह है कि इस इलैक्ट्रान-रश्मि का तरंग-दैर्घ्य अत्यन्त छोटा होने के कारण इस सूक्ष्म-दर्शक की विभेदन शक्ति (resolving power) बहुत बढ़ जाती है। प्रकाश-विवर्तन (diffraction) के सिद्धान्तों के द्वारा यह प्रमाणित हो जाता है कि यह विभेदन शक्ति इतनी होती है कि जो दो विन्दु पृथक् देखे जा सकते हैं उनके बीच की अल्पतम दूरी $d=\frac{\lambda}{\mu \sin a}$, जहाँ μ विम्ब-देश का वर्तनांक (refractive index) है, a अभिदृष्य पर आपतित किरण-शंकु का अर्ध शीर्ष-कोण है और λ प्रकाश का तरंग-दैर्घ्य है। अतः स्पष्ट है कि जितना ही छोटा λ होगा उतना ही छोटा d भी हो सकेगा। यदि इलैक्ट्रान-रश्मि 10000 वोल्ट के विभवत्व से उत्पन्न हुई हो तो उसका तरंग-दैर्घ्य होगा प्राय. 10^{-9} सम० और हरे दृष्य-प्रकाश का तरंग-दैर्घ्य होता है 5×10^{-5} सम०। तरंग-दैर्घ्य 50,000 गुणा छोटा होने के कारण विभेदन-शक्ति भी 50,000 गुणी अधिक हो जाती है।

29·13—**धन-किरणें** (Positive Rays)। यह हम पहले बता चुके हैं कि विसर्ग-नलिका में ऋण-अग्र के निकट धन-आयन बड़े वेग से ऋण-अग्र की ओर दौड़ते रहते हैं। यदि ऋण-अग्र में कुछ छिद्र बना दिये जावें तो ये धनाविष्ट आयन छिद्रों में से निकल कर ऋण-अग्र के पीछे की ओर निकल जावेंगे और वहाँ भी गैस में कुछ ज्योति उत्पन्न कर देंगे जिस का रंग विभिन्न गैसों के लिए विभिन्न होगा। गोल्डस्टाइन (Goldstein) ने ही पहले पहल इन किरणों को देखा था और उस समय इनका नाम कनाल किरण (canal rays) रखा गया था। किन्तु अब ये धन-किरणों ही के नाम से प्रसिद्ध हैं।

इन धन आयनों के बारे में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि अधिक द्रव्यमान के कारण इन में आयनीकरण की शक्ति बहुत अधिक होती है। अतः नलिका की गैस के अणुओं अथवा परमाणुओं से टकरा कर ये नवीन धन अथवा ऋण आयनों की सृष्टि भी कर देते हैं और इन टक्करों में ये अपना आवेश भी बहुधा खो बैठते है। इस प्रकार धनाविष्ट, ऋणाविष्ट और अनाविष्ट अनेक प्रकार के कणों के एकत्र सम्मिलित होने के कारण उनके भार, आवेश अथवा e/m का नापना प्रायः असंभव है।

इसमें सन्देह नहीं कि विसर्ग-नलिका में गैस का दबाव कम कर देने से यह कठिनाई दूर हो सकती है किन्तु तब धन-अग्र और ऋण-अग्र के बीच में धारा का प्रवाह ही कठिन हो जाता है और इस कारण इन धनाविष्ट कणों की संख्या बहुत ही घट जाती

है। यही कारण है कि प्रायः 25 वर्ष तक इनके संबंध में कुछ भी बात अच्छी तरह न ज्ञात हो सकी। 1898 में वीन (Wien) ने अवश्य ही इनका वैद्युत तथा चुम्बकीय विचलन उत्पन्न करने मे सफलता प्राप्त की थी। किन्तु जब अनेक वर्षो के परिश्रम के बाद 1910 में जे०जे० टामसन ने एक नई युक्ति इम कठिनाई को दूर करने की निकाली तभी वस्तुतः इन धन-किरणों का वास्तविक ज्ञान हमे प्राप्त हुआ।

टामसन ने विसर्गनलिका को दो भागों में विभक्त कर दिया—एक विसर्ग होने के लिए और दूसरा धन-किरणों की परीक्षा करने के लिए। इस दूसरे भाग को हम कैमरा भी कह सकते हैं क्योंकि इसमें फ़ोटो के प्लेट पर धन-कणों का विचलन अंकित किया जाता है। प्रथम भाग में गैस का दबाव इतना रखा गया कि विसर्ग के अच्छी तरह चलते रहने में कोई कठिनाई न हो किन्तु कैमरा में गैस का दबाव बहुत ही घटा दिया गया ताकि गैस के अणुओं से धन-कणों की टक्कर होने का अवसर ही न मिले। किन्तु इन दोनों भागों को पृथक् रखने के लिए यह संभव नहीं था कि बीच में किसी तरह का पर्दा लगा दिया जाय क्योंकि ये धन-किरणें पतली से पतली झिल्ली में से भी नही निकल सकतीं। अतः उनके बीच में एक बहुत ही बारीक (प्रायः 1/10 मम० और कभी कभी तो 1/100 मम० व्यास वाले छेद की) लम्बी केश-नली (capillary tube) लगा दी गई। इस नली के कारण किरणों का रास्ता बन्द न होने पर भी गैस का दबाव दोनों भागों में भिन्न रह सकता है। विसरण (diffusion) की क्रिया के द्वारा अवश्य ही अत्यन्त धीरे-धीरे थोड़ी-थोड़ी गैस कैमरा में प्रवेश करती रहती है। इसलिए कैमरा में से इस गैस को बराबर हटाते रहने के लिए इसमें लकड़ी के कोयल्ले और द्रव-वायु (liquid air) का प्रबन्ध कर दिया गया था और साथ ही विसर्ग-नलिका में उतने ही परिमाण में गैस प्रविष्ट कराने का भी प्रबंध था।

चित्र 29·08 में यह विसर्ग-नलिका दिखलाई गई है। **ब** प्रायः 20 सम० व्यास का एक बल्ब है। इसमें विसर्ग होता है। ऋण-अग्र **क** ऐल्यूमिनियम का बना है और उसके मध्य में 1/10मम० रंध्रवाली तांबे की लम्बी नली लगी है। इस नली के चारों ओर नरम लोहे की मोटी नली **न** इसलिए लगी है कि किसी प्रकार के चुम्बकीय बल के कारण बारीक नली में से चलने वाले धन-कण विचलित होकर उसकी दीवार से टकरा कर नष्ट न हो जावें। **ब** और नली के बीच में भी इसी कार्य के लिए लगाया हुआ एक लोहे का पर्दा (**ल ल**) है। नली **न** में से निकल कर धन-किरणें सीधी फ़ोटो के प्लेट **च** पर पहुँचती हैं। रास्ते में इन पर विद्युत् चुम्बक के ध्रुव **उ** और **द** के द्वारा चुम्बकीय बल लगाया जाता है। **उ** और **द** लोहे के हैं किन्तु पतले अभ्रक **ग ग** के द्वारा ये चुम्बक-क्रोड़ से विलागित हैं। वैद्युत क्षेत्र भी **उ** और **द** ही

को बैटरी से जोड़ कर लगाया जाता है। **प** एक पार्श्व-नली है जिसका सम्बंध कोयले और द्रव-वायु से है। इसके अतिरिक्त ऋण-अग्र को ठंडा रखने के लिए उसके चारों
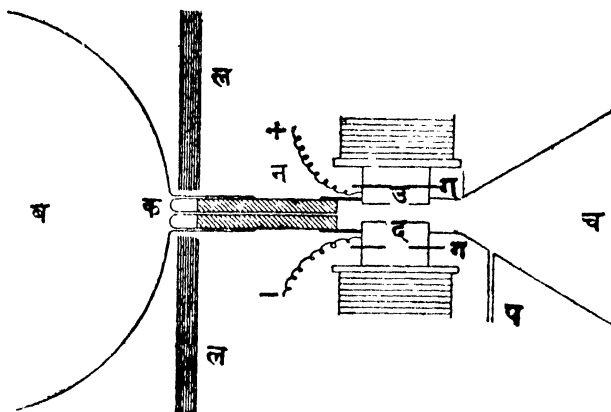
चित्र 29·08

ओर जल को प्रवाहित रखने का भी प्रबंध रहता है अन्यथा इन धन-कणों की टक्करों के कारण उसका टेम्परेचर बहुत ही अधिक बढ़ जाय।

इस उपकरण में वैद्युत क्षेत्र तथा चुम्बकीय क्षेत्र दोनों एक ही दिशा में (यथा y-दिशा में) लगाये जाते हैं। अतः धन-कणों का वैद्युत विचलन तो चित्र में ऊपर नीचे होता है किन्तु चुम्बकीय विचलन उससे समकोण बनाता हुआ आगे पीछे की ओर अर्थात् z-दिशा में होता है।

यदि धन-कण का द्रव्य-मान M हो तथा वैद्युत विचलन को y तथा चुम्बकीय विचलन को हम z कहें तो समीकरण (4) तथा (10) के अनुसार

$$y=\frac{eF}{Mv^2}A \qquad . \quad . \quad . \quad (4)$$

और

$$z=\frac{eH}{Mvc}B \qquad . \quad . \quad . \quad (10)$$

इन दोनों समीकरणों में A और B के मान कैमरा की लम्बाई और क्षेत्रों के वितरण पर निर्भर हैं और किसी भी विसर्ग-नलिका विशेष के लिए इनके मान स्थिर रहते

हैं तथा एक बार नाप लेने से वह सभी प्रयोगों में काम आ सकते हैं। इन समीकरणों के सम्मेलन से स्पष्ट है कि

$$\frac{z}{y} = \frac{B}{Ac}\frac{H}{F}v \quad . \quad . \quad . \quad (18)$$

और

$$\frac{z^2}{y} = \frac{B^2}{Ac^2} \cdot \frac{e}{M} \cdot \frac{H^2}{F} \quad . \quad . \quad . \quad (19)$$

अतः स्पष्ट हो जाता है कि प्लेट पर विचलित विन्दु के निर्देशांक (coordinates) y और z को चलायमान सूक्ष्मदर्शक के द्वारा अच्छी तरह नाप लेने से समीकरण (18) तो इन कणों का वेग बता देगा और समीकरण (19) से उनके e/M का मान ज्ञात हो जायगा।

29·14—धन-किरण परवलय (Positive Ray Parabola)। यदि धन-किरण के सभी कणों का वेग बराबर होता और सभी का e/M भी समान होता तब तो अवश्य ही सबका विचलन भी बराबर होता और प्लेट पर सब एक ही स्थान पर पड़ते। किन्तु यह समझना कठिन नहीं कि इन सब कणों का वेग बराबर नहीं हो सकता। विसर्ग-नलिका के वैद्युत क्षेत्र में उनकी गति भिन्न-भिन्न दूरी तक होती है। कोई कण ऋण-अग्र के निकट ही उत्पन्न होता है और कोई दूर से चलकर वहां पहुँचता है। अतः यदि सब कणों का e/M बराबर भी हो तब भी उनका वेग बराबर न होने के कारण वे सब प्लेट पर एक ही स्थान पर नहीं पहुँच सकते। किन्तु समीकरण (19) के अनुसार वे सब एक परवलय (parabola) पर पड़ेंगे जिस का समीकरण होगा

$$z^2 = \frac{B^2 e H^2}{Ac^2 M F} y \quad . \quad . \quad . \quad (20)$$

यदि कोई कण ऐसे हों कि जिनका e/M भी भिन्न हो तो वे दूसरा परवलय प्लेट पर अंकित करेंगी। इस प्रकार जितने भिन्न-भिन्न मान के e/M वाले कण उपस्थित होंगे उतने ही भिन्न-भिन्न परवलय बन जावेंगे।

यदि प्रयोग के पूरे समय तक चुम्बकीय क्षेत्र एक ही दिशा वाला रहे तब तो इन परवलय वक्रों की केवल एक ही ओर की शाखा प्लेट पर अंकित होगी किन्तु यदि आधे समय के बाद चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा उलट दी जाय तो दूसरी भी सममित (symmetrical) शाखा अंकित हो सकेगी। इस प्रकार दोनों शाखाओं के अंकित होने मे लाभ यह है कि प्लेट पर विचलन नापने मे सुविधा होती है।

समीकरण (4) और (15) से यह भी प्रगट है कि विचलन y के लिए एक निम्नतम सीमा भी होगी। कणों का वेग विसर्ग-नलिका के विद्युत-अग्रों के विभवान्तर पर निर्भर है और यदि इसका मान V वोल्ट हो तो समीकरण (15) के अनुसार इनके अधिकतम वेग का मान निम्न समीकरण के द्वारा प्राप्त होगा :—

$$v^2 = \frac{2Ve}{300m}$$

और जब वेग इससे अधिक नही हो सकता तब y भी समी० (4) के अनुसार $150\ A\frac{F}{V}$ से कम नही हो सकता। अत. यदि हम z-अक्ष ($y=0$) से $\frac{150AF}{V}$ की दूरी पर एक समान्तर रेखा खीचे तो प्रत्येक परवलय इस रेखा के दाहिनी ओर ही रहेगा। बाई ओर का भाग प्लेट पर अंकित न होगा।
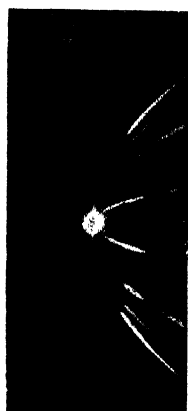
किन्तु कुछ कण अपना आवेश कैमरा मे प्रवेश करने से पहिले ही खो चुकेंगे। अतः ऐसे कणों का कुछ भी विचलन न होगा।

चित्र 29·09

चित्र 29·09 मे टामसन द्वारा प्राप्त ऐसे ही परवलय दिखलाये गये है। इसमें अविचलित विन्दु भी हैं। भिन्न-भिन्न e/m वाले कई परवलय भी हैं और इनका शीर्ष कटा हुआ भी दिखलाई देता है।

यदि यह मान लिया जाय कि आवेश की मात्रा इलैक्ट्रानिक आवेश ही के बराबर सब कणों पर होती है तब यह भी मानना पड़ेगा कि सबसे बाहर वाला परवलय जिसमे सबसे अधिक विचलन हुआ है उन कणों के द्वारा बना है जिनका द्रव्यमान M सबसे कम है। ऐसे ही अनेक चित्रों का नाप करने से ज्ञात हुआ है कि सबसे हलके कण के e/m का मान लगभग 10^4 है। यह हाइड्रोजन-आयन के $e/m=9650$ से भिन्न नही है। अतः सबसे हलका धन-कण एक इलैक्ट्रानिक आवेश युक्त हाइड्रोजन का परमाणु हा है।

29·15—**धनकिरण विश्लेषण** (Positive Ray Analysis)। इन धन किरण परवलयों के e/M को नापने से तुरन्त यह ज्ञात हो जाता है कि तत्संबंधी

कण किस तत्व के परमाणु अथवा कौन से अणु हैं। इस दृष्टि से यह गैस के विश्लेषण का एक अत्यन्त उत्कृष्ट उपाय है। स्पैक्ट्रम के द्वारा तो रासायनिक विश्लेषण होता ही है किन्तु यह उपाय उससे भी अधिक सुग्राही (sensitive) है। उदाहरण के लिए वायु-मंडल के आरगन (argon) गैस को ही लीजिये। इसके साथ थोड़ा बहुत हीलियम भी मिला रहता है। किन्तु उसकी मात्रा इतनी कम होती है कि बिना कठिन परिश्रम के और बिना बहुत सी वायु पर रासायनिक क्रिया किये उसका पता चलाना कठिन है। किन्तु 1/300मम० दबाव पर भी जो आरगन विसर्ग-नलिका में उपस्थित रहता है उसमे मिले हुए हीलियम का परवलय भी स्पष्ट अंकित हो जाता है। प्रायः एक घन सम० वायु ही को लेकर हम इस उपाय से उसमें हीलियम का पता चला सकते हैं।

29·16—**समस्थानिक** (Isotopes)। इसके अतिरिक्त इस युक्ति मे एक बड़ी विशेषता यह है कि इसके द्वारा प्रत्येक परमाणु का द्रव्यमान पृथक्-पृथक् नापा जा सकता है। अन्य विधियों के द्वारा तो हम परमाणु-समूह का नाप करते हैं और उस नाप से परमाणु भार का औसत मान ही निकाल सकते हैं। इस प्रकार के नाप से एक बहुत ही महत्व की बात का पता चला है। उदाहरणार्थ नीयन (neon) नामक गैस का परमाणुभार 20·2 माना जाता है। धन-किरण विधि से नीयन के दो परवलय प्राप्त होते हैं जिनसे परमाणु-भार क्रमशः 20 और 22 निकलते हैं। 22 भार वाला परवलय 20 भार वाले परवलय से प्रायः 9 गुणा क्षीण होता है। इससे जे० जे० टामसन ने यह परिणाम निकाला कि साधारण नीयन गैस दो प्रकार के परमाणुओं का बना होता है। जिनका परमाणु भार 20 होता है वे 22 भार वाले परमाणुओं से संख्या में 9 गुणे अधिक होते हैं। इसी प्रकार अन्य तत्वों की परीक्षा करने से पता चला है कि सभी परमाणुओं का परमाणु-भार पूर्णांकी (integral number) होता है। रासायनिक रीति से जो अपूर्णांकी परमाणु-भार प्राप्त होते हैं उनका कारण कई प्रकार के परमाणुओं का भिन्न-भिन्न मात्रा में मिश्रण है।

एक ही तत्व में जो भिन्न-भिन्न भार वाले परमाणु होते हैं वे उस तत्व के आइसोटोप या समस्थानिक (isotope) कहलाते हैं क्योंकि आवर्त-सारिणी (Periodic Table) मे उनका स्थान एक ही होता है। इनका रासायनिक रीति से विश्लेषण नही हो सकता क्योंकि परमाणु-भार के अतिरिक्त इनके रासायनिक गुणों में कुछ भी अन्तर नहीं होता। धन-किरण-विश्लेषण विधि से अब यह प्रमाणित हो गया है कि प्रायः सभी तत्वों के परमाणुओं के अनेक समस्थानिक होते हैं।

इस विधि के द्वारा उन अस्थायी अणुओं का भी पता चल सकता है जो किसी रासायनिक क्रिया में उत्पन्न होते हों किन्तु जिनका अस्तित्व-काल इतना छोटा होता हो कि रासायनिक-विधि से उनका पता चलना असंभव हो ।

29·17—**द्रव्यमान स्पैक्ट्रम-लेखी** (Mass Spectrograph) । 1919 में ऐस्टन (Aston) ने इस धन-किरण विश्लेषण विधि को और भी अधिक सुग्राही और यथार्थता-पूर्ण बना दिया । टामसन की विधि में बराबर भार वाले परमाणु भी वेग की भिन्नता के कारण फैलकर परवलय वक्र अंकित करते हैं । फ़ोटो के प्लेट पर बहुत ही दीर्घ-कालीन क्रिया के बिना ये वक्र बहुत ही क्षीण होते हैं और यदि प्लेट की दूरी तथा क्षेत्रों की तीव्रता को बढ़ाकर धन-कणिकाओं के विचलन को बढ़ाने का प्रयत्न किया जाय ताकि परमाणु-भार का थोड़ा भेद भी यथार्थता पूर्वक नापा जा सके तो आवश्यक समय और भी अधिक हो जाता है । इस कमी को पूरी करने के लिए ऐस्टन ने ऐसी युक्ति निकाली कि वेग की भिन्नता होने पर भी बराबर भार वाले सभी परमाणु प्लेट के एक ही विन्दु पर एकत्र हो जाते हैं और फैलकर परवलय वक्र नहीं बनाते ।

यह युक्ति चित्र 29·10 से प्रगट है । विसर्गनलिका में से धन-किरण छिद्र **स स** में से निकलती है । ये छिद्र प्रायः 1/20 मम० से अधिक चौड़े नहीं होते । **द** और **द'**
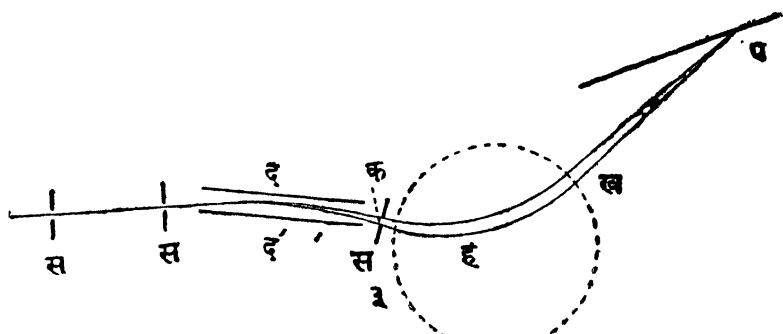
चित्र 29·10

दो पट्टिकाएँ हैं जिनके बीच में प्रायः 5 सम० की दूरी तक 2000 वोल्ट प्रति सम०

का वैद्युत क्षेत्र है। इसके द्वारा वेग के भेद के कारण भिन्न-भिन्न विचलन होने से धन-किरणें फैल जाती हैं। इनमें से कुछ कण जिनका विचलन पर्याप्त होता है छिद्र **क** में प्रवेश कर सकती हैं। यह छिद्र कुछ चौड़ा होता है। इसके बाद ये कण प्राय: 10000 गाउस के चुम्बकीय क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। यह क्षेत्र विन्दुमय वृत्त के भीतर-भीतर रहता है और चित्र में कागज़ से लम्बरूप होता है। इसे उत्पन्न करने के लिए प्रबल विद्युत्-चुम्बक प्रयुक्त होता है। यहाँ से निकल कर ये कण प्राय: 12 समº लम्बे और 2 समº चौड़े प्लेट **प** पर पड़ती हैं। अन्य बातों में यह कैमरा चित्र 29·08 के कैमरा के समान ही होता है और उसमें दबाव भी विसर्ग नलिका से उसी प्रकार कम रखा जाता है।
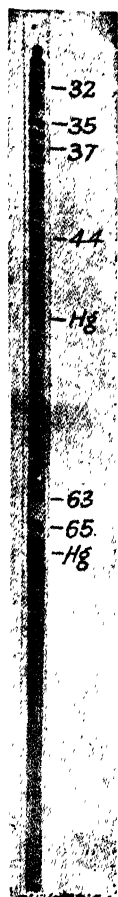
चुम्बकीय क्षेत्र भिन्न-भिन्न वेग वाले कणों को प्लेट पर एकत्रित कर देता है यदि उन सबका e/M बराबर हो। जिस दिशा में वैद्युत क्षेत्र ने उन्हें विचलित किया था उससे यह चुम्बकीय क्षेत्र उन्हें ठीक विपरीत दिशा में विचलित करता है। गणित के द्वारा प्लेट **प** को रखने का ऐसा स्थान और ऐसी दिशा ज्ञात हो सकती है कि जिससे सभी भिन्न-भिन्न e/M वाले कणों का फ़ोकस प्लेट पर ही रहे। इस प्रकार बहुत ही स्पष्ट और बारीक रेखाएँ प्लेट पर अंकित होती हैं और उनके माप की यथार्थता भी प्राय: 0·1 प्रतिशत तक पहुँच सकती है। जिस प्रकार स्पैक्ट्रम में विभिन्न तरंग-दैर्घ्यों के प्रकाश की रेखाएँ होती हैं उसी प्रकार इसमें विभिन्न द्रव्यमान वाले परमाणुओं की रेखाएँ क्रमानुसार होती हैं। अत: इसे द्रव्यमान-स्पैक्ट्रम (mass spectrum) कहते हैं और इसके लिए प्रयुक्त उपकरण को द्रव्यमान स्पैक्ट्रम-लेखी कहते हैं। चित्र 29·11 में ऐसा ही एक द्रव्यमान-स्पैक्ट्रम दिखाया गया है। अब तो और भी अच्छे कई प्रकार के द्रव्यमान-स्पैक्ट्रम-लेखी बन गये हैं और यथार्थता 0·01 प्रतिशत तक हो गई है।

चित्र 29·11

परिच्छेद 30

तापज तथा प्रकाशज इलैक्ट्रान

(Thermions and Photo-electrons)

30·01—**उत्तप्त वस्तुओं से इलैक्ट्रानों का उत्सर्जन** (Emission of Electrons from Hot Bodies)। जब से विद्युत् का आविष्कार हुआ है तभी से यह ज्ञात है कि उत्तप्त वस्तुओं में आवेश ठहरता नहीं। यदि लोहे के गोले को गरम करके लाल कर दिया जाय तो उसमें धन-आवेश नहीं ठहरता और यदि उसका टेम्परेचर और भी अधिक बढ़ा दिया जाय तो ऋण-आवेश भी उसमें से अपने आप निकलने लगता है। किन्तु 1900 के बाद में ही रिचर्डसन (Richardson) के प्रयत्न से इस विषय का कुछ ठीक ज्ञान हमें प्राप्त हुआ है। आवेश के इस प्रकार गरम वस्तु में से निकल जाने का कारण यह है कि उसमें से धनाविष्ट परमाणु अथवा ऋणाविष्ट इलैक्ट्रान निकलने लगते हैं।

चित्र 30·01 के उपकरण के द्वारा इस घटना का अध्ययन हो सकता है। कांच की नली के मध्य में **क ख** प्लैटिनम का तार है जिसे विद्युत्-धारा प्रवाहित करके जितना चाहें गरम किया जा सकता है। इसके चारों ओर धातु की एक नली **न न** लगी है जिसका सम्बंध विद्युत्-अग्र **द** से है। कांच की नली में वायु-पम्प के द्वारा गैस निकाल कर दबाव इच्छानुसार घटाया जा सकता है। **द** से विद्युन्मापी अथवा
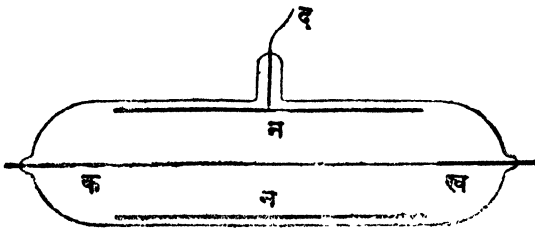
चित्र 30·01

सुग्राही धारामापी का सम्बंध करके **क ख** और **न न** के बीच में प्रवाहित होने वाली धारा नापी जा सकती है।

जब तार नया लगाया जाता है तब तो चाहे **क ख** का विभव धन हो अथवा ऋण दोनों ही अवस्थाओं मे धारा का प्रवाह होता है। इससे प्रगट है कि इस समय उस तार में से धन और ऋण दोनों प्रकार के कण निकलते हैं। किन्तु यदि तार को कुछ देर तक बराबर उत्तप्त रखा जाय और उसमें से निकलने वाली गैस को पम्प के द्वारा बराबर निकालते रहें तो धन-कणों का उत्सर्जन (emission) बन्द हो जाता है और ऋण-कणों का उत्सर्जन भी बहुत घट जाता है। अन्त में विद्युत्-धारा का परिमाण स्थिर हो जाता है। इससे ज्ञात होता है कि तार के पृष्ठ मे जो गैस अधिधारित (adsorbed) रहती है उसी के निकलने से नवीन तार में धारा प्रबल रहती है और दोनों प्रकार के कण भी उत्पन्न होते हैं। जब यह गैस निकल चुकती है तो धारा भी कम हो जाती है और केवल ऋण-कण ही उसमें से निकलते हैं। ताप के कारण जो वास्तविक उत्सर्जन होता है वह यही अवशिष्ट ऋण-उत्सर्जन है। और इस तापायनिक धारा (thermionic current) का परिमाण अच्छा होने के लिये विभिन्न धातुओं के लिये भिन्न-भिन्न टेम्परेचरों की आवश्यकता होती है। प्लैटिनम के तार के लिये 1000° के टेम्परेचर की आवश्यकता है किन्तु सोडियम जैसी विद्युत्-धनीय (electro-positive) धातु के लिये 300° ही काफ़ी होता है। कैलशियम, स्त्रांशियम या बेरियम का आक्साइड यदि थोड़ा भी उत्तप्त धातु पर चिपका हो तो यह धारा बहुत ही बढ़ जाती है। इसी लिये बहुधा प्लैटिनम का छोटा सा पत्र जिस पर चूना लगा दिया गया हो इस कार्य के लिये बहुत काम आता है। इसे वेहनेल्ट (Wehnelt) का कैथोड कहते हैं। यदि नली में थोड़ी हाइड्रोजन भरी हो तब भी तापायनिक धारा बहुत बढ़ जाती है। 1350° वाले प्लैटिनम के ऋण-उत्सर्जन को प्रायः 2500 गुणा बढ़ा देने के लिये केवल ·0006 मम० दबाव वाली हाइड्रोजन ही काफ़ी पाई गई है। संभव है कि इस का कारण यह हो कि हाइड्रोजन के धनाविष्ट परमाणु प्लैटिनम के पृष्ठ के निकट एकत्रित हो जाते हैं और इनके द्वारा जो वैद्युत क्षेत्र उत्पन्न होता है वही इलैक्ट्रानों को धातुओं में से अधिक मात्रा में खींचकर निकाल देता है।

30·02—**तापज इलैक्ट्रान** (Thermo-electrons or Thermions)। उत्तप्त धातुओं में से निकलने वाले ऋण-कणों का e/m भी वैद्युत तथा चुम्बकीय क्षेत्र लगाकर ठीक उसी प्रकार नापा गया है जिस प्रकार कैथोड-किरणों को टामसन ने नापा था। इन नापों से ज्ञात हुआ कि इनका e/m ठीक कैथोड-किरणों के e/m के बराबर ही होता है। अतः यह भी प्रमाणित हो गया कि इन ऋण-कणों में तथा कैथोड-किरण के इलक्ट्रानों में कोई अन्तर नहीं है। इनकी उत्पत्ति को व्यक्त करने

के लिये इन्हें तापज इलैक्ट्रान अथवा तापायन (thermion) भी कहते हैं और इनके द्वारा जो धारा प्रवाहित होती है वह तापायनिक धारा कहलाती है।

30·03—**तापायनिक धारा और विभवान्तर**। यदि चित्र 30·01 के उपकरण में विद्युत्-अग्रों का विभवान्तर क्रमशः बढ़ाया जाय तो तापायनिक धारा भी बढ़ती जाती है। किन्तु एक सीमा-विशेष तक बढ़ कर तापायनिक धारा का परिमाण स्थिर हो जाता है। फिर विभवान्तर चाहे जितना बढ़ाया जाय धारा में वृद्धि नहीं होती (चित्र 30·02)। इस अधिकतम धारा को संतृप्ति-धारा
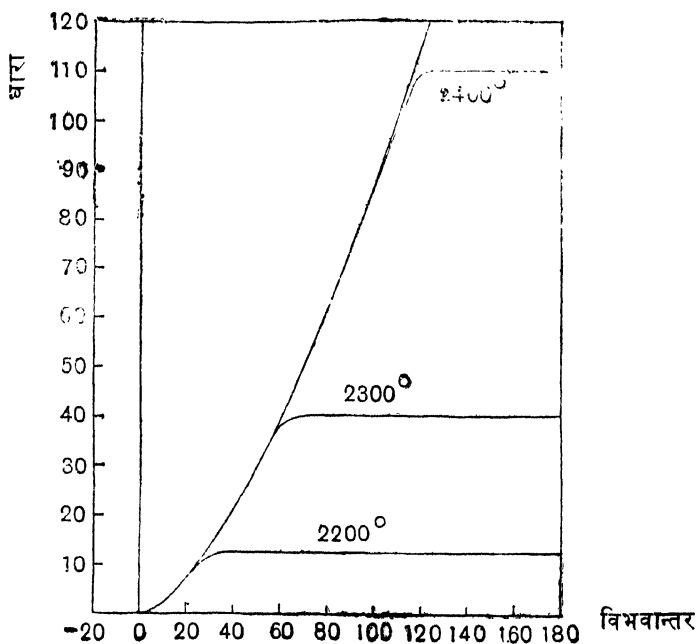
चित्र 30·02

(saturation current) कहते हैं। इस संतृप्ति का कारण भी स्पष्ट ही है। जितने इलैक्ट्रान प्रति सैकंड ताप के द्वारा धातु में से निकलते हैं उतने सभी जब प्रति सैकंड धन-अग्र पर जा पहुँचें तब प्रत्यक्ष है कि विभवान्तर को बढ़ाने से धारा के परिमाण में वृद्धि नहीं हो सकती।

30·04—**तापायनिक धारा और टेम्परेचर**। चित्र 30·02 से यह भी प्रगट है कि कैथोड **क ख** का टेम्परेचर बढ़ाने से तापायनिक संतृप्ति-धारा बड़े वेग से बढ़ती है। रिचर्डसन ने अपने अनुसंधानों से जिस नियम का आविष्कार किया वह निम्न समीकरण के द्वारा व्यक्त हो सकता है :—

$$i = AT^{1/2}e^{-b/T} \quad . \quad . \quad . \quad (1)$$

इसमें i धारा है, T परम टेम्परेचर है और A तथा b दो नियतांक हैं जिन के मान विभिन्न पदार्थों के लिये भिन्न-भिन्न होते हैं तथा e लघुगणकीय आधार (logarithmic base) है। चित्र 30·03 में प्लैटिनम की तापायनिक संतृप्ति-धारा की टेम्परेचर के कारण होने वाली वृद्धि लेखाचित्र के द्वारा प्रदर्शित है। इस धातु के लिये $A = 6{\cdot}9 \times 10^7$ और $b = 65000$।
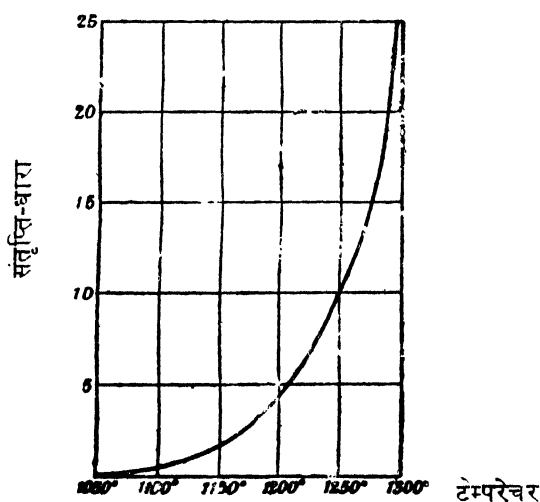
चित्र 30·03

इस नियम को रिचर्डसन का नियम कहते हैं। इसके सम्बंध में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जब किसी बन्द नलिका में इलैक्ट्रान तप्त धातुओं में से निकलते हैं तो उस नलिका में ये इलैक्ट्रान ठीक उसी प्रकार फैल जाते हैं जैसे कि किसी गैस के अणु। गैस के अणुओं ही के समान ये इधर-उधर दौड़ते और आपस में टकराते रहते हैं। इनमें से कुछ तप्त धातु-पृष्ठ पर भी टकराते हैं और वहाँ वे पुनः धातु में पकड़ भी लिये जाते हैं। अतः जिस प्रकार धातु में से प्रति क्षण कुछ इलैक्ट्रान निकलते

रहते हैं उसी प्रकार कुछ इलैक्ट्रान उसमें पुनः प्रविष्ट भी होते रहते हैं। जब इन दोनों क्रियाओं का संतुलन हो जाता है तब ही धारा संतृप्ति को प्राप्त कर लेती है ठीक उसी प्रकार जैसे द्रव के अणुओं का वाष्पन होता है और बंद बर्तन में वाष्प संतृप्ति को तब प्राप्त करता है जब द्रव-पृष्ठ में से बाहर निकलने वाले अणुओं की संख्या उसमें पुनः प्रविष्ट होने वाले अणुओं की संख्या के बराबर हो जाय। इस दृष्टि से इस इलैक्ट्रान-उत्सर्जन को हम इलैक्ट्रानोंका वाष्पन भी कह सकते हैं। वस्तुतः यह उपमा अधिक गहरी है क्योंकि यह भी समझने के कई कारण उपस्थित हैं कि जिस मैक्सवेल के नियम (Maxwell's Law) के अनुसार गैस के अणुओं में वेग का वितरण होता है ठीक उसी नियम के अनुसार उत्सर्जित इलैक्ट्रानों के वेग का भी वितरण होता है। रिचर्डसन ने उपर्युक्त नियम गैसों के गत्यात्मक सिद्धान्त (Kinetic Theory) के द्वारा ही मालूम किया था।

किन्तु ऊष्मा-गतिकी (Thermodynamics) के नियमों के द्वारा विचार करने पर उन्हें कुछ दूसरा ही समीकरण प्राप्त हुआ है।

$$i = AT^2 e^{-b/T} \quad . \quad . \quad . \quad (2)$$

यह रिचर्डसन का नवीन नियम है। इसके रूप से तो ऐसा मालूम होता है कि यह नियम प्रथम नियम से सर्वथा भिन्न है। किन्तु आश्चर्य है कि प्रयोगात्मक परिणामों को दोनों ही प्रायः समान यथार्थता से व्यक्त करते हैं। यह कहना कठिन है कि दोनों में कौन सा अच्छा है। कुछ आधुनिक प्रयोग इस दूसरे नियम के पक्ष में बताये जाते हैं।

30·05—**लैंगम्युइर का नियम** (Langmuir's Law)। जब तक धातु का टेम्परेचर बहुत अधिक नहीं होता तब तक तो रिचर्डसन के नियमानुसार ही टेम्परेचर की वृद्धि के साथ-साथ तापायनिक धारा की भी वृद्धि होती रहती है किन्तु जब टेम्परेचर अधिक बढ़ जाता है तब धारा की वृद्धि की दर कम हो जाती है। इसका कारण यह है कि टेम्परेचर की अधिकता से जितने अधिक इलैक्ट्रान धातु में से निकलते हैं उतने ही अधिक इलैक्ट्रानों का समूह विद्युत्-अग्रों के बीच मे एकत्रित होता जाता है। इस समूह का ऋण-आवेश धातु-पृष्ठ में से निकलने वाले इलैक्ट्रानों पर प्रतिकर्षण बल लगा कर उन्हे पुनः धातु में प्रविष्ट करा देता है। केवल वे ही इलैक्ट्रान नहीं लौट पाते जिनका वेग अधिक होता है। जब यह मध्यवर्ती आकाशी-आवेश (space charge) इतना बढ़ जाता है कि एक भी इलैक्ट्रान उत्तप्त कैथोड में से नहीं निकल सकता तब धारा की वृद्धि एक दम रुक जाती है और फिर चाहे टेम्परेचर कितना ही बढ़ाया जाय उसमें कुछ भी वृद्धि नहीं हो सकती। हां यदि

विभवान्तर बढाया जाय तो धारा फिर बढ़ सकती है। तब संतृप्ति-धारा का परिमाण अधिक हो जायगा। चित्र 30·04 के लेखाचित्र से यह बात प्रगट है।
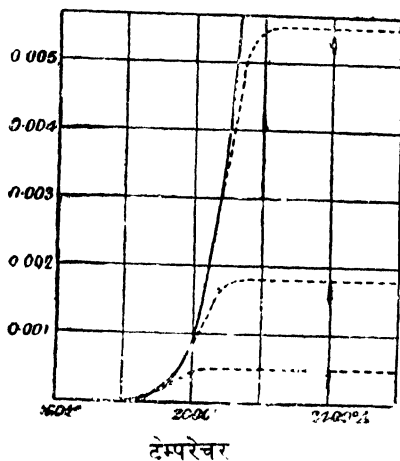
चित्र 30·04

यदि विद्युत्-अग्र समान्तर पट्टिकाओं के रूप में हों तो इस संतृप्ति-धारा और विभवान्तर का सम्बंध निम्न समीकरण के द्वारा व्यक्त होता है

$$i=\frac{\sqrt{2}}{9\pi d^2}\left(\frac{e}{m}\right)^{1/2}V^{3/2}=AV^{3/2} \quad . \quad . \quad . \quad (3)$$

इसमें V विभवान्तर है, d विद्युत्-अग्रों की दूरी है। यह लैंगम्युइर का नियम कहलाता है।

30·06—**तापायनिक वाल्व** (Thermionic Valve)। परिच्छेद 25 में तापायनिक वाल्वों का वर्णन किया गया था। आधुनिक रेडियो तथा दूरवीक्षण (television) तो इन्हीं वाल्वों पर निर्भर हैं। इन वाल्वों में भी उत्तप्त तार से तापज इलैक्ट्रान पैदा होते हैं। इन वाल्वों के लाक्षणिक वक्रों का रहस्य पिछले अनुच्छेद से स्पष्ट हो जाता है।

30·07—**प्रकाश-वैद्युत प्रभाव** (Photo-electric Effect)। 1887 में सबसे पहले यह देखा गया कि धातु के विद्युत्-अग्रों के बीच में स्फुल्लिंग की उत्पत्ति ऋण-अग्र पर परा-बैंगनी (ultra-violet) प्रकाश डालने से अधिक आसानी से हो जाती है। इसके कुछ समय बाद हालवैक्स (Hallwacks) ने यह प्रमाणित कर

दिया कि सुवर्णपत्र-विद्युत्दर्शी की पट्टिका पर परा-बैंगनी प्रकाश डालने से ऋणाविष्ट धातुओं का आवेश विसर्जित हो जाता है किन्तु धनाविष्ट धातुओं का विसर्जन नही होता । विलागित और अनाविष्ट धातु इस प्रकाश के पड़ने से धनाविष्ट हो जाता है।

इस घटना का कारण वास्तव में परा-बैंगनी प्रकाश ही है यह आसानी से प्रमाणित किया जा सकता है। प्रकाश के मार्ग मे कांच इत्यादि परा-बैंगनी प्रकाश का शोषण करने वाले पदार्थ रख देने से इस घटना का अन्त हो जाता है किन्तु जो पदार्थ इस प्रकाश के लिये भी पारदर्शक हैं उनके बीच मे रखे जाने पर कुछ भी असर नहीं होता।

प्रारम्भ में इस की परीक्षा के लिये जितने प्रयोग किये गये थे इन सब में धातु-पृष्ठ पर चिपके हुए गैस के स्तर के कारण विश्वास के योग्य परिणाम न निकाले जा सके। किन्तु जब से अधिक अच्छे निर्वातक पम्पों का प्रयोग होने लगा और धातु-पृष्ठ भी निर्वात प्रदेश ही मे बिना गैस के स्पर्श के ही बनाये जाने लगे तब से इन प्रयोगों की यथार्थता मे कोई सन्देह करने का कारण नही रह गया है और अब यह भली भांति प्रमाणित हो चुका है कि इस घटना का कारण वास्तव मे यह है कि परा-बैंगनी प्रकाश प्रत्येक धातु मे से ऋणाविष्ट इलैक्ट्रानो को निकाल देता है। इन इलैक्ट्रानो का e/m भी कैथोड-कणिकाओ और तापज इलैक्ट्रानो के समान ही वैद्युत तथा चुम्बकीय क्षेत्रों के द्वारा नाप लिया गया है और उसका परिमाण ठीक कैथोड-कणिकाओ के e/m के बराबर निकलने के कारण इनकी और कैथोड-किरण के इलैक्ट्रानों की एकता भी प्रमाणित हो गई है। यदि कुछ भेद है तो इतना ही कि इन प्रकाशज-इलैक्ट्रानों का वेग कैथोड-किरणो की अपेक्षा बहुत ही कम होता है।

30·08—**प्रकाशज-इलैक्ट्रानों का वेग** (Velocity of Photo-electrons)। धातु-पृष्ठ से निकलते समय इलैक्ट्रानों का वेग कितना होता है इसको नापने के लिये सबसे सरल उपाय यह है कि उक्त धातु-पृष्ठ के सामने एक ऋण-अग्र रखा जाय और दोनों का विभवान्तर क्रमशः बढ़ाया जाय। इस विभवान्तर के कारण जो वैद्युत क्षेत्र उत्पन्न होगा वह इलैक्ट्रानों का वेग घटाने का प्रयत्न करेगा। यह प्रतिकर्षण बल यदि इतना अधिक हो जाय कि इलैक्ट्रान क्रमशः वेगहीन होकर उलटा चलने लगे तो स्पष्ट है कि वह उस ऋण-अग्र पर न पहुँच कर पुनः अपने जन्मदाता धातु-पृष्ठ में प्रविष्ट हो जायगा। यदि यह विभवान्तर V हो तथा m, e और v क्रमशः इलैक्ट्रान का द्रव्यमान, आवेश और वेग के द्योतक हो तो प्रगट है कि धातु-पृष्ठ में से निकलते समय इलैक्ट्रान की गतिज ऊर्जा होगी $\frac{1}{2}mv^2$ और जब यह ऊर्जा स्थितिज

ऊर्जा Ve के बराबर हो जायगी तब इलैक्ट्रान धातु-पृष्ठ में से निकल नहीं सकेगा। अर्थात्

$$\frac{1}{2}mv^2 = Ve$$

$$\therefore \qquad v = \sqrt{\frac{2Ve}{m}} \qquad . \quad . \quad . \quad (4)$$

अत: V के जिस मान पर प्रकाश-वैद्युत धारा का प्रवाह बन्द हो जाय उससे उक्त समीकरण के द्वारा इलैक्ट्रानों का अधिकतम प्रारम्भिक वेग नापा जा सकता है। इस V को अवरोधी-विभव (stopping potential) कहते हैं। यदि धातु-पृष्ठ के चारों ओर भू-संपृक्त अर्थात् 0 विभव वाले चालक रख दिये जावे तो इलैक्ट्रान-उत्सर्जन के कारण उस धातु-पृष्ठ का धन-विभव क्रमश: बढ़ता जायगा और अन्त में जब वह V के बराबर हो जायगा तब भी प्रकाश-वैद्युत-धारा रुक जायगी। इस V के नाप के द्वारा भी अधिकतम वेग ज्ञात हो जायगा। वेग के नाप की इस विधि के कारण ही एक वोल्ट का वेग, दो वोल्ट का वेग इत्यादि वाक्य भी प्रचलित हो गये हैं। उपर्युक्त समीकरण के अनुसार यदि $V=1$ वोल्ट $=10^8$ वि०चु०मा० हो तो

$$v=\sqrt{2\times10^8\times1{\cdot}76\times10^7}=\sqrt{35{\cdot}2\times10^{14}}=5{\cdot}9\times10^7$$
सम०/सैकंड

अत: एक वोल्ट का वेग $=5{\cdot}9\times10^7$ सम/सैक० तथा 2 वोल्ट का वेग $1{\cdot}18\times10^8$ सम/सैक०।

यदि V को इतना अधिक न बढाया जाय कि प्रकाश-वैद्युत धारा बिलकुल ही बन्द हो जाय तो इस धारा का परिमाण उन इलैक्ट्रानों की संख्या का अनुपाती होगा कि जिनका प्रारम्भिक वेग $\sqrt{(2ve/m)}$ से अधिक होगा क्योंकि इतने या इससे कम वेग वाले इलैक्ट्रानों को तो यह वैद्युत क्षेत्र अवश्य ही वापस लौटा देगा। केवल वे ही इलैक्ट्रान ऋण-अग्र पर पहुँच सकेंगे कि जिनका वेग इससे अधिक होगा। इस प्रकार V के विभिन्न मानों पर धारा का परिमाण नाप कर हमें यह मालूम हो सकता है कि प्रकाश किस वेग के कितने इलैक्ट्रान उत्पन्न करता है।

30·09—**प्रकाश-वैद्युत उत्सर्जन के नियम** (Laws of Photo-electric Emission)। इन नापों से निम्नलिखित महत्वपूर्ण परिणाम निकले हैं:—

(1) सब प्रकाशज इलैक्ट्रानों का प्रारम्भिक वेग बराबर नहीं होता। शून्य से लेकर एक नियत अधिकतम मान तक के सभी वेगों वाले इलैक्ट्रान धातु-पृष्ठ में से निकलते हैं।

(2) यद्यपि प्रकाश-वैद्युत धारा का परिमाण प्रकाश की तीव्रता पर निर्भर है और वस्तुत: वह उसी का समानुपाती भी है तथापि इलैक्ट्रानों के वेग इस तीव्रता

पर तनिक भी निर्भर नहीं है। अर्थात इलैक्ट्रानों की संख्या तो प्रकाश की तीव्रता के अनुपात से ही घटती-बढ़ती है किन्तु इस तीव्रता को दस करोड़ गुणा कम या ज्यादा करने पर भी उत्सर्जित इलैक्ट्रान के अधिकतम वेग में अन्तर नहीं पड़ता।

(3) किसी धातु में से प्रकाशज इलैक्ट्रानों के उत्सर्जन के लिये यह आवश्यक है कि उस पर पड़ने वाले प्रकाश का तरंग-दैर्घ्य एक नियत परिमाण से कम हो। यह उच्चतम तरंग-दैर्घ्य विभिन्न धातुओं के लिये विभिन्न परिमाण का होता है। इससे अधिक तरंग-दैर्घ्य होने पर इलैक्ट्रान उत्सर्जित हो ही नहीं सकते चाहे प्रकाश की तीव्रता कितनी ही अधिक क्यों न हो।

(4) प्रकाशज इलैक्ट्रान का अधिकतम वेग प्रकाश के तरंग-दैर्घ्य पर अथवा प्रकाश-तरंगों की आवृत्ति पर निर्भर है।

जितना ही यह तरंग-दैर्घ्य कम होगा अथवा आवृत्ति जितनी ही अधिक होगी उतना ही वेग भी अधिक मिलेगा। यदि यह आवृत्ति ν हो और इलैक्ट्रानों का महत्तम वेग v हो तो

$$\tfrac{1}{2}mv^2 = h\nu - w \qquad . \quad . \quad . \qquad (5)$$

इसमें h प्लांक (Planck) का सार्वत्रिक नियतांक है और w का मान प्रत्येक धातु के लिये पृथक होता है और उसे कार्य-फलन (work function) कहते हैं। इस नियम को पहले पहल लेनार्ड (Lenard) ने मालूम किया था किन्तु इसका पूरा-पूरा प्रमाण मिलीकन को 1916 में प्राप्त हुआ था।

30·10—**प्रकाश-वैद्युत प्रभाव की व्याख्या**। यों तो इस प्रभाव की व्याख्या बड़ी सरल है। प्रकाश जब किसी वस्तु के पृष्ठ पर पड़ता है तो उसमें अवशोषित होकर वह उसके इलैक्ट्रानों को गतिज ऊर्जा प्रदान करता है। इसमें से कुछ ऊर्जा w तो इलैक्ट्रानों को अन्य परमाणुओं के वैद्युत बल के विरुद्ध पृष्ठ से बाहर निकालने में नष्ट हो जाती है और शेष ऊर्जा को लेकर वह इलैक्ट्रान धातु-पृष्ठ से बाहर निकल जाता है। w भिन्न-भिन्न द्रव्यों के लिये भिन्न-भिन्न परिमाण का होता है।

किन्तु जब इस प्रश्न पर पारिमाणिक दृष्टि से विचार किया जाता है तब इस सरल व्याख्या से काम नहीं चलता। प्रथम प्रश्न तो यह उत्पन्न होता है कि यदि ऐसा हो तो प्रकाश के तरंग-दैर्घ्य से इसका क्या संबन्ध है। किसी भी दैर्घ्य वाली प्रकाश-तरंग परमाणु को आवश्यक ऊर्जा दे सकती है। तब फिर तरंग-दैर्घ्य विभिन्न पदार्थों के लिये विभिन्न सीमाओं से छोटा होने की क्या आवश्यकता है?

इस प्रश्न का उत्तर प्रकाश के किसी भी प्राचीन सिद्धान्त के द्वारा मिलना असंभव प्रतीत हुआ है। किन्तु प्लांक (Planck) ने प्रकाश की उत्पत्ति के लिये जिस

क्वान्टम-सिद्धान्त (Quantum Theory) का प्रतिपादन किया था उसके द्वारा यह बात सरलता से समझ मे आ सकती है। इस सिद्धान्त के अनुसार आकाश अथवा ईथर मे तो प्रकाश तरंग-रूप में चलता हुआ समझा जा सकता है किन्तु परमाणु मे से प्रकाश की उत्पत्ति या उसमें प्रकाश का अवशोषण प्राचीन तरंग-नियमों के अनुसार नही होता। परमाणु में से प्रकाश-ऊर्जा कुछ परिमित मात्राओं ही में उत्सर्जित अथवा अवशोषित हो सकती है। इन ऊर्जा-पुंजों का परिमाण प्रकाश की आवृत्ति ν पर निर्भर होता है अर्थात् $E = h\nu$। इन ऊर्जा-पुंजो को क्वान्टम (quantum) कहते हैं। h एक सार्वत्रिक नियतांक है जिसका मान $6{\cdot}55 \times 10^{27}$ अर्ग-सैकड है। इसे प्लाक का नियतांक (Planck's constant) कहते हैं। एक क्वान्टम से कम या अधिक ऊर्जा का उत्सर्जन या अवशोषण नही हो सकता।

प्लांक की इस कल्पना से भी हमारा काम नही चलता क्योंकि इस संबन्ध में एक और घटना भी ध्यान देने योग्य है। चाहे प्रकाश की तीव्रता कितनी ही कम क्यो न हो, धातु-पृष्ठ पर प्रकाश के पड़ते ही उसमें से इलैक्ट्रान निकलने लगते हैं। प्रकाश के पड़ने और इलक्ट्रानों के निकलने के बीच मे 3×10^{-9} सैकंड से भी कम समय लगता है। सोडियम धातु पर यदि साधारण मोमबत्ती का प्रकाश तीन मीटर की दूरी से पड़े तब भी प्रकाशज इलैक्ट्रान तुरन्त निकलने लगते हैं। इस प्रकाश से प्रायः $\frac{1}{8}$ अर्ग प्रति वर्ग सम० ऊर्जा ही प्रति सैकंड धातु के परमाणु पर पड़ कर प्रकाश-वैद्युत प्रभाव उत्पन्न कर सकती है। परमाणु की अनुप्रस्थ काट (cross section) का क्षेत्रफल 10^{-15} वर्ग सम० के लगभग होता है। अतः परमाणु को प्रायः 15000 सैकंड या चार घंटे से भी अधिक समय से पहले इतनी ऊर्जा उस प्रकाश से नही मिल सकती। किन्तु इतनी अधिक ऊर्जा वाले इलैक्ट्रान उसमें से प्रकाश के पड़ते ही तुरन्त निकलने लगते है। अतः आइन्सटाइन (Einstein) ने प्लांक के सिद्धान्त में यह संशोधन किया कि तरंग-नियम के अनुसार प्रकाश-ऊर्जा चारों ओर एक-समान नहीं फैलती, किन्तु उसमें भी ऊर्जा के छोटे-छोटे पुंज द्रव्य-कणों के समान दौड़ते हैं। न्यूटन ने प्रकाश का जो कणिका-सिद्धान्त प्रतिपादित किया था ठीक उसी के समान आइन्स्टाइन का यह सिद्धान्त है। यदि अन्तर है तो इतना कि अब हमें उन कणिकाओं को जड़-द्रव्य की कणिकाएँ न समझ कर केवल ऊर्जा की कणिकाएँ अर्थात् क्वान्टम ही मानना होगा। यह अन्तर भी वास्तव में अन्तर नही है क्योंकि आपेक्षिकता-सिद्धान्त ऊर्जा तथा भारयुक्त द्रव्य में कुछ भी भेद नहीं मानता। यद्यपि यह कल्पना है क्रान्तिकारी किन्तु इसके द्वारा उपर्युक्त कठिनाई दूर हो जाती है। प्रकाश के पड़ते ही एक क्वान्टम की ऊर्जा परमाणु को क्षणमात्र में ही मिल सकने में अब कुछ भी आपत्ति नहीं है।

साथ ही इसके यह भी अब स्पष्ट हो जाता है कि प्रकाश की आवृत्ति के लिये भी एक निम्न-सीमा प्रकाश-वैद्युत प्रभाव में क्यों होती है। प्लांक की कल्पना के अनुसार क्वान्टम की ऊर्जा $h\nu$ के बराबर होती है। अतः जब तक $h\nu$ का परिमाण उपर्युक्त w के अर्थात् इलैक्ट्रान को धातु-पृष्ठ में से बाहर निकालने योग्य ऊर्जा के बराबर नही हो जाता तब तक उसमे से कोई इलैक्ट्रान नही निकल सकता। क्योंकि यदि $h\nu < w$ हो तो समीकरण (5) में $h\nu - w$ ऋण-चिह्नीय हो जायगा। जो क्वान्टम-सिद्धान्त प्रकाश-वैद्युत् प्रभाव की पूर्ण व्याख्या कर सकता है उसकी मुख्य परिकल्पनाये संक्षेप मे निम्नलिखित है :—

(1) प्रकाश की ऊर्जा क्वान्टम-रूप मे रहती है और इसी ही रूप में वह स्थानान्तरित भी होती है।

(2) प्रकाश के एक क्वान्टम की ऊर्जा $= h\nu$

(3) परमाणु पूरे एक क्वान्टम से कम विकिरण-ऊर्जा का शोषण भी नही कर सकता है और उत्सर्जन भी नही कर सकता। अर्थात् जड़-द्रव्य और विकिरण में जब भी ऊर्जा का विनिमय होता है तो उस ऊर्जा मे क्वान्टमों की संख्या पूर्णांकी ही होती है।

30·11—प्रकाश-वैद्युत प्रभाव के परिमाण पर तरंग-दैर्घ्य का प्रभाव (Effect of Wave-length on Photo-electric Effect)। प्राय: सभी धातुओं के लिये ज्यों-ज्यों प्रकाश का तरंग-दैर्घ्य घटाया जाता है त्यों-त्यों प्रकाश-वैद्युत धारा की मात्रा बढ़ती जाती है। केवल आल्कली (alkali) धातुओं में कुछ विशेषता है। इन धातुओं के लिये एक-एक तरंग-दैर्घ्य ऐसा होता है जिस पर यह प्रभाव अधिकतम होता है। यह निम्न प्रकार है :।

लीथियम—	$3{\cdot}9 \times 10^{-5}$	सम०
सोडियम—	$4{\cdot}1 \times 10^{-5}$	,,
पोटासियम—	$4{\cdot}4 \times 10^{-5}$	,,
रूबीडियम—	$4{\cdot}9 \times 10^{-5}$	,,
सीज़ियम—	$5{\cdot}4 \times 10^{-5}$	,,

अर्थात् इन धातुओं से दृश्य प्रकाश के द्वारा भी प्रकाश-वैद्युत धारा उत्पन्न हो सकती है।

30·12—प्रकाश-वैद्युत सैल (Photo-electric Cell)। जिस उपकरण के द्वारा प्रकाश-ऊर्जा को विद्युत्-धारा का रूप दिया जा सके उसे प्रकाश-वैद्युत सैल कहते है। इसमें कांच का या क्वार्ट्ज़ का एक बल्ब होता है जिसमें दो

विद्युत्-अग्र लगे रहते हैं । कैथोड के पृष्ठ का क्षेत्रफल बड़ा होता है और उस पर दृश्य प्रकाश के लिये पोटाशियम या सीज़ियम धातु जमी रहती है और परा-बैंगनी प्रकाश के लिये कैडमियम । धन-अग्र तार के छोटे से वृत्त के रूप में होता है । विद्युत्-अग्रों पर बैटरी या अन्य उपाय से 100-200 वोल्ट का विभवत्व लगा दिया जाता है । जब प्रकाश कैथोड पर पड़ता है तब इस सैल में से विद्युत-धारा प्रवाहित होने लगती है जो सुग्राही धारामापी के द्वारा नापी जा सकती है ।

ये सैलें दो प्रकार की होती हैं । (1) निर्वात (2) गैस-पूरित । निर्वात सैलों में धारा सदा संतृप्ति-धारा होती है और उसका परिमाण प्रकाश की तीव्रता का समानुपाती होता है । अत. ज्योति-मापन (photometry) के लिये ये बहुत उपयोगी होती हैं । इसके अतिरिक्त इनमें प्रकाश के प्रवेश करने और इलैक्ट्रान-उत्सर्जन के बीच में काल-व्यवधान (time interval) बिलकुल नहीं होता। इसलिये ये दूरवीक्षण (television) में भी काम आती हैं । गैस-पूरित सैल में आर्गन जैसी अक्रिय (inert) गैस भरी रहती है । इससे विद्युत्-धारा निर्वात सैल की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ जाती है क्योंकि प्रकाशज इलैक्ट्रान गैस के अणुओं से टकराकर उन्हें आयनित कर देते हैं और तब ये आयन भी धारा-प्रवाह में भाग लेते हैं । इनका उपयोग निम्न बातों में विशेष कर किया जाता है :—

(1) **चोर घंटी** (Burglar alarm) । बैंक आदि में दरवाजे के एक पार्श्व में यह सैल लगा दी जाती है और दूसरे पार्श्व से उस पर अदृश्य परा-बैंगनी प्रकाश पड़ता रहता है । इससे उत्पन्न विद्युत्-धारा किसी बिजली की घंटी के परिपथ को खुला रखती है किन्तु रात्रि में जब कोई मनुष्य दरवाजे के पास आता है तो उसके शरीर से प्रकाश रुक जाता है और घंटी बजने लगती है ।

(2) **अग्निकांड-सूचन** (Fire alarm) । इसमें अग्नि की ज्वाला के प्रकाश से घंटी बजने लगती है ।

(3) **सड़क के लैम्पों को संध्या समय स्वयमेव जलाने के लिए** । सूर्यास्त के पश्चात् अंधेरा होते ही इन सैलों की विद्युत्-धारा रुक जाती है और लैम्प-परिपथ के स्विच स्वयमेव बंद हो जाते हैं ।

(4) **सिनेमा में** । माइक्रोफ़ोन के द्वारा पहिले बातचीत या संगीत ध्वनि को विद्युत्-धारा में परिणत किया जाता है और इस धारा के द्वारा लैम्प के प्रकाश की तीव्रता ध्वनि की तीव्रता के अनुरूप ही घट-बढ़ कर चित्र की फ़िल्म के किनारे पर अंकित रहती है । इसे हम ध्वनि-चित्र कह सकते हैं । सिनेमा-घर में जब फ़िल्म के चित्र परदे पर प्रक्षिप्त किये जाते हैं तब एक नियत तीव्रता वाला प्रकाश इस ध्वनि-

चित्र में से निकल कर प्रकाश-वैद्युत सैल पर पड़ता है और उसमें **ध्वनि की** तीव्रता के अनुरूप ही कम या अधिक प्रबल धारा उत्पन्न हो जाती है। यही प्रवर्धित (amplify) होकर लाउडस्पीकर में से हमे सुनाई देती है।

30·13—**अन्य प्रकार की प्रकाश-वैद्युत सैलें**—(1) **प्रकाश–वोल्टीय सैल** (Photo-voltaic Cell)। इसमें ताम्र-पट्टिका पर ताम्र-आक्साइड (Cu_2O) की परत जमी रहती है। और इस पर धातु की अत्यन्त पतली पारदर्शक फिल्म लगी रहती है। जब फ़िल्म में होकर प्रकाश Cu_2O पर पड़ता है तब इलैक्ट्रान इस आक्साइड मे से निकल कर ताम्र-पट्टिका की ओर प्रवाहित होते हैं और वहां ऋण-विभव उत्पन्न कर देते है। फलतः साधारण सैल के समान ही इसमें ताम्र-पट्टिका ऋण-अग्र तथा पारदर्शक धातु धन-अग्र बन जाते है और दोनों का विभवान्तर प्रकाश की तीव्रता का समानुपाती होता है। इन अग्रों को धारा-मापी से संबधित करने पर बिना किसी अन्य बाहरी वि० वा० बल के ही धारा प्रवाहित होने लगती है जिसकी प्रबलता भी प्रकाश की तीव्रता की समानुपाती होती है।

इस प्रकार की सैले प्रदीप्ति-मापन मे तथा विशेषकर फोटोग्राफ़ी में उद्भासन-मापी (exposure meter) बनाने के लिये बहुत काम आती है।

(2) **सिलीनियम सैल** (Selenium Cell)—यह प्रकाश-चालकीय सैल (Photo-conductive Cell) है। इसमें सिलीनियम पर प्रकाश पड़ने से उसके प्रतिरोध में जो कमी हो जाती है उसका उपयोग किया जाता है। तीव्र प्रकाश में प्रतिरोध घटकर दशमांश मात्र रह जाता है। इसमें यह बड़ा ऐब होता है कि प्रकाश पड़ने के बाद पूरा प्रतिरोध घटने मे काफ़ी समय लगता है।

परिच्छेद 31

ऐक्स-किरणें

(X—Rays)

31·01.—**ऐक्स-किरणों का आविष्कार** (Discovery of X-rays)। 1895 में प्रोफ़ेसर रंटगेन (Rontgen) ने देखा कि विसर्ग-नलिका के निकट काले कागज में लपेट कर रख हुए फ़ोटो के प्लेट ख़राब हो जाते हैं। यद्यपि किसी भी तरह यह संभव नहीं था कि उन पर तनिक-सा भी प्रकाश पड़ सके किन्तु फिर भी उनका विकाशन (develope) करने में स्पष्ट मालूम होता था कि उन पर प्रकाश अवश्य पड़ा है। इससे रंटगेन ने यह अनुमान किया कि जब विसर्ग-नलिका में गैस-दाब कम होता है और कैथोड-किरणें उत्पन्न होती हैं तब उसके काच में से एक अद्भुत प्रकार की किरणें निकलती हैं जो कई अपारदर्शक पदार्थों में होकर भी आसानी से पार निकल सकती हैं। उन्होंने यह भी देखा कि बेरियम-प्लैटिनो-साइनाइड (barium platino-cynide) जैसे प्रतिदीप्तिशील पदार्थ युक्त पर्दे पर पड़ने से ये किरणें उसमें प्रतिदीप्ति भी उत्पन्न कर देती हैं। इनके विषय में यथार्थ ज्ञान न होने के कारण प्रो० रंटगेन ने इनका नाम अनिश्चितता सूचक ऐक्स-किरण (X-rays) रख दिया और इसी नाम से अब ये प्रसिद्ध हो गई हैं। आविष्कर्ता की स्मृति में इन्हे रंटगेन-किरणें (Rontgen rays) भी कहते हैं।

31·02.—**ऐक्स-किरण नलिका** (X-ray Tube)। आजकल इन किरणों को उत्पन्न करने के लिये जिन विसर्ग-नलिकाओं का उपयोग होता है वे दो प्रकार की होती हैं। एक वे जिन में गैस-दाब बहुत कम नही होता और दूसरी वे जिनमें गैस-दाब इतना कम होता है कि अत्यधिक विभवत्व के द्वारा भी उनमें विसर्ग नहीं हो सकता। पहली गैस-नलिका कहलाती है और दूसरी इलैक्ट्रान-नलिका क्योंकि इनमें कैथोड को उत्तप्त करके उससे उत्पन्न तापज-इलैक्ट्रानों के द्वारा विसर्ग होता है। इस दूसरे प्रकार की नलिका के निर्माता अमरीका निवासी कूलिज (Coolidge) हैं। अतः वह कूलिज नलिका (Coolidge tube) भी कहलाती है।

(i) चित्र 31·01 में एक आधुनिक गैस-नलिका दिखलाई गई है। ऋण-अग्र बांई ओर है। यह ऐल्यूमिनियम का अवतल (concavc) प्याला है। इसका

कैथोड-कणिका-फ़ोकस नलिका-बल्ब के केन्द्र में है। नलिका के दाहिने सिरे से एक धातु की नली लगी है जो बल्ब के केन्द्र तक पहुँचती है और वहीं पर प्लैटिनम, टंगस्टन आदि उच्च गलनांक वाली किसी धातु की एक पट्टिका कैथोड-किरणों से 45° का कोण बनाती हुई लगा दी गई है। यह प्रति-कैथोड (anti-cathode) है।
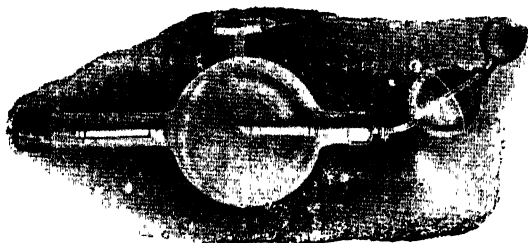
चित्र 31·01

नली में ठंडा पानी भरा है ताकि कैथोड-किरणें फोकस पर उत्पन्न ऊष्मा के कारण गरम होकर प्रति-कैथोड को पिघला न दें। धन-अग्र एक पार्श्व-नली के भीतर घुसा कर लगाया गया है। इसे प्रति-कैथोड से तार द्वारा जोड़ देते हैं। जिस स्थान पर कैथोड-किरणें प्रति-कैथोड से टकराती हैं वहीं एक्स-किरणें उत्पन्न होती हैं।
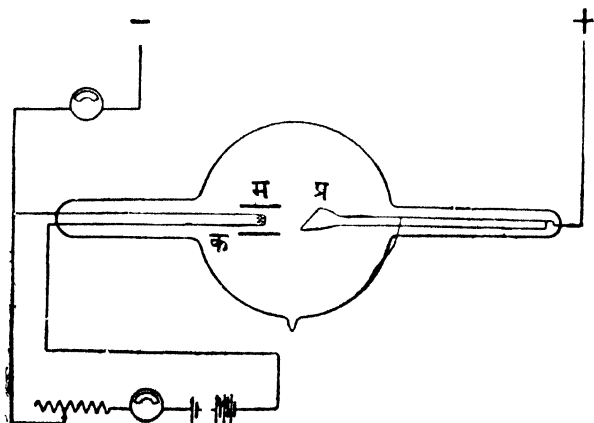
चित्र 31·02

(ii) कूलिज-नलिका चित्र 31·02 में प्रदर्शित है। इसमें गैस प्रायः होती ही नहीं। इसी से आयनों की इतनी कमी रहती है कि अत्यन्त उच्च विभव के द्वारा भी

इसमें विसर्ग नहीं होता। **क** टंगस्टन के तार की सर्पिल है जो बैटरी के द्वारा नियत परिमाण की धारा प्रवाहित करने से प्रज्वलित होकर तापज इलैक्ट्रान उत्पन्न करती है। यही नलिका का कैथोड है। इसके चारों ओर मोलिब्डनम (molybdenum) धातु की एक नली **म** लगी रहती है जिसके कारण सब तापज इलैक्ट्रान **प्र** पर फ़ोकस हो जाते हैं। **प्र** टंगस्टन अथवा अन्य किसी धातु का प्रति-कैथोड है। यही धन-अग्र भी है। साधारणतया यह धातु की मोटी छड़ पर लगा रहता है और यही छड़ इसका टेम्परेचर अधिक नहीं बढ़ने देती। किन्तु जब ऐक्स-किरणें अधिक प्रबल उत्पन्न की जाती है तब यह प्रति-कैथोड भी नलिका के रूप में बनाया जाता है और इसमें से पानी बहा कर उसे ठंडा रखने का प्रबंध भी करना पड़ता है।

कूलिज-नलिका में जो तापज-इलैक्ट्रान उत्पन्न होते हैं उनका प्रारम्भिक वेग तो बहुत कम होता है किन्तु **क** और प्र के विभवान्तर के कारण इनका वेग बढ़ जाता है और इस विभवान्तर को कम या ज्यादा करने से इनका वेग भी घटाया या बढ़ाया जा सकता है। किन्तु ऐसा करने से इन इलैक्ट्रानों के द्वारा प्रवाहित विद्युत्-धारा के परिमाण में परिवर्तन नहीं होता क्योंकि **क** और प्र का विभवान्तर संतृप्ति-विभवान्तर से बहुत अधिक रहता है और विसर्ग-धारा संतृप्त-धारा ही होती है। इस प्रकार इस कूलिज-नलिका में विसर्ग-धारा को घटाने-बढ़ाने का काम कैथोड-सर्पिल में प्रवाहित बैटरी की धारा करती है और इलैक्ट्रान-वेग में परिवर्तन करने का काम **क** तथा प्र का विभवान्तर। ये दोनों परस्पर स्वतंत्र हैं। एक में परिवर्तन करने से दूसरे पर कुछ भी असर नहीं होता। गैस-नलिका में ऐसा नही होता। वहां विसर्ग-धारा और विभवान्तर अन्योन्याश्रित हैं। एक को बढ़ाने से दूसरा भी बढ़ जाता है। इस दृष्टि से कूलिज-नलिका में समंजन की बड़ी सुविधा है। इस समंजन की आवश्यकता आगे चलकर प्रगट होगी।

31·03—**विमुख-धारा** (Inverse Current)। दोनों में से किसी भी प्रकार की ऐक्स-किरण-नालिका में विसर्ग-धारा प्रवाहित करने के लिये प्राय: 30000 से 100000 वोल्ट तक के विभवान्तर की आवश्यकता होती है। यह विभवान्तर स्फुलिंग-विच्छेद-वोल्टमापी के द्वारा नापा जाता है। अभी कुछ वर्ष पहले तक तो प्रेरण-कुंडली (induction coil) ही के द्वारा इतना उच्च विभव उत्पन्न किया जाता था किन्तु आजकल उच्चायी परिणामित्र (step-up transformer) इस कार्य के लिये अधिक उपयोगी समझा जाता है। दोनों ही यंत्रों से विभवान्तर निरन्तर एक ही दिशा में नहीं लगता किन्तु विमुख-विभवत्व (inverse voltage) जो **क** को धन-अग्र और **प्र** को ऋण-अग्र बना देता है

दोनों ही में उपस्थित रहता है। अतः यह आवश्यक है कि किसी न किसी उपाय से इस विमुखधारा को रोका जाय।

कूलिज-नलिका तो स्वयं ही इस कार्य को कर लेती है क्यों कि उत्तप्त सर्पिल **क** ही में इलैक्ट्रान उत्पन्न होते हैं और ये प्र की ओर तब जा सकते हैं जब **प्र** का विभव धन हो। जिस समय विमुख-विभवत्व **क** का विभव धन कर देता है तब इलैक्ट्रान उस में से निकल ही नहीं सकते।

किन्तु गैस-नलिका में विमुख-धारा को रोकने का कुछ भी प्रबंध नहीं है। इसलिए उसके साथ कुछ दूसरी विसर्ग-नलिकाओं का उपयोग किया जाता है जिन्हें कीनोट्रोन (kenotrone) कहते हैं। इनमें भी कैथोड उत्तप्त टंगस्टन तार के होते हैं जिससे धारा केवल एक ही दिशा में चल सकती है। आजकल गैस-नलिका साधारणतः काम में नहीं आतीं।

31·04.—**ऐक्स-किरणों के गुण** (Properties of X-rays)। (i) कैथोड-किरणों की तरह इनका वैद्युत या चुम्बकीय क्षेत्र से विचलन नहीं होता। अतः ये प्रकाश के समान ही तरंगें हैं। आविष्ट-कणों का इनमें प्रवाह नहीं होता। ये प्रकाश ही के वेग से अर्थात् 3×10^{10} सम० प्रति सैकंड के वेग से गमन करती हैं।

(2) ये अपारदर्शक द्रव्यों में से भी पार निकल जाती हैं। यह पारदर्शकता द्रव्य के घनत्व पर निर्भर होती है। लकड़ी, शरीर का मांस और चमड़ा, ऐल्यूमीनियम आदि हल्के द्रव्य इन किरणों के लिये अच्छे पारदर्शक होते हैं। किन्तु सीसे (lead) के समान भारी द्रव्य प्रायः अपारदर्शक होते हैं।

(3) यह वेधन-शक्ति (penetrating power) ऐक्स-किरण-नलिका के विद्युत्-अग्रों के विभवान्तर पर निभर होती है। अधिक विभवान्तर वाली किरणें अधिक वेधक होती हैं और उग्र अथवा अतिवेधी किरणें (hard X-rays) कहलाती हैं। कम विभवान्तर वाली किरणों में वेधन-शक्ति कम होती है और वे मृदु अथवा अल्पवेधी किरणें (soft X-rays) कहलाती हैं।

(4) फोटो के प्लेट पर इनका असर साधारण प्रकाश से भी अधिक होता है।

(5) ज़िंक-सल्फ़ाइड, कैलशियम टंगस्टेट, बेरियम प्लैटिनोसाइनाइड जैसे पदार्थों पर पड़ कर ये प्रतिदीप्ति पैदा कर देती हैं अर्थात् उनमें से दृष्य प्रकाश उत्पन्न हो जाता है।

(6) गैस के अणुओं पर पड़ कर ये उन्हें आयनित कर देती हैं।

(7) धातु पर पड़ने से प्रकाश की तरह ही ये इलैक्ट्रान उत्सर्जित कर देती हैं। अर्थात् इनमें भी प्रकाश-वैद्युत प्रभाव उत्पन्न करने की शक्ति होती है।

(8) शरीर के चमड़े, मांस-पेशी आदि को ये ध्वंस कर देती हैं। अतः इनके व्यवहार में बड़ी सतर्कता की आवश्यकता होती है। अधिक देर तक इन्हें शरीर के अंगों पर नहीं पड़ने देना चाहिये। हाँ, कैन्सर जैसी बीमारी में इनकी इस शक्ति के द्वारा रोग-ग्रस्त स्थान को जलाने से लाभ होता है।

31·05.—**स्पन्द-सिद्धान्त** (Pulse Theory)। यह बताया जा चुका है कि ऐक्स-किरणें ठीक उस स्थान पर उत्पन्न होती हैं जहाँ कैथोड-किरणें प्रति-कैथोड से टकराती हैं और इसलिये ऐक्स-किरण-नलिकाओं में इन कैथोड-किरणों को फ़ोकस करने का प्रबन्ध किया जाता है। इस बात को देखकर स्टोक्स (Stokes) ने यह मन्तव्य प्रकाशित किया कि ये किरणें प्रकाश ही के समान ईथर-तरंगें होती हैं जो वेग से दौड़ने वाले इलैक्ट्रान को सहसा रोक देने के कारण उत्पन्न होती हैं। चिर प्रतिष्ठित (classical) विद्युत्-सिद्धान्त के अनुसार इलैक्ट्रान के वेग में वृद्धि या कमी होने ही से ईथर में विद्युत्-चुम्बकीय तरंगे उत्पन्न होती है। किन्तु जिस प्रकार ऐक्स-किरण-नलिका में इलैक्ट्रान सहसा रुकते हैं उससे यह मालूम होता है कि इनमें अनेक श्रृंग (crest) और गर्त (trough) युक्त तरंगावलि नहीं हो सकती। इनमे केवल एक ही स्पन्द (pulse) होना चाहिए। बहुत काल तक लोगों का विश्वास इस स्पन्द-सिद्धान्त (pulse theory) ही में था और इस विश्वास को इस बात से भी बहुत सहायता मिली थी कि यद्यपि ऐक्स-किरणों के सरल-रेखागमन तथा उनके द्वारा छाया-निर्माण में कोई सन्देह नहीं था तथापि उनका परावर्तन, वर्तन, विवर्तन (diffraction) तथा व्यतिकरण (interference) अनेक प्रयत्न करने पर भी अनुभव में न आया।

31·06.—**तरंग-सिद्धान्त** (Wave-Theory)। अब विचार बदल गया है और इसमें अब किसी को सन्देह नहीं है कि साधारण प्रकाश ही के समान ऐक्स-किरणें भी तरंगमय हैं। इस विषय का निर्णय व्यतिकरण तथा विवर्तन के आविष्कार से हुआ है। और उसी की सहायता से इनका तरंगदैर्ध्य भी नापा गया है। इसके अतिरिक्त अब वर्तन, परावर्तन आदि घटनाओं का अस्तित्व भी प्रमाणित हो चुका है।

तरंग-दैर्ध्य के नाप के द्वारा अनेक बातों का पता चला है जिनमें इन किरणों की उत्पत्ति से संबंध रखने वाली कुछ बातों का ज़िक्र कर देना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है।

31·07—श्वेत तथा लाक्षणिक ऐक्स-किरणें (White and Characteristic X-rays)। सबसे अधिक महत्व की बात तो यह मालूम हुई है कि प्रति-कैथोड से वेगवान इलैक्ट्रानों की टक्कर से जो ऐक्स-किरणें उत्पन्न होती हैं वे दो प्रकार की होती हैं। एक तो वे जिन्हें हम साधारण किरणें कह सकते हैं। इनमें सभी दैर्ध्यों की तरंगें होती हैं और प्रकाश-विज्ञान की भाषा में हम कह सकते हैं कि इनका स्पैक्ट्रम अखंड (continuous) होता है। प्रति-कैथोड चाहे जिस धातु का बना हो यह अखंड स्पैक्ट्रम सदा उपस्थित रहता है। ऐसी ऐक्स-किरणों को श्वेत-ऐक्स-किरणें (white X-rays) भी कहते हैं क्योंकि श्वेत प्रकाश भी अखंड स्पैक्ट्रम उत्पन्न करता है। इन किरणों की तीव्रता विभवान्तर के वर्ग के अनुपात से बढ़ती है। यह तीव्रता विसर्ग-धारा की भी समानुपाती होती है।

इन श्वेत किरणों के अतिरिक्त कुछ ऐक्स-किरणें ऐसी भी उत्पन्न होती हैं जिन्हें हम प्रति-कैथोड-धातु की लाक्षणिक-किरणें (characteristic X-rays) कह सकते हैं। प्रत्येक धातु के लिये इन लाक्षणिक किरणों के कुछ निश्चित तरंग-दैर्ध्य होते हैं। इनका स्पैक्ट्रम रेखामय होता है और इन रेखाओं से ऐक्स-किरणों के उत्पादक परमाणु की पहिचान भी हो सकती है। इस बात में साधारण प्रकाश के रेखामय स्पैक्ट्रम की रेखाओं से इनकी तुलना हो सकती है और तब यह भी प्रगट हो जाता है कि इनकी उत्पत्ति की व्याख्या भी चिरप्रतिष्ठित विद्युत्चुम्बकीय सिद्धांतों के द्वारा नहीं हो सकती किन्तु इसके लिये क्वान्टम-सिद्धांत की आवश्यकता होती है यह व्याख्या अनु० 34·07 में बताई जायगी।

31·08—परावर्तन, वर्तन तथा विवर्तन (Reflection, Refraction and Diffraction)। यद्यपि प्रारंभ में ऐक्स-किरणों का परावर्तन, वर्तन आदि का किसी प्रकार भी पता न चला तथापि अब इन सब घटनाओं का अस्तित्व प्रमाणित हो चुका है। काम्पटन (Compton) ने दिखला दिया है कि पालिश किये हुए धातु-पृष्ठ से अथवा काच-पृष्ठ से भी ऐक्स-किरणों का पूर्ण-परावर्तन (total reflection) होता है यदि आपतन-कोण (angle of incidence) i करीब-करीब $90°$ का हो। अर्थात् किरणें काँच-पृष्ठ से लगभग समान्तर ही आपतित हों। परावर्तन-पृष्ठ से किरणें जो कोण बनाती हैं उसे संस्पर्श-कोण (glancing angle) θ कहते हैं। स्पष्ट है कि $\theta=90-i$ होगा।

ऐक्स-किरण-परावर्तन के लिये आवश्यक संस्पर्श-कोण का परिमाण बहुत ही छोटा, $1°$ से भी कम, प्रायः $5'-10'$ ही के बराबर होता है। इस कोण की अल्पता ही से प्रगट हो जाता है कि इतने दिन तक इस प्रभाव का पता चलने में इतनी कठिनाई क्यों हुई।

इस पूर्ण-परावर्तन से यह भी प्रगट है कि काँच का ऐक्स-किरण वर्तनांक μ वायु के वर्तनांक 1 से कम होता है। वस्तुतः काँच के लिये $\mu = 1 - 4{\cdot}8 \times 10^{-6}$ होता है और ज्यों-ज्यों तरंग-दैर्घ्य बढ़ता जाता है त्यों-त्यों इसका मान घटता जाता है। समकोण से अधिक कोण वाले प्रिज़्मों पर बहुत कम संस्पर्श-कोण पर ऐक्स-किरणें डालकर किरणों का विचलन भी देख लिया गया है।

विवर्तन का पता चलाना तो और भी कठिन था क्योंकि हम आगे चलकर देखेंगे कि इन किरणों का तरंगदैर्घ्य साधारण प्रकाश से प्रायः 1000 गुणा छोटा होता है। विवर्तन के नियमों से हमें ज्ञात है कि छिद्रों अथवा व्यवधानों से जितने विवर्तन-चित्र बनते हैं उनका विस्तार तरंगदैर्घ्य पर अवलम्बित होता है। जितना ही छोटा यह दैर्घ्य होता है उतना ही छोटा चित्र भी बनता है। तब भी 1901 में हागा (Haga) और विन्ट (Windt) ने अत्यन्त ही संकीर्ण स्लिट (slit) में से ऐक्स-किरणें चलाकर उसके पीछे रखे हुए फ़ोटो के प्लेट पर किरणों की तीव्रता का वितरण विषम पाया था। अब तो तांबे की साधारण अवतल परावर्तन-ग्रेटिंग (concave reflection grating) ही के द्वारा इन किरणों का तरंग-दैर्घ्य भी प्रायः 0·1% की यथार्थता से मालूम हो सकता है। किन्तु विवर्तन का वास्तविक आविष्कार लावे (Laue) ने 1912 में किया था।

31·09.—**लावे का आविष्कार** (Laue's Discovery)। साधारण प्रकाश का ग्रेटिंग के द्वारा स्पैक्ट्रम बनाने के लिये ग्रेटिंग पर प्रत्येक इंच में प्रायः 15000 समान्तर रेखाएँ खींचना पड़ता है। अतः यदि ऐक्स-किरणें साधारण प्रकाश से 1000 गुणी छोटी हों तो प्रत्यक्ष ही है कि उतना ही विचलन उत्पन्न करने के लिये साधारण ग्रेटिंग की दो रेखाओं के बीच में प्रायः 1000 रेखाएँ और खींचना पड़ेगा। अर्थात् प्रायः 15,000,000 रेखाएँ प्रति इंच की आवश्यकता होगी। यह कार्य प्रायः असम्भव है। किन्तु लावे ने सोचा कि क्रिस्टल इस कार्य के लिये उपयुक्त हो सकते हैं। क्रिस्टल में प्राकृतिक रूप से ही परमाणु बराबर-बराबर दूरी पर जमे रहते हैं और उनकी पारस्परिक दूरी भी प्रायः उक्त कल्पित ग्रेटिंग की रेखाओं की दूरी के बराबर ही होती है। अतः इन परमाणुओं ही से विवर्तन-ग्रेटिंग की रेखाओं का काम क्यों न लिया जाय।

यह सच है कि साधारण ग्रेटिंग और इस प्राकृतिक परमाणु-ग्रेटिंग में यह अन्तर अवश्य होगा कि साधारण-ग्रेटिंग की विवर्तन-रेखाएँ सब एक ही तल में स्थित होती हैं किन्तु क्रिस्टल-ग्रेटिंग में एक के पीछे एक अनेक परमाणु-तल होते हैं जिनमें पर-

माणु बराबर दूरी पर जमे होते हैं। अतः यह ग्रेटिंग घन-ग्रेटिंग (space grating) अथवा त्रि-विमितीय ग्रेटिग (three dimensional grating) होगी।

यह गणित से प्रमाणित हो गया है कि साधारण प्रकाश की ग्रेटिंग की तरह सब ही दैर्ध्यों की तरंगें क्रिस्टल-ग्रेटिंग से विवर्तित नहीं हो सकती। अखंड स्पैक्ट्रम में से क्रिस्टल-ग्रेटिंग कुछ विशेष तरंग-दैर्ध्यो को ही छांट लेती है और केवल उन्हे ही विशेष दिशाओं में विचलित कर देती है जिससे क्रिस्टल के पीछे रक्खे हुए फ़ोटो के प्लेट पर कई विन्दु बन जाते हैं। शेष तरंग-दैर्ध्य उसमें से पार नही निकल सकते।

लावे के शिष्य फ्रीडरिख (Friedrich) तथा निपिंग (Knipping) ने 1913 में इस गणित के परिणाम की प्रयोगात्मक परीक्षा की और उन्हें इस कार्य
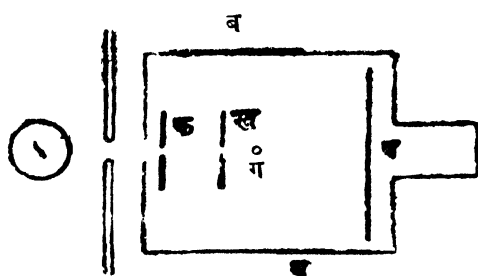
चित्र 31·03

में पूर्ण सफलता भी प्राप्त हुई। चित्र 31·03 में उनका उपकरण दिखलाया गया है। **ब** सीसे की मोटी चद्दर से आवृत एक बक्स है। इसमें केवल छिद्र **क** में से ऐक्स-किरणें प्रवेश कर सकती है। सीसे की दूसरी पट्टिका में **ख** एक और छिद्र है और **क** से कुछ दूर हट कर यह रखा गया है ताकि **क** और **ख** में से एक बहुत पतली किरणावली बक्स में प्रवेश करे। **ख** के निकट ही **ग** पर क्रिस्टल का प्रायः $\frac{1}{4}$ मम० मोटा टुकड़ा इस प्रकार रखा गया है कि किरणावली उस में से होकर ही पीछे रखे हुए फ़ोटो के प्लेट **प** पर पड़ सके। 1-2 घंटे तक ऐक्स-किरणों को इस बक्स में प्रवेश कराने के बाद प्लेट निकाल कर उसको परिस्फुटित (develope) किया गया। वास्तव में उस पर पृथक्-पृथक् विन्दुओं का एक सुन्दर चित्र बन गया (चित्र 31·04)।

प्रत्येक विन्दु की अविचलित विन्दु से दूरी नाप कर क्रिस्टल के परमाणुओं द्वारा विवर्तित किरणों की दिशा का पता चल जाता है और विन्दुओं की सममिति

(symmetry), उनकी वृत्तों तथा दीर्घ-वृत्तों पर स्थिति, उनकी तीव्रता आदि बातों से क्रिस्टल की संरचना के संबंध में बहुत सी बातें मालूम हो सकती हैं। किन्तु यह काम है बड़ा जटिल और इसके परिणाम भी सर्वथा असंदिग्ध नहीं होते। तथापि पिछले
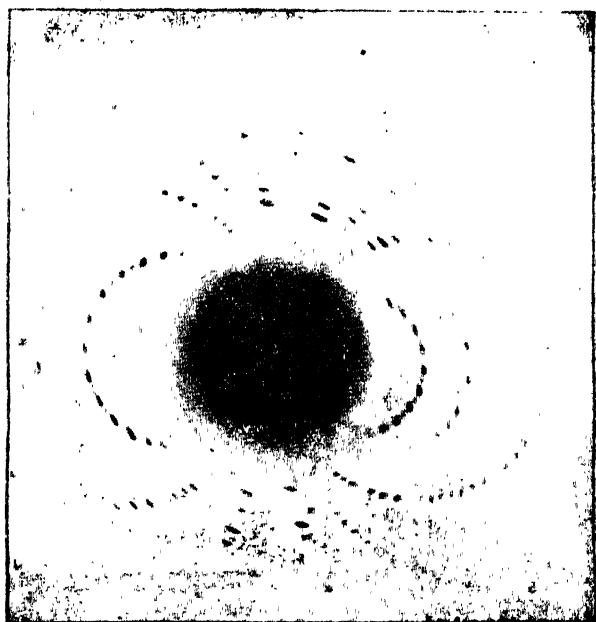
चित्र 31·04

कई वर्षों में इन लावे-चित्रों का मर्म समझने के कार्य में इतनी उन्नति हो गई है कि आजकल अन्य विधियों के साथ-साथ क्रिस्टल संरचना के ज्ञान के लिये ये चित्र बहुत आवश्यक समझे जाते हैं।

31·10.—**क्रिस्टल-तलों के द्वारा ऐक्स-किरणों का परावर्तन** (Reflection of X-rays by Crystal Planes)। आधुनिक क्रिस्टल विज्ञान के ज्ञाताओं का मत है कि प्रत्येक क्रिस्टल में परमाणु किसी विशेष सममिति के साथ बराबर दूरी पर जमे रहते हैं। इससे यह भी प्रगट है कि प्रत्येक क्रिस्टल में ऐसे बहुत से समतल होते हैं जिनमें परमाणुओं की संख्या बहुत अधिक होती है और ऐसे भी समतल होते हैं जिनमें यह संख्या बहुत थोड़ी होती है। प्रथम प्रकार के समतल ही बहुधा क्रिस्टल के पृष्ठतल (surface-plane) अथवा विदलन-तल (cleavage

plane) होते हैं। ऐसे तल से समान्तर अनेक ऐसे ही तल, एक के पीछे एक, प्रत्येक क्रिस्टल में विद्यमान होते हैं।

लावे के आविष्कार के कुछ ही दिन बाद ब्रैग (Bragg) ने इन क्रिस्टल-तलों के एक गुण का आविष्कार किया जिसके कारण ऐक्स-किरणों का तरंग-दैर्घ्य नापना बहुत ही सरल हो गया है। इन्होंने प्रमाणित किया कि प्रत्येक क्रिस्टल-तल ऐक्स-किरण का प्रकाश के साधारण नियम के अनुसार परावर्तन कर सकता है। अर्थात् आपतन-कोण =परावर्तन-कोण। विशेषता यह है कि जहाँ साधारण प्रकाश में तरंग-दैर्घ्य और आपतन-कोण का कोई सम्बंध नहीं है अर्थात् प्रत्येक दैर्घ्य वाली तरंग प्रत्येक परिमाण के आपतन-कोण पर परावर्तित हो जाती है वहाँ ऐक्स-किरणों के
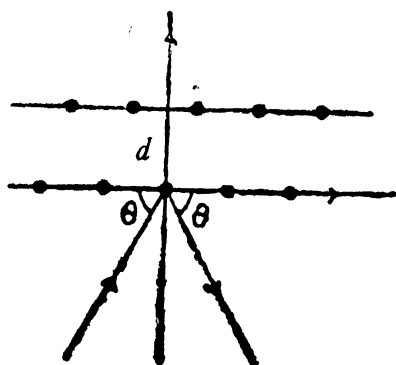
चित्र 31·05

लिये यह नियम है कि प्रत्येक आपतन-कोण पर एक विशेष तरंग-दैर्घ्य ही परावर्तित हो सकता है। अन्य दैर्घ्य वाली तरंगें उस आपतन-कोण पर परावर्तित हो ही नहीं सकतीं। यदि क्रिस्टल-पृष्ठ से समान्तर अन्य तलों की पारस्परिक दूरी d हो तो गणित द्वारा यह प्रमाणित करना सरल है कि परावर्तन के लिये आवश्यक शर्त यह होगी

$$2d\sin\theta = n\lambda \quad . \quad . \quad . \quad (1)$$

इसमें n कोई पूर्णांक है, θ संस्पर्श-कोण (glancing angle) है तथा λ तरंग-दैर्घ्य है।

इस समीकरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि एक ही तरंग-दैर्घ्य λ की किरणें भी n के भिन्न-भिन्न मान (1, 2, 3 आदि) के अनुसार भिन्न-भिन्न संस्पर्श-कोणों पर परावर्तित हो सकती है। साधारण विवर्तन ग्रेटिंग की भाषा में इन्हें हम क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय कोटि (order) का परावर्तन कह सकते हैं।

इसके अतिरिक्त यदि आपतित ऐक्स-किरण में कई तरंग-दैर्घ्य सम्मिलित हों तो यह भी स्पष्ट है कि प्रत्येक का परावर्तन भिन्न-भिन्न संस्पर्श-कोणों पर होगा। अतः यदि आपतित किरण को स्थिर रख कर हम धीरे-धीरे क्रिस्टल को घुमा कर संस्पर्श-कोण को धीरे-धीरे बदलें तो ये भिन्न-भिन्न तरंग-दैर्घ्य भी क्रमशः परावर्तित हो सकेंगे। यदि परावर्तित किरणें फ़ोटो के प्लेट पर पड़ें तो उस पर ये भिन्न-भिन्न स्थानों पर अंकित हो जावेंगी और वहाँ ऐक्स-किरण का स्पैक्ट्रम चित्रित हो जायगा, जिसको नापकर हम प्रत्येक तरंगदैर्घ्य के विशिष्ट संस्पर्श-कोण का पता चला सकेंगे और यदि किसी प्रकार d का मान ज्ञात हो तो तरंग-दैर्घ्य λ भी तुरन्त ज्ञात हो जायगा।

31·11.—ब्रैग का ऐक्स-किरण स्पैक्ट्रम-मापी (Bragg's X-ray Spectrometer)। इस परावर्तन विधि का उपयोग करने के लिये ब्रैग
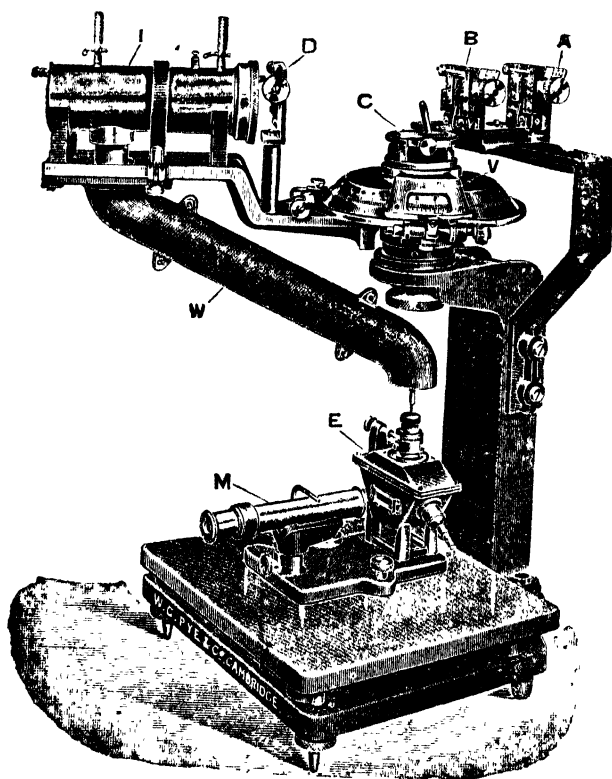
चित्र 31·06

ने एक स्पैक्ट्रम-मापी बनाया है जिसमें आयनीकरण के द्वारा ऐक्स-किरणों का नाप होता है। यह उपकरण चित्र 31·06 में दिखलाया गया है और इसका मर्म-चित्र 31·07 में समझाया गया है। ऐक्स-किरणें दो पतली स्लिटों में से आकर क्रिस्टल-पृष्ठ घ पर पड़ती हैं और वहाँ से परावर्तित होकर स्लिट च में होकर आयनीकरण-कोष्ठ छ में प्रवेश करती हैं। यह कोष्ठ सीसे की मोटी चद्दर की बनी नली है। इसका एक विद्युत्-अग्र तो कोष्ठ की दीवार ही है जो प्रायः 200 वोल्ट की बैटरी से जुड़ी रहती है। दूसरा अग्र नली की अक्ष पर स्थित तार है जो एक सुवर्ण-पत्र विद्युद्दर्शी से जुड़ा रहता है। क्रिस्टल को धीरे-धीरे घुमाते जाते हैं और साथ ही में आयनीकरण कोष्ठ को भी दुगने वेग से चलाते रहते हैं। जब किसी तरंग-दैर्ध्य के लिये संस्पर्श-कोण ठीक
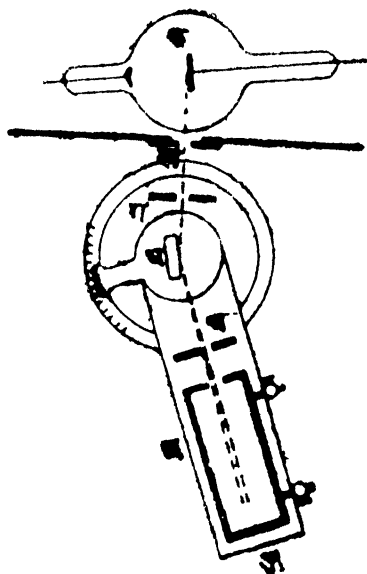
चित्र 31·07

हो जाता है तभी वह तरंग कोष्ठ में घुस कर वहाँ की गैस (मेथिल ब्रोमाइड) को आयनित करके सुवर्ण-पत्र पर कुछ आवेश पहुँचा देती है। यह आयनीकरण-धारा किरणों की तीव्रता की समानुपाती होती है। इस प्रकार ऐक्स-किरणों की परीक्षा करने से जो परिणाम निकला वह लेखाचित्र 31·08 में प्रदर्शित है। इससे स्पष्ट है कि इन किरणों में साधारण अथवा श्वेत किरणों के अतिरिक्त दो लाक्षणिक

किरणें विद्यमान हैं जो वक्रतुंग (crest) $क_1$ $ख_1$ (I) के द्वारा प्रदर्शित हैं। यही दोनों लाक्षणिक किरणें द्वितीय तथा तृतीय कोटि के परावर्तन में भी दिखलाई देती
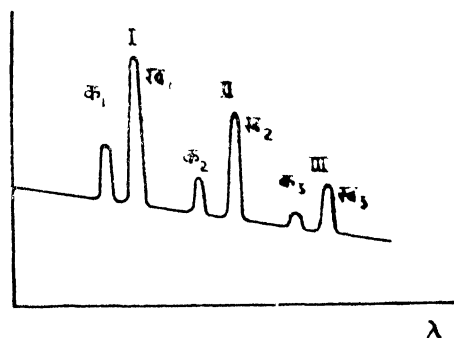
चित्र 31·08

हैं (II तथा III)। चाहे जैसा क्रिस्टल ख के स्थान पर लगा दीजिये यही दोनों वक्र-तुंग सदव प्राप्त होवेंगे। इनका स्थान अवश्य ही भिन्न-भिन्न क्रिस्टलों के लिये भिन्न-भिन्न होगा क्योंकि वह परमाणु-तलों की दूरी d पर निर्भर होगा।

यदि क्रिस्टल के परमाणु-तलों की दूरी d ज्ञात हो तब तो इस चित्र के द्वारा ऐक्स-किरण का तरंग-दैर्घ्य ज्ञात हो जायगा और यदि तरंग-दैर्घ्य ज्ञात हो तो इसके द्वारा क्रिस्टलों के तलों की दूरी d ज्ञात हो सकती है।

31·12—**परमाणु-तलों की दूरी** (Distance between Atom-planes)। इस सम्बंध में नमक का क्रिस्टल बहुत काम आता है। यह घनाकार (cubical) होता है। अतः इसके परमाणु-तलों की दूरी जानना सरल है। इसके क्रिस्टल में हम अत्यन्त सूक्ष्म घनाकार कोष्ठिकाओं (cells) की कल्पना कर सकते हैं जिनके कोनों पर सोडियम तथा क्लोरीन के परमाणु एकान्तरतः जमे हों। ऐसी कोष्ठिका की भुजा d सम० होगी और इसका आयतन d^3 घन सम० होगा। चित्र 31·09 में नमक क्रिस्टल की यह संरचना दिखलाई गई है। काले विन्दु सोडियम के परमाणु हैं और श्वेत वृत्त क्लोरीन के। इस चित्र से स्पष्ट हो जायगा कि प्रत्येक परमाणु का आठ कोष्ठिकाओं के साथ सम्बंध है क्यों कि 8 कोष्ठिकाओं के कोने एक ही विन्दु पर मिलते हैं। प्रत्येक कोष्ठिका से चार सोडियम तथा चार ही क्लोरीन के परमाणुओं का सम्बंध है। अतः प्रत्येक परमाणु के आठवें

भाग को हम एक कोष्ठिका में सम्मिलित समझ सकते हैं। इसलिये प्रत्येक कोष्ठिका के अन्तर्गत परमाणुओं का द्रव्यमान हुआ
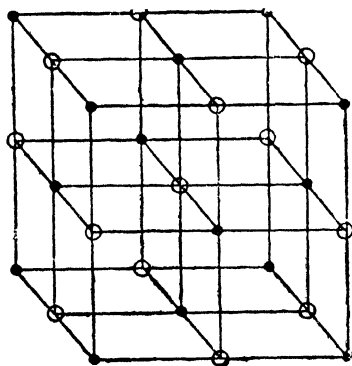
चित्र 31·09

$$m = \tfrac{1}{8}\{4\text{Na} + 4\text{Cl}\}$$
$$= \tfrac{1}{2}\{23 + 35{\cdot}5\} \times \text{H}$$
$$= \tfrac{1}{2} \times 58{\cdot}5 \times 1{\cdot}66 \times 10^{-24} \text{ ग्राम}$$

इसमें Na तथा Cl के परमाणु भार 23 तथा 35·05 हैं। और हाइड्रोजन परमाणु का द्रव्यमान $1{\cdot}66 \times 10^{-24}$ ग्राम है। दूसरी दृष्टि से नमक का घनत्व $\rho = 2{\cdot}17$ होता है और एक कोष्ठिका का आयतन है d^3 घन सम०। अतः उस कोष्ठिका का द्रव्यमान हुआ $m = \rho . d^3 = 2{\cdot}17 \times d^3$ ग्राम०

$$\therefore \quad 2{\cdot}17\, d^3 = \tfrac{1}{2} \times 58{\cdot}5 \times 1{\cdot}66 \times 10^{-24}$$

$$\therefore \quad d = 2{\cdot}814 \times 10^{-8} \text{ सम०}$$

नमक के क्रिस्टल से प्लैटिनम की लाक्षणिक तरंग का संस्पर्श-कोण $11^\circ{\cdot}4$ निकाला है। अतः उसका तरंग-दैर्घ्य

$$\lambda = 2d \sin \theta$$
$$= 2 \times 2{\cdot}814 \times 10^{-8} \times \sin 11^\circ{\cdot}4$$
$$= 1{\cdot}10 \times 10^{-8} \text{ सम०}$$

31·13—**एक्स-किरण-स्पैक्ट्रम-लेखी** (X-ray Spectrograph)। यद्यपि सर विलियम ब्रैग और उनके पुत्र ने इस आयनी-करण विधि के उपयोग में बड़ी सफलता प्राप्त की थी तथापि इसमें सन्देह नहीं कि यह विधि कुछ कठिन अवश्य

है। फ़ोटो-चित्रण विधि इससे सरल है। इसमें आयनीकरण कोष्ठ की जगह फ़ोटो का प्लेट रख दिया जाता है। ज़िगबान (Siegbahn) ने इसमें इतनी उन्नति कर ली है कि तरंग-दैर्घ्यों के नाप में अब 200000 में एक भाग से अधिक की भूल नहीं रहती। ये स्पैक्ट्रम-लेखी कई प्रकार के बनाये जाते हैं किन्तु सब में मूल बात यही
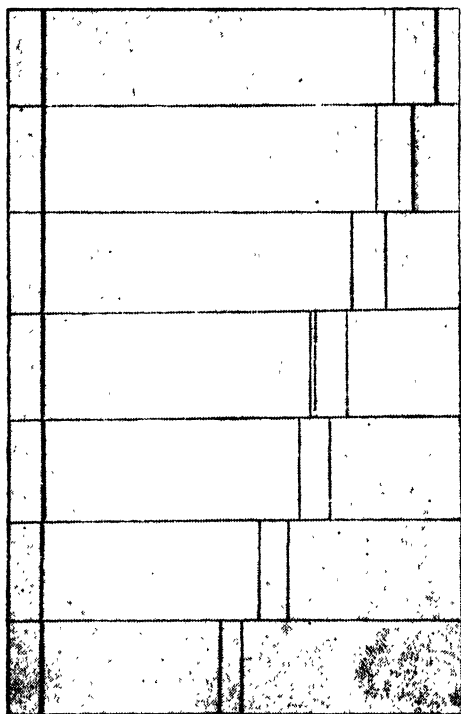
चित्र 31·10

है जो ऊपर बताई जा चुकी है। क्रिस्टल को घुमाने के लिये घड़ी की मशीन (clock work) का उपयोग किया जाता है जिससे वह निर्दिष्ट सीमाओं के भीतर बराबर इधर से उधर एक-समान वेग से घूमता रहता है। नमूने के तौर पर ज़िगबान के कुछ तत्वों के स्पैक्ट्रम-चित्र यहां दिये गये हैं (चित्र 31·10)।

31·14—**तत्वों के ऐक्स-किरण स्पैक्ट्रम** (X-ray Spectra of Elements)। यद्यपि पिता और पुत्र ब्रैग ने ही सबसे पहले ऐक्स-किरणों का तरंग-दैर्घ्य यथार्थतापूर्वक नापने में सफलता प्राप्त की थी किन्तु 1913 में मोसले

(Moseley) ने ही तत्वों के ऐक्स-किरण स्पैक्ट्रमों का सबसे पहले अध्ययन किया था। इस विख्यात अन्वेषण का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह है कि दृष्य-प्रकाश के स्पैक्ट्रमों के समान भिन्न-भिन्न तत्वों के ऐक्स-किरण स्पैक्ट्रम भिन्न-भिन्न प्रकार के नही होते। तरंग-दैर्घ्य के भेद के अतिरिक्त रेखाओं के वितरण, उनकी तीव्रता इत्यादि में सभी तत्वों में बड़ी समानता है। रसायन विज्ञान की आवर्त्त-सारिणी (periodic table) के अनुसार ही तत्वों के दृष्य स्पैक्ट्रमों में भी आवर्तत्व (periodicity) होता है। सोडियम, पोटाशियम आदि एक वर्ग के तत्वों के स्पैक्ट्रम तो एक ही प्रकार के होते हैं किन्तु भिन्न-वर्गीय तत्वों के स्पैक्ट्रमों में बड़ा भेद होता है। ऐक्स-किरण स्पैक्ट्रमों में न यह आवर्तत्व होता है और न यह भेद।

जितने स्पैक्ट्रम अब तक नापे जा चुके हैं उनमें चार श्रेणी की रेखाएँ पाई गई हैं जिन्हें क्रमशः K, L, M तथा N श्रेणियां कहते हैं। K-श्रेणी का तरंग-दैर्घ्य सबसे छोटा होता है और कम परमाणु-भार वाले तत्वों में से इस श्रेणी की किरणे बडी आसानी से उत्पन्न होती है। प्रत्येक तत्व के लिये इस श्रेणी की दो मुख्य रेखाएँ K_1 और K_2 होती हैं जो बहुत पास पास होती हैं। L-श्रेणी का तरंग-दैर्घ्य K-श्रेणी की अपेक्षा अधिक होता है। M-तथा N-श्रेणी का तरंग-दैर्घ्य बहुत अधिक होता है और ये बहुत भारी तत्वों ही में पाई जाती हैं।

मोसले ने देखा कि ज्यों-ज्यों तत्व का परमाणु-भार बढ़ता जाता है त्यों-त्यों प्रत्येक श्रेणी की रेखाओं की आवृत्ति ν भी बढ़ती जाती है। किन्तु जब लेखाचित्र में ये आवृत्तियां अंकित की गई तब ज्ञात हुआ कि परमाणु-भार के स्थान में परमाणु-क्रमांक (atomic number) ही से इन आवृत्तियों का अधिक सरल सम्बंध है। वस्तुतः क्रमांक z प्रायः आवृत्ति के वर्गमूल का समानुपाती होता है। अधिक यथार्थता-पूर्वक

$$\nu = A(Z-s)^2 \quad \ldots \quad (2)$$

जहां ν तरंग की आवृत्ति है, Z तत्व का क्रमांक है और A तथा s दो नियतांक हैं। $\sqrt{\nu}$ तथा Z का लेखाचित्र खींचने से प्रत्येक श्रेणी के लिये प्रायः सरल रेखा प्राप्त होती है। चित्र 31·11 में K, L, M श्रेणी की ये सरल-रेखाएँ दिखाई गई हैं। रासायनिक आवर्तत्व के समान इन स्पैक्ट्रमों में आवर्तत्व के अभाव से ऐसा परिणाम निकाला जाता है कि ऐक्स-किरणें परमाणु के अभ्यन्तर प्रदेश से उत्पन्न होती हैं और दृष्य स्पैक्ट्रम तथा रासायनिक क्रिया परमाणु के बहिर्देश की संरचना पर निर्भर होते हैं।

चित्र 31·11
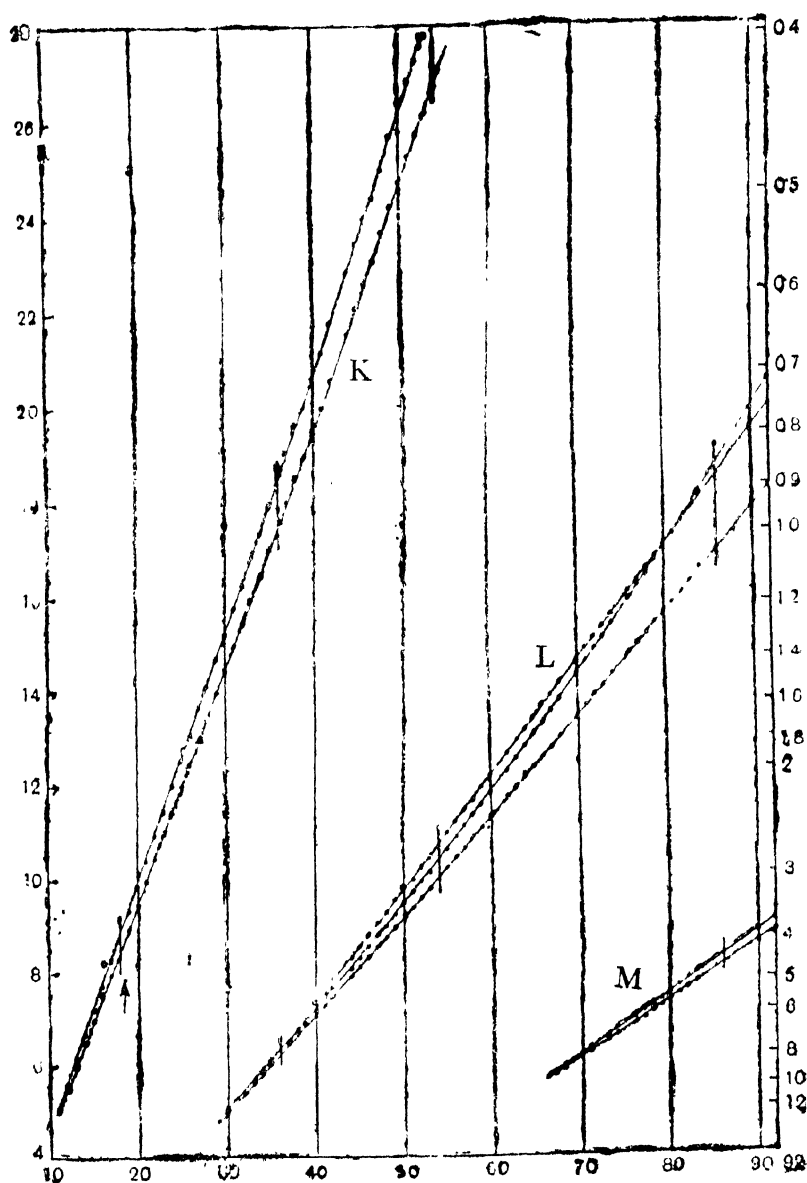
31·15—लाक्षणिक किरणों की उत्पत्ति का सिद्धान्त (Theory of Characteristic X-rays) । इन K, L, M श्रेणियों की उत्पत्ति क्वान्टम सिद्धान्त ही के द्वारा समझ में आ सकती है । यद्यपि यह विषय कुछ जटिल है और उसका पूर्ण विकास यहां नहीं किया जा सकता तथापि साधारण रीति से इस सिद्धान्त की मूल बातें अनु० 34·07 में बतलाई गई है ।

31·16—ऐक्स-किरणों का अवशोषण (Absorption of X-rays) । इन किरणों के आविष्कार के समय ही यह ज्ञात हो गया था कि ये कई अपारदर्शक पदार्थों के पार निकल जाती हैं । वस्तुतः इनका यही गुण उस समय सबसे अधिक महत्वपूर्ण समझा गया था क्योंकि इस गुण के कारण शरीर के भीतर की हड्डियों को देखना सरल कार्य हो गया था । मांस और चमड़ी तथा रुधिर में से तो ऐक्स-किरणें पार निकल जाती हैं किन्तु हड्डी इन्हें रोक लेती है । इसलिए ऐक्स-किरण-नलिका और प्रतिदीप्तिशील परदे के बीच में शरीर का कोई अवयव रखने से परदे पर हड्डियों की छाया पड़ती है । यदि प्रतिदीप्तिशील परदे के स्थान पर फोटो का प्लेट रख दिया जाय तो जहां यह छाया पड़ेगी वहां तो प्लेट ज्यों का त्यों रहेगा और जहां किरणें पड़ेंगी वहां प्लेट काला हो जायगा (चित्र 31·12) । इस प्रकार हड्डियों का चित्र खींचा जा सकता है और यदि चोट लगने से हड्डी टूट गई हो तो तुरन्त ही उसका पता चल सकता है । यही क्यों हड्डी के अतिरिक्त फुफ्फुस, हृदय, जिगर आदि अन्य अवयवों की परीक्षा भी इन किरणों की सहायता से संभव हो गई है । आधुनिक अस्पतालों में ऐसे चित्रों के द्वारा रोग निदान में बड़ी सहायता मिलती है ।
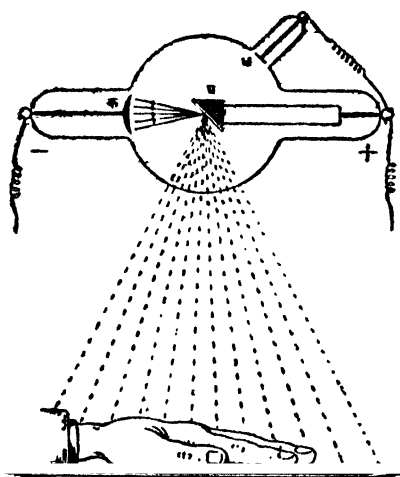
चित्र 31·12

31·17—ऐक्स-किरणों का प्रकीर्णन (Scattering of X-rays) । जब ऐक्स-किरणें किसी परमाणु पर पड़ती हैं तब यदि उनकी ऊर्जा पर्याप्त हो तो वे उस परमाणु की लाक्षणिक किरणों को उत्पन्न कर देती हैं । यह भी पहले कहा

जा चुका है कि इन किरणों से अणु आयनित भी हो जाते हैं। किन्तु यदि ये किरणें किसी मुक्त इलैक्ट्रान पर पड़ें तो क्या होगा? चिर-प्रतिष्ठित विद्युत्-चुम्बकीय सिद्धान्त के अनुसार इन तरंगों का वैद्युत क्षेत्र इलैक्ट्रान मे दोलन उत्पन्न कर देगा और वह इलैक्ट्रान भी उन तरंगों की आवृत्ति ही से दोलन करने लगेगा। इसका परिणाम यह होगा कि वह स्वय भी चारों ओर उतने ही तरंग-दैर्घ्य वाली ऐक्स-किरणे प्रकीर्णित कर देगा। अर्थात् वह इलैक्ट्रान आपतित किरणो की ऊर्जा का शोषण करके उसे पुनः वैसी ही तरंगों के रूप मे चारों ओर फैला देगा। इसे प्रकीर्णन अथवा परि-क्षेपण कहते हैं।

इस प्रकीर्णन का निदर्शन करने का सरल उपाय यह है कि एक विद्युद्दर्शी को इस प्रकार रख दो कि ऐक्स-किरणे उस पर न पड़ सके। तब साधारण कागज़ अथवा ऐल्यूमिनियम के पत्र को किरणो के मार्ग में विद्युद्दर्शी के सामने रख दो। तुरन्त ही विद्युद्दर्शी का आवेश आयनीकरण के कारण घटने लगेगा।

31·18—**काम्पटन का प्रभाव** (Compton Effect)। प्रकीर्णन की उपर्युक्त व्याख्या में एक बड़ी त्रुटि है। प्रकीर्णित किरणों में आपतित तरंग-दैर्घ्य के अतिरिक्त उससे अधिक दैर्घ्य वाली किरणे भी विद्यमान होती है। काम्पटन ने स्पैक्ट्रम-मापी की सहायता से यह बात अच्छी तरह प्रमाणित कर दी थी।

पहले यह सन्देह हुआ कि कदाचित् ये परिवर्तित दैर्घ्य-वाली किरणे प्रकीर्णक पदार्थ की लाक्षणिक किरणें हों। किन्तु प्रकीर्णक पदार्थ को बदल देने पर भी परिवर्तित तरग-दैर्घ्यों मे कोई फरक नहीं पड़ा। वास्तव में तरंग-दैर्घ्य के इस परिवर्तन का सम्बंध प्रकीर्णन की क्रिया ही से होता है। और जितना ही बड़ा प्रकीर्णन-कोण होता है उतनी ही अधिक वृद्धि तरंग-दैर्घ्य में हो जाती है। यह काम्पटन का प्रभाव कहलाता है।

इस प्रभाव की व्याख्या करने के लिये काम्पटन ने क्वान्टम-सिद्धान्त का सहारा लिया था। आइन्स्टाइन के मत के अनुसार उन्होंने यह मान लिया कि ऐक्स-किरणें
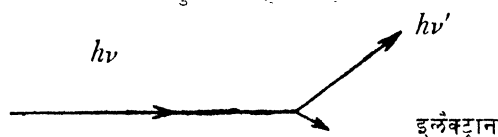
चित्र 31·13

सूक्ष्म ऊर्जा-पुँजों (क्वान्टमों) के रूप में गमन करती है। जब यह क्वान्टम किसी इलैक्ट्रान से टकराता है तो उसकी ऊर्जा का कुछ थोड़ा सा भाग तो इलैक्ट्रान ले लेता है जिससे उसमे गति उत्पन्न हो जाती है और शेष भाग का नवीन क्वान्टम नवीन

आवृत्ति की तरंग के रूप में चलता है। चित्र 31·13 से यह बात प्रगट है। यदि आपतित क्वान्टम की ऊर्जा $h\nu$ हो और आहत इलैक्ट्रान का द्रव्यमान m तथा वेग v हो तो परिक्षिप्त क्वान्टम की ऊर्जा होगी

$$h\nu' = h\nu - \tfrac{1}{2}mv^2 \quad \ldots \quad (3)$$

अतः स्पष्ट है कि परिवर्तित आवृत्ति $\nu' < \nu$ ।

उपर्युक्त समीकरण को अधिक यथार्थ बनाने के लिये $\frac{1}{2}mv^2$ के स्थान में आपेक्षिकता-सिद्धान्त के अनुसार गतिज ऊर्जा के लिये दूसरे ही सूत्र का उपयोग करना होगा।

$$\text{गतिज ऊर्जा} = m_0c^2\left\{\frac{1}{\sqrt{(1-v^2/c^2)}} - 1\right\}$$

गणित द्वारा यह भी प्रमाणित हो जाता है कि प्रकीर्णित क्वान्टम तथा आहत इलैक्ट्रान आपतित क्वान्टम की दिशा से भिन्न दिशाओं में गमन करते हैं।

इस प्रकार काम्पटन ने परिवर्तित किरणों के तरंगदैर्घ्य की पूरी-पूरी व्याख्या कर दी थी। अपरिवर्तित तरंग-दैर्घ्य की उपस्थिति की व्याख्या निम्न प्रकार है।

यदि इलैक्ट्रान परमाणु में आबद्ध हो तो इस टक्कर से पूरे परमाणु में गति उत्पन्न हो जायगी। किन्तु पूरे परमाणु का द्रव्यमान इलैक्ट्रान की अपेक्षा इतना अधिक होता है कि हम उसे अपेक्षाकृत प्रायः अनन्त समझ सकते हैं। ऐसी दशा में उसमें कुछ भी गति उत्पन्न नहीं हो सकेगी और इस कारण समीकरण (3) में $\frac{1}{2}mv^2 = 0$ हो जायगा। अतः $\nu' = \nu$ ।

अब इन परिक्षिप्त इलैक्ट्रानों का भी प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया है। ये परिक्षिप्त इलैक्ट्रान भी गैस में आयन उत्पन्न करते हैं। अतः विलसन के अभ्रकोष्ट की विधि से इनके मार्ग में भी एक्स-किरणों के मार्ग ही के समान जल-बिन्दुएँ बन कर चित्र में अंकित हो जाती हैं।

परिच्छेद 32

परमाणुओं की स्वोत्सर्जिता

(Radio-activity of Atoms)

32·01—**स्वोत्सर्जिता अथवा रेडियमधर्मिता** (Radio-activity)। ऐक्स-किरणों के आविष्कार के कुछ ही समय पश्चात् 1896 में बैकरल (Bequeral) ने घोषित किया कि युरेनियम (uranium) के खनिजों में से भी निरंतर कुछ ऐसी ही किरणें स्वयमेव निकलती रहती है। उन्होंने काले कागज़ के दोहरे आवरण में लपेट कर रखे हुए फोटो-प्लेट के पास ये खनिज रख दिये थे और दूसरे दिन जब उन प्लेटों को परिस्फुटित (develope) किया तो उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि प्लेट काले हो गये थे। इस बात का कारण उन खनिजों की प्रतिदीप्ति (fluorescence) नहीं है क्योंकि एक तो युरेनियम के अतिरिक्त अन्य किसी प्रतिदीप्तिशील पदार्थ में ऐसी किरणों की उत्पत्ति प्रमाणित न हो सकी और दूसरे प्रतिदीप्तिहीन युरेनियम लवणों में भी वही गुण पाया गया। यह भी कहा गया कि कदाचित् इन पदार्थों में से कोई गैस या वाष्प निकलते हैं जो कागज़ के छिद्रों में से प्लेट तक पहुँचकर उस पर अपनी क्रिया कर देते हों। किन्तु जब बीच में पतले कांच की पट्टिका घुसा देने से भी प्लेट पर असर हो गया तब इसकी भी सम्भावना न रही। इन किरणों का नाम बैकरल-किरणें (Bequeral rays) प्रसिद्ध हो गया।

इसके अतिरिक्त यह भी मालूम हुआ कि इन किरणों में विद्युत्दर्शी को विसर्जित करने का भी गुण होता है। आयनीकरण-कोष्ठ में जिस प्रकार ऐक्स-किरणें आयन उत्पन्न करके गैस को चालक बना देती हैं ठीक उसी प्रकार इन पदार्थों की किरणें भी आयनीकरण-धारा प्रवाहित कर देती हैं। इस धारा को नाप कर उनकी इस स्वोत्सर्जिता का नाप भी किया गया। जब युरेनियम लवण बहुत पतली तहों में रखे गये तब यह भी प्रगट हो गया कि इस स्वोत्सर्जिता का परिमाण युरेनियम की मात्रा पर निर्भर है। चाहे युरेनियम शुद्ध रूप में हो, चाहे वह यौगिक रूप में हो, केवल उसके परमाणुओं की संख्या पर ही इस क्रिया की प्रबलता अवलंबित है। यह बैकरल का नियम कहलाता है। तथा इस क्रिया पर ऊष्मा, प्रकाश या अंधकार इत्यादि भौतिक प्रभावों का कुछ भी असर नहीं पड़ता। न यह घटाई जा सकती है न बढ़ाई जा सकती है और वर्षों तक यह क्रिया ज्यों की त्यों बनी रहती है।

1898 में थोरियम (thorium) और उसके लवणों में भी यही बात पाई गई। और इसके कुछ ही दिन बाद श्रीमती क्यूरी (M. Curie) ने जो अपने पति के साथ इस स्वोत्सर्जन सम्बधी खोज में लगी थी एक नवीन तत्व का पता चलाया जिसमें स्वोत्सर्जिता का परिमाण बहुत अधिक था। इस तत्व का नाम श्रीमती ने अपने देश पोलैन्ड के सम्मान में पोलोनियम (polonium) रखा। बड़े परिश्रम से रासायनिक विश्लेषण के द्वारा इस तत्व की खोज की गई थी। इसी प्रकार एक और भी प्रबल स्वोत्सर्जी तत्व का पता इस क्यूरी-दम्पत्ति ने लगाया जिस का नाम रेडियम (radium) रखा गया है। इसे सर्वथा शुद्ध रूप में उन्होंने 1910 में प्राप्त किया था और उसका परमाणु-भार (226), उसका स्पैक्ट्रम, उसकी एक्स-किरणें इत्यादि अनेक बातों का अब ठीक-ठीक पता चल गया है। पिचब्लैंडी (pitch-blende) नामक खनिज में से अब यह रेडियम निकाला जाता है और प्राय: 30 टन पिचब्लैंडी में से केवल 2 मिलीग्राम रेडियम प्राप्त होता है।

यूरेनियम, थोरियम, पोलोनियम, रेडियम, इत्यादि पदार्थ उनके इस अद्भुत गुण के कारण स्वोत्सर्जी पदार्थ कहलाते हैं।

32·02—स्वोत्सर्जी-किरणों के तीन प्रकार (Three Types of Radioctive Rays)। इन पदार्थों में से जो किरणें निकलती हैं वे सब एक ही प्रकार की नहीं होतीं। इस बात का पता सबसे पहले रदरफोर्ड (Rutherford) ने अवशोषण के द्वारा चलाया था। ऐल्यूमिनियम के बहुत पतले (0·01 मम० मोटे) पत्र इन किरणों के मार्ग में रखकर और क्रमश: उन पत्रों की सख्या बढ़ा कर किरणों की आयनीकरण क्रिया, फोटो क्रिया, तथा प्रतिदीप्ति क्रिया की परीक्षा की गई। इन परीक्षाओं का परिणाम यह निकला कि ये किरणें मुख्यत: तीन प्रकार की होती हैं जिनके नाम क्रमश: ऐल्फ़ा (α), बीटा (β) तथा गामा (γ) किरणें रखे गये हैं।

ऐल्फ़ा-किरणों में आयनीकरण-क्षमता सबसे अधिक है किन्तु ये 0·1 मम० मोटे ऐल्यूमिनियम के भी पार नहीं निकल सकतीं। वायु में भी अधिक से अधिक 8·6 सम० से आगे ये किरणें नहीं बढ़ सकती। इतने ही में इनका पूरा अवशोषण हो जाता है।

बीटा-किरणों का अवशोषण अपेक्षाकृत बहुत कम होता है। $\frac{1}{2}$ मम० ऐल्यू-मिनियम से तो प्राय: कोई भी बीटा-किरण नहीं रुकती और कुछ किरण तो प्राय: 10 मम० मोटे ऐल्यूमिनियम के भी पार निकल जाती हैं। इनकी आयनीकरण-

क्षमता कम होती है। किन्तु वेधनशक्ति (penetrating power) α-किरणों से 100 गुणी अधिक होती है।

गामा-किरणों की वेधनशक्ति और भी अधिक (प्रायः 10,000 गुणी) होती है। प्रायः 25-30 मम० मोटे लोहे के पार निकल जाने पर भी इनका प्रभाव देखा गया है। इनका अवशोषण इतना कम होने के कारण इनमें आयनीकरण-क्षमता भी बहुत ही थोड़ी होती है।

वेधनशक्ति के इस भेद के अतिरिक्त एक और भी महत्वपूर्ण भेद इन किरणों में पाया गया है। यदि इन किरणों को प्रायः 1000 गाउस के चुम्बकीय क्षेत्र में से चलाया जाय तो ये तुरन्त तीन भागों में विश्लिष्ट हो जाती है। चित्र 32·01 में यह बात प्रगट है। चुम्बकीय क्षेत्र चित्र-तल पर अभिलम्बतः लगाया गया है। ऐल्फा-किरणे बाईं ओर मुड़ गई हैं तथा बीटा-किरणे दाहिनी ओर। किन्तु गामा-किरणों पर इस क्षेत्र का कुछ भी प्रभाव नही दिखलाई देता। इस प्रयोग से ज्ञात होता है कि इन तीन प्रकार की किरणों में केवल वेधनशक्ति ही का भेद नहीं है। उनका भेद बहुत ही गहरा है। ऐल्फ़ा तथा बीटा किरणे वास्तव में किरणे नही हैं। वे अत्यन्त सूक्ष्म आविष्ट कणिकाओं की बौछार जान पड़ती हैं। ऐल्फ़ा-कणिकाओं पर धन-आवेश होता है तथा बीटा कणिकाओं पर ऋण-आवेश। किन्तु गामा किरणें वास्तव में किरणे हैं और प्रकाश अथवा एक्स-किरणों के समान ही ये भी ईथर की तरंगें ही हैं। चित्र 32·01 से यह भी प्रगट है कि α-कणिकाओ का विचलन थोड़ा होता है और β-कणिकाओं का बहुत अधिक इसका कारण यह है कि α-कणिकाएँ भारी होती हैं और बीटा-कणिकाएँ बहुत हलकी।
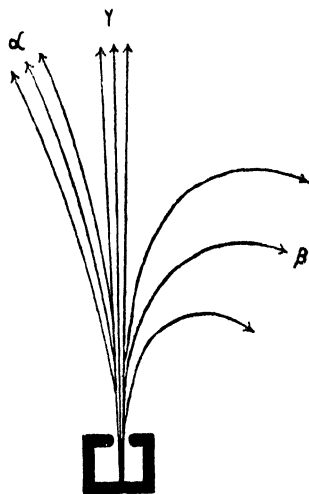
चित्र 32·01

वैद्युत क्षेत्र में भी इसी प्रकार का विचलन पाया गया है।

यह स्वोत्सर्जिता केवल उन्हीं तत्वों में पाई गई है जिनका परमाणु-भार अधिक होता है और जो आवर्तसारिणी (periodic table) के अन्त में अवस्थित होते हैं। अधिक भारी होने के कारण ये परमाणु अस्थायी हो जाते है और स्वयमेव

विघटित हो हो कर स्वतः इन कणिकाओं और किरणों का उत्सर्जन (emission) करते रहते हैं ।

जब यह मालूम हो गया कि α और β-किरणें आविष्ट कणिकामय हैं तो जिस प्रकार इलैक्ट्रानों का e/m तथा वेग नापा गया था वैसे ही उपायों से इनके भी e/m तथा वेग नाप लिये गये ।

32·03—**आविष्ट-कणिकाओं के परिचायन** (detection) **की विधि। (1) सुवर्ण-पत्र विद्युत्दर्शी** । α तथा β-कणिकाओं के द्वारा वायु आयनित हो जाती है। अतः यदि सुवर्ण-पत्रों को स्पर्श करने वाली वायु में ये कणिकाएँ प्रवेश करें तो विद्युत्दर्शी का आवेश घट जाता है। विद्युत्दर्शी की धारिता (capacity) घटा कर तथा अन्य उपायों से उसकी इस कार्य के लिये सुग्राहिता काफी बढ़ा ली गई है।
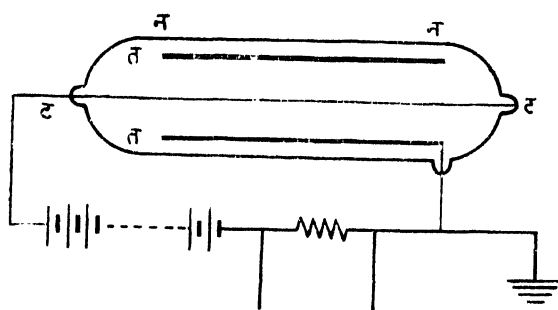
चित्र 32·02

(2) **गाइगर-मूलर गणित्र** (Geiger-Muller Counter)। यह एक कांच की नलिका **न न** होती है जिसमें दो विद्युत्-अग्र लगे होते हैं (चित्र 32·02)। ऋण-अग्र (**त त**) तांबे की खुले मुँह की नली के रूप में होता है और कांच की नली की पूरी लम्बाई में फैला रहता है। इसके अक्ष पर लगा पतला टंगस्टन का तार (**ट ट**) धन-अग्र का काम करता है। इसमें बहुधा वायु अथवा आक्सिजन मिश्रित सूखी आर्गन गैस 5-10 ममः दबाव पर भरी रहती है। विद्युत्-अग्रों पर प्रायः 1000 वोल्ट का विभवत्व लगा दिया जाता है किन्तु कोई धारा प्रवाहित नहीं होती। किन्तु जब कोई भी आविष्ट कणिका इस कांच की नली में लम्बाई की दिशा में प्रवेश करती है तब गैस आयनित हो जाती है और बड़ी प्रबल धारा चलने लगती है।

विभवत्व के कारण समस्त आयन तुरन्त विद्युत्-अग्रो में पहुँच जाते हैं और क्षण मात्र में धारा रुक जाती है। इस धारा को प्रवर्धित (amplify) करके धारामापी में या लाउडस्पीकर में प्रवाहित करने से कणिका के प्रवेश का पता चल जाता है। बहुधा यह धारा ऐसे यंत्र में से चलाई जाती है जिसमें इन कणिकाओं की गिनती स्वयमेव अंकित हो जाती है। इसी कारण इस उपकरण का नाम गणित्र है। आज कल स्वोत्सर्जी खनिजों की खोज के लिये इस यंत्र का बड़ा प्रचार है।

(3) **जगमग-दर्शी** (Spinthariscope)। ज़िंक सल्फाइड या बेरियम-प्लैटिनोसाइनाइड लगे हुए परदे पर जब α या β कणिका पड़ती है तब वहाँ प्रतिदीप्ति के कारण एक क्षणिक चमक पैदा होती है जिसे आवर्धक लेन्स के द्वारा अच्छी तरह देखा जा सकता है। जब ऐसी कणिकाओं की बौछार प्रतिदीप्तिशील परदे पर पड़ती है तब क्षण-क्षण में यह चमक स्थान परिवर्तन करती हुई नजर आती है अर्थात् परदा जगमग करता मालूम होता है। जगमग-दर्शी में छोटी सी पीतल की नली के पेंदे में प्रतिदीप्तिशील परदा लगा दिया जाता है और उसके सामने थोड़ी दूर पर सुई की नोक पर थोड़ा सा स्वोत्सर्जी पदार्थ लगा दिया जाता है। नली के दूसरे मुँह पर लैन्स लगा रहता है जो परदे पर फोकसित होता है। इसके द्वारा कणिकाओं की संख्या भी गिनी जा सकती है। β-कणिकाओं से जगमगाहट बहुत कम होती है।

(4) **विलसन का अभ्र-कोष्ठ** (Wilson's Cloud-chamber)। इसका वर्णन अनु० 28·09 में किया गया था। जब कोई आविष्ट कणिका इसमें प्रवेश करती है तो उसके पथ में आयनीकरण के कारण जल-बिन्दुएँ बन जाती हैं और कोष्ठ पर उचित रीति से प्रकाश डालने से ये पथ दिखाई देने लगते हैं और उनका फ़ोटो भी लिया जा सकता है।

32·04—**ऐल्फ़ा-कणिकाएँ** (Alpha Particles)। (1) इनका e/m रदरफोर्ड ने 1914 में नापा था। इसका मान 50,700 वि०चु०मा० पाया गया। यह हाइड्रोजन आयन के $e/M=96500$ से लगभग आधा है।

(2) ऐल्फ़ा-कणिका का आवेश नापने की विधि यह है कि विद्युत्-दर्शी को निर्वात स्थान में रखकर उसकी पट्टिका पर ये कणिकाएँ डाली जाती हैं और प्रति सैकंड विद्युत्दर्शी में कितना धन-आवेश बढ़ता है यह नाप लिया जाता है। दूसरे प्रयोग से यह मालूम कर लिया जाता है कि प्रति सैकंड कितनी कणिकाएँ उस पट्टिका पर पड़ती हैं। अतः एक कणिका का आवेश मालूम हो जाता है। इस आवेश का मान $9{\cdot}6\times10^{-10}$ स्थि० वै० मा० या $3{\cdot}2\times10^{-10}$ वि० चु० मा० पाया गया है। यह इलैक्ट्रान के आवेश से दो गुणा है।

(3) ऐल्फ़ा कणिकाओं का $e/m = 4 \cdot 8 \times 10^4$ तथा $e = 3 \cdot 2 \times 10^{-20}$ होता है। अतः $m = 6 \cdot 64 \times 10^{-24}$ ग्राम। यह हाइड्रोजन परमाणु के द्रव्यमान से चार गुणा है और हीलियम परमाणु के द्रव्यमान के बराबर है। इससे यह परिणाम निकलता है कि ऐल्फ़ा-कणिका हीलियम का आविष्ट परमाणु ही होता है। इस बात की पुष्टि में अब हमारे पास एक प्रत्यक्ष प्रमाण भी मौजूद है जिसका श्रेय रदरफोर्ड महोदय को प्राप्त है। चित्र 32·03 मे कांच की एक पतली नली **क** एक दूसरी नली **ख** के भीतर लगी हुई है। इस बाहर वाली नली को अच्छी तरह वायुरिक्त कर दिया गया तथा विद्युत्-अग्र **द द** के द्वारा विसर्ग चलाकर शेष गैस का स्पैक्ट्रम देख लिया गया। अब **क** में हीलियम भर दिया गया और उसका दबाव भी खूब बढ़ा दिया गया। कई घंटों के बाद भी विसर्ग नलिका **ख** के स्पैक्ट्रम में हीलियम का कोई चिह्न नही पाया गया। इससे यह प्रमाणित हो गया कि **क** में से **ख** में हीलियम के परमाणु नही जा सकते। अब हीलियम को **क** मे से निकाल कर उसमें रेडियम से
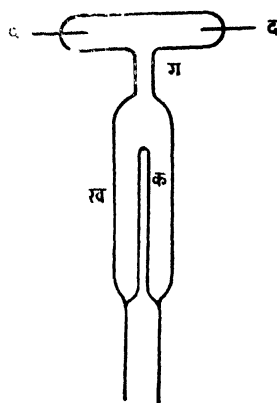
चित्र 32·03

उत्पन्न रेडान (radon) नामक गैस भर दी गई। इस गैस में मे जो ऐल्फ़ा-कणिकाएँ निकलती है उनके पार निकल जाने के लिये **क** की दीवार काफ़ी पतली थी। अतः धीरे-धीरे **ख** में ये ऐल्फ़ा-कणिकाएँ एकत्रित होने लगी और कुछ घंटों के बाद विसर्गनलिका के स्पैक्ट्रम में हीलियम की रेखाएँ स्पष्ट देख पड़ी। अतः अब इसमे कुछ भी सन्देह नही रह गया कि ऐल्फा-कणिका ही हीलियम परमाणु का रूप धारण कर लेती है।

(4) ऐल्फ़ा-कणिकाओं का वेग $1 \cdot 2 \times 10^7$ से $1 \cdot 9 \times 10^9$ सम० प्रति सैकंड तक पाया गया है। जब ये कणिकाएँ किसी पदार्थ में गमन करती हैं तो इनका वेग क्रमशः कम हो जाता है किन्तु इनकी संख्या कम नहीं होती। वेग कम होने का कारण यह है कि आयनीकरण में ऊर्जा का व्यय होता है और इनकी गतिज-ऊर्जा कम हो जाती है।

(5) जब इनका वेग $1 \cdot 2 \times 10^7$ से कम हो जाता है तब इनकी आयनीकरण शक्ति, प्रतिदीप्तिकारक शक्ति, तथा फ़ोटो के प्लेट को प्रभावित करने की शक्ति लुप्त हो जाती है। अतः किसी भी पदार्थ में कुछ दूर चल लेने के बाद जगमग-दर्शी

अथवा किसी आयनीकरण विधि से इनके अस्तित्व का पता नहीं चल सकता। अभ्रकोष्ठ में इनके जो सरल रेखात्मक पथ दिखाई देते हैं उनकी लम्बाई भी इसी कारण एक नियत सीमा से बड़ी नहीं होती। आयनीकरण की इस अधिकतम दूरी को कणिका की परास (range) कहते हैं और यह विभिन्न द्रव्यों के लिये विभिन्न मान की होती है। इन कणिकाओं के उत्पादक परमाणु पर भी यह परास अवलम्बित होती है। साधारण वायु में रेडियम की α-कणिकाओं की परास प्रायः 3·5 सम० होती है। *Ra–C* की कणिकाओं की परास 7·0 सम० होती है। यह परास पथ में उपस्थित परमाणुओं की संख्या पर निर्भर होती है। इसलिये वायु का दबाव कम करने से यह बढ़ जाती है।

(6) इनकी आयनीकरण-शक्ति बीटा कणिकाओं की अपेक्षा 100-गुणी तथा गामा-किरणों की अपेक्षा 10000 गुणी अधिक होती है।

(7) इनकी वेधनशक्ति (penetrating power) बीटा कणिकाओं की अपेक्षा 100-गुणी तथा गामा-किरणों की अपेक्षा 10000-गुणी कम होती है।

(8) यह बात आश्चर्यजनक है कि ऐल्फ़ा-कणिका अपने पथ में इतने अधिक परमाणुओं को आयनित करती है परन्तु फिर भी वह सीधी रेखा ही में गमन करती है। उसका विचलन नहीं होता। इसका कारण यह है कि इसका विस्तार (size) परमाणु के विस्तार की अपेक्षा बहुत ही छोटा होता है और साधारणतः वह परमाणु के बीच में से निकल जाती है। इससे प्रगट है कि परमाणु खोखले होते हैं और उनका समस्त द्रव्यमान एक छोटे से धनाविष्ट नाभिक (nucleus) में केंद्रित रहता है। जब तक ऐल्फ़ा-कणिका नाभिक से दूर रहती है तब तक तो उसका विचलन नहीं होता। किन्तु जब वह नाभिक के अत्यन्त निकट से निकलती है तब पारस्परिक
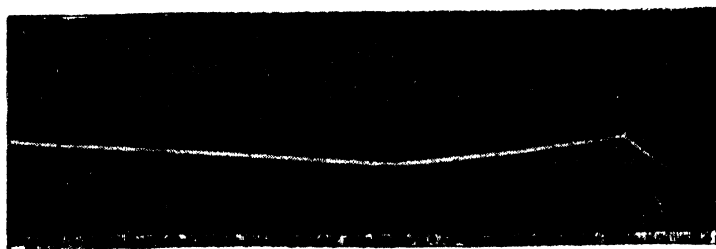
चित्र 32-04

प्रतिकर्षण के कारण ऐल्फ़ा-कणिका विचलित हो जाती है। इस विचलन-कोण को नापकर यह प्रमाणित हो गया है कि परमाणु-नाभिक का व्यास 10^{-13} सम० के

लगभग होता है। यह परमाणु-व्यास (10^{-8} सम०) की अपेक्षा एक लाख गुणा छोटा है। ऐसा विचलन चित्र 32·04 में प्रदर्शित है और यह परास के अंत में ही होता है क्योंकि वहां एल्फ़ा-कणिका का वेग कम हो जाता है।

(9) इसके अतिरिक्त ऐसे विचलनों के अध्ययन के द्वारा नाभिक के आवेश का भी नाप हो सकता है। इसके लिये गणित के द्वारा आवेश तथा विचलन-कोण का पारिमाणिक सम्बन्ध मालूम कर लिया गया है। ऐसे नाप से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण परिणाम निकला है। यदि भार-क्रमानुसार तत्वों की सूची बनाई जाय तो उस सूची में प्रत्येक तत्व की द्योतक एक क्रम-सख्या होगी जिसे उस तत्व का परमाणु-क्रमाक (atomic number) कहते हैं। यदि किसी तत्व का क्रमांक Z हो तो उसके परमाणु के नाभिक का आवेश Ze होता है, जहा e=इलैक्ट्रान आवेश। अतः इस आवेश के नाप से परमाणु-क्रमांक भी मालूम हो सकता है।

(10) कभी-कभी एल्फा-कणिका जाकर परमाणु-नाभिक पर सीधी टक्कर मारती है। तब नाभिक का विघटन (dis-integration) भी हो जाता है। इसका वर्णन अनु० 33·02 मे किया गया है। इस रूप मे इन कणिकाओं को परमाणु-विघटन के लिये उपयोगी बन्दूक की गोली के समान समझा जा सकता है।

32·05—**बीटा-कणिकाएँ** (Beta Particles)। (1) एल्फा-किरणों की अपेक्षा बीटा-किरणों की परास प्रायः 100 गुणी अधिक होती है।

(2) इनकी आयनीकरण-क्षमता इतनी कम (100-गुणी कम) होती है कि इनकी एक एक कणिका का प्रभाव पृथक् रूप से प्रेक्षण में नही आ सकता।

(3) इनका वेग बहुत अधिक होता है और कभी-कभी तो इतना अधिक होता है कि प्रकाश के वेग 3×10^{10} सम०/सैकड से प्रायः 1 या 2% ही कम रह जाता है। द्रव्य में गमन करने पर एल्फ़ा-किरणों के समान ही इनका भी वेग धीरे-धीरे घटता जाता है किन्तु ये सीधी रेखा में अधिक दूर नहीं चल सकतीं। भार कम होने के कारण ये आसानी से इधर-उधर मुड़ जाती हैं।

(4) यद्यपि इनका आवेश स्वतंत्र रूप से नहीं नापा गया है तथापि e/m नाप लिया गया है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये भी कैथोड-किरणों ही के समान ऋणाविष्ट इलैक्ट्रान समुदाय हैं।

बीटा किरणों का e/m यथार्थता-पूर्वक नापने में सबसे पहले काफ़मान (Kaufmann) को 1902 में सफलता मिली थी। इन्होंने उसी युक्ति का प्रयोग किया था जिससे कि धन-किरण-परवलय प्राप्त हुए थे अर्थात् वैद्युत् क्षेत्र तथा चुम्बकीय क्षेत्र

एक ही दिशा में लगाये थे जिससे दोनों विचलन परस्पर समकोणिक हों। यदि सब बीटा-कणिकाओं का e/m बराबर होता और उसमें केवल वेग का ही भेद होता तब तो अवश्य ही प्लेट पर धन-किरणों के समान ही ये भी एक परवलय बना देती। किन्तु प्लेट पर जो वक्र बना यद्यपि वह संतत नही था तथापि इसमें भी सन्देह नहीं कि वह परवलय नही था। इससे स्पष्ट हो गया कि e/m का परिमाण सब बीटा कणिकाओं के लिये बराबर नही होता। इस परिमाण मे तथा कणिका के वेग मे कोई विशेष सम्बंध है। अर्थात् वेग के प्रत्येक परिमाण के लिये e/m का भी एक-एक नियत मान होता है और यह मान केवल वेग ही पर निर्भर है। इस वक्र में कोई पृथक्-पृथक् भाग न होने के कारण यह भी स्पष्ट है कि बीटा-किरणें भिन्न-भिन्न प्रकार की नही होती।

32·06—**बीटा-कणिका का द्रव्यमान** (Mass of β-particles)। कम वेग वाली बीटा-किरणों के e/m के मान स तथा अन्य भी अनेक बातों से यह तो निर्विवाद है कि ये कणिकाएँ इलैक्ट्रान ही हैं। किन्तु ज्यों-ज्यों इनका वेग बढ़ता जाता है त्यो-त्यो e/m का मान भी घटता जाता है। इस बात से एक नवीन समस्या उपस्थित हो जाती है। क्या इलैक्ट्रान का आवेश e स्थिर नही है? अथवा क्या उसका द्रव्यमान वेग के अनुसार बदलता रहता है? अथवा चुम्बकीय क्षेत्र का जो प्रभाव विद्युत्-चुम्बकीय नियमो के अनुसार गतिशील आवेश पर होना चाहिये वैसा न होकर वेगवान इलैक्ट्रानों के लिए कुछ दूसरे ही नियम हैं? यद्यपि इन तीनो ही परिकल्पनाओं से काफमान के परिणामों की व्याख्या हो सकती है तथापि सैद्धान्तिक दृष्टि से दूसरी ही कल्पना को मान लेने मे सुविधा है। विद्युत् की परमाणुकता के हमे इतने अधिक प्रमाण प्राप्त हो चुके हैं कि अब यह मानना सम्भव नही कि इलैक्ट्रान के आवेश में कुछ परिवर्तन हो सकता है। विद्युत्-चुम्बकीय नियमों की सत्यता मे सन्देह करने से भी बहुत गड़-बड़ हो जाने का डर है। अतः हम यही मानने के लिये बाध्य है कि इलैक्ट्रान का द्रव्यमान वेग पर निर्भर रहता है। जितना ही अधिक वेग होता है उतना ही अधिक द्रव्यमान भी हो जाता है।

वस्तुतः यह प्रमाणित हो गया है कि
$$m = \frac{m_0}{\sqrt{(1 - v^2/c^2)}} \quad . \quad . \quad . \quad (1)$$

इसमें m_0 वेगहीन स्थिर इलैक्ट्रान का द्रव्यमान है और c=प्रकाश का वेग।

यही सूत्र आइन्सटाइन के आपेक्षिकता-सिद्धान्त (Theory of Relativity) से भी प्राप्त होता है। अतः काफ़मान के प्रयोगो को हम इस सिद्धान्त का प्रत्यक्ष प्रमाण समझ सकते हैं। 1909 में बुखरर (Bucherer) ने तथा इसके बाद में

न्यूमान (Newmann) ने बीटा-कणिकाओं के e/m को और भी यथार्थतापूर्वक नापा था और प्रमाणित कर दिया था कि जब $v/c=0·98$ हो जाता है तब उपर्युक्त सूत्र के अनुसार ही e/m का मान बढ़ कर प्रायः 5-गुणा हो जाता है।

32·07—**लाक्षणिक बीटा-किरणें** (Characteristic β-rays)। बेयर (Baeyer), हान (Hahn) और माइटनर (Meitner) इत्यादि ने चुम्बकीय विचलन के द्वारा भिन्न-भिन्न स्वोत्सर्जी पदार्थों की बीटा-किरणों का वेग-स्पैक्ट्रम (velocity spectrum) चित्रित किया था। इससे पता चला कि ये स्पैक्ट्रम भी रेखामय होते हैं। अर्थात इनमें अखंड स्पैक्ट्रम के अतिरिक्त कुछ विशेष वेग वाली किरणें भी अंकित रहती हैं। प्रत्येक तत्व का स्पैक्ट्रम एक विशेष रूप का होता है जिसके द्वारा वह तत्व पहिचाना भी जा सकता है। अर्थात् प्रत्येक परमाणु में से निकलने वाली बीटा-कणिकाओं के कुछ निश्चित वेग होते हैं। इन्हें लाक्षणिक बीटा-किरणें (Characteristic β-rays) कहते हैं।

32·08—**गामा किरणें** (Gama Rays)। (1) इनकी वेधन-क्षमता α तथा β किरणों की अपेक्षा बहुत अधिक होती है। 20 सम० मोटे सीसे (lead) में से ये पार निकल जाती हैं।

(2) इनमें प्रतिदीप्ति उत्पादन करने, फ़ोटो के प्लेट को काला करने तथा आयनीकरण के गुण होते हैं। किन्तु इनके द्वारा आयनीकरण α-किरणों की अपेक्षा 10000 गुणा कम होता है।

(3) ये एक्स-किरणों ही के समान ईथर-तरंगे हैं।

(4) क्रिस्टलों के द्वारा इनका विवर्तन (diffraction) भी होता है और इसी के द्वारा इनका तरंग-दैर्घ्य नापा गया है। इसका मान लगभग 10^{-10} सम० अर्थात् एक्स-किरणों की अपेक्षा प्रायः 100 गुणा तक कम होता है।

(5) साधारणतः β तथा γ किरणें साथ ही साथ निकलती हैं।

32·09—**परमाणुओं का विघटन** (Disintegration of Atoms)। α, β तथा γ किरणों की यूरेनियम में से उत्पत्ति के कारण का 1900 में क्रुक्स (Crookes) ने पता लगाया था। उन्होंने रासायनिक विधि से यूरेनियम के लवण का विश्लेषण करके उसे दो भागों में विभक्त किया। एक भाग में यूरेनियम बिलकुल नहीं था किन्तु उसमें फ़ोटो के प्लेट को काला करने की प्रबल शक्ति थी। दूसरे बड़े भाग में यूरेनियम तो था किन्तु इससे फ़ोटो के प्लेट पर कुछ भी असर नहीं होता था।

पहले भाग का नाम यूरेनियम-एक्स (U_x) रख दिया गया और बात यह पाई गई कि U_x में से β किरणें निकलती हैं किन्तु U में से नहीं और α-किरणें U में से तो निकलती हैं किन्तु U_x में से नहीं।

किन्तु इन दोनों को दो-तीन महीने तक पड़ा रखने पर एक बड़ी आश्चर्यजनक बात मालूम हुई। अब U_x में से बीटा-किरणें बिलकुल नहीं निकलती थी किन्तु U में से अब बीटा-किरणें खूब अच्छी तरह निकल रही थीं। बीटा-किरण-उत्पादक गुण U_x में से निकल कर पुनः U में आ गया था। दोनों पदार्थों को बिलकुल अलग-अलग रखने पर भी ऐसा ही होता है। इस बीटा-स्वोत्सर्जिता का समय-समय पर नाप करने से ज्ञात हुआ कि यह लेखा-चित्र 32·05 के अनुसार U में क्रमशः बढ़ती जाती है और U_x में क्रमशः घटती जाती है। किन्तु दोनों की सम्मिलित स्वोत्सर्जिता ज्यों की त्यों रहती है।

यदि स्वोत्सर्जिता का प्रारम्भिक परिमाण I_0 हो तो t समय के पश्चात् वह हो जायगा

$$I_t = I_0 e^{-\lambda t} \quad [U_x \text{ के लिए}] \quad . \quad . \quad . \quad (2)$$

तथा

$$I_t = I_0(1 - e^{-\lambda t}) \quad [U \text{ के लिए}] \quad . \quad . \quad (3)$$
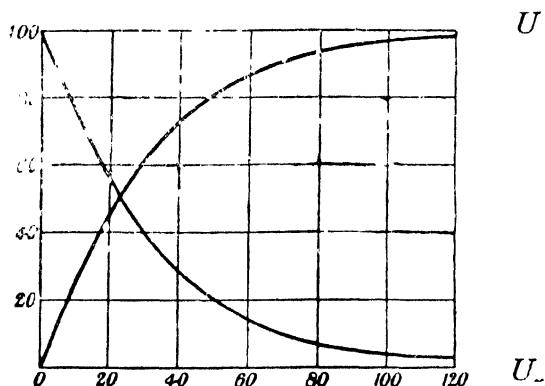
चित्र 32·05

इन समीकरणों में e लघुगणकीय आधार (logarithmic base) है तथा λ एक नियतांक है जिसका नाम स्वोत्सर्जनांक (radio-active constant) अथवा क्षयांक (decay constant) रख दिया गया है।

समीकरण (2) से यह भी सिद्ध है कि U_x की स्वोत्सर्जिता के क्षय की दर

$$\frac{dI_t}{dt} = -\lambda I_0 e^{-\lambda t} = -\lambda I_t \quad . \quad . \quad . \quad (4)$$

निम्नलिखित परिकल्पना (hypothesis) के द्वारा इन बातों की पूरी व्याख्या हो जाती है।

(1) सब परमाणु स्थायी नही होते । कुछ अधिक भार वाले परमाणु अस्थायी होते हैं । इन्हे स्वोत्सर्जी कहते हैं ।

(2) स्वोत्सर्जी परमाणु (यथा U) स्वयमेव ही निरन्तर विघटित (disintegrate) होते रहते है। प्रत्येक टूटे हुए परमाणु में से एक α या β कणिका विसर्जित होती है । तथा शेष भाग एक सर्वथा नवीन परमाणु (यथा U_x) बन जाता है। इस नवीन परमाणु (U_x) के भौतिक तथा रासायनिक गुण U की अपेक्षा सर्वथा भिन्न होते हैं। इस प्रकार एक परमाणु से दूसरे भिन्न प्रकार के परमाणु की उत्पत्ति को तत्वान्तरण (transformation) कहते हैं।

(3) ये नवीन परमाणु भी बहुधा स्वोत्सर्जी होते हैं और उनसे भी α या β कणिकाएँ तथा और दूसरे नवीन परमाणु उत्पन्न होते हैं।

(4) इस प्रकार U_x के परमाणु उत्पन्न भी होते रहते है और उनका क्षय भी होता रहता है। जब कुछ समय बाद इन U_x परमाणुओं की उत्पत्ति और क्षय की दरें (rates) बराबर हो जाती है तब इनकी संख्या स्थिर हो जाती है। इस अवस्था को स्वोत्सर्जी सन्तुलन (radio-active equilibrium) कहते है।

(5) यह विघटन स्वतःप्रवर्तित (spontaneous) होता है । वह प्रायिकता (probability) के नियमों के अनुसार स्वयमेव होता रहता है और इस पर टेम्परेचर, दबाव, रासायनिक संयोजन, वैद्युत या चुम्बकीय क्षेत्र आदि किसी भी बाह्य कारण का कुछ भी प्रभाव नहीं होता। प्रति सैकंड कितने परमाणुओं का विघटन होगा यह केवल विद्यमान परमाणुओं की संख्या ही पर निर्भर है।

यदि किसी समय परमाणुओं की संख्या N हो तो प्रति सैकंड टूटने वाले परमाणुओं की संख्या होगी

$$\frac{dN}{dt} = -\lambda N \quad . \quad . \quad . \quad (5)$$

$$\therefore \quad N = N_0 e^{-\lambda t} \quad . \quad . \quad . \quad (6)$$

यदि प्रारम्भ में ($t=0$ पर) परमाणुओं की संख्या N_0 हो तो समी० (6) के द्वारा t सैकंड के बाद अवशिष्ट संख्या N ज्ञात हो सकती है और उस समय dt समय में टूटने वाले परमाणुओं की संख्या होगी

$$dN = -\lambda N dt = -\lambda N_0 e^{-\lambda t} dt \quad . \quad . \quad (7)$$

(6) स्पष्ट है कि पदार्थ की स्वोत्सर्जिता का अर्थात् उसके द्वारा उत्पन्न आयनीकरण आदि का नाप क्षय की दर dN/dt के द्वारा होगा।

अतः
$$I = k\frac{dN}{dt} = -k\lambda N = AN$$
और
$$I_0 = AN_0$$
$$\therefore \quad \frac{I}{I_0} = \frac{N}{N_0} = e^{-\lambda t}$$

यही प्रयोग–लब्ध समी० (2) की व्याख्या है।

32·10—**परमाणु का अर्ध–मान-काल** (Half-value Period)। जितने समय में परमाणुओं की संख्या घट कर आधी रह जाय उस समय को उस परमाणु का अर्ध-मान-काल कहते हैं। समी० (6) से स्पष्ट है कि $N = \frac{1}{2}N_0$ होने के लिये

$$e^{-\lambda t} = \tfrac{1}{2}$$
या
$$-\lambda t = \log_e \tfrac{1}{2} = -\log_e 2$$
$$\therefore \quad t = \frac{1}{\lambda}\log_e 2 = \frac{\cdot 693}{\lambda} \text{ सैकंड} \qquad \ldots \quad (8)$$

यूरेनियम का अर्ध-मान-काल 5×10^9 वर्ष है और U_x का केवल 24·6 दिन। इसी को परमाणु की अर्ध-आयु (half-life) भी कहते हैं।

32·11—**परमाणु की औसत आयु** (Average Life)। समी० (7) के अनुसार प्रारम्भ के N_0 परमाणुओं में से t सैकंड के बाद dt समय में जितने परमाणु टूटते हैं उनकी संख्या

$$dN = -\lambda N_0 e^{-\lambda t} dt$$

इन सब की आयु स्पष्टतः t सैकंड थी।

अतः परमाणुओं की औसत आयु

$$= \frac{\text{सब परमाणुओं की आयुओं का योग}}{\text{सब परमाणुओं की संख्या}}$$
$$= \frac{\int_0^\infty t \cdot dN}{N_0}$$
$$= -\int_0^\infty t \,.\, \lambda N_0 e^{-\lambda t} dt$$
$$= -\int_0^\infty \lambda t e^{-\lambda t} dt = \lambda\left[t \,.\, \frac{e^{-\lambda t}}{-\lambda}\right]_0^\infty - \lambda\int_0^\infty \frac{e^{-\lambda t}}{\lambda} dt$$
$$= \frac{1}{\lambda} \text{ सैकंड}$$

अर्थात् औसत आयु स्वोत्सर्जनांक की व्युत्क्रम संख्या होती है।

32·12—**उत्तरोत्तर तत्वान्तरण** (Successive Transformations)। ऊपर बताया जा चुका है कि स्वोत्सर्जी तत्वान्तरण में बहुधा एक परमाणु के टूटने से जो दूसरी प्रकार का नवीन परमाणु बनता है वह भी स्वोत्सर्जी होता है और उसका भी यथा समय तत्वान्तरण हो कर एक तीसरे प्रकार के परमाणु का जन्म होता है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर अनेक तत्वान्तरण होते रहते हैं और ये तभी रुकते हैं जब अन्त में कोई परमाणु ऐसा उत्पन्न हो जाता है जो स्वोत्सर्जी न हो। इन समस्त परमाणुओं की क्रमबद्ध शृंखला को स्वोत्सर्जन श्रेणी (radio-active series) कहते हैं। ऐसी तीन श्रेणियाँ हमें ज्ञात हैं।

(1) यूरेनियम-रेडियम श्रेणी

(2) ऐक्टीनियम श्रेणी

(3) थोरियम श्रेणी

I--यूरेनियम–रेडियम श्रेणी

पदार्थ	संकेत	क्रमांक	परमाणु-भार	अर्ध-मान-काल	उत्सर्ग	वर्ग (आवर्त-सारिणी में)
यूरेनियम–I	UI	92	238	$4·56 \times 10^9$ वर्ष	α	VI
यूरेनियम-X_1	Ux_1	90	234	24·1 दिन	β	IV
यूरेनियम-X_2	Ux_2	91	234	1·14 मिनट	β	V
यूरेनियम II	UII	92	234	$2·7 \times 10^6$ वर्ष	α	VI
आयोनियम	Io	90	230	$8·3 \times 10^4$ वर्ष	α	IV
रेडियम	Ra	88	226	1590 वर्ष	α, β	II
रेडान	RaEm	86	222	3·8 दिन	α	O
रेडियम–A	RaA	84	218	3·05 मिनट	α	VI
रेडियम–B	RaB	82	214	26·8 मिनट	β	IV
रेडियम–C	RaC	83	214	19·7 मिनट	α, β	V
रेडियम–C′	RaC′	84	214	10^{-8} सैकंड	α	VI
रेडियम–C″	RaC″	81	210	1·32 मिनट	β	III
रेडियम–D	RaD	82	210	22 वर्ष	β	IV
रेडियम–E	RaE	83	210	5 दिन	β	V
रेडियम–F	RaF	84	210	140 दिन	α	VI
रेडियम–G या यूरेनियम-सीसा	RaG या Pb	82	206	स्थायी	—	IV

II—ऐक्टीनियम श्रेणी

पदार्थ	संकेत	क्रमांक	परमाणु-भार	अर्ध-मान-काल	उत्सर्जन	वर्ग (आवर्त-सारिणी में)
यूरेनियम I′	UI′	92	235	2×10^{6} वर्ष	α	VI
यूरेनियम Y	Uy	90	231	1·5 दिन	β	IV
प्रोटो-ऐक्टीनियम	PrAc	91	231	12000 वर्ष	α	V
ऐक्टीनियम	Ac	89	227	20 वर्ष	β	III
रेडियो-ऐक्टीनियम	RaAc	90	227	18·9 दिन	α	IV
ऐक्टीनियम X	AcX	88	223	11·2 दिन	α	II
ऐक्टीनान	AcEm	86	219	3·92 सैकंड	α	O
ऐक्टीनियम A	AcA	84	215	$1\cdot5\times10^{-3}$ सैकंड	α	VI
ऐक्टीनियम B	AcB	82	211	36 मिनट	β	IV
ऐक्टीनियम C	AcC	83	211	2·15 मिनट	α,β	V
ऐक्टीनियम C′	AcC′	84	211	——— —	α	VI
ऐक्टीनियम C″	AcC″	81	207	4·71 मिनट	β	III
ऐक्टीनियम D या ऐक्टीनियम सीसा	AcD Pb	82	207	स्थायी	—	IV

III—थोरियम श्रेणी

पदार्थ	संकेत	क्रमांक	परमाणु-भार	अर्ध-मान-काल	उत्सर्जन	वर्ग (आवर्त-सारिणी में)
थोरियम	Th	90	232	$1\cdot65\times10^{10}$ वर्ष	α	IV
मेसोथोरियम I	$MsTh_1$	88	228	6·7 वर्ष	β	II
मेसोथोरियम II	$MsTh_2$	89	228	6·13 घंटे	β	III
रेडियो थोरियम	RaTh	90	228	1·90 वर्ष	α	IV
थोरियम–X	Th X	88	224	3·64 दिन	α	II
थोरान	ThEm	86	220	54·5 सैकंड	α	O
थोरियम–A	Th A	84	216	0·14 सैकंड	α	VI
थोरियम–B	Th B	82	212	10·6 घंटे	β	IV
थोरियम–C	Th C	83	212	60·8 मिनट	α,β	V
थोरियम C′	Th C′	84	212	10^{-11} सैकंड	α	VI
थोरियम C″	Th C″	81	208	3·2 सैकंड	β	III
थोरियम D या थोरियम-सीसा	ThD Pb	82	208	स्थायी	—	IV

32·13—**विस्थापन नियम** (Displacement Law)। 1913 में सॉडी (Soddy) तथा फ़ेजन (Fajan) ने इन श्रेणियों के परमाणुओं के भार तथा क्रमांक के विषय में दो महत्वपूर्ण नियमों का आविष्कार किया था। इनके द्वारा यह मालूम हो जाता है कि विघटन-जात परमाणु का स्थान आवर्तसारिणी में कहाँ होता है। अर्थात् वह जनक-परमाणु के स्थान से कितना विस्थापित हो जाता है। इसी कारण इन्हें विस्थापन नियम कहते हैं।

(1) जब किसी परमाणु में से एक α-कणिका निकलती है तब जो नवीन परमाणु उत्पन्न होता है उसका भार जनक-परमाणु की अपेक्षा 4 मात्रक कम हो जाता

क्रमांक Z → / परमाणु भार ↓	81	82	83	84	85	86	87	88	89	90	91	92
206		Pb Ra-G										
208			α									
210	Ra-C″ $\xrightarrow{\beta}$	Ra-D $\xrightarrow{\beta}$	Ra-E $\xrightarrow{\beta}$	Ra-F								
212		α	α									
214		Ra-B $\xrightarrow{\beta}$	Ra-C $\xrightarrow{\beta}$	Ra-C′								
216			α									
218				Ra-A								
220					α							
222						Ra Em						
224							α					
226								Ra				
228									α			
230										Io		
232											α	
234										U_{X1} $\xrightarrow{\beta}$	U_{X2} $\xrightarrow{\beta}$	U_{II}
236											α	
238												U_I
आवर्त सारणी वर्ग	III	IV	V	VI	VII	0	I	II	III	IV	V	VI

चित्र 32·06

है (मात्रक एक हाइड्रोजन परमाणु के भार के बराबर होता है)। और उसके नाभिक

का धन आवेश 2 मात्रक कम हो जाता है क्योंकि α-कणिका का भार 4 तथा आवेश 2 होता है। नाभिक के धन आवेश की कमी के कारण उसके क्रमांक में भी 2 की कमी हो जाती है। अर्थात् आवर्त-सारणी में वह दो स्थान पीछे हट जाता है। U का भार 238 और क्रमांक 92 है। अतः Ux_1 का भार 234 तथा क्रमांक 90 होगा।

(2) जब किसी परमाणु में से एक β-कणिका निकलती है तब नवीन परमाणु का भार जनक-परमाणु के भार के बराबर ही रहता है किन्तु नाभिक का धन-आवेश 1 मात्रक बढ़ जाता है। अर्थात् क्रमांक में 1 की वृद्धि हो जाती है और आवर्त-सारिणी में वह एक स्थान आगे बढ़ जाता है। कारण यह है कि β-कणिका का भार उपेक्षणीय होता है और आवेश 1 मात्रक ऋण-चिह्नीय होता है।

Ux_1 से β-कणिका विसर्जन के द्वारा Ux_2 प्राप्त होता है। अतः Ux_2 का भार 234 तथा क्रमांक 91 होगा।

चित्र 32·06 में यह बात U—Ra श्रेणी के लिये स्पष्ट दिखलाई गई है। दूसरी श्रेणियों से भी ऐसे ही चित्र प्राप्त होते हैं।

आवर्त-सारिणी मे इन स्वोत्सर्जी तत्वों का उपर्युक्त वितरण केवल सैद्धान्तिक ही नही है। सॉडी (soddy) ने इनमे से अनेक तत्वों की रासायनिक क्रियाओं का अध्ययन किया था और वास्तव में इस अध्ययन के परिणाम स्वरूप ही उन्होंने विस्थापन के नियमों का पता चलाया था। सैद्धान्तिक सामंजस्य तो पीछे से हुआ है।

32·14—**समस्थानिक** (Isotopes)। इस सारणी को देखने से ज्ञात होता है कि कई तत्व ऐसे है जिनके परमाणु-भार में तो थोड़ा बहुत अन्तर है किन्तु फिर भी वे आवर्त सारिणी में एक ही वर्ग या स्तम्भ मे स्थित है। इन सब का क्रमांक भी एक ही है। इन्हें समस्थानिक तत्व कहते है। यद्यपि ऐसे तत्वों की उत्पत्ति के तरीके बिलकुल भिन्न-भिन्न है तथापि उनके रासायनिक गुणों में तनिक भी भेद नहीं होता। वे किसी भी रासायनिक विधि से एक दूसरे से पृथक् नही किये जा सकते। U_1 और U_2 ऐसे ही समस्थानिक हैं। Ra-B Ra-D तथा सीसा (Pb) में भी कोई रासायनिक भेद नही है। ये भी समस्थानिक है। जब ऐस्टन (Aston) ने धन-किरण विधि से स्वोत्सर्जिता-हीन साधारण शुद्ध तत्वों में भी समस्थानिकों का अस्तित्व प्रमाणित कर दिया तब तो सॉडी की इस कल्पना में कोई सन्देह का कारण ही न रहा।

इस सम्बंध में तीनों विकिरण-श्रेणिओं के अन्तिम तत्वों का मामला बड़ा मज़ेदार है। तीनों ही स्वोत्सर्जिता-हीन तत्व हैं और इन तीनों के परमाणु-भार भी प्राकृतिक

सीसे (Pb) के परमाणु भार 207 से अत्यन्त निकट हैं और तीनों ही आवर्तसारिणी के चतुर्थ-वर्ग में स्थित हैं। अतः ये तीनों सीसे ही के समस्थानिक हैं। स्वोत्सर्जी खनिजों से प्राप्त सीसे का परमाणु-भार अब रासायनिक रीति से यथार्थतापूर्वक नाप लिया गया है। इस से मालूम हुआ है कि यूरेनियम की खनिजों से प्राप्त सीसे का परमाणु-भार 206·1 होता है और थोरियम की खनिजों से प्राप्त सीसे का परमाणु-भार 208 के लगभग होता है। सैद्धान्तिक परमाणु-भारों से इन मानों की समता प्रत्यक्ष है।

32·15—**स्वोत्सर्जी तत्वों का अनुपात** (Proportion of Radio-active Elements)। ऊपर हम U तथा Ux के स्वोत्सर्जी सन्तुलन का वर्णन कर चुके हैं। ठीक उसी प्रकार तीनों स्वोत्सर्जन श्रेणिओं के अन्य तत्वों का सन्तुलन भी समझना चाहिए। इस के कारण प्रत्येक पुरानी खनिज में ये तत्व कुछ निश्चित अनुपात मे पाये जाते हैं। जिनकी औसत आयु कम होती है वे तत्व थोड़े अनुपात में उपस्थित रहते हैं और जिनकी आयु अधिक होती है वे अधिक परिमाण में पाये जाते हैं। यदि **क**, **ख**, **ग**, **घ** आदि उत्तरोत्तर उत्पन्न होने वाले तत्व हों और सन्तुलन की अवस्था में इनके परमाणुओं की संख्या क्रमशः N_1, N_2, N_3, N_4 आदि हों तथा इनके स्वोत्सर्जनांक क्रमशः $\lambda_1, \lambda_2, \lambda_3, \lambda_4$, आदि हों तो प्रत्येक सैकड में **क** से उत्पन्न होने वाले **ख** के परमाणुओं की संख्या होगी $\lambda_1 N_1$। इसी प्रकार प्रत्येक सैकंड मे टूट जाने वाले **ख** के परमाणुओं की संख्या होगी $\lambda_2 N_2$। अतः सन्तुलन होने पर

$$\lambda_1 N_1 = \lambda_2 N_2$$

इसी प्रकार अन्य तत्वों के लिये भी

$$\lambda_1 N_1 = \lambda_2 N_2 = \lambda_3 N_3 = \lambda_4 N_4$$

अतः
$$N_1 : N_2 : N_3 : N_4 = \frac{1}{\lambda_1} : \frac{1}{\lambda_2} : \frac{1}{\lambda_3} : \frac{1}{\lambda_4}$$
$$= L_1 : L_2 : L_3 : L_4$$

L_1, L_2 आदि उन परमाणुओं के अर्ध-मान-काल हैं।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि कोई तत्व यथा रेडियम किसी दूसरे तत्व (यथा यूरेनियम) से उत्पन्न होता हो तो यूरेनियम की प्रत्येक प्राचीन खनिज में रेडियम उपस्थित रहना चाहिये और यूरेनियम तथा रेडियम के परमाणुओं का अनुपात भी सर्वथा स्थिर और $\frac{N_U}{N_{Ra}} = \frac{L_U}{L_{Ra}} = \frac{5 \times 10^9}{1 \cdot 58 \times 10^3} = 3 \cdot 2 \times 10^6$ के बराबर होना चाहिये, क्योंकि U तथा Ra के अर्ध-मान-काल क्रमशः 5×10^9 तथा $1 \cdot 58 \times 10^3$

वर्ष हैं। वास्तव में रेडियम प्रत्येक प्राचीन यूरेनियम खनिज में इसी अनुपात में पाया जाता है। जिन थोड़ी सी खनिजों में अनुपात इससे भिन्न होता है वे भूगर्भ-विज्ञान की दृष्टि से आधुनिक प्रमाणित हो चुकी हैं। इससे यह बात असंदिग्ध समझी जा सकती है कि रेडियम यूरेनियम ही से उत्पन्न होता है।

32·16—**खनिजों की आयु** (Age of Minerals)। ऐल्फ़ा-कणिकाओं की गणना करके यह अच्छी तरह ज्ञात हो गया है कि स्वोत्सर्जी-सन्तुलन में स्थित यूरेनियम खनिज के प्रतिएक ग्राम में से $9{\cdot}7 \times 10^4$ α-कणिकाएँ अर्थात् हीलियम के अणु प्रति सैकंड उत्पन्न होते हैं। अतः एक वर्ष में इन हीलियम अणुओं की संख्या $9{\cdot}7 \times 10^4 \times 60 \times 60 \times 24 \times 365 = 3 \times 10^{12}$ हो जायगी। ऐवोगाड्रो (Avogadro) के नियमानुसार एक घन सम० हीलियम में $2{\cdot}7 \times 10^{19}$ अणु होने चाहिए। अतः एक वर्ष में उत्पन्न होने वाली हीलियम गैस का आयतन $1{\cdot}1 \times 10^{-6}$ घन सम० प्रति ग्राम यूरेनियम होना चाहिए। इस परिमाण की सत्यता प्रयोगात्मक रीति से प्रमाणित हो चुकी है।

अब यदि किसी खनिज में से इस हीलियम गैस के निकलने का मार्ग बन्द हो तो यह उसमें एकत्रित होती ही जायगी। ऐसे खनिजों में से इस गैस को निकालकर उसका आयतन नापने से यह भी ज्ञात हो सकता है कि कितने वर्षों तक हीलियम की उत्पत्ति उस खनिज में होती रही है। इस प्रकार अनेक खनिजों की न्यूनतम आयु का अन्दाजा किया जा सकता है। ऐसे परिकलन के द्वारा जो अनुमान लगाया गया है वह भूगर्भ-विज्ञान की दूसरी रीतियों से प्राप्त अनुमान से बहुत कुछ मिल जाता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि वास्तविक आयु इस अनुमान से अधिक भी हो सकती है क्योंकि संभव है कि कुछ हीलियम गैस निकल कर खनिज से पृथक् हो गई हो। हीलियम के अतिरिक्त अन्य भी तत्वों के द्वारा आयु का इसी प्रकार अन्दाज़ा लगाया जा सकता है।

32·17—**रेडियम का टेम्परेचर** (Temperature of Radium)। यद्यपि हम यहाँ पर रेडियम तथा अन्य स्वोत्सर्जी तत्वों के रासायनिक गुणों का वर्णन नहीं कर सकते और न उन सब प्रयोगों का वर्णन कर सकते हैं जिनके द्वारा यह प्रमाणित हुआ कि ये रासायनिक दृष्टि से तत्व ही हैं तथापि रेडियम का एक भौतिक गुण हम अवश्य बता देना चाहते हैं। रेडियम का कोई भी टुकड़ा अपना टेम्परेचर चारों ओर के पदार्थों से प्रायः 2° सेन्टीग्रेड ऊँचा कायम रखता है। इस ऊष्मा की उत्पत्ति का कारण तो प्रत्यक्ष ही है। ऐल्फ़ा-कणिकाओं में द्रव्यमान भी काफ़ी

होता है और उनका वेग भी बहुत होता है। अतः उनमें पर्याप्त परिमाण में गतिज-ऊर्जा भी होती है। बीटा तथा गामा किरणों में भी ऊर्जा होती है किन्तु अपेक्षाकृत कम। यह सब ऊर्जा रेडियम के टुकड़े ही में अवशोषित होकर ऊष्मा का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार अपनी उत्सर्ग-जात सन्तानों के साथ सन्तुलन में स्थित एक ग्राम रेडियम में से 120-130 कलारी ऊष्मा प्रति घंटा पैदा होती रहती है। यदि एक ग्राम रेडान (radon) के सम्पूर्ण तत्वान्तरण का हिसाब लगाया जाय तो ज्ञात होगा कि इस क्रिया में $2{\cdot}44 \times 10^9$ कलारी ऊष्मा पैदा होती है। रसायन विज्ञान की सबसे अधिक शक्तिशाली क्रिया हाइड्रोजन तथा आक्सिजन के संयोजन से जल का निर्माण है। इसमें केवल $3{\cdot}8 \times 10^3$ कलारी ऊष्मा एक ग्राम जल के निर्माण से उत्पन्न होती है। अतः स्वोत्सर्जन क्रिया में उत्पन्न ऊर्जा की अपेक्षा रासायनिक ऊर्जा अत्यन्त उपेक्षणीय होती है। यही कारण है कि बाह्य ऊष्मा, वैद्युत शक्ति आदि से इस क्रिया पर कुछ भी असर नहीं होता।

परिच्छेद 33

परमाणुओं का कृत्रिम विघटन तथा प्रेरित स्वोत्सर्जिता

(Artificial Disintegration of Atoms and Induced Radio-activity)

33·01—**प्रोटान** (Proton) । 1919 में जब रदरफोर्ड (Rutherford) ने सूखी नाइट्रोजन गैस में से α-कणिकाएँ चलाईं तब उन्हें यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि α-कणिकाओं की परास से बहुत अधिक दूरी (40 सम॰) पर भी प्रतिदीप्तिशील परदे पर जगमगाहट दिखलाई दी। जो कणिकाएँ यह प्रतिदीप्ति परदे पर उत्पन्न करती थी वे स्पष्टतः α-कणिकाएँ नहीं थीं। अतः यही समझना पड़ा कि नाइट्रोजन परमाणुओं से जब α-कणिका की टक्कर होती है तब कोई लम्बी परास वाली नई तरह की कणिका उत्पन्न हो जाती है। जब इन कणिकाओं का e/m नापा गया तो मालूम हुआ कि इनका द्रव्यमान तो हाइड्रोजन परमाणु के द्रव्यमान के बराबर होता है किन्तु इन पर धन-आवेश इलैक्ट्रान ही के बराबर होता है। इनका नाम प्रोटान (Proton) रख दिया गया। ये वास्तव में हाइड्रोजन परमाणु के नाभिक ही हैं। एक प्रोटान का भार वस्तुतः 1·00813 होता है। बाद में यह भी प्रमाणित हो गया कि बोरान (boron) से लेकर पोटाशियम तक जितने प्रकार के परमाणु हैं (कार्बन और आक्सिजन को छोडकर) उन सभी में से ये प्रोटान इसी प्रकार उत्पन्न किये जा सकते हैं। इलैक्ट्रान के समान ही प्रोटान भी प्रत्येक परमाणु में विद्यमान रहते हैं।

33·02—**परमाणु का कृत्रिम विघटन** (Artificial Disintegration of the Atom)। उपर्युक्त प्रयोगों से प्रोटान के आविष्कार के अतिरिक्त जो अत्यन्त महत्वपूर्ण बात मालूम हुई वह यह है कि हम कृत्रिम उपाय से भी परमाणु का विघटन कर सकते हैं और उनसे दूसरे नये परमाणु उत्पन्न कर सकते हैं। प्रोटान की उत्पत्ति का कारण स्पष्ट यह मालूम होता है कि जब कभी α-कणिका जाकर नाइट्रोजन आदि के परमाणु के नाभिक पर सीधी टक्कर मारती है तभी वह परमाणु टूट जाता है। α-कणिका बन्दूक की गोली की तरह अत्यन्त तीव्र वेग से परमाणु पर चोट करती है। इतनी शक्तिशाली चोट परमाणु पर हम अन्य भौतिक या रासायनिक विधि से नहीं लगा सकते।

नाइट्रोजन के टूटने की क्रिया को हम निम्न समीकरण के द्वारा व्यक्त कर सकते हैं

$$_7N^{14}+{_2He^4}\rightarrow{_8O^{17}}+{_1H^1}$$
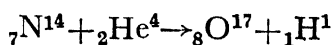
अर्थात् एक नाइट्रोजन नाभिक $_7N^{14}$ (भार=14; आवेश=7) और एक α-कणिका $_2He^4$ (भार=4; आवेश=2) मिल कर एक आक्सिजन नाभिक $_8O^{17}$ (भार =17; आवेश=8) तथा एक प्रोटान $_1H^1$ (भार=1; आवेश=1) पैदा कर देते हैं। इस समीकरण के दोनों पक्षों में परमाणुओं के आवेशों तथा भारों के जोड़ बराबर हैं। अर्थात् इस विघटन से न तो समस्त भार में कोई कमी होती है और न आवेश में।

इसी प्रकार सोडियम के विघटन से मैगनीशियम उत्पन्न होता है

$$_{11}Na^{23}+{_2He^4}\rightarrow{_{12}Mg^{26}}+{_1H^1}$$
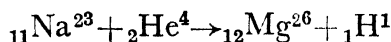
1932 में कॉक-क्रॉफ्ट (Cockcroft) तथा वाल्टन (Walton) ने इन तीव्र-वेग-शाली प्रोटानों की टक्कर देकर भी लीथियम जैसे परमाणुओं का विघटन करने में सफलता प्राप्त कर ली।

$$_3Li^7+{_1H^1}=2\ {_2He^4}$$
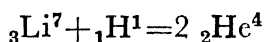
और अब तो इसी क्रिया के द्वारा पारे से सुवर्ण भी बन गया है।

$$_{80}Hg^{200}+{_1H^1}\rightarrow{_{79}Au^{197}}+{_2He^4}$$
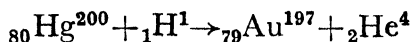
33·03—**न्यूट्रान** (Neutron)। 1930 में जब ऐसे ही प्रयोग बैरीलियम (berylium) परमाणु पर किये गये तब उसमें से बहुत अधिक वेधनशील उत्सर्जन प्राप्त हुआ। पहले तो यह समझा गया कि ये γ-किरणें हैं। किन्तु 1932 में चैडविक (Chadwick) ने प्रमाणित कर दिया कि ये भी एक नवीन प्रकार की कणिकाएँ हैं। इनका भार 1·00893 (लगभग प्रोटान के बराबर ही, थोड़ा सा अधिक) होता है किन्तु इन पर आवेश कुछ भी नहीं होता। अनाविष्ट होने के कारण परमाणु के गर्भ में प्रविष्ट हो जाने पर भी न तो ये परमाणु के इलैक्ट्रान पर कोई प्रभाव डालती हैं और न इन पर नाभिक का प्रतिकर्षण बल लगता है। फलतः ये बिना रुकावट परमाणु के भीतर से पार हो जाती हैं और इनके द्वारा आयनीकरण भी नहीं होता। किन्तु जब इनकी सीधी टक्कर नाभिक से हो जाती है तब वह टूट जाता है। इनका नाम न्यूट्रान (neutron) रख दिया गया। इनकी उत्पत्ति की क्रिया निम्नलिखित होती है।

$$_4Be^9+{_2He^4}\rightarrow{_6C^{12}}+{_0n^1}$$
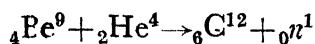
इसमें $_0n^1$ न्यूट्रान का संकेत है (भार=1; आवेश=0)। इसी प्रकार Li, *B*. आदि तथा N से भी न्यूट्रान उत्पन्न होते हैं। ये तभी उत्पन्न होते हैं जब α-कणिका अधिक वेगवाली हो। यदि वे कम वेग वाली हों तब तो परमाणु में से पूर्वकथनानुसार प्रोटान ही निकलता है।

इस न्यूट्रान के आविष्कार से एक तो लाभ यह हुआ है कि हमें परमाणुओं के विघटन के लिए अत्यन्त शक्तिशाली भंजक कणिका प्राप्त हो गई है। इसी की सहायता से अनेक परमाणुओं का विघटन अब आसानी से हो जाता है। दूसरा महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि इलैक्ट्रानों तथा प्रोटानों के समान हो सभी परमाणुओं में न्यूट्रानों की उपस्थिति भी प्रमाणित हो गई है।

33·04—**परमाणु-नाभिक की बनावट** (Structure of the Nucleus)। इस समय परमाणु-नाभिक प्रोटान तथा न्यूट्रान इन्ही दो प्रकार की कणिकाओं के द्वारा बना हुआ समझा जाता है। क्रमांक Z के बराबर तो संख्या प्रोटानों की होती है। इन्ही से नाभिक का धन-आवेश प्राप्त होता है। शेष भाग न्यूट्रानों का होता है। यदि किसी परमाणु का भार *A* हो तथा क्रमांक Z हो तो उसमें Z प्रोटान तथा A—Z न्यूट्रान होते हैं।

इस आविष्कार के पहिले यह समझा जाता था कि नाभिक में *A* प्रोटान तथा Z ऋणाविष्ट इलैक्ट्रान होते हैं। किन्तु इस परिकलपना मे कई कठिनाइयाँ थीं। और अब तो सिद्धान्ततः यह प्रमाणित भी हो गया है कि नाभिक में इलैक्ट्रानों का अस्तित्व हो ही नही सकता।

अतः अब हमें यह मानना पड़ता है कि α-कणिका या हीलियम-नाभिक में 2 प्रोटान तथा 2 न्यूट्रान होते हैं। ड्यूटान (deuton) या ड्यूटरान (deuteron) $_1D^2$ के नाभिक में एक प्रोटान तथा एक न्यूट्रान होते हैं। यह वास्तव में $_1H^2$ है और इसीलिए भारी हाइड्रोजन (heavy hydrogen) कहलाता भी है। और $_1H^3$ में एक प्रोटान तथा 2 न्यूट्रान। ये दोनों हाइड्रोजन के समस्थानिक हैं। इसी प्रकार अन्य तत्वों के समस्थानिकों में भी केवल न्यूट्रानों की संख्या ही का फ़र्क रहता है। प्रोटानों की संख्या सब में बराबर होती है और इसी कारण उनके नाभिकों का आवेश तथा उनका क्रमांक भी एक ही होता है।

यह शंका होना स्वाभाविक है कि जब नाभिक में केवल धनाविष्ट प्रोटान ही रहते हैं और कोई ऋण-आवेश उसमें नहीं होता तो पारस्परिक प्रतिकर्षण होने पर भी ये प्रोटान उसमें टिके कैसे रहते हैं। इसका समाधान आइन्सटाइन के प्रसिद्ध आपेक्षिकीय समीकरण $E=mc^2$ के द्वारा हुआ है।

α-कणिका में 2 प्रोटान और 2 न्यूट्रान होते हैं। इसका भार होना चाहिए $2\times 1{\cdot}00813+2\times 1{\cdot}00893=4{\cdot}03412$। किन्तु वास्तव में वह होता है $4{\cdot}00389$। अर्थात् जब 2 प्रोटान तथा 2 न्यूट्रान मिलकर एक α-कणिका का निर्माण करते हैं तो भार में ·03023 की कमी हो जाती है।

अतः इतना द्रव्यमान ऊर्जा मे परिणत हो जाता है और यह ऊर्जा कणिका मे बाहर निकल जाती है। विपरीत इसके α-कणिका को तोड़ने के लिए इतनी ही ऊर्जा उसमें बाहर से प्रविष्ट करानी पड़ेगी।

आइन्स्टाइन के समीकरण मे स्पष्ट है कि इस ऊर्जा का परिमाण बहुत बड़ा होता है। ऊपर इन कणिकाओं के जो भार दिये गये हैं वे परमाणु-भार मात्रकों में है। एक परमाणुभार मात्रक=एक हाइड्रोजन-परमाणु का द्रव्यमान$=1{\cdot}6609\times 10^{-24}$ ग्राम। अतः इस मात्रक के बराबर ऊर्जा

$$E=1{\cdot}66\times 10^{-24}\times (3\times 10^{10})^2$$
$$=1{\cdot}49\times 10^{-3} \text{ अर्ग}$$

और α-कणिका की निर्माण-ऊर्जा$=03023\times 1{\cdot}49\times 10^{-3}=4{\cdot}48\times 10^{-5}$ अर्ग। किन्तु इस संख्या से यह अन्दाज़ा नही होता कि इतनी ऊर्जा उसमें प्रविष्ट कराने में कठिनाई कितनी होगी।

एक इलैक्ट्रान में V वोल्ट विभवान्तर से उत्पन्न ऊर्जा होगी $eV\times 10^8$ अर्ग।
किन्तु इलैक्ट्रान-आवेश$=e=1{\cdot}60\times 10^{-20}$ वि० चु० मा०
$\therefore$ ऊर्जा$=1{\cdot}60\times 10^{-20}\times 10^8=1{\cdot}60\times 10^{-12}$ अर्ग प्रति वोल्ट
इस ऊर्जा का नाम है एक इलैक्ट्रान-वोल्ट (electron-volt)।

यह भी ऊर्जा का एक मात्रक है। इस मात्रक (eV) के द्वारा यदि हीलियम नाभिक की निर्माण-ऊर्जा E को नापा जाय तो

$$E=\frac{4{\cdot}48\times 10^{-5}}{1{\cdot}60\times 10^{-12}}$$
$$=28\times 10^6\ eV$$
$$=28\ MeV \qquad [1\,MeV=10^6\ eV]$$

अर्थात् यदि विभवान्तर 28×10^6 या लगभग तीन करोड़ वोल्ट उत्पन्न किया जाय तब ही इलैक्ट्रान में इतनी ऊर्जा उत्पन्न हो सकती है जो α-कणिका को तोड़ सके। साधारण उपायों से इतना अधिक विभवान्तर इलैक्ट्रानों पर लगाना सम्भव नहीं है। यही कारण है कि α-कणिका बहुत स्थायी होती है। किन्तु अब कई ऐसे यंत्र बना लिये

गये हैं जिनके द्वारा बिना इतने विभवान्तर के ही इलैक्ट्रानों को इतने वेग से चलाया जा सकता है कि वे स्थायी परमाणु-नाभिकों को अपनी टक्कर से तोड़ सकें। इन यंत्रों का वर्णन यहां नहीं किया जा सकता। केवल नाम ही देकर सन्तोष किया जायगा। साथ में इनसे उत्पन्न महत्तम इलैक्ट्रान-वोल्ट की संख्या भी दे दी गई है।

(1) वान डी ग्राफ़ (Van De Graaff) का स्थिर-वैद्युत जनित्र (electrostatic generator) $5 \times 10^6\ eV.$

(2) विभव-गुणक (Voltage Multiplier) $2 \times 10^6\ eV.$

(3) साइक्लोट्रोन (Cyclotron) $24 \times 10^6 eV.$

बीटाट्रोन (Betatron) तथा साइक्लोसिन्क्रोट्रोन (Cyclo-synchrotron) भी साइक्लोट्रोन ही के अधिक शक्तिशाली रूपान्तर हैं।

इसके अतिरिक्त इलैक्ट्रानों के स्थान में अन्य आविष्ट-नाभिकों का भी इन यंत्रों में उपयोग किया जाता है क्योंकि वे भारी होते हैं और उन पर आवेश भी अधिक होता है। इस प्रकार अब हमारे परमाणु-भजक शस्त्रागार में कई प्रकार की बन्दूकें (उपर्युक्त यंत्र) तथा कई प्रकार की गोलियां (इलैक्ट्रान, प्रोटान, न्यूट्रान, α-कणिका तथा अन्य नाभिक) एकत्रित हो गये हैं जिनसे प्रायः सभी परमाणुओं को तोड़ने में सफलता प्राप्त हो गई है।

33·05—**प्रेरित अथवा कृत्रिम स्वोत्सर्जिता** (Induced Radio-activity)। उपर्युक्त उपायों से परमाणुओं का विघटन करने पर 1934 में प्रोफ़ेसर तथा श्रीमती जोलियो-क्यूरी (Joliot-Curie) ने यह देखा कि ऐल्यू-मिनियम तथा मैगनीशियम में α-कणिकाओं के आघात के कारण स्वोत्सर्जिता उत्पन्न हो जाती है। अर्थात् उनमें से आयनीकारक किरणें स्वतः ही उत्सर्जित होने लगती हैं। बात यह पाई गई कि इन परमाणुओं के विघटन से जो नये परमाणु बने वे स्वोत्सर्जी थे। विघटन-क्रिया के समीकरण निम्नलिखित पाये गये हैं।

$$_{13}Al^{27} + {_2}He^4 \rightarrow {_{15}}P^{30} + {_0}n^1$$
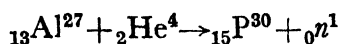
यह P^{30} स्वोत्सर्जी है। इसे रेडियो-फ़ास्फ़रस कहते हैं और इसका अर्ध-मान-काल 3·25 मिनट है। इसके विघटन से सिलिकन पैदा हो जाता है और एक बहुत हलकी

धनाविष्ट कणिका भी निकलती है जिसका नाम पाज़िट्रान (positron) रख दिया गया है।

$$_{15}P^{30} \rightarrow {}_{14}Si^{30} + {}_{1}p^{0}$$
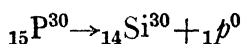
इस पाज़िट्रान का भार इलैक्ट्रान ही के भार के बराबर होता है और इस पर इलैक्ट्रान के बराबर ही किन्तु धन-चिन्हीय आवेश होता है। इसे धन-इलैक्ट्रान (positive electron) भी कहते हैं।

सोडियम से साइक्लोट्रोन द्वारा त्वरित ड्यूट्रान के आघात से इसी प्रकार रेडियो-सोडियम उत्पन्न हुआ। इसका अर्ध-मान-काल 15 घंटे है।

$$_{11}Na^{23} + {}_{1}H^{2} \rightarrow {}_{11}Na^{24} + {}_{1}H^{1}$$
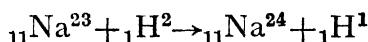
इस रेडियो-सोडियम में से β-कणिका अथवा इलैक्ट्रान $({}_{-1}e^{0})$ तथा γ-किरणें निकलती हैं

$$_{11}Na^{24} \rightarrow {}_{12}Mg^{24} + {}_{-1}e^{0} + \gamma$$

रेडियो-सोडियम उत्पन्न करने का एक दूसरा उपाय है ऐल्यूमिनियम पर कम वेग वाले न्यूट्रान की क्रिया

$$_{13}Al^{27} + {}_{0}n^{1} \rightarrow {}_{11}Na^{24} + {}_{2}He^{4}$$
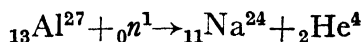
इसका आविष्कार फ़र्मी (Fermi) ने किया था।

रेडियो-कार्बन $_{6}C^{14}$ तथा रेडियो-कैडमियम $_{48}Cd^{60}$ भी इसी प्रकार प्राप्त हुए हैं।

इस प्रकार कृत्रिम रीति से जो स्वोत्सर्जिता उत्पन्न होती है उसे प्रेरित अथवा कृत्रिम स्वोत्सर्जिता (induced radio-activity) कहते हैं।

अब न्यूट्रानों के आघात के द्वारा प्रायः समस्त तत्वों के स्वोत्सर्जी रूप कृत्रिम रीति से बनाये जा सकते हैं। ये बड़े काम के सिद्ध हुए हैं। Ca^{60} से तो ऐक्स-किरण-नलिका का काम लिया जाता है और उसकी γ-किरणों से विद्युत्-धारा के बिना ही शरीर के अवयवों के फ़ोटो खींच लिये जाते हैं और कैन्सर (cancer) का इलाज भी हो सकता है। Na^{24}, P^{30} तथा I^{131} के द्वारा यह पता चला लिया जाता है कि शरीर में औषधियों का संचार कितनी देर में किस-किस अंग में होता है और कहां-कहां वे संचित रह सकती हैं। शरीर में इनके अस्तित्व को देखने के लिये गाइगर-गणित्र (अनु० 32·03) को शरीर के पास रखना ही काफ़ी होता है। अन्य भी अनेक लाभ-

कारी उपयोग इस प्रेरित स्वोत्सर्जिता के मालूम होते जा रहे हैं। कृषि सम्बंधी अनुसन्धानों में भी इसका महत्व पूर्ण उपयोग किया गया है।

33·06—**नाभिक का विखंडन** (Nuclear Fission)। अब तक जिस परमाणु-विघटन का वर्णन किया गया है उसमें नाभिक में से एक अत्यन्त छोटी कणिका मात्र अलग होती है और शेष नाभिक लगभग ज्यों का त्यों ही रहता है। किन्तु 1939 में जर्मन विद्वान हान (Hahn) ने यूरेनियम के नाभिक को भारी-भारी दो टुकड़ों में विखडित करने में सफलता प्राप्त कर ली। इसमें अत्यन्त तीव्र वेग वाले न्यूट्रानों से नाभिक पर आघात किया गया था।

$$_{92}U^{238}+{}_0n^1\rightarrow{}_{56}Ba^{148}+{}_{36}Kr^{88}+3{}_0n^1$$
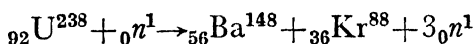
एक टुकड़ा बेरियम-नाभिक तथा दूसरा क्रिप्टन-नाभिक प्रमाणित हुआ। नाभिक के इस प्रकार टूटने को विखंडन (fission) कहते हैं।

ऐसा नही समझना चाहिए कि U के टूटने पर सदैव Ba तथा Kr ही प्राप्त होते हैं। U अनेक प्रकार से टूट सकता है और उससे अनेक तरह के परमाणु बन जाते हैं। U^{235} के विखंडन लिये बहुत कम वेगवाले न्यूट्रानों की आवश्यकता होती है।

विखंडन के लिए यूरेनियम के तीन समस्थानिकों मे से U^{235} ही अधिक उपयोगी है। U^{238} और U^{234} इतने नहीं। किन्तु दुर्भाग्यवश जो यूरेनियम खनिज पृथ्वी में पाये जाते हैं उनमें U^{235} प्राय: 0·7% से अधिक नही होता। अत: जब तक इन U^{235} के परमाणुओं को अन्य परमाणुओं से पृथक् न कर दिया जाय तब तक प्रचुर मात्रा मे ऐसा विखंडन नहीं हो सकता। अब तो U^{235} के अतिरिक्त थोरियम Th^{232} तथा अन्य भी कई प्रकार के परमाणुओं का विखंडन संभव हो गया है।

33·07—**परमाणु-ऊर्जा** (Atomic Energy)। यूरेनियम के इस विखंडन के साथ ही ऊर्जा भी बड़ी प्रचुर मात्रा मे प्रगट होती है। इसका कारण भी द्रव्यमान का लोप है। U^{235} के विखंडन का एक रूप यह है

$$_{92}U^{235}\rightarrow Cs^{133}+Ru^{99}+3{}_0n^1$$
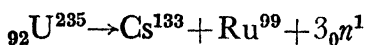
इन U, Cs, तथा Ru परमाणुओं के तथा तीन न्यूट्रानों के यथार्थ भार है क्रमश: 235·128, 132·942, 98·933 तथा 3×1·00893। अत: Gs और Ru तथा तीनों न्यूट्रानों का सम्मिलित भार होगा 234·902।

अर्थात् लुप्त-भार$=235\cdot128-234\cdot902$
$=0\cdot226$ परमाणुभार मात्रक

अतः ऊर्जा$=0\cdot226\times1\cdot49\times10^{-3}=3\cdot36\times10^{-4}$ अर्ग

$$=\frac{3\cdot36\times10^{-4}}{1\cdot60\times10^{-12}}=210\times10^{6}eV=210MeV.$$

यह U^{235} के केवल एक परमाणु से अर्थात् $235\times1\cdot66\times10^{-24}$ ग्राम से प्राप्त ऊर्जा है। अतः 1 ग्राम U^{235} से प्राप्त ऊर्जा होगी

$$\frac{3\cdot36\times10^{-4}}{235\times1\cdot66\times10^{-24}}=8\cdot6\times10^{17}\text{ अर्ग}=24000\text{ किलोवाट-घंटा}$$

स्पष्ट है कि 1 ग्राम यूरेनियम के द्वारा 32 अश्व-शक्ति का इंजन लगभग 1000 घंटे तक चलाया जा सकता है।

33·08—**श्रृंखलित क्रिया** (Chain Reaction)। U^{235} के विखंडन का जो समीकरण ऊपर दिया गया है उसमें एक और बात भी महत्वपूर्ण है। एक परमाणु के विखंडन से 3 नये न्यूट्रान पैदा हो जाते हैं। ये न्यूट्रान भी यथा समय 3 परमाणुओं का विखडन कर देते हैं और तब $3\times3=9$ नये न्यूट्रान और पैदा हो जाते हैं। इस प्रकार एक ही न्यूट्रान से विखडन का प्रारम्भ हो जाने पर उत्तरोत्तर नये-नये न्यूट्रानों की उत्पत्ति का एक शृंखला-क्रम बन जाता है और टूटने वाले परमाणुओं की संख्या भी उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। यदि U^{235} के विखंडन में नये न्यूट्रान न पैदा होते तो यह क्रिया स्वयमेव चल नहीं सकती थी। प्रत्येक परमाणु के विखंडन के लिए लगातार बाहर से न्यूट्रान यूरेनियम में प्रविष्ट कराते रहना संभव नहीं होता।

इस शृंखलित क्रिया के कारण यूरेनियम पिंड में न्यूट्रानों की संख्या बराबर बढ़ती जाती है। यदि पिंड छोटा हो तो थोड़ी ही देर में न्यूट्रान उसमें से बाहर निकलने लगते हैं और तब पिंड में विद्यमान न्यूट्रानों की संख्या का बढ़ना भी बन्द हो जाता है। किन्तु यदि पिंड बड़ा हो तो इस सन्तुलन के प्राप्त होने से पहिले ही न्यूट्रानों की संख्या बहुत बढ़ जाती है और ऊर्जा इतनी अधिक पैदा हो जाती है कि समस्त यूरेनियम का विस्फोट हो जाता है। एक बार प्रारम्भ हो जाने पर इस क्रिया का नियंत्रण नहीं हो सकता।

33·09—**परमाणु-बम** (Atom Bomb)। उपर्युक्त अनियंत्रित क्रिया के द्वारा भयंकर विस्फोट उत्पन्न करने के लिए गत विश्वयुद्ध में बम बनाये गये थे

जिन्हे परमाणु-बम कहते हैं। मोटे तौर से इसमें दो U^{235} के टुकड़े पृथक्-पृथक् रहते हैं। प्रत्येक टुकड़े में न्यूट्रान स्वतः ही पैदा होते रहते हैं। किन्तु जब तक ये टुकड़े अलग रहते हैं तब तक तो कुछ नहीं होता किन्तु जब किसी उपाय स इन्हें जोड़ कर बड़ा पिंड बना दिया जाता है तभी क्षणमात्र में समस्त पिंड का विस्फोट हो जाता है। बहुत हल्के से बम के द्वारा ही लाखों टन टी० एन० टी० के बराबर विध्वंस कार्य हो जाता है।

33·10—**हाइड्रोजन-बम** (Hydrogen Bomb)। इसमें परमाणु-बम से उलटी क्रिया होती है। चार H-परमाणुओं के संघटन (fusion) के द्वारा जब He-परमाणु का निर्माण होता है तब हम देख चुके हैं कि बहुत अधिक ऊर्जा उत्पन्न होती है। हाइड्रोजन-बम में इस निर्माण क्रिया का उपयोग किया जाता है। परमाणु-विघटन का नही।

इस क्रिया के लिए प्रायः 20 लाख डिगरी के टैम्परेचर की आवश्यकता होती है। परमाणु-बम के विस्फोट में इतना उच्च टेम्परेचर उत्पन्न हो जाता है। अतः हाइड्रोजन बम की क्रिया आरम्भ करने के लिए परमाणु-बम की भी आवश्यकता होती है। इसकी सहायता से हाइड्रोजन का टेम्परेचर बढ़ जाने पर हीलियम की उत्पत्ति होने लगती है और उसी से टेम्परेचर और बढ़ता है। इसमें भी शृंखलित क्रिया होने लगती है।

यह बम परमाणु-बम से भी अधिक भयंकर होता है। इसकी शक्ति U-बम की अपेक्षा 1000 गुणी अधिक हो सकती है।

संभवतः सूर्य मे इसी क्रिया के द्वारा ऊर्जा उत्पन्न होती है। सूर्य के गर्भ में इसके लिए आवश्यक टेम्परेचर विद्यमान है। इस परमाणु-संघटन क्रिया को ताप-नाभिक (thermo-nuclear) क्रिया भी कहते हैं।

33·11—**नियंत्रित शृंखलित-क्रिया** (Controlled Chain Reaction)। यदि किसी उपाय से नवीन न्यूट्रानों की उत्पत्ति को नियंत्रित कर दिया जाय तो परमाणु विखंडन की क्रिया कम वेग से होगी और ऊर्जा की उत्पत्ति इतने वेग से न हो सकेगी कि विस्फोट हो जाय। तब इस ऊर्जा का उपयोग मशीनों के चलाने के लिए किया जा सकता है और विध्वंस के स्थान में इस ऊर्जा स लाभकारी काम लिया जा सकता है।

इस कार्य के लिए जो व्यवस्था की गई है उसे परमाणु-भट्टी, या परमाणु·पाइल (atomic pile) अथवा रिऐक्टर (reactor) कहते हैं। इसमें यूरेनियम का एक पिंड नहीं होता। उसके स्थान में अनेक छड़ें दूर-दूर पर यथा-क्रम लगी रहती

हैं। उनके बीच-बीच में कैडमियम की छड़ें लगा दी जाती हैं। और जो जगह बच रहती है उसमें ग्रैफाइट (graphite), भारी-जल (heavy water) आदि ऐसे पदार्थ भर दिये जाते हैं जिनमे टकरा कर न्यूट्रानों का वेग घट जाता है। इन्हें मंदकारी (moderator) द्रव्य कहते हैं। परमाणु-भट्टी में कैडमियम छड़ों की संख्या को घटा-बढ़ा कर ऊर्जा की उत्पत्ति का नियंत्रण किया जा सकता है।

अब ऐसी परमाणु-भट्टियां बना कर उनकी ऊर्जा से इंजन, डायनमो आदि चलाने का काम होने लगा है। टनों कोयले तथा पेट्रोलियम के स्थान में अब केवल थोड़े से यूरेनियम अथवा विखंडन के लिए उपयुक्त किसी अन्य द्रव्य से बड़े बड़े कारखाने चलाये जा सकते हैं। शहरों में बिजली का प्रकाश किया जा सकता है। जहाज़ और रेलें भी चलाई जा सकती है। अब तक यह डर था कि जब हमारी खानों का कोयला या तेल समाप्त हो जायगा तब ये कल कारखाने कैसे चलेंगे। यह डर अब नही है क्योंकि यूरेनियम, थोरियम आदि प्रचुर मात्राओं में उपलब्ध है।

किन्तु इन भट्टियों से मनुष्य को खतरा भी बहुत है। इनमें से इतनी स्वोत्सर्जी किरणें निकलती हैं कि यदि वे मनुष्य के शरीर पर पड़े तो मृत्यु ही हो जाय। अतः इनके चारों ओर ऐसी मोटी दीवार बनाई जाती है जिसमे से ये स्वोत्सर्जी किरणें निकल न सकें और मनुष्य को इन दीवारों से बाहर बहुत दूर ही से इनकी देखभाल तथा इनकी ऊर्जा का नियंत्रण करना पड़ता है।

ऊर्जा की उत्पत्ति के अतिरिक्त इन परमाणु-भट्टियों से अनेक उपयोगी कार्य किये जाते हैं। सबसे महत्वपूर्ण कार्य तो कृत्रिम रीति से नये-नये समस्थानिकों की उत्पत्ति है। यह बताया जा चुका है कि न्यूट्रानों के द्वारा कृत्रिम स्वोत्सर्जिता उत्पन्न हो सकती है। इन भट्टियों मे न्यूट्रानों की बहुलता होती है। अतः इनमें साधारण स्वोत्सर्जनहीन पदार्थों को रख देने ही से वे स्वोत्सर्जी पदार्थों में परिणत हो जाते हैं।

33·12—यूरेनियम से उत्तरवर्ती तत्व (Trans-uranic Elements)। न्यूट्रानों की टक्करों के द्वारा यूरेनियम से भी अधिक परमाणु-भार वाले कई तत्व उत्पन्न कर लिये गये हैं। ये तत्व प्रकृति में नहीं पाये जाते क्योंकि स्थायी नहीं होते। इस कारण आवर्तसारिणी अब अधिक बढ़ गई है। इन तत्वों के नाम तथा एक-एक उत्पादन विधि नीचे संक्षेप में दी जाती है

(1) नेपट्यूनियम (Neptunium)—$_{93}Np^{239}$

$$_{92}U^{238}+{}_0n^1 \rightarrow {}_{92}U^{239} \rightarrow {}_{93}Np^{239}+{}_{-1}e^0$$
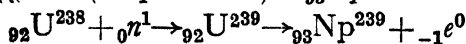
(2) प्लूटोनियम (Plutonium)—$_{94}Pu^{239}$

$$_{93}Np^{239} \rightarrow {}_{94}Pu^{239}+{}_{-1}e^0$$
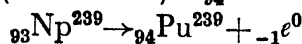
परमाणु-बम बनाने में Pu अधिक काम आता है क्योंकि यह U^{238} मे प्राप्त हो जाता है और U^{235} की अपेक्षा U^{238} अधिक मात्रा में उपलब्ध है। Pu का एक सम-स्थानिक $_{94}Pu^{241}$ भी होता है।

(3) अमेरीसियम (Americium)—$_{95}Am^{241}$

$$_{94}Pu^{241} \rightarrow {}_{95}Am^{241} + {}_{-1}e^0$$
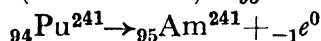
(4) क्यूरियम (Curium)—$_{96}Cm^{240}$ तथा $_{96}Cm^{242}$

$$_{94}Pu^{239} + {}_2He^4 \rightarrow {}_{96}Cm^{242} + {}_0n^1$$
$$\rightarrow {}_{96}Cm^{240} + 3{}_0n^1$$
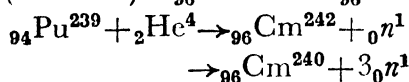
(5) बर्कीलियम (Berkelium)—$_{97}Bk^{243}$

$$_{95}Am^{239} + {}_2He^4 \rightarrow {}_{97}Bk^{243}$$
$$_{95}Am^{241} + {}_2He^4 \rightarrow {}_{97}Bk^{243} + 2{}_1n^0$$
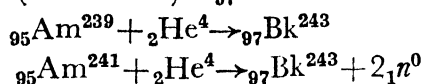
(6) कैलीफोर्नियम (Californium)—$_{98}Cf^{244}$

$$_{96}Cm^{242} + {}_2He^4 \rightarrow {}_{98}Cf^{244} + 2{}_0n^1$$
$$_{92}U^{238} + {}_6C^{12} \rightarrow {}_{98}Cf^{244} + 6{}_0n^1$$
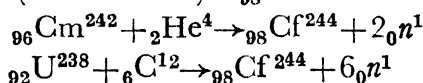
33·13—**अंतरिक्ष किरणें** (Cosmic Rays)। यह देखा गया है कि यद्यपि किसी स्वर्णपत्र-विद्युत्-दर्शी को कितनी ही अच्छी तरह विलागित क्यों न कर दिया जाय फिर भी उसका आवेश धीरे-धीरे कम हो जाता है। यद्यपि बहुत मोटे सीसे के बक्स में विद्युत्-दर्शी बन्द हो तथा कोई भी आयनीकारक वस्तु उस बक्स में प्रवेश न कर सके तब भी आवेश घटता ही है। अर्थात् उसमें उपस्थित वायु का आयनी-करण होता ही रहता है। संभव है कि विद्युत्-दर्शी की दीवारों पर ही कोई स्वोत्सर्जी पदार्थ चिपके हों। किन्तु जब विद्युत्-दर्शी को गहरी झील के पानी में बहुत नीचे डुबाया गया तो देखा गया कि पहले तो ज्यों-ज्यों यह अधिक गहराई पर पहुँचता गया त्यों-त्यों आवेश घटने की दर कम होती गई परन्तु बाद में यह दर स्थिर हो गई। यह अवशिष्ट आयनीकरण तो निस्सन्देह विद्युत्-दर्शी में चिपके हुए स्वोत्सर्जी पदार्थों के कारण होता है किन्तु जो आयनीकरण झील में डूबने से घटता जाता था वह अवश्य ही झील के ऊपर की ओर से नीचे आने वाली किसी प्रकार की अत्यन्त वेधनशील किरणों के कारण उत्पन्न हुआ होगा।

इसके बाद ऊँचे पहाड़ की चोटियों पर तथा बैलून के द्वारा बड़ी ऊंचाई पर विद्युत्-दर्शी को ले जाने पर पता चला कि ज्यों-ज्यों ऊँचाई बढ़ती है त्यों-त्यों इन विलक्षण किरणों की तीव्रता भी बढ़ती जाती है। यहाँ तक कि करीब 15 मील

ऊंचाई पर यह तीव्रता 150 गुणी से भी अधिक हो जाती है। स्पष्ट है कि इनका उद्गम स्थान पृथ्वी पर नहीं है। ये पृथ्वी से बाहर कहीं उत्पन्न होती हैं।

दिन और रात का भी इनकी तीव्रता पर कोई असर नहीं होता। अतः ये सूर्य से भी नही आतीं। वस्तुतः ऐसी कोई बात नही पाई गई जिससे यह कहा जा सके कि ये किसी दिशा विशेष ही से आती हैं। चारों ओर से ये एक-समान आती मालूम होती हैं। इसीलिए इनका नाम अंतरिक्ष किरणें (cosmic rays) रख दिया गया।

जल और सीसे आदि में इनके अवशोषण के अध्ययन से अदाजा लगाया गया है कि यदि ये वास्तव में किरणें ही हों तो इनका तरंग-दैर्घ्य गामा किरणों की अपेक्षा कम स कम एक हज़ार गुणा तो कम होना ही चाहिए।

पृथ्वी पर विभिन्न अक्षांशों (latitudes) पर परीक्षा करने से ज्ञात हुआ कि बराबर ऊँचाई पर भी पृथ्वी के चुम्बकीय ध्रुवों पर इन किरणों की तीव्रता अधिकतम होती है और चुम्बकीय निरक्ष (equator) पर सबसे कम। इसका कारण पृथ्वी का चुम्बकीय क्षेत्र है और इससे यह प्रगट होता है कि इन किरणों का बहुत सा भाग आविष्ट कणिकामय होता है। इसके अतिरिक्त यह भी मालूम हुआ है कि पश्चिम की ओर से आने वाली कणिकाओं की संख्या पूर्व की ओर से आने वाली कणिकाओं की अपेक्षा अधिक होती है। अतः ये कणिकाएँ अधिकतर धनाविष्ट होती हैं। इन प्राथमिक धनाविष्ट किरणों के अतिरिक्त वायु-मंडल में इनके द्वारा द्वैतीयिक किरणें भी पैदा हो जाती हैं। वस्तुतः इन्हीं द्वैतीयिक किरणों की ही बहुलता होती है। 15 मील की ऊँचाई पर भी ये प्राथमिक किरणों से 15—20 गुणी अधिक मात्रा में उपस्थित रहती हैं। इनकी उत्पत्ति का कारण यह है कि वायु में उपस्थित परमाणु-नाभिक से टकरा कर प्राथमिक किरणें उसे तोड़ देती हैं और ये टूटे अंश अन्य परमाणुओं से टकरा कर द्वैतीयिक कणिकाएँ उत्पन्न कर देते हैं और अत्यन्त वेधनशील गामा किरणें भी उत्पन्न कर देते हैं।

33·14—**मेसान** (Meson)। अब यह प्रमाणित हो गया है कि अंतरिक्ष किरणों में इलैक्ट्रान की अपेक्षा 100—300 गुणी भारी भी कुछ कणिकाएँ होती हैं और कुछ तो और भी भारी होती हैं। इलैक्ट्रान और प्रोटान के बीच की ऐसी कणिकाओं के अस्तित्व की संभावना सैद्धान्तिक दृष्टि से सबसे पहले जापानी वैज्ञानिक युकावा (Ukawa) ने प्रमाणित की थी। प्रयोगात्मक प्रमाण 1937 में प्राप्त हुआ। इन कणिकाओं को भारी इलैक्ट्रान (heavy electron) तथा मेसोट्रान (mesotron) भी कहते हैं। किन्तु अब अधिक प्रचलित नाम मेसान (meson)

ही है। इनकी आयु अत्यन्त छोटी अर्थात प्रायः 2×10^{-6} सेकंड ही होती है। तो भी विलसन के अभ्र-कोष्ठ में इनके पथो के चित्र लेने मे सफलता प्राप्त हो चुकी है और इनके द्वारा यह भी पता चल गया है कि कुछ मेसान धनाविष्ट होते है और कुछ ऋणाविष्ट तथा जब भी इनकी उत्पत्ति होती है तब विपरीत चिह्नीय आवेश वाले दो मेसानों का एक जोड़ा साथ ही उत्पन्न होता है। ये मेसान कई प्रकार के पाये गये है जिनके भार तथा ऊर्जा विभिन्न परिमाण के होते हैं। उन सब का वर्णन यहां नहीं किया जा सकता।

33·15—**पाज़िट्रान** (Positron) अभ्र-कोष्ठ के इन्ही प्रयोगों से सर्व प्रथम पाज़िट्रान का आविष्कार 1932 में ऐन्डरसन (Anderson) ने किया था। बाद मे तो ये न्यट्रान की टक्कर से कृत्रिम रूप से भी उत्पन्न कर लिये गये थे (अनु० 33·05)। ये धनाविष्ट इलैक्ट्रान द्रव्यमान तथा आवेश में बिलकुल इलैक्ट्रान ही के बराबर होते हैं। इनकी आयु अत्यन्त ही छोटी अर्थात् लगभग 10^{-9} सेकंड होती है। अतः ये इलैक्ट्रान की भांति साधारणतः मुक्त अवस्था मे नही पाये जाते। बहुत शीघ्र ही इलैक्ट्रान से पाज़िट्रान मिलकर दोनों कणिकाएँ नष्ट हो जाती है। आवेश के अतिरिक्त दोनों का भार भी नष्ट हो जाता है। और उनके स्थान में एक अत्यन्त वेधनशील गामा किरण का फोटान (photon) पैदा हो जाता है जिसकी ऊर्जा $h\nu$ का परिमाण दोनों के द्रव्यमान के नाश के कारण आइन्सटाइन के समीकरण $E=mc^2$ के द्वारा प्राप्त ऊर्जा के बराबर होता है। विपरीत इसके कभी-कभी गामा किरण से भी धनाविष्ट तथा ऋणाविष्ट इलैक्ट्रानों का जोड़ा उत्पन्न हो जाता है।

33·16—**अंतरिक्ष किरणों की ऊर्जा** (Energy of Cosmic Rays)। यह गणित द्वारा प्रमाणित हो सकता है कि यदि अंतरिक्ष किरणों की कणिकाएँ इलैक्ट्रान या पाज़िट्रान ही हों तो उन की ऊर्जा 3×10^9 से 10^{10} इलैक्ट्रान-वोल्ट तो होना ही चाहिए। इतनी ऊर्जा के बिना वे पृथ्वी तक पहुँच ही न पावेंगी और वायु-मंडल ही में अवशोषित हो जावेंगी। इसके अतिरिक्त मोटी सीसे की चद्दर को बेध कर पार निकलने की शक्ति से भी यही अनुमान होता है।

33·17—**अंतरिक्ष किरणों की उत्पत्ति** (Origin of Cosmic Rays)। इतनी अधिक ऊर्जा की उत्पत्ति का हमें तो केवल एक ही कारण ज्ञात है। आपेक्षिकता-सिद्धान्त के अनुसार द्रव्य के नष्ट होने पर ही इतनी ऊर्जा उत्पन्न हो

सकती है। यदि एक इलैक्ट्रान या पाज़िट्रान का द्रव्यमान नष्ट हो तो जो ऊर्जा उत्पन्न होगी उसका परिमाण होगा

$$E = mc^2 = 9{\cdot}1 \times 10^{-28} \times 9 \times 10^{20} = 8{\cdot}2 \times 10^{-7} \text{ अर्ग}$$
$$= \frac{8{\cdot}2 \times 10^{-7}}{1{\cdot}6 \times 10^{-12}} = 5{\cdot}1 \times 10^5 eV = 0{\cdot}51 \text{ M}eV.$$

क्योंकि $1\ eV = 1{\cdot}6 \times 10^{-12}$ अर्ग (अनु॰ 33·04)।

इसी प्रकार प्रोटान का द्रव्यमान इलैक्ट्रान की अपेक्षा 1837 गुणा अधिक होने के कारण एक प्रोटान के नष्ट होने से प्राप्त ऊर्जा $= 1837 \times 0{\cdot}51 = 931$ MeV. अनु॰ 33·04 में यह भी बताया जा चुका है कि जब 4 H-नाभिक मिलकर एक He-नाभिक में परिणत होते हैं तब 28 MeV की ऊर्जा पैदा होती है। अधिक भारी परमाणुओं की उत्पत्ति में और भी अधिक ऊर्जा पैदा हो सकती है।

अतः मिलीकन का कहना यह है कि विश्व में जहां कहीं भी ऐसी परिस्थिति हो कि 4 H-नाभिक मिलकर एक He-नाभिक की सृष्टि हो जाय अथवा अधिक व्यापक रूप में, कुछ हलके नाभिकों के संघटन के द्वारा भारी नाभिक की सृष्टि हो सके तो वहाँ ये अंतरिक्ष किरणें उत्पन्न हो सकती हैं। किन्तु फिर भी 10^4 MeV की किरणों की उत्पत्ति का कारण समझ में नहीं आ सकता, क्योंकि किसी भी परमाणु की सृष्टि में इतनी अधिक ऊर्जा की उत्पत्ति की संभावना नहीं है। अभी यह प्रश्न रहस्य-मय ही है। संभवतः अंतरिक्ष किरणों की उत्पत्ति का कारण हमारे समस्त अनुभवों से अतीत कुछ और ही विलक्षण बात है।

परिच्छेद 34

परमाणु की संरचना

(Structure of the Atom)

34·01—**परमाणु** (Atom)। यह तो बहुत प्राचीन काल से प्रसिद्ध है कि प्रत्येक जड़-द्रव्य अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुओं का बना होता है। किन्तु आधुनिक परमाणु-सिद्धान्त का प्रतिपादन डाल्टन (Dalton) ने 1803 में किया था। इसके अनुसार जितने रासायनिक तत्व होते हैं वे सब ऐसे अत्यन्त सूक्ष्म कणों के द्वारा बने होते हैं जिन्हें तोड़ कर और छोटा नही किया जा सकता। इनका नाम परमाणु (atom) रख दिया गया। इसी प्रकार समस्त रासायनिक यौगिक द्रव्यों (compounds) के भी छोटे-छोटे कण होते हैं जिन्हें अणु (molecule) कहते हैं। प्रत्येक अणु दो या अधिक परमाणुओं के संघटित होने से बनता है। अणु के अन्तर्गत परमाणु एक ही प्रकार के भी हो सकते हैं और विभिन्न प्रकार के भी। 19-वीं शताब्दि के अन्त तक तो यही विश्वास रहा कि परमाणु ठोस और बिलकुल अटूट होते हैं और एक तत्व के समस्त परमाणुओं के द्रव्यमान तथा विस्तार बिलकुल बराबर होते हैं।

किन्तु इलैक्ट्रान तथा स्वोत्सर्जिता के आविष्कार से यह प्रमाणित हो गया कि यह धारणा ग़लत है। परमाणु टूट सकते हैं और टूटने पर उनमें से इलैक्ट्रान, प्रोटान तथा न्यूट्रान नामक और भी कई छोटी कणिकाएँ उत्सर्जित होती हैं। अतः यह भी प्रमाणित हो गया कि प्रत्येक परमाणु कम से कम इन तीन प्रकार की कणिकाओं से बना होता है ? परमाणु में से ऐल्फा-कणिका भी निकलती है। किन्तु बताया जा चुका है कि यह भी 2 प्रोटानों और 2 न्यूट्रानों से बनी होती है। निम्नलिखित बातें भी यथा-स्थान बताई जा चुकी हैं :—

(1) परमाणु अनाविष्ट होते हैं। इससे यह भी प्रगट है कि प्रत्येक परमाणु में धनाविष्ट प्रोटानों की संख्या ऋणाविष्ट इलैक्ट्रानों की संख्या के बराबर ही होती है।

(2) इसके अतिरिक्त रदरफोर्ड ने यह भी प्रमाणित कर दिया था कि परमाणु में समस्त धन-आवेश केन्द्र में स्थित अत्यन्त छोटे से नाभिक (nucleus) में एकत्रित रहता है (अनु० 32·04)। इस नाभिक का व्यास लगभग 10^{-13} सम०

होता है, जब कि पूरे परमाणु का व्यास प्रायः 10^{-8} सम॰ होता है। इलैक्ट्रान का व्यास भी प्रायः 10^{-12} सम॰ होता है।

अतः परमाणु बिलकुल खोखला होता है और उसके आयतन में उससे लाखों गुणा छोटा एक नाभिक तथा कुछ थोड़े से इतने ही छोटे इलैक्ट्रान रहते हैं। शेष स्थान बिल्कुल शून्य आकाश (vacuum) होता है।

(3) समस्त प्रोटान नाभिक में ही एकत्रित रहते हैं और उनकी संख्या आवर्त्त सारिणी में परमाणु का जो क्रमांक (atomic number) Z होता है उसके बराबर होती है।

(4) परमाणु का प्रायः पूरा द्रव्यमान भी नाभिक ही में होता है क्योंकि इलैक्ट्रान तो एक प्रोटान से 1836 गुणा हलका होता है।

(5) पहिले तो यह समझा जाता था कि नाभिक में प्रोटानों के अतिरिक्त कुछ इलैक्ट्रान भी होते हैं। किन्तु अब यह प्रमाणित हो गया है कि इलैक्ट्रान नाभिक में नहीं रह सकते। वे तो नाभिक से बाहर ही रहते हैं। नाभिक में केवल प्रोटान तथा न्यूट्रान ही होते हैं।

(6) हाइड्रोजन का क्रमांक 1 है। अतः उसके नाभिक में एक प्रोटान होता है जिसका द्रव्यमान हाइड्रोजन परमाणु के द्रव्यमान के बराबर होता है। इसलिए उसमें इलैक्ट्रान भी एक ही होता है।

हीलियम का क्रमांक 2 है। अतः हीलियम नाभिक में 2 प्रोटान होते हैं और 2 ही इलैक्ट्रान होते हैं। किन्तु केवल 2 प्रोटानों से हीलियम-नाभिक का भार 4 नहीं हो सकता। अतः मानना पड़ेगा कि उसमें 2 न्यूट्रान भी होते हैं।

इसी प्रकार यदि किसी परमाणु का भार A हो तथा क्रमांक Z हो तो उसमें प्रोटानों की संख्या Z होगी, न्यूट्रानों की संख्या $A-Z$ होगी तथा इलैक्ट्रानों की संख्या भी Z होगी।

(7) स्वोत्सर्जी परमाणुओं में से जो α, β-कणिकाएँ निकलती हैं वे सब नाभिक में से ही निकलती हैं। β-कणिकाएँ वास्तव में नाभिक में रहती नहीं। किन्तु जब उसमें से गामा-किरण निकलती है तभी β-कणिका भी उत्पन्न हो जाती है।

(8) परमाणुओं के भौतिक तथा रासायनिक गुण नाभिक से बाहर जो इलैक्ट्रान होते हैं उनकी संख्या तथा वर्गीकरण पर निर्भर होते हैं। अर्थात् ये गुण नाभिक के द्रव्यमान पर अवलम्बित नहीं होते। एक ही प्रकार के रासायनिक गुणों वाले परमाणुओं के भार विभिन्न हो सकते हैं। ऐसे परमाणुओं को समस्थानिक

(isotope) कहते हैं। इन सब समस्थानिकों में प्रोटानों की संख्या बराबर होती है किन्तु न्यूट्रानों की संख्या कम-ज़्यादा हो सकती है।

34·02—**परमाणु का स्थायित्व** (Stability of the Atom)। उपर्युक्त बातों से परमाणु की संरचना का बहुत सा रहस्य तो खुल जाता है और स्थूल-रूप से हमारे सामने उसके भीतर का चित्र भी उपस्थित हो जाता है।

किन्तु इस सम्बंध में एक प्रश्न बड़ा जटिल है। इलैक्ट्रानों तथा नाभिक के आकर्षण के कारण सन्तुलन होना कैसे सम्भव हो सकता है? हाइड्रोजन के परमाणु ही को लीजिये। एक प्रोटान तथा एक इलैक्ट्रान, यही तो उसमें हैं। इनके परस्पर आकर्षण के कारण साधारण विद्युत्-चुम्बकीय नियमों के अनुसार, इन्हे तुरन्त एक दूसरे में मिल जाना चाहिए और मिलते ही आवेश का नाश हो जाना भी अनिवार्य है। इस प्रकार हाइड्रोजन के परमाणु का स्थायी अस्तित्व ही संभव नही। यही कठिनाई अन्य परमाणुओं में भी है।

किन्तु संसार में हमारे सामने एक ज्वलंत उदाहरण ऐसा है कि जिसमें पारस्परिक आकर्षण होने पर भी स्थायित्व है। सूर्य तथा सौर-जगत् के समस्त ग्रहों में भी व्युत्क्रम-वर्ग नियम के अनुसार परस्पर आकर्षण होता है। किन्तु तब भी ये ग्रह अपना स्थान छोड़ कर सूर्य में गिर नहीं पड़ते। इसका कारण यह है कि ये ग्रह स्थिर नही हैं। ये बड़े वेग से सूर्य की परिक्रमा करते रहते हैं। इस वृत्ताकार परिक्रमण के कारण जो अपकेन्द्र बल (centrifugal force) उत्पन्न होता है वही गुरुत्वाकर्षण का विरोधी बन कर ग्रहों की सूर्य से दूरी नियत परिमाण से कम या ज़्यादा नही होने देता।

यदि इसी प्रकार हम यह समझ लें कि परमाणु भी एक अत्यन्त सूक्ष्म सौर-जगत् है जिसके केन्द्र में सूर्य-स्थानीय नाभिक है और उसके चारों ओर ग्रहों के समान इलैक्ट्रान परिक्रमा करते रहते हैं तो स्थायित्व की कठिनाई दूर होने की कुछ आशा दिखलाई देती है। रदरफोर्ड ने वैज्ञानिक जगत् के सामने यही प्रस्ताव उपस्थित किया था।

किन्तु इसके द्वारा कठिनाई का अन्त न हुआ। वृत्ताकार परिक्रमण करने वाले इलेक्ट्रान में त्वरण (acceleration) होता है और विद्युत्-चुम्बकीय सिद्धान्त के अनुसार त्वरण-युक्त इलैक्ट्रान ईथर-समुद्र में तरंग उत्पन्न करेगा। ये तरंगें उसकी कुछ ऊर्जा को लेकर चारों ओर फैलेंगी। ऊर्जा की इस क्षति के कारण इलैक्ट्रान का परिक्रमण-वृत्त क्रमशः छोटा होता जायगा और अन्त में इलैक्ट्रान नाभिक में गिर कर लुप्त हो जायगा। अतः सौर-जगत् के उदाहरण से भी स्थायित्व की कठिनाई दूर न हुई।

सौर-जगत् में ग्रहों की ऊर्जा का क्षय न होने का कारण यह है कि वे सर्वथा शून्याकाश (vauum) में भ्रमण करते हैं। उनका किसी पदार्थ अथवा सूक्ष्म से सूक्ष्म गैस से भी घर्षण नही होता।

34·03—**क्वान्टम सिद्धान्त** (Quantum Theory)। इस कठिनाई को दूर करने के लिये प्लांक (Planck) के क्वान्टम-सिद्धान्त का सहारा लेना पड़ा। इस सिद्धान्त के अनुसार जब कभी परमाणु और तरंगमय किरणों में ऊर्जा का विनिमय होता है तो यह ऊर्जा धीरे-धीरे अविरत अथवा संतत (continuous) रूप से परमाणु में से नही निकलती। एक पूरा क्वान्टम एक ही साथ एक-वर्ण (monochromatic) प्रकाश के रूप में निकलता है। जब तक परमाणु इतनी ऊर्जा एकदम विकीर्ण करने को प्रस्तुत नहीं होता तब तक इलैक्ट्रान का त्वरण होने पर भी उसमें से तरंगे नही निकलती और उसकी ऊर्जा का क्षय बिलकुल ही नहीं होता। इस सिद्धान्त के अनुसार परमाणु में नाभिक के चारों ओर इलैक्ट्रान परिक्रमा करता रहता है तो भी उसमें से प्रकाश नही निकलता।

किन्तु केवल इतनी ही बात से काम नही चला और 1913 में क्वान्टम-सिद्धान्त में एक और नवीन बात सम्मिलित करना पड़ा। बोह्र (Bohr) की यह सूझ इतने महत्व की प्रमाणित हुई है और इसके द्वारा परमाणु संरचना का सिद्धान्त इतना सुदृढ़ हो गया है कि अब यह सिद्धान्त बोह्र के नाम से ही प्रसिद्ध है। रदरफ़ोर्ड ने जिस प्रकार सूक्ष्म नाभिक के आविष्कार से परमाणु-संरचना के सिद्धान्त की जड़ जमाई थी उसी प्रकार बोह्र ने इस परिकल्पना के द्वारा इस सिद्धान्त को पल्लवित कर दिया। यही कारण है कि परमाणु के इस प्रतिरूप (model) को रदरफ़ोर्ड-बोह्र परमाणु कहते हैं।

बोह्र की परिकल्पना यह थी कि नाभिक के चारों ओर जो अगणित इलैक्ट्रान-पथ गतिकी (Dynamics) के नियमानुसार संभव हैं उनमें से कुछ थोड़े ही ऐसे हैं जिनमें ऊर्जा का क्षय नहीं होता और विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें उत्पन्न नहीं होतीं। यही थोड़े से पथ स्थायी हो सकते हैं। इन स्थायी पथों की ऊर्जा तथा उनकी आवृत्ति (frequency) में क्वान्टम सम्बंध होता है। यह सम्बंध सबसे अधिक सरलता पूर्वक निम्न प्रकार व्यक्त किया जाता है:—

प्लांक के नियतांक h को 2π से विभाजित करके किसी पूर्णांक n से गुणा करने पर जो संख्या प्राप्त होगी उसी के बराबर इलैक्ट्रान के संवेग का घूर्ण (moment

of momentum) होता है। अर्थात् यदि इलैक्ट्रान का द्रव्यमान m और वेग v हो तथा उसके पथ की त्रिज्या r हो तो

$$mvr = n\frac{h}{2\pi} \qquad \ldots \quad (1)$$

इस समीकरण में n क्वान्टम-संख्या (quantum number) कहलाती है और उसका मान 1, 2, 3 आदि किसी पूर्णांक के बराबर होता है। h का मान $6{\cdot}62 \times 10^{-27}$ है। यदि किसी पथ का mvr इन निश्चित परिमाणों से थोड़ा भी भिन्न हो तो उस पथ पर इलैक्ट्रान नही घूम सकता। वह पथ इलैक्ट्रान के लिए संभव पथों की गिनती ही में नही रह सकता। इसके अतिरिक्त अपकेन्द्र बल का वैद्युत आकर्षण के बराबर होना तो आवश्यक है ही। अत:

$$\frac{mv^2}{r} = \frac{e \cdot e'}{r^2} = \frac{Ze^2}{r^2}$$

अथवा

$$mv^2r = Ze^2 \qquad \ldots \quad (2)$$

जहां e और $e' = Ze$ क्रमश. इलैक्ट्रान तथा नाभिक के आवेश की मात्राएँ हैं। इन दोनों समीकरणों की सहायता से यह तुरन्त प्रमाणित हो जाता है कि इलैक्ट्रान-पथ की त्रिज्या

$$r = \frac{n^2h^2}{4\pi^2mZe^2} \qquad \ldots \quad (3)$$

अत: m, e और h के ज्ञात मानों को इस समीकरण मे रखने से, हाइड्रोजन ($Z=1$) के इलैक्ट्रान-पथ की त्रिज्या

$$r = n^2 \times 0{\cdot}52 \times 10^{-8}$$
$$= n^2 \times \text{क सम०}$$

सबसे छोटे पथ की त्रिज्या क $= 0{\cdot}52 \times 10^{-8}$ होगी। इसके बाद n को 2, 3, 4 आदि का मान देने पर ज्ञात होता है कि इलैक्ट्रान के अन्य पथों की त्रिज्याएँ क्रमश: 4क, 9क, 16क सम० होंगी। चित्र 34·01 में ये पथ दिखलाये गये हैं। हाइड्रोजन का इलैक्ट्रान केवल इन्ही पथों पर घूम सकता है। r का मान इन परिमाणों से थोड़ा भी कम-ज़्यादा होने से उस पथ पर इलैक्ट्रान नहीं घूम सकता।
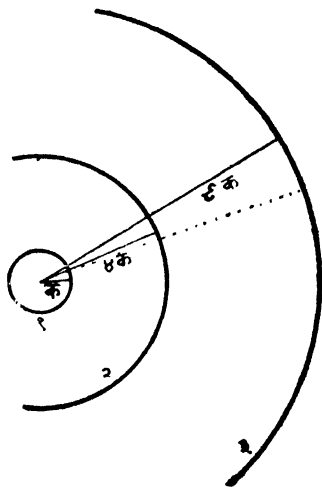
चित्र 34·01

34·04—**परमाणु की ऊर्जा** (Energy of the Atom)। समीकरण (1), (2) तथा (3) से स्पष्ट है कि परमाणु के इलैक्ट्रानों की गतिज ऊर्जा

$$=\frac{1}{2}\,mv^2=\frac{1}{2}\,\frac{Ze^2}{r}=\frac{2\pi^2mZe^4}{n^2h^2}$$

तथा उसकी स्थितिज ऊर्जा $=-\dfrac{Ze^2}{r}$

अतः परमाणु की पूरी ऊर्जा

$$E=\frac{1}{2}\,mv^2-\frac{Ze^2}{r}=\frac{1}{2}\,\frac{Ze^2}{r}-\frac{Ze^2}{r}=-\frac{1}{2}\,\frac{Ze^2}{r}\;=-\frac{2\pi^2mZe^4}{n^2h^2}\quad(4)$$

इस समीकरण का अर्थ यह है कि ज्यों-ज्यों r तथा n बढ़त हैं त्यों-त्यों इस ऊर्जा का सांख्यिक मान (numerical value) घटता जाता है और $r=\infty$ होने पर यह मान शून्य हो जाता है।

किन्तु समी० (4) से प्राप्त ऊर्जा ऋण-चिह्नीय है। इसका अर्थ केवल यह है कि परमाणु में इसके अतिरिक्त और भी बहुत सी ऊर्जा होती है। यदि उसे हम U के द्वारा व्यक्त करें तो वास्तव में परमाणु की पूरी ऊर्जा होगी

$$W=U+E=U-\frac{2\pi^2mZe^4}{n^2h^2}$$

अतः ज्यों-ज्यों E का सांख्यिक मान घटता है अर्थात् r तथा n बढ़ते हैं त्यों-त्यों परमाणु की ऊर्जा W बढ़ती है।

ऊपर वृत्ताकार पथों का ही परिकलन किया गया है। किन्तु इलैक्ट्रान दीर्घवृत्ताकार पथों पर भी चक्कर लगाते हैं। इन पथों की आकृति ,विस्तार तथा ऊर्जा का भी परिकलन सफलता पूर्वक कर लिया गया है। उनमें कई क्वान्टम-संख्याएँ काम आती हैं। किन्तु मुख्य क्वान्टम-संख्या n ही होती है और परमाणु की पूरी ऊर्जा n के मान ही पर अवलम्बित होती है। इन सब परिकलनों का विस्तृत वर्णन यहाँ करने की आवश्यकता नहीं है।

34·05—**हाइड्रोजन स्पैक्ट्रम** (Hydrogen Spectrum)। 'अब हम इस प्रश्न पर विचार कर सकते हैं कि हाइड्रोजन परमाणु में से प्रकाश कैसे उत्पन्न होता है। बोह्र के मतानुसार जब तक इलैक्ट्रान उपर्युक्त स्थायी पथों पर घूमता रहे तब तक तो प्रकाश की उत्पत्ति हो नहीं सकती। किन्तु यदि किसी कारण से परमाणु में कुछ ऊर्जा बाहर से प्रविष्ट होकर अवशोषित हो जाय तो परमाणु की ऊर्जा W

बढ़ जाती है। ऐसे परमाणु को उत्तेजित परमाणु (excited atom) कहते हैं। उसमें इलैक्ट्रान उच्चतर n वाले पथ पर परिक्रमण करने लगता है। फिर यदि वह उस उत्तेजित बड़े पथ से हट कर किसी दूसरे छोटे पथ में घूमने लगे तब अवश्य ही ऊर्जा का विकिरण होगा। यदि प्रथम पथ की ऊर्जा W_n हो और अंतिम पथ की ऊर्जा W_m हो तो इस पथपरिवर्तन में विकीर्ण होने वाली ऊर्जा का परिमाण $W_n - W_m$ होगा। यह ऊर्जा प्रकाश-तरंग का रूप धारण करेगी और उसकी आवृत्ति संख्या ν इतनी होगी कि

$$h\nu = W_n - W_m \quad . \quad . \quad . \quad (5)$$

$$= \frac{2\pi^2 mZe^4}{h^2}\left(\frac{1}{m^2} - \frac{1}{n^2}\right) \quad . \quad . \quad . \quad (6)$$

$$\therefore \quad \frac{1}{\lambda} = \frac{\nu}{c} = \frac{2\pi^2 mZe^4}{ch^3}\left(\frac{1}{m^2} - \frac{1}{n^2}\right) \quad . \quad . \quad . \quad (7)$$

इस सूत्र में c = प्रकाश-वेग $= 3 \times 10^{10}$ सम० प्रति सैकंड है। इसमें m, e, Z तथा h के मान निविष्ट करने से

$$\frac{1}{\lambda} = 1{\cdot}095 \times 10^5 \left(\frac{1}{m^2} - \frac{1}{n^2}\right) \quad . \quad . \quad . \quad (8)$$

हाइड्रोजन-स्पैक्ट्रम की रेखाओं का तरंग-दैर्घ्य नाप कर बामर (Balmer) ने जिस श्रेणी का आविष्कार किया था उसकी सब रेखाओं के लिए आधुनिक सूत्र यह है :—

$$\frac{1}{\lambda} = R\left(\frac{1}{2^2} - \frac{1}{n^2}\right) \quad . \quad . \quad . \quad (9)$$

जहाँ $n = 3, 4, 5 \ldots$ और R = रिडवर्ग नियतांक (Rydberg constant) $= 1{\cdot}09677 \times 10^5$। इस सूत्र की बोह्र के सैद्धान्तिक सूत्र (7) से तुलना करने से स्पष्ट हो जाता है कि बोह्र का सिद्धान्त कितना यथार्थतापूर्ण है। क्रमशः $n = 3, 4, 5, 6$ आदि वाले पथों से जब कोई इलेक्ट्रान $n = 2$ वाले पथ में चला जाता है तब बामर-श्रेणी की रेखाएँ क्रमशः प्रगट होती हैं। सूत्र (8) के गुणक $1{\cdot}095 \times 10^5$ और R के उपर्युक्त मान की आश्चर्यजनक समता भी ध्यान देने योग्य है।

इसी प्रकार यदि इलैक्ट्रान के अंतिम पथ $n=1$ या $n=3$ वाले हों तो जो श्रेणियाँ स्पैक्ट्रम में उत्पन्न होनी चाहिए वे होंगी

$$\frac{1}{\lambda}=R\left(\frac{1}{1^2}-\frac{1}{n^2}\right) \quad . \quad . \quad . \quad (10)$$

$$\frac{1}{\lambda}=R\left(\frac{1}{3^2}-\frac{1}{n^2}\right) \quad . \quad . \quad . \quad (11)$$

ये दोनों श्रेणियाँ भी स्पैक्ट्रम में पाई गई हैं। पहली पराबैंगनी (ultra-violet) प्रदेश में स्थित है और लाइमान (Lyman) की श्रेणी कहलाती है तथा दूसरी अवरक्त (infra-red) प्रदेश में होती है और पाशन (Paschen) की श्रेणी कहलाती है।

यद्यपि स्पैक्ट्रमों का प्रयोगात्मक अध्ययन 80 वर्ष से भी पहले प्रारम्भ हुआ था और उनकी रेखाओं का श्रेणी-सम्बंध भी बहुत समय से ज्ञात है तथापि बिना रदरफोर्ड-बोह्र परमाणु के तथा बिना क्वान्टम-सिद्धान्त के इस श्रेणी-सम्बंध की सैद्धान्तिक व्याख्या संभव न हो सकी थी। किन्तु अब केवल एक मूल परिकल्पना के अतिरिक्त सैद्धान्तिक दृष्टि से इन स्पैक्ट्रम श्रेणियों की पूरी-पूरी व्याख्या हो गई है और उसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म बात के सैद्धान्तिक कारण का भी पता लग गया है। उदाहरण के लिए इन हाइड्रोजन रेखाओं की सूक्ष्म-रचना (finestructure) ही को लीजिये। यद्यपि साधारण दृष्टि से ये रेखाएँ एकक (singlet) जान पड़ती हैं तथापि प्रबल विभेदन-क्षमता (high resolving power) वाले उपकरणों के द्वारा प्रत्येक रेखा कई बारीक बारीक रेखाओं का समूह प्रमाणित हुई है। इन अवयव-रेखाओं के तरंग-दैर्घ्यों का अन्तर भी नाप लिया गया है। इस सूक्ष्म-रचना की समस्या भी उपर्युक्त सिद्धान्त के द्वारा ही पूरी-पूरी हल हो चुकी है।

34·06—**अन्य स्पैक्ट्रम**। हाइड्रोजन स्पैक्ट्रम के समान ही आयनित हीलियम का स्पैक्ट्रम होता है। उसकी भी संतोषजनक व्याख्या हो गई है। किन्तु अन्य तत्वों के स्पैक्ट्रम अधिक जटिल होते हैं। उनके परमाणु में कई इलैक्ट्रान होते हैं। उनमें भी परस्पर प्रतिकर्षण होता है। अतः ऐसे परमाणुओं की समस्या पूर्ण-रूप से हल नहीं हो सकी है। तब भी बोह्र तथा सामरफ़ेल्ड (Sommerfeld) ने इन जटिल स्पैक्ट्रमों की सैद्धान्तिक व्याख्या में बहुत कुछ सफलता प्राप्त कर ली है। यहाँ तक कि परमाणु से कहीं अधिक जटिल अणुओं के पट्टीदार अथवा बैंड स्पैक्ट्रम (band spectrum) पर भी अब इस सिद्धान्त का संशयहीन साम्राज्य हो गया है।

34·07—**परमाणु में इलेक्ट्रानों का वितरण** (Distribution of Electrons in Atoms)। स्पैक्ट्रमों की सूक्ष्म बातों की व्याख्या करने के प्रयत्न में बोह्र ने आवर्त-सारिणी के समस्त परमाणुओं के इलैक्ट्रानों के वितरण, उनके वर्गीकरण तथा उनके पथों का विवरण दिया है। यह विवरण धीरे-धीरे विकसित हुआ है और अब भी उसमें बहुत हेर फेर करने को स्थान है। तथापि यह विवरण अत्यन्त रोचक है और उसके द्वारा तत्वों के प्रायः सभी भौतिक तथा रासायनिक गुणों का बहुत कुछ रहस्य समझ में आ जाता है।

इस वितरण की मुख्य बातें निम्न लिखित हैं:—

(1) जब किसी परमाणु में बहुत से इलैक्ट्रान होते हैं तो वे भिन्न-भिन्न क्वान्टम-संख्या n के पथों में घूमते हैं।

(2) n के मान में अन्तर न होने पर भी इलैक्ट्रान-पथ कई प्रकार के हो सकते हैं। इन सब पथों की ऊर्जा लगभग बराबर होती है और उनके समुदाय को परमाणु का एक ऊर्जास्तर (energy level) कहते हैं।

(3) $n=1$ वाले ऊर्जा-स्तर का नाम K-स्तर (K-level) है। इसमें केवल $2n^2=2$ इलैक्ट्रान ही रह सकते हैं। ये ही इलैक्ट्रान नाभिक से निकटतम होते हैं।

(4) $n=2$ वाले स्तर का नाम L-स्तर है। इसमे $2n^2=2\times2^2=8$ इलैक्ट्रान रह सकते हैं। यह स्तर K-स्तर से अधिक विस्तार वाला होता है।

(5) $n=3$ वाले स्तर का नाम M-स्तर है। इसमें $2n^2=2\times3^2=18$ इलैक्ट्रान रह सकते हैं। इसी प्रकार उत्तरोत्तर कई स्तरों में परमाणुओं के इलैक्ट्रान वितरित रहते हैं। प्रत्येक स्तर में इलैक्ट्रानों की महत्तम संख्या $2n^2$ होती है।

(6) इन विभिन्न स्तरों के भर जाने के बाद जो इलैक्ट्रान बच रहते हैं वे जिस स्तर में चक्कर लगाते हैं उसे असंतृप्त स्तर (unsaturated level) कहते हैं। और ऐसे इलैक्ट्रानों को संयोजक इलैक्ट्रान (valency electron) कहते हैं। इन्हीं की संख्या पर परमाणु की संयोजकता (valency) तथा अन्य रासायनिक गुण निर्भर होते हैं।

(7) जिन परमाणुओं में सब स्तर संतृप्त होते हैं वे सब आवर्तसारिणी के 0-वर्ग में स्थित होते हैं और वे सब अक्रिय (inert) होते हैं। यथा He (Z=2), Ne(Z=10), A(Z=18)

(8) जिन परमाणुओं के असतृप्त स्तर में 1 इलैक्ट्रान होता है वे प्रथम वर्ग में होते हैं यथा Li(Z=3), Na(Z=11), K(Z=19)

(9) इसी प्रकार इन संयोजक इलैक्ट्रानों की संख्या के अनुसार ही परमाणु आवर्तसारिणी के विभिन्न वर्गों में वितरित होते हैं।

(10) साधारण प्रकाश इन्हीं संयोजक अथवा सीमान्तवर्ती इलैक्ट्रानों के स्तर-परिवर्तन के द्वारा उत्पन्न होता है (अनु० 34·05)।

(11) ये संयोजक इलैक्ट्रान नाभिक से इतनी अधिक दूरी पर रहते हैं कि इन्हें परमाणु से बाहर निकाल देने मे अधिक ऊर्जा की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु अन्तःवर्ती K, L स्तरों के इलैक्ट्रान अधिक आवेश वाले नाभिक के बहुत अधिक निकट होने के कारण आसानी से निष्कासित नहीं किये जा सकते। उन्हें निकालने के लिए बहुत अधिक ऊर्जा की आवश्यकता होती है।
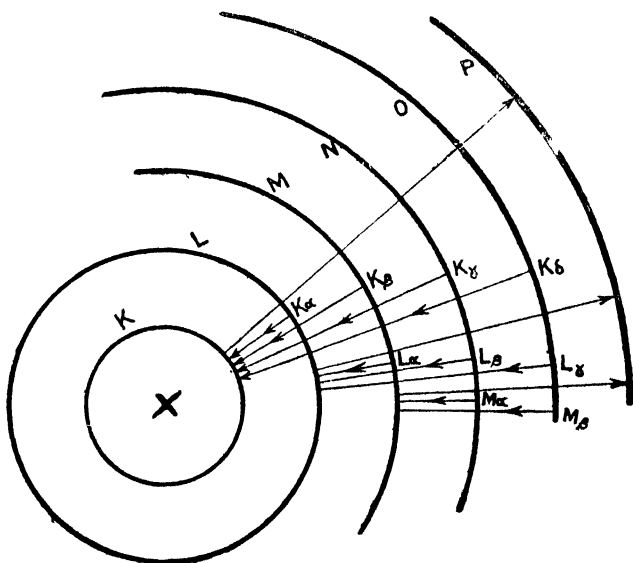
चित्र 34·02

(12) ऐक्स-किरणों की उत्पत्ति तब होती है जब अत्यधिक ऊर्जा के अवशोषण के कारण कोई अन्तःवर्ती K अथवा L स्तर का इलैक्ट्रान परमाणु में से बाहर निकल जाता है। उसके रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए बाहर की तरफ वाले स्तरों में से जब कोई इलैक्ट्रान उस स्तर मे आ पड़ता है तब अत्यन्त छोटे तरंग-दैर्घ्य वाली

प्रकाश-तरंग परमाणु में से निकलती है। यही ऐक्स-किरण होती है। रिक्त स्थान जिस स्तर म होता है उसी के नाम से ऐसी ऐक्स-किरणों की श्रेणी का भी नाम होता है। जैसे यदि K-स्तर में स्थान रिक्त हुआ हो और L, M, आदि स्तरों से कोई इलैक्ट्रान K-स्तर में उतर आवे तब K-श्रेणी की ऐक्सकिरण उत्पन्न होंगी (चित्र 34·02)।

34·08—**परमाणु का चुम्बकीय घूर्ण** (Magnetic Moment of Atoms)। परमाणु में इलैक्ट्रान-परिक्रमण के कारण वृत्ताकार पथ में विद्युत् का प्रवाह होता है। इस विद्युत्-धारा के कारण चुम्बकीय क्षेत्र भी प्रगट हो जाता है। अतः प्रत्येक परमाणु एक प्रकार का अत्यन्त सूक्ष्म चुम्बक भी समझा जा सकता है और उसका एक निश्चित परिमाण का चुम्बकीय घूर्ण भी होता है।

यह बात अब प्रयोगात्मक रीति से प्रमाणित हो चुकी है और इस घूर्ण का यथार्थता-पूर्ण नाप भी हो गया है। इस तरह इस सिद्धान्त की पारिमाणिक सत्यता भी सिद्ध हो गई है। पदार्थों के सम-चुम्बकत्व (para-magnetism) तथा विषम-चुम्बकत्व (dia-magnetism) का भी कारण परमाणु का चुम्बकत्व ही है।

34·09—**ज़ीमान-प्रभाव** (Zeeman Effect)। परमाणु के चुम्बकत्व का एक और अच्छा प्रमाण ज़ीमान-प्रभाव है जिसका आविष्कार ज़ीमान
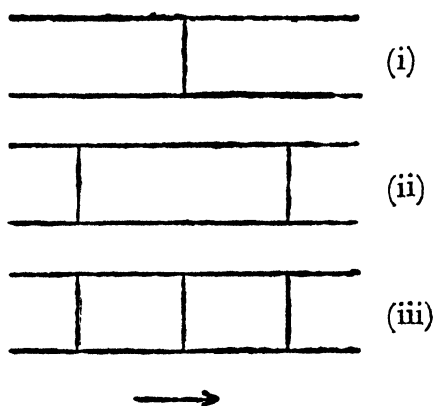
चित्र 34·03

(Zeeman) ने 1896 में किया था। प्रकाश उत्पन्न करने वाला परमाणु

यदि प्रबल चुम्बकीय क्षेत्र में रख दिया जाय तो यह देखा गया है कि उसके प्रकाश के तरंग-दैर्घ्य में कुछ परिवर्तन हो जाता है। यदि स्पैक्ट्रम-रेखा चित्र 34·03 (i) के समान एकक (Singlet) हो तो चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा में उस एक रेखा के स्थान में दो रेखाएँ (चित्र ii) दिखाई देती हैं और इसी प्रकार क्षेत्र से समकोणिक दिशा में तीन रेखाएँ (चित्र iii) देख पड़ती हैं। क्षेत्र से अनुदैर्घ्य (longitudinal) दिशा में रेखाएँ विपरीततः वृत्त-ध्रुवित (circularly polarised) होती हैं और अनुप्रस्थ (transverse) दिशा में तीनों रेखाएँ समतल-ध्रुवित (plane polarised) होती हैं। बीच वाली का ध्रुवण-तल दोनों बाहर वाली रेखाओं के ध्रुवण-तल से समकोण बनाता है। चुम्बकीय क्षेत्र के द्वारा होने वाले इस तरंगदैर्घ्य-परिवर्तन को जीमान-प्रभाव कहते हैं।

तरंग दैर्ध्य का यह परिवर्तन बहुत ही कम होता है। 10000 गाउस के क्षेत्र से भी प्रायः 1 अंगस्ट्राम अर्थात् 10^{-8} सम० से अधिक परिवर्तन नहीं होता। अतः यह लमर-पट्टिका (Lummer-Gehrcke Plate) अथवा अन्य प्रबल विभेदक उपकरणों की सहायता से नापा जाता है।

क्वान्टम-सिद्धान्त के द्वारा तथा साधारण विद्युत्चुम्बकीय सिद्धान्त के द्वारा भी इस तरंग-दैर्घ्य के परिवर्तन का परिकलन किया गया है और दोनों विधियों से एक ही परिणाम निकला है। प्रयोगात्मक नाप से यह परिणाम इतनी यथार्थता से मिल जाता है कि अब यह नाप इलैक्ट्रान के e/m को नापने के लिए भी अच्छी विधियों में गिना जाता है। क्योंकि दोनों ही सिद्धान्तों से तरंग-दैर्घ्य λ का परिवर्तन

$$d\lambda = \frac{e}{m} \cdot \frac{H}{2\pi c} \quad \ldots \quad (12)$$

जहाँ H=चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता तथा c=प्रकाश वेग$=\cdot 3 \times 10^{10}$ है।

जब स्पैक्ट्रम-रेखा स्वयं ही एकक न हो और द्विक (doublet) या त्रिक (triplet) हो तो यह जीमानी प्रभाव बड़ा जटिल हो जाता है। रेखाएँ कई भागों में विभक्त हो जाती हैं। इन का रहस्य विद्युत्-चुम्बकीय सिद्धान्त के द्वारा समझ में नहीं आ सकता किन्तु क्वान्टम-सिद्धान्त इसकी भी बहुत कुछ व्याख्या कर देता है।

34·10—स्टार्क प्रभाव (Stark Effect)। इसी प्रकार वैद्युत क्षेत्र का भी स्पैक्ट्रम-रेखाओं पर प्रभाव होता है जिसे स्टार्क-प्रभाव कहते हैं क्योंकि

स्टार्क (Stark) ने ही इस प्रभाव का सबसे पहले आविष्कार तथा अध्ययन किया था। यह प्रभाव भी जटिल-ज़ीमान-प्रभाव के समान ही जटिल है और इसकी भी व्याख्या केवल क्वान्टम-सिद्धान्त के द्वारा ही हो सकती है। जीमान-प्रभाव तथा स्टार्क-प्रभाव भी बोह्र के परमाणु-प्रतिरूप के प्रबल समर्थक हैं।

यह संभव है कि भविष्यत् में इस प्रतिरूप में बहुत कुछ हेर-फेर हो जाय। यह भी संभव है कि इलैक्ट्रान तथा प्रोटान आदि के संबंध में भी हमारे विचार बहुत कुछ बदल जायँ जैसा कि तरंग-यांत्रिकी (wave mechanics) के आविष्कार तथा विकास से जान पड़ता है। किन्तु इस में सन्देह नहीं कि मूल बातों में बोह्र के सिद्धान्त की सत्यता स्थिर रहेगी।

34·11—**इलैक्ट्रानों का विवर्तन** (Diffraction of Electrons)। 1922 में डेविसन (Davisson) और गरमर (Germer) ने प्रमाणित किया था कि क्रिस्टल-पृष्ठ से जिस प्रकार एक्स-किरण का परावर्तन होता है ठीक उसी प्रकार इलैक्ट्रानों का भी परावर्तन होता है। यह समानता बड़ी गहरी है। किसी विशेष संस्पर्श-कोण θ पर आपतित होने से प्रत्येक लम्बाई वाली एक्स-किरण-तरंगें परावर्तित नहीं होतीं किन्तु एक विशेष तरंग-दैर्घ्य λ ही का परावर्तन होता है।

ब्रैग के नियमानुसार θ और λ का सम्बंध निम्नलिखित है :—

$$2d \sin \theta = n\lambda$$

ठीक इसी प्रकार इलैक्ट्रान के वेग v तथा संस्पर्श-कोण में भी निश्चित सम्बंध होता है और भिन्न-भिन्न वेग वाले इलैक्ट्रानों का परावर्तन भिन्न-भिन्न संस्पर्श-कोणों पर होता है।

1928 में जी० पी० टामसन (G. P. Thomson) ने अपने सुप्रसिद्ध प्रयोगों से इस बात की और भी पुष्टि कर दी। एक्स-किरणें बारीक क्रिस्टल-चूर्ण में से निकलने पर फ़ोटो के प्लेट पर जिस प्रकार के विवर्तन-चित्र बनाती हैं ठीक उसी प्रकार का चित्र इलैक्ट्रान भी बनाते हैं। (चित्र 34·04)। प्लेट और क्रिस्टल के बीच में चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न करके टामसन ने यह भी प्रमाणित कर दिया कि यह चित्र किसी प्रकार की तरंगों के द्वारा नहीं बनता क्योंकि चुम्बकीय क्षेत्र से चित्र की रेखाओं का स्थान बदल जाता है।

इस चित्र के वृत्तों की त्रिज्याओं का नाप करके टामसन ने यह भी सिद्ध किया कि यदि 10^{10} सम० प्रति सैकंड वेग वाले इलैक्ट्रान के समान ही एक्स-किरणें भी चित्र बनाती हों तो उनका तरंग-दैर्घ्य प्रायः $7 \cdot 8 \times 10^{-10}$ सम०

होना चाहिये। अर्थात् अत्यन्त छोटी गामा-किरणों ही के बराबर उनका तरंग-दैर्घ्य होना चाहिए।
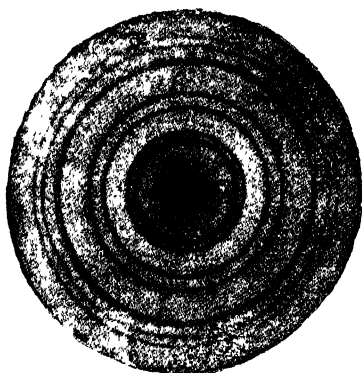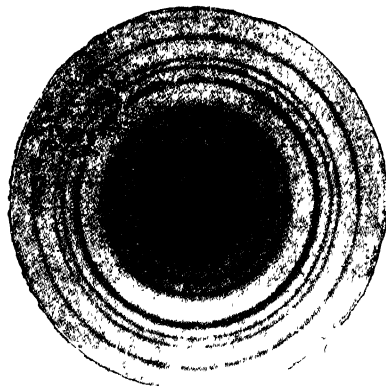
ऐक्स-किरण इलैक्ट्रान

चित्र 34·04

इन प्रयोगों से ज्ञात होता है कि इलैक्ट्रान भी ठीक तरंगों ही के समान कार्य करता है। अब तक हम इलैक्ट्रान को एक प्रकार की अत्यन्त सूक्ष्म कणिका समझते आये हैं। अब इस विचार का कुछ दूसरा रूप देना होगा। तरंग-सिद्धान्त में यह बात बहुत प्राचीन काल से ज्ञात है कि यदि किसी माध्यम में भिन्न-भिन्न दैर्घ्य-वाली तरंगों के वेग में भी भिन्नता होती हो तो उस माध्यम में तरंग-संघ (wave-group) का वेग प्रत्येक तरंग के वेग से भिन्न होता है। जल-पृष्ठ पर जो तरंगे पत्थर फेंकने से उत्पन्न होती हैं उनमें भी संघ-वेग (group-velocity) तरंग-वेग (wave-velocity) से कम होता है। यह इन तरंगों को ग़ौर से देखने पर तुरन्त समझ में आ जायगा। इसी प्रकार सम्भव है कि विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों का संघ ही इलैक्ट्रान हो और यह इन तरंगों के वेग से कम वेग से चलता हो।

फ़ांस के दे ब्रोगली (De Broglie) महोदय ने कुछ ऐसा ही मत इन प्रयोगों से बहुत पहिले प्रकाशित किया था और उसके द्वारा अनेक घटनाओं का अच्छा स्पष्टीकरण भी किया था। श्रोडिंगर (Schroedinger) ने तो इस परिकल्पना को इतना समुन्नत बना दिया है कि अब इसके द्वारा हाइड्रोजन-स्पैक्ट्रम और तत्सम्बंधी अनेक जटिल प्रश्नों की समस्या भी हल हो जाती है। यह आशा की जा सकती है कि यह सिद्धान्त आगे चलकर क्वान्टम-सिद्धान्त के साथ अन्य प्राचीन सिद्धान्तों का सामंजस्य कर सकेगा।

पारिभाषिक शब्दावली

अंग्रेजी—हिन्दी

Absolute निरपेक्ष; परम
Absorption अवशोषण
A. C. प्र० धा०
Accumulator संचायक सैल
Accuracy यथार्थता
Acid अम्ल
Acidulated अम्लीकृत
Action क्रिया
Adiabatic रुद्धोष्म
Admittance प्रवेश्यता
Adsorbed अधिधारित
Agonic line शून्य दिक्पाती रेखा
Airtight वायुरुद्ध
Algebraical बीजीय
Alloy मिश्रधातु
Alnico ऐलनिको
Alpha particle ऐल्फा कणिका
Alternately एकान्तरतः
Alternating current प्रत्यावर्ती धारा
Alternator प्रत्यावर्तित्र
Amalgamated पारदरंजित
Amalgamation पारदरंजन
Amber अंबर
Ampere अम्पीयर
Ampere meter अम्पीयरमापी
—, hot wire उत्तप्ततार अम्पीयरमापी
Amplification प्रवर्धन
—गुणांक प्रवधक गुणांक
Amplifier प्रवर्धक
Amplitude आयाम
Analysis विश्लेषण
Angle, acute न्यून कोण
—, obtuse अधिक कोण
—, solid घन कोण
Angstrom अंगस्ट्राम
Anode धनाग्र; ऐनोड
Anticathode प्रतिकैथोड; प्रतिऋणाग्र
Antinode प्रस्पन्द
Apparent आभासी
Approximate सन्निकट
Approximately सन्निकटतः
Approximation सन्निकन
Arc चाप; वृत्तखंड; आर्क
Arc furnace आर्क-भट्टी
Arc lamp आर्क-लैम्प
Arc oscillator आर्क दोलक
Arial एरियल
Arm (of bridge) भुजा
Armature आर्मेचर
Astatic अस्थैतिक
Atmosphere वायुमंडल
Atmospheric Electricity वायु-विद्युत्
Atom bomb परमाणु बम
Atomic number परमाणु क्रमांक
Audio-frequency श्रव्य आवृत्ति
Aurora borealis उत्तर मेरुज्योति
—australis दक्षिण मेरुज्योति
Automatic स्वचालित
Auto- transformer ऑटो ट्रान्सफ़ार्मर स्वतः परिणमित्र

Axial अक्षीय
Back e. m. f. विरोधी वि० वा० ब०
Ballistic constant प्रक्षेपगुणांक
—galvanometer प्रक्षेपधारामापी
Base (of logarithm) लघुगणकीय अधार
Battery बैटरी
Beat विष्कम्पन
Beat-note विष्कम्पी स्वर
Beta particle बीटा कणिका
Bridge सेतु
—, Wheatstone व्हीट स्टोन सेतु
Broadcasting प्रसारण
Broadside-on position मध्याभिमुखी स्थिति
Brush बुरुश
Burglar alarm चोर घंटी
Cable केबल
Cablegram केबल ग्राम
Cailbration अंशांकन, अंशांक संशोधन
Calorie कलारी
Calorimeter कलारीमापी
Canal rays कनाल किरण
Candle power बत्ती-शक्ति
Capacity धारिता
Carrier wave वाहक तरंग
Cathode कैथोड; ऋणाग्र
Cathode ray कैथोड किरण
Cathode ray Oscillograph कैथोड-किरण-लेखी
Cavity कोटर
Cell सैल
C. G. S. system स० ग० स० पद्धति
Chain reaction क्रिया शृंखला
Characteristics लक्षण
Characteristic curve लक्षक वक्र; लाक्षणिक वक्र
Characteristic rays लाक्षणिक किरणें
Charge आवेश; चार्ज
Charged आविष्ट; चार्जित
Choke अवबाधक
Choke coil अवबाधा कुंडली
Circuit परिपथ
Circular वृत्ताकार
Cloud chamber अभ्रकोष्ठ
Code कोड; संकेत
Coefficient गुणांक
Coercive force निग्रहबल
Coercivity निग्रहत्व
Coherer कोहियरर
Coil कुंडली
Column स्तंभ
Common (to two) उभयनिष्ट
—(to all) सर्व निष्ट
Commutator दिक्-परिवर्ती
Compass दिक्-सूची; कुतुबनुमा
Component घटक; अवयव
Compound wound मिश्र-कुंडलित
Concave अवतल
Concentrated सान्द्र
Condensation (1) संघनन; (2) द्रवण
Condenser (electric) संधारित्र
—, blocking निरोधी संधारित्र
—, bye-pass सुचालक सं०
—, parallel-plate समान्तर-पट्ट सं०
—, variable परिवर्ती सं०
Condenser (lens) संग्राहक लैन्स
Conductance विप्रतिरोध
Conductivity चालकता
—, specific विशिष्ट चालकता
Conduction चालन
Conductor चालक
—, bad कुचालक
—, good सुचालक

Cone शंकु
Conjugate arms संयुग्मी भुजाएँ
Connected संबद्ध; संबंधित
Connection संबंधन
Consequent pole उपध्रुव
Constant (adj) अपरिवर्ती; नियत; अचर; स्थिर
—, (n) नियतांक
Contact Theory स्पर्श-सिद्धान्त; सम्पर्क सिद्धान्त
Contact potential स्पर्श-विभव
Continuous संतत; अविरत; अविच्छिन्न; अखंड
Contraction आकुंचन
Convection संवहन
Converter परिवर्तित्र
—, rotary घूर्ण परिवर्तित्र
Convex उत्तल
Coordinates निर्देशांक
Copper loss ताम्रिक हानि
Core क्रोड़
Cork–screw rule पेच-नियम
Correction संशोधन
Cosine कोज्या
Cosmic rays अंतरिक्ष किरणें
Coulomb (unit) कूलम्ब
Counter संख्यात्र
Couple बल-युग्म
Coupled युग्मित
Coupling युग्मन
—, loose ढीला युग्मन
—, tight कड़ा युग्मन
Crest of curve वक्र-तुंग
Crest (of wave) शृंग
Critical temperature क्रान्तिक टेम्परेचर
Cross-section अनुप्रस्थ काट
Crystal क्रिस्टल
Curie (unit) क्यूरी
Current धारा
Cylinder बेलन
Cylindrical बेलनाकार
Cyclotron साइक्लोट्रान
Damped अवमन्दित
Damping अवमन्दन
Dark space अदीप्त प्रदेश
D. C. दि० धा०
Decay क्षय
Decay constant क्षयांक
Declination दिक्पात
Decomposition विच्छेदन
Decrement—ह्रास, अपक्षय
Deflection विक्षेप
Degree डिगरी; अंश
Demagnetisation विचुम्बकन
Density घनत्व
Detector परिचायक
Deuteron ड्यूटरान
Deuton ड्यूटान
Deviation विचलन
Diagram मर्म-चित्र
Diamagnetic विषम-चुम्बकिक
Diamagnetism विषम चुम्बकत्व
Dielectric (noun) वैद्युतांगण
Dielectric constant पारवैद्युतांक
—, strength पारवैद्युत प्रबलता
Differential अवकल
— coefficient —गुणक
— galvanometer भेददर्शी धारा मापी
— Thermometer भेददर्शी थर्मामीटर
Diffusion विसरण
Diode द्वयोड; द्वयाग्र; डायोड
Dip नमन
Dip circle नमनमापी
Direct current अनुलोम धारा दिष्ट धारा

Disc मंडलक
Discharge विसर्ग; विसर्जन; विसर्जित करना
—tube विसर्ग-नलिका
Discharging tongs विसर्जक चिमटा
Disintegration विघटन
Displacement विस्थापन
—current विस्थापन धारा
Divalent द्वि-संयोजक
Divided touch method विभक्त-स्पर्श विधि
Dot and dash विन्दु और रेखा
Double-layer (electric) (वैद्युत) द्वितल
Double Touch Method द्वि-स्पर्श विधि
Dynamo डायनमो
Earth (verb) भू-संपर्क करना
Earth inductor भू-चुम्बकी प्रेरक
Echo प्रतिध्वनि
Eddy current भंवर धारा
Effect प्रभाव
Effective कार्यकारी; प्रभावक
Efficiency दक्षता
Elastic प्रत्यास्थ
Elasticity प्रत्यास्थता
Electric machine विद्युत्-यंत्र
Electricity विद्युत्
—, frictional घर्षण विद्युत्
—,statical स्थिर विद्युत्
Electrode विद्युदग्र, विद्युत्-अग्र
Electrolysis विद्युत्-विश्लेषण
Electrolyte विद्युत्-विश्लेष्य
Electromagnet विद्युत्-चुम्बक
Electrometer विद्युत्-मापी
—, quadrant पाद विद्युत्मापी
—,string तन्तु विद्युत्मापी
Electromotive force विद्युद्वाहक बल
Electron इलैक्ट्रान
—,microscope इलैक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी
Electron-volt इलैक्ट्रान-वोल्ट
Electrophorus इलैक्ट्रोफ़ोरस
Electroplating विद्युत्-लेपन
Electroscope विद्युत्-दर्शी
—, condensing सधारित्र विद्युत्-दर्शी
—,gold-leaf सुवर्ण-पत्र विद्युत्-दर्शी
—, tilted आनत विद्युत्-दर्शी
Electrostatic स्थिर-वैद्युत; वैद्युत
Electrostatics विद्युत्-स्थैतिकी
Electro-typing विद्युत्-मुद्रण
Elimination निरसन
Ellipse दीर्घवृत्त
Ellipsoid दीर्घवृत्तज
Emission उत्सर्जन
E. M. F. वि० वा० ब०
Energy ऊर्जा
—, kinetic गतिज ऊर्जा
—, potential स्थितिज ऊर्जा
—, level ऊर्जा स्तर
Engine इंजन
Equator निरक्ष;
Equilibrium सन्तुलन
Equipotential surface सम-विभव तल
Equivalent तुल्यांक
—, chemical रासायनिक तुल्यांक
—, electro-chemical विद्युत्-रासायनिक तुल्यांक
—, mechanical यांत्रिक तुल्यांक
Erg अर्ग
Error भूल, त्रुटि
Ether ईथर
Exception अपवाद
Exchange विनिमय
— (Telephone) एक्सचेन्ज; विनिमय-केन्द्र

Excited atom उत्तेजित परमाणु
Expansion chamber प्रसार-कोष्ठ
Experiment प्रयोग
Experimental प्रायोगिक; प्रयोगलब्ध
Eye-ball नेत्र-गोलक
Eye-piece नेत्रिका
Factor गुणांक
Farad फैरड
Ferro-magnetic लौह-चुम्बकिक
Field क्षेत्र, बल-क्षेत्र
Filament तन्तु
Filings रेतन
Fission विखंडन
Flame ज्वाला
Fluid तरल
Fluorescence प्रतिदीप्ति
Fluorescent tube प्रतिदीप्ति-नलिका
Focus फ़ोकस
Force बल
—, line of बल-रेखा
—, tube of बल-नलिका
Forced oscillation प्रणोदित दोलन
Formula सूत्र
Freezing point हिमांक
Frequency आवृत्ति
—, audio—श्रव्य आवृत्ति
—, high उच्च आवृत्ति
—, intermediate मध्यम आवृत्ति
—, low निम्न आवृत्ति
Frequency meter आवृत्तिमापी
Friction घर्षण
Frictional Electricity घर्षणविद्युत्
Fuse फ़्यूज़
Galvanometer धारामापी
—, hotwire—उत्तप्त-तार धारामापी
—, moving coil—चलकुंडली धा०
—, moving iron चललोह धा०
—, moving magnet चलचुम्बक धा०
—, reflection परावर्तन धा०
—, Tangent स्पर्शज्या धा०
Galvanoscope धारादर्शी
Gama rays गामा-किरणें
Gas गैस
Gauss (unit) गाउस
Generator विद्युत-जनित्र
Glancing angle संस्पर्श कोण
Glow उद्दीप्ति
—lamp तापदीप्त लैम्प
Gradient प्रवणता
Gram-atom ग्राम-परमाणु
Gram-equivalent ग्राम-तुल्यांक
Gram-ion ग्राम-आयन
Gram-molecule ग्राम-अणु
Graph लेखाचित्र
Grating ग्रेटिंग
Gravitation गुरुत्वाकर्षण
Grid ग्रिड; जाली
Grounded भू-संपृक्त
Ground wave भू-तरंग
Group velocity संघ-वेग
Growth वृद्धि
Guard-ring रक्षक-वलय
Half-life अर्ध आयु
Half-tone picture हाफ़टोन चित्र
Half-value period अर्ध-मान काल
Heat ऊष्मा
Heaviside layer हेवीसाइड स्तर
Henry (unit) हैनरी
Heterodyne receiver हैटेरो डाइन संग्राही
Heterogeneous विषमांगी
Homogeneity समांगिता
Homogeneous समांगी
Horizon क्षितिज
Horizontal क्षैतिज
Horse-power अश्वशक्ति
Hypotenuse कर्ण
Hypothesis परिकल्पना
Illuminating power प्रदीपन शक्ति
Impedance अवबाधा

Incandescent तापदीप्त
Inclined plane प्रवण तल
Induced प्रेरित
Induction प्रेरण
Induction coil प्रेरण कुंडली
Inertia अवस्थितित्व, जड़त्व
—, moment of अवस्थितित्व घूर्ण
Infinite अनन्त
Infra-red अवरक्त
Instantaneons तात्कालिक; तात्क्षणिक
Insulated विलागित, विलग्न; पृथक्-न्यस्त
Insulation विलागन ; पृथक्न्यासन
Insulator विलागक; पृथक्न्यासी
Integral अनुकल, समाकल
Intensity (of field) तीव्रता
—(of magnetisation) प्रबलता
Interference व्यतिकरण
Intermediate metal मध्यवर्ती धातु
Interrupted current आन्तरायिक धारा
Interrupter आन्तरायित्र
Inverse current विलोम धारा
Inverse square law उत्क्रम वर्ग नियम
Ion आयन
Ionisation आयनीकरण
—chamber आयनीकरण कोष्ठ
Ionosphere आयन मंडल
Isoclinic line सम-नमन रेखा
Isodynamic line सम-बल रेखा
Isogonic line सम-दिक्पाती रेखा
Isomagnetic line सम-चुम्बकीय रेखा
Isotope समस्थानिक, आइसोटोप
Joule (unit) जूल
Junction, theremo-electric ताप वैद्युत संधि
—, vacuo- निर्वात संधि
Kenotron कीनोट्रान
Key कुंजी
Kilowatt किलोवाट
Kilowatt-hour किलोवाट-घंटा
Kinetic Theory गतिमूलक सिद्धान्त; अणु-गति सिद्धान्त
Knife-edge क्षुरधार
K. V. A. कि० वो० अ०
Lag (of phase) पश्चता
Lamina पटल
Laminated पटलित
Lamp लैम्प
Lateral पार्श्विक
Latitude अक्षांश
Lead (of phase) अग्रता
Leakage च्यवन;
Left-handed वामावर्ती
Left-hand rule वामहस्त नियम
Leyden Jar लीडन जार
Life (of atom) आयु
Lifting power उत्तोलन शक्ति
Lightning तड़ित्
—, ball गोल तड़ित्
—, forked शाखामय तड़ित्
—, sheet पट तडित्
—conductor तड़ित् चालक
Like poles सजातीय ध्रुव, समान ध्रुव
Line-integral रेखा अनुकल,रेखा समाकल
Line of force बल-रेखा
Liquid द्रव
Load (of motor) भार, लोड
Local action स्थानीय क्रिया
Lode-stone चुम्बक पत्थर
Logarithm लघुगणक
Longitude रेखांश
Longitudinal अनुदैर्घ्य
Loudspeaker लाउडस्पीकर
Machine यंत्र
Magnet चुम्बक
—, ball-ended गोलान्त चुम्बक

—, bar दंड चुम्बक
—, horse-shoe नाल चुम्बक
Magnetic cycle चुम्बकीय चक्र
—elements —अवयव
—field —क्षेत्र
—Keeper चुम्बत्व रक्षक
—moment चुम्बकीय घूर्ण
—needle —सूची
—storm —तूफान
Magnetisation चुम्बकन
Magnetograph चुम्बकत्वलेखी
Magnetometer चुम्बकत्वमापी
Magnification आवर्धन
Magnifying power आवर्धनशक्ति;, आवर्धकता
Magnitude परिमाण
Mains (electric) प्रमुख तार
Manometer दाबमापी
Mass द्रव्यमान
Mass spectrograph द्रव्यमान स्पैक्ट्रम-लेखी
Mean free path मध्यमान मुक्त पथ
Mechanical equivalent यांत्रिक तुल्यांक
Medium माध्यम
Melting point गलनांक
Mercury vapour lamp पारद-वाष्प लैम्प
Meridian याम्योत्तर
—, geographical भौगोलिक याम्योत्तर
—, magnetic चुम्बकीय याम्योत्तर
Meson मेसान
Mesotron मेसोट्रान
Meter bridge मीटर-सेतु
Mho (unit) म्हो
Micro-farad माइक्रोफ़ैरड
Micrometer सूक्ष्ममापी; माइक्रोमीटर
Microphone माइक्रोफ़ोन
Model प्रतिरूप
Modulation आरोपण
Molecule अणु
Molecular theory अणु सिद्धान्त
Moment घूर्ण
—, magnetic चुम्बकीय घूर्ण
—of inertia अवस्थितित्व घूर्ण
Momentum संवेग
Mono-valent एक-संयोजक
Motor मोटर
Motor-generator मोटर-जनित्र
Multiple अपवर्त्य
—, integral पूर्ण अपवर्त्य
Mutual inductance अन्योन्य प्रेरकत्व
Natural स्वाभाविक; प्रकृत
Negative ऋण; ऋण चिह्नीय
Negligible उपेक्षणीय
Neon नीयन
Neutral point उदासीन विन्दु
Neutron न्यूट्रान
Nichrome नाइक्रोम
Node निष्पन्द
No-load release शून्य-भारमोचक
Non-conductor अचालक
Non-homogeneous असमांगी
Non-magnetic अचुम्बकीय
Normal (1) अभिलम्ब (2) सामान्य वैत्रिक, आदर्श
—Zeeman effect आदर्श ज़ीमान प्रभाव
Normally अभिलम्बत:
Nucleus नाभिक; न्यूक्लियस
Null method संतुलन विधि;, अविक्षेप विधि
Numerical संख्यात्मक
Observation प्रेक्षण
Observed value प्रेक्षित मान
Obtuse angle अधिक कोण
Oersted (unit) ओरस्टेड
Ohm (unit) ओह्म

Ohm-meter ओह्ममापी
Open circuit उन्मीलित या खुला परिपथ
Optic nerve दृष्टि-तंत्रिका
Orbit कक्षा
Oscillation दोलन
Osctllator दोलक
Osmosis रसाकर्षण
Over-load release अतिभार-मोचक
Parabola पैराबोला; परवलय
Parallel समान्तर
—connection पार्श्व-बंधन
Parallelogram समान्तर चतुर्भुज
Paramagnetic सम-चुम्बकीय
Paramagnetism सम-चुम्बकत्व
Particle कण; कणिका
Penetrating वेधनशील
—power वेधन शक्ति
Pentode पंचाग्र; पेन्टोड
Period आवर्तकाल
Periodic आवर्त
Periodicity आवर्तत्व
Pendulum लोलक
Permeability चुम्बकशीलता
Perpendicular लम्ब; लम्बरूप; समकोणिक
Perpendiculary लम्बत:
Phase कला
—, same समान कला
—, opposite विपरीत कला
Phase-difference कलान्तर
Phenomenon घटना
Photo-cell प्रकाश-वैद्युत सैल
Photo-conducting cell प्रकाश-चालकीय सैल
Photo-conductivity प्रकाश-चालकत्व
Photoelectric प्रकाश-वैद्युत
Photc-electricity प्रकाश-विद्युत्
Photo-electron प्रकाशज इलैक्ट्रान
Photophone फ़ोटोफ़ोन
Photo-voltaic cell प्रकाश-विभव सैल
Physical भौतिक
Picture transmission चित्र-प्रेषण
Pile, atomic परमाणु-पाइल; परमाणु-भट्टी
—of plates पट्टिका पुंज
Plane तल; समतल
Plate पट्टिका
—(thin) पटल, पत्र
Pointer संकेतक
Polarisation (of cell) ध्रुवाच्छादन
—(of light) ध्रुवण
—, plane of ध्रुवण तल
Polarised ध्रुवित
—, circularly वृत्त-ध्रुवित
—, plane समतल-ध्रुवित
Polarity ध्रुवत्व
Pole ध्रुव
Poles, like सजातीय ध्रुव; समान ध्रुव
—, unlike विजातीय ध्रुव; असमान ध्रुव
Pole-strength ध्रुव-प्राबल्य
Position स्थिति; अवस्थान
Positive धन; धन-चिह्नीय
—rays धन-किरणें
Positron पाज़िट्रान
Potential विभव
—, stopping अवरोधी विभव
Potential difference विभवान्तर
—divider विभवत्व विभाजक
—gradient विभव-प्रवणता
Potentiometer विभवमापी
Power शक्ति
—(algebra) घात; घातांक
Power factor शक्ति-गुणांक
Pressure दबाव; दाब
Primary प्राथमिक

Progressive wave प्रगामी तरंग
Proof प्रमाण
Proof-plane परीक्षा-पट्टिका
Proportion अनुपात
Proportional अनुपाती; , आनुपातिक; समानुपाती
—, directly अनुक्रमानुपाती
—, inversely उत्क्रमानुपाती
Proton प्रोटान
Pulley घिरनी
Pulse स्पन्द
Pump पम्प
Quantity राशि
Quantum क्वान्टम
—number क्वान्टम-संख्या
Quartz स्फटिक
—fibre स्फटिक-तन्तु
Radar रेडार
Radiation विकिरण
Radial त्रिज्य
Radio रेडियो
Radio-active स्वोत्सर्जी; रेडियमधर्मी
—constant स्वोत्सर्जितांक
—series स्वोत्सर्जी श्रेणी
Radio-activity; स्वोत्सर्जिता; रेडियमधर्मिता
Radio-micrometer, सूक्ष्म-विकिरण-मापी विकिरण प्रमापी
Radium रेडियम
Radius त्रिज्या
—of curvature वक्रता-त्रिज्या
Range परास
Rate दर
Ratio अनुपात
Ratio arms अनुपाती भुजाएँ
Reactance प्रतिबाधा
Reaction (1) प्रतिक्रिया (2) प्रतिबल
Reactor परमाणु-भट्टी; रिएक्टर
Reading पाठ; पाठ्यांक
Recalescence पुनरूज्वलन
Receiver संग्राही
Recoil प्रतिक्षेप
—electron प्रतिक्षिप्त इलैक्ट्रान
Rectangular axes समकोणिक निर्देशाक्ष
Rectifier दिष्टकारी
Reduction factor परिवर्तन-गुणांक
Reflection परावर्तन
Refraction वर्तन
Relay पुनर्योजित्र; योजित्र
Repulsion प्रतिकर्षण
Residual charge अवशिष्ट आवेश
Resistance प्रतिरोध; प्रतिरोधक
—, end अन्त्य प्रतिरोध
—, internal आन्तरिक प्र०
—, regulating नियंत्रक प्र०; समंजक प्र०
—, sliding विसर्पी प्र०
—, specific विशिष्ट प्र०
—box प्रतिरोध बक्स
Resolution (maths) विश्लेषण
—(optics) विभेदन
Resolving power विभेदन शक्ति
Resonance अनुनाद
Retentivity धारणशीलता
Reversibility उत्क्रमणीयता
Reversible उत्क्रमणीय
Revolution परिक्रमण; परिक्रमा
Rheostat नियंत्रक प्रतिरोध; धारा-नियंत्रक
Right-handed दक्षिणावर्ती
Right-hand rule दक्षिण-हस्त-नियम
Ring वलय
Root mean square, वर्ग-माध्य-मूल
Rotating field घूर्ण क्षेत्र
Rotation घूर्णन
Saturated संतृप्त
Saturation संतृप्ति
Scalar अदिष्ट; अदिश

Scanning वीक्षण
Scattering प्रकीर्णन; परिक्षेपण
Screening Constant आवरणांक
Secondary द्वैतीयिक
Section काट
Sector of circle द्वैत्रिज्य
Secular दीर्घकालिक
Self-inductance स्व-प्रेरकत्व
Self-regulation स्वतः नियंत्रण
Self starting स्वतः प्रवर्तक
Sensitive सुग्राही
Sensitivity सुग्राहिता
Series श्रेणी
—connection श्रेणी बंधन
—parallel श्रेणी-पार्श्व-बंधन
—wound श्रेणी-कुंडलित
Shape आकृति; रूप
Shell (atomic) परिच्छद
—magnetic चुम्कीय पट्टिका
Shield परिरक्षक
Shielding परिरक्षण
Short-circuit लघु-पथन; लघुपथित करना
Shunt पार्श्ववाही; शंट
—wound पार्श्व-कुंडलित
Simple harmonic motion सरल आवर्त गति
Sine ज्या
Single-touch method एक-स्पर्श विधि
Singlet (line) एकक (रेखा)
Size विस्तार
Skin effect त्वाचिक प्रभाव
Sky wave आकाशी तरंग
Slip-ring स्खलन-वलय
Solar system सौर परिवार
Solenoid परिनालिका
Solute विलेय
Solution विलयन, घोल
Solvent विलायक
Source उद्गम
Space occupied व्यापित आकाश
Spark स्फुल्लिंग
Spark-gap स्फुल्लिंग-विच्छेद; स्फुल्लिंग अन्तराल
Spark-length स्फुल्लिंग-दैर्घ्य
Spectrum स्पैक्ट्रम
—, band बैंड स्पैक्ट्रम; पट्टीदार स्पै०
—, continuous अविरत स्पै०; अखंड स्पै०
—, line रेखामय स्पै०; रेखिल स्पै०
—series स्पैक्ट्रम-श्रेणी
Sphere-gap Voltmeter गोल-व्यवधान विभवमापी; गोलान्तराल वि०
Spinthariscope जगमगदर्शी
Spiral सर्पिल
Spray शीकर
Spring balance कमानीदार कांटा
Stand स्टैन्ड; उपष्टम्भ
Standard मानक; प्रामाणिक
Starter प्रवर्तक
Stationary अचल
—wave अप्रगामी तरंग
Stopping potential अवरोधी विभव
Stop watch विराम घड़ी
Strain विकृति
Strength प्रबलता; प्राबल्य
Stress प्रतिबल
Striations धारियां
Structure बनावट; संरचना
Subtended angle अन्तरित कोण
Successive क्रमागत; उत्तरोत्तर
Superconductivity अतिचालकता
Surface पृष्ठ
Susceptibility प्रवृत्ति
Suspension अवलम्बन सूत्र या तन्तु
Switch स्विच
Symmetrical संमित

Symmetry संमिति
Synchronism संकालत्व
Synchronous संकालिक
Tangent (1) स्पर्श रेखा (2) स्पर्शज्या
Tangent galvanometer स्पर्शज्या धारामापी
Telegraphy तार संचार; तार प्रणाली
—, duplex द्विमुखी तार प्रणाली
Telephone टेलीफ़ोन
Television टेलीविज़न; दूरवीक्षण
Temperature टेम्परेचर
—, absolute परम टेम्परेचर
Tension तनाव
Tetrode चतुरोड; चतुराग्र; टेट्रोड
Theorem प्रमेय
Theoretical सैद्धान्तिक
Theoretically सिद्धान्ततः
Theory सिद्धान्त
Thermal तापीय
Thermion तापायन; तापज इलैक्ट्रान
Thermionic तापायनिक
Thermodynamics ऊष्मा-गतिकी
Thermo-electric ताप-वैद्युत
Thermo-electricity ताप-विद्युत्
Thermometer थर्मामीटर
Thermo-nuclear ताप-नाभिकीय
Thermopile तापवैद्युत पुंज
Three-phase system त्रिकलीय प्रणाली
Throw (angle) प्रक्षेप
Torsion ऐंठन
—balance ऐंठन-तुला
—head ऐंठन-टोपी
Transformation (1) परिणमन (2) तत्वान्तरण
Transformer ट्रान्सफार्मर; परिणमित्र
—, step down अपचायी ट्रां०
—, step up उच्चायी ट्रां०
Transitory क्षणिक
Transmission संचार, संचरण
Transmitter प्रेषित्र
Trans-uranic उत्तर-यूरेनियम
Transverse अनुप्रस्थ
Triode त्रयोड; त्रयाग्र; ट्रायोड
Triplet (line) त्रिक (रेखा)
Trivalent त्रि-संयोजक
Tube of force बल-नलिका
—of induction प्रेरण-नलिका
Tuning समस्वरण; सुरमिलाना
Turbine टरबाइन
Two-phase (adj) द्वि-कलीय
Ultra-violet परा-बैंगनी
Uncharged अनाविष्ट
Undamped अवमन्दनहीन;, अनवमन्दित
Uniform एक-समान; समरूपी
Unit मात्रक
— (Elec. Energy) यूनिट
—(adj) एकांक
Universal सार्वत्रिक
Unlike poles विजातीय ध्रुव
Vacuo-Junction निर्वात संधि
Vacuum निर्वात शून्याकाश
Valency संयोजकता
—electron संयोजी इलैक्ट्रान
Value मान
Valve वाल्व
Vapour वाष्प
—pressure वाष्प-दाब
Vector दिष्ट; सदिश
Vertex शीर्ष
Vertical ऊर्ध्वाधर
Vibration कम्पन
Virtual आभासी
Viscosity श्यानता
Volt वोल्ट
—, lost नष्ट वोल्ट
Voltage वोल्टता; वोल्टेज
—multiplier वोल्टता-वर्धक

Voltameter विश्लेषण धारामापी
Voltmeter वोल्टमापी
Volume आयतन
Watt वाट
Watt-less वाटहीन
Wave तरंग
—, continuous अविरत तरंग
—, long लम्बी तरंग; दीर्घ तरंग
—, short छोटी तरंग; लघु तरंग
—, ultrashort अति लघु तरंग
Wave-group तरंग-संघ
Wave-length तरंग-दैर्ध्य
Wave-meter तरंग-मापी
Weight भार
Wire, cotton-covered सूतवेष्ठित तार
—, enamelled इनैमली तार
—, silk covered रेशम वेष्ठित तार
Wire-bridge तार-सेतु
Wireless बेतार
Work कार्य
Work function कार्य-फलन
X-rays एक्स किरण
—, hard अतिवेधी ए०
—, soft अल्पवेधी ए०
—, white श्वेत ए०
Zeeman effect ज़ीमा प्रभाव

हिन्दी-अंगरेज़ी पारिभाषिक शब्दावली तथा विषयानुक्रमणिका

(संख्याएँ अनुच्छेदों की सूचक हैं, पृष्ठों की नहीं)